गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता—सर्वान्तरतमपरीक्षानुगता

'क'—कारविभागात्मिका

"पूर्वखण्डात्मिका—भक्तियोगपरीक्षा"

[भक्तियोगपरीक्षा—पूर्वखण्ड]

भाष्यकारः—मोतीलालशर्म्मोपाह्वो यः कश्चिदपि
मुक्तरक्तशर्म्मा, आङ्गिरसो भारद्वाजः
जयपत्तनाभिजनः

* * * *

(पुनःप्रकाशनाधिकार एकमात्र भाष्यकार से ही अनुप्राणित)

"राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान—जयपुर" के द्वारा प्रकाशित

एवं

"श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाश्रम—दुर्गापुरा—जयपुर" के द्वारा मुद्रित

प्रकाशनतिथि—भाद्रपदशुक्ल पूर्णिमा वि० सं० २०१६

(ता० १६ सितम्बर सन् १९५९)

प्रथमवार ५०० प्रति

मूल्य २०) रु०

श्रीः

महामहिम श्रीराष्ट्रपतिमहाभाग के प्रधानसंरक्षकत्व से समन्वित

'राजस्थान-वैदिकतत्त्वशोधसंस्थान-जयपुर'

के

तत्त्वावधान में प्रकाशित

एवं राष्ट्रभाषा-हिन्दी में उपनिबद्ध

ग्रन्थों की सूची

SANSKRIT VIDYA PEETHA
9861
TIRUPATI.
LIBRARY.

१-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड—'बहिरङ्गपरीक्षा' १५)

२- " -द्वितीयखण्ड-'आत्मपरीक्षा' (क) विभागात्मिका २०)*

३- " -तृतीयखण्ड-'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' (ख) " २०)*

४- " -चतुर्थखण्ड--'कर्म्मयोगपरीक्षा' (ग) " २०)*

५- " -पञ्चमखण्ड-'ज्ञानयोगपरीक्षा' (घ) " ३)

६- " -षष्ठखण्ड--'भक्तियोगपरीक्षा' (क) पूर्वखण्डात्मिका २०)

७- " -सप्तमखण्ड-'भक्तियोगपरीक्षा' (ख) उत्तरखण्डात्मिका २०)

८- " -अष्टमखण्ड-'बुद्धियोगपरीक्षा' (ग) विभागात्मिका २०)

९-ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य—प्रथमखण्ड ... .. १५)

१०-ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य—द्वितीयखण्ड ... ... १५)

११-उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड ... ... २०)

१२-उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड ... ... १५)

१३-उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्ड ... ... १५)

१४-श्राद्धविज्ञानग्रन्थानुगत-'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड २०)*

१५-श्राद्धविज्ञानग्रन्थानुगत-'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीयखण्ड १५)

---

*-चिह्नाङ्कित ग्रन्थ पुनः प्रकाशित होने पर ही उपलब्ध होसकेंगे।

श्रीः

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी महाभाग–के मान्य सचिव-द्वारा प्राप्त
'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर) का
'प्रधानसंरक्षतानुगत–प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत होरहा है –

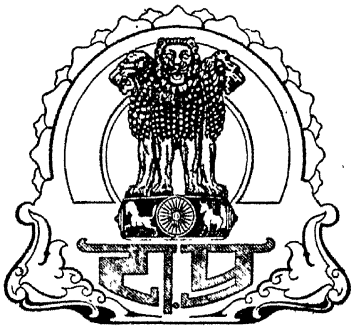

भारत के राष्ट्रपति

डा॰ राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थान-वैदिक तत्त्वशोध संस्थान-जयपुर

का

प्रधान संरक्षक

बनने की स्वीकृति प्रदान करते हैं

मिलिट्री सेक्रेट्री ऑफिस
राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली
दिनांक 30 अगस्त 1954

भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार
यदुनाथ सिंह
(यदुनाथ सिंह) मेजर जनरल
मिलिट्री सेक्रेट्री टू दि प्रेसिडेन्ट

१६–शतपथब्राह्मण–विज्ञानभाष्य–प्रथमकाण्डानुगत–प्रथमखण्ड ... २५)

१७–शतपथब्राह्मण–विज्ञानभाष्य–प्रथमकाण्डानुगत–द्वितीयखण्ड ... ३०)

१८–दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा ... ... २५)

१९–संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा नामक–उद्बोधनात्मक–सामयिक–निबन्ध २५)

२०–"भारतीय-हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता" नामक खण्डचतुष्टयात्मक ग्रन्थानुगत-'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक प्रथमखण्ड ... १५)

२१–भारतीय दृष्टिकोण से 'विज्ञान' शब्द का समन्वय ... १।।)

२२–वेद का स्वरूप-विचार ... . २)

२३–क्या हम मानव हैं ? (सांस्कृतिक-आमन्त्रणात्मक निबन्ध) ... २।।)

२४–'वेदस्य सर्वविद्या-निधानत्त्वम्' (संस्कृतनिबन्ध) ... .. १।।)

२५–*राष्ट्रपतिभवन से अनुप्राणित–"व्याख्यानपञ्चक" ... ६)

(१)–सम्वत्सरमूला–अग्नीषोमविद्या (प्रथम–व्याख्यान)

(२)–पञ्चपर्वात्मिका-विश्वविद्या (द्वितीय–")

(३)–मानव का स्वरूप परिचय (तृतीय–")

(४)–'अश्वत्थविद्या' का स्वरूप-परिचय (चतुर्थ–")

(५)–वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का समन्वय (पञ्चम–")

प्राप्तिस्थान—

व्यवस्थापक–'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान जयपुर'

मानवाश्रम-दुर्गापुरा (जयपुर–राजस्थान)

*–राष्ट्रपतिभवन के टेपरेकार्डों के आधार पर प्रकाशित, एवं महामहिम श्रीराष्ट्रपति महाभाग के प्रास्ताविक से समन्वित ।

श्रीः

अथ-गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता-सर्वान्तरतमपरीक्षानुगता

'क'-कारविभागात्मिका

"पूर्वखराडात्मिका-भक्तियोगपरीक्षा"

(भक्तियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड)

की

संक्षिप्ता-विषयसूची (परिच्छेदात्मिका)

श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता-सर्वान्तरतमपरोक्षानुगता 'क'-कार विभागात्मिका-पूर्वखण्डात्मिका भक्तियोगपरीक्षा की संक्षिप्ता विषयसूची

'परिच्छेदात्मिका'

—※—

अथ--भक्तियोगपरीक्षायां पूर्वखण्डे-'किञ्चिदिव प्रस्ताविकम्'-नामकं प्रथमं प्रकरणमुपक्रान्तम्

१

१-माङ्गलिकसंस्मरणम् ३

२-मनो-बुद्धि-विमोहक कर्म्ममार्ग, एवं व्यवसायधर्म्म का अभिभव ५

३-"किंकर्म्म किमकर्म्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः' मूलक संशयवाद, तथा कर्म्ममार्ग की आत्यन्तिक जटिलता ६

४-सद्रूपप्रधान ज्ञानमार्ग की ऋजुता, असद्बलप्रधान-कर्म्ममार्ग की वक्रता, तथा ज्ञाननिबन्धन एकत्व से संशय की निधृत्ति ... . ,,

५-स्थूलदृष्ट्या ज्ञानमार्ग की उपयोगिता, किन्तु सूक्ष्मदृष्ट्या ज्ञानमार्ग की जटिलता तथा-'दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' का संस्मरण ७

६-ऐन्द्रियक-मात्रा-स्पर्श-भावों की अनिवार्य्यता, एवं स्वाभाविक कर्म्मों की अनिवार्य्यता का दिग्दर्शन .... ,,

७–इन्द्रियदमनरूप आत्महनन, तदनुगत ज्ञानमार्ग, एवं जटिलतम ज्ञानपथ, और तन्निवन्धन मनोविज्ञान का समन्वय ८

८–मात्रास्पर्शभावों की तितिक्षा, और अभयभाव ... . "

९–विविध दोषाक्रान्त ज्ञानमार्ग की जटिलता, और उस की अवरुक्षानुगति .... "

१०–ज्ञान-कर्म्मो-भयात्मक 'भक्तियोग' का संस्मरण .... "

११–'भक्तियोग' का सहज-लक्षण ९

१२–'भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः' का संस्मरण, और भक्तियोग की श्रेष्ठता .... "

१३–ज्ञान, कर्म्म, भक्ति, आत्मा, ब्रह्म, आदि भावों का संस्मरण, एवं गीताभूमिका के विभिन्न परीक्षा खण्डों का समन्वय .... "

इति-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे-"किञ्चिदिव-प्रास्ताविकम्" नामकं प्रथमं-प्रकरणमुपरतम्

१

—·—*—·—

श्रीः

अथ–भक्तियोग परीक्षायां-पूर्वखण्डे-'योगत्रयी का मौलिक विचार' नामक

द्वितीयं–प्रकरणमुपक्रान्तम्

२

——*——

१–मौलिकतत्त्वान्वेषण की उपयोगिता का समन्वय, एवं प्रकृतिसम्मता जीवनपद्धति का अभ्युदय-निःश्रेयस-भाव-प्रवर्त्तकत्त्व १५

२–सच्चिदानन्दघन आत्मा का अंशभूत मानवीय भूतात्मा, एवं भूतात्मा की कामनात्रयी का संस्मरण ... ... ,,

३–जड़भूतवादियों का सुस्वागत, एवं प्रकृति की आराधना की सर्वव्यापकता १६

४–प्रकृतिमूला योगत्रयी का आचारपक्ष, और वर्णाश्रम-व्यवस्थानुगत भारतीय-मानव से अनुप्राणिता योगत्रयी .... ,,

५–प्रकृतिवाद का प्रचण्ड उद्घोष, तदनुप्राणित **'नेचर'** का महान् व्यामोहन, एवं **'प्रकृति'** के परोक्ष स्वरूप से भौतिक-जगत् की तटस्थता .... ,,

६–ऋषिप्रज्ञानुगत शब्दविन्यास, एवं तन्मूला तात्त्विकी-शब्दनिर्वचन-प्रणाली का संस्मरण १७

७–**'प्रकृति'** शब्द के **'प्र'**, और **'कृति'** भाव, प्रकृतिमूलक **'दैवात्'** शब्द, एवं तत्सम्बन्ध में विविध भ्रान्तियाँ १८

८–संस्कृतज्ञ विज्ञानो की **'अकस्मात्'** मूला "दैवात्" शब्द-निबन्धना महती भ्रान्ति, एवं तन्निराकरण-प्रयास ... ... ,,

९–कृति की प्रागवस्था, और **'प्रकृति'** शब्द-समन्वय १९

१०–**'प्रकृति'** शब्दानुगता एक समस्या, और उसका निराकरण .... ,,

११–कार्य्यभावात्मक **'कृति'** शब्द, कारणभावात्मक **'प्र'** शब्द, और कार्य्य-कारण-रूप-**'प्रकृति'** का समन्वय ... . ,,

१२–प्रकृतिवाचक-**'प्रधान'** शब्द का तात्त्विक स्वरूप समन्वय २०

१३–प्रकृतिवाचक-**'कारण'** शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय .... ,,

१४–प्रकृतिवाचक-**'बीज'** शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय .... ,,

१५–प्रकृतिवाचक '**निदान**' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय २१
१६–प्रकृतिवाचक-**अव्यक्त**' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय .... ,,
१७–प्रकृतिवाचक-'**अक्षर**' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय .... ,,
१८–प्रकृतिवाचक-'**सेतु**' शब्द का संस्मरण २२
१९–प्रकृतिवाचक-'**नियति**' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय .... ,,
२०–महातन्त्रायी तन्त्रेश्वर, और उसका शासनतन्त्र .... ,,
२१–महाभयात्मक नियतिदंण्ड, एवं आधिकारिक जीव .... ,,
२२–भयावह मनुष्यप्राणी, और तद्द्वारा विश्वशान्ति का विकम्पन .... ,,
२३–मानव के प्रज्ञापराध से प्रकृति का विकम्पन, एवं तद्द्वारा वैकारिक-विश्व का विकम्पन २३
२४–प्रकृति-विकृति-के विकम्पन से ईश्वरपुरुष का विकम्पन, उसका मानवरूप से अवतरण, एवं तद्द्वारा धर्म्मग्लानि की उपशान्ति .... ,,
२५–भगवान् के '**अवतार**' का पावन-संस्मरण २४
२६–'**स्वधर्म्म**' का तात्त्विक समन्वय .... ,,
२७-प्रकृति के नियत कार्य्य–कारण–भाव, और 'नियति' शब्द का तात्त्विक–निर्वचन २५
२८–संसरणशीला 'प्रकृति', तन्निबन्धना नियति, और प्रकृतिमूलक संसरणशील विश्व .... ,,
२९–गतिमूला प्रकृति, और उसके 'स्थिति-गति-आगति'नामक तीन प्रमुख विवर्त्त .... ,,
३०–गतितत्त्व के पाँच महिमा-विवर्त्त, एवं तन्मूलक 'अन्तर्य्यामी', और 'सूत्रात्मा' का संस्मरण ,,
३१–अन्तर्य्यामी का स्वरूप-परिचय, एवं ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-नामक तीनों देवताओं का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय .... २६ ,,
३२–नियति स्वरूप अन्तर्य्यामी के द्वारा विश्व का सञ्चालन, एवं केन्द्रस्थ अन्तर्य्यामी द्वारा विश्व का नियन्त्रण .... २७ ,,
३३–अन्तर्य्यामी मूलक '**हृदय**', '**गर्ह**', और '**गर्भ**' शब्दों का तात्त्विक-समन्वय, एवं उसकी अजायमानता .... ,,
३४– '**हृ**' रूप विष्णु, '**द**' रूप इन्द्र '**यम्**' रूप ब्रह्मा, एवं हृदय में प्रतिष्ठित हृ-द-य-रूप-अन्तर्य्यामी .... २८ ,,
३५–पञ्चविध अक्षर की एकाक्षरता, अक्षररूपा प्रकृति, एवं तन्मूलक विश्वप्रपञ्च का समन्वय ,,
३६–'**नियति**'--लक्षणा प्रकृति का '**हेतुभाव**', तदनुबन्धिनी '**नियतिचर्य्या**', और '**नियतिचर**' ब्रह्मा .... २९ ,,
३७–पुरुष-प्रकृति-प्रकृतविकृति-रूप अमृत-ब्रह्मा-शुक्र-नामक तीन विवर्तों का संस्मरण .... ,,
३८–मनःप्राणवाङ्मय कर्म्मात्मरूप अव्ययात्मा, मनोमय अव्यय की त्रिवद्रूपता और तदनुबन्धी ज्ञानयोग .... ३० ,,
३९–प्राणमय अक्षर की त्रिवृद्रूपता, और तदनुबन्धी कर्म्मयोग .... ,,
४०–वाङ्मय आत्मक्षर की त्रिवृद्रूपता, और तदनुबन्धी भक्तियोग .... ,,

४१–अव्यय-अक्षर-क्षर-भावों में मध्यस्थ अक्षर की सर्वरूपता, एवं अव्यक्ता अक्षर प्रकृति की सर्वव्यापकता .... ,, ,,

४२–ज्ञानयोगाधिष्ठाता अव्यय, कर्म्मयोगधिष्ठाता अक्षर, भक्तियोगधिष्ठाता क्षर, एवं योगत्रयी का समन्वय ... . ३१ ,,

४३–ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योगों के एकदेशी लक्षण, एवं तदाधार पर व्यापक लक्षण का अन्वेषण-प्रयास .... ,, ,,

४४–ब्रह्म-नामरूप-अन्न-भावात्मक तीन व्यापक योग, और योगत्रयी का समन्वय ... ३२

४५–प्रकृतिसिद्ध--सर्वव्यापक--ज्ञानप्रधान--**'ज्ञानयोग'** .... ,,

४६–प्रकृतिसिद्ध-सर्वव्यापक-क्रियाप्रधान-भक्तियोग .... ,,

४७–प्रकृतिसिद्ध-सर्वव्यापक-क्रियाप्रधान-भक्तियोग .... ,,

४८–विकासभावात्मक ज्ञानयोग, स्थितिभावात्मक कर्म्मयोग, गतिभावात्मक भक्तियोग, एवं तीनों योगों से युक्त विश्व के चर-अचर-पदार्थ .... ,, ,,

४९–अभिन्नापि एकापि प्रकृति के नाना विवर्त्त, एवं एकत्वनिबन्धना महामाया का, तथा नानात्व-निबन्धना योगमाया का पावन संस्मरण ... . ३३ ,,

५०–ब्रह्मा-इन्द्र-भावानुगता योगमायात्रयी, और मायाप्रवर्त्तक इन्द्रदेवता .... .. ,,

५१–**'माया'** शब्द का निर्वचनात्मक समन्वय, एवं तद्युक्ता खण्ड-खण्डात्मिका योगमाया और उसका योगत्व-समन्वय .... ,, ,,

५२–योगमायात्रयी से अनुगता विष्णुमाया का ही योगमायात्व, एवं योगमायावच्छिन्न वैष्णव-यज्ञ की सर्वव्यापकता का समन्वय .... ३४ ,,

५३–वैष्णवी योगमाया का विस्तार-समन्वय .... ,,

५४–योगमायावच्छिन्न हरि के विविध अवतार, एवं ब्रह्मावतार-महादेवावतार-आदि की अप्रसिद्धि का समन्वय ... . ,, ,,

५५–शुक्र-शोणितानुगता रयि-प्राणात्मिका आध्यात्मिकी योगमाया का स्वरूप समन्वय, एवं तद्द्वारा विश्व का सम्मोहन ... . ३५ ,,

५६–योगमायानुगत सौम्य महद्ब्रह्म, तन्निबन्धन त्रिगुणभाव, सूर्य्य-चन्द्र-पृथिव्यनुगत दर्शपूर्णमास से त्रिगुण महान् की आकृति–अहंकृति-भावों में परिणति ... ... ,, ,,

५७–महद्गर्भीभूत चिदात्मा का संस्मरण, एवं योगमाया के द्वारा अनेक भावों की प्रसूति ३६

५८–चतुरशीतिलक्षमिता योगमाया, एवं योगमाया की आवरणपरम्पराओं से चिदात्मा की निगूढ़ता ,,

५९–योगमायावच्छिन्न विष्णु के अवतार का संस्मरण .... ,,

६०–महामोहप्रवर्त्तिका योगमाया, तन्निवृत्त्युपायभूता योगमायोपासना, एवं तत्सम्बन्ध में मार्कण्डेय-महर्षि के उद्बोधक-सूत्र .... ३७ ,,

६१–विश्वात्मा, एवं विश्व, समष्टिरूप सर्वप्रपञ्च, तदनुगता विवर्त्तत्रयी एवं सर्वरूपा मोहजननी योगमाया .. .. ३८ ,,

६२-पुरुषयुक्ता गुणान्विता त्रिकला प्रकृति, तन्निबन्धन-त्रित्वभाव, एवं-'त्रिःसत्या वै देवाः' का समन्वय ४३
६३-त्रिपुटिभावान्विता त्रिगुणात्मिका योगमाया के त्रित्व-धर्म्मों का विभिन्न दृष्टिकोणों से समन्वय, एवं प्राकृत विश्वानुबन्धिनी भावत्रयी के कतिपय उदाहरण ४४
६४-लोकव्यवहारानुगत त्रित्व-धर्म्मों का समन्वय ४७
६५-लोकानुबन्धी त्रिभावों का स्वरूप-समन्वय .... ,,
६६-जननी के धर्म्मों का जन्य-पदार्थों में समन्वय .... ,,
६७-योगत्रययुक्ता, गुणत्रयसमन्विता योगमाया का कर्तृत्व ४८
६८-प्राधानिक (सांख्य) शास्त्र-सम्मत प्राकृतिक भूतसर्ग का विस्तार, एवं उसके त्रिविध, तथा चतुर्दशविध विवर्त्तों का समन्वय .... ,,
६९-अष्टविध सत्त्वविशाल-सर्गों का स्वरूप-दिग्दर्शन ४९
७०-कबन्ध अथर्वा के द्वारा पतञ्जल काप्य से प्रश्न, एवं तन्मूलक देवसर्ग का संस्मरण ... ५०
७१-रजोविशालसर्ग का स्वरूप-समन्वय .... ,,
७२-तमोविशालसर्ग का स्वरूप-समन्वय ५१
७३-'चतुर्दशविधो भूतसर्गः', और ब्रह्मादि स्तम्ब पर्य्यन्त सर्गों का संस्मरण .... ,,
७४-सत्त्वविशालसर्गानुगता ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगत्रयी ... . ,
७५-रजोविशालसर्गानुगता ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगत्रयी ५२
७६-तमोविशालसर्गानुगता ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगत्रयी ... ... ,
७७-पृथ्यनुगत 'भूत' तत्त्व, तदनुगता भौतिकी प्रजा, एवं स्तोम्यलोकात्मक-पार्थिव-भूतसर्ग की चतुर्दशविधता का समन्वय .... ५३ ,,
७८-दुरत्यया, दुर्विज्ञेया सर्गपरम्परा, एवं उसके 'भाव-गुण-विकार' नामक तीन विवर्त्तों का संस्मरण ,,
७९-त्रिगुणात्मिका प्रकृति की विश्वव्यापकता, एवं उसके भाव-गुण-विकार-नामक तीन महिमा विवर्त्त ,,
८०-सत्त्व-रजस्तमो-गुणात्मिका प्रकृति के विश्वानुबन्धी 'परम-मध्यम-अधम' नामक तीनों धामों का संस्मरण ५७
८१-त्रिधामानुगत त्रिविध सर्ग, 'पुरुष-महामाया-योगमाया'-निबन्धना-सर्गत्रयी का विस्तार, एवं तालिका के द्वारा तत्समन्वय-प्रयास ... . ,,
८२-त्रिविध-सर्गानुगता पार्थिव-त्रिलोकी, एवं तदनुगत चौदह प्रकार का भूतसर्ग ... ५९
८३-त्रैलोक्यदेवताओं का तानूनप्त्र, तन्निबन्धन सर्वज्ञ, हिरण्यगर्भ, विराट्-नामक त्रैलोक्य-देवता, एवं इनकी ज्ञान-क्रिया-अर्थ-रूपता का समन्वय ... . ,,
८४-सर्गज्ञानुगत संसज्ञसर्ग, हिरण्यगर्भानुगत अन्तःसंज्ञसर्ग, विराडनुगत असंज्ञसर्गभेद से त्रिविध-सर्गों का समन्वय, एवं तालिका-माध्यम से सर्गत्रयी का स्वरूप-व्यवच्छेद ... ६०
८५-इन्द्रात्मलक्षण सर्वज्ञ शिव से अनुप्राणित व्यात्मक-सत्त्वविशाल-ससंज्ञ-सर्ग का स्वरूप-परिचय-(सत्त्वविशालसर्गस्त्र्यात्मकः-दिव्यः-(१) ६१

८६–वाय्वात्मलक्षण हिरण्यगर्भ ब्रह्मा से अनुप्राणित द्वयात्मक-रजोविशाल-अन्तःसंज्ञ-सर्ग का स्वरूप-परिचय (रजोविशालसर्गः-द्वयात्मकः-आन्तरिक्ष्यः-(२) ६३
८७–अग्न्यात्मलक्षण विराट् विष्णु से अनुप्राणित एकात्मक तमोविशाल-सर्ग का स्वरूप-परिचय-(तमोविशालसर्गः-एकात्मकः-पार्थिवः-(३) .... ,,
८८–प्रकृतिनिबन्धन-त्रिगणभाव का विस्तार, एवं भाव-गुण-विकार-सर्गत्रयी-से समन्वित विश्वसर्ग ६८
८९–सत्त्वविशाल-ससंज्ञसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विवर्त्त .... ,,
९०–रजोविशाल-अन्तःसंज्ञसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विवर्त .... ,,
९१–तमोविशाल-असंज्ञ सर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विवर्त ६९
९२–सत्वविशाल-देवसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विवर्त्त .... ,,
९३–रजोविशाल-मानवसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विवर्त .... ,,
९४–मानवव्यक्ति-निबन्धन-त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विवर्त्त .... ,,
९५–भूतसर्गनिबन्धन-त्रिगुणात्मक-विविध-विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय ७०

इति-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे-'योगत्रयी का मौलिक-विचार नामक' द्वितीयं–प्रकरण-मुपरतम्

२

——*——

अथ-भक्तियोग-परीक्षायां-पूर्वखण्डे-'योगत्रयी, और भारतीय महर्षि' नामकं तृतीयं-प्रकरण-मुपक्रान्तम्

३

—*—

१–प्रकृतिसिद्धा-ज्ञान, भक्ति, कर्म्म-योगत्रयी, तीनों योगों का सह-समन्वय, एवं कल्पित ज्ञान-भक्ति-भक्ति-कर्म्म-योगों के द्वारा प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी की अन्तर्मुखता ··· ···· ७९

२–'योग' शब्द-व्यवहार का कारणान्वेषण-प्रयास ···· ···· ,,

३–वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-मूर्त्ति शारीरिक भूतात्मा से अनुप्राणित "योग", और तदनुबन्धिनी योगत्रयी ···· ···· ··· ···· ···· ,,

४–लौकिक-सामान्य-मानववर्ग के प्रकृत्यनुगत प्राकृत-ज्ञान, भक्ति-कर्म्म-योगों का स्वरूप-दिग्दर्शन ८०

५–प्राणिमात्र से समन्विता लौकिकी-प्राकृतिकी-ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगत्रयी ··· ,,

६–मानव के वैय्यक्तिक एवं पारिवारिक योगक्षेम, तत्संसाधक तीन सामान्य योग, एवं लौकिक योगत्रयी से अनुप्राणित योगपरायण मानववर्ग ···· ···· ···· ,,

७–बहिर्योगत्रयी से समन्वित भूतात्मा की प्रत्यगात्मानुबन्धिनी योगत्रयी से पराङ्मुखता, एवं आत्मयोगत्रयी से वञ्चित कामभोगात्मक-बहिर्योग से समन्वित मानव की अशान्ति के मूल-कारणान्वेषण का प्रयास ··· ··· ··· ···· ८१

८–पशुसर्गानुगता पशव्या योगत्रयी के साथ प्राकृत मानवसर्गानुगता मानुषी-योगत्रयी का सह समतुलन, एवं इस की आत्यन्तिकी भयावहता ··· ···· ,,

९–सीमित योगक्षेमानुगत पशुसर्ग की प्राकृतिक तुष्टि, एवं तत्समतुलन में कामासक्तिमय मानव की प्रवृद्धा योगक्षेमावासना, तथा तन्निबन्धन प्रवृद्धतम इसका क्षोभ ···· ···· ८२

१०–'वदतोव्याघात' न्यायमूला एक विप्रतिपत्ति, एवं प्रकृतियोग, तथा पुरुषयोग के व्यवच्छेद-माध्यम से विप्रतिपत्ति का समन्वय-प्रयास ··· ···· ··· ,,

११–अव्ययपुरुषप्रधान ईश्वर, अक्षरप्रकृतिप्रधान जीव (मानव), क्षरविकृतिप्रधान जगत्, एवं विश्वमायात्मिका योगमाया का सहज आकर्षण···· ··· ··· ,,

१२–पुरुष-प्रकृति-निबन्धन भूमानन्द का तारतम्य, तन्निबन्धन शान्ति-सुख तारतम्य, एवं प्रकृतियोग के क्षेत्र में शान्ति का अत्यन्ताभाव ··· ··· ···· ८३

१३–सहज-शान्ति-प्राप्ति से अनुप्राणित पुरुषानुबन्धी **'योग'**, सहज-शान्ति-विघातक प्रकृत्यनुबन्धी **'अयोगात्मक-योग'**, एवं दोनों का तारतम्य ··· ···· ··· ,,

१४–आत्मस्वरूप के साक्षात्कारकर्त्ता महर्षियों के द्वारा दृष्टा, व्यवस्थिता पुरुषयोगत्रयी, तदनुगामी भारतवर्ष, एवं शेष का शेषभूतत्व ···· ···· ···· ,,

१५–अंशी प्रत्यगात्मा, एवं अंश भूतात्मा के ज्ञान-क्रिया-अर्थ-पर्वों का योगात्मक-**'योग'**, तथा तन्निबन्धना ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-रूपा **'पुरुषयोगत्रयी'**-का स्वरूप-समन्वय ···· ८४

१६–गीताशास्त्र की योगत्रयी के सम्बन्ध में पिष्टपेषणात्मिका महती विप्रपत्ति ···· ,,

१७–ज्ञानयोगवादी सांख्यों का कल्पित अद्वैतवादमूलक कर्म्मत्यागात्मक कल्पित ज्ञानयोग, और उसकी आपातरमणीयता ···· ···· ···· ···· ,,

१८–कर्म्मयोगवादी कर्म्मठों का कामनामय काम्य-कर्म्मयोग, एवं उसकी निस्सारता, तथा भक्तियोग-वादी भक्तों के काम्य भक्तियोग का दिग्दर्शन ···· ···· ८५

१९–कपिलसम्मता ज्ञानभावुकता, हिरण्यगर्भसम्मता भक्तिभावुकता, एवं स्वयम्भुसम्मता कर्म्मभावु-कता का स्वरूप-दिग्दर्शन, तथा समत्वमूलिका-बुद्धियोगान्विता ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगनिष्ठाओं का पावन-संस्मरण ···· ···· ··· ··· ,,

२०–अभ्युदय-निःश्रेयस्-संसाधक **'गीतायोग'** का ब्रह्मर्षियों, एवं विशेषतः राजर्षियों के द्वारा आवि-ष्कार, तथा गीतायोगानुबन्धी **'निष्कामभाव'** का संस्मरण ··· ···· ८६

२१–वर्णाश्रमधर्म्मानुगता ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगत्रयी का ही सर्वतः श्रेयःपथत्व, एवं युगधर्म्मानुबन्ध से वर्णाश्रमधर्म्म का शैथिल्य ···· ·· ··· ,,

२२–सनातन ईश्वर-प्रजापति के सनातन विश्व की सनातन-लोकविभूतियाँ ···· ,,

२३–प्रकृतिपरिवर्त्तनात्मक युगधर्म्म से अनुप्राणिता-परिवर्त्तन-भ्रान्ति, भ्रान्तिमूलक विसंवाद, एवं परिवर्त्तनवादियों के काल्पनिक-परिवर्त्तन के सम्बन्ध में नैष्ठिकमानव का उद्बोधनसूत्र ८७

२४–अपरिवर्त्तनीय अक्षर से नियन्त्रित परिवर्त्तनशील क्षर के परिवर्त्तनों का भी अपरिवर्त्तनत्व, एवं सनातन ईश्वर के निःश्वासभूत शास्त्र का सनातनत्व ···· ···· ८८

२५–गीताशास्त्र की **'शास्त्र'** के प्रति अनन्यनिष्ठा··· ···· ··· ,,

२६–शास्त्रीय सनातन सिद्धान्तों की सदैकरसता-निबन्धना सनातनता, एवं तदनुप्राणित शाश्वत-सनातनधर्म्म ··· ···· ···· ···· ··

२७–अविचारितरमणीया शास्त्रनिन्दा, एवं कल्पनाओं का काल्पनिक-व्यामोहन ···· ,,

२८–**'परिस्थिति'** मूलक हेत्वाभास का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं शास्त्रीय-कर्त्तव्य के प्रति हेत्वाभासानु-यायियों की निरपेक्षता ···· ··· ···· ···· ८९

२९–**'असामर्थ्य'** प्रयुक्त हेत्वाभास का वाग्विजृम्भण, तदनुगामी **'मध्यमवर्ग'** एवं काल्पनिक-विविध-समस्याओं के सर्जन के द्वारा कर्त्तव्यनिष्ठा के प्रति तद्वर्ग की निरपेक्षता···· ,,

३०–समाजानुबन्ध से प्रदर्शनमात्र के लिए शास्त्रभक्ति-प्रदर्शनपरायण वञ्चक-वर्ग का अनर्गल-प्रलाप ,,

३१–युगधर्म्मानुगामी विभिन्न दो वर्गों का स्वरूपेतिवृत्त, एवं तत्सम्बन्ध में विविध उहापोहों का स्वरूप-दिग्दर्शन ···· ···· ··· ···· ९०

३२–गीताशास्त्र की प्रवृत्ति का मुख्य उद्देश्य ९१
३३–शास्त्रीय कर्त्तव्य-कर्म्मों के सम्बन्ध में साभिमान आवेश, और उसका नीरक्षीर-विवेक ,,
३४–आदर्शवाद, और यथार्थवाद का समतुलन, एवं यथार्थवाद से वञ्चित आदर्शवाद की आत्यन्तिक-यातयामता .... ,,
३५–गीताप्रतिपादित-शास्त्रीय-सिद्धान्त के सम्बन्ध में 'आदर्शवाद' का अन्वेषण-प्रयास, एवं गीताशास्त्र की पिष्टपेषणता, अतएव निरर्थकता.... ... . ,,
३६–वैदिक-कामनामय-कर्म्मकाण्ड का संशोधक निष्काम-कर्म्मयोगात्मक गीताशास्त्र.... ९२
३७–वैदिक कर्म्मयोग की निष्कामता के समतुलन में गीता के कर्म्मवाद का शैथिल्य, एवं पुनश्च गीता की पिष्टपेषणता ... . ,,
३८–शास्त्रसार-समन्वयात्मिका गीता का सर्वशास्त्रमयत्व-प्रदर्शन ९३
३९–गीता के सम्बन्ध में-'किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः' मूला नितान्त-भ्रान्त-धारणा .... ,,
४०–आपणव्यवसायात्मक आज का गीताशास्त्र, और राष्ट्रीय-गीताभक्तों का शास्त्रों के प्रति प्रचण्ड-आक्रोश .... ,,
४१–कर्म्मेतिकर्त्तव्यता से असंस्पृष्ट गीताशास्त्र, अतएव गीताशास्त्र की शास्त्रदृष्ट्या अकृत्स्नता, असर्वता, एवं स्वयं गीताशास्त्र की श्रुति-स्मृति-शास्त्रैकशरणता ... ,,
४२–गीताशास्त्र की अपूर्णता का आधारभूत 'कर्म्मकौशल', एवं तदनुबन्धी समत्वयोगानुगत-'बुद्धियोग' ९४
४३–गीताशास्त्र के उद्देश्य के सम्बन्ध में विविध कल्पनाएँ, एवं गीताशास्त्र की प्रातिस्विकता, तथा सार्वभौमता के अनुबन्ध से विचार-विमर्श ९५
४४–सनातनधर्म्मी विद्वानों का प्रचण्ड आक्रोश, तत्प्रवर्द्धिका विचारशैली, एवं गीता से अनुप्राणिता विचार-द्वयी का परस्पर अश्वमाहिष्य ... . ,,
४५–गीताशास्त्र की अपूर्णता से दोनों तथ्यों का समन्वय, शास्त्रसिद्धा योगत्रयी, एवं लोकानुगता सत्प्रवृत्ति, तथा कल्पित आदर्शवाद का संस्मरण ९६
४६–यथार्थता से वञ्चित आदर्श की यातयामता .... ,,
४७–आचारात्मक यथार्थ से शून्य आदर्श से अनुप्राणित सनातनधर्म्मियों का व्याजधर्म्माचरण, एवं तथाभूत धर्म्मव्याज से हमारा आत्यन्तिक पतन .... ,,
४८–प्रचलित भक्तिकाण्ड की महती-विभीषिकाएँ, एवं तद्द्वारा आचारधर्म्म का अभिभव ९७
४९–आचारहीन-पुरुषसमाज का स्त्रीवर्ग के प्रति दम्भपूर्ण आक्रोश, और आक्रोशमूला पतन-परम्पराएँ ,,
५०–आचारधर्म्म, एवं युगधर्म्म का परस्पर प्रचण्ड संघर्ष, तथा धार्म्मिक-प्रजा की किंकर्त्तव्यविमूढ़ता ९८
५१–अर्थसमस्यानुगत धार्म्मिक-संकट, और धर्म्मक्षेत्र की परवशता ... . ,,
५२–अर्थप्रलोभनानुगता हमारी स्खलनपरम्पराएँ, एवं तद्रक्षणाय असत्य-दम्भ-छल-आदि आसुरधर्म्मों का अनुगमन ९९
५३–कलियुगानुगता महती-विभीषिकाएँ, एवं तत्परित्राणोपायभूत अन्यतम-'भक्तियोग' ,,

५४–शास्त्रनिष्ठ आरूढयोगी, शास्त्रानुगत आरुरुक्षु मानवश्रेष्ठ, और सांसारिक-अस्मदादि सामान्य मानव .... ,,

५५–धर्म्मसूत्र का सञ्चालक-भारतीय मानववर्ग, एवं उसकी विविध उपाधियाँ ... १००

५६–सहज श्रद्धाशील, किन्तु शास्त्रकर्म्मानभिज्ञ मानववर्ग .... ,,

५७–शास्त्र से तटस्थ प्राकृत मानवों का प्रदर्शनात्मक-छलपूर्ण शास्त्र-शब्दोद्घोष .... ,,

५८–शास्त्रद्रोही, परिवर्त्तनवादी उच्छृङ्खल-मानववर्ग, और उसका अनर्गल प्रलाप .... ,,

५९–विविध वर्गों के विविध विसंवाद १०१

६०–परस्परात्यन्तप्रतिद्वन्द्वी दो वर्गविभाग, एवं उनकी क्रमशः 'धर्म्म', तथा 'सुधार' के प्रति आचारशून्या दम्भप्रवृत्तियों का नग्न चित्रण ... . ,,

६१–**'ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रतः'** .... ,,

६२–विभिन्न वर्गों की पारस्परिक अहमहमिका, और तद्द्वारा राष्ट्रवैभव का अभिभव .. १०२

६३–धर्म्मभीरु युधिष्ठिर की भयावहा धर्म्मभीरुता, भगवान् के द्वारा तद्भर्त्सन, एवं अभिनिविष्ट पाण्डवों का उद्बोधन .... ,,

६४–धर्म्मानिविष्ट युधिष्ठिर, एवं राज्यलिप्सासक्त-दुर्य्योधन, दोनों वर्गों का उत्पथ-गमन-एवं तत्सम्बन्ध में भगवान् का महान् उद्बोधनसूत्र १०३

६५–**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम्'** का समन्वय, **'धर्म्म'** और **'नीति'** का समतुलन, तथा भारतीय राजनीति की धर्म्मसापेक्षता १०४

६६–धर्म्मसमन्विता राजनीति का ही अभ्युदय-निःश्रेयस्-करत्व, एवं धर्म्मभावुक पाण्डवों की धर्म्मभावना के साथ भगवान् के द्वारा नीति का समन्वय .... ,,

६७–आपद्धर्म्मधिया विशेष-परिस्थितियों में धर्म्मनीति की उपेक्षा, एवं विशुद्ध राजनीति का अनुगमन, तथा तन्निबन्धना-पाप-पुण्य-मीमांसा .... १०५ ,,

६८–भगवद्रवतार के सम्बन्ध में प्रासङ्गिक प्रश्न, और तन्निराकरण .... ,,

६९–प्राकृतिक-द्वन्द्वात्मक-भौतिक-विश्व-की गुण-दोषानुगति, एवं विश्व के सामूहिक, तथा वैय्यक्तिक हिताहित का तारतम्य ... ... ,,

७०–महाभारतयुग से अनुप्राणिता प्रचण्ड--संघर्षावस्था के कतिपय उदाहरण ... १०६

७१–विश्वशान्ति का प्रचण्ड शत्रु महाभारतकाल, एवं विश्वात्मिका धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए ही अवतीर्ण भगवान् वासुदेव कृष्ण के साम्यभावान्न उद्गार ... ,,

७२–आततायीवर्ग और तदनुप्राणिता अनिवार्य्या दण्डनीति १०८

७३–गीतानुगत आत्ममूलक, साम्यवाद, तथा भूतमूलक वर्त्तमान साम्यवाद (कम्यूनिज्म) का समतुलन ... ... १०९ ,,

७४–गीता का विश्वशान्ति-मूलक महान् सूत्र, एवं उस का समन्वय-दिग्दर्शन ... ,,

७५–भक्तिमार्ग का कर्म्मबन्धन-विमोकत्व ११०

७६–अभ्युदय-निःश्रेयस-संसाधक-गीता का भक्तियोग ... ... ,,

७७-साक्षीसुपर्ण का अंशभूत भोक्तासुपर्ण, दोनों के इच्छातन्त्र, एवं ईश्वरेच्छा के द्वारा ही जीवेच्छा की प्रक्रान्ति ... ... ,,

७८-ईश्वरेच्छा-निबन्धना योगत्रयी का प्राधान्य, एवं तद्द्वारा **'अस्मत्कर्तृत्व'**-विमोहन की उपशान्ति ,,

७९-महायन्त्रानुगत विविध क्षुद्रयन्त्र, एवं महायन्त्रानुगता महती प्रेरणा से ही क्षुद्रयन्त्रों की गतिशीलता ... ... ११९ ,,

८०-मानवीय जीव की इन्द्रियवर्गानुगता विविध-इच्छाएँ, एवं महायन्त्रात्मक तन्त्राधी ईश्वर के द्वारा ही तदिच्छाओं का सन्तनन ... ... ,,

८१-महायन्त्रात्मक ईश्वर की जीवानुबन्धिनी-भक्ति, और **'भक्तियोग'** ... . ,,

८२-आध्यात्मिक-राष्ट्रानुगता सहज-शान्ति का **'एकायतन'** रूप ईश्वरार्पणात्मक भक्तियोग ११२

८३-विधि-वञ्चिता योगत्रयी, तदनुबन्धी, भक्तियोग, एवं ईश्वरार्पणानुग्रह से तदुपयोगिता का समन्वय-प्रयास ... . ,,

८४-अपूर्णता को पूर्णता प्रदान करने वाला वरिष्ठसन्धाता भक्तियोग, तदनुबन्धी आत्मसमर्पण एवं गीतावचन-समन्वय-प्रयास ११३

८५-वर्त्तमान भक्तिवाद के बन्धन, अभिनिवेश, अविद्या-आदि अतिमानात्मक दोष ... ,,

८६-प्रत्यगात्मानुगत-**'मन्मनाभाव'**, एवं शारीरकात्मानुगत-**'उन्मनाभाव'** ११४

८७-सर्वभूतनिगूढ-गुहानिहित-सुगुप्त-सर्वभूतान्तरात्मा, एवं तन्निबन्धन भक्तियोग ... ,,

८८-मन्मनाभावानुगता-अव्यभिचारिणी भक्ति, एवं उन्मनाभावानुगता व्यभिचारिणी-भक्ति ,,

८९-अभिमान, और अतिमान, भावों का स्वरूप-तारतम्य, उपादेय **'अभिमान'**, एवं हेय-**'अतिमान'**, तथा-श्रद्धासूत्रनिबन्धना मनोवृत्ति का स्वरूप-विश्लेषण ... ११५

९०-अतिमानपथानुगामी असुर-मानव, तत्पराभव, शब्दाभिनय से अतीत गुहानिहित श्रद्धामय-आत्मदेव, एवं तदनुगत मन्मनाभावात्मक-**'भक्तियोग** ... ... ,,

९१-शब्दाभिनय-परम्परानुप्राणिता उन्मनाभाव-समन्विता भक्ति का शब्दोद्घोष, एवं तन्निबन्धन आत्मपतन, और तत्सम्बन्ध में-**'ईश्वरानन्यता-लक्षणा'** भक्ति से अनुप्राणित-**'मदर्पण'** का स्वरूप-समन्व ११६

९२-श्रद्धालु भावुक भक्तों की विभीषिकाएँ .... ,,

९३-**'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्'**-आदेशमूलक-उद्बोधन, **'विद्या श्रद्धा उपनिषत्'** से समन्विता आचरनिष्ठा, एवं तत्सम्बन्ध में शास्त्रीय-दृष्टिकोण ... ,,

९४-**'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते'** लक्षण शास्त्रादेश की अनन्यशरणीकरणीयता ... ११७

९५-**'स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात्'**-मूलक महान् उद्बोधनसूत्र .... ,,

९६-कर्म्मानुगतिमूलक-श्रेयः-पन्था .... ,,

९७-श्रद्धालु, शास्त्रभक्त, किन्तु युगधर्म्म से पीड़ित मानवों का प्रश्न, एवं तत्समाधानप्रयास, और तदुपकारक भक्तियोग का संस्मरण ११८

९८-सुदुराचारी मानववर्ग के सम्बन्ध में प्रश्न, तत्समाधानचेष्टा, एवं भक्तिपथ के माध्यम से सुदुराचारी का भी सम्भावित-परित्राण .... ,,

९९–सुदुराचारी मानववर्ग की लोकभक्ति का समन्वय-प्रयास ... . ,,
१००–भारतीय-हिन्दू-मानवातिरिक्त एतद्देशीय, तथा इतर-देशीय मानववर्गों का भी परित्राता गीता का भक्तियोग, एवं स्व-स्व-कर्त्तव्य-के आधारभूत भक्तियोग से मानवमात्र का सम्भावित आत्मत्राण ११९
१०१–धर्म्म-कर्म्म-आचार-श्रद्धा-शास्त्र-आदि की सन्निष्ठाओं के प्रचण्डविरोधी पुरुषपुङ्गवों का संस्मरण .... ,,
१०२–आसुर, दैव-भेद-निबन्धन द्विविध मानववर्ग, आसुर मानववर्गानुगता काल्पनिक-मान्यताएँ, तदनुप्राणित सत्य, और इस सत्य का दुराग्रहात्मक-आग्रह .... ,,
१०३–अनीश्वरवादी-काम भोगमात्र-परायण-कामकामी-नराधमों का प्रकृतिवाद-व्यामोहन, एवं तत्-प्रवर्त्तक-कामभाव १२०
१०४–दम्भ-मान-मद से उन्मत्त-प्रमत्त-आसुर-मानवों की निकृष्टकर्म्मप्रवृत्ति ... ,,
१०५–आशापाश-बद्ध, काम-क्रोध-परायण-अर्थ-सञ्चयलिप्सु नराधम ... ,,
१०६–विविध मोहजाल-समाविष्ट, काल्पनिक नामयज्ञादि में आसक्त-व्यासक्त नरकपथानुगामी आसुरमानव .... ,,
१०७–व्यक्तिविमोहनमूला श्रेष्ठता के दम्भ से मदोन्मत्त नराधमों की लोकैषणा .... ,,
१०८–प्रत्यगात्मस्वरूप-अव्ययेश्वर के अत्यतम-प्रतिद्वन्द्वी नराधम .... ,,
१०९–आसुरी-योनियों के चक्र से चक्रायित नराधमों का आत्यान्तिक पतन .... ,,
११०–सर्वज्ञानविमूढ, अतएव स्वरूप-विमूढ, इत्थंभूत नराधमों का विनष्टप्राय इतिवृत्त .... ,,
१११–'भक्ति', और 'उपासना' शब्दों के वाच्यार्थों का स्वरूप-समन्वय-प्रयास ... १२२
११२–'भक्ति' शब्दानुगता सेवावृत्ति का स्वरूप-दिग्दर्शन .... ,,
११३–'भक्ति' शब्दानुगता 'भाग'-'अंश' मर्य्यादा, एवं तन्निबन्धना ज्ञानात्मिका, भक्त्यात्मिका, कर्म्मात्मिका-भक्ति-त्रयी का स्वरूप-दिग्दर्शन .... ,,
११४–ज्ञानात्मक-ज्ञानयोग का स्वरूप-दिग्दर्शन .... ,,
११५–कर्म्मात्मक-ज्ञानयोग की स्वरूप-दिशा का समन्वय ... . ,,
११६–भक्त्यात्मक-ज्ञानयोग का स्वरूप-समन्वय ... ... ,,
११७–ज्ञानात्मक-कर्म्मयोग, कर्म्मात्मक-कर्म्मयोग, एवं भक्त्यात्मक-कर्म्मयोग का स्वरूपेतिवृत्त ,,
११८–ज्ञानात्मक-भक्तियोग, कर्म्मात्मक-भक्तियोग, एवं भक्त्यात्मक भक्तियोग का चिरन्तनेतिवृत्त १२४
११९–ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या, एवं धर्म्मबुद्धियोगानुगता आर्षविद्या से अनुप्राणिता, गीता के द्वारा संशोधित ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोगत्रयी का स्वरूप-समन्वय .... ,,
१२०–त्रिवृद्भावानुबन्धिनी योगत्रयी का स्वरूप-संस्मरण ... ... ,,
१२१–ज्ञानात्मक ज्ञानयोग के समर्थक वचन १२५
१२२–कर्म्मात्मक ज्ञानयोग के समर्थक वचन .... ,,

१२३–भक्त्यात्मक ज्ञानयोग के समर्थक वचन .... ,,
१२४–ज्ञानात्मक भक्तियोग के समर्थक वचन ... . ,,
१२५–भक्त्यात्यक भक्तियोग के समर्थक वचन .... ,,
१२६–कर्म्मात्मक भक्तियोग के समर्थक वचन १२७
१२७–ज्ञानात्मक कर्म्मयोग से समर्थक वचन .... :'
१२८–भक्त्यात्मक कर्म्मयोग के समर्थक वचन १२८
१२९–कर्म्मात्मक कर्म्मयोग के समर्थक वचन.... ... . ,,
१३०–ज्ञानबुद्धियोगलक्षण संशोधित-ज्ञानयोग... ... ... ,,
१३१–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण संशोधित-भक्तियोग १२९
१३२–धर्म्मबुद्धियोगलक्षण संशोधित कर्म्मयोग... .... ,,
१३३–उपासनात्मक-भक्तियोग की श्रेष्ठता का समन्वय, तदाधारभूत प्रत्यगात्मा, एवं शारीरक-आत्मानुगत-भक्त्यात्मक भक्तियोग ... . ,,
१३४–ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योगानुबन्धी-श्रेणिविभाग के तारतम्य का स्वरूप-समन्वय एवं उपासना तथा भक्ति-निबन्धन-तथ्य का समन्वय .... ,,
१३५–उपासना और भक्ति से अनुप्राणित-तारतम्य-दिग्दर्शन १३०
१३६–प्रत्यगात्मनिबन्धना सर्वश्रेष्ठा बुद्धियोगात्मिका भक्ति का संस्मरण .... ,,
१३७–अक्षरनिबन्धना 'परा विद्या', क्षरनिबन्धना 'अपरा विद्या' का संस्मरण एवं तन्निबन्धना शास्त्रीय-योगनिष्ठाएँ ... ... १३१ ,,
१३८–त्रिगुणभावानुबन्धिनी वेदवादरति, तन्निबन्धना आयोगात्मिका त्रिगुणाभावापन्ना योगत्रयी, और 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' का संस्मरण .... ,,
१३९–अपराविद्या में पराविद्या का समन्वय एवं तन्मूलक-योगसंशोधन तथा-'उप आसना' निबन्धना 'उपासना' ... . १३२ ,,
१४०–त्याज्या क्षरानुगता योगत्रयी .... ,,
१४१–गाह्या अक्षरानुगता योगत्रयी–(१) .... ,,
१४२–भारतीय महर्षियों की 'पुराणीप्रज्ञा' से प्रसूता 'योगत्रयी' का संस्मरण, एवं तृतीय-प्रकरणोपराम १३३

इति–भक्तियोगपरीक्षायां–पूर्वखण्डे–'योगत्रयी, और भारतीय महर्षि'

नामक

तृतीयं--प्रकरणं--समाप्तम्

३

—*—

अथ-भक्तियोगपरीक्षायां पूर्वखण्डे-'युगधर्म्मानुगता-विविध-उपासनाएँ' नामकं-चतुर्थं-प्रकरणमुपक्रान्तम्

तत्र च-देवयुगानुगत-निर्गुणोपासनामार्ग

नामक

प्रथम-अवान्तर प्रकरण

१

—*—

१-ऋषिदृष्टा योगत्रयी के युगधर्म्म-निबन्धन विविध-परिवर्त्तन १३७
२-परिवर्त्तित-स्वरूपानुगत अपरिवर्त्तनीय-मूलत्व .... ,,
३-आपातरमणीय-कल्पनाओं के समाधान-प्रयास का उपक्रम १३८
४-भक्तियोगनिष्ठा के सम्बन्ध में आलोचकों की युगधर्म्मानुगता भ्रान्त धारणा ... ,,
५-देवयुग, वेदयुग, तथा पुराणयुग-अनुबन्धों से अनुप्राणित ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-निष्ठात्रयी का युगधर्म्मनिबन्धन काल्पनिक वाग्विजृम्भण .... ,,
६-पौराणिक भक्तियोग का संस्मरण, तन्निबन्धन वितण्डावाद, तदनुप्राणिता विबधकल्पनाएँ, एवं निष्ठाद्वयी का काल्पनिक अभिनिवेश .... ,,
७-वेदादि प्राचीन शास्त्रों में भक्तिनिष्ठा की अनुपलब्धि का महान् व्यामोहन १३९
८-कपिलमुनि-सम्मता सांख्यनिष्ठा, हिरण्यगर्भऋषि-सम्मता योगनिष्ठा, जैमिनि-सम्मता कर्म्म-मीमांसा, आदि दृष्टिकोणों के माध्यम से भक्तियोगनिष्ठा का स्वरूप-समन्वय .... ,,
९-भक्तियोगनिष्ठा की अनादिता, एवं परिवर्त्तनात्मक युगधर्म्मों के अनुपात से भक्ति के अनुष्ठानात्मक प्रकारों में उच्चावच-परिवर्त्तन १४०
१०-भक्तियोग के सम्बन्ध में पुरातनयुगानुगत आवश्यक प्रश्न एवं अतिपुरातन युगात्मक साध्ययुग की योगत्रयी ... . ,,
११-भूतविज्ञाननिष्णात साध्यगणों का भूतानुबन्धी यज्ञात्मक कर्म्मयोग, तदनुप्राणिता भौतिकी योगत्रयी, तवं साध्ययुगोत्तरभावी देवयुग में उसका संशोधन .... ,,
१२-देवयुग और वेदयुग का आंशिक-पार्थक्य-समन्वय, एवं वेदयुगानुगता योगत्रयी का संस्मरण १४१
१३-द्वन्द्वातीत-सर्वालम्बन-निर्गुण-अव्ययात्मा का स्वयम्भू के द्वारा प्रथमाविर्भाव, तदनुप्राणित सर्वाधार ज्ञानयोग एवं तदनुगता योगत्रयी का संस्मरण .... ,,

१४–देवयुगानुगता निर्गुण-अव्ययमूला निर्गुणभक्ति, वेदयुगानुगता सगुण-प्रजापतिमूला 'सगुणभक्ति', एवं तदाधारेणैव अभिव्यक्ता पुराणयुगानुप्राणिता 'सविकारभक्ति' ... ,,

१५–भक्तियोग का मौलिक-रहस्यसूत्र, भक्तिकाण्डानुगता रहस्यपूर्णा 'अनन्यता' तथा 'अन्यता' का स्वरूप-समन्वय एवं भूताभिनिविष्ट साध्यों के भौतिक-योग-विजृम्भण .... १४२ ,,

१६–योगत्रयी का अधिष्ठाता प्रत्यगात्मा, एवं योगत्रयी का साधक शारीरक-आत्मा, तथा त्रिविध-योगों के प्रत्यगात्मानुबन्धी स्वरूप-लक्षण ... . ,,

१७–प्राणिमात्र से अनुप्राणिता प्रकृतिसिद्धा-भौतिकी-योगत्रयी, एवं उसकी त्रिगुणात्मकता तथा तन्निबन्धना विषमता का दिग्दर्शन .... १४३ ,,

१८–त्रिगुणभावापन्ना चरात्मिका योगमायारूपिणी प्रकृति' तदनुप्राणिता गुणात्मिका योगत्रयी, एवं इत्थंभूता योगत्रयी का बन्धनप्रवर्त्तकत्व .... ,,

१९–अव्यक्त-अक्षरानुबन्धी शास्त्रसिद्ध तीन योग, शास्त्रीय योगों का गुणात्मक वितान, एवं शास्त्रसिद्ध भी गुणात्मक योगों का आत्मपचनानुगत-आत्यन्तिक-विषमत्व, अतएव अनुपादेयत्व ,,

२०–गुणात्रयात्मिका शास्त्रसिद्धापि योगत्रयी में भगवान् के द्वारा विशुद्धीकरणात्मक संशोधन, एवं शब्दप्रमाणात्मक-निर्भ्रान्त-आप्तप्रमाणरूप-शास्त्र प्रामाण्य के सम्बन्ध में महती समस्या १४४ ,,

२१–सुप्त सर्प-विकम्पन-भय से विकम्पित गतानुगतिक व्याख्याताओं के द्वारा शास्त्र-मान्यता के संरक्षणानुबन्ध से गीता के १८ अध्यायों का त्रिधा वर्गीकरण-प्रयास .... ,,

२२–गीताव्याख्याताओं की परस्परात्यन्तविरुद्धा ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-प्रधाना व्याख्याओं की अहमहमिका १४५

२३–ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-भावों में अभिनिविष्ट साम्प्रदायिक-व्याख्याता एवं समन्वय-कौशल के अनुगामी महामहिम महामाहेश्वर श्रीअभिनवगुप्ताचार्य्य ... ,,

२४–शास्त्रनिष्ठासंरक्षण के लिए आतुर गीताव्याख्याता एवं गीताक्षरों के माध्यम से ही गीताव्याख्याताओं की मान्यताओं का शैथिल्य .... ,,

२५–शास्त्रप्रामाण्यनिष्ठा के सम्बन्ध में अब्रह्मण्या-धारणा, तन्निराकरण-प्रयास, एवं गीता की शास्त्रनिष्ठा का संस्मरण १४६

२६–श्रुति स्मृति-भेद से द्विधा विभक्त शास्त्र, शास्त्र की स्वतःप्रमाण, परतःप्रमाण-भेदभिन्ना द्विविधा प्रवृत्ति, निर्भ्रान्त वेदशास्त्र और स्मृतिशास्त्र की युगधर्म्म-निबन्धना-भ्रान्ति ,,

२७–सामान्य धर्म्म-प्रतिपादक वेदशास्त्र एवं विशेषधर्म्म-प्रतिपादक स्मृतिशास्त्र तथा वेदमूलक स्मृतिशास्त्र का प्रामाण्य और वेदविरुद्धा स्मृतियों का अप्रामाण्य ... ,,

२८–स्मृतियों का अनुगमनीय सुचरित, एवं बुद्धिवादात्मक-त्याज्य-दृष्टिकोण, तथा तत्सम्बन्ध में तत्त्वसमन्वय १४७

२९–स्मार्त्त ग्रन्थों की भ्रान्ति के विभिन्न दो दृष्टिकोण एवं स्मृतिग्रन्थों के व्याख्याताओं की कल्पना से अनुप्रणिता विविध भ्रान्तियाँ १४८

३०–वेदाभिमता योगत्रयी के सम्बन्ध में स्मृतिग्रन्थ एवं स्मृत्यनुगता योगत्रयी के भ्रान्त दृष्टिकोण का दिग्दर्शन १४९

३१–वेद के ब्राह्मणभागोक्त कर्म्मयोग के सम्बन्ध में मानव की त्रिगुणात्मिका प्रवृत्ति तथा त्रिगुणातीता निवृत्ति का स्वरूप-समन्वय एवं प्रवृत्ति-निवृत्ति-भावद्वयात्मक ब्राह्मणवेद ... ,,
३२–वेद के उपनिषद्भाग के सम्बन्ध में वेदान्ताभिनिविष्टों की मान्यता, तदनुबन्धिनी विडम्बना, एवं **बृहदारण्यकोपनिषत्**' आदि व्यवहारमूलक-तथ्य का समन्वय प्रयास ,,
३३–वेदयुगानुगता भक्ति का उपनिषत् के ज्ञानमार्ग में अन्तर्भाव, अतएव भक्तियोग के स्वतन्त्र-व्यवहार का अनवसर १५०
३४–ब्राह्मणभागोक्त-प्रकृतिनिबन्धन-गुणात्मक-प्रवृत्युन्मुख कर्म्मों की उपयोगिता का स्वरूप-दिग्-दर्शन एवं भौमदेवताओं के द्वारा तत्कर्म्म-माध्यम से असुरपराभव .... ,,
३५–लोकप्रवृत्ति के समतुलन में शास्त्रप्रवृत्ति का श्रेष्ठत्व एवं ब्राह्मणभागोक्त कर्म्मकाण्ड का निर्विरोध-समन्वय .... ,,
३६–कर्म्मान्तरभावी भक्तिपथ तथा ज्ञानपथ एवं औपनिषद-ज्ञानयोग से अनुप्राणित कर्म्म का स्वरूप-दिग्दर्शन १५१
३७–कर्म्मत्यागाभिमानी ज्ञानवादी वेदान्तियों का कर्म्मोपदेश के सम्बन्ध में अनर्गल प्रवाद एवं तत्सम्बन्ध में कर्म्म की अनिवार्य्यता का उद्घोष .... ,,
३८–उपनिषदों की आवश्यकता के सम्बन्ध में एक प्रश्न एवं तन्निराकरण .... ,,
३९–ब्राह्मणभागोक्ता कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-त्रयी का स्वरूप-समन्वय, तन्मूला द्विविधा निष्ठा, एवं सर्व-तन्त्र-स्व-तन्त्र-अव्ययेश्वरसम्मत-'**बुद्धियोग**' ... ... ,,
४०–मत्सम्मत वैराग्यबुद्धियोग का संस्मरण १५२
४१–क्षरानुगत कर्म्मयोग, अक्षरानुगत ज्ञानयोग, क्षराक्ष्ययानुगत भक्तियोग एवं अक्ष्ययानुगत बुद्धि-योग तथा शास्त्रसिद्ध-योगानुगता कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-बुद्धि-भेदभिन्ना काण्डचतुष्टयी का संस्मरण ,,
४२–वेदसम्मता योगचतुष्टयी, वैराग्यबुद्धियोगगर्भिता संशोधिता निर्भ्रान्ति योगत्रयी एवं प्रामाणिक-शास्त्रों का संस्मरण १५३
४३–**श्रुतिशास्त्रसिद्धा योगत्रयी-चतुष्काण्डा** .... ,,
४४–**प्रकारान्तरेणश्रुतिशास्त्रसिद्धा योगचतुष्टयी, योगत्रयी वा** .... ,,
४५–'**ज्ञातव्यवाद**' के आधार पर प्रतिष्ठित '**कर्त्तव्यवाद**' के सुप्रसिद्ध तीन ग्रन्थसंस्थान एवं तीनों संस्थानों के द्वारा कर्म्म-उपास्ति-ज्ञान का स्वरूप-उपबृंहण १५४
४६–बुद्धियोगनिबन्धन स्वतन्त्र काण्ड के सम्बन्ध में एक महती विप्रतिपत्ति एवं तन्निराकरण प्रयास .... ,,
४७–बुद्धियुक्त मन की विज्ञानवत्ता, तन्निबन्धना योगत्रयी की बुद्धियोगरूपता, एवं विप्रतिपत्ति का आत्यन्तिक-निराकरण .... ,,
४८–रथ-रथी प्रग्रह मार्ग-यात्रा-आदि से समन्वित कर्त्तव्यपथ का संस्मरण एवं तत्सम्बन्ध में महर्षि कठ के उद्गार १५५
४९–प्रत्यगात्मा तथा शारीरकात्मा की मध्यस्था बुद्धि, शारीरकात्म-निबन्धना योगत्रयी एवं प्रत्य-गात्मानुबन्धी बुद्धियोग तथा इसके स्वतन्त्र-व्यवहार की अनुपयुक्तता का समन्वय ,,

५०–धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य-नामक-योगों की अभिधाओं के सम्बन्ध में एक महती विप्रतिपत्ति, एवं औपनिषद-बुद्धियोग के सम्बन्ध में गीताशास्त्र की अपूर्वता तथा विलक्षणता का समन्वय १५६
५१–योगचतुष्टयी का तत्त्वतः योगद्वयीरूपा निष्ठाद्वयी में ही अन्तर्भाव .... ,,
५२–योगत्रयी के क्षेत्र में संशोधन के लिए सर्वप्रथम प्रवृत्त देवयुगानुगत गीताशास्त्र का संस्मरण १५७
५३–सुप्रसिद्धा धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य-नाम की चतुर्विधा योगनिष्ठाएँ एवं उनका सुप्रसिद्धा दो निष्ठाओं से ही समतुलन समन्वय .. .. ,,
५४–वेदसिद्धा काण्डचतुष्टयी तथा गीतासिद्धा योगचतुष्टयी का सह समतुलन, वेदोक्ता संक्षिप्ता योगविभूति का गीता के द्वारा विस्तार एवं प्रवृत्तिमूलक त्रैगुण्य का संशोधन १५८
५५–कलियुगानुगता वैयक्तिक-स्वार्थमूला पापात्मिका वृत्ति के मूलोच्छेद-पूर्वक ही वेदबाह्यरति का संशोधन एवं लोकसंग्राहक भगवान् के द्वारा निर्योगक्षेम का आदेश .... ,,
५६–भावुक-मानवों की वेदानुगता भ्रान्ति, एवं गीता के ही शब्दों में भ्रान्ति का आमूलचूड़ निराकरण तथा वैदिक यज्ञ-तपो-दान-त्रयी का निष्ठापूर्वक समर्थन १५९
५७–वेदोक्त कर्म्ममार्ग की मोक्षोपयिकता का समन्वय वेदोक्त प्राजापत्य यज्ञकर्म्म का गीता के द्वारा यशःख्यापन एवं निष्कामभावानुबन्धी वैदिक–कर्म्मयोग का उन्मुक्तहृदय से समादर ,,
५८–कतिपय कलिवर्ज्य शास्त्रीय विधान, एवं गीताशास्त्र संशोधन का तात्त्विक समन्वय १६०
५९–श्रुतिशास्त्रसिद्धैव योगत्रयी का गीताशास्त्र के द्वारा उपबृंहण १६१
६०–स्मृतिशास्त्रसिद्धा योगत्रयी का गीता के द्वारा यत्किञ्चित्-संशोधनपूर्वक संग्रह .... ,,
६१–वेदशास्त्रसिद्धा निष्ठात्रयी के आधार पर स्वयम्भूमनु, अपान्तरतमा, तथा कपिल के द्वारा कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-योगत्रयी का स्वरूपोद्भव, एवं तत्संशोधन के लिए ही प्रवृत्त गीताशास्त्र ,,
६२–निष्ठात्रयी की अन्ततोगत्त्वा निष्ठाद्वयी में ही परिणति ... ... ,,
६३–ग्रन्थकर्त्ता की भ्रान्ति एवं ग्रन्थव्याख्याता की भ्रान्ति रूपेण भ्रान्ति के दो विवर्त्त, एवं गीता के द्वारा संशोधित-तथ्य की स्वरूप-जिज्ञासा १६२
६४–परमाराध्य त्रिविध आचार्य्य, तथैव सर्वथैव मान्य उन के त्रिविध-शास्त्रीय योग एवं तदाधारेणैव संशोधन-विचार-विमर्श, तथा गीता का तत्सम्बन्ध में लोकसंग्राहक विशाल-दृष्टिकोण ,,
६५–'सांख्यज्ञान-प्रधान-गीताशास्त्र'-लक्षणा मान्यता की सर्वथैव आपातर मणीयता.... १६३
६६–विविध-विभूति-स्मरणात्मक कपिलादि का यशः-ख्यापनमात्र, एवं तदनुबन्धेनैव गीता में कपिल-सांख्य का समादर ... ... ,,
६७–मानवधर्म्मशास्त्रात्मिका-स्वयम्भू-निष्ठा का गीता के द्वारा सर्वात्मना समर्थन ... ,,
६८–आचार्य्यसम्मता भक्तिनिष्ठा, तथा सांख्यनिष्ठा का स्वरूप-दिग्दर्शन, गीता के द्वारा दोनों निष्ठाओं का बुद्धियोग-माध्यम से संशोधन .... ,,
६९–हिरण्यगर्भनिष्ठानुगता महती भ्रान्ति एवं गीता के द्वारा तत्संशोधन-प्रयास १६४
७०–कपिलनिष्ठानुगता महती भ्रान्ति एवं भगवान् के द्वारा तत्संशोधन .... ,,
७१–ग्रन्थकर्त्ता के सम्बन्ध से ही निष्ठाद्वयी में भ्रान्ति .... ,,

७२–ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्-सिद्धा निष्ठात्रयी का स्वरूप-संस्मरण .... ,,
७३-सर्वात्मना सुरक्षिता स्वयम्भू-निष्ठा एवं हिरण्यगर्भनिष्ठा तथा कपिलनिष्ठा के सम्बन्ध में भगवान् के द्वारा पर्य्याप्त-संशोधन .... ,,
७४-सर्वविदित-'लोके-वेदे च' सूत्र तन्निबन्धना-लोकनिष्ठा तथा वेदनिष्ठा एवं दोनों की हेयोपादेयता का दिग्दर्शन १६५
७५–हिरण्यगर्भनिष्ठानुगता योगनिष्ठा की उपादेयता एवं तत्सम्बन्ध में भगवान् के द्वारा मान्यता-प्रदान .... ,,
७६–अव्यक्तभावापन्ना हिरण्यगर्भनिष्ठात्मिका भक्तिनिष्ठा के योगात्मक स्वरूप के सम्बन्ध में शास्त्रीय-वचन-दिग्दर्शन १६६
७७–योगात्मिका-स्मार्त्ती-उपासना को वेदशास्त्र के द्वारा मान्यता-प्रदान .... ,,
७८–कपिलानुगता-स्मार्त्ती-सांख्यनिष्ठा का सर्वात्मना समर्थन एवं तत्र शास्त्रसम्मति ... १६७
७९–श्रीभगवद्गीता के द्वारा कपिल की सांख्यनिष्ठा को मान्यता-प्रदान .... ,,
८०–वेदसम्मता, गीतासम्मता, अतएव सर्वथा निर्भ्रान्ता हिरण्यगर्भ-कपिल-निष्ठाओं की लोकसंग्रहात्मिका मान्यता का समन्वय-प्रयास १६८
८१–हिरण्यगर्भसम्मत **योगमार्ग** की उपादेयता का समर्थन, तन्निबन्धना जटिलता एवं तत्स्थान में संशोधनात्मक-ऐश्वर्य्यबुद्धियोग का संस्थापन .... ,,
८२–कपिल-सम्मत '**सांख्यमार्ग**' की उपादेयता का अभिनन्दन, तन्निबन्धना जटिलता एवं तत्स्थाने च संशोधनात्मक-'**ज्ञानबुद्धियोग**' का संस्थापन ... . ,,
८३–लोकनिष्ठाओं के व्याख्याताओं की लोक-मान्यताओं पर भगवान् के द्वारा प्रहार ... १६९
८४–वेद के ब्राह्मण भाग से अनुप्राणिता-कर्म्मनिष्ठा की गुणात्मकता पर गीता का प्रचण्ड प्रहार ,,
८५–गुणात्मक कर्म्मयोग के निर्गुणता-सम्पादन के लिए गीता के द्वारा महान् संशोधन १७०
८६–आरण्यक-भागानुगता उपासना के व्याख्याताओं के काल्पनिक भक्तियोग पर गीता का प्रचण्ड प्रहार ... ... ,,
८७–काममयी भक्ति का लोकसंग्राहक भगवान् द्वारा संशोधन १७१
८८–आरण्यकोपनिषद्-भागानुगता सांख्यनिष्ठा के व्याख्याताओं की काल्पनिक-सांख्यनिष्ठा पर गीता का प्रचण्ड-प्रहार .... ,,
८९–कर्म्मत्यागात्मिक सांख्यनिष्ठा का भगवान् के द्वारा संशोधन १७२
९०–संशोधन का मूलाधार '**वैराग्यबुद्धियोग**' ... . ,,
९१–देवयुगानुगता निर्गुणोपासना का संस्मरण १७३
९२–युगभेदनिबन्धना-उपासना का स्वरूप-समन्वय एवं चतुर्थ प्रकरणान्तर्गत प्रथम-अवान्तर प्रकरण की उपरति .... ,,
९३–व्यवच्छेदात्मक पाण्डित्य, तदनुप्राणित निश्चत निर्णय, एवं भारतीय उपासनाकाण्ड ,,
९४–निर्गुण-सगुणोपासना का तारतम्य-समन्वय, एवं शास्त्राचार की उपेक्षा से सम्भावित महान् स्खलन १७५

९५–विविध भेदभिन्न असंख्य अगणित भक्तिवादों का युग धर्म्मानुबन्ध से पञ्चधा वर्गीकरण ,,
९६–महारम्भ शास्त्र से अनुप्राणित भक्तिमार्ग में शास्त्रैकशरणता की ही अनन्यता १७६
९७–भक्तिमार्गानुबन्धी उपास्य उपासक एवम् उपासना साधनत्रयी का संस्मरण ... ,,
९८–द्वैतभाव निबन्धन भक्तिमार्ग .... ,,
९९–भक्तिमार्ग-निबन्धन द्वैतभाव की स्वरूप-मीमांसा, तत् प्राणप्रतिष्ठा अद्वैतनिष्ठा, एवं तत्सम्बन्ध में आर्ष-वचनों का संस्मरण.... .... १७७
१००–निराकार-साकार-भेद भिन्ना-औपासनिकी तत्त्वमर्य्यादा, अनुपास्य निराकार, एवं उपास्य सगुण-प्रजापति का संस्मरण .... ,,
१०१–आत्मा-प्राण-पशु-समष्ट्यात्मक उपास्य सगुणेश्वर का संस्मरण १७८
१०२–अध्यात्म-अधिदैवत-अधिभूत-निबन्धन उपासक-उपास्य-साधन-भावत्रयी का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय .... ,,
१०३–देवयुगानुगता निर्गुणोपासना की ज्ञानैकप्रवणता, एवं तत्सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति-परम्पराएं १७९
१०४–उपास्यतत्त्व का पावन संस्मरण, तदनुप्राणिता अद्वैतनिष्ठा, एवं तत्समर्थक-श्रुतिसन्दर्भ ,,
१०५–उपास्यदेवता के विभिन्न विवर्त्त १८०
१०६–निर्गुण ब्रह्म की परिग्रहानुगता सगुणता का समन्वय .... .. ,,
१०७–सगुणताप्रवर्त्तक षड्विध (६) परिग्रहों का नाम-स्मरण .... ,,
१०८–षट्परिग्रहभेद से सगुणप्रजापति के विभिन्न ६ स्वरूप .... ,,
१०९–अत्यन्त-विलक्षण-परिग्रहविशिष्ट प्रजापति का आश्चर्य्यमय-समन्वय-प्रयास ... ,,
११०–सगुणात्मविवर्त्त-समन्वयः [परिलेखात्मकः] १८१
१११–षड्विध-परिग्रह-समन्वयः (परिलेखात्मकः) १८२
११२–अभिन्न-विद्युद्यन्त्र से सञ्चालित भिन्न, एवं अभिन्न-आत्मतन्त्र से सञ्चालित नानाभेद-भिन्न प्राकृतिक-विवर्त्त .... ,,
११३–सर्वाधारात्मक स्वाधारभूत निराधार आत्मतन्त्र की सर्वव्याप्ति, एवं तदनुगता सर्वतन्त्रानुप्राणित जिज्ञासा १८३
११४–प्रक्रान्त उपासनात्मक-भक्तियोग के अनुबन्ध से सर्वाधारभूत आत्मतन्त्र का अनिवार्य्य संस्मरण, एवं काल्पनिकों के काल्पनिक आपेक्ष का निरसन ... ... ,,
११५–**'एतत्'** रूप विश्व के आधारभूत **'तत्'** रूप विश्वात्मा की मनः-प्राण-वाङ्-निबन्धना ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तित्रयी का पावन संस्मरण .... ,,
११६–विश्वातीत-निष्कल-**'परात्परात्मा'** की षट्परिग्रह-निबन्धना-मायानुगता-**'सकलता'**, एवं निष्कलता का संस्मरण १८४
११७–मायापरिग्रह-युक्त **'मायी'** अव्यय की सगुणरूपता का दिग्दर्शन, एवं तत्त्वदृष्ट्या मायी अव्यय की अनादित्वनिबन्धना **'निर्गुणता'** का समन्वय .... ,,
११८–**'सर्वान्तरतम'**-श्वोवसीयस्-मनो-मूर्त्ति निर्गुण अव्ययात्मा की अक्षरप्रकृति-निबन्धना मनः-प्राणवाङ्मयता का संस्मरण .... ,,

११६–प्रकृतिनिबन्धन अक्षरभाव के अनुबन्ध से अव्ययात्मा की ही अव्यय-अक्षर-क्षरभेदनिबन्धना संस्थात्रयी का क्रमानुगत-समन्वय १८५

१२०–कामरेतोमय मनोमूर्त्ति अव्ययात्मा के त्रिवृद्भावापन्न-मनः-प्राण-वाग्-विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय एवं निष्कल-मायी की पञ्चकलोपेतता का दिग्दर्शन ... . ,,

१२१–आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाग्-भेदेन पञ्चकोशात्मक अव्ययात्मा, तन्निबन्धना मुमुक्षा-सिसृक्षा, तदनुप्राणिता निवृत्ति-प्रकृत्ति, एवं सृष्टिसाक्षी, तथा मुक्तिसाक्षी अव्ययात्मा का संस्मरण १८६

१२२–अव्ययात्मसंस्थान-समन्वयः-परिलेखात्मकः- .... ,,

१२३–अक्षरात्मासंस्थान-समन्वयः-परिलेखात्मकः- .... ,,

१२४–अक्षरात्मसंस्थान-समन्वयः-परिलेखात्मकः- १८७

१२५–अव्यय-अक्षर-क्षरानुबन्धी-कला-गुण-विकार-परिग्रह-समन्वय, एवं अव्ययपुरुष की प्रातिस्विकी निष्कलता, निर्विकारता तथा निर्गुणता का संस्मरण ... . ,,

१२६–**'न करोति, न लिप्यते'** मूलक विशुद्ध निर्गुण अव्यय, एवं-**भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः'**, मूलक सगुणाव्ययमूर्त्ति षोडशीप्रजापति १८८

१२७–अव्यय-निबन्धन-**'आत्मा'** शब्द, एव षोडशीप्रजापति-निबन्धन **'आत्मन्वी'** शब्द, तथा आत्म-प्राण-पशु-समष्टयात्मक **'प्रजापति'** का स्वरूप-समन्वय ... .

१२८–विशुद्ध अव्यय की 'तत्' रूपता, एवं षोडशीप्रजापति की **'अमृत–ब्रह्म-शुक्र'**-रूपता का समन्वय .... ,,

१२९–अर्द्धमात्रात्मक निष्कल अव्यय, अकारात्मक पञ्चकल अव्यय, उकारात्मक पञ्चकल अक्षर, ककरात्मक पञ्चकल क्षर, एवं प्रणवमूर्त्ति-षोडशी-प्रजापति-लक्षण-**'ईश्वर'**- ... ,,

१३०–चतुष्पाद् ब्रह्म के ऊर्ध्वभावानुगत तीन पाद, एवं चतुर्थ पाद की विश्वरूपता का समन्वय, तथा अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक-अणोरणीयान्-महतोमहीयान् **'पूर्णपुरुष'** रूप अश्वत्थप्रजापति का माङ्गलिक-संस्मरण १८९

१३१–पराव्ययमूर्त्ति, ब्रह्मक्षरमूर्त्ति, एवं परावराक्षरमूर्त्ति, अतएव सर्वमूर्त्ति-मध्यस्थ अक्षरप्रजापति की प्रणवोङ्कारता का स्वरूप-समन्वय .... ,,

१३२–अमृत ब्रह्म-शुक्र-मूर्त्ति-अश्वत्थलक्षण षोडशीप्रजापति के त्रिवृद्भावापन्न तात्त्विक-स्वरूप का समन्वय-प्रयास १९०

१३३–**'सत्यप्रजापति'** का स्वरूप-संस्मरण, तन्निबन्धन परिग्रहों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं अक्षरानुबन्धी गुणभाव की सगुणरूपता का स्वरूपोपबृंहण १९३

१३४–पञ्चविध-विकाराक्षरों का संस्मरण, तन्निबन्धन परिग्रहों का स्वरूपता-दिग्दर्शन, एवं आत्मक्षरानुबन्धी विकारभावों की सविकाररूपता का स्वरूपोपबृंहण, और तदनुप्राणिता-सत्य-यज्ञात्मिका त्रयीविद्या .... ,,

१३५–**'यज्ञ'** के द्वारा **'सत्य'** का महिमात्मक वितान, एवं प्रजापति का चतुर्थ-विवर्त्त .... ,,

१३६--अङ्गिरामय अग्नि, एवं भृगुमय सोम के अवस्था-निबन्धन षड्विध महिमा-विवर्त्त, तदनुबन्धी षट्कल **'सुब्रह्म'**, तदनुप्राणित कलाचतुष्टयात्मक-**'ब्रह्म'**, एवं ब्रह्म-सुब्रह्म-समष्टयात्मक-दशकल विराट्प्रजापति १९४

१३७--आत्मसन्तान की विश्रामभूमि सावरणभाव-निबन्धन षष्ठ-प्राजापत्य-विवर्त्त ... ''

१३८--सत्य-यज्ञ-विराट् विश्व-भावानुबन्धीप्राजापत्य-विवर्त्तों का समष्टयात्मक-संस्मरण .... ''

१३९--महिमामय प्रजापति से अनुप्राणित अविकृत-परिणामवाद, एवं **'ब्रह्म'** के नित्यमहिमाभाव का स्वरूप-समन्वय १९५

१४०--क्षर की आत्मरूपता तथा विश्वरूपता का समन्वय, एवं तन्निबन्धन अविकृत-परिणामभाव ''

१४१--विश्वोद्देश्येन प्राजापत्यात्मसंस्थाओं का विचार-समन्वय, एवं त्रिपुरुषात्मक-प्रजापति की कारणातात्रयी का दिग्दर्शन ... . ''

१४२--विश्वात्मा के क्षरात्मक एकांश से विश्वोदय, एवं प्रजापति की सर्वव्याप्ति १९६

१४३--विश्वानुबन्धी **'आत्मा'**, एवं आत्मप्रतिष्ठ-**'विश्व'**, तथा तन्निबन्धन त्रिवृद्भाव का सस्मरण ... . ''

१४४- निर्गुण-षोडशी-सगुण-सविकार-भावानुगत सत्य यज्ञ का स्वरूप-समन्वय, एवं सर्वज्ञाव्यय, सर्वशक्ति अक्षर, सर्ववित् क्षर का स्वरूप-दिग्दर्शन ... ... ''

१४५--माया-कला-आदि परिग्रहों का सृष्टयनुबन्धी तारतम्य-समन्वय, विभिन्न दृष्टियों से परिग्रह-प्रजापति के विविध-विवर्त्त, एवं तालिका-माध्यम से विवर्त्त-भावों का स्वरूप-समन्वय १९७

१४६--तालिका-प्रदर्शित विवर्त्तभावों का यथापूर्व समन्वय-प्रयास १९९

१४७--पञ्चविध **'गुणभूतों'** का स्वरूप-विस्तार, एवं तदाधारेण वाक्-आपः-अग्नि-रूपा शुक्रत्रयी की अभिव्यक्ति .... ''

१४८--शुक्रत्रयी का पञ्चविध क्षरों के साथ सम्बन्ध-समन्वय ... . ''

१४९--मनः-प्राण-वाक् के त्रिवृद्भाव का मौलिक रहस्य, एवं त्रिवद्भाव के विविध प्रक्रम-अभिक्रम २००

१५०--त्रिवृद्भावानुबन्धी विस्तार से अनुप्राणिता प्राजापत्यसंस्थाओं के १-३-९- संख्यानुगत विस्तार .... ''

१५१--त्रिवृद्भावनिबन्धन अव्यय, अक्षर, क्षर-पुरुषों के तात्त्विक महिमभाव ... .''

१५२--अव्यय की अक्षररूपता, एवं अक्षर की क्षररूपता का समन्वय २०१

१५३--मायापरिग्रहात्मक त्रिवृद्भावापन्न मनोमय अव्ययात्मा, एवं तन्निबन्धना **'अव्ययसंस्था'** ''

१५४--त्रिवृद्भावापन्न प्राणमय अक्षरात्मा .... ''

१५५--कलापरिग्रहात्मिका--**'अक्षरसंस्था'** .... ''

१५६--त्रिवृद्भावापन्न वाङ्मय क्षरात्मा .... ''

१५७--प्रकृतिभावनिबन्धन-परिग्रहों के विविध-समन्वय, एवं त्रिपुरुषपुरुषानुबन्धी तीन विवर्त्तों का आविर्भाव २०२

१५८–विवर्त्तत्रयी का समष्टिरूप सत्यवेद, एवं त्रिवृद्भावापन्ना '**चरात्मसंस्था**' का स्वरूप समन्वय ,,
१५९–अमृत-ब्रह्मा-शुक्र-भावों का दृष्टिकोणभेदनिबन्धन विभिन्न समन्वय ... ,,
१६०–ज्ञान-क्रिया-अर्थ-प्रधाना क्रमसिद्धा पुरुषसंस्थात्रयी, एवं विभिन्न-तालिकाओं के माध्यम से तत्स्वरूप-समन्वय .... ,,
१६१–आत्मसंस्थात्रयी का स्वरूप-संस्मरण .... ,,
१६२–विकारप्रपञ्चानुगता विज्ञाननिबन्धना विश्वसृट्, पञ्चजन, पुरञ्जन-त्रयी, एवं दर्शननिबन्धना गुणभूत-अणुभूत-रेणुभूत-त्रयी का स्वरूप-समतुलन .... ,,
१६२–गुणभूतात्मक '**विश्वसृट्**', तथा अणुभूतात्मक '**पञ्चजन**' का तात्कालिक पञ्चीकरण, एवं रेणुभूतात्मक '**पुरञ्जन**' की स्पष्ट-अभिव्यक्ति, तथा तन्निबधन पुरभावात्मक विश्व का संस्मरण ,,
१६४–विश्वातीत '**परात्परब्रह्मा**' नुगत रस-बल के अनुग्रह से षड्विध-प्राजापत्य-विवर्त्तों में '**अमृत**' '**मृत्यु**' भावों का अपेक्षाभेद-निबन्धन-समन्वय १६४
१६५–'**अव्ययसंस्था**' की निष्कैवल्या-'**अमृतरूपता**', तथा '**विश्वसंस्था**' की विशुद्धा-'**मृत्युरूपता**' का समन्वय .... ,,
१६६–अमृतनिबन्धन अव्यय, और-'**आत्मा**', अमृत-मृत्यु-निबन्धन-षोडशी-सत्य, यज्ञ, विराट् और '**आत्मन्वी**', तथा मृत्युनिबन्धन विश्व .... ,,
१६७–'**प्रजापतिः प्रजया संरराणः**' मूलक '**प्रजापति**' रूप '**आत्मा**', तथा '**प्रजा**' रूप '**विश्व**' का स्वरूप-समन्वय, एवं आत्म-विश्व-समष्टयात्मक-'**आत्मन्वी**' ... ,,
१६८–अमृत-मृत्यु-विवेक-निबन्धना तृतीया '**शुक्रसंस्था**' से अनुप्राणित पञ्चपुरञ्जनात्मक विवर्त्तभावों का संस्मरण, एवं शुक्रत्रयी की षट्शुक्ररूप में परिणति २१८
१६९–सत्य-यज्ञ-प्रजापति से अनुगता अमृता शुक्रत्रयी, विराट्-प्रजापत्यनुगता मर्त्या शुक्रत्रयी, एवं विकार-परिग्रहात्मक '**यज्ञप्रजापति**' का संस्मरण .... ,,
१७०–'**अञ्जन**' परिग्रहानुगत सप्तविध (७) यज्ञपाप्माओं का नाम-प्रदर्शन-समन्वय .... ,,
१७१–'**आवरण**' परिग्रहानुगत-यज्ञपाप्माओं से समन्विता मर्त्या शुक्रत्रयी, एवं तद्द्वारा '**विश्व**' के स्वरूप की अभिव्यक्ति .... ,,
१७२–अमृता-शुक्रत्रयी के तीन पर्वों से अमृता-देवत्रयी-का आविर्भाव, तन्निबन्धना '**एकामूर्त्ति**', एवं सगुणसत्यानुगत-यज्ञप्रजापति का स्वरूप-समन्वय २१९
१७३–षोडशीपुरुषेश्वर के शुक्रात्मक '**चर**' की विविध-सोपानपरम्पराएँ, तन्निबन्धन सृष्टिविवर्त्त, एवं षीपर्वा शुक्रचरात्मा से पञ्चपर्वा विश्व की स्वरूपाभिव्यक्ति .... ,,
१७४–क्रमसिद्धा-'**विराट्प्रजापति**'-रूपा पञ्चमी-संस्था, एवं विराट्प्रजापति की सुप्रसिद्धा दश-कलाओं का स्वरूप-समन्वय २२१
१७५–एककल गार्हपत्य, अष्टविध धिष्ण्य, एककल आहवनीय-भेदनिबन्धन वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-मूर्त्ति दशावय विराट्प्रजापति, एवं उस की-'**देवसत्यरूपता**' का दिग्दर्शन ,,
१७६–सूर्य्य के द्वैधीभाव के सम्बन्ध में महती विप्रतिपत्ति, तन्निराकरण, और सावरण-विश्व के सुप्रसिद्ध तीन '**धाम**', एवं तत्र मन्त्रश्रुति का संस्मरण .... ,,

१७७–अमृतसूर्य्य के द्वारा "**धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य**"-भावों की, तथा मर्त्यसूर्य्य के द्वारा-"**अभिनिवेश-अविद्या-आसक्ति-अस्मिता**"-भावों की क्रमिक अभिव्यक्ति का दिग्दर्शन ,,

१७८–विराट्प्रजापति की '**रुद्र**'-रूपता, तन्निबन्धना रुद्रपत्नी-रूपा रोदसी-त्रिलोकी, एवं तालिकारूपेण विराट्प्रजापति का चतुर्द्धा संस्मरण .... ,,

१७९–शुक्रसंस्थानुगत ऋतत्त्व के द्वारा सत्य-यज्ञ-विराट्-भावों की स्वरूप-शिक्षा ... ,,

१८०–'**साञ्जनविराट्प्रजापति**' के आधार पर '**सावरण-विश्व**' की स्वरूपाभिव्यक्ति, अग्नीषोमात्मिका विश्वरूप-परिभाषा, एवं अग्नि के त्रिविध-महिमा-विवर्त्तों का वर्गीकरण .... ,,

१८१–विश्वनिबन्धन सोम के द्विविध-महिमा-विवर्त्तों का नाम-संस्मरण .... ,,

१८२–त्रिविध अग्नि-विवर्त्तों तथा द्विविध सोम-विवर्त्तों से समन्वित पञ्चात्मक-पञ्चपर्वा-सावरण-विश्व-स्वरूप-निष्पत्ति ... . ,,

१८३–अव्ययाक्षर का '**आत्मत्व**', एवं क्षर का '**विश्वत्त्व**' तन्निबन्धन पञ्चमहाभूतों का स्वरूप-समन्वय, तथा तालिका-माध्यम से पञ्चभूतात्मक-शुक्रात्मक-विश्व का स्वरूप-दिग्दर्शन.... २२६

१८४–भौतिक विश्व का मौलिक-उपादान-द्रव्यात्मक-'**वाक्**' तत्त्व, तत्प्रसूत आपोमय भृग्वङ्गिरा तदनुप्राणित वराहवायु, एवं तद्द्वारा '**सूर्य्य**' की स्वरूपाभिव्यक्ति ... २२७

१८५–विश्वमूलभूत वाक्तत्त्व के '**सत्या-आम्भृणी-बृहती-अनुष्टुप्-सुब्रह्मण्या**' नामक पाँच महिमा-विवर्त्त, एवं तन्निबन्धन पञ्चवागात्मक विश्व का तालिक-माध्यम से स्वरूप-समन्वय ,,

१८६–स्पार्त्तीं-दृष्टि से अनुप्राणित विश्व की सत्य-यज्ञा-नुगता शुक्रात्मकता का समन्वय ... २२८

१८७–सत्य-यज्ञ-विराट्-त्रयी को समष्टि से अनुप्राणिता विश्व, एवं तत्सम्बन्ध में पण्ट-संस्थानुगता महती विप्रतिपत्ति ... ... ,,

१८८–पञ्चपर्वात्मक विश्व, एवं सत्य-यज्ञ-विराट्-मूर्त्ति शुक्रात्मक क्षर की अभिन्नता, तन्निबन्धना अमृत-शुक्रत्रयी का स्वरूप-समन्वय, तथा अश्वत्थप्रजापति से अनुप्राणित '**लोक**' का संस्मरण ,,

१८९–कठश्रुति का '**लोकाः**' शब्द, त्रैलोक्य-निवासिनी '**प्रजा**' का '**लोकभाव**', एवं लोकात्मक '**विश्व**' शब्द २२९

१९०–'**यद्वै विश्वं, सर्वं तत्**'-निगम मूलक '**विश्व**' शब्द की सर्वरूपता, तदनुबन्धी '**विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव**', एवं '**विश्व**' शब्द का स्वरूप-समन्वय ... ,,

१९१–'**प्रजा**'-रूप-**विश्व**' के सत्त्व रज-स्तमो-गुण-निबन्धन त्रिविध महिमा-विवर्त्त, एवं विश्व-प्रजानुगता सञ्चरवृत्ति की विश्रान्ति .... ,,

१९२-स्वयम्भूतिकल्प, मायाकल्प, विकारकल्प, भेद से सृष्टिकल्पों के त्रिविध महिमा-विवर्त्त २३०

१९३–महामाया, योगमाया, दैवीमाया, महन्माया, आसुरीमाया, जीवमाया, भेदभिन्न प्रकृतितत्त्व के षट्परिग्रह-निबन्धन षड्विध महिमा-विवर्त्त ... ... ,,

१९४–षड्विध-परिग्रहों से समन्वित षड्विध मायाविवर्त्तों के अनुबन्ध से षड्विध उपास्य-पुरुषों का स्वरूप संस्मरण ... ... ,,

१९५–उपास्य तत्त्वानुबन्धी '**भक्तियोग**', भक्तियोगनिबन्धन उपास्यतत्त्व की परिग्रह-रूपता एवं तन्निबन्धना अनिवार्य्यरूपेण उपादेया षड्विध-परिग्रहमीमांसा ... २३२

१९६--भक्तियोगानुबन्धी उपास्यतत्त्व का '३-६-४-५' क्रम से चतुर्द्धा वर्गीकरण ... ,,
१९७--'त्रिकल-उपास्य' से सम्बन्ध रखने वाली 'त्रिकल-भक्ति' एवं त्रिकला भक्ति के त्रिवृद्भावानुबन्धी 'ज्ञान-भक्ति-कर्म्म' भावों का विस्तार-समन्वय ... ... ,,
१९८--'उपासना' और 'भक्ति' के तारतम्य की स्वरूप-मीमांसा २३३
१९९--षट्कलविभागात्मक द्वितीय उपास्य का संस्मरण, एवं तन्निबन्धन षड्विध उपासनापथों का नाम-समन्वय २३४
२००--चतुष्कलोपेता 'भक्ति' के आत्मा, पदं, पुनःपदं अशीतिः, रूप चार विवर्त्त एवं तदनुप्राणिता भक्ति के चार-विभिन्न-विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय २३६
२०१--क्रमप्राप्त चतुर्थ-भक्तिपथ से अनुप्राणित अष्टविध-महिमा-विवर्त्त, एवं इन का पञ्चविध-महिमा-भावों में अन्तर्भाव, तथा तन्निबन्धन पञ्चविध-उपास्यों का संस्मरण ... २३७
२०२--विभिन्न परिग्रहों से समन्वित पारिग्रहात्मक पञ्चविध उपास्य-देवताओं का स्वरूप-समन्वय २३८
२०३--भक्तियोग-समन्वय-निबन्धन-पञ्चविध-उपास्यों की अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षिता लक्ष्यारूढता ,,
२०४--निर्गुण, सगुण, सर्वधर्म्मोपहित, सर्वधर्म्मोपपन्न, सर्वधर्म्मविशिष्ट, पञ्चविध-उपास्य-देवताओं का परिग्रहात्मक-समन्वय .... ,,
२०५--आत्मोपासना-ईश्वरोपासना-विकारोपासना, देवोपासना, भूतोपासना-भेदनिबन्धन पञ्चविधोपासना .... ,,
२०६--'तत्' के विवर्त्तभूत पञ्चविध उपास्य, तन्निबन्धन पञ्चविध उपासनापथ, तदनुप्राणिता उपयोगिता, एवं पञ्चोपासना-विवर्त्तों का उपासनात्रयी में अन्तर्भाव २४१
२०७--आत्मकाममूला, निष्कामभावान्विता, एवं सकामभावानुबन्धिनी उपासनात्रयी का तारतम्य, तथा उपासनानुगता उपासना-भक्ति-कर्म्म-त्रयी का स्वरूप-समन्वय .... ,,
२०८--आत्मा, ईश्वर, उपेश्वर, एवं विराट्भावनानुगता उपासनातत्त्व का स्वरूप-समन्वय २४२
२०९--'विश्व'-भावानुबन्धी षड्विध (६) जीवसर्गों का तात्त्विक-स्वरूप-संस्मरण ... ,,
२१०--आधिकारिक-चेतन जीवों से अनुप्राणिता उपासना का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय .... ,,
२११--आधिकारिक-अर्द्धचेतन-जीवों से अनुप्राणिता उपासना का संस्मरण २४३
२१२--आश्वत्थिक-अचेतन जीवों का स्वरूपेतिवृत्त-समन्वय .... ,,
२१३--आश्वत्थिक त्रयोदशविध (१३) चेतन-जीवों का स्वरूपेतिवृत्त-समन्वय ... ,,
२१४--आश्वत्थिक-चेतन-जीवों की उपास्यता का समर्थन .... ,,
२१५--आश्वत्थिक-अर्द्धचेतन-जीव, तन्निबन्धन प्राणदेवता, एवं तदनुगता उपासना का रहस्यपूर्ण समन्वय ... . ,,
२१६--षड्विध (६) जीववर्गों से अनुप्राणित उपासना से अनुप्राणित नीरक्षीरविवेक ... २४४
२१७--'मानवोपासना' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय (मनुष्य की मनुष्य के द्वारा उपासना) ,,
२१८--उपासना से अनुप्राणित प्रथम-सोपान, तदनुप्राणित 'लौकिकब्रह्म' एवं तदनुबन्धिनी उपयोगिनी उपासना का स्वरूप-समन्वय २४५
२१९--देवप्राणनिबन्धन-पशुओं की उपासना का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय .... ,,

२२०–महद्भूतात्मक आराध्य गौ पशु का औपासनिक-समन्वय २४६
२२१–बुद्धियोगनिष्ठा-प्रवर्त्तिका महती उपासना, एवं तदाधारभूत महतोमहीयान् दिव्य-प्राणामूर्त्ति गौ पशु ... ... ,,
२२२–सौर-दिव्य-इन्द्र-प्राणात्मिका गौ एवं तदुपासना का समन्वय ... . ,,
२२३–विभिन्नप्राणात्मक विभिन्न अश्व-गज-मूषक-आदि प्राणियों की उपास्यता का संस्मरण २४७
२२४–दिव्यप्राणनिबन्धन पक्षी, कृमि, आदि की उपासना का संस्मरण ... ,,
२२५–आश्वत्थिक-अचेतन-जीवानुबन्धिनी प्रतिमोपासना (मूर्त्तिपूजन), एवं शास्त्रसिद्ध भूतोपासना के सम्बन्ध में वेदभक्तों का व्यामोहन .... ,,
२२६–आधिकारिक-अचेतन-उपास्य-जीवों से अनुप्राणिता उपासना, एवं उपासनातत्त्वनिबन्धन पञ्चविध विवर्त्त-भावों का तालिका-माध्यम से समन्वय-प्रयास २४८
२२७–पञ्चविधोपासनामूला-ईश्वरोपासना, जीवोपासना, जगदुपासना-त्रयी का स्वरूप-समन्वय ,,
२२८–संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्, तथा गीताशास्त्र से अनुप्राणित प्रमाण वचनों का उपक्रम २४९

२२९–(१) वेद संहितामूलक पञ्चधा विभक्त उपास्य तत्त्व
२३०–(२) ब्राह्मणमूलक पञ्चधा विभक्त उपास्य तत्त्व
२३१–(३) आरण्यकमूलक पञ्चधा विभक्त उपास्य तत्त्व
२३२–(४) उपनिषन्मूलक पञ्चधा विभक्त उपास्य तत्त्व

२३३–(५)-गीताशास्त्रमूलक-पञ्चधा-विभक्त-उपास्य-तत्त्व २५८
२३४–'यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश' मूलक-पाङ्क्त-विश्वयज्ञानुबन्धी पञ्चावयव-उपास्य-विवर्त्तों का संस्मरण २६१
२३५–पञ्चपर्वात्मक महारम्भ आर्षशास्त्र में उपवर्णित पञ्चोपास्य-विवर्त्त .... ,,
२३६–गीताशास्त्र की प्रत्यगात्मनिबन्धना-निर्गुणाव्ययमूला निर्गुणोपासना का स्वरूप-समन्वय-प्रयास ,,
२३७–आत्मकाममयी अव्ययोपासना की स्वरूप-मीमांसा २६२
२३८–निर्गुणाव्ययोपासक की स्वरूपस्थिति का विश्लेषण ... . ,,
२३९–अव्ययोपासनानुगत निर्गुणभाव, एवं तत्समर्थक-गीतावचन २६३
२४०–दुरधिगम्य दुःसाध्य अद्वैतपथ को गीता के द्वारा ऋजुभाव-प्रदान, एवं तन्निबन्धन गीताशास्त्र का महतोमहीयान् कौशल २६४
२४१–इतर शास्त्रापेक्षया गीताशास्त्र की अपूर्वता, विलक्षणता, एवं पूर्णता का संस्मरण ... ,,
२४२–यज्ञात्मक विश्वकर्म्मों की अबन्धनता, एवं तत्प्रेरक अन्तर्य्यामी-यज्ञेश्वर-प्रजापति ... ,,
२४३–मुकुलितवृत्तिरूपा अस्मिता की निवर्त्तिका ऐश्वर्य्यप्रदात्री भक्ति, एवं उसकी सगुणरूपता का समन्वय २६५
२४४–काशिराज प्रतर्द्दनादि भारतीय-नृपतिवरों की परम्परों में प्रचलिता ऐश्वर्य्य-बुद्धि-योगात्मिका-भक्ति ... ... ,,

२४५–राजविद्यानुगता, षोडशीपुरुषनिबन्धना-ईश्वरानन्यता-लक्षणा भक्ति, एवं सगुणषोडशीप्रजापत्यु-
पासना-समर्थक-गीतावचन ··· ··· ··· ··· ,,
२४६–विकारानुबन्धी सत्यप्रतिष्ठ यज्ञप्रजापति, एवं तदनुगता उपासना ···· ···· २६७
२४७–'तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्' मूलक यज्ञात्मक कर्म्म, एवं तद्रूपा भक्ति ···· ,,
२४८–यज्ञप्रजापति के अर्चनोपासना से अनुप्राणिता त्रिगुणात्मिका भक्ति ··· ,,
२४९–कर्म्ममय-भक्तिमार्ग की त्रिगुणात्मकता के प्रचण्डविरोधी गीताचार्य्य ··· ,,
२५०–गीता के द्वारा संशोधित गुणात्मक-भक्तिमार्ग का 'धर्म्मबुद्धियोगात्मक' स्वरूप ··· ,,
२५१–ब्राह्मणभागनिबन्धन धर्म्मबुद्धियोगपथ ··· ···· ··· २६८
२५२–अवतारोपासनात्मिका सविकारोपासना, एवं उसके विविध विवर्त्त ···· ···· ,,
२५३–लोकात्मक-विश्वधर्म्म से अनुप्राणित कर्म्मात्मक-भक्तिमार्ग का स्वरूप-समन्वय ··· ,,
२५४–अवतारचरित्रनिबन्धन-कर्म्मात्मक-भक्तिमार्ग का स्वरूप-समन्वय ··· ··· ,,
२५५–आधिकारिन-अचेतन-सूर्य्यचन्द्रादि जीवनिबन्धन-कर्म्मात्मक भक्तिमार्ग का समन्वय ··· ,,
२५६–भक्तिमार्ग के प्रथम, मध्यम, उत्तम-भावनिबन्धन तीन विभिन्न सोपान ···· ,,
२५७–ईश्वरसत्ता से तटस्थ मानवों के अभ्युदय से अनुप्राणित भक्तिमार्ग की रूपरेखा ··· ,,
२५८–केवल प्रकृतिपरायण प्राकृत-मानवों का चरित्र-चित्रण, एवं तदभ्युदयपथ-संस्मरण ··· ,,
२५९–प्रकृतिसिद्ध-लोकसंग्राहक-कर्त्तव्यानुष्ठानानुगत सदाचरण, एवं तन्निबन्धन पारम्परिक-
अभ्युदय ··· ··· ···· ··· ··· ,,
२६०–प्रचलित कर्म्म-ज्ञान-योग-निष्ठाओं का भगवान् के द्वारा संशोधन ···· ·· २७०
२६१–ज्ञान-कर्म्म-योग निष्ठाओं का संशोधित-समन्वयात्मक-स्वरूप ··· ··· ,,
२६२–चतुर्थ-बुद्धियोग के सम्बन्ध में लोकनैष्ठिकों का व्यामोहन, एवं तन्निराकरण-प्रयास ··· ,,
२६३–उभयात्मिका उपासना का स्वरूप-दिग्दर्शन ··· ···· ··· ,,
२६४–ज्ञानसजातीयता से अनुप्राणित कर्म्म, और उसका ज्ञानमयत्व ··· ···· ,,
२६५–बुद्धियोगात्मिका उपासना, और तन्निबन्धन पारिभाषिक-'योग' शब्द ···· २७१
२६६–बुद्धियोगनिबन्धन योग, और युक्त-भाव ···· ··· ···· ,,
२६७–द्विविध योगी, एवं उनका तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास ···· ···· ,,
२६८–उदासीनवदासीन-युक्त-योगियों के द्वारा सामाजिक अनुकरण-प्रिय समाज का शैथिल्य, एवं
बाह्याचरणानुगत-संस्कार ··· ··· ··· ··· ,,
२६९–लोकसंग्रहनिष्ठ भगवान् के द्वारा उदासीनयोगी के युक्त-योग में यत्किञ्चित् संशोधन २७२
२७०–युक्त-योगी के बौद्धिक-उदासीनक्षेत्र में मानस-श्रद्धाभाव-का समावेश, एवं तद्द्वारा युक्त-योगी
की रुक्षता का निराकरण ···· ···· ··· ···· ,,
२७१–श्रद्धारस से समन्वित 'योगी' का युक्ततमत्व, एवं तन्निबन्धन लोकसंग्रह ···· ,,
२७२–'युक्त', और 'युक्ततम' शब्दों का स्वरूप-समन्वय, एवं तत्र भगवान् के द्वारा श्रेणिविभाग
संस्थापन .... ···· ··· ··· ··· ,,

२७३–सर्वमूर्त्ति आप्तकाम भगवान् वासुदेव कृष्ण के 'युक्ततमत्त्व' का स्वरूप-संस्मरण, एवं तन्निबन्धन गीता का-'रहस्ययोग' २७३
२७४–गीतायोग के दो विभिन्न 'महिमविवर्त्त', उभयविवर्त्तात्मिका सुप्रसिद्धा-'बुद्धियोगनिष्ठा', एवं तन्निबन्धना निर्गुणाख्ययोपासना का स्वरूप-समन्वय .... ,,
२७५–ईश्वरोपासना-लक्षण-'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' की 'भक्ति' रूपता, तदनुवर्त्मा नृपतिश्रेष्ठ, एवं गीता से अनुप्राणित 'तपः' शब्द का स्वरूप-समन्वय, और गीता का पारिभाषिक-"तपस्वी" ,,
२७६–गीताशास्त्रनिबन्धन-'योगी'-'तपस्वी'-'कर्म्मी'-'ज्ञानी'-विभागों का स्वरूप-समन्वय २७४
२७७–राजर्षि, पुण्यकर्म्मा ब्राह्मण, तथा ऐश्वर्य्यशाली राजाओं के द्वारा गीता के चतुर्विध-बुद्धियोगों का अनुगमन .... ,,
२७८–वैराग्यबुद्धियोगात्मक-'योग' की सर्वश्रेष्ठता का स्वरूप-समन्वय ... ... ,,
२७९–कर्म्मनिबन्धना-शुक्रात्मिका-वाङ्मयी-भक्ति के विभिन्न चार महिमा-विवर्त्त, एवं तन्निबन्धन सर्वोत्तम, उत्तम, मध्यम, प्रथम-भावानुबन्धी श्रेणिविभाग २७५
२८०–(१) यज्ञकर्म्मात्मिका उपासना सर्वोत्तमा-(कर्म्मयोगो योगिनाम्) भगवत सम्मतः २७६
२८१–(२)–आत्मकर्म्मात्मिका उपासना उत्तमा (ज्ञानयोगो सांख्यानाम्) भगवत्-सम्मतः (किन्तु अरुचिकरः) .... ,,
२८२–(३)-अवतारपुरुषोपासना (कर्म्मयोगः) भगवत्-सम्मतः, किन्तु-अरुचिकरः- २७७
२८३–(४)-प्रकृत्यवयवोपासना (कर्म्मयोगः- २७८
२८४–अज्ञानपरिग्रहात्मिका विराट् पुरुषोपासना, आवरणपरिग्रहात्मिका विश्वजनोपासना में अनुप्राणित पूर्वापर-विरोध, एवं तन्निराकरण-प्रयास ... ... ,,
२८५–अमृतशुक्रानुबन्धी विराट्प्रजापति के साथ मर्त्यशुक्रानुबन्धी विश्वमूर्त्ति का सह समन्वय, एवं पूर्वापरविरोध-निराकरण.... .... २७९
२८६-यज्ञप्रजापति-निबन्धना निष्कामोपासना, एवं विराट्प्रजापति-निबन्धना सकामोपासना का संस्मरण ... ... ,,
२८७–यज्ञियदेवतामयी, काम्यकर्म्ममयी, त्रिगुणभावात्मिका, विराड्डपासना का गीता के द्वारा संग्रह, एवं तत्र संशोधन .... ,,
२८८–आधिकारिक, तथा आश्वत्थिक-जीववर्गानुबन्धी विविध-उपासना-मार्ग, एवं तत्समष्टिरूपा 'विश्वोपासना' का संस्मरण २८१
२८९-(१)-आश्वत्थिक-चेतनजीवोपासना (अष्टविध-देवसर्गात्मिका) लोकसिद्धिरूपा २८२
२९०–कामोपभोगपरम-कामकामी-मानववर्ग से अनुप्राणिता चतुर्दशविध-भूतसर्गनिबन्धना-सिद्धि-चमत्कार-व्यामोहनान्विता-विश्वोपासना का दुःखपूर्ण-इतिवृत्त .... ,,
२९१–अष्टविध-देवयोनिवर्गानुगता लौकिक-उपासना के सम्बन्ध में गीताशास्त्र का स्पष्टीकरण २८३
२९२–(२)-आश्वत्थिक-चेतन-मानवजीवोपासना-प्रणिपात-परिप्रश्न-सेवात्मिका ... २८४
२९३–(३)-आश्वत्थिक-पशु-पक्षि-कृम्यादि-लक्षणानां-चेतन-जीवानामुपासना-विभूतिरूपा ,,

२९४–(४)-आश्वत्थिक-अर्द्धचेतनजीवोपासना ··· ···· ···· २८५
२९५–(५)-आश्वत्थिक-अचेतनजीवोपासना-(योगरूपा-प्रतिमोपासना) ··· ,,
२९६–मर्त्यवाक्शुक्रमय 'विराट्', एवं मर्त्यभूतशुक्रमय-'विश्व' का स्वरूप-संस्मरण, तथा तन्निबन्धना उपासनाओं के उच्चावच तारतम्य, और प्रासङ्गिक 'राजर्षयः', 'पुण्याः', भक्ताः, शब्दों का समन्वय ···· ···· ···· ···· ···· ,,
२९७–द्वन्द्वातीता उपासना, एवं द्वन्द्वात्मिका उपासना का तारतम्य-प्रदर्शन, तथा तामसी-उपासना के भीषण पारिणामों का दिग्दर्शन ·· ···· ···· ···· २८६
२९८–अव्ययोपासक-ईश्वरोपासक-यज्ञोपासक-विराडुपासक, एवं विश्वोपासक-भेदेन उपासकों के श्रेणिविभागों का तालिका-माध्यम से स्वरूप-समन्वय ···· ···· ,,
२९९–'ज्ञानी', 'जिज्ञासु', 'अर्थार्थी', 'आर्त्त', नामों से अनुप्राणित भक्तिमार्ग के चार प्रसिद्ध विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय ···· ···· ···· ···· २८७
३००–युगधर्म्मभेदनिबन्धन-उपासना-पथों का संस्मरण··· ···· ···· २८८
३०१–देवयुगानुगता 'उपासना' लक्षणा 'भक्ति' का संस्मरण ···· ···· ,,
३०२–वेदान्तोपनिषन्मूला देवयुगानुगता-उपासना का स्वरूप-समन्वय ··· ···· ,,
३०३–आरण्यकग्रन्थमूला वेदयुगानुगता-उपासना का स्वरूप-समन्वय ··· ···· ,,
३०४–ब्राह्मणग्रन्थमूला पुराणयुगानुगता-उपासना का स्वरूप-समन्वय ··· ···· २८९
३०५–तत्त्वदर्शनबिजृम्भणमूला-दर्शनयुगानुगता-उपासना का स्वरूप-समन्वय ··· ,,
३०६–कर्म्मासक्तिमूला दार्शनिक-भक्ति, दर्शनभक्तिनिबन्धना लोकनिष्ठाएँ, एवं भगवान् के द्वारा उन का संशोधनात्मक-समन्वय ···· ···· ···· ···· ,,
३०७–कालदोषानुगता योगविलुप्ति, एवं व्याख्याताओं द्वारा योगचतुष्टयी के मौलिक-स्वरूपों का अभिभव ···· ···· ···· ···· ···· २९०
३०८–सर्वयुगानुगता सर्वोपासना का स्वरूप-समन्वय, एवं भूतोपासनात्मक 'प्रतिमापूजन' का अनादित्व ···· ···· ···· ··· ··· ,,
३०९–लोक-धर्म्म-वेद-प्रजा-चतुष्टयी के आदिव्यवस्थापक भगवान् भौम-मानुष-ब्रह्मा के द्वारा चतुर्युग-व्यवस्था, एवं तद्युगानुगता उपासनाचतुष्टयी का स्वरूप-समन्वय ···· ··· ,,
३१०–परावरब्रह्ममूलक-"उद्गीथोङ्कार' का पावन-संस्मरण ···· ···· २९३
३११–आत्मप्रजापति के तीन संस्थाविवर्त्त, तदनुप्राणित विश्व, एवं 'आत्मा', तथा 'विश्व' की समष्टिरूप 'आत्मन्वी' का संस्मरण ···· ···· ··· ,,
३१२–अतीतलक्षण अव्ययात्मा, वर्तमानलक्षण अक्षरात्मा, भविष्यल्लक्षण क्षरात्मा, कालातीत परात्पर, एवं चारों की समष्टिरूप-'षोडशी-प्रजापति' का संस्मरण···· ···· ,,
३१३–'प्रणवोङ्कार'-लक्षणा प्रथमा ओङ्कारसंस्था का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ···· ,,
३१४–'उद्गीथोङ्कार' लक्षणा द्वितीया ओङ्कारसंस्था का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ···· २९४
३१५–'उद्गीथोङ्कारा' नुगत-'उत्-गी-थम्' पर्वों का आत्मनिबन्धन स्वरूप-समन्वय ···· ,,
३१६–छान्दोग्य-सम्मत 'उद्गीथोङ्कार', एवं तदनुप्राणित 'परावरब्रह्म' का संस्मरण ···· ,,

३१७–'सर्वोङ्कार' लक्षणा तृतीया ओङ्कारसंस्था का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ... ,,
३१८–ओङ्कारानुगता अर्द्धमात्रा, एवं तत्र प्रतिष्ठिता अकार, उकार, मकार-त्रयी .... ,,
३१९–सर्वोङ्कारानुगत चार पर्वों का स्वरूप-समन्वय २९५
३२०–उद्गीथोङ्कारानुगत चार पर्वों का स्वरूप-समन्वय ... . ,,
३२१–प्रणवोङ्कारानुगत चार पर्वों का स्वरूप-समन्वय .... ,,
३२२–ज्ञानयोगानुगत सर्वोङ्कार, भक्तियोगानुगत उद्गीथोङ्कार, तथा कर्म्मयोगानुगत प्रणवोङ्कार का स्थितिभेदमूलक समन्वय .... ,,
३२३–ज्ञानात्मिका उपासना, भक्त्यात्मिका उपासना, एवं कर्म्मात्मिका उपासना-भेदभिन्ना उपासनात्रयी का स्वरूप समन्वय .. .. ,,
३२४–विज्ञेय अव्ययात्मा, उपास्य अक्षरात्मा, एवं व्यवहार्य्य क्षरात्मा-निबन्धना मार्गत्रयी का स्वरूप-समन्वय, तथा तालिका-माध्यमेन तत्स्पष्टीकरण-प्रयास २९६
३२५–ओङ्कारस्वरूप-विश्लेषक-श्रुतिसन्दर्भ २९८
३२६–श्रोत्रिय, अव्रजिन, एवं अकाम-पुरुषानुबन्धिनी उपासना का स्वरूप-समन्वय ... २९९
३२७–कर्म्मत्यागानुगामी व्याख्याताओं की भ्रान्ति का निराकरण ... ... ,,
३२८–समदर्शनानुगत विषमवर्त्तन का मौलिक रहस्य, एवं भेदसहिष्णु-अभेदमूलक तात्त्विक अद्वैत-सिद्धान्त का स्वरूप-समन्वय ३००
३२९–आत्मपुरुषानुबन्धी-समदर्शन, तथा विश्वप्रकृत्यनुबन्धी **'विषमवर्त्तन'** का लोकानुगत स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धना अद्वैतमूला-निर्गुणोपासना का संस्मरण ... . ,,
३३०–आत्मानन्द पर नास्तिकों का आक्षेप, एवं तन्निराकरण .... ,,
३३१–**'संज्ञान'** की प्रतिमूर्त्ति अद्वैतानन्दनिष्ठ महामानव, एवं **'न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्'** का समन्वय ३०१
३३२–विषयलोलुपों के विषयसुख का अनुभवक्षेत्र, एवं स्वानुभवैकगम्य अद्वैतात्मानन्द ... ,,
३३३–अद्वैतानन्दप्रवर्त्तिका **'सर्वोङ्कारोपासना'** का संस्मरण ... . ,,
३३४–**'समदर्शिनः', और-'विषमवर्त्तिनः'** का स्वरूप-समन्वय .... ,,
३३५–व्यावहारिक, प्रकृतिसिद्ध भेदवाद का स्वरूप-समन्वय .... ,,
३३६–ऐन्द्रियक-व्यापार भेदनिबन्धन व्यावहारिक-भेद का समन्वय ३०२
३३७–अद्वैतनिष्ठ भगवान् वासुदेव कृष्ण के द्वारा प्रकृतिभेदनिबन्धन भेदव्यवहारों का अनुगमन ,,
३३८–क्रियायोगात्मिका भक्ति का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय .... ,,
३३९–कर्त्तव्यनिष्ठात्मिका वास्तविक-भक्ति, एवं नामसंस्मरणपथ की आपातरमणीयता ... ,,
३४०–**'योगात्मिका'** भक्ति का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ... . ,,
३४१–'राजयोगात्मिका' भक्ति का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ३०३
३४२–(१)–**मन्त्र-हठ-लय-योगात्मक भक्तिमार्ग (योगमार्ग)** .... ,,
३४३–(२)–**राजयोगात्मक भक्तिमार्ग (भक्तिमार्ग)** ३०४
३४४–**बृहदारण्यकोपनिषन्मूला उपासना का स्वरूप-दिग्दर्शन** .. .... ,,

३४५—'नर्म्मदाकङ्करात्मक-शङ्कर'-न्यायानुबन्धी भक्तिपथ की सर्वव्यापकता एवं उपासनात्मिका भक्ति के चार-विवर्त्तों का संस्मरण ३०६

३४६—परमप्रजापत्युपासनात्मिका प्रणवोङ्कारमूला उपासना एवं प्रजापति के बल्शात्मक स्वरूप का संस्मरण ... . ,,

३४७—सहस्रबल्शेश्वरानुगता षोडशीपुरुषोपासना एवं एकबल्शेश्वरानुगता यज्ञपुरुषोपासना ,,

३४८—सप्तवितस्तिकायात्मक—एकबल्शेश्वरात्मक—उपेश्वर प्रजापति से अनुप्राणिता पौराणिकी उपासना.... ... . ३१०

३४९—यज्ञकर्म्मोपासना, आत्मकर्म्मोपासना, अवतारोपासना, प्रकृतिपर्वोपासना-चतुष्टयी का संस्मरण ,,

३५०—प्राकृतिक, मानुष, एवं उभय-विध अवतारों का नाम-संस्मरण .... ,,

३५१—पुरानुगत आक्षेप और तन्निराकरण—प्रयास .... ,,

३५२—विश्व की अव्यक्तावस्था, तदनुप्राणिता प्रथमा स्थिति एवं अव्यक्त-स्वयम्भू-प्रजापति के काम-तपः-श्रम से 'सुवेदात्मक' 'स्वेद-वेद' का आविर्भाव .... ,,

३५३—आपोमय परमेष्ठी से अनुप्राणित जाया-धारा-आपः-बलत्रयी की अभिव्यक्ति ३११

३५४—स्वयम्भू की द्वितीया प्रतिमा, इरामय 'सरिर' तत्त्व की सलिलता एवं श्वेतवराह के द्वारा हिरण्मयाण्ड का आविर्भाव ... . ,,

३५५—वसुधानकोशात्मक दहरोत्तरसम्बन्ध से समन्वित पञ्चोपेश्वरमूर्त्ति एकबल्शेश्वर-प्रजापति का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय ... ... ,,

३५६—स्वयम्भूप्रजापति की चार प्रतिमाएँ, तदनुगत विश्वसम्पत्तिसंग्राहक-'सर्वहुतयज्ञ' एवं स्वयम्भू प्रजापति की निर्लेपता ... ... ,,

३५७—निष्कामभावमूला आत्मसमर्पणात्मिका यज्ञप्रक्रिया, तन्निबन्धन अबन्धन-कर्म्म एवं यज्ञोपासना का इष्टकामधुक्त्व .... ,,

३५८—सर्वहुतयज्ञमूर्त्ति परमप्रजापति से अनुप्राणिता यज्ञोपासना एवं यज्ञकर्म्मों का प्रधानत्त्व ,,

३५९—भक्त नृपतियों की यज्ञेश्वरोपासना, एवं कर्म्मठ-ब्राह्मणों यज्ञकर्म्मानुगति का समतुलन, एवं तन्निबन्धना विभिन्ना उपासना ३१३

३६०—कामजनिता त्रुटि का सन्धाता प्रणवोङ्कार एवं ओङ्कारमूला-उपासना का स्वरूप-समन्वय ,,

३६१—अविच्छिन्न-प्रणवधरातल के द्वारा यज्ञविच्छेद का सन्धान एवं विश्लिष्टसन्धाता प्रणवोङ्कार—प्रजापति ... . ,,

३६२—प्रणवोङ्कारप्रजापति की तीन महाव्याहृतियों का संस्मरण एवं प्रणव की प्रणवता ... ३१४

३६३—महाव्याहृतित्रयी त्रिवृद्भावापन्न-नवलोकात्मक-त्रैलोक्य का स्वरूप-समन्वय .... ,,

३६४—त्रैलोक्य-त्रिलोकी-रूपा संयती, रोदसी-नाम की महात्रिलोकी का संस्मरण ३१५

३६५—नवलोकानुगता सप्तलोकविभूति का तालिका-माध्यम से स्वरूप-समन्वय ... ,,

३६६—सप्तवितस्तिकायात्मक'पञ्चोपेश्वरमूर्त्ति-एकबल्शेश्वर सर्वहुतयज्ञात्मक परमप्रजापति के त्रेताग्नि का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं महर्षि दीर्घतमा के द्वारा तत्संस्तुति ३१७

३६७–दृष्टिभावनिबन्धना पृथिवी–मूला-सृष्टिविद्या से अनुप्राणित प्रणवोङ्कार का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय .... ,,

३६८–प्रणवोङ्कार से समन्वित-'आत्मभैषज्ययज्ञ' का स्वरूप-दिग्दर्शन ३१८

३६९–गोपथ के द्वारा प्रणव की प्रणवता का समन्वय ... . ,,

३७०–वस्तुतत्त्वानुगता **'आहुति'** की **'आहुति'**-रूपता का समन्वय एवं यज्ञप्रक्रियानुबन्धी समष्टि-व्यष्ट्यात्मक दो विभिन्न दृष्टि कोण .... ,,

३७१–आध्यात्मिक-वैयक्तिक-राष्ट्र के स्वरूप-सञ्चालकों का पारस्परिक-समन्वयात्मक सहयोग एवं तन्निबन्धना आध्यात्मिक यज्ञ की स्वरूपस्थिति ३१९

३७२–विश्वयज्ञानुबन्धी पारस्परिक-समन्वयात्मक सहयोग, तन्निबन्धन आधिभौतिक यज्ञ की स्वरूप-स्थिति एवं **'भूमोदर्क'** का स्वरूप–समन्वय .... ,,

३७३–अद्वैतनिष्ठा-संसाधिका सर्वहुतयज्ञप्रक्रिया .... ,,

३७४–अबन्धना यज्ञोपासना से अनुप्राणित-उपास्य, उपासक, उपासनासाधन-त्रयी का स्वरूप समन्वय एवं आधिदैविकपरमप्रजापति-उपासना का तात्त्विक स्वरूप समन्वय ... ३२०

३७५–आधिदैविक–भौतिक–आत्मिक–यज्ञत्रयी से अनुप्राणिता यज्ञोपासना का स्वरूप तारतम्य–समन्वय एवं दृष्टिकोणभेद निबन्धन समष्टि–व्यष्टिरूप-भूमोदर्क तथा क्षीणोदर्क का स्वरूप-दिग्दर्शन .... ,,

३७६–भक्तिमार्गानुबन्धी लय-हठ-मन्त्रादि विभिन्न योग, तन्निबन्धना हिरण्यगर्भनिष्ठा तथा कपिल-निष्ठा एवं-**'क्लेशवद्भिरवाप्यते'** का समन्वय ३२१

३७७–अपेक्षाभेद-निबन्धन-**'सर्वोत्तम'** एवं **'उत्तम'** भक्तिपथ का संस्मरण .... ,,

३७८–**'उपासना'** निबन्धना गीता की योगचतुष्टयी का स्वरूप-दिग्दर्शन एवं सर्वश्रेष्ठ वैराग्य-बुद्धियोग .... ,,

३७९–चतुर्विधा–योगात्मिका उपासना के लोकानुबन्धी-लोकसूत्र एवं उपासना-चतुष्टयी का वर्गीकरणात्मक-समन्वय .... ,,

३८०–अर्च्चन-पूजनादि नामसंकीर्त्तन दि जड़भावों से असंस्पृष्टा वेदसिद्धा तत्त्वोपासना का संस्मरण ,,

३८१–यज्ञेश्वरोपासनात्मिका आध्यत्मिक-यज्ञोपासना एवं तत्समर्थक उपनिषद्वचन ३२३

३८२–यज्ञेश्वरविवर्त्तानुगता वेदसम्मता-तात्त्विक-उपासना के पञ्चविध प्रकारों का समन्वय ३२४

३८३–सहस्रबल्शेश्वरानुगता एवं प्रतिमेश्वरानुगता (एकबल्शेश्वरानुगता) तात्त्विक-उपासना का स्वरूप-समन्वय ... . ,,

३८४–उपासनातत्त्वनिबन्धन-पूर्वापरविरोध ... ... ,,

३८५–पूर्वापरविरोध-निराकरणप्रयास एवं षड़ङ्ग-वैश्वानरोपासना, प्रजापतिसंहितोपासना, आदित्योद्गीथोपासना, गायत्रब्रह्मोपासना आदि विविध उपासना प्रकारों का संस्मरण ३२५

३८६–उद्गीथभावनिबन्धना आधिदैविक-उपासना एवं आध्यत्मिक-उपासना का तात्त्विक स्वरूप समन्वय एवं तन्निबन्धन भूमोदर्क क्षीणोदर्क-भाव .... ,,

३८७–आध्यत्मिक आधिदैविक-अचेतनजीवोपासना निबन्धन-उपासनातत्त्व का स्वरूप-समन्वय ३२६

३८८–वैदिक-उपासनाकाण्ड के स्थूल पर्व, तन्निबन्धना वैदिक प्रतिमोपासना एवं प्रचलित-प्रतिमोपासना एवं प्रचलित-प्रतिमोपासना का वेदसंस्पृष्टत्व .... ,,
३८९–उपासनोपनिषत्-अनुगत-'आत्मभाव', तन्निबन्धन त्रिविध ओङ्कार एवं ओङ्कार-निबन्धना उपासनात्रयी का स्वरूप समन्वय ... . ,,
३९०–सर्व-उद्गीथ-प्रणव-ओङ्कारनिबन्धना त्रिविधा उपासना से अनुप्राणित अधिकारी भेद-भिन्न त्रिविध मार्गों का स्वरूप समन्वय ३२७
३९१–बुद्धि-भक्ति-कर्म्म-ज्ञान'-चतुष्टयी से अनुप्राणित उपासना प्रकार एवं तदनुगत उपासनास्वरूप-समन्वय ३३०
३९२–ज्ञान-कर्म्म-मय उपास्य के तात्त्विक-स्वरूप का संस्मरण .... ,,
३९३–विद्यासापेक्ष विद्यानिरपेक्ष लोकसापेक्ष-सत्कर्म्मों से अनुप्राणित कर्म्ममार्ग का स्वरूप-दिग्दर्शन ,,
३९४–बहिर्मुखप्रवृत्त्यनुगत कर्म्ममार्ग एवं अन्तर्मुखवृत्त्यनुगत ज्ञानमार्ग ... ,,
३९५–बुद्धियोगात्मिका उपासना के अभ्युदय-निःश्रेयस-संसाधक सर्वथा विभक्त दो पथ ,,
३९६–भक्तिपथानुबन्धी कर्म्ममार्ग एवं योगपथानुबन्धी ज्ञानमार्ग का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय एवं तदनुप्राणित निष्कामभाव ३३१
३९७–यज्ञोपासनारूप ज्ञानमार्ग का स्वरूप-समन्वय ... . ,,
३९८–यज्ञप्रतिमोपासनरूप कर्म्ममार्ग का स्वरूप समन्वय .... ,,
३९९–अष्टविध उपास्यदेवता, अष्टविध-उपासनामाध्यम एवं तन्निबन्धन अष्टविध उपासकवर्ग का तालिका माध्यम से तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय .... ,,
४००–अष्टविध उपासनामार्गों से अनुप्राणित ज्ञान-कर्म्म-भावों का समानानुबन्धत्व एवं **'उपासना'** का स्वरूप–समन्वय ३३२
४०१–परमप्रजापति से अनुप्राणित **'ब्रह्मसत्य'** तत्त्व एवं तन्निबन्धना ब्रह्मसत्योपासना का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ३३३
४०२–प्रतिमाप्रजापति से अनुप्राणित **'देवसत्य'** एवं तन्निबन्धना देवसत्योपासना का संस्मरण ,,
४०३–आधिदैविक-आध्यात्मिक- परमप्रजापति एवं प्रतिमाप्रजापति-निबन्धना उपासना-चतुष्टयी का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय ... . ,,
४०४–पर्वोङ्कारात्मिक-आधिकारिक-अचेतनजीवोपासना-द्वयी का स्वरूप-समन्वय .... ,,
४०५-अवतारोपासना तथा पर्वोपासना के पौर्वापर्य-निबन्धन-स्थानभेदों का प्रासङ्गिक-समन्वय ,,
४०६–प्रणवोङ्कारशून्य, प्रकृतिभावनिबन्धना-लौकिकी-प्राकृतिकी-आदर्शात्मिका उपासना का स्वरूप-समन्वय ३३४
४०७–आदर्शमूला लौकिक उपासना के लोकभावों का लोकनिबन्धन उपयोगी-अनुपयोगी-दृष्टिकोण ,,
४०८–प्रकृतिविमूढ प्राकृत नष्टचेता मानवों का स्वरूपेतिवृत्त .... ,,
४०९–'वैदिक-प्रतिमोपासना' का स्वरूप-संस्मरण ३३५
४१०–सर्वोच्चधरातलात्मिका बुद्धियोगात्मिका उपासना का स्वरूप-संस्मरण .... ,,

४११–बुद्धियोगनिष्ठ योगी की 'शास्त्ररूपता' का समन्वय एवं तदाचरण की स्वयं शास्त्रीयता तथा तदनुबन्धी रहस्यात्मक गुप्त-लोकशिक्षण .... ,,
४१२–भगवान् कृष्ण की रहस्यपूर्णा लीलाएँ ३३६
४१३–भगवान् की मानुषी तनु और तद्द्वारा स्त्री-शूद्र-वैश्यादि का अभ्युदय .... ,,
४१४–चीरहरण, रासविहार आदि का स्वरूप-सङ्केत .... ,,
४१५–परमहंस-वीतराग-योगियों के उन्मत्ताचारों का समन्वय .... ,,
४१६–ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योगात्मिका शास्त्रीय-योगत्रयी से अनुप्राणित 'अधिकारिवर्गों' का स्वरूप-समन्वय एवं समानाधिकार-मूला गीता की 'बुद्धियोगनिष्ठा' का संस्मरण ३३७
४१७–स्त्री-शूद्र-वैश्यादि-अनुगता प्रकृतिसिद्धा कर्म्मविभूति एवं तद्द्वारा तद्वर्गों की अभ्युदय-निःश्रेयस-संसिद्धि .... ,,
४१८–बुद्धियोगनिष्ठा धर्म्मव्याधादि की प्रकृतिसिद्धा नियता कर्म्मानुगति एवं तन्मूला महती संसिद्धि का संस्मरण ३३८
४१९–यज्ञप्रजापत्यनुगता अवतारोपासना का समर्थन एवं युगधर्म्मनिबन्धन-औपासनिक-मार्गों की लक्ष्यच्युति का स्वरूप-दिग्दर्शन ... . ,,
४२०–बुद्धियोग की जटिलता का स्वरूपोद्घाटन, सुगमतम भी बुद्धियोग की युगधर्म्म-व्यामोहनानुगता महती जटिलता एवं अवतारोपासना के माध्यम से तन्निराकरण-प्रयास .... ,,
४२१–'द्विजबन्धु' स्वरूप दिग्दर्शन, श्रुतिपथ में अनधिकृत द्विजबन्धु-आदि वर्ग एवं तदभ्युदयानुगत पौराणिक-अवतारोपासना-पथ का संस्मरण ३३९
४२२–'त्रयी न श्रुतिगोचरा' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, श्रुतिप्रमाणाधारेण प्रतिष्ठित पुराणशास्त्र के प्रामाणिक पथ का संस्मरण .... ,,
४२३–त्रिदेवतानुगता पौराणिकी अवतारोपासना के ज्ञान-कर्म्म-निबन्धन दोषधान-विवर्त्त ३४०
४२४–वैदिक-पञ्चदेवतावाद के आधार पर प्रतिष्ठित पौराणिक त्रिदेवतावाद का स्वरूप-समन्वय ,,
४२५–रोदसी-क्रन्द्रसी-संयती-त्रैलोक्यों के अधिष्ठाता ब्रह्म-विष्णु-महेश-तत्त्वों का संस्मरण ,,
४२६–रोदसी-क्रन्दसी-संयती-त्रैलोक्यों का स्वरूप-दिग्दर्शन एवं तदधिष्ठात्री देवतात्रयी .... ,,
४२७–प्रकृतिदृष्टि एवं शुक्रदृष्टि-से अनुप्राणिता दृष्टिद्वयी और तदनुगत उभयदृष्टि-समन्वित-त्रैलोक्य-त्रिलोकी के त्रिविध देवता एवं त्रिनेत्र 'महोदेव' रूप 'महादेव' का संस्मरण ... ३४१
४२८–उत्पादन-पालन-संहाराधिष्ठात्री देवतात्रयी, त्रिगुणात्मिका देवतात्रयी एवं महालक्ष्मी-महाकाली-महासरस्वती-रूपा शक्तित्रयी का पावन-संस्मरण ... . ,,
४२९–'अवतार' शब्द की त्रिधा व्याप्ति एवं तन्निबन्धन-त्रिविध अवतारवर्गों का पावन-संस्मरण तथा तन्निबन्धना-त्रयी का स्वरूप-दिग्दर्शन ३४२
४३०–द्विजातिवर्गानुबन्धिनी-अवतारोपासना एवं स्त्री-शूद्र-वैश्य-वर्गानुबन्धिनी-अवतारोपासना का स्वरूप-समन्वय .... ,,
४३१–मनुष्यविधा अवतारोपासना का अधिकारी वर्ग एवं इत्थंभूता सर्वसामान्यानुगता अवतारोपासना के नियन्त्रणासंस्पृष्ट सामान्य-पथों का स्वरूप-दिग्दर्शन ... ... ,,

४३२–लौकिक अवतारोपासना से अनुप्राणित तीर्थ-देवमन्दिरादि के अनाचार और दुराचार तथा तत्संशोधकों के द्वारा मूलनाश का प्रयास ३४३
४३३–मूलसंरक्षणात्मिका-दोषनिवृत्ति-पद्धति की ही समादरणीयता एवं तथाविध सुधारवाद का समर्थन "
४३४–लोकसंग्रहात्मक-परार्थसाधनसमन्वित पौराणिक-उपासनापथ तथा लोकसंग्रह-शून्य-केवल स्वार्थसंसाधक-पौराणिक भक्तिमार्ग .... "
४३५–पुराणयुगानुगत-उपासनामार्ग के दृष्टिकोण-भेदनिबन्धन विविध-विवर्त्त ... ३४५
४३६–पुराणयुगानुगत-उपासनामार्ग का संग्रहात्मक स्वरूप-समन्वय एवं तृतीय अवान्तर प्रकरण विराम "

इति–युगधर्म्मानुगता "विविधोपासना" नामके चतुर्थ प्रकरणे

"पुराणयुगानुगता विकारोपासना"

नाम

तृतीय मवान्तर प्रकरण मुपरतम्

———**———

अथ–दर्शनयुगानुगत–वैकारिकोपासनामार्गे
चतुर्थ प्रकरणान्तर्गतं
चतुर्थ मवान्तरम् प्रकरणमुपक्रान्तम्

———**———

४३७–अज्ञान, विरुद्धज्ञान तथा अर्द्धज्ञानमूलक विवाद-पाखण्ड से सच्छास्त्रों का अभिभव एवं सन्देहनिवारक शास्त्रों की सन्देह-शीलता का दिग्दर्शन ३५१
४३८–असंदिग्ध-निर्णायक वेदशास्त्र की उपेक्षा के दुष्परिणाम एवं व्यवच्छेद-दृष्टि का अभिभव "
४३९–आत्मच्छरनिबन्धना उपासना के साथ विकारच्छर-निबन्धना उपासना का समतुलन एवं पौराणिक-उपासना-पथ से समतुलिता दार्शनिक-उपासनानुगता विराडुपासना का संस्मरण ... "
४४०–विराट्प्रजापति के तात्त्विक चिरन्तन-स्वरूप से अनुप्राणित विराट् के पारिभाषिक स्वरूप का पावन-संस्मरण ३५२
४४१–विराट्प्रजापति के विविध महिमभावों का पारिभाषिक संस्मरण एवं तन्निबन्धन विराट्-प्रजापति के नैगमिक-स्वरूप का दिग्दर्शनोपक्रम ... ... "
४४२–सिंहावलोकनदृष्टि-निबन्धन विराट्-स्वरूप-संस्मरण ... ... "
४४३–'आत्मसत्य' के 'निर्गुणसत्य-अमृतसत्य-ब्रह्मसत्य-देवसत्य-भूतसत्य' नामक पाँच महिम-विवर्त्त, तन्निबन्धन-'अव्ययात्म-'ईश्वरात्म-यज्ञात्म-सर्वभूतान्तरात्म-भूतात्मा' नामक पाँच आत्मविवर्त्त एवं तदनुप्राणित देव-वेद-पुराण-दर्शन-वर्त्तमान-युगनिबन्धन पञ्चविध उपासना-पथ ३५३

४४४–पञ्चविध आत्मविवर्त्तों के आधार पर राजर्षि मनु के द्वारा तीन आत्मविवर्तों का स्वरूप-समन्वय .... ,,

४४५–सर्वभूतान्तरात्म-लक्षण विराट्प्रजापति, तद्रूपा-विराडुपासना, तदनुबन्धी 'देवमर्त्य' एवं तालिकामाध्यम से औपासनिक पञ्च महिमभावों का स्वरूप-समन्वय ... ,,

४४६–निगमानुगता निष्कामोपासना के आधार पर उपबृंहिता काममयी विराडुपासना की अभिव्यक्ति ३५०

४४७–बल्शेश्वर-ब्रह्मसत्य-प्रजापति की अन्तिम-शाखारूप अन्नादमयी पृथिवी एवं तद्विभूति से अनुप्राणित विराट्प्रजापति .... ,,

४४८–अन्नादमयी पृथिवी के मर्त्य-भौतिक तथा अमृत-प्राणात्मक-स्वरूप का संस्मरण, पार्थिव-अग्नि-रसात्मक रथन्तरसाम का एवं आदित्यात्मक देवरथात्मक रथन्तरसाम का स्वरूप-समन्वय ३५५

४४९–राथन्तरी-अन्नादमयी-महापृथिवी का अधिष्ठाता प्रजापति-अग्नि एवं तद्विभूतिरूप अग्नि–वायु-आदित्य तथा तदनुप्राणित वसु-रुद्र-आदित्य-आदि ३३ देवविभूतियाँ और–'अग्निः-सर्वा देवताः' निगम का समन्वय ... . ,,

४५०–त्रयस्त्रिंशद्देवदेवताओं के उपक्रम-उपसंहार-रूप अग्नि विष्णु तन्निबन्धना आम्नायैषणवेष्टि एवं महर्षि ऐतरेय के द्वारा दीक्षणीयेष्टि का स्वरूप-समन्वय ३५३

४५१–अग्नि-वायु-आदि-देवताओं की स्तोमानुगता पार्थिव-त्रैलोक्य-व्याप्ति, तत्र-गर्भिता-त्रिविधा प्रज्ञा-महिमाएँ एवं ब्रह्मविजय के आधार पर त्रिदेवताओं का त्रैलोक्य-विजय .... ,,

४५२–देवतात्रयी के द्वारा पिता यज्ञप्रजापति के आदेश से तानूनप्त्रकर्म्म का अनुष्ठान एवं तानूनप्त्र के द्वारा देवतात्रयी की-'विराट्' स्वरूप में परिणति ३५७

४५३–संघटनात्मिका तानूनप्त्रप्रक्रिया का संस्मरण ... . ,,

४५४–पार्थिव अग्नि का तानूनप्त्र, तदनुगता त्रिवृद्रूपता एवं अग्नि के 'पवमान' पावक, शुचि विवर्त्त-भावों का संस्मरण .... ,,

४५५–आन्तरिक्ष्य वायु का तानूनप्त्र, तदनुगता-त्रिवृद्रूपता एवं वायु के-'वात-मरुत्-पवन'-भावों का संस्मरण ३५८

४५६–दिव्य-आदित्य का तानूनप्त्र, तदनुगता त्रिवृद्रूपता एवं आदित्य के 'वासव-मरुत्वान्-मघवा' भावों का संस्मरण ... ... ,,

४५७–त्र्यात्मक अग्नि-वायु-आदित्य की गार्हपत्य-धिष्ण्य-आहवनीय-मूला वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञात्मिका-दशकलोपेता विराट्रूपता का तात्त्विकस्वरूप-समन्वय .... ,,

४५८–संवत्सरात्मक महासुपर्ण की विराट्रूपता का संस्मरण ३५९

४५९–विराट्प्रजापति के सहस्रशीर्ष-सहस्राक्ष-सहस्रपाद्-भावों का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय एवं तन्मूला यजुःश्रुति ... . ,,

४६०–नैगमिक विराट्पुरुष के प्रसङ्ग से गीताशास्त्र के विराट्पुरुष का संस्मरण एवं दोनों के स्वरूप-सम्बन्ध में महती विप्रतिपत्ति का उत्थान ३६१

४६१–गीताशास्त्र का विराट्स्वरूप.... .... ,,

४६२–गीतानुमोदित विराट्स्वरूप के द्वयात्मक स्वरूप का संस्मरण-प्रयास .... ,,

४६३–उभयविध विराड्भावों के तात्त्विक समतुलन का समन्वय .... ,,
४६४–'यथाण्डे तथा पिण्डे' मूलक सर्वतत्त्वव्याप्ति-समन्वय, तन्निबन्धन विरोध-परिहार एवं विज्ञान-दृष्टिनिबन्धन-विरोध-परिहार का दिग्दर्शनोपक्रम ३६२
४६५–षड्विंशति-पार्थिव शब्दों की विभिन्नता तथा अविभिन्नता का समन्वय एवं तत्त्वनिबन्धना पारिभाषिकी शब्दविभिन्नता का दिग्दर्शन और पर्य्याय-शब्दानुगता भ्रान्ति का निराकरण ,,
४६६–'अद्भ्यः पृथिवी' मूला आपोमयी पार्थिवी-सृष्टि का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय एवं अब्-वायुः-तेजः-सयोगजनित आपः और फेनसर्ग ३६३
४६७–भूतसृष्टि के प्रवर्त्तक काम तपः-श्रम-मूर्त्ति-हृद्य-अन्तर्य्यामी का समन्वय एवं तन्निबन्धन षोडशी-प्रजापति का अक्षरप्रजापति-रूपेण-संस्मरण .... ,,
४६८–प्रजापति का सृष्टि में प्रवेश एवं "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" श्रुति का तात्त्विक समन्वय ,,
४६९–अष्टभावान्विता-पार्थिव सृष्टि और अष्टाक्षर-गायत्रीछन्द एवं तदनुप्राणिता अष्टावयवा भूमि और तत्समर्थक औतसन्दर्भ ३६४
४७०–अग्नि-आपो-वाग् रूपा शुक्रत्रयी से अनुप्राणिता ब्रह्म-विष्णु-इन्द्र-रूपा देवत्रयी, तदनुप्राणिता वेद-लोक-भूत-रूपा सृष्टित्रयी एवं वषट्कारमण्डलात्मिका साहस्री का संस्मरण ... ,,
४७१–भूकेन्द्र-भूमध्य-भू-ऊर्ध्व-अनुगता ब्रह्म-विष्णु-शिव-त्रयी का स्वरूप-समन्वय ... ३६५
४७२–भूपिण्डानुगत भूः-भुवः-स्वः-रूप-त्रैलोक्य का स्वरूप-दिग्दर्शन .... ,,
४७३–ब्रह्मानुगता वेदसाहस्री, विष्णवनुगता लोकसाहस्री एवं इन्द्रानुगता वाक्साहस्री का तात्त्विक-संस्मरण ... ... ,,
४७४–पृथिवी के अचला-अनन्ता-रसा विश्वम्भरा तथा स्थिरा-विवर्त्तों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय एवं तन्मूलक हृद्य-प्रजापति .... ,,
४७५–चित्य-चितेनिधेयात्मक अग्नि की-'सर्व' रूपता का तात्त्विक-समन्वय ... ३६६
४७६–'पशु' शब्द का पारिभाषिक समन्वय, तन्निबन्धन-'पाशुकाग्नि', एवं उसकी अविकसितावस्था-का समन्वय .... ,,
४७७–'एकोऽहं बहु स्याम्' मूलक प्राणाग्नि-निबन्धन महिमात्मक विकासभाव और अग्निनिबन्धन-'सर्व'-'कृत्स्न'-शब्द ... . ,,
४७८–प्रजापति के अनिरुक्त-उद्गीथ एवं सर्व-रूपों का संस्मरण तथा अनिरुक्त-प्रजापति से अनुप्राणिता अनिरुक्ता-'ककार' व्याहृति का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय .... ,,
४७९–ककारात्मक अनिरुक्तप्रजापति की 'स'-कारात्मिका सर्वरूपता का समन्वय एवं प्रजापति की सर्वव्याप्ति का दिग्दर्शन ३६७
४८०–ककार-सकार एवं उद्गीथ-प्रजापति-त्रयी का माङ्गलिक-संस्मरण–'प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति' .... ,,
४८१–प्राणात्मक हृद्य प्रजापति के वितान का माध्यम 'भूत एवं भूत साधनरूपता' का समन्वय ,,
४८२–भूतमाध्यम से हृद्यप्रजापति के द्वारा पार्थिव-सृष्टि का वितान ३६८

४८३–तेजोरसमूर्त्ति प्राणाग्निमय प्रजापति का अवस्थात्रय-निबन्धन ऊर्ध्व वितान एवं तन्निबन्धना वेदत्रयी का स्वरूप-समन्वय ३६८

४८४–'पुत्रत्रयी' रूपा 'आत्मत्रयी' का स्वरूप-समन्वय एवं 'संवत्सरप्रजापति' रूपपार्थिव-'विराट्-प्रजापति' .... ,,

४८५–महासुपर्णात्मक पार्थिव-संवत्सर का जन्ममहोत्सव एवं तदावास-निवासस्थानरूप पार्थिव त्रैलोक्य ,,

४८६–विराट्प्रजापति का यज्ञसंस्थान, ऋत्विग्वर्ग, यजमान और तदनुबन्धी-'अर्काश्वमेध' ३६९

४८७–विराट् यज्ञप्रजापति के आधार पर अर्काश्वमेध की अभिव्यक्ति, तन्निबन्धना त्रैलोक्यव्यापिनी प्राणाग्निसृष्टि एवं सत्समर्थक श्रौतसन्दर्भ ... ... ,,

४८८–विराट् प्रजापति से ऊर्ध्वस्थित विश्व-विवर्त्तों तथा आत्मविवर्तों से अनुप्राणिता नैतालवृत्तिनिबन्धना महती समस्या .... ,,

४८९–सिंहावलोकनदृष्ट्या पार्थिव विराट् का संकलनात्मक संस्मरण एवं तन्निबन्धना स्तौम्यत्रैलोक्य रूपा महिमा पृथिवी ३७०

४९०–भूलोकाधिष्ठाता ब्रह्मा से अनुप्राणित स्तौम्यत्रैलोक्य एवं भुवर्लोकाधिष्ठाता विष्णु अपि च भूलोकाधिष्ठाता इन्द्र से अनुप्राणित समस्यात्मक पार्थिव-लोकों की स्वरूप-जिज्ञासा.... ३७१

४९१–ब्रह्मानुगता यज्ञमात्रिकवेदावच्छिन्न वेदंसाहस्री एवं विष्णु-इन्द्रानुगता लोकवाक्-साहस्रियों का संस्मरण... ... . ,,

४९२–सरलप्रयास का उत्तरोत्तर काठिन्य, तदनुगता विवशता एवं वाक्परिणामात्मक मिथुनभाव से अनुप्राणित 'भाण' स्वरूप-विश्लेषक श्रौतसन्दर्भ ... . ,,

४९३–वाक्परिमाणात्मक-छन्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, तदनुबन्धी 'छन्दोवेद' एवं तद्द्वारा यज्ञमात्रिक-वेद की स्वरूपाभिव्यक्ति ३७२

४९४–हृदय-विष्कम्भ-परिणाहात्मक-केन्द्र-व्यास-मण्डलात्मक छन्दोवेद का स्वरूप-समन्वय एवं तद्रूप भाषिसिद्ध-भाव .... ,,

४९५–पद्य-गद्य-गेय-भावानुबन्धी ऋक्-यजुः-साम-तत्त्वों का स्वरूप-समन्वय एवं 'ऋच्यधूढं साम गीयते'-'ऋक्सामे यजुरपीतः'-त्रिचं साम' का रहस्यात्मक समन्वय .... ,,

४९६–तत्त्वात्मक-अपौरुषेय वेद एवं तदनुबन्धिनी वेदत्रयी का स्वरूप संस्मरण ३७३

४९७–इन्द्रात्मक परिणाम, विष्ण्वात्मक विष्कम्भ एवं ब्रह्मात्मक हृदय तथा छन्दोवेद का त्रिदेवानुबन्धी समन्वय ... . ,,

४९८–यजुर्वेद के अनेजत्-एजत्-स्थिति-गति-लक्षण-यत्-जूः-रूप-'यज्जूः' स्वरूप का तात्त्विक दिग्दर्शन ,,

४९९–वेदमूर्त्ति ब्रह्मा की आदि-मध्य-अन्त-रूप से ब्रह्म-विष्णु-इन्द्र-स्वरूप में परिणति ... ३७४

५००–तत्त्वत्रयी का चामत्कारिक-समन्वय एवं तन्निबन्धना भाणात्मिका वाङ्मूला वेदत्रयी, शुक्लत्रयी, छन्दस्त्रयी, देवत्रयी, लोकत्रयी और 'नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने' का पावन-संस्मरण .. .. ,,

५०१–ऋक्-यजुः-साम-अनुगमन-ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-भावान्वित-अग्नि-आपो-वाग्-भाव एवं तन्निबन्धन वाक्-गौ-द्यौः-रूप-पार्थिव-मनोतात्रयी का संस्मरण ३७५

५०२–ब्राह्मी-गायत्री पृथिवी, वैष्णवी त्रैष्टुभी-पृथिवी, ऐन्द्री जागतीपृथिवी एवं त्रिपृथिव्यात्मिका महापृथिवीरूपा विश्वम्भरा का तात्त्विकस्वरूप-समन्वय तथा तन्निबन्धना त्रिसाहस्री का संस्मरण ,,

५०३–केवल-गायत्री-पृथिवी से अनुप्राणिता गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-रूपा छन्दस्त्रयी, तन्निबन्धना गायत्ररूपा वेदत्रयी एवं राजर्षि मनु के द्वारा तत्स्वरूप-समन्वय ३७६

५०४–छन्दस्त्रयीमयी गायत्री-पृथिवी से अनुप्राणिता वेदत्रयी के स्तोमत्रयानुबन्धी गायत्र-लोक, तन्निबन्धना वेदत्रयी के ऋक्-यजुः-साम-समुद्र एवं अमृमूला इन्द्राविष्णू की रहस्यपूर्ण प्रति-स्पर्द्धा का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय .... ,,

५०५–भुवर्लोकात्मक-आपोमय-त्रैष्टुभ-वैष्णवलोकानुबन्धी तीन लोकों का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय ३७७

५०६–वैष्णव-त्रैष्टुभ-तीनों लोकों से अनुप्राणित त्रयस्त्रिंश-सप्तविंश-एकविंश-स्तोमानुगत गायत्र-त्रैष्टुभ-जागत-भाव एवं वैष्णवी त्रिलोकी का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय .... ,,

५०७–भूलोकात्मक-वाङ्मय-जागत-ऐन्द्र-लोकानुबन्धी तीन लोकों का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय, तदनु-प्राणित वाङ्मय वषट्कार-मण्डल एवं तत्र प्रतिष्ठिता स्वर-वर्णव्यञ्जन-त्रयी ३७८

५०८–इन्द्रानुगत-विविधाकारकारणात्मक 'व्याकरण' का स्वरूप-निर्वचन एवं तदाधारभूत अर्द्धमात्रा-त्मक स्फोटब्रह्म का माङ्गलिक स्वरूप-संस्मरण .... ,,

५०९–ऐन्द्र-जागत-तीनों लोकों से अनुप्राणित-अष्टाचत्वारिंश-चतुश्चत्वारिंश-चतुर्विंशस्तोमानुगत गायत्र-त्रैष्टुभ-जागत-भाव एवं ऐन्द्री त्रिलोकी का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ३७९

५१०–वेद-लोक-वाक्-साहस्री-त्रयीमूर्ति पार्थिव-विराट्प्रजापति का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय ३८१

५११–विराट्प्रजापति से अनुप्राणित अहर्गणात्मक स्तोमों के गायत्रीछन्दोनिबन्धन अष्टविध महिम-विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय ... ... ,,

५१२–पार्थिवी-ब्रह्मगायत्री की **'सुपर्ण-पत्ती'** रूप में परिणति, तद्रूप के द्वारा तीसरे द्यूलोक से सोम का अपहरण एवं **'चतुरक्षर-छन्दों'** का तात्त्विक-स्वरूप-दिग्दर्शन ... ,,

५१३–त्रिष्टुप् के ३ पाद् जगती का एक पाद् गायत्री के चार पाद् और समष्ट्यात्मिका गायत्री की अष्टाक्षररूपता का समन्वय ... ... ,,

५१४–अष्टाक्षरा गायत्री, एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् एवं द्वादशाक्षरा जगती के अक्षरसंख्यानिबन्धन तात्त्विक-स्वरूप का समन्वय एवं गायत्री की सर्वरूपता ३८२

५१५–छान्दोग्योपनिषत्सम्मता **'ब्रह्मगायत्री'** की सर्वव्याप्ति का यशोगान ... ,,

५१६–गायत्र्यनुबन्धी पञ्चविध-अयुग्मस्तोम एवं त्रिविध-युग्मस्तोमों का समन्वय तथा आयुःस्वरूप-रक्षक-ऐन्द्र-छन्दोमास्तोम-समन्वय ... ... ,,

५१७–वाङ्मय छन्दोमास्तोम की इन्द्ररूपता, छन्दोमास्तोमों की अस्तोमरूपता एवं स्तोमानुगत ३३ अहर्गणों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ३८३

५१८–वाङ्मय-ऐन्द्रस्तोमानुबन्धी षड्भावों से अनुप्राणित **'वाक्'** के ६ महिमविवर्त्त, तदनुबन्धी वाक्षट्कार एवं तदनुप्राणित-**'वाक्षट्कार'** रूप-**'वौषट्कार'**-के **'वषट्कार'** का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय .... ,,

५१६–स्तोमानुगत-मण्डलात्मक पृष्ठ्यस्तोम तथा रश्म्यात्मक अभिप्लवस्तोम एवं तत्स्वरूप-संस्मरण ५१६
५२०–लोकत्रयी, अक्षरत्रयी, शुक्रत्रयी, छन्दस्त्रयी, मनोतात्रयी एवं वेदत्रयी निबन्धनविविधभावापन्न त्रिविवर्त्तभावों का स्वरूप-समन्वय ... ... ,,
५२१–अयुग्मस्तोममयी-आग्नेयी-ब्राह्मी-गायत्रीरूपावेदसाहस्री से समन्विता स्वर्लोकात्मिका 'ब्राह्मी-पृथिवी' का स्वरूप-संस्मरण ३८५
५२२–अयुग्मस्तोममयी, आपोमयी, वैष्णवी त्रिष्टुब्रूपा लोकसाहस्री से समन्विता भुवर्लोकात्मिका वैष्णवी पृथिवी का स्वरूप-संस्मरण .... ,,
५२३–अयुग्मस्तोममयी, वाङ्मयी, ऐन्द्री जगतीरूपा वाक्साहस्री से समन्विता भूलोकात्मिका ऐन्द्री पृथिवी का स्वरूप-संस्मरण .... ,,
५२४–अयुग्म-युग्मस्तोमानुगता त्रैलोक्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी का संकलनात्मक-स्वरूप-संस्मरण एवं पृथिवी के परिमित अन्तर्वेदि तथा अपरमित बहिर्वेदिस्वरूपों का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय ... ... ,,
५२५–महिमपृथिव्यनुगता सुवर्ण-रजत-लौह-धातुमयी तीन पुरियों का सस्मरण एवं अथर्वश्रुति ... ... ३८६ ,,
५२६–देवपुरत्रयी की रहस्यपूर्णा 'त्रिसुपर्णरूपता' का स्वरूप-दिग्दर्शन एवं पार्थिव गायत्राग्नि की सोमापहरणमूला-व्यात्मकता से अनुप्राणित त्रिवृद्भावापन्न तीन पार्थिव लोकों के तीन सुपर्णों की समष्टि का स्वरूप-समन्वय ३८६
५२७–६-२१-२४-संख्याओं से मित तीन पृथिवीलोक, १५-२७-४४-संख्यानुगत तीन अन्तरिक्षलोक एवं २१-३३-४८ संख्यानुगत तीन द्युलोक ३८८
५२८–समुद्र एवं मातरिश्वा नामक पारिभाषिक अन्तरिक्ष तथा नाक-ब्रध्नस्य विष्टप्-सूर्य्य-नामक पारिभाषिक द्युलोक का स्वरूप-समन्वय .... ,,
५२९–विराट्प्रजापति की पूर्वसंस्था से अनुप्राणित प्राजापत्य विवर्त्तों का संस्मरण ३८९
५३०–विराट् प्रजापति के जन्मदाता यज्ञप्रजापति के त्रैलोक्य त्रिलोकीरूप महिममय स्वरूप का समन्वय .... ,,
५३१–यज्ञप्रजापति के महिमात्मक स्वरूप का अन्तिम-स्वल्पतमपर्व-भूलोक एवं तद्द्वारा विराट्पुत्र की प्रसूति तथा तन्निबन्धना विराट्प्रजापति की विकासस्वरूपता का समन्वय ३९०
५३२–पिता यज्ञप्रजापति के स्वल्पांश से समुत्पन्न विराट्प्रजापति की महिमा का महतो महीयान् विस्तार एवं तद्द्वारा पुत्रविराट् की 'पितुष्पितासत्' रूप में परिणति तथा तन्निबन्धन विराट् का ही त्रैलोक्य में यशोगान .... ,,
५३३–विराट्प्रजापति के स्वरूप में यज्ञप्रजापतिस्वरूप के त्रैलोक्यात्मक विस्तार का अन्तर्भाव ३९१
५३४–गीताप्रतिपादित विराट्प्रजापति के विशेष-भावों का निर्विरोध समन्वय एवं श्रुतिस्मृत्युपवर्णित विराट्प्रजापति के रहस्यात्मक स्वरूप का समष्ट्यात्मक-संकलन .... ,,
५३५–विराट्प्रजापति के लोकविभक्त अष्टविध महिममय स्तोमपृष्ठों के द्वारा यज्ञप्रजापति के महिममय आठों विवर्त्तों का प्रवर्ग्यरूपेण संग्रह एवं तद्द्वारा विराट् की सर्वरूप में परिणति ,,

५३६–पुराणपरिभाषानुगत चन्द्रमा का सूर्य्य से ऊर्ध्व-स्थिति-समन्वय एवं तन्निबन्धना पौराणिकी रहस्यात्मिका परिभाषा ३६२

५३७–विराट्प्रजापति का 'कविपुत्रत्त्व' एवं तन्निबन्धन 'पितुष्पितासत्' भाव .... ,,

५३८–यज्ञेश्वरप्रजापति की भूः-भुवः:स्वः-रूपा तीनों महाव्याहृतियों का पुत्र विराट्प्रजापति के महिममय स्वरूप के साथ समन्वयात्मक-समतुलन २६३

५३६–यज्ञेश्वरप्रजापति की महाव्याहृतित्रयी की प्रतिकृतिभावापन्ना विराट्प्रजापति की तीन महाव्याहृतियों का स्वरूप-समन्वय ... . ,,

५४०–यज्ञेश्वरप्रजापति के त्रैलोक्यात्मक-भूरूप-रोदसी-त्रैलोक्य का विराट्प्रजापति के लोकत्रयात्मक-भूलोक के साथ समतुलन-समन्वय ... . ,,

५४१–यज्ञेश्वरप्रजापति के त्रैलोक्यात्मक-भुवः-रूप-क्रन्दसी-त्रैलोक्य का विराट्प्रजापति के लोकत्रयात्मक-भुवर्लोक के साथ समतुलन-समन्वय ३६४

५४२–यज्ञेश्वरप्रजापति के त्रैलोक्यात्मक स्वः–रूप संयती-त्रैलोक्य का विराट्प्रजापति के लोकत्रयात्मक स्वर्लोक के साथ समतुलन-समन्वय .... ,,

५४३–भूपिण्डरूपेण पिता-यज्ञप्रजापत्यपेक्षयापि विशेष भावापन्न विराट्प्रजापति के विराट्स्वरूप का समन्वय .... ,,

४४–यज्ञेश्वरप्रजापति के अमृत-मर्त्य-शुक्रषट् से समुद्भूत पार्थिव-विराट्प्रजापति के महिमभावात्मक शुक्रों की विशकलनात्मिका सर्वव्याप्ति का तात्त्विक समन्वय ३६६

५४५–विराट्स्वरूप-विश्लेषक, समर्थक आर्ष-वचनों का संस्मरण ३६७

५४६–आरम्भ के एकविंशस्तोमात्मक विराट्प्रजापति का अन्ततोगत्त्वा अष्टाचत्त्वारिंशत्स्तोमानुगता महती व्याप्ति का महिमामत्र स्वरूप-समन्वय ....

५४७–पुराणशास्त्र के प्रति भावुक वेदभक्तों की भ्रान्ता दृष्टि, तन्निराकरण-प्रयास एवं पौराणिक-विराट्स्वरूपोपक्रम ३६६

५४८–दर्शनयुगानुगत चतुर्विंशतितत्त्वाद का पुराणशास्त्र के द्वारा त्रयोविंशतितत्त्वों पर पर्य्यवसान एवं पुरुष-प्रकृति–विकृति-मूल-षोडशीप्रजापति-यज्ञप्रजापति-विराट्–प्रजापति का समतुलनात्मक समन्वय ... . ,,

५४६–भूतग्रामप्रधान विराट्प्रजापति का श्रीमद्भागवत के द्वारा यशोवर्णन .... ,,

५५०–आधिकारिक-अचेतन-जीवोपासनात्मिका विराड्डपासना का आधारभूत पार्थिव विराट्-प्रजापति ४०१

५५१–चिदात्मलक्षण षोडशीप्रजापति, प्रत्यगात्मलक्षण यज्ञप्रजापति एवं शारीरकात्मलक्षण विराट्-प्रजापति का समन्वय तथा प्रत्यगात्मसंस्मरण ... ... ,,

५५२–ईश्वरशरीरानुगत सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्-मूर्त्ति विराडात्मा एवं यज्ञप्रजापत्यपेक्षया इत्थंभूत विराडात्मा का जीवात्मत्त्व-समन्वय .... ,,

५५३–समानशीलव्यसनिष्ठ आधिदैविक-जीवविराट्प्रजापति के साथ आध्यात्मिक जीवविराट्प्रजापति का रहस्यपूर्ण-मैत्रीसम्बन्ध एवं पुरुष की प्रजापतिनिबन्धना नेदिष्ठता का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय .... ,,

५५४–विराट्प्रजापति की **'आधिकारिक-चेतन-जीव'** रूपता का समन्वय ४०३

५५५–**'सर्वत्र विराजते'** रूप विराट्प्रजापति की अपूतत्त्व से आवरणप्रवृत्ति एवं आवरणमूलक-**'अचेतन'** भावानुबन्ध से विराट् प्रजापति का **'अचेतनजीवत्त्व'** समन्वय ... ,,

५५६–विराट्-स्वरूपानुगत पार्थिव-विभक्त नामों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास ... ४०४

५५७–भूः-भूमिः-अचला-अनन्ता नाम की शब्दचतुष्टयी का रहस्यात्मक-समन्वय .... ,,

५५८–रसा-विश्वम्भरास्थिरा-नाम-विवर्त्तों का रहस्यात्मक समन्वय .... ,,

५५९–धरा-धरित्री-धरणी-नामविवर्त्तों का ध्रु व-धर्त्र-धरुणानुबन्धी तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ४०५

५६०–ब्राह्मी पृथिवी के विशेष-भावों से अनुप्राणित विभिन्न शब्द एवं तदनुबन्धी **'क्षोणी'** शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय .... ,,

५६१–अन्नादानात्मक वयोहानिप्रवर्त्तक-प्राजापत्यधर्म्म एवं तन्निबन्धन **'उर्या'** शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ४०६

५६२–पार्थिव-अग्निरसात्मक-कूर्म्मप्रजापति-नामक कश्यपप्रजापति का संस्मरण एवं तन्निबन्धन-**'काश्यप'** नाम का स्वरूप-समन्वय .. .. ,,

५६३–**'क्षिति'** शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय .... ,,

५६४–सर्वंसहा शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय ... ... ,,

५६५–पार्थिव-विराट् प्रजापति की **'वसु'** रूपता का वैज्ञानिक-स्वरूप-दिग्दर्शन ... ४०७

५६६–वसुतत्त्वानुबन्धी **'वसुमती'**, एवं **'वसुधा'** शब्दों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय .... ,,

५६७–एकतः आधारभूत **'आधार'** एवं सर्वतः आधारभूत-**'आवपन'** शब्दों का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय .... ,,

५६८–**'दधाति'** मूलक **'आधारतत्त्व'**, एवं **'धारयति'** मूलक-आवपनतत्त्व एवं तन्निबन्धन **'वसुन्धरा'** शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ४०८

५६९–अर्णवसमुद्र में ऋतरूप से व्याप्ता आप्यापृथिवी के वितानभाव से अनुप्राणित **'उर्वी'** शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ... ... ,,

५७०–पार्थिवस्वरूप- संरक्षक महीधरों का स्वरूपेतिवृत्त–समन्वय एवं तन्निबन्धन **'गोत्र'** शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ... . ,,

५७१–स्तोमलक्षण षड्विध अवान्तर पार्थिव विवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन ४०९

५७२–विश्वम्भरा वैष्णवी पृथिवी के त्रैलोक्य-विस्तार का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ४१०

५७३–मेध-मेद-और मेध्यभावों का तात्त्विक-स्वरूप-दिग्दर्शन एवं तन्निबन्धन-**'मेदिनी'** शब्द का स्वरूप-समन्वय ... ... ,,

५७४–**'कु'-'क्ष्मा'-'मही'**-शब्दत्रयी का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय .... ,,

५७५–प्रसङ्गोपात्त अन्य रहस्यपूर्ण श्रुतिसिद्ध पार्थिव-नामविवर्त्तों का तात्त्विक-स्वरूप-संस्मरण ४११

५७६–उपास्यविराट् के अभिन्न सखा उपासकविराट् (मानव) के समतुलनात्मक-समान-धर्म्मों के स्वरूप-निदर्शन .... ,,
५७७–उपासक-विराट् के आत्मानुबन्धी अत्यन्त रहस्यपूर्ण अष्टादशविध-आत्ममहिमभाव ४१२
५७८–त्र्यक्षरा-गायत्री से आत्मपर्वनिष्पत्ति एवं पञ्चपर्वा-गायत्री से शरीरपर्वों की स्वरूप-निष्पत्ति ,,
५७९–दशधा-त्रिधा-एकधा-विभक्त-विराट् प्रजापति का विभिन्न दृष्टि से तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ४१३
५८०–त्रयोविंशतिपर्वात्मक विराट् प्रजापति का अन्य दृष्टि से स्वरूप-समन्वय-प्रयास ४१४
५८१–विराड्उपासना के द्वारा उपासक की उपास्यरूप में एवं उपास्य की उपासक के रूप में परिणति का रहस्यात्मक दिग्दर्शन ४१६
५८२–क्षुद्रविराट्-मूर्त्ति मानवीय कर्म्मात्मा की मोहनिद्रात्मिका आवरणमूला सुषुप्ति एवं तन्निबन्धन मृत्युभाव का समन्वय ... . ,,
५८३–हृदयस्थ महाविराट् के द्वारा कर्म्मात्मविराट् को समये समये उद्बोधनप्रदानानुग्रह एवं कर्म्मात्मविराट् की तत्प्रत्युपेक्षा .... ,,
५८४–'क्षेत्रज्ञयोग' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, तन्निबन्धन गीताशास्त्र का रहस्यपूर्ण 'बुद्धियोग' एवं तद्रूप 'क्षेत्रज्ञविराट्' की उपासना से ही क्षुद्रविराट् का सम्भावित उद्बोधन ४१७
५८५–क्षेत्रज्ञयोगात्मिका विराड्उपासना एवं विकारक्षरोपासना का समतुलनात्मक-समन्वय ४१८
५८६–'अधिकार' भाव-निबन्धना उपासना के तारतम्य का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ४१९
५८७–यज्ञोपासनात्मिका विराड्उपासना का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय एवं तत्प्रतिकृतिमूलक यज्ञवितानरहस्य .. .. ,,
५८८–गार्हपत्य-धिष्ण्य-आहवनीय-रूप-त्रेताग्नि-वितान-स्वरूप- दिग्दर्शन ... ,,
५८९–हविर्वेदि एवं सोमवेदि से समन्विता यज्ञवेदि तथा तत्स्वरूपवितान-समन्वय .... ,,
५९०–स्वर्गप्राप्त्युपायनिबन्धना यज्ञविराड्उपासना का कामनामय फलसमन्वय ४२०
५९१–आदित्यात्मक स्वर्गमण्डल, तन्निबन्धन कामभाव, तत्पूरक-यज्ञकाण्ड एवं तदनुप्राणिता विराड्उपासना तथा विराड्उपासना का प्रथम सोपान .... ,,
५९२–आगमिक-ज्ञानानुगता, सिद्धिकामान्विता पर्वविराड्उपासना का स्वरूप-समन्वय एवं विराड्उपासना का द्वितीय-सोपान .... ,,
५९३–अवैधोपासनात्मिका विराड्उपासना से अनुप्राणिता अवतारोपासना, तदधिकारिवर्ग एवं विराड्उपासना का तृतीय सोपान .... ,,
५९४–विराड्उपासना-सोपानत्रयी के आपेक्षिक तारतम्य का स्वरूप-समन्वय ४२१
५९५–दार्शनिक-विद्वानों की स्वतन्त्रा दर्शनतत्त्वभक्ति, तन्निबन्धना तत्त्वोपासना एवं तद्द्वारा ही निःश्रेयसाधिगम-संस्थापन-प्रयास .... ,,
५९६–गोतम-कपिल-कणादादि दार्शनिकों की तत्त्वोपासना का संस्मरण ... ,,
५९७–दार्शनिकों की तत्त्वोपासनाभिनिवेशवृत्ति से अनुप्राणित-'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः'-सूत्र ,,
५९८–तत्त्वोपासनामूलक तात्त्विक-विराट् के विभिन्न तत्त्वों का संस्मरण एवं भगवान् व्यास के द्वारा तत्समर्थन ... . ,,

५९९–भारतवर्षीय तत्त्वोपासकवर्ग एवं उस की 'तत्त्वोपासना' रूपिका विराडुपासना का स्वरूप-समन्वय ४२३
६००–विराडुपासनानुगत-चतुर्विध-उपासनामार्ग एवं 'दार्शनिक-युगानुगता-उपासना' का स्वरूप-विराम ४२४

इति-"युगाधर्म्मानुगता विराडुपासना" नामके चतुर्थे प्रकरणे "*दर्शनयुगानुगता-वैकारिकोपासना*"–नामकं चतुर्थमवान्तर प्रकरणमुपरतम्

——४——

———*———

श्रीः

अथ–"युगधर्म्मानुगता-विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे "वर्त्तमानयुगानुगत-भौतिक-उपासनामार्ग" नामकं पञ्चमं अवान्तर प्रकरणमुपक्रान्तम्

— ५ —

—*—

६०१–वर्त्तमानयुगानुगत उपासना-प्रसङ्ग से अनुप्राणित पञ्चविधयुगानुगत पञ्चविध-उपासनापथों का समष्ट्यात्मक स्वरूप-संस्मरण ४२९

६०२–दुःखार्त्त मानव से अनुप्राणिता वर्त्तमानयुगानुगता उपासना का स्वरूप-दिग्दर्शन एवं आर्त्तमानवानुबन्धी कतिपय-प्रश्न तथा तत्समाधानोपक्रम ... ... ,,

६०३–समष्टि-व्यष्ट्यात्मिका-विराडुपासना से अनुप्राणित उपासना के चार प्रमुख विवर्त्त ... ४३०

६०४–विश्वविवर्त्तानुगता उपासना का 'जीववर्ग' से प्रमुख सम्बन्ध एवं तदनुबन्धी आध्यात्मिक-आधिभौतिक-पर्व ... ... ,,

६०५–उपासनानुगत 'विश्व' शब्द का 'जीवात्मक' पारिभाषिक-समन्वय ... ,,

६०६–विराडनुगता देवोपासना एवं निगम, अनुगम-भेद-भिन्न उपास्य-तत्त्वों का नाम-संस्मरण ,,

६०७–निगम और आगम-शब्दों का पारिभाषिक-तत्त्वार्थ-समन्वय, सूर्य्यमूला निगमोपासना तथा पृथिवी-मूला आगमोपासना के अवान्तर महिमविवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन ... ,,

६०८–निगमागमीय-प्राणदेवताओं के 'अचेतन-जीवत्त्व' के सम्बन्ध में शास्त्रानुगता महती विप्रतिपत्ति का उत्थान ४३१

६०९–चेतन-अचेतन-शब्दों की शास्त्रीया परिभाषा के माध्यम से विप्रतिपत्ति-निराकरण प्रयास ,,

६१०–'सर्वाणीन्द्रियाणि अतीन्द्रियाणि' परिभाषामूलक चेतन-अचेतन-व्यवहार का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ४३२

६११–चेतनभावनिबन्धना अङ्गिदृष्टि एवं अचेतन-भावनिबन्धना अङ्गदृष्टि एवं तद्भेदनिबन्धन-चेतन-अचेतन-व्यवस्था-समन्वय ... ... ,,

६१२–अङ्गोपासनात्मिका देवोपासना का अङ्गत्त्वेन अचेतनत्त्व-समन्वय ... ,,

६१३–कर्म्म से असंस्पृष्टा ध्यानात्मिका अङ्गी उपासना का चेतनत्त्व-समन्वय ... ,,

६१४–लौकिक-उदाहरणधिया गुरूपासना के माध्यम से अङ्गीगुरु और अङ्गगुरु की उपासनाद्वयी का चेतन-अचेतनत्त्व-समन्वय ४३३

६१५–ध्यानात्मि । उपासना की द्वैतभावनिबन्धनता एवं अद्वैतोपास्य, द्वैतोपास्य, द्वैतभूयस्त्वोपास्य-भेदेन उपास्य तत्त्व के तीन महिमामय विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय ... ,,

६१६–चेतनाचेतनातीता आत्मोपासना, चेतनोपासना, अचेतनोपासना-रूपेण उपासना के तीन विभिन्न पथों का योगत्रय-माध्यम से समन्वय ४३४

६१७–सर्वसत्त्वप्रवर्त्तक-विराट्प्रजापति से अनुप्राणित-वाङ्मय-अचेतन-तृतीय-उपासनापथ का स्वरूप-दिग्दर्शन ४३५

६१८–वाङ्मयी-भूतोपासना से अनुप्राणित पथ के अवान्तर तीन महिम-विवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन ,,

६१९–यज्ञोपासना, देवोपासना, भूतोपासना-भेद से यज्ञप्रजापति-निबन्धना विराडुपासना के तीन विभिन्न पथ एवं तीनों के त्रिविध उपास्य-तत्त्व ४३७

६२०–'आधिकारिक अचेतन जीव' नामक उपास्य तत्त्व का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय ,,

६२१–उपासनानुबन्धी सूक्ष्मतम पारिभाषिक-तथ्यों के माध्यम से साङ्कर्य्य का निराकरण-प्रयास एवं व्यवच्छेदमूला व्यवस्थिता पारिभाषिकी दृष्टि ... ... ,,

६२२–क्रमप्राप्त-उपासनापथानुबन्धी चार विवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन ... ४३८

६२३–लोकदृष्ट्या उपासना का स्वरूप-लक्षण-समन्वय एवं तल्लक्षण की सनातनता ... ,,

६२४–उपयोगानुगत यच्चयावत् भूत-भौतिक-जड़-चेतन-पदार्थों की 'उपास्यरूपता' के सम्बन्ध में भारतीय महर्षियों की अद्वैतमूला ब्रह्मदृष्टि और तन्निबन्धन सत्ता-ब्रह्म-प्रवाह-संरक्षण ,,

६२५–सुप्रसिद्ध-'कलम-दवात-पूजन' नामक लौकिक उदाहरण के माध्यम से भारतीय-उपासना-तत्त्व का स्वरूप-समन्वय-प्रयास.... ... ... ४३९

६२६–दिग्भ्रान्तों के आपातरमणीय 'सुन्दर' प्रश्नों के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन-निवेदन ,,

६२७–भारतीय बालबन्धु के जन्मानुगत 'उपास्य' तत्त्वानुबन्धी दिव्यसंस्कारों का स्वरूप-दिग्दर्शन ,,

६२८–परमार्थदृष्ट्या भगवत्सत्ता की सर्वव्यापकता एवं तन्निबन्धना पदार्थमात्रानुबन्धिनी उपास्यरूपता का स्वरूप-समन्वय ४४०

६२९–आधिकारिक-अचेतन-उपास्य-जीवों के तात्त्विक-स्वरूप का दिग्दर्शन एवं तत्र व्याससूत्र का संस्मरण ... ... ,,

६३०–'नित्य' तथा-'सामयिक' भेद से 'आधिकारिक-चेतन-जीवोपास्य' के दो विभिन्न विवर्त्त एवं 'नित्य-आधिकारिक-चेतनोपास्यजीव' वर्ग का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ... ,,

६३१–'आधिकारिक-नित्य-अचेतन-उपास्यजीव' वर्ग का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय एवं अचेतन-अवतारोपास्यों का स्वरूप-संस्मरण ... ... ,,

६३२–'आधिकारिक-अर्द्धचेतन-उपास्य-जीव' वर्ग का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय ... ४४२

६३३–आधिदैविक-अर्द्धचेतन-उपास्य जीवों के विभिन्न पारिभाषिक-वर्गों का स्वरूप-समन्वय ,,

६३४–नित्य-चेतन-उपास्य-जीवों के विविध स्वरूपों का स्वरूप-संस्मरण .... ,,

६३५–चेतन-अर्द्धचेतन-अचेतन-भेद-निबन्धन त्रिविध उपास्यों का पारिभाषिक-समन्वय .... ,,

६३६–नित्य-आधिकारिक-अवताररूप-चेतनजीववर्गः (नित्यावतारपरिलेखाः) ४४३

६३७–(१)-यज्ञप्रजापतिः-(चेतनो नित्यः) । (एकबल्शेश्वरः) .... ,,

६३८–(२)-विराट् प्रजापतिः (चेतनो नित्यः)-(पार्थिवेश्वरः) ४४४

६३९–(३)-कूर्म्मप्रजापतिः-(चेतनो नित्यः)-(अवयवावतारी-दिव्यः) ४४५

६४०–(४)-वराहप्रजापतिः-(चेतनो नित्यः)-(अवयवावतारः-आन्तरिक्ष्यः) ४४६

६४१–(५)-वामनप्रजापतिः-(चेतनो नित्यः)-(अवयावतारः-पार्थिवः) ४४७

६४२–हरेः-पञ्चावताराः ४४८

६४३–यज्ञप्रजापतिरूप-ब्रह्मावतार-समर्थकानि वचनानि [१] .... ,,

६४४–विराट्प्रजापति-(अवतार)-समर्थकानि-वचनानि [२] .... ,,

६४५–कूर्म्मप्रजापति-(अवतार)-समर्थकानि-वचनानि [३] ४४९

६४६–वराहप्रजापति (अवतार)-समर्थकानि-वचनानि [४] .... ,,

६४७–वामनप्रजापति-(अवतार)-समर्थकानि-वचनानि [५] ४५०

६४८–'अवतार' शब्द का विष्णुदेवतानुगतत्व एवं विष्णु के पारिभाषिक-अवतारधर्म्म का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय .... ,,

६४९–दशावतारों से विभिन्न भगवान् वासुदेव-कृष्ण के पूर्णावतारतत्त्व का रहस्यात्मक-समन्वय ४५१

६५०–'पार्थिवेश्वर-अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय .... ,,

६५१–'महीश्वर-अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय .... ,,

६५२–'सागराम्बरेश्वर-अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ४५२

६५३–'उर्व्वीश्वर-अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय .... ,,

६५४–विराट्प्रजापति के अवयवावतारों का स्वरूप-संस्मरण .... ,,

६५५–चेतन-अचेतन-भेदनिबन्धन-अवतारों का स्वरूप-समन्वय .... .. ,,

६५६–सामयिक-अवतारों का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय .... ,,

६५७–गोसवयज्ञाधिष्ठाता परमेष्ठ्य-विष्णु के अवतारों का नाम-संस्मरण ... ४५३

६५८–सामयिक-दशविध अवतारों का नामस्मरण एवं सामयिक-आधिकारिक-अचेतनोपास्य-अवतार-जीवों का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय .... ,,

६५९–भागीरथी, शालग्रामशिला आदि के सामयिक-अवतारों का स्वरूप-संस्मरण ... ,,
६६०–दिव्यौषधि-दिव्यवनस्पति-आदि के सामयिक-अवतारों का स्वरूप-संस्मरण ४५४
६६१–आधिकारिक उपास्य-तत्त्व के विभिन्न ६ वर्गों का तात्त्विक स्वरूप-निदर्शन .. ,,
६६२–नित्य-आश्वत्थिक-जीवों का पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन .... .. ,,
६६३–विभिन्न-सामयिक-आश्वत्थिक-जीवों का पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन .. ४५५
६६४–नित्य, तथा सामयिक जीवों के सम्बन्ध में उपास्य-अनुपास्य की व्यवस्था .... ,,
६६५–उपासनाभेदों का स्पष्टीकरण-प्रयास ... . ,,
६६६–उपासनानुगता अधिकारमर्य्यादा की व्यवस्था ४५६
६६७–उपासनानुबन्धी तथ्यों का वर्गीकरणात्मक समन्वय एव पञ्चम-अवान्तर-प्रकरण का उपराम ,,

इति-"युगधर्म्मानुगता विवधोपासना" ख्ये चतुर्थे प्रकरणे

"वर्त्तमानयुगानुगत-भौतिक-उपासनामार्ग"-नामकं

पञ्चममवान्तरप्रकरणमुपरतम्

५

———**———

उपरतञ्चेदं-पञ्चावन्तरप्रकरणसमष्टिरूपं

'युगधर्म्मानुगता-विविधोपासना'-नामकं

चतुर्थं-प्रकरणम्

४

———**———

श्रीः

अथ–"भक्तियोगपरीक्षा" त्मके पूर्वखण्डे

"प्रतिमापूजन और उपासना"-नामकं

परिशिष्टं प्रकरणमुपक्रान्तम्

१–निर्गुण-सगुण-विकार-अञ्जन-आवरण-परिग्रह-निबन्धना पञ्चविध-उपासनाओं का संकलात्मक स्वरूप-समन्वय ४६१

२–ज्ञान-ध्यान-कर्म्मफलत्याग-अभ्यास, कर्म्मफलपरिग्रहण-मूला अव्यय-षोडशी-यज्ञ-विराट्-विश्व-भावनिबन्धना उपासना के तात्त्विक पाँच विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय .... ,,

३–ज्ञानी-जिज्ञासु-अर्थार्थी–आर्त्त-मानवानुबन्धिनी उपासना के अधिकारि-भेद-भिन्न विवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन .... ,,

४–आत्मकामभूता अव्ययोपासना, निष्कामभूता षोडशीप्रजापत्युपासना, इष्टकामभूता यज्ञ-विराड्-पासना एवं कामभूता विश्वोपासना का पारिभाषिक-समन्वय ... ४६२

५–वैराग्यबुद्धियोगात्मिका अव्ययोपासना, ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मिका षोडशीप्रजापत्युपासना, धर्म्म-योगात्मिका विराट्प्रजापत्युपासना एवं ज्ञानबुद्धियोगात्मिका अव्यक्तोपासना का पारिभाषिक-समन्वय तथा गीता के माध्यम से उपासना-चतुष्टयी में श्रेणिविभाग-व्यवस्थापन ,,

६–निगमागमप्रकारानुमोदित-'प्रतिमोपासना' के समन्वय से उपासना के षड्विध विवर्त्त एवं उनका व्यवस्थाक्रमानुगत-स्वरूप-समन्वय .... ,,

७–गीताशास्त्र की वैराग्यबुद्धियोगात्मिका आत्मकामोपासना का सर्वाधिकारानुगतित्त्व-निबन्धन सार्व-भौमत्त्व एवं तदपेक्षया गीताशास्त्र के इत्थंभूत 'आत्मभक्ति' तत्त्व की सर्वोपकारकता का रह-स्यपूर्ण-समन्वय ४६३

८–सार्वभौमसिद्धान्तव्यवस्थापक भी गीताशास्त्र के द्वारा भारतदेशनिबन्धना द्विजातिप्रजानुबन्धिनी प्रातिस्विकी शास्त्रमूला षोडशीप्रजापति' की भक्ति का रहस्यपूर्ण समन्वय ४६४

९–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मिका उपासना से अनुप्राणित सर्वोङ्कारप्रजापति एवं सप्रणव-अप्रणव-भेद-निबन्धना-स्त्री-शूद्रानुगता उपासना का द्वैविध्य ... . ,,

१०–निष्काम–सकाम–भावापन्ना यज्ञप्रजापतिमूला यज्ञ–विराड्पासना का अन्यतम अधिकारी सावित्री संस्कार-युक्त भारतीय द्विजाति-मानव एवं तत्र स्त्री-शूद्र-वर्ग का अनधिकार ... ,,

११–ज्ञानबुद्धियोगानुगता-सिद्ध्युपासना के सम्बन्ध में अधिकारि-भेद-व्यवस्था का दिग्दर्शन ४६५

१२–पुण्ययोगात्मिका पारिभाषिकी उपासना तथा इष्टयोगात्मिका पारिभाषिकी उपासना के सम्बन्ध में द्विविध-विभिन्न-अधिकारियों की व्यवस्था का दिग्दर्शन .... ,,
१३–कामनानुगता अवताराद्युपासना के सम्बन्ध में अधिकारि–भेद-निबन्धना व्यवस्था का स्वरूप–समन्वय .... ,,
१४–तथाकथित षड्विध उपासनापथों का गीताशास्त्र के द्वारा सङ्केतविधि से समर्थनात्मक समन्वय ,,
१५–अर्जुन का महत्त्वपूर्ण प्रश्न एवं भगवान् के द्वारा 'युक्ततमविधि' से समाधानोपक्रम ४६६
१६–ज्ञानी-तपस्वी-भक्त-नामक तीन वर्गों के सम्बन्ध में भगवान् के द्वारा श्रेणि-विभाग संस्थापन ,,
१७–अत्यन्त रहस्यपूर्ण-श्रेणिविभाग के सम्बन्ध में गीता की मननीया श्लोकद्वयी .... ,,
१८–क्लेशसाध्या इन्द्रियसंयमादि-लक्षणा अव्यक्तोपासना के सम्बन्ध में भगवान् के द्वारा महत्त्वपूर्णा श्लोकत्रयी के रूप से हृदयोद्गार एवं अव्यक्तोपासनात्मिका ज्ञाननिष्ठा का नीरक्षीर विवेक ४६७
१९–सांख्यनिष्ठात्मिका-अव्ययोपासना के सम्बन्ध में भगवान् की अरुचि .... ,,
२०–राजविद्यानुगत 'भक्ति' का राजमार्गत्व एवं तत्सम्बन्ध में गीता की महत्त्वपूर्णा श्लोकत्रयी ,,
२१–अभ्यासमार्गरूप-विराडुपासनात्मक-चतुर्थ-कर्म्ममय भक्तिमार्ग का स्वरूप-संस्मरण एवं तत्सम्बन्ध में भगवत्सिद्धान्त-व्यवस्था ४६८
२२–आयासरूपा आगमोपासना में भी असमर्थ मानवों के अभ्युदय के लिए गीताशास्त्र के द्वारा रहस्यपूर्ण सुगमतमपथों का संस्थापन एवं तद्रूपा विश्वोपासना का स्वरूप-दिग्दर्शन ,,
२३–यज्ञेश्वरोपासनात्मक उपासनामार्ग का पारिभाषिक-समन्वय ४६९
२४–ईश्वरसत्ताविमुख-यथाजात-प्राकृत-मानवों के समुद्धार के लिए गीताशास्त्र के द्वारा ऋजुतम-कर्म्मफलत्यागात्मक-रहस्यपूर्ण-पथ का संस्थापन ... . ,,
२५–सर्वास्था-मान्यता-शून्य भी मानवों के समुद्धार से अनुप्राणिता भगवद्भावना ... ,,
२६–कर्म्मफलत्यागात्मक अपूर्व पथ का पारिभाषिक-समन्वय ... . ,,
२७–आस्तिक भारतीय मानव का दम्भपूर्ण आज का जीवनेतिवृत्त एवं नास्तिक मानवों का दम्भ-शून्य अतएव लोकवृत्तसकलतानुबन्धी भौतिक जीवन और उभय-समतुलन-माध्यम से एक विशेष तथ्य का स्वरूप-समन्वय–प्रयास ४७०
२८–वर्त्तमान-आस्तिक–शास्त्रभक्त–भारतीय–मानवों के आत्यन्तिक-पतन का स्वरूपेतिवृत्त ,,
२९–शास्त्रतटस्थ प्रतीच्य मानवों की भूतोन्नतिमूला भूतजीवनपद्धति के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन ४७१
३० शास्त्रीय मार्ग के मुख्य उद्देश्य का पारिभाषिक–समन्वय–प्रयास .... ,,
३१–कर्म्मफलासक्ति–अनासक्ति के माध्यम से शास्त्रीय–उद्देश्य का नीरक्षीर–विवेक–समन्वय ,,
३२–गीताशास्त्र के एक रहस्यपूर्ण श्लोक का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय एवं तन्निबन्धना कर्म्मफला–नासक्ति से अनुप्राणिता पारिभाषिकी सङ्गति तथा–मा कर्म्मफलहेतुर्भूः का फलितार्थ समन्वय ,,
३३–विश्वयज्ञस्थिति का उपोद्बलक कर्म्ममार्ग एवं तन्निबन्धना समर्पणमूला यज्ञप्रजापत्युपासना ४७२
३४–भक्तिमार्गापेक्षया भी तथाविध कर्म्ममार्ग की श्रेष्ठता का स्वरूप-समन्वय .... ,,
३५–आत्मस्वार्थमूलक–उपासनातत्त्व का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास .... ,,

३६–भक्तियोगानुबन्धी-'साकारब्रह्म' का संस्मरण एवं साकारब्रह्म के माया-कला-गुण-विकार-अञ्जन-आवरण-नामक षड्विध परिग्रहों का संस्मरण ४७४
३७–उपासनापथ के महान् पारिभाषिक सूत्र-'असत्ये वर्त्मनि स्थित्त्वा ततः सत्यं समीहते' का स्वरूप-समन्वय .... ,,
३८–अवतार-तीर्थ-व्रत-प्रतिमा-आदि-भेदभिन्ना विश्वोपासना के सम्बन्ध में क्रमिकाभ्युदयमूलक-रहस्य-पूर्ण-पारिभाषिक-उद्बोधन .... ,,
३९–पुराणशास्त्र से अनुप्राणिता उपासना के सम्बन्ध में तत्त्वविमर्श एवं भ्रान्तों की भ्रान्ति का निराकरण-प्रयास ४७५
४०–भक्तिपथक्षेत्र में षट्त्रिंशद्विध (३६) पुराणोपपुराणों के समतुलन में श्रीमद्भागवत का ही प्राधान्य ... . ,,
४१–श्रीभागवत के पारिभाषिक-'भागवत' नाम का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय ... ,,
४२–भक्तिपुत्र वैराग्य एवं ज्ञान का कलौ युगे वार्द्धक्य एवं भक्ति का करुणविलाप ,,
४३–श्रीमद्भागवत की भक्ति-प्रधानता के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन ४७६
४४–श्रीमद्भागवत के द्वारा भक्ति के ज्ञान-वैराग्य नामक वृद्धपुत्रों को जीवनप्रदान ... ,,
४५–श्रीमद्भागवत की समाधिभाषा एवं तत्प्रमाणाधारेण प्रतिष्ठित वेदसिद्ध शुद्धाद्वैतसम्प्रदायात्मक-पुष्टिमार्ग का संस्मरण ... ... ,,
४६–पौराणिक-दृष्टिकोण के अभिव्यञ्जक कतिपय सन्दर्भ ४७७
४७–[१]–निर्गुणाव्ययोपासनात्मक (वैराग्यमय अद्वैतलक्षण-सर्वश्रेष्ठ) भक्तिमार्ग (बुद्धियोग) ... ... ,,
४८–निर्गुणाव्ययोपासनात्मकस्य बुद्धियोगमार्गस्य सर्वोत्कर्षसूचनार्थ-प्रतिमोपासनायाः-अवरत्वनिरूपणम् ४७८
४९–(२)–सगुण-षोडशीप्रजापत्युपासनात्मक-(भक्तिमय-द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग-(भक्तियोग) ४७९
५०–[३]–सविकार-यज्ञप्रजापत्युपासनात्मक-(कर्म्ममय-द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग-(कर्म्मयोग) ४८०
५१–(४)–सविकार-यज्ञप्रजापत्युपासनात्मक-(ज्ञानमय-द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग (ज्ञानयोग) ,,
५२–(५)–साञ्जन-विराट्प्रजापत्युपासनात्मक-काम्यकर्म्ममय-द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग (इष्टयोग) ४८१
५३–(६)–सावरण-विश्वप्रजापत्युपासनात्मक-(काममय-द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग-[कामयोग] ४८२
क–१–देवयोनिनिबन्धना सिद्धयुपासना-विश्वोपासना .... ,,
ख –२–मनुष्य–पशु–पक्षि–कीटादि-निबन्धना उपासना [विश्वोपासना]···· ४८३
५४–युगधर्म्मभेद–निबन्धन–भक्तिमार्ग–स्वरूप ४८४
५५–पौराणिक-उद्धरणों से अनुप्राणित भक्तिमार्ग का स्वरूप-समन्वय एवं वर्त्तमानयुगे तदुपासना की भी स्वरूप-विच्युति का दुःखपूर्ण इतिवृत्त ४८५
५६–उपासनामार्ग के सम्बन्ध में अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित 'मध्यस्थ' का स्वरूप-समन्वय ,,
५७–ज्ञान-कर्म्म-उपासना-नामक तीनों ही पथों में अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित मध्यस्थ 'भूतभावों' का स्वरूप-दिग्दर्शन एवं तत्सम्बन्ध में सर्वथा अपेक्षित शब्दप्रमाण का संस्मरण ... ४८६

५८–आर्य्यसमाज की मान्यता से अनुप्राणित चतुःसंहितात्मक वेदशास्त्र और तत्सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन ... ... ,,

५९–प्रतिमापूजन की अवैदिकता से अनुप्राणिता अविचारितरमणीया विचारधारा .... ,,

६०–वर्त्तमान-प्रतिमापूजन-प्रकारों की तथाकथित वेदशास्त्र में अनुपलब्धि एवं तन्निबन्धना महती जिज्ञासा ४८७

६१–आक्षेपकर्त्ता की मान्यताओं के सम्बन्ध में समुपस्थिता महती-विप्रतिपत्ति ... ,,

६२–'संस्कारविधि' से अनुप्राणित संस्कारों की इतिकर्त्तव्यताओं से एकान्ततः असंस्पृष्ट वेदशास्त्र और महाशयवर्ग से प्रतिप्रश्नात्मिका जिज्ञासा .... ,,

६३–ज्ञातव्यभाव-निबन्धन वेदशास्त्र का 'विद्याशास्त्रत्त्व'-समन्वय .... ,,

६४–सर्वथा विभक्त 'विद्याशास्त्र' एवं 'धर्म्मशास्त्र' तथा तन्निबन्धन 'ज्ञातव्य' और 'कर्त्तव्य' वेद का संस्मरण ४८८

६५–विद्या-उपनिषत्-एवं श्रद्धा से समन्वित कर्म्म की वीर्य्यवत्ता का स्वरूप-समन्वय तथा-'विद्या धर्म्मेण शोभते' का संस्मरण ... . ,,

६६–विज्ञान-स्तुति-इतिहासात्मक ज्ञातव्य-वेदशास्त्र एवं कर्म्म-उपासना-ज्ञानात्मक-कर्त्तव्य-वेदशास्त्र का तात्त्विक-स्वरूप-संस्मरण ... . ,,

६७–धर्म्मरहस्य-प्रतिपादक श्रुतिशास्त्र, एवं धर्म्माचरण-प्रतिपादक-स्मृतिशास्त्र तथा तत्सम्बन्ध में राजर्षि मनु .... ,,

६८–'विद्याशास्त्र' तथा 'धर्म्मशास्त्र'-अभिधाओं का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय ४८९

६९–विशुद्ध-विद्याशास्त्र, विद्यागर्भित-धर्म्मशास्त्र एवं विशुद्ध-धर्म्मशास्त्र भेदनिबन्धना शास्त्रत्रयी का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय .... ,,

७०–शास्त्रभारवृद्धि से अनुप्राणिता एक प्रासङ्गिकी जिज्ञासा एवं तत्समन्वय-प्रयास ४९०

७१–भारतीय-शास्त्रतालिका की गुरुभारान्वित परम्परा के सम्बन्ध में जिज्ञासु की विप्रतिपत्ति का दिग्दर्शन ... . ,,

७२-वेदशाखाग्रन्थों के सम्बन्ध में महती-विप्रतिपत्ति का समुत्थान ४९१

७३–प्रतिमापूजन की अवैदिकता के उद्घोषक-वर्ग से प्रतिप्रश्नात्मिका जिज्ञासा .... ,,

७४–वास्तविक शास्त्र तथा शास्त्राभासों का समतुलन एवं शास्त्राभासों की उपेक्षणीयता ,,

७५–मूलात्मक-यज्ञपुरुष, तूलात्मक कालपुरुष एवं तन्निबन्धन पुरुष तथा प्रकृति-विवर्त्तों का तात्त्विक-पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय और पुरुष की समष्टि-व्यष्टि-रूपा पूर्णता का स्वरूप-संस्मरण .... ,,

७६–विश्वहृदयमूर्त्ति यज्ञपुरुष की त्रयीविद्यात्मकता का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ४९२

७७–पुरुषानुगत-यज्ञात्मक-सौरपुरुष से अनुप्राणिता नित्या-अपौरुषेया निगमविद्या तथा प्रकृत्यनुगता-कालात्मिका-पार्थिवी प्रकृति से अनुप्राणिता नित्या आगमविद्या का रहस्यपूर्ण समन्वय और तन्निबन्धना निगमागमशास्त्रद्वयी का संस्मरण .... ,,

७८–निगमागममूलक मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र एवं तन्मूलक पुराण-स्मृति-इतिहासात्मक शास्त्र का स्वरूप-संस्मरण ... ... ,,

७९–ज्ञातव्यत्रयी का निरूपक वेदशास्त्र एवं तदाधारेण आर्य्यजगत् के सम्मुख महती विप्रतिपत्ति का संस्थापन ४३३

८०–प्रिय महाशयवर्ग से प्रणतभावेन किञ्चिदिव सामयिक-आवेदन .... ,,

८१–प्रतिमापूजनोपलब्धि के सम्बन्ध में किञ्चिदिव प्रासङ्गिक-नम्र निवेदन .... ,,

८२–यज्ञात्मक विष्णु के पूर्ण तथा अंशावतारों का पावन संस्मरण .... ,,

८३–त्र्यक्षरमूर्त्ति-प्रजापति का स्वरूप-संस्मरण एवं तन्निबन्धना संयती-क्रन्दसी-रोदसी-त्रिलोकी और सर्वव्यापक-अश्वत्थवृक्ष का स्वरूप-समन्वय ४९४

८४–अश्वत्थवृक्ष के अधोभाग में अवस्थित भगवान् भूतनाथ के आगमिक ध्यान का पावन संस्मरण ... . ,,

८५–अमृत-मृत्यु-संस्थान-विवेक एवं मृत्युविजेता भगवान् मृत्युञ्जय महादेव का माङ्गलिक संस्मरण तथा तदनुगता लिङ्गोपासना का दिग्दर्शन .... ,,

८६–त्र्यक्षरुद्रात्मक सौर महादेव एवं विड्रुद्रात्मिका रुद्रप्रजा का स्वरूप-समन्वय तथा व्यक्त मूर्त्ति-मूर्त्ति-भावानुबन्धी इन्द्रात्मक-शिव के औपासनिक स्वरूप का दिग्दर्शन ४९५

८७–ताम्र-सुमङ्गल-नीलग्रीवादि-लक्षण त्र्यम्बक शिवतत्त्व एवं उन के शिवशरीर तथा घोरशरीर का पावन-संस्मरण .... ,,

८८–यज्ञियरुद्राग्निदेवता की शान्ततनु एवं आहुतिनिरोधानुगता घोरतनु का संस्मरण ,,

८९–श्रावणमासे उपास्य शान्तशरीरी साम्बसदाशिव एवं फाल्गुनमासे उपास्य घोर-शरीरी रुद्रदेव का संस्मरण ४९६

९०–अवतारभावनिबन्धन अव्यक्त विष्णु एवं उपास्यभावानुबन्धी व्यक्त शिव का स्वरूप-संस्मरण तथा शिवोपासना की शाश्वतता का स्वरूप-समन्वय और साम्प्रदायिक जगत् की अर्वाचीन वैष्णवी-उपासना का दिग्दर्शन .... ,,

९२–[१]–**संहिताभाग में प्रतिमापूजन के मौलिक–सूत्रात्मक-संस्मरण** .... ,,

९३–मूलसंहितानुगता प्रतिमा-प्रतिमान-अर्च्चन-भजन-सेवा-आदि औपासनिक शब्दों का संस्मरण एवं प्रतिमोपासना की प्रामाणिकता का स्वरूप-समन्वय ४९९

९४–स्थूल-साकार-मूर्त्त-मध्यस्थ-भावों से अनुप्राणिता उपासना का स्वरूप-समन्वय .... ,,

९५–भौतिकी आकारमर्य्यादा से अतीत भी उपास्य-ब्रह्म की उपासनासिद्धि के अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित भौतिक-माध्यमों का स्वरूप दिग्दर्शन ... ... ,,

९६–प्रतिमात्मिका '**मूर्त्ति**' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कतिपय ब्राह्मणग्रन्थ-वचनों का स्वरूप-संस्मरण ५०१

९७–सम्प्रदायविशेष के द्वारा भारतीय सनातन आचारधर्म्म पर कुठाराघात तद्दुष्परिणाम, एवं सनातनी तथा आर्य्यसमाजियों का निरर्थकतम वाक्कलह ५०१

९८–प्रतिमापूजक सनातनी की वेदार्थ के सम्बन्ध में महती भ्रान्ति ... . ,,

९९–ऋग्वेदीय-अश्मभावानुगत मन्त्र के वास्तविक-मन्त्रार्थ का समन्वय-प्रयास एवं तद्द्वारा सम्भावित उद्बोधन ... . ,,

१००–**'न तस्य प्रतिमा अस्ति'** के सम्बन्ध में लीलाधरों की लीला का नग्नचित्रण एवं तदनुगता भ्रान्ति का स्वरूप-विश्लेषण ५.०२

१०१–**'न तस्य प्रतिमा अस्ति'** के वास्तविक तात्पर्य्य का समन्वय प्रयास, एवं लीलाधरों का सम्भावित उद्बोधन .... ,,

१०२–मीमांसा-सम्मता प्रकरणसङ्गति से अनुप्राणित-समन्वय का स्वरूप-दिग्दर्शन .... ,,

१०३–**'प्रतिमान'** शब्द का प्रकरणसङ्गति-निबन्धन-वास्तविक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास ५.०३

१०४–**'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते'** के माध्यम से वास्तविक-स्थिति का स्वरूप-समन्वय-प्रयास ... . ,,

१०५–प्रतिमापूजन के सम्बन्ध में बुद्धानुगत ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभिनिवेश .... ,,

१०६–बुद्धनिर्वाणानन्तर बुद्ध की प्रतिमाओं का उपासना-प्रचार-दिग्दर्शन ५.०४

१०७–हीनयान तथा महायान-भेदनिबन्धन बुद्धमत के दो विभिन्न पथ एवं तत्सम्बन्धिनी प्रतिमोपासना .... ,,

१०८–बुद्धमत के प्रभाव से आक्रान्त ब्राह्मणधर्म्म का भी प्रतिमोपासनानुगतत्व एवं ऐतिहासिकों का भ्रान्त दृष्टिकोण .... ,,

१०९–प्रतीच्य-भक्ति के अन्धानुकरण से अनुप्राणिता तथा साम्प्रदायिक आचार्य्यों के अभिनिवेश से समन्विता भारतीयों की परप्रत्ययनेयता के भीषण परिणामों का किञ्चिदिव-दिग्दर्शन ,,

११०–युक्ति-तर्क-प्रमाणादि के आवेशों से आविष्ट भी वर्त्तमान गतानुगतिक भारतीय-मानवों का आश्चर्य्यप्रद-प्रतीच्य-अन्धानुकरण ५.०५

१११–ब्राह्मणधर्म्म तथा बुद्धमत के समतुलन-माध्यम से प्रतिमापूजन की अनादिता-सादिता का नीरक्षीरविवेक-प्रयास ... . ,,

११२–पुरातत्त्वान्वेषणानुबन्धी कारणाभास की भातिसिद्धता का स्वरूप-दिग्दर्शन ५.०६

११३–बौद्धमत से पूर्ववर्ती के प्रतिमा-चिह्नों के सम्बन्ध में किञ्चिदिव सामयिक-आवेदन .... ,,

११४–सप्तद्वीपा वसुमती-पृथिवी से अनुप्राणित अन्वेषणकर्म्म की अनन्तकालानुगता-व्याप्ति का स्वरूप-दिग्दर्शन एवं तत्सम्बन्ध में भगवान् पतञ्जलि के उद्गार .... ,,

११५–सर्वशास्त्रसमर्थिता प्रतिमोपासना के अनादित्व के सम्बन्ध में धृष्टतापूर्ण आपातरमणीय-आक्षेप-प्रत्याक्षेप-विडम्बना ५.०७

११६–अलक्षेन्द्र (सिकन्दर)-युगानुगत उदाहरण और मेगस्थनीज .... ,,

११७–बुद्धसंसर्ग से असंस्पृष्ट भारतीय-प्रतिमापूजन-प्रवाह का पावन-संस्मरण .... ,,

११८–सम्भावित-चिह्नों की प्रतीक्षा एवं भारतीय-प्रतिमापूजन का अनादित्व .... ,,

११९–पुरातनयुगानुगता मृण्मयी प्रतिमाएँ एवं तदनुपलब्धि के कालिक-सहज-कारण का स्वरूप-दिग्दर्शन ५.०८

१२०–मृण्मयी प्रतिमाओं के अनन्तर काष्ठमयी प्रतिमाओं का स्वरूपाविर्भाव एवं तत्सम्बन्ध में वेदव्याख्याता सर्वश्री यास्काचार्य्य .... ,,

१२१–इन्द्रप्रतिमा का स्वरूप-समर्थक ऋग्वेदीय मन्त्र··· .... ,,
१२२–महर्षि वामदेव के द्वारा भौमेन्द्र की प्रतिमा के माध्यम से 'देवेन्द्रोपासना और प्रतिमाभाव' का संस्मरण ५०६
१२३–ऋग्वेदीय-मन्त्रार्थ-समन्वय .... ,,
१२४–प्रतिमापूजन के सम्बन्ध में श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण .... ,,
१२५–राक्षसेश्वर रावण के द्वारा जाम्बूनद-सुपर्णात्मक शिवलिङ्ग की उपासना और प्रतिमापूजन ,,
१२६–सेतुबन्ध रामेश्वर के माध्यम से प्रतिमापूजन की आर्षता का पावन संस्मरण ५१०
१२७–शास्त्रीय वचनो के सम्बन्ध में दोषदृष्टि एवं तन्निबन्धना महती भ्रान्ति .... ,,
१२८–नियोगविध्यात्मक प्रासङ्गिक-उदाहरण के माध्यम से वास्तविक-स्थिति का स्वरूप-विस्फोटन ,,
१२९–'अत्र पूर्वं महादेवः'-इत्यादि श्रीरामायणीय-आर्षवचन के साथ परमतानुगामियों का वञ्चना-पूर्ण-समन्वय-प्रकार ५११
१३०–श्रीरामायणमान्यतानुबन्ध के प्रति कृतज्ञतार्पण एवं तन्निबन्धना वस्तुस्थिति का वास्तविक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास .... ,,
१३१–वर्णाश्रमव्यवस्थानिष्ठ आचार्य्य द्रोण एवं एकलव्य .... ,,
१३२–एकलव्य की द्रोणप्रतिमोपासना का स्वरूप-समन्वय एवं अर्जुन का आक्रोश ... ५१२
१३३–एकलव्य के द्वारा गुरुद्रोण के प्रति वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण .... ,,
१३४–एकलव्य के द्वारा गुरुदक्षिणा में अङ्गुष्ठ प्रदान और आचार्य्य के द्वारा वरप्रदान ,,
१३५–राजस्थानी भील की आश्चर्य्ययुक्ता धनु-वाण-कुशलता .... ,,
१३६–भगवान् पाणिनि के कतिपय सूत्र एवं प्रतिमापूजन .... .. ,,
१३७–अध्यस्तरूपोपासनानुगता प्रतिमा की अनिवार्य्यता और सांख्यदर्शन ५१३
१३८–दृष्टियोग तथा मनोयोग के विभिन्न क्षेत्रों से अनुप्राणिता उपासना और प्रतिमानुगता जड़ता का समन्वय .... ,,
१३९–भूतमाध्यमानुगता उपासना और तत्र उपनिषच्छ्रुति का संस्मरण .... ,,
१४०–श्रद्धाविश्वासात्मक-उपास्यदेव और महात्मा तुलसी ५१४
१४१–परमत की दृष्टि में प्रतिमापूजन .... ,,
१४२–प्रतिमापूजन का समर्थन तथा 'परिशिष्ट-प्रकरणोपरामः' ५१५

इति–भक्तियोग परीक्षायाम् पूर्वखण्डे "प्रतिमापूजन और उपासना" नामकं परिशिष्टं प्रकरणमुपरतम्

इति–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकायाः सर्वान्तरतमपरीक्षायाः-"क"-कारविभागात्मकस्य

भक्तियोगपरीक्षात्मकस्य-पूर्वखण्डस्य

संक्षिप्ता–विषयसूची-उपरता (परिच्छेदात्मिका)

———*—— |

श्रीः

इति-भक्तियोगपरीक्षा-पूर्वखण्डस्य

संक्षिप्ता-विषयसूची

उपरता

परिच्छेदात्मिका

श्रीः

अथ-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—

१-किञ्चिदिव प्रास्ताविकम्

ओंतत्सद्ब्रह्मणे नमः

अथ

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–'सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक'

'भक्तियोगपरीक्षा' नामक पूर्वखण्ड

(सर्वान्तरतमपरीक्षानुगत—'क'–कार विभागात्मक प्रथमखण्ड)

—*—

१–किञ्चिदिव–प्रास्ताविकम्

"नाभक्ताय कदाचन"

१—माङ्गलिकसंस्मरणम्—

१—नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥

२—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति "एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" ॥

३—वाचं देवा* उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

४—वाग्वरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥

५—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं वो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

६—ओष्ठापिधाना न कुलीदन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारुमामिह वादयेत् ॥

---

*देवताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वत्समाज में आज अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। इसके निराकरण के लिए 'शतपथहिन्दीविज्ञानभाष्य' का प्रथमकाण्डीय–प्रथमखण्ड ही देखना चाहिए।

७—यो यज्ञो दिवि परमेष्ठि-गोसवात्मा विज्ञानं समुपदिदेश गीतया यः ।
आनन्दं जनयतु विश्वतो ममायं गोविन्दः स हि मयि सन्निधानमेतु ॥
८—य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ (गीता १८ । ६८ ।)
९—इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
तथाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ (गीता १८ । ६७) ।
प्राक्कर्म्मोदयतो हि यस्य मिथिलादेशे शरीरोदयः—
श्रीविश्वेशादयोदयाच्च समभूत्काश्यां सुविद्योदयः ।
राज्ञा प्रीत्युदयादभूज्जयपुरे सम्पत्ति-भाग्योदयः—
सिद्धः श्रीमधुसूदनाय गुरवे नित्यं प्रणामोदयः ॥

——*——

१—हे गणपते ! आप गणों में (मरुद्गणों में एवं स्तोतृगणों में) विराजिए ! क्योंकि (विद्वान-लोग) आप ही को कवियों के मध्य में श्रेष्ठ मेधावी समझते हैं । अपिच आपके बिना दूर का अथवा समीप का कोई भी कार्य्य नहीं किया जासकता । (इसलिए सभी कार्य्यों के आरम्भ में आपका प्रथम स्मरण नितान्त अपेक्षित है) । हे महनीय गणपते ! त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५), सप्तदश (१७), एकविंश (२१), त्रिणव (२७), त्रयस्त्रिंश (३३) आदि विविध स्तोमों से युक्त महामहिमशाली, अतएव विद्वानों की दृष्टि में आदरणीय जो यह हमारा स्तोम (कार्य्यराशि) है, उसे आप निर्विघ्न पूर्ण करने का अनुग्रह करें ।

—ऋक्सं० १०।११२।९।

२—एक ही अग्नितत्त्व (गायत्री–त्रिष्टुप्–जगती आदि छन्दों के भेद से) गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, आवसथ्याग्नि, सभ्याग्नि, धिष्ण्याग्नि, आहृताग्नि, प्रहृताग्नि, आमादग्नि, कव्यादग्नि, कव्यवाडग्नि, वैश्वानराग्नि, सान्तपनाग्नि, वेदाग्नि, सम्वत्सराग्नि आदि अनेक रूपों से यत्र तत्र प्रज्वलित होरहा है । एक ही सूर्य्य विश्वोपलक्षित चराचरजगत् में विभूति एवं योग सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर उन सब स्थावर जङ्गम पदार्थों का आत्मा बनता हुआ नानाभावों में परिणत होरहा है । ३० योजन पर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखने वाली सूर्य्य से ३० योजन पश्चिम की ओर अपनी स्थिति रखने वाली उषाकाल की अधिष्ठात्री उषादेवी उदयबिन्दु के भेद से नानारूप धारण कर सर्वत्र प्रकाशित होरही है । नानाभेदभिन्न उक्त सम्पूर्ण प्रपञ्च एक ही ब्रह्म का वैभव है । एक ही ब्रह्मतत्त्व उपाधिभेद से अनेक रूप धारण कर विभूति–सम्बन्ध से सर्वत्र व्याप्त होरहा ।

—"ऋक्सं० ६।४।२९।"

३—वसु–रुद्र–आदित्य भेदभिन्न ३३ आग्नेय देवता, सम्पूर्ण सौम्यदेवता, कर्म्मदेवता, आत्मदेवता, अभिमानी देवता, पुरुषविध नित्य अष्टविध चेतन चान्द्र देवता, पुरुषविध चेतन अनित्य प्राणी देवता आदि

२— मनो-बुद्धि--विमोहक कर्म्ममार्ग, एवं व्यवसायधर्म्म का अभिभव—

कर्म्म का स्वरूप "**कवयोऽप्यत्र मोहिताः**" के अनुसार बड़ा जटिल है" इस वाक्य से कुछ समय के लिए हमें ऐसा विश्वास होजाता है कि, **ज्ञानयोग** अवश्य ही '**कर्म्मयोग**' की अपेक्षा एक सरल मार्ग है। और न्यायतः ऐसा विश्वास अनुचित भी नहीं माना जासकता। कर्म्म की प्रतिष्ठा असद्बल है। स्वस्वरूप से सर्वथा क्षणिक होते हुए ये असद्बल संख्या में अनन्त हैं। इसी बलानन्त्य से तद्रूप कर्म्मों का भी आनन्त्य होजाता है। यदि हमारे सामने एक ही वस्तु रहती है, तो कभी सन्देह को अवसर नहीं मिलता। परन्तु भिन्न भिन्न फलाफलों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक भावों का साम्मुख्य अवश्य ही हमारे मन को "**यह करें कि वह, यह लें कि वह, उसे छोड़ें कि इसे**" इस अनिश्चयात्मक भाव का अनुगामी बना देता है। मनःसंश्लिष्टा बुद्धि "**इदं वा ग्राह्यं-इदं वा, इदं वा त्याज्यं-इदं वा**" इसप्रकार से अनेक शाखालक्षण अव्यवसाय की अनुगामिनी बनती हुई अपने स्वाभाविक एकत्वलक्षण, समाधिरूप '**व्यवसायधर्म्म**' से-वञ्चित होकर मोह में पड़ जाती है।

सभी देवता एकमात्र वाक्तत्त्व को आधार बनाकर ही जीवित हैं। २७ गन्धर्व, सब प्रकार के पशु, मनुष्य आदि सब प्रजाएँ वाक् को प्रतिष्ठा बनाकर ही स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनत्, तपः,-सत्यं ये सातों भुवन वाग्धरातल में हीं समर्पित हैं। (इसप्रकार जो वाक्तत्त्व चराचर में व्याप्त होरहा है) इन्द्रपत्नी नाम से प्रसिद्ध वह वाग्देवी (हमारे इस शब्दराशिरूप वाङ्मय यज्ञ में इसे सफल बनाने के लिए हमारी पुकार सुनें।

—"तै० ब्रा० २।८।८।५।"

४—"अक्षरमिति (अ[1]-क्ष[2]-रम[3]-इति) व्यक्षरं, वागित्येकमक्षरम्" "एकाक्षरा वै वाक्" (ताण्ड्यब्रा० ४।४।३।) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वाग्रूप एकाक्षरब्रह्म, किंवा अक्षरस्वरूप वाग्ब्रह्म ही (विश्व में) सबसे पहले प्रकट हुआ है। अतएव यह वाग्देवी ऋततत्त्व की 'प्रथमजा' कहलाती है। यह वाक् (अनन्त) वेदों की माता है, अमृत की नाभि है। ऐसी यह वाग्देवी प्रसन्न होती हुई हमारे इस वाग्यज्ञ में पधारें। अपिच हमारी रक्षा करने वाली यह वाग्देवी (हमारे इस वाग्यज्ञ को निर्विघ्न पूर्ण करने के लिए) हमारी प्रार्थना सुनें।

—"तै० ब्रा० २।८।८।"।

५—जो औपनिषद पुरुष (सृष्टिनिर्म्माण के लिए) प्रतिष्ठालक्षण चतुर्म्मुख ब्रह्मा को सर्वप्रथम उत्पन्न करता है, जो वेदान्तपुरुष उस ब्रह्मा के लिए (सृष्टिसाधनरूप) वेदों को अर्पित करता है, प्रज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध सर्वेन्द्रियलक्षण मन, एवं विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध बुद्धि के प्रकाश-स्वरूप उसी (चिद्घन ब्रह्म) देव की शरण में मैं मुमुक्षु जारहा हूँ।

—"श्वेता० उ० ६।१८।"।

३--'किंकर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः' मूलक संशयवाद, तथा कर्म्ममार्ग की आत्यन्तिक जटिलता--

"एकस्मिन् धर्म्मणि विरुद्धनानाकोट्यवगाहि-ज्ञानं संशयः" इस लक्षण के अनुसार कहने को "कर्म्म" नाम से एक ही "धर्म्म" (पदार्थ) में बलानन्त्य-प्रयुक्त, परस्पर में सर्वथा विरुद्ध जब अनेक भावों का-समावेश होजाता है, तो इन अनेक विरुद्ध धर्म्मों के समावेश से वह कर्म्म प्रज्ञा की स्थिरता चञ्चल बना देता है। अस्थिरप्रज्ञ मन के साथ नित्ययुक्ता स्थिरबुद्धि भी खण्ड-खण्डात्मिका बन कर अव्यवसायात्मिका बन जाती है। अव्यवसायलक्षणा बुद्धि (विज्ञानात्मा) अपने स्वाभाविक निश्चयात्मक निर्णय करने में असमर्थ होती हुई मोहमूलक "इदं वा इदं वा" इत्याकारक संशय में पड़ जाती है। बुद्धि का स्वाभाविक कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक उच्छिन्न होजाता है। साधारण वस्तुओं की कौन कहे, वे कविगण भी (जो शास्त्रों के पारदर्शी विद्वान् माने जाते हैं, जो समय समय पर कर्म्म के निर्णायक बनते हैं) मोह में पड़ जाते हैं। द्रौपदी-वस्त्रापहरण-वेला में कवित्वशक्ति की चरम सीमा पर पहुँचे हुए, कर्त्तव्य-निर्णय के सम्बन्ध में उत्तरायणकाल में शरशय्या पर सोते हुए ऋषिसंसत् से समाविष्ट, युद्ध-जनित क्षोभ से क्लान्त बने हुए धर्म्मराज युधिष्ठिर को उपदेश देने वाले भीष्मपितामह के मुख से भी जब हम "धर्म्मस्य सूक्ष्मा गतिः" ये अक्षर सुनने के लिए बाध्य किए जाते हैं, तो फिर अस्मदादि साधारण मनुष्यों के सम्बन्ध में तो टीकाटिप्पणी करना व्यर्थ ही है। फलतः कर्म्ममार्ग के सम्बन्ध में हमें विवश होकर "किंकर्म्म, किमकर्म्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः" इसी वाक्य पर विश्राम कर लेना पड़ता है।

४--सद्रसप्रधान ज्ञानमार्ग की ऋजुता, असद्बलप्रधान-कर्म्ममार्ग की वक्रता, तथा ज्ञाननिबन्धन एकत्व से संशय की निवृत्ति--

परन्तु स्थूलदृष्टि से विचार करने पर ज्ञानमार्ग हमें सरल प्रतीत होता है। सत्-रस ही ज्ञान की प्रतिष्ठा है। यह रस तत्त्व स्वस्वरूप से सर्वथा व्यापक होता हुआ संख्या में- एक है, शान्त है, अविकृत है। फलतः तद्रूप ज्ञान का भी एकत्व सिद्ध होजाता है। ज्ञान स्वस्वरूप से सर्वथा संशय-शून्य है। संशयात्मक कर्म्म के समावेश से ही ज्ञान अनेक धाराओं में परिणत होता हुआ अपनी स्वाभाविक सत्सम्पत्ति (रससम्पत्ति) से च्युत होता हुआ, आगन्तुक असत्सम्पत्ति (बलसम्पत्ति) की कृपा से असत् बन जाता है। इसी विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए सांख्य (ज्ञान) निष्ठ-योगियोंने कर्म्म के परित्याग का आदेश दिया। उनके आदेश का तात्पर्य्य यही था कि, जबतक तुम लौकिक कामनामय कर्म्मों में प्रवृत्त रहोगे, तबतक कर्म्ममार्ग की भाँति तुम्हारा ज्ञानमार्ग भी अशान्ति का ही कारण बना रहेगा। कर्म्म ज्ञान का विसंवादी पदार्थ है। उसके संसर्ग से कभी ज्ञान अपने स्थिरलक्षण समाधि-भाव में प्रतिष्ठित नहीं होसकता। संशयशून्य उस समाधिज्ञान के विकास के लिए तुम्हें निष्कामकर्म्म के द्वारा ज्ञान के साथ लगी हुई हृदयग्रन्थि का विच्छेद कर कर्म्म को सहचर-अवस्था में ही परिणत करना पड़ेगा। इस नैष्कर्म्य-लक्षण ज्ञानयोग (गीता के द्वारा संशोधित कर्म्मयुक्त 'ज्ञानबुद्धियोग' से सहकृत ज्ञानयोग) से-कर्म्मबन्धन टूट जायगा। कर्म्मप्रयुक्त नानात्व विलीन होजायगा। रह जायगा-ज्ञाननिबन्धन एकत्व। और वह ज्ञान एकत्व के कारण स्थिरधर्म्म का प्रयोजक बनता हुआ मोह-संशयादि का आत्यन्तिक निराकरण कर देगा।

५---स्थूलदृष्ट्या ज्ञानमार्ग की उपयोगिता, किन्तु सूक्ष्मदृष्ट्या ज्ञानमार्ग की जटिलता, तथा–'दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' का संस्मरण---

इसप्रकार कुछ समय के लिए कर्म्ममार्ग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग हमें अधिक उपयोगी प्रतीत होने लगता है। परन्तु इसी सम्बन्ध में जब हम थोड़ी सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने लगते हैं, तो यह मार्ग भी कम जटिल प्रतीत नहीं होता। प्रवृत्ति का मूल कामना है। जबतक कामना (इच्छा) है, तभीतक कर्म्म में प्रवृत्ति है। कर्म्म कभी निष्काम बन जाय, यह सर्वथा असम्भव है। यद्यपि इन्द्रियनिग्रह के द्वारा पूर्ण संयम के साथ अपने आत्मा का पूर्ण दमन करते हुए इस मार्ग का यथाकथंचित् अनुगमन किया जासकता है, और इस संयमलक्षणा तपश्चर्य्या से प्रवृत्ति का निरोध भी सम्भव है। और यह भी ठीक है कि, इस इच्छा-निरोध-लक्षण संयम से—**"विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः, रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते"** इस गीतासिद्धान्त के ही अनुसार समय पाकर आत्मा कामना के वारुणपाश से निकल भी जाता है। परन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि, उपयोगिता की दृष्टि से (केवल वैय्यक्तिक स्वार्थ की दृष्टि से) यह मार्ग ठीक होता हुआ भी, बन्धनमुक्ति का कारण बनता हुआ भी कर्म्ममार्ग की तुलना में कभी कोई महत्व नहीं रखता। माना कि–गीता के संशोधित कर्म्ममार्ग में भी आत्मा का बन्धन नहीं है। फिर भी वहाँ कर्म्म का पलड़ा भारी है। और फिर कर्म्म कर्म्म है, नानाभावों से नित्य आक्रान्त है। अतएव यह पराशान्ति (अव्ययशान्ति, किंवा प्रत्ययगात्मशान्ति) का कारण नहीं बन सकता। इधर ज्ञानयोग पराशान्ति का अनुगामी अवश्य है। परन्तु संसार में रहते हुए, सांसारिक कर्म्मों में लिप्त रहते हुए, प्रतिकूल राजशासनों के कुचक्र से ज्ञानोपयिक देश-कालादि साधनों के विरह से कभी ज्ञानानुयायी अपनी ज्ञानचर्य्या में सफल नहीं होसकता। **"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं–पथस्तत् कवयो वदन्ति"** यह सूक्ति कर्म्ममार्ग की भाँति ज्ञानमार्ग को ही क्षुर की तीक्ष्ण धारा मानती हुई इसे भी दुर्गमपथ ही प्रमाणित कर रही है।

६--ऐन्द्रियक-मात्रा-स्पर्श-भावों की अनिवार्य्यता, एवं स्वाभाविक कर्म्मों की अनिवार्य्यता का दिग्दर्शन--

मानलीजिए राष्ट्र आप का है, आप पूर्ण-स्वतन्त्र हैं, ज्ञानयोग-साधन के लिए सुविधानुसार सम्पूर्ण साधन परिग्रह भी प्रस्तुत हैं। फिर तो कर्म्मयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग की उत्कर्षता सिद्ध होगई। भगवान् कहते हैं–नहीं। जिसप्रकार आत्मा का स्वाभाविक धर्म्म ज्ञान, एवं निष्कामकर्म्म है, एवमेव इन्द्रियों का स्वामाविक धर्म्म विषय ग्रहण, और परित्याग है। जिसप्रकार आत्मा के स्वामाविक धर्म्मों का हम नियन्त्रण नहीं करसकते, बलात् नियन्त्रण से लाभ के स्थान में हानि हीं उठानी पड़ती है, एवमेव पराङ्मुख, अतएव विषय-परायण, इन्द्रियों के स्वामाविक धर्म्मों का भी हम नियन्त्र नहीं करसकते, एवं बलात् नियन्त्रण करने से हानि हीं उठानी पड़ती है। आपकी इच्छा-अनिच्छा का इन स्वामाविक धर्म्मों के नियन्त्रण में कोई मूल्य नहीं है। चक्षुके सामने जो वस्तु आजायगी, अवश्य चक्षु उसके रूप का ग्रहण कर लेगा। शब्द आवेगा, श्रोत्रेन्द्रिय अवश्य पकड़ लेगी। गन्ध आवेगा, घ्राणेन्द्रिय कभी वञ्चित न रहेगी। स्पर्श होगा, त्वगिन्द्रिय अपने अनुभव से शून्य न रहेगी। आप न न करते हीं रहें, परन्तु मात्रास्पर्श कभी अपने इन्द्रियायतनों के स्वाभाविक सहयोग से वञ्चित न होंगे। एक दोष।

७---इन्द्रियदमनरूप आत्महनन, तदनुगत ज्ञानमार्ग, एवं जटिलतम ज्ञानपथ, और तन्निबन्धन मनोविज्ञान का समन्वय----

आत्मप्रकाश से ही प्रकाशित इन्द्रियों का दमन आत्महत्या से कम महत्त्व नहीं रखता। उस महाज्ञान के सामने यदि इस पातक की उपेक्षा भी कर दी जाय, तब भी ज्ञानयोग कर्म्मयोग की अपेक्षा श्रेष्ठ, एवं सरल नहीं माना जासकता। जिसमें बलात्कार से इन्द्रियों का संयम करना पड़े, लोकविभूति का सर्वथा-परित्याग करना पड़े, उस मार्ग की जटिलता तो सहजसिद्ध ही है। अब प्रश्न रह जाता है—केवल श्रेष्ठता, एवं सामान्यभाव का। कर्म्मवाद का यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि-जिस वस्तु से हम अधिक भय करते हैं, वह वस्तु हमें अधिक डराती है। एवं जिससे हम भय नहीं करते, वही वस्तु हमारे मैत्रीपूर्ण सहयोग से कालान्तर मे हमारा अभयस्थान बन जाती है। मनोविज्ञान-सिद्धान्त भी इसी तथ्य का समर्थक है।

८—मात्रास्पर्शभावो की तितिक्षा, और अभयभाव—

नगर में रहने वाले धनिक सान्तपनवायु (लू) से भयत्रस्त रहते हैं। प्रतिक्षण उससे बचते रहते हैं। परिणाम इसका यह होता है कि, उनका शरीर इस आक्रमण को सहने में असमर्थ होता हुआ शक्तिशून्य बन जाता है। सान्तपन का प्रवाह भी नहीं रोका जासकता, साथ ही शरीर को भी वसुधानकोश (डिब्बी) में बन्द करके नहीं रक्खा जासकता। उधर ग्राम में रहने वाला एक कृषक पानी-धूप-जाड़ा-आदि सब कुछ सहता हुआ भी हमारी अपेक्षा स्वस्थ है। उस ने प्रकृति के इन मात्रास्पर्शों में तितिक्षा (सहने की शक्ति) उत्पन्न करली है। यह तितिक्षाभाव ही उसे निर्भय बनाने में समर्थ हुआ है।

९—विविध दोषाक्रान्त ज्ञानमार्ग की जटिलता, और उस की अवरकक्षानुगति—

तितिक्षाभाव रखते हुए आत्मा को निष्कामबुद्धि से कर्म्म में प्रवृत्त रहने दो। आत्मधर्म्म भी सुरक्षित रहेंगे, इन्द्रिय-धर्म्म भी सुरक्षित रहेंगे, लोकसंग्रह भी प्रतिष्ठित रहेगा, एवं बिना क्लेश के इस कर्म्मयोग से सब कुछ बन जायगा। उधर कायक्लेश का साम्राज्य, लोकसंग्रह का अभाव, मानस संकल्प से अधिक बन्धन की सम्भावना, विषयजातमूलिका द्वेषासक्ति का प्रभाव, भयपरम्पराओं का आक्रमण, आदि आदि अनेक दोषों से युक्त ज्ञानयोग आवश्य ही अवरकक्षा का पात्र रह जायगा।

ज्ञानयोग में भी अनेक विप्रतिपत्तियाँ, कर्म्मयोग भी जटिलता से शून्य नहीं, इसी विषमा समस्या को समन्वित करने के लिए भारतवर्ष में तीसरे **भक्तियोग** का जन्म हुआ।

१०--ज्ञान--कर्म्मो--भयात्मक 'भक्तियोग' का संस्मरण—

'भक्तियोग' में ज्ञान-कर्म्म, दोनों का समत्व रक्खा गया। कुछ ज्ञान का भाग लिया गया, कुछ कर्म्म का भाग लिया गया, दोनों भागों से समन्वित यह योग **"भक्तियोग"** कहलाया। सब कर्म्म किए, अव्ययज्ञान को लक्ष्य में रक्खा, काम शारीरक आत्माने किया, इच्छा प्रत्यगात्मा की मानी गई। जो कुछ किया, निष्कामभाव से, ईश्वरार्पणबुद्धि से। यही भक्तियोग कहलाया। **'ईश्वरानन्यत्व'** ही इसका रहस्य कहलाया, जैसा—कि प्रथमखण्डान्तर्गत **"गीता का बुद्धियोग"** नामक प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

११–'भक्तियोग' का सहज लक्षण—

ज्ञान पारलौकिक पदार्थ बनता हुआ आधिदैविक है, कर्म्म ऐहलौकिक पदार्थ बनता हुआ आधिभौतिक है। भक्तिकाण्ड में आधिदैविक ज्ञान साध्य है, एवं आधिभौतिक कर्म्म साधन है, अतएव इसका लक्षण निम्नलिखित माना गया—

"जिस मार्ग में साधन आधिभौतिक हों, साध्य आधिदैविक हों, दोनों की समष्टि-रूप वही मार्ग भक्तिमार्ग है।"

१२–'भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः' का संस्मरण, और भक्तियोग की श्रेष्ठता—

कर्म्म–मार्ग साध्य–साधन–रूप से उभयथा आधिभौतिक बनता हुआ केवल ऐहलौकिक था। ज्ञान-मार्ग साध्य-साधन-रूप से उभयथा आधिदैविक बनता हुआ पारलौकिक था। एक में कर्म्मासक्ति थी, दूसरे में ज्ञानासक्ति थी। अतएव अंशात्मना दोनों योग विषम थे। इधर भक्तिमार्ग में आधिदैविक ज्ञान, तथा आधिभौतिक कर्म्म, दोनों का समावेश है, अतएव यहाँ समता की प्रधानता है। न ज्ञानासक्ति है, न द्वेषासक्ति है। अतएव यह योग राग–द्वेष-विरहित वैराग्यबुद्धियोग के समधरातल पर प्रतिष्ठित होता हुआ वैराग्यबुद्धियोगनिष्ठ भगवान् का प्रिय योग बन रहा है—"भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः"।

१३–ज्ञान, कर्म्म, भक्ति, आत्मा, ब्रह्म, आदि भावों का संस्मरण, एवं गीताभूमिका के विभिन्न परीक्षा–खण्डों का समन्वय—

निष्कर्ष यही हुआ कि, **ज्ञान-कर्म्म-भक्ति**, तीनों में ज्ञान-कर्म्म एक श्रेणि की वस्तु है, एवं भक्ति दूसरी श्रेणि की वस्तु है। यह क्योंकि वैराग्यबुद्धियोग की अनुयायिनी है, अतएव **भक्तियोग**, और **बुद्धियोग**, इन दोनों को हमने एक श्रेणि में प्रतिष्ठित मान लिया है। पाठकों को स्मरण होगा कि, हमने ज्ञानयोगपरीक्षाप्रकरण के आरम्भ में यह कहा था कि—"यद्यपि प्रचलित क्रमानुसार कर्म्म के अनन्तर भक्ति का ही निरूपण आवश्यकता था, परन्तु किसी कारणविशेष से ही कर्म्मयोगानन्तर भक्ति का निरूपण न कर पहिले हमें ज्ञानयोग का ही विवेचन करना पड़ा है।" वह विशेषकारण भक्ति के उक्त स्वरूप से स्पष्ट होजाता है। चारों निष्ठाओं में ज्ञान-कर्म्म एक श्रेणि में रहने योग्य हैं, एवं भक्ति, तथा बुद्धि, दोनों एक श्रेणि में रहने योग्य हैं। इसी आधार पर इस परीक्षाखण्ड के भी दो विभाग करना आवश्यक समझा गया है। **ज्ञान–कर्म्म–भक्ति–बुद्धि**, ये चारों योग आत्मा के लिए विहित हैं। ऐसी दशा में सबसे पहिले आत्मा का स्वरूप जानना आवश्यक होजाता है। इसी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए सर्वप्रथम **दर्शन**, एवं **विज्ञान**–दृष्टि से **'आत्मपरीक्षा'** की गई। **दर्शन का ज्ञान से सम्बन्ध है, एवं विज्ञान का कर्म्म से सम्बन्ध है**। फलतः यह जानने की जिज्ञासा हुई कि, ज्ञान नामक **'ब्रह्म'** क्या है, विज्ञान नामक–**'कर्म्म'** का क्या स्वरूप है, एवं **ब्रह्म–कर्म्म** का परस्पर क्या सम्बन्ध है?। इसी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए आत्मपरीक्षा के अनन्तर **ब्रह्म–कर्म्म की परीक्षा की गई**। ब्रह्म का ज्ञानयोग से सम्बन्ध है, एवं कर्म्म का कर्म्मयोग से सम्बन्ध है। इन दोनों के स्वरूप परिचय के लिए **'ज्ञान–कर्म्मयोग की परीक्षा'** आवश्यक प्रतीत हुई। प्रचलित दृष्टि के अनुसार यद्यपि ज्ञानयोग ऊँची श्रेणि में प्रतिष्ठित है, एवं कर्म्मयोग अवरकक्षा

SANSKRIT VIDYA P

में। इस दृष्टि से ज्ञानयोग का ही पहिले विचार होना चाहिए था। परन्तु गीता की दृष्टि में (**तयोस्तु कर्म्म-संन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते**) दोनों में ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्म्मयोग ही विशेष है। इसी विशेषता को लक्ष्य में रखकर पहिले कर्म्मयोगपरीक्षा की गई, अनन्तर ज्ञानयोग की मीमांसा की गई। ज्ञान-कर्म्म-मय आत्मा, आत्मा के ब्रह्म-कर्म्म, नामक दोनों अवयव, ब्रह्मसम्बन्धी ज्ञानयोग, कर्म्मसम्बन्धी कर्म्मयोग, ये चारों हीं ब्रह्म-कर्म्म विभूति से आप्रान्त है। अतएव **आत्मपरीक्षा, ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा, कर्म्मयोगपरीक्षा, ज्ञान-योगपरीक्षा** इन चारों की समष्टि का एक स्वतन्त्र खण्ड माना गया। '**भक्तियोग**' यद्यपि प्राचीनों के मतानुसार कर्म्मयोग से पीछे की, एवं ज्ञानयोग से पहिले की वस्तु बनता हुआ मध्यमश्रेणि की वस्तु है। परन्तु ज्ञानकर्म्म-समन्वय के कारण गीता की दृष्टि में भक्तियोग ज्ञानापेक्षया विशेष, एवं कर्म्मयोग की अपेक्षा से भी उत्तम बनता हुआ ज्ञान-कर्म्मयोग-मर्य्यादा से बहिर्भूत है। अतएव इसे स्वतन्त्र माना गया। बुद्धियोग इसका अनुग्राहक है, **बुद्धियोगपरीक्षा ही गीतासारपरीक्षा है**। इसी दृष्टि से **भक्तियोगपरीक्षा, बुद्धियोगपरीक्षा, गीतासारपरीक्षा**, इन तीनों प्रकरणों का एक स्वतन्त्र खण्ड माना गया है। यह प्रकरण प्रधानरूप से भक्तिकाण्ड की परीक्षा करने के लिए ही प्रवृत्त होरहा है। इस मूल प्रस्तावना से हमें बतलाना केवल यही है, लोक-प्रचलित जिन तीन निष्ठाओं का भगवान्ने गीता में संशोधन किया है, उन तीनों में ज्ञानयोग अवरकक्षा में, कर्म्मयोग इसकी अपेक्षा विशेष, एवं भक्तियोग इसकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। दोनों की अपेक्षा यह सरल मार्ग है। राजमार्ग है। इसीलिए गीता में यह ऐश्वर्य्यलक्षण भक्तियोग '**राजयोग**' नाम से व्यवहृत हुआ है। परन्तु गीता के बुद्धि का मार्ग तो राजमार्ग से भी श्रेष्ठ **राजर्षिमार्ग** है। अतएव यह आराध्ययोग "**राजर्षियोग**" नाम से प्रसिद्ध है, जैसाकि पाठक आगे के प्रकरण में देखेंगे।

इति किञ्चिदिव प्रास्ताविकम्

१

श्रीः

इति—भक्तियोगपरीक्षायां—पूर्वखण्डं—

किञ्चिदिव-प्रास्ताविकमुपरतम्

१

श्री

अथ-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—

योगत्रयी का मौलिक विचार

२

श्री

२—योगत्रयी का मौलिक विचार

१—मौलिकतत्त्वान्वेषण की उपयोगिता का समन्वय, एवं प्रकृतिसम्मता जीवनपद्धति का अभ्युदय-निःश्रेयस्-भाव-प्रवर्त्तकत्त्व—

जबतक किसी मौलिक तत्त्व का अन्वेषण नहीं कर लिया जाता, तबतक उस की उपयोगिता, अनुपयोगिता के सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्णय नहीं किया जासकता। एवं बिना ऐसे मौलिक निर्णय के केवल अन्धश्रद्धा से अपनाए हुए भाव एक वैज्ञानिक की दृष्टि से कभी अभ्युदय, (ऐहलौकिक सुख), किंवा निःश्रेयस् (पारलौकिक आनन्द) के प्रवर्त्तक नहीं बन सकते। साथ ही उन्हीं वैज्ञानिकों का (महर्षियों का) यह भी कहना है कि, जो कर्म्म, जो ज्ञान, जो भक्ति, अथवा जो कुछ इतर भाव प्रकृति से सम्बन्ध नहीं रखते, जिनका सम्बन्ध एकमात्र मनुष्य की कल्पना से ही है, वे भाव (कहने भर के लिए) कुछ समय के लिए भूतदृष्टि से उपयोगी सिद्ध होते हुए भी कभी स्थायी अभ्युदय के कारण नहीं बन सकते। कारण स्पष्ट है। हम उस प्रकृति के ही एक पर्व हैं। प्रकृति ही विकृतावस्थापन्न हम प्राणियों की जन्मदात्री है। प्रकृति ही हमारा पालन-पोषण (रक्षण) करती है। अन्त में हम उसी के क्रोड़ में सदा के लिए विश्राम कर लेते हैं। प्रभव-प्रतिष्ठा-एकायतनरूपा ऐसी प्रकृति की उपेक्षा कर हम किसी भी दृष्टि से सुखी नहीं रह सकते।

२—सच्चिदानन्दघन आत्मा का अंशभूत मानवीय भूतात्मा, एवं भूतात्मा की कामत्रयी का संस्मरण—

प्रकृति देवी से नित्य समन्वित व्यापक आत्मानन्द ही हमारा आत्मा है। हम उस आनन्दघन के ही एक विस्फुलिंग (चिनगारी) हैं। हम उसी चिद्घन के चित्कण हैं। उस सत्ताघन से ही हमारी स्वल्पसत्ता प्रतिष्ठित है। **आनन्द-चित्-सत्तात्मक** सच्चिदानन्द के अंशभूत जीवात्मा का इसके अतिरिक्त और क्या पुरुषार्थ होसकता है कि, वह नित्य सुखी रहै, उसमें ज्ञान (चित्) का पूर्ण विकास रहै, एवं वह अस्ति-लक्षण भौतिकवर्ग से पूर्ण ऐश्वर्य्यशाली बना रहै। **आनन्दकामना** भी स्वाभाविक है, **ज्ञानकामना** भी स्वाभाविक है, एवं **ऐश्वर्य्यकामना** भी स्वाभाविक ही है। स्वाभाविकी कामनात्रयी की पूर्ति के लिए प्रत्येक मनुष्य सतत प्रयास करता रहता है। परन्तु यह निर्विवाद है कि, जबतक अपनी इस वह स्वाभाविक कामना के मूल में स्वभाव (प्रकृति) को प्रतिष्ठित नहीं कर देता, तबतक उसकी कोई सी भी कामना सफल नहीं होती। आत्मकामना का **मूलद्वार** प्रकृति ही है। प्रकृति से वेष्टित आत्मा ही अज * होता हुआ भी जन्म धारण

---

* **अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।**
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ (**गी०** ४।६।)॥

कर लेता है। सम्पूर्ण विश्व का अध्यक्ष आत्मा प्रकृति को आगे कर के ही चराचर के प्रसव का कारण बनता है*।

३—जड़भूतवादियों का सुस्वागत, एवं प्रकृति की आराधाना की सर्वव्यापकता—

जड़वादियों का स्वागत करते हुए थोड़ी देर के लिए **'आत्मा'** नाम के पदार्थ को हम छोड़ भी देते हैं, तब भी प्रकृतिवाद की मौलिकता का तिरस्कार नहीं किया जासकता। विशुद्ध प्रकृतिवादियों (जड़वादियों) को भी यह मान लेने में तो कोई आपत्ति न होगी कि—मनुष्य प्रकृति के अनुकूल चलता हुआ ही सुखी रह सकता है। यदि कड़ाके के जाड़े में कोई मनुष्य बिना वस्त्रों के इधर उधर फिरेगा, तो प्रकृति के दण्ड से वह कभी न बच सकेगा। ग्रीष्मर्तु में तूलवस्त्रों का अनुयायी हठवादी अपना स्वास्थ्य बिगाड़ लेगा। जब बीसवीं सदी का जड़विज्ञान भी पद पद पर प्रकृतिवाद की घोषणा करता है, तो हमें कहना पड़ेगा कि, शास्त्रीय, एवं लौकिक, दोनों हीं दृष्टियों से यह सिद्ध है कि, मूलप्रकृति के अनुकूल चलने वाले **ज्ञान-कर्म्म-भक्ति** ही हमारे लिए उपयोगी हैं। एवं प्रकृतिविरुद्ध सर्वथा कल्पित तीनों योग नाश के कारण बनते हुए अयोग ही हैं, जैसा कि पूर्व के **ज्ञानयोगप्रकरण** में तीनों कल्पित (अशास्त्रीय) अयोगात्मक योगों का दिग्दर्शन कराया जाचुका है।

४—प्रकृतिमूला योगत्रयी का आचारपक्ष, और वर्णाश्रम--व्यवस्थानुगत भारतीय--मानव से अनुप्राणिता योगत्रयी—

प्रकृतिवाद के सम्मुख उपस्थित होते ही विश्वव्याप्ति के भाव हमारे सम्मुख आजाते हैं। प्रकृतिसिद्धा व्यवस्था की व्याप्ति सम्पूर्ण त्रैलोक्य में माननी पड़ती है। ऐसी दशा में यह प्रश्न स्वतः एव प्रादुर्भूत हो-जाता है कि, "यदि तीनों हीं योग प्रकृतिसिद्ध हैं, तो फिर इनका एकमात्र भारतवर्ष ही क्यों अन्यतम दायाद-भोक्ता बन गया ?। क्यों इनके सम्बन्ध में अधिकार की अर्गला लगाई गई ?, क्यों नहीं सर्वत्र—समानरूप से ये योग विकसित हुए ?। जो समाधान प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्यव्यवस्था के सम्बन्ध में हुआ था, वही समाधान इस प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी के लिए पर्य्याप्त है। अवश्य ही चारों वर्णों की भाँति तीनों योग भी प्रकृतिसिद्ध ही हैं, एवं अवश्य ही वर्णों की भाँति ये भी चर-अचर सब पदार्थों में व्याप्त हैं। यह सब कुछ होने पर भी आगे जाकर ये तीनों योग उसी प्रकार भारतवर्ष ही प्रातिस्विक वस्तु बन गए हैं, जैसे कि प्रकृतिसिद्ध वर्ण, एवं आश्रमव्यवस्था आगे जागर किसी कारण—विशेष से एकमात्र भारतवर्ष की ही वस्तु बन गई है। हाँ, तो सबसे पहिले हमें उस प्रकृति का ही विचार करना चाहिए, जो इन तीनों योगों की मूलप्रतिष्ठा बनी हुई है।

५—प्रकृतिवाद का प्रचण्ड उद्घोष, तदनुप्राणित 'नेचर' का महान् व्यामोहन, एवं 'प्रकृति' के परोक्ष स्वरूप से भौतिक-जगत् की तटस्थता—

सचमुच आज हम भारतवासियों के लिए यह महाशोक, एवं लज्जा की बात है कि, किसी समय

---

* मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। (गीता)

प्रकृतिक-तत्त्वज्ञान की चरम सीमा पर पहुँचने का गर्व करने वाले भी हमने आज प्रकृति को एक परिहास की ही सामग्री बना डाली है। पद पद पर आज हम प्रकृति की घोषणा करते हैं, परन्तु काम सब प्रकृति के विरुद्ध ही करते हैं। जिसे देखो वही आज प्रकृति का पूरा पण्डित बना हुआ है। "यह काम नेचर के ख़िलाफ़ है"—"यह सब केवल आडम्बर है"—"मनुष्यता का तकाजा है कि, वह इन नेचर के ख़िलाफ कामों से परहेज़ करे" ऐसे ऐसे आदर्श वाक्यों का उपयोग किया जाता है एकमात्र भारतीय ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योगों के सम्बन्ध में। क्या हम उन प्रकृतिभक्तों से यह पूछने कि धृष्टता कर सकते है कि, श्रीमन्! खाते, पीते, उठते, बैठते, चलते, फिरते अहर्निश जिस नेचर के आप गुणगान करते रहते हैं, क्या कभी स्वप्न में भी उस नेचर का स्वरूप जानने के लिए आपकी ओर से कोई प्रयास हुआ है?। प्रकृतितत्त्व क्या है?, प्रकृति कब, कैसे, कहाँ, क्या उत्पन्न करती है?, क्या इन प्रश्नों की आपने कभी मीमांसा करने का कष्ट उठाया है?। किस युग में प्रकृति का कैसा स्वरूप हो जाता है?, देश-काल-पात्र-द्रव्य आदि के तारतम्य से एक ही प्रकृति के कैसे-कैसे विविध रूप होजाते हैं?, क्या कभी आपने इस सम्बन्ध में कोई निर्णय प्रकट करने का अनुग्रह किया है?। यदि हाँ, तो जानने की जिज्ञासा है। भूले हुए भारतीय महर्षि, उनकी रचनाएँ (शास्त्र), एवं तदनुगामी हमारे जैसे आर्थोडाक्स भारतीय आप का उपकार मानेंगे। यदि नहीं, तो फिर आप को अपनी जिज्ञासा के लिए उन्हीं भारतीय ऋषियों की शरण में आना पड़ेगा। परन्तु ध्यान रखिए! आप की यह शरणागति भक्तिभाव को प्रधान मान कर ही सफल होसकेगी। यदि आपकी भावना दूषित है, यदि पहिले से ही आपने—"हम जो कुछ जानते, एवं करते हैं, वह बावन तोला पाव रत्ती है, प्रकृति सिद्ध है" इस अभिनिवेश (दुराग्रह-हठधर्म्मी) का अनुगमन करते हुए श्रद्धाभक्ती भक्ति का परित्याग कर अपने आप को अभक्त बना रक्खा है, तो तत्काल आपके सामने भगवान् कृष्ण का "**नाभक्ताय कदाचन**" यह आदेश उपस्थित होजायगा। एवं उस समय आपको निराश होकर ही लौटना पड़ेगा। यदि भक्तिमूला जिज्ञासा है, तो आपका यहाँ हृदय से अभिनन्दन है। फलस्वरूप प्रकृति का निम्नलिखित तात्त्विक स्वरूप आपके सामने उपस्थित है।

६—ऋषिप्रज्ञानुगत शब्दविन्यास, एवं तन्मूला तात्त्विकी-शब्दनिर्वचन-प्रणाली का संस्मरण—

आर्ष महर्षियों के परिमार्जित, दोषरहित, अतएव सर्वथा प्रामाणिक ज्ञानवैभव का सबसे बड़ा चमत्कार है—उनका शब्दविन्यास। उन्होंने जिस तत्त्व के स्पष्टीकरण के लिए जो शब्द कहे हैं, उन शब्दों में हीं वह तत्त्व निगूढ है। यदि तत्तत् तत्त्व प्रतिपादक तत्तत् शब्दों का ही हम निर्वचनदृष्टि से अन्वेषण करने लग पड़ते हैं, तो वे शब्द ही उन तत्त्वों का स्वरूप स्पष्ट कर देते हैं। **शब्दब्रह्म का सम्यक् परिज्ञान हीं तत्त्व-लक्षण परब्रह्म के ज्ञान के लिए पर्य्याप्त है**। जो तत्त्व विश्व का मूल कारण है—उसके लिए ऋषि-सम्प्रदाय में **प्रकृति, प्रधान, नियति, अव्यक्त, अक्षर, अमृत, कारण, सेतु, भूतभावन, स्रष्टा, अन्तर्य्यामी, परा, सूत्र**, इत्यादि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। प्रकृत में इन सभी शब्दों का तो निर्वचन नहीं किया जासकता। उदाहरण के लिए तीन चार शब्दों का निर्वचन हीं पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जारहा है।

७—'प्रकृति' शब्द के 'प्र', और 'कृति' भाव, प्रकृतिमूलक 'दैवात्' शब्द, एवं तत्सम्बन्ध में विविध भ्रान्तियाँ—

पहिले 'प्रकृति' शब्द को ही लीजिए। 'कृति' शब्द का अर्थ सर्वविदित है। "यह अमुक व्यक्ति की कृति (कार्य्य-रचना) है" यह लोकप्रसिद्ध व्यवहार ही सर्वविदितता में प्रमाण है। लोक में जितने भी जड़ चेतन पदार्थ है, उन सबको हम "कृति" कह सकते हैं। ये सब पदार्थ कार्य्यरूप हैं। कार्य्य बिना कारण के सर्वथा अनुपपन्न है, यह भी निःसंदिग्ध सिद्धान्त है। हाँ, उस कारण का हमें ज्ञान न हो, यह दूसरी बात है। उसी अज्ञात कारण के लिए संस्कृत-साहित्य में "दैवात्" शब्द प्रचलित है। प्रकृतितन्त्र के संचालक, प्रकृतिरूप रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-मात्राओं से अतीत सूक्ष्म तत्त्व ही "प्राण" नाम से प्रसिद्ध है। इन सूक्ष्म प्राणों की ऋषि-पितर-देव-गन्धर्व-असुर आदि अनेक जातियाँ हैं। इन्हीं प्राणों के समन्वय-तारतम्य से सृष्टि में विविध प्रकार के परिवर्त्तन हुआ करते हैं। इन प्राणदेवताओं का व्यापार हमारे चर्म्मचक्षु से परे की वस्तु है। किस प्राणदेवता के किस व्यापार मे भूकम्प होगया ?, यह हम अपनी आँखों से नहीं देख सकते। देवता के द्वारा होने वाला कृतिरूप भूकम्प अवश्य ही हमारी दृष्टि का विषय बन रहा है। परन्तु जिस प्राणात्मक (देवात्मक) कारण से इस कृति का जन्म हुआ है, वह कारण हमारी ज्ञान-सीमा से बाहिर है। परन्तु हम इस सम्बन्ध में भी यह अवश्य ही कह सकते हैं कि, दैववश (प्राणदेवता के द्वारा) ही ऐसा हुआ है। कितने ही भारतीय विद्वान् दैवात् का अर्थ "यों ही" किया करते हैं। इस "यों ही" से यह ध्वनि निकलती है कि, कारण कुछ न था, 'अकस्मात' ऐसा होपड़ा। परन्तु विज्ञान-दृष्टि से यह ध्वनि अशुद्ध है। कार्य्यकारणमय विश्व में कोई भी परिवर्त्तन 'यों ही' नहीं होजाया करता। अवश्य ही प्रत्येक कार्य्य का कारण होता है। ज्ञातदशा में हम उस कारण का स्थूलरूपों से अभिनय करने में समर्थ होजाते हैं। किन्तु अज्ञातदशा में दैववाद को उपस्थित कर देते हैं। यद्यपि ज्ञात-अज्ञात, दोनों ही कारण प्रकृतिरूप बनते हुए दैवात्मक हैं। परन्तु ज्ञातदशा में देवप्राण के आधार स्थूलभूत बन जाते हैं, अतः वहाँ देवशब्द का व्यवहार न होकर स्थूलभूत का व्यवहार होने लगता है। किन्तु अज्ञातदशा में विशुद्ध देवव्यवहार प्रधान बन जाता है। इसी अर्थ को व्यक्त करने वाला हमारा "दैवात्" शब्द है। दैवात् का अर्थ "यों ही" कैसे बन गया?, इसमें भारतीयों का अपना कोई दोष नहीं है। अपितु यह संसर्ग की कृपा का ही फल है। प्रत्येक कार्य्य में कारण ढूँढने का अभिमान करने वाले पश्चिमी विद्वान, एवं तदनुयायी उच्छिष्ट-भोगी भारतीय विद्वान् कभी कभी अपने श्रीमुख से "बाइचान्स" शब्द का उच्चारण कर दिया करते हैं। उनकी दृष्टि में हीं बाइचान्स का "यों ही" अर्थ है। वे इस पवित्र शब्द का उपयोग कब करते हैं ?, यह भी एक उदाहरण से देख लीजिए।

८—संस्कृतज्ञ विज्ञानों की 'अकस्मात्' मूला 'दैवात्' शब्द निबन्धना महती भ्रान्ति, एवं तन्निराकरण-प्रयास—

शकुनशास्त्रवेत्ताओं का कहना है कि, यदि कोई व्यक्ति शुभ कार्य्य के लिए अपने घर से निकलता है, और मार्ग में मार्ज्जार (बिल्ली) मार्ग काट देती है, तो उसे वापस लौट आना चाहिए। यदि वह व्यक्ति हठ करके चला जायगा, तो उसका अनिष्ट होजायगा। ऐसे हठवादी का उक्त आज्ञा न मानने से

कोई अनिष्ट होजाता है। उस समय आस्तिक कहता है कि, लो, तुमने शास्त्र की आज्ञा नहीं मानी, इसलिए तुम्हारी यह दशा हुई। तत्काल बाइचान्सवादी कह उठता है कि, "अजी जाने भी दो, इन बातों में क्या रक्खा है। कहीं बिल्ली लाँघने से भी अनिष्ट हुआ है। यह तो "बाइचान्स" ऐसा होगया है। तर्क इस सम्बन्ध में यह उपस्थित किया जाता है कि, जो इन अड़ँगों को नहीं मानते, उनका हम कोई भी अनिष्ट नहीं देखते। साथ ही मानने वालों में से भी कितने एक ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि, वे बिल्ली लाँघ जाते है, परन्तु उनका कुछ भी तो अनिष्ट नहीं होता"। केवल इसी तर्कवाद के आधार पर आज इन महानुभावों की ओर से भारतीय शकुनशास्त्र को निर्म्मूल बनाने की चेष्टा की जारही है। वे यह भूल जाते हैं कि, भारतीय शास्त्र 'भारतीय शास्त्र' है, प्रकृतिशास्त्र है, दिव्यभावमूलक अतीन्द्रियशास्त्र है। वह भौतिक इष्ट अनिष्ट को ही इष्ट-अनिष्ट नहीं मानता। अपितु इसके साथ वह ब्रह्मगत देवानिष्ट-इष्टता को ही विशेष महत्त्व देता है। यदि एकमात्र उदरपरायणता ही इनका इष्ट होता, साथ ही केवल शारीरिक–हानि हीं अनिष्ट होता, तो अवश्य ही ऐसे अवसरों पर उनका बाइचांस शब्द प्रयुक्त होसकता था। कार्य्यकारणवादी एक वैज्ञानिक की दृष्टि में "यों ही" ध्वनि से सम्बन्ध रखने वाले बाइचान्स शब्द का कोई मूल्य नहीं है। इसी निर्मूल–भाव ने संस्कृतज्ञ विद्वानों को भी "दैवात्" के अर्थ में आज भ्रान्त बना दिया है।

९—कृति की प्रागवस्था, और 'प्रकृति' शब्द--समन्वय—

अस्तु, प्रकृत में वक्तव्य यही कि, 'कार्य्य' नाम से प्रसिद्ध 'कृतिमात्र' का कोई न कोई कारण अवश्य रहता है। कारण की उत्तरावस्था ही कार्य्य, किंवा कृति है। मिट्टी की उत्तरावस्था ही तो घट है। शुक्र, शोणित की उत्तरावस्था ही तो सन्तान है। उत्तरावस्थारूपा कृति की प्रथमावस्था ही तो कारण है। कृति की यह प्रथमावस्था ही "प्र—कृति—कृतेः प्रागवस्था, पूर्वावस्था, प्रथमावस्था वा" इस निर्वचन के अनुसार 'प्रकृति' है।

१०–'प्रकृति' शब्दानुगता एक समस्या, और उसका निराकरण—

इस सम्बन्ध में आप प्रश्न करेंगे कि, यदि कारण को ही प्रकृति कहा जाता है, तो उसे प्रकृति न कहकर केवल "प्र" इस एकाक्षर शब्द से ही व्यवहृत करना चाहिए था। कृति शब्द तो उत्तर अवस्था का सूचक है, एवं अभीष्ट है केवल कृति की पूर्वावस्था का अभिनय। फिर उसे "प्र" न कहकर "प्रकृति" क्यों कहा गया?। प्रकृति का अर्थ होगा—कारणयुक्ता कृति। हम वह नाम चाहते हैं, जो कि केवल कृति के प्राग्भाव का ही सूचक हो?। स्वयं 'प्रकृति' शब्द ही इस विप्रतिपत्ति का भी निराकरण कर रहा है।

११–कार्य्यभावात्मक 'कृति' शब्द, कारणभावात्मक 'प्र' शब्द, और कार्य्य–कारण–रूपा–'प्रकृति' का समन्वय —

हमें कृति की पूर्वावस्था का विचार करना है। उस पूर्वावस्था का, जिसका विश्वरचना में उपयोग होरहा है। विश्वदशा में वह प्रकृति, किंवा आपके कथानुसार "प्र" भाव बिना कृति के सर्वथा अनुपन्न है। विश्वावच्छिन्न 'प्र' भाव (कारण) क्षणमात्र के लिए भी कृति से बाहिर नहीं है। यदि 'प्र' में से 'कृति'

निकाल दी जाती है, तो वह 'प्र' विश्वसीमा से बाहिर निकलता हुआ 'कृतिभाव' से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करता हुआ, अतएव अपनी कारणमर्य्यादा से भी वञ्चित होता हुआ 'प्र' भी नहीं रहता। 'प्र' तभी तक 'प्र' है, जबतक कि उसके साथ 'कृति' का सम्बन्ध है। 'कारण' शब्द 'कार्य्य' की नित्य अपेक्षा रखता है। 'कारण' शब्द के सुनते ही किस का कारण ?, यह जानने की अपेक्षा होती है। **कार्य्यगर्भित कारण हीं कारण है**। कृति की अपेक्षा ही तो कारण का 'प्र' भाव सुरक्षित है। इसी रहस्य को, इसी नित्य कार्य्यकारणभाव को सूचित करने के लिए इसे केवल 'प्र' न कहकर 'प्रकृति' शब्द से सम्बोधित करना उचित समझा गया है।

१२-प्रकृतिवाचक--'प्रधान' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय—

दूसरा '**प्रधान**' शब्द है। 'प्रकृति' शब्द कृति की पूर्वावस्था का सूचक था, एवं 'प्रधान' शब्द कृति की उत्तरावस्था का द्योतक है। अथवा यों समझिए, प्रकृति शब्द कारण की उत्पादकशक्ति का सूचक है, एवं प्रधान शब्द कारण की प्रतिष्ठा का सूचक है। दूध से मलाई उत्पन्न होती है, इस दृष्टि से दूध को मलाई की प्रकृति अवश्य कहा जा सकता है। परन्तु मलाई को आप दुग्धधरातल से पृथक् भी निकाल सकते हैं। अतएव दूधको '**प्रधान**' नहीं कहा जासकता। प्रधान उसी प्रकृति को कहा जायगा, जोकि कार्य्य की प्रतिष्ठा भी होगा। उत्पन्न कार्य्य उत्पादक से कभी पृथक् न हो, ऐसा अभिन्नसत्तात्मक उत्पादक ही "**प्रधत्ते**" इस निर्वचन से '**प्रधान**' कहलाएगा। '**धान**' शब्द से भी काम चल सकता था, परन्तु इससे लक्षण अतिव्याप्त बन-जाता। वस्त्रों को हमने धारण कर रक्खा है, अतः "**धत्ते**" के अनुसार शरीर भी '**धान**' है। परन्तु शरीर, और वस्त्रों की सत्ता एक नहीं है। अतएव इसे वस्त्रों का '**प्रधान**' नहीं कहा जासकता। कृति की पूर्वावस्था--रूप 'प्र' ही अभिन्नसत्तालक्षण 'प्र' है। अतः वही '**प्रधान**' कहा जाता है। कार्य्य को कभी न छोड़ना हीं 'प्र' का प्रकृष्टत्व है। '**प्रधान**' का 'प्र'-भाव इसी प्रकृष्टता का सूचक है।

१३-प्रकृतिवाचक-'कारण' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

तीसरा '**कारण**' शब्द है। यह शब्द कारण की कर्तृत्वशक्ति का अभिव्यञ्जक बन रहा है। शुक्र उत्पादक अवश्य है, सन्तान की प्रकृति अवश्य है। परन्तु इसे कारण नहीं माना जासकता। कारण तो पिता ही माना जायगा। शुक्र बिना पिता के व्यापार के कभी शोणिताग्नि में आहुत नहीं होसकता। उधर प्रकृति उत्पादिका होने के साथ-साथ अपनी कार्तृत्व-शक्ति से कारण भी बनी हुई है। '**उत्पादयति**' के साथ '**करोति**' भाव का भी समावेश है। उत्पादक शुक्र जैसे अपनी उत्पादकशक्ति को कार्य्य में परिणत करने के लिए अन्य कारण (पिता के गतिभाव) की अपेक्षा रखता है, वैसे प्रधानलक्षणा प्रकृति को अपनी उत्पादकशक्तिको व्यवहार में लाने के लिए अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रहती। यह स्वयं ही उत्पादिका (प्रकृति) है, स्वयं ही कर्त्री (कारण) है। अतएव "**करोति**" इस निर्वचन से इसे कारण कहा जाता है।

१४-प्रकृतिवाचक-'बीज' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

चौथा शब्द "**बीज**" है। बीज शब्द "**विजायते**" का सूचक है। "**विशेषेण विविधं वा जायते**" ही '**बीजम्**' है। "**अन्येषामपि**" (पा० ६।३।१३७) से दीर्घ होजाने पर '**विज**' ही '**बीजम्**' है। **व**-कार

'व'-कार के अभेद से 'योजम्' ही 'बीजम्' है। जायते, और विजायते में अन्तर है। **नियतोत्पत्ति का जायते से सम्बन्ध है, एवं सर्वोत्पत्ति का विजायते से सम्बन्ध है।** मानवी-स्त्री से केवल मनुष्यविधा प्रजा-ही उत्पन्न होसकती है। इसी नियतभाव के कारण इसे केवल "**जम्**" ही कहा जायगा। परन्तु प्रकृति के गर्भ से यच्चयावत् पदार्थ उत्पन्न होते हैं। परस्पर अत्यन्त विरुद्ध सभी विविध भाव इसी से उत्पन्न हुए है, अतएव इसे '**विजम्**' किंवा '**बीजम्**' कहा जाता है। प्रकृतिविशिष्ट प्रजापति ही '**विजायते**' का अधिष्ठाता है, जैसाकि—"**अन्तरजायमानो बहुधा विजायते**" इत्यादि--मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। '**बीज**' शब्द इसी भावका समर्थक है।

१५-प्रकृतिवाचक-'निदान' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

पाँचवाँ "**निदान**" शब्द है। यह शब्द आत्मसमर्पण का ही सूचक है। प्रकृति अपनी कृति के लिए अपने आपका (सत्ता) का दान कर देती है। पिता प्रदान से पुत्रकृति का कारण बनता है। परन्तु यह भिन्नसत्ताक-कार्य्यकारणभाव-सम्बन्ध है। पिता न रहै, तो पुत्र का कुछ नही बिगड़ता, एवं पुत्र न रहै, तो पितृस्वरूप की कोई हानि नहीं होती। परन्तु यहाँ ऐसा नहीं है। यहाँ अभिमसत्ताक-कार्य्यकारणभाव है। मिट्टी घटकृति के लिए आत्मसमर्पण किए हुए है। बिना मिट्टी को लिए घट की रक्षा ही नहीं होसकती। यही आत्मसमर्पणलक्षण निःशेषदान है इसी अभिप्राय से-'**नितरां दीयते**' इस निर्वचन से इसे '**निदान**' कहा जाता है। यह '**नितरांदान**' मूलकारणसत्ता से ही सम्बन्ध रखता है, अतएव '**आदिकारण**' को भी निदान कहा जाता है—"**निदानं त्वादिकारणम्**"।

१६-प्रकृतिवाचक-'अव्यक्त' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

'**अव्यक्त**' शब्द प्रकृति की अतीन्द्रियता का सूचक है। लौकिक-कारणों का हम चर्म्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष कर सकते हैं। परन्तु लोक--कारणरूपा प्रकृति को हम देखनें में असमर्थ हैं। उसका कृतिरूप, किंवा फलरूप ही हमारे सामने आता है। कारणदशा सदा अव्यक्त (अप्रकट--अतीन्द्रिय) ही है। इसी आधार पर महाभारतकारने अव्यक्तानुयायी विद्वानों के कार्य्य-कारणरूप कार्य्य को भी '**अव्यक्त**' ही बतलाया है। विद्वान् क्या कर रहा है ?, इसका किसी को पता नहीं, और पता लगना भी नहीं चाहिए। विद्वान् के कर्त्तव्य का फलरूप जो '**कृतिभाग**' है, उसे ही लोक जानता है, एवं जाने। अव्यक्तमूला ऐसी कर्त्तव्यपरायणता ही वास्तविक-कर्त्तव्यता है।

१७-प्रकृतिवाचक-'अक्षर' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

'**अक्षर**' शब्द नित्यकारणतावाद का सूचक है। यदि दूध से आप मलाई बनाते चले जायँगे, तो कुछ समय में ही सारा दूध मलाई बन जायगा, दूध का मूलोच्छेद होजायगा। परन्तु यहाँ का कार्य्यकारणभाव ऐसा नहीं है। प्रकृति से ऐसे ऐसे अनन्त महाविश्व उत्पन्न होगए, परन्तु ऊर्णनाभि की भाँति उसके प्रारम्भिक स्वरूप में अणुमात्र भी कमी न हुई—"**एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्**"। इसी अविकृतपरिणामभाव से नित्यपुरुष की वह नित्या प्रकृति "**अक्षर**" (**क्षीण न होने वाली**) नाम से प्रसिद्ध है।

१८—प्रकृतिवाचक 'सेतु' शब्द का संस्मरण—

प्रकृति के इस ओर वैकारिक जगत् है, उस ओर निर्विकार पुरुष है, मध्य में सेतु—स्थानीया प्रकृति है। प्रकृति को इधर झुका दीजिए, बन्धन है, उधर ले जाइए, मुक्ति है प्रकृतितत्त्व के इस मध्य स्थान को व्यक्त करने के लिए ही इसे "सेतु" कहा जाता है।

१९—प्रकृतिवाचक—'नियति' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

सबसे महान् पूर्ण नाम है 'नियति'। इस नाम को हम इसलिए महत्त्वपूर्ण कहेंगे कि—इस नाम की व्याप्ति का हम प्रत्यक्ष में अनुभव कर रहे हैं। "नितरां यच्छति" ही 'नियति' शब्द का निर्वचन है। प्रकृति का प्रकृतित्व इस नियतिभाव पर ही निर्भर है, जैसा कि—"प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यसि" इत्यादि गीता सिद्धान्त से भी स्पष्ट है। प्रकृति का शासनसूत्र अटल है। उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। जो भी उल्लंघन करता है, वह अपना स्वरूप ही खो बैठता है। उसका नियन्त्रण सर्वथा नियत है। वह नियमपूर्वक ही सब का नियमन किए हुए है, अतएव कोशकार ने नियति को ही नियम भी मान लिया है।

२०—महातन्त्रायी तन्त्रेश्वर, और उसका शासनतन्त्र—

राजा स्वयं शासन नहीं करता, स्वयं दण्डविधान नहीं करता। अपितु राजा का नियम (कानून) ही शासन करता है। राजा स्वयं अपने राष्ट्र में चंक्रमण नहीं करता। अपितु-उसका शासनसूत्र ही सर्वत्र व्याप्त रहता है। महातन्त्राणी तन्त्रेश्वर स्वयं ईश्वरप्रजापति (अव्यय) विश्व का सञ्चालन नहीं करता, प्राधानिक मतानुसार वह तो पुष्करपलाशवत् निर्लेप है। शासन करता है उसका नियम, और उसी नियम सूत्र का नाम है "नियतिर्दण्ड"। वही नियतिर्दण्ड प्रकृति नाम से प्रसिद्ध है—"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्"।

२१—महाभयात्मक नियतिर्दण्ड, और आधिकारिक जीव—

क्या आप समझते हैं कि, सूर्य्य—चन्द्रमा—पृथिवी—ग्रह—उपग्रह आदि अपनी स्वतन्त्र इच्छा से अपना अपना कार्य्य कर रहे हैं? नहीं, इनकी तो कोई स्वतन्त्र इच्छा है ही—नहीं। ये सब आधिकारिक जीव हैं। प्रकृति के द्वारा सब अपने अपने कर्म्म में नियत हैं। क्या साहस कि, कभी सूर्य्य बृहतीभिन्दु को छोड़ दे। अथवा पृथिवी क्रान्तिवृत्त का परित्याग करदे। सबके मस्तक पर वह प्रकृति—दण्ड विराजमान है। उसी महाभयरूप महावज्र के संचालन से सब सञ्चालित हैं—

भीषास्माद्वातीदेति भीषोदेति सूर्य्यः।
भीषादग्निश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

२२—भयावह मनुष्यप्राणी, और तद्द्वारा विश्वशान्ति का विकम्पन—

यदि 'मनुष्य' नाम का भयावह प्राणी संसार में न होता, तो कभी विश्व में अशान्ति न होती। कभी प्रकृति का शासन शिथिल न होता। कभी छल—कपट-दम्भ को अवसर न मिलता। कोई

प्राणी दुःखी न होता। परन्तु ईश्वरप्रजापति के समकक्ष रहने का गर्व रखने वाले पुरुष, किन्तु पशु नाम के प्राणी ने सब कुछ चौपट कर डाला। उस पुरुष (अव्यय) ज्ञान की अधिक मात्रा के गर्व में आकर इसने प्रकृति के नियन्त्रण की उपेक्षा कर, अपने साथ साथ अपने बन्धु इतर प्राणियों को, न केवल प्राणियों को ही, अपितु मेघ-आतप आदि इतर पदार्थों को भी दुष्ट कर डाला। एक पापी के बैठने से सारी नौका ही डूब गई। समय पर वृष्टि न होना, अतिवृष्टि होना, भूकम्प होना, महामारी में जनविनाश होना, परस्पर लड़-भिड़ कर राष्ट्र के अभ्युदय का नाश-कर डालना, इन सब अशान्तियों का एकमात्र मनुष्यजाति पर ही उत्तरदायित्व है। उसी ने स्वर्गसम संसार को नरक बनाया है। और यही यदि थोड़ी सी सुबुद्धि से काम ले, तो आज भी यह इसे पुनः स्वर्ग ही, स्वर्ग का काननवन ही बना सकता है।

२३--मानव के प्रज्ञापराध से प्रकृति का विकम्पन, एवं तद्द्वारा वैकारिक-विश्व का विकम्पन—

प्रवृत्तितत्त्ववेत्ता वैज्ञानिकों का कहना है कि, प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले पदार्थों के साथ प्रकृति का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। प्रकृति अपने अंशरूप वैकारिक पदार्थों पर अपना पूर्ण शासन रखती है। परन्तु इसका शासन मनुष्य में व्यर्थ होजाता है। कारण इसका यही है कि, जिस पुरुष की ज्ञान-क्रिया-अर्थ—शक्ति को लेकर प्रकृति स्वजनित वैकारिक पदार्थों का नियन्त्रण करने में समर्थ होती है, वही-शक्ति औरों की अपेक्षा, स्वयं प्रकृति की भी अपेक्षा मनुष्य में अधिक मात्रा से आजाती है। क्यों आजाती है ?, यह प्रश्न अचिन्त्य है। आजाती है, यह निश्चित है, और उसी का विचार प्रस्तुत है—"स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया"। इसी शक्तिवैशिष्ट्य के कारण मनुष्य ईश्वर के समकक्ष मान लिया गया। ईश्वरीय बल को लेकर प्रकृति जैसे कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ बन रही है, एवमेव उसी बल के समधरातल पर, समधरातल पर ही क्यों, विशेष धरातल पर आके मनुष्य भी कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ बन जाता है। अपने इसी ज्ञानातिमान में आकर यह प्रकृतितन्त्र का विरोधी बन जाता है। दूसरे शब्दों में कुछ समय के लिए सबका शासन करने वाली प्रकृति पर भी यह अपना अधिकार प्रतिष्ठित कर लेता है। संसार को प्रकृतिविरुद्ध कर्म्मों की ओर आकर्षित करने लग पड़ता है। प्रकृति का नियन्त्रण शिथिल होजाता है। परिणाम-स्वरूप प्राकृतिक विश्व के क्षेत्र के साथ साथ वैकारिक जगत् भी अशान्त होजाता है।

२४-प्रकृति--विकृति--के विकम्पन से ईश्वरपुरुष का विकम्पन, उसका मानवरूपसे अवतरण, एवं तद्द्वारा धर्म्मग्लानि की उपशान्ति—

ऋषि कहते हैं कि, ऋषि-पितर-देवता-पशु आदि आदि कोई भी प्राणात्मिका प्रजा प्रकृतितन्त्र का उल्लंघन नहीं करती। एकमात्र मनुष्य ही इसका अतिक्रमण कर जाता है-"मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति" (शतपथ ब्राह्मण)। परिणाम जो-कुछ हुआ, और होगा, वह संसार को भोगना पड़ा, एवं आज भी भोगना पड़ रहा है। जैसा कि कहा गया है, प्रकृतितन्त्र का स्वजनित वैकारिक तन्त्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। मनुष्य के कुकर्म्म से वैकारिक जगत् अशान्त होजाता है। धर्म्म-लक्षण प्राकृतिक नियन्त्रण शिथिल होजाता है। दूसरे शब्दो में-विकृतिभाव से नित्यसंश्लिष्टा प्रकृति भी विकृतिक्षोभ से क्षुब्ध होजाती है। फलतः प्रकृति

के स्वाभाविक नियम कुछ समय के लिए विपरीत होजाते हैं। न समय पर वृष्टि होती, न वर्चस्वी ब्राह्मण उत्पन्न होते, न महारथी क्षत्रिय जन्म लेते। दुष्काल–अकाल–विविध प्रकार के भयङ्कर रोग–अर्थहानि–प्रजाविनाश–राष्ट्रविप्लव–अधर्म्माचरण, आदि बीभत्सरूप सामने उपस्थित होजाते हैं। मूर्च्छितप्राया प्रकृति गिरती पड़ती भी स्थिति को सँभालने की चेष्टा करती रहती है। परन्तु मनुष्यों का प्रकृतिविरुद्ध आचरण जब सीमा का अतिक्रमण कर जाता है, तो—प्रकृति का रहा सहा बल भी सर्वथा अन्तर्म्मुख होजाता है। उस समय शान्ति का नामशेष भी नहीं रहता। सर्वत्र त्राहि ! त्राहि ! का ही आर्त्तनाद गूँजने लगता है। प्रकृति के साथ पुरुषदेवता नित्य विराजमान है। मनुष्य के कुकर्म्म से विकृतिमण्डल जब अछूता न रहा, विकृतिक्षेत्र से जब प्रकृति अपने आप को न बचा सकी, तो प्रकृति से सम्बद्ध पुरुष इस आक्रमण से कैसे बच सकता है ?। फलतः प्राकृतिक क्षेत्र का आक्रमण उस तन्त्रायी पर भी जापहुँचता है। बस वहाँ पहुँचने भर की देर है, फिर सब काम परिसमाप्त है। जड़ प्रकृति पर अवश्य ही मनुष्य ने बलात्कार कर डाला, और कुछ अंशों में शुम्भ–निशुम्भ–रावण–कंसादि की भाँति इसने अपने प्रयोगों को सफल भी बना डाला। परन्तु जब उस अश्मान्वण (पत्थर की अभेद्य चट्टान) से इसका सामना हुआ, तो इसका सम्पूर्ण गर्व नष्ट होगया। लोकहितैषी नारदादि महर्षि—ऐसे भीषण अवसरों पर वे ही उपाय करते हैं, जिनसे कि प्रकृति का रहा–सहा बल भी अत्याचारों की वृद्धि से नष्ट होजाय, और उसका प्रभाव उस तटस्थ प्रजापति पर पड़े।

२५–भगवान् के 'अवतार' का पावन–संस्मरण—

सर्वज्ञान–कर्म्म–अर्थबन चिदात्मा पर जब प्राकृत क्षेत्र का आक्रमण होता है, तो स्वभाव से ही समत्वयोग का अनुयायी वह अव्ययपुरुष समताभाव की रक्षा के लिए प्रकृति में अपना अंशबल डालता है। वही अंशबल प्रकृति के द्वारा धरातल पर मानवशरीर में सूर्य्य–चन्द्रादि आधिकारिक जीवों की भाँति अवतीर्ण होता है। सजातीयाकर्षण— सिद्धान्त के अनुसार जबतक मनुष्य मनुष्य का पथप्रदर्शक नहीं बनता, तबतक वह सन्मार्ग पर नहीं आता। साथ ही पथप्रदर्शक उस मनुष्य का कर्म्माश्वत्थ से सम्बन्ध न होकर ब्रह्माश्वत्थ से सम्बन्ध रहना चाहिए। क्योंकि ब्रह्माश्वत्थिक जीव ही साम–दाम–दण्ड–भेद में सफल होता हुआ दूषित मानववृत्ति का निरोध करसकता है। **वही ब्रह्माश्वत्थात्मक जीव "अवतार" नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृतितन्त्रलक्षण धर्म्म की ग्लानि को शान्त करना, साधुवर्ग की रक्षा करना, असाधुओं को शिक्षा देना,** ये ही अवतारपुरुष के कुछ एक मुख्य उद्देश्य हैं। उद्देश्यपूर्त्ति के अनन्तर वह पुनः अपने लीलाधाम में लीलासंवरण कर जाता है। अस्तु, इन सब विषयों का वैज्ञानिक विवेचन **श्रीकृष्णतत्त्वनिरूपणात्मक प्रथमकाण्ड** में गतार्थ है। अतः इस चर्चा को यहीं उपरित कर प्रकृत विषय की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

२६–'स्वधर्म्म' का तात्त्विक समन्वय—

आंशिकरूप से मनुष्यप्राणी को अपवाद मानते हुए, परमार्थतस्तु इसे भी अपवाद न मानते हुए हमें यह निर्णय कर लेना पड़ता है कि, प्रकृति के नियन्त्रण से सम्पूर्ण त्रैलोक्य, त्रैलोक्य में रहने वाली चर अचर प्रजा, सब कुछ नियन्त्रित है। प्राकृतिक इच्छा का विरोधी, मानस इच्छा का अनुयायी मनुष्य भी कुछ एक नियन्त्रणों से बाहिर नहीं निकल सकता। प्रकृति का वह नियन्त्रण ही ऋषिसम्प्रदाय में "धर्म्म" शब्द से व्यवहृत हुआ है। सब पदार्थ इस स्व–स्व–धर्म्म से नित्य नियन्त्रित हैं।

२७--प्रकृति के नियत कार्य्य--कारण--भाव, और 'नियति' शब्द का तात्त्विक--निर्वचन--

प्रकृति स्वस्वरूप से क्रियाप्रधान, किंवा प्राणप्रधान बनती हुई यद्यपि जड़ है, तथापि क्योंकि यह उस चिदात्मा के ज्ञानप्रकाश से नित्य युक्त रहती है, अतएव उसका सम्पूर्ण नियन्त्रण ज्ञानपूर्वक ही होता है। वृक्षों का विन्यास, पत्तों की काट--छाँट, पुष्पों का यथानुरूप स्वरूप, फलों का व्यवस्थित आकार, पर्वतों का आकार--सन्निवेश, पानी का निम्नगमन, वायु का तिर्यग् गमन, अग्नि का ऊर्ध्वगमन, हरिणशृङ्गों का समतुलित संस्थान, पक्षियों का आकार सन्निवेश, ये सब एक सुव्यवस्थित शिल्प (कारीगर) से युक्त हैं। मानना पड़ता है कि, कोई चतुर शिल्पी ज्ञानपूर्वक बड़ी सावधानी से नियमशः इन पदार्थों का निर्म्माण कर रहा है। यही इस प्रकृति का नियतिभाव, किंवा नियमभाव है। एवं यह परिष्कृत शिल्प ही प्रकृतिदेवी के साक्षात् दर्शन हैं।

२८--संसरणशीला 'प्रकृति', तन्निबन्धना नियति, और प्रकृतिमूलक संसरणशील विश्व--

यह तो हुआ प्रकृतितत्त्व का, किंवा नियतितत्त्व का दार्शनिक स्वरूप। अब संक्षेप से इसके वैज्ञानिक स्वरूप का भी विचार कीजिए। 'कारण' को हमनें 'प्रकृति' कहा है। यहाँ 'कारण' शब्द से 'निमित्त--कारण' ही अभिप्रेत है। जिसप्रकार घट के प्रति कुम्भकार निमित्तकारण है, एवं मिट्टी उपादानकारण है, एवमेव विश्वरूप कार्य्य के प्रति भी दो कारण अपेक्षित है। इनमें जो निमित्तकारण होगा, उसे ही हम "मूलप्रकृति" कहेंगे। यही 'आदिकारण' कहलाएगा। इस आदिकारणलक्षणा, निमित्तकारणात्मिका प्रकृति का मौलिक स्वरूप है--"गतितत्त्व"। क्रियाभाव का ही नाम गति है। एवं गति ही मूलप्रकृति है। नित्य-कुर्वद्रूपता ही इस कारण का नित्य संसरण है। सम्यक् संसरण--(गमन)-शीला प्रकृति ही विश्व का मूल है, अतएव इसे "संसार" (संसरणशील विश्व) कहा जाता है। कृतिभाव का वाचक स्वयं संसार शब्द ही अपनी मूलप्रकृति के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर रहा है।

२९--गतिमूला प्रकृति, और उसके 'स्थिति-गति--आगति' नामक तीन प्रमुख विवर्त्त--

यह गतितत्त्व आगे जाकर पाँच स्वरूपों में परिणत होजाता है। केन्द्र से पृष्ठ की ओर जो गति होती है, उसे "गति" कहा जाता है। पृष्ठ से केन्द्र की ओर जो गति होती है, उसे "आगति" कहा जाता है। गति गमन है, आगति आगमन है। आना, और जाना, दोनों स्वरूप सर्वविदित हैं। आगतिलक्षणा-गति आदान (लेना) भाव की अधिष्ठात्री है, एवं गतिलक्षणा गति विसर्ग (देना) भाव की अधिष्ठात्री है। आदान--विसर्ग में प्रतिक्षण स्पर्द्धा होती रहती है। एवं यही स्पर्द्धा पदार्थों के जीवन का मुख्य हेतु है। विरुद्धदिग्द्वयगति का समन्वय ही "स्थिति" है। स्थितिभाव गति से पृथक् तत्त्व नहीं है। अपितु गतिसमुच्चय का नाम ही स्थिति है। गतिभाव का समष्टिलक्षण स्थितिरूप यह तीसरा विवर्त्त ही आदान--विसर्ग--लक्षण आगति-गति--भावों की प्रतिष्ठा बनता है। स्थिति--गति--आगति, तीनों एक ही गतितत्त्व के तीन विवर्त्त हैं।

३०--गतितत्त्व के पाँच महिमा--विवर्त्त, एवं तन्मूलक 'अन्तर्य्यामी', और 'सूत्रात्मा' का संस्मरण--

गति को स्थिति के गर्भ में प्रतिष्ठित कर दीजिए, स्थितिगर्भिता गति नामक एक चौथा विवर्त्त और प्रकट हो जायगा। इसी प्रकार आगति को स्थिति के गर्भ में प्रतिष्ठित कर देने से स्थितिगर्भिता--

आगति नामक पाँचवाँ भाव प्रकट होजायगा। इन पाँच से अतिरिक्त गतितत्त्व का ६ ठा विवर्त्त आपको न मिलेगा। **उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण** आदि--आदि जितने भी गतिभाव हैं, वे सब इन्हीं पाँचों में अन्तर्भूत हैं। इन पाँचों में **स्थिति--आगति--गति**, इन तीनों का एक विभाग है, एवं इतर दोनों का एक-विभाग है। इस भागद्वयी के कारण हैं **अन्तर्जगत्**, और **बहिर्जगत्**। गतित्रयी का पदार्थ के अन्तर्जगत्--लक्षण हृदयभाव से सम्बन्ध है, एवं गतिद्वयी का पदार्थ के बहिर्जगत्--लक्षण पिण्डभाव से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, पिण्डभाव की रक्षा गतिद्वयी पर निर्भर है, एवं हृदय-भाव गतित्रयी के आधार पर प्रतिष्ठित है। क्योंकि पाँचों भाव एक की ही पाँच अवस्था हैं, अतएव इन पाँचों को हम उस एक की ही पाँच कला कहेंगे, एवं उसे पञ्चकल एक तत्त्व कहेंगे। वही एक तत्त्व, जिसकी कि पाँच कला हैं, **'प्रकृति'** नाम से प्रसिद्ध है। उसी के गतित्रयीलक्षण प्रथम विभाग, एवं गतिद्वयीलक्षण द्वितीय विभाग विज्ञानभाषा में क्रमशः **'अन्तर्य्यामी'**, एवं **'सूत्रात्मा'** नाम से प्रसिद्ध हैं।

३१--अन्तर्य्यामी का स्वरूप-परिचय, एवं ब्रह्मा -विष्णु--इन्द्र--नामक तीनों देवताओं का तात्त्विक--स्वरूप--समन्वय—

अन्तर्य्यामी का अर्थ है "भीतर (केन्द्र) बैठा हुआ बहिर्मण्डल का नियमन करने वाला"। **"अन्तः-तिष्ठन् सन् नियमयति सर्वान् भावान्"** ही प्रकृत शब्द का निर्वचन है। वह अन्तर्य्यामी वही हमारी गतित्रयी है। गतिसमष्टिलक्षण स्थिति--भाव **"ब्रह्मा"** कहलाता है। इसीने आगति--गति के द्वारा वस्तुस्वरूप को धारण कर रक्खा है। प्रतिष्ठा की विच्युति ही नाश का मूल कारण है, एवं प्रतिष्ठा की रक्षा ही वस्तु की रक्षा है। इसीलिए **"बिभर्त्ति"** इस निर्वचन से इस स्थितिभाव को **"ब्रह्मा"** कहा जाता है। **"ब्रह्म वै-सर्वस्य प्रतिष्ठा"** इत्यादि श्रुति भी इसी ब्रह्मभाव का समर्थन कर रही है। स्थितिलक्षण ब्रह्मा के आधार पर प्रतिष्ठित आदानलक्षण आगति-तत्त्व ही **"विष्णु"** है। ये यज्ञके द्वारा वस्तु का पालन करते हैं। किसी में किसी की आहुति होना हीं यज्ञ है। दो पदार्थों का रासायनिक संयोग ही यजन है, यजन ही यज्ञ है, यज्ञ ही जीवन का कारण है। विष्णुलक्षणा आदानशक्ति से ही बाहिर से पदार्थ आ आकर इस पदार्थ में आहुत होते रहते हैं। यही शक्ति अशनाया (भूख) की जननी है। इसी अशनाया शक्ति से आकर्षित अन्न वस्तु के अग्नि में आहुत होता रहता है। आदानलक्षण यज्ञ के अधिष्ठाता आगतिरूप विष्णु हैं, अतएव विष्णु **"यज्ञ"** शब्द से भी व्यवहृत कर दिया जाता है। जिसप्रकार केन्द्रस्था आदानशक्ति अपनी आकर्षणशक्ति से निरन्तर कुछ लिया करती है, एवमेव केन्द्रस्था विसर्गशक्ति अपनी विक्षेपणशक्ति से निरन्तर पदार्थों के अंशों को बाहिर निकाला करती है। यदि विशुद्ध आदान ही होता रहे, तो आदानक्रम आगे जाकर अवरुद्ध होजाय, फलतः पदार्थ सीमा से बाहिर जाता हुआ अपना स्वरूप ही खो बैठे। अतः आदान के साथ विसर्ग भी नित्य अपेक्षित है। दूसरे शब्दों में--यह भी कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी कि, जिसप्रकार आदानलक्षण विष्णु स्थिति-लक्षण ब्रह्मा की प्रतिष्ठा है, एवमेव विसर्गलक्षण इन्द्र देवता विष्णु की प्रतिष्ठा है। विसर्ग ही आदान का कारण है। जबतक विसर्ग है, तभी तक आदान है। त्याग में हीं वैभव का आगमन सुरक्षित है। त्याग ही वस्तु के विकास का कारण है। विकास ही ज्योति है। ज्योति ही वस्तु का

इद्धभाव है। इसी इद्धभाव के कारण विकासलक्षण गतिभाव "य ईन्धे" इस निर्वचन से "इन्ध" नाम से प्रसिद्ध है। 'इन्ध' ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में "इन्द्र" नाम से प्रसिद्ध है। स्थितिलक्षण ब्रह्मा, आगातिलक्षण विष्णु, एवं गतिलक्षण इन्द्र, तीनों एक ही गति के तीन विवर्त्त हैं"—"एका मूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः।

३२--नियतिःस्वरूप अन्तर्य्यामी के द्वारा विश्व का सञ्चालन, एवं केन्द्रस्थ अन्तर्य्यामी के द्वारा विश्व का नियन्त्रण—

तीनों की समष्टि ही "अन्तर्य्यामी" है। हमारा मानस ज्ञान, और बौद्ध ज्ञान, दोनों इसके परिज्ञान में असमर्थ है। शरीरसंस्था में कौन-धातु कैसे कब बन कर कहाँ प्रतिष्ठित होकर क्या काम करता रहता है ?, यह हम नहीं जानते, नहीं जान सकते। कारण यही है कि, ज्ञानेन्द्रियों का रुख बाहिर की ओर है। मन इनका अनुगामी बना रहता है। मनोऽगता बुद्धि भी बहिर्मुखा ही बनी रहती है। यदि किसी उपाय से हम इन्द्रिय-संयम के द्वारा मन-बुद्धि को अन्तर्मुख बनालें, तो अवश्य ही अन्तर्य्यामी की उस नियति के दर्शन कर सकते हैं। यच्चयावत् पदार्थों के केन्द्र में प्रतिष्ठित वह अन्तर्य्यामी सबका सञ्चालन कर रहा है। वह सब जानता है, उसके नियन्त्रण को कोई नहीं जानता। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख वाजि-श्रुति कहती है—

"यः पृथिव्यां, अप्सु, अग्नौ, आकाशे, वायौ, आदित्ये, चन्द्रतारके, दिक्षु, विद्युति, स्तनयित्नौ, सर्वेषु लोकेषु, सर्वेषु वेदेषु, सर्वेषु यज्ञेषु, सर्वेषु भूतेषु, प्राणे, वाचि, चक्षुषि, श्रोत्रे, मनसि, त्वचि, तेजसि तमसि, रेतसि, आत्मनि तिष्ठन् पृथिव्या-अद्भ्य० अन्तरः, यं पृथिवी-आपः० न विदुः, यस्य पृथिवी-आपः० शरीरं, यः पृथिवी-अपः० अन्तरो यमयति, स तऽआत्मा-- 'अन्तर्य्यामी"-अमृतः"।

---शत० १४। ६। ७।

३३--अन्तर्य्यामी मूलक 'हृदय', 'गर्ह', और 'गर्भ' शब्दों का तात्त्विक--समन्वय, एवं उस की अजायमानता—

अन्तर्य्यामी हृदय में प्रतिष्ठित रहता है। क्योंकि अन्तर्य्यामी हृदय में प्रतिष्ठित रहता है, अतएव इसका यह प्रतिष्ठास्थान "हृदयम्" नाम से व्यवहृत हुआ है। आकाशात्मक, अतएव 'शून्य' नाम से प्रसिद्ध असीम आयतन ही "हृदय" है। स्तोक-प्रुषत्-द्रप्स-हृदय नाम की चार बिन्दुओं में हृदयबिन्दु असीम बनती हुई सर्वथा निराकार है। इसी आधार पर पदार्थ का ग्रहण है। अतएव "गृह्णाति" इस व्युत्पत्ति से इसे "गर्ह" कहा जाता है। * छन्दोभाषा के नियमानुसार हकार के स्थान में भकार प्रयुक्त होता है। अतः "गर्ह" को वहाँ "गर्भ" कहा जाता है। "प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा

* "हृग्रहोर्भश्छन्दसि" (पा० सूत्र)।

विजायते" के अनुसार हृदयलक्षण अन्तर्य्यामी प्रजापति गर्भ में हीं प्रतिष्ठित हैं। वह स्वयं नित्य है, परन्तु उसी से सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च का विकास हुआ है।

३४--'ह्' रूप विष्णु, 'द' रूप इन्द्र, 'यम्' रूप ब्रह्मा, एवं हृदय में प्रतिष्ठित ह्--द्--य--रूप--अन्तर्य्यामी—

आदानशक्ति ही आहरण है, "ह्" शब्द इसी का सूचक है। विसर्गशक्ति ही त्यागन है, "द्" इसी का सूचक है। दोनों का नियमन करने वाली स्थिति ही "यम्" है। 'ह्' नामक विष्णु, 'द्' नामक इन्द्र, 'यम्' नामक ब्रह्मा की समष्टि ही "ह्-द्-यम्" है। ह्-द्-य नामक तीनों भाव हृदय में प्रतिष्ठित होते हुए सबका यथानुरूप सञ्चालन कर रहे हैं। किस का ?, शेष दोनों गतिभाव इसी प्रश्न का समाधान करते हैं। स्थितिगर्भिता आगति सोम है, एवं स्थितिगर्भिता गति अग्नि है। इन्द्र अपनी शक्ति से प्राणाग्नि को बाहिर निकाला करते हैं, एवं विष्णु अपनी शक्ति से वाक् सोम को भीतर लिया करते हैं। दोनों में परस्पर स्पर्द्धा चलती रहती है। इन्हीं की स्पर्द्धा के तारतम्य से अवस्थाओं में परिवर्त्तन हुआ करता है। विष्णु की प्रधानता में पुष्टि है, इन्द्राविष्णु की समानता में समता है, एवं इन्द्रकी प्रधानता में ह्रास है। विशुद्ध इन्द्रके साम्राज्य में विनाश है। ब्रह्मा जन्मभाव के, विष्णु स्थितिभाव के, एवं इन्द्र भंगभाव के अधिष्ठाता हैं। विश्व अग्नीषोमात्मक है, विश्वात्मा अन्तर्य्यामी ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्रमूर्त्ति है। पाँचों की समष्टि पञ्चकल अक्षर है। अक्षर ही नियति है। नियति ही प्रकृति है। जबतक नियति ठीक है, तबतक शान्ति है। नियति बिगड़ गई, सब कुछ बिगड़ गया। जिसकी नियति में अन्तर आगया, उसका विनाश निश्चित है।

३५--पञ्चविध अक्षर की एकाक्षरता, अक्षररूपा प्रकृति, एवं तन्मूलक विश्वप्रपञ्च का समन्वय--

आदान विसर्ग के अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं, आदान करने वाले विष्णु हैं, विसर्ग करने वाले इन्द्र—हैं। विष्णु के द्वारा आदान होता है--सोम का। इन्द्र के द्वारा विसर्ग होता है अग्नि का। इन पाँचों को "समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते" इस न्याय के अनुसार स्वतन्त्ररूप से पाँच अक्षर भी माने जाते हैं, जैसा कि "यदक्षरं पञ्चविधं समेति युजो युक्ता अभि यत् संवहन्ति" इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। पाँचों में ब्रह्मा विष्णु इन्द्र, तीनों की समष्टि अन्तर्य्यामी है, अग्नीषोम की समष्टि सूत्रात्मा है। अन्तर्य्यामी हृदयराज्य के शासक हैं, सूत्रात्मा पिण्डजगत् के स्वरूप--संवाहक हैं। वाहक इसलिए कहा जाता है कि, अक्षररूप अग्नीषोम विश्व के उपादान न बनकर केवल निमित्त बनते हैं। उपादान तो मन्वक्षर ही बनता है। दूसरी दृष्टि से ब्रह्मा का एक स्वतन्त्र विभाग है, इन्द्राविष्णु दोनों सयुक् हैं, एवं अग्नीषोम दोनों सयुक् हैं, जैसा कि "ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा"—*"इन्द्रस्य युज्यः सखा"—"तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः" इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है।

---

* पाठकों को यह भी स्मरण दिलाया जाता है कि, कृष्ण विष्णु के अवतार थे, एवं अर्जुन इन्द्र के अवतार थे। अतएव इनमें परस्पर सख्यभाव रहा, जैसा कि कृष्णतत्त्वनिरूपण में विस्तार प्रतिपादित है।

३६--'नियति'--लक्षणा प्रकृति का 'हेतुभाव', तदनुबन्धिनी 'नियतिचर्य्या', और 'नियतिचर' ब्रह्म--

पञ्चकल अक्षरतत्त्व प्राणप्रधान बनता हुआ गतिप्रधान है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। इसी गतिभाव के कारण इस अक्षरप्रकृति को "हेतु" कहा जाता है। "हिनोति-व्याप्नोति कार्य्यात्मकं विश्वम्" यही इसका निर्वचन है। गत्यर्थक "हि" धातु (स्वा० प० अ०) से ही-"कमिमनि" (उ० १ । ७३) इत्यादि सूत्र से 'तुन्' प्रत्यय के द्वारा 'हेतु' शब्द निष्पन्न हुआ है। यही प्रकृति नियमशः सब को अपनी चर्य्या में सुरक्षित रखती है। सम्पूर्ण विश्व समष्टि, एवं व्यष्टिरूप से उभयथा 'नियतिचर्य्या' से नित्य आक्रान्त है। नियति की-चर्य्या (आचरण-शासन) में विचरण करता हुआ प्रत्येक पदार्थ "नियतिचर" है। उन प्रकृतिवादियों की "नेचर" का प्रत्युत्तर यही "नियतिचर" शब्द है।

अक्षरः शास्ता---प्रकृतिः

१—स्थितिः (गतिसमष्टिः)—	ब्रह्मा (अ)	—ब्रह्मा	—अन्तर्यामी हृद्यः
२—आगतिः (अर्वाग्गतिः)—	विष्णुः (इ)	—इन्द्राविष्णू	
३—गतिः (परागगतिः)—	इन्द्रः (उ)		
४—स्थितिगर्भिता आगतिः (सङ्कोचः)—	सोमः (लृ)	—अग्नीषोमौ	—सूत्रात्मा पृष्ठ्यः
५—स्थितिगर्भिता गतिः (विकासः)—	अग्निः (ऋ)		

३७ -पुरुष--प्रकृति--प्रकृतिविकृति--रूप अमृत--ब्रह्म--शुक्र--नामक तीन विवर्त्तों का संस्मरण--

उक्त पाँचों प्रकृतियों से, किंवा एक ही प्रकृति के पाँच अवयवों से क्रमशः प्राण-आपः-वाक्-अन्न-अन्नाद इन पाँच क्षरकलाओं का विकास होता है। यही पञ्चकल क्षर विश्व का उपादानकारण बनता है। अक्षरप्रकृति की अपेक्षा यह विकृति है, एवं वैकारिक विश्व की अपेक्षा इसे प्रकृति भी माना जासकता है। अतएव प्राधानिक शास्त्र में महदादियुक्त यह व्यक्तक्षरप्रकृति "प्रकृतिविकृति" नाम से प्रसिद्ध है। सम्पूर्ण विश्व विशुद्ध वैकारिक है। सर्वातीत पुरुष न प्रकृति है, न विकृति है। इस दृष्टि से हम इस जाल को पुरुष, प्रकृति ,विकृति (प्रकृतिविकृति), इन तीन भागों मे विभक्त कर सकते हैं। पुरुष अव्ययनाम से, प्रकृति अक्षर नाम से, एवं विकृति क्षर नामसे प्रसिद्ध है। इन्हीं तीनों को विज्ञानभाषा में अमृतम्-ब्रह्म-शुक्रम्-कहा जाता है।

३८--मनःप्राणवाङ्मय कर्म्मात्मरूप अव्ययात्मा, मनोमय अव्यय की त्रिवद्रूपता, और तदनुबन्धी ज्ञानयोग--

एक ही पुरुषतत्त्व के ये तीन भाग कैसे हो गए ?, इसका उत्तर उसी अव्ययपुरुष से पूँछिए। समाधान होजायगा। पञ्चकल अव्यय पुरुष का मनः-प्राण-वाग्रूप भाग 'कर्म्मात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। कर्म्मात्मा की तीन कलाएँ हीं इस त्रिविवर्त्त का कारण बनतीं हैं। मनस्त्वेन वही अव्यय है, प्राणत्त्वेन वही अक्षर है, एवं वाग्रूप से वही क्षर है। अव्यय की ये तीनों कलाएँ त्रिवृद्भावापन्ना हैं, जैसा कि ईशभाष्यान्तर्गत—"मनः-प्राण-वाक् के त्रिवृद्भाव की व्यापकता" नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपित है। मन में भी मनः-प्राण-वाक्-तीनों हैं, मन की प्रधानता है। क्योंकि मन ज्ञानप्रधान है, अतएव इस त्रिवत् मनोविवर्त्त को 'ज्ञानमण्डल' ही कहा जायगा। इसका अधिष्ठाता स्वयं अव्ययपुरुष होगा। अव्यय का मन तो ज्ञानप्रधान होगा ही, साथ ही उसका कर्म्मरूप प्राण, और अर्थरूप वाग्भाग भी ज्ञानप्रधान ही होगा—"यस्य ज्ञानमयं तपः"।

३९—प्राणमय अक्षर की त्रिवृद्रूपता, औ तदनुबन्धी कर्म्मयोग—

प्राण में भी मनः-प्राण-वाक्, तीनों हैं, प्राण की प्रधानता है। क्योंकि प्राण कर्म्मप्रधान है, अतएव इस त्रिवृत् प्राणविवर्त्त को 'कर्म्ममण्डल' की कहा जायगा। इसका अधिष्ठाता माना जायगा अव्यय के प्राण से अनुग्रहीत अक्षर को, किंवा प्रकृति को। अक्षर का प्राणभाग तो कर्म्मप्रधान होगा ही, साथ ही उसका ज्ञानरूप मनोभाग, एवं अर्थरूप वाग्भाग भी कर्म्मप्रधान ही होगा।

४०—वाङ्मय आत्मक्षर की त्रिवृद्रूपता, और तदनुबन्धी भक्तियोग—

वाक् में भी मनः-प्राण-वाक्-तीनों हैं, वाक् की प्रधानता है। क्योंकि वाक्तत्त्व अर्थप्रधान है, अतएव इस त्रिवृत्-वाग्भाव को 'अर्थमण्डल' ही कहा जायगा। इसका अध्यक्ष बनेगा-अव्यय के वाग्भाग से अनुग्रहीत क्षर, किंवा विकृति। क्षर का वाग्भाग तो अर्थप्रधान होगा ही, साथ ही उसका ज्ञानरूप मनोभाग, एवं अर्थरूप वाग्भाग भी अर्थप्रधान ही होगा।

४१—अव्यय--अक्षर--क्षर--भावों में मध्यस्थ अक्षर की सर्वरूपता, एवं अव्यक्ता अक्षर प्रकृति की सर्वव्यापकता—

अर्थ-कर्म्म-गर्भित (वाक्-प्राण-गर्भित) ज्ञानमूर्त्ति (मनो-मूर्त्ति) अव्ययपुरुष, अर्थ-ज्ञान-गर्भिता (वाक्-मनो-गर्भिता) कर्म्ममयी (प्राणमयी), अक्षरप्रकृति, एवं ज्ञानकर्म्मगर्भिता (मनः-प्राणगर्भिता) अर्थमयी (वाङ्मयी) क्षरविकृति की समष्टि ही विश्व का आधार विश्वात्मा है। तीनों में अव्ययपुरुष आलम्बन है, अक्षरप्रकृति निमित्तकारण है, एवं क्षरविकृति उपादानकारण है। अव्ययाधार पर प्रतिष्ठित अक्षर क्षर के द्वारा सम्पूर्ण विश्व का निर्म्माण कर "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व में प्रविष्ट होकर 'विश्वात्मा' बन रहा है। यद्यपि अव्ययाक्षरक्षर की समष्टि ही विश्वात्मा है, परन्तु प्रधानता अक्षर की ही है। उसी ने उस अव्यय को विश्व में प्रविष्ट किया है, उसी ने क्षर को विश्वरूप में परिणत किया है।

अक्षर ही प्रकृति है, वही विश्वसृष्टि का मूल है। अतः हम सम्पूर्ण विश्व को केवल अव्यक्तमूलक ही मान सकते हैं, जैसा कि निम्नलिखित गीता-सिद्धान्त से स्पष्ट है—

१—अव्यक्तात् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

२—अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

३—मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्॥

४२—ज्ञानयोगाधिष्ठाता अव्यय, कर्म्मयोगधिष्ठाता अक्षर, भक्तियोगधिष्ठाता क्षर, एवं योगत्रयी का समन्वय—

मनोमय अव्ययपुरुष ज्ञानयोग का अधिष्ठाता है, प्राणमयी अक्षरप्रकृति भक्तियोग की अधिष्ठात्री है, एवं वाङ्मयी क्षरविकृति कर्म्मयोग की अधिष्ठात्री है। कारण स्पष्ट है। जैसा कि पूर्व में कई बार स्पष्ट किया जाचुका है कि, ज्ञान आधिदैविक पदार्थ है, कर्म्म आधिभौतिक पदार्थ है। ज्ञानमय मनोविवर्त्त आधिदैविक है, अर्थमय वाग्भाव आधिभौतिक है। मध्यस्थ क्रियामय प्राणविवर्त्त में उस ओर के अव्यय के ज्ञानभाग का भी सम्बन्ध है, एवं इस ओर के क्षर के अर्थभाग का भी सम्बन्ध है। अतएव आधिदैविक (ज्ञान) आधिभौतिक (अर्थ) विवर्त्त के भागों से युक्त इस प्राणमय मध्यस्थ विवर्त्त को हम अवश्य ही भक्तियोग का अधिष्ठाता मान सकते हैं।

४३—ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योगों के एकदेशी लक्षण, एवं तदाधार पर व्यापक लक्षण का अन्वेषण-प्रयास—

ज्ञान-कर्म्म-भक्ति, तीनों के प्राकृतिक लक्षण क्या?, यह भी विचारणीय विषय है। "इन्द्रिय-संयम पूर्वक आधिदैविकभाव में प्रवृत्त रहना ज्ञानयोग है, निष्कामबुद्धि से आधिभौतिकभाव में प्रवृत्त रहना कर्म्मयोग है, एवं ईश्वरार्पणबुध्या कर्म्म करना भक्तियोग है"। ये तीनों ही लक्षण एकदेशी बनते हुए प्रकृति की मर्य्यादा से बहिष्कृत हैं। यदि तीनों हीं योग नित्य हैं, सर्वव्यापक हैं, तो अवश्य ही तीनों का ऐसा लक्षण होना चाहिए, जो संसार के मनुष्यमात्र में घट जाय, न केवल ममुष्यों में हीं, अपितु चर-अचर-यच्चयावत् पदार्थों के साथ तीनों का समन्वय होजाय। उस व्यापक लक्षण के लिए हमें निम्न-लिखित श्रौत वचन का ही आश्रय लेना पड़ेगा।

यः सर्वज्ञः सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म, नामरूप, मन्नंच जायते॥

—मुण्डकोपनिषत्

४४—ब्रह्म-नामरूप-अन्न-भावात्मक तीन व्यापक योग, और योगत्रयी का समन्वय

श्रुति कहती है कि. जो सर्वज्ञ है, सर्ववित् (सर्वार्थमय) है, जिसका तप (कर्म्म) ज्ञानमय है उससे ब्रह्म-**नामरूप-अन्न,** नाम के तीन तत्त्वों का विकास होता है। त्रितत्त्व-विकासक वह तत्त्व वही आपः सुपरिचिता, दूसरे शब्दों में सर्वथा अपरिचिता प्रकृति (अक्षर) ही है। वही अव्यय के ज्ञान से मनोमयी बनती हुई सर्वज्ञा है, वही-क्षर के अर्थभाग से अर्थमयी बनती हुई सर्वार्थमयी है, एवं अपने प्राणव्यापार वही तपोमयी है। उसके तपोव्यापार से ज्ञानभाग के द्वारा नामरूप का विकास होता है, अर्थभाग से ब्रह्म का विकास होता हैं, एवं प्राणभाग से अन्न का विकास होता है। ज्ञानमय नामरूप, अर्थमय ब्रह्म, एवं कर्म्ममय अन्न हीं क्रमशः **ज्ञान-कर्म्म-भक्ति**-विवर्त्त हैं।

४५—प्रकृतिसिद्ध-सर्वव्यापक-अर्थप्रधान 'कर्म्मयोग'—

ये ही तीनों तत्त्व विज्ञानभाषा में क्रमशः **प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञ**-इन नामों से प्रसिद्ध हैं वैकारिक विश्व में अर्थप्रधान भूतयज्ञ ही ज्ञान-कर्म्म की प्रतिष्ठा बनते हैं, जैसाकि **ज्ञानयोगपरीक्षोपक्रम** में विस्तार से बतलाया जाचुका है। अर्थ ही सत्ताभाव है। सत्ता ही प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्म है। यह प्रतिष्ठालक्षण सत्ताभाव, (सोपाधिक सत्ताभाव) ही ब्रह्म है, यही प्रतिष्ठा है। यही आधिभौतिक प्रपञ्च है। यही प्रकृति-सिद्ध अर्थप्रधान कर्म्मयोग है।

४६—प्रकृतिसिद्ध-सर्वव्यापक-ज्ञानप्रधान—'ज्ञानयोग'—

प्रकाश का ही नाम ज्योति है। ज्योति ही ज्ञान है। नामरूप, इन दोनों का ही नाम भातिलक्षण ज्योति है। "हम यह जानते हैं, हम वह जानते हैं" इसप्रकार के ज्ञान की सीमा विश्वापेक्षया नाम-रूप पर ही विश्रान्त है। या तो हम नाम जानते हैं, अथवा रूप जानते हैं। नाम रूप से अतिरिक्त ज्ञान का (भाति-का) और क्या स्वरूप शेष रहजाता है। ? नामरूप से ही विश्व प्रकाशित है। जिस दिन नाम-रूप का अत्यन्ता-भाव होजायगा; उस दिन विश्व केवल स्मृति की ही वस्तु रह जायगा। नामरूपलक्षण यह ज्योतिर्भाव ही ज्योति है, यही आधिदैविक प्रपञ्च है, यही प्रकृतिसिद्ध ज्ञानप्रधान-ज्ञानयोग है।

४७—प्रकृतिसिद्ध—सर्वव्यापक—क्रियाप्रधान—भक्तियोग—

आदानविसर्ग का संगमन ही यज्ञ है। यज्ञ ही अन्न है—"**यज्ञो वोऽन्नम**"। (शत० ब्राह्मण)। सम्पूर्ण कर्म्मों की सीमा आदान-विसर्गात्मक इस अन्नयज्ञ पर ही विश्रान्त है, अतएव यज्ञकर्म्म को "**श्रेष्ठतमकर्म्म**" माना गया है—"**यज्ञो वै-श्रेष्ठतमं कर्म्म**" (शतपथब्राह्मण)। संसार में जितना भी क्रियाभाव है, सब आदानविसर्गात्मक बनता हुआ यज्ञरूप है। ज्योतिर्लक्षण-ज्ञान का प्रतिष्ठालक्षण अर्थ के साथ सम्बन्ध कराने वाला सूत्र यह मध्यस्थ, अतएव उभयधर्म्मावच्छिन्न यज्ञ ही है। यही उभयभाव से युक्त बनता हुआ प्रकृति-सिद्ध भक्तियोग है। तीनों लक्षण सर्वत्र व्याप्त हैं।

४८—विकासभावात्मक ज्ञानयोग, स्थितिभावात्मक कर्म्मयोग, गतिभावात्मक भक्तियोग, एवं तीनों योगों से युक्त विश्व के चर-अचर-पदार्थ—

विकासभाव **ज्ञानयोग है,** स्थितिभाव **कर्म्मयोग है,** एवं गतिभाव **भक्तियोग है।** विकास-ज्ञानसापेक्ष बनता हुआ अव्यय-की विभूति है, जैसा कि मूलभाष्य में **विभूति-रहस्योपनिषत्** में विस्तार से

बतलाया जानेवाला है। स्थितिभाव अर्थसापेक्ष बनता हुआ क्षर की विभूति है। गतिभाव क्रियासापेक्ष बनता हुआ अक्षर की विभूति है। संसार में यच्चयावत् पदार्थों के अव्यय--अक्षर--क्षरमूर्त्ति--विश्वात्मा प्रतिष्ठित है। "ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्" (ईशोपनिषत्) इस औपनिषद सिद्धान्त से कौन अपरिचित है। ? अतएव सिद्ध होजाता है कि, प्रत्येक वस्तु में विकास भी है, स्थितिभाव भी है, एवं गतिभाव भी है। वस्तु का विकास ही उसका अव्ययानुबन्धी ज्ञानयोग है, वस्तु का स्थितिभाव ही उसका क्षरानुबन्धी--कर्म्मयोग है, एवं वस्तु का गतिभाव ही उसका अक्षरानुबन्धी भक्तियोग है। प्रत्येकप दार्थ इस दृष्टि से ज्ञानी--कर्म्मठ, एवं भक्त है। यही प्राकृतिक ज्ञान--कर्म्म--भक्ति--योगों की सर्वव्यापकता है। परन्तु.....।

४९—अभिन्नापि एकापि प्रकृति के नाना विवर्त्त, एवं एकत्वनिबन्धना महामाया का, तथा नानात्व-निबन्धना योगमाया का पावन संस्मरण—

अभी ठहर जाइए। इस 'किन्तु' 'परन्तु' की समालोचना पीछे की जायगी। अभी प्रकृति-- चर्चा ही होलेने दीजिए। प्रकृति का स्वरूप यदि नियत था, तो संसार में यह वैचित्र्य क्यों उत्पन्न हुआ ?, यह प्रश्न क्षण-भरके लिए हमारे प्रकृतिवाद पर सहसा आघात कर बैठता है। किन्तु उत्तर बड़ा सरल है। व्यक्ति एक ही है, उसकी प्रकृति भी एक ही है, किन्तु वह अपने बाबा का पोता, बापका बेटा, बेटेका बाप, पत्नी का पति, पाठशाला का अध्यापक, व्यापारी का ग्राहक, पत्रका सम्पादक, राजा की प्रजा, घर का स्वामी, यह सब क्यों कहलाया ?। बस जो उत्तर इस प्रश्न का है, वही उत्तर उक्त प्रश्न का है। प्रकृति का स्वरूप एक, सर्वथा ही एक, किन्तु कर्म्म--भेद से जैसे एक ही व्यक्ति के अनेक नाम--अनेक--कर्म्म होजाते हैं, एवमेव कर्म्मनानात्व से एक ही प्रकृति नानाभावों में परिणत होरही है। पानी में भी वही अन्तर्य्यामी है, अग्नि में भी वही अन्तर्य्यामी है। परन्तु पानी का वही अन्तर्य्यामी पानी को निम्न धरातल का अनुगामी बना रहा है, वही अन्तर्य्यामी अग्नि को ऊँचे की ओर ले जारहा है। जिसने आग--पानी वायु--आदि भेद उत्पन्न किया, उसीने उस एक ही अन्तर्य्यामी को भिन्न भी बनाया। वह भेदक कौन ?, हरि की **योगमाया**, अभेदक कौन ?, अव्यय की **महामाया**।

५०—ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-भावानुगता योगमायात्रयी, और मायाप्रवर्त्तक इन्द्रदेवता—

पूर्व में बतलाया गया कि, एक ही प्रकृति के ब्रह्मा--विष्णु आदि पाँच अववयव हैं। इन पाँचों अवयवों पर समष्टिरूप से व्याप्त रहने वाली प्रकृति ही महामाया है। पुरुषवत् यह महामाया भी एकरूपा ही है। इसके गर्भ में इसीके मर्त्य क्षरभाव से सर्वप्रथम तीन योगमायाओं का आविर्भाव होता है। पहिली **ब्रह्ममाया** है, दूसरी **विष्णुमाया** है, तीसरी **शिवमाया**, किंवा **इन्द्रमाया** है—"इन्द्रो मायाभिः पुररूप ईयते" (ऋग्वेदसंहिता)।

५१—'माया' शब्द का निर्वचनात्मक समन्वय, एवं तद्युक्ता खण्ड-खण्डात्मिका योगमाया, और उसका योगत्व-समन्वय—

माया एक प्रकार का वह परिच्छेद है, जो असीम को ससीम बना देता है, अखण्ड को खण्ड--खण्ड--रूप में परिणत करदेता है। मितकरिणी प्रकृति ही माया है। अक्षर--रूपा महामाया ने सर्वव्यापक अखण्ड

परात्पर को सीमित किया है, तो महामाया के गर्भ में प्रतिष्ठित क्षररूपा योगमाया ने इस जन्मदात्री महामाया को भी सीमित कर, इसे भी खण्ड–खण्ड रूप में परिणत कर दिया है। क्योंकि क्षरमाया अक्षरात्मिका महा–माया के गर्भ में प्रतिष्ठित रहती हुई महामाया से युक्त रहती है, अतएव इसे "योगमाया" कहा जाता है। 'योग' शब्द के इस सामान्य अर्थ की अपेक्षा से ब्रह्मा–विष्णु-इन्द्र, तीनों हीं मायाएँ योगमाया कहला सकतीं है।" ब्रह्ममाया उत्पत्ति की अधिष्ठात्री है, विष्णुमाया पालनकर्म्म की आधिष्ठात्री है। एवं इन्द्रमाया संहार की प्रवर्त्तिका है।

५२—योगमायात्रयी से अनुगता विष्णुमाया का ही योगमायात्व, एवं योगमायावच्छिन्न वैष्णव–यज्ञ की सर्वव्यापकता का समन्वय—

पदार्थ की उत्पत्तिमें ब्रह्ममाया का अनुग्रह है, स्थिति में विष्णुमाया का अनुग्रह है, एवं संहार में इन्द्रमाया का हस्तक्षेप है। वस्तुपुर (आयतन) के जन्मदाता ब्रह्मा हैं, पुररक्षक द्वारपाल विष्णु हैं, एवं पुर–विदारक इन्द्र हैं। तभी तो ये 'पुरन्दर' नाम से प्रसिद्ध हैं। इसप्रकार "**महामायया युक्ता खण्डात्मिका माया योगमाया**" इस निर्वचन के अनुसार यद्यपि उक्त तीनों हीं खण्डमाया योगमाया नामसे व्यवहृत होसकतीं हैं, एवं होतीं हैं, परन्तु योग—शब्द के सामान्य अर्थ के विचार करने पर "योगमाया" नाम की अधिकारिणी एकमात्र विष्णुमाया ही रह जाती है। दो वस्तुओं का मिलना हीं योग कहा जाता है। इन्द्रमाया पूर्वकथना–नुसार अपनी विसर्गमूला विक्षेपेणशक्ति से मिली हुई वस्तु का बन्धन खोल कर उसे उत्क्रान्त कर देती है। संहार योग नहीं अपितु वियोग है। अतः इस योगमाया को योगमाया की अपेक्षा अयोगमाया कहना हीं अन्वर्थ बनता है। ब्रह्ममाया शुक्र–शोणित के योग के द्वारा, किंवा रयि, और प्राण के योग के द्वारा चेतन, एवं अचेतन पदार्थों के जन्म का कारण बनती हुई यद्यपि योगमाया कहला सकती है। परन्तु ब्रह्ममाया का यह योगभाव विष्णुमाया की कृपा पर ही अवलम्बित है। अन्नादान से ही शुक्रशोणित का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। उधर योनि में शुक्राहुति का योग होना भी वैष्णय यज्ञ की कृपा का ही फल है।

५३—वैष्णवी योगमाया का विस्तार–समन्वय—

स्वयं ब्रह्मा का स्वरूप भी विष्णुमाया से ही सुरक्षित है। यदि विष्णुदेवता अन्नादान न करे, तो स्थितिलक्षण ब्रह्मा की प्रतिष्ठा कभी सुरक्षित न रहै। इसीलिए विष्णु को प्रतिष्ठा की (ब्रह्मा की) की भी प्रतिष्ठा कहा जाता है। इसप्रकार ब्रह्ममाया का योगत्व भी विष्णुमाया में हीं अन्तर्भूत होजाता है। अन्नका आहरण कर उसका पदार्थों के साथ योग करा के इस योग के द्वारा पदार्थों का, किंवा पदार्थ–समष्टिरूप विश्व का स्वरूप सुरक्षित रखना एकमात्र वैष्णवी माया का ही काम है। अतः और किसी को योगमाया न कहकर विष्णुमाया को ही हम योगमाया कहेंगे।

५४—योगमायावच्छिन्न हरि के विविध अवतार, एवं ब्रह्मावतार–महादेवावतार–आदि की अप्रसिद्धि का समन्वय—

जो पालन करता है, उसे ही रक्षा की चिन्ता होती है। पालन करना क्योंकि एकमात्र विष्णुमाया का ही काम है, अतएव विश्वयोग में जब-जब अशान्ति उपस्थित होती है, तब तब न ब्रह्मा आते, न इन्द्र,

(महादेव) आते । आते हैं अंशरूप से एकमात्र विष्णु । अवताररहस्यवेत्ता विद्वानों को यह विदित है कि, भारतवर्ष में २४—१०—जितने भी अवतार सुने जाते हैं, वे सब एकमात्र विष्णु से ही सम्बन्ध रखते हैं । पुराणों में यह प्रसिद्ध है कि, जब जब संसार में अत्याचार फैलता है, तब तब देवगण सहित ब्रह्मा, और महादेव गोलोकवासी गोविन्द की, नहीं नहीं गोविन्द की उस योगमाया की ही स्तुति करते हैं, जिसने कि—"सोऽपि निद्रावशं नीतः" (सप्तशती) के अनुसार स्वयं उसको भी मोहनिद्रा से अभिभूत कर रक्खा है । प्रार्थना से योगमाया हरि का प्रबोधन कराती है । हरि अवतार के लिए आश्वासन प्रदान करते हैं । यही कारण है कि, धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए विष्णु के अतिरिक्त अवतारों के लोक में ब्रह्मावतार, किंवा—महादेवावतार प्रसिद्धि में नहीं आए ।

५५—शुक्र--शोणितानुगता रयि--प्राणात्मिका आध्यात्मिकी योगमाया का स्वरूप—समन्वय, एवं तद्द्वारा विश्व का सम्मोहन—

एक चमत्कार और देखिए । आगतितत्त्व का ही नाम विष्णु है, एवं स्थितिगर्भिता आगति को ही हमने सोम बतलाया है । सोम ही विष्णु का विष्णुत्त्व है । सोमादान से ही यज्ञमूर्त्ति विष्णु का यज्ञकर्म्म प्रतिष्ठित है । उधर इन्द्र नामक गति–तत्त्व का अग्नि के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है । यों समझिए कि, सोमदैवत्य विष्णु शान्त हैं, एवं अग्निदैवत्य इन्द्र, किंवा पुराणपरिभाषानुसार रुद्र उग्र देवता हैं । उभय–नियन्ता स्थितिलक्षण ब्रह्मा अनुष्णाशीत हैं । आग्नेयप्राण वृषा कहलाता है, सौम्यप्राण योषा नाम से प्रसिद्ध है । योषा स्त्रीभाव का समर्पक है, वृषा पुरुषभाव का समर्पक है । माता के गर्भाशयमें योषाप्राण की प्रधानता है, अतएव यह सौम्य विष्णु--प्रधान है—"**प्रादेशमात्रो वै गर्भो विष्णुः शेते**" (शतपथ ब्राह्मण) । पिता आग्नेय–प्राणात्मक वृषाप्रधान है । जन्मदाता पिता है, गर्भरक्षा करने वाली माता है । वही पालन करती है, वही रक्षा करती है । यह विष्णु की योगमाया का ही अनुग्रह है । माता साक्षात् योगमाया है, वैष्णवी माया है । इसीलिए आर्ष–साहित्य में पिता की अपेक्षा माता का स्थान ऊँचा माना गया है । वक्तव्य यही है कि, तीनों योगमायाओं में से केवल विष्णुमाया ही योगमाया कहलासकती है, जैसाकि—"**योगमाया हरेश्चैतत् तया संमोह्यते जगत्**" इत्यादि रहस्यवचन से स्पष्ट है ।

५६—योगमायानुगत सौम्य महद्ब्रह्म, तन्निबन्धन त्रिगुणभाव, सूर्य्य-चन्द्र-पृथिव्यनुगत दर्शपूर्णमास से त्रिगुण महान् की आकृति—प्रकृति—अहंकृति--भावों में परिणति—

यही योगमाया विज्ञानभाषा में "**महद्ब्रह्म**" नाम से प्रसिद्ध है । पूर्व के वैज्ञानिक आत्मपरीक्षा प्रकरण में इसे ही हमने "**महानात्मा**" कहा है । महान् पारमेष्ठ्य–सौम्यतत्त्व है, जैसाकि—"**महत्तत् सोमो महिषश्चकार**" इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है । सूर्य्य के दर्शपूर्णमास से इस पारमेष्ठ्य सौम्य महान् में त्रिगुणभाव का उदय होजाता है । जिसप्रकार चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है, सचन्द्रा–पृथिवी सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है, एवमेव चन्द्र–पृथिवी से युक्त सूर्य्य परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है, जोकि परिक्रमारहस्य आज के भौतिक विज्ञान की परिज्ञानसीमा से बहिर्भूत है । सूर्य्य की इसी परिक्रमा का नाम दर्श--पूर्णमास है । पारमेष्ठ्य महान् का जो भाग सूर्य्य से प्रकाशित रहता है,

वह प्रकाशित अंश सत्त्वमूर्त्ति महान् है, अप्रकाशित अंश तमोमूर्त्ति महान् है, एवं सान्ध्य भाग रजोमूर्त्ति महान् है। इन तीनों गुणों के अतिरिक्त इसी महान् में इसी दर्शपूर्णमास से आकृति--प्रकृति-अहंकृति-भावों का जन्म होता है। भूतमयी पृथिवी के दर्शपूर्णमास से महान् में आकृतिभाव का उदय होता है, चन्द्रमा के दर्शपूर्णमास से प्रकृतिभाव का उदय होता है, एवं स्वयं सूर्य्य के दर्शपूर्णमास से अहंकृतिभाव का उदय होता है। अहंकृति का सत्त्वगुण से सम्बन्ध है, प्रकृति का रजोगुण से सम्बन्ध है, एवं आकृति का तमोगुण से सम्बन्ध है।

५७—महद्गर्भीभूत चिदात्मा का संस्मरण, एवं योगमाया के द्वारा अनेक भावों की प्रसूति—

इस योगमायामय महान् के इन्हीं ६ भावों का तीनों देवताओं के साथ सम्बन्ध होता है। ब्रह्मा सत्त्वगुणप्रधान हैं, विष्णु रजोगुणप्रधान हैं, एवं रुद्र तमोगुणप्रधान हैं। इसप्रकार महामायामूर्त्ति अक्षर के गर्भ में रहने वाली यह योगमाया (विष्णुमाया) त्रिगुणभावमयी बन जाती है। यही त्रिगुणात्मिका योगमाया उस अखण्ड को खण्ड-खण्ड-रूप में परिणत कर देती है। "मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन गर्भं दधाम्यहम्" के अनुसार इसी महद्गर्भ में चिदात्मा गर्भ धारण करते हैं। जिसप्रकार पात्रों के भेद से एक ही सूर्य्यप्रतिबिम्ब अनेक भावों में परिणत होता हुआ खण्ड-खण्ड रूप में विभक्त हो जाता है, एवमेव एक ही अव्ययात्मा (अक्षरयुक्त अव्यय) शरीरात्मिका पात्रस्थानीया इस योगमाया के अनुग्रह से खण्ड-खण्ड रूप में परिणत हो गया है।

५८—चतुरशीतिलक्षमिता योगमाया, एवं योगमाया की आवरणपरम्पराओं से चिदात्मा की निगूढ़ता—

चतुरशीतिलक्ष आकृति भावयुक्ता इस योगमाया के आगे जाकर अनन्त खण्ड होजाते हैं। संसार में असंख्य सीमित पदार्थ हैं। एक एक सीमित पदार्थ एक एक योगमाया है। प्रत्येक योगमाया में परमाणु-भेद से अनन्त योगमाया हैं। बड़ी योगमाया में छोटी योगमाया, छोटी में पुनः योगमाया, इस दहरोत्तर-सम्बन्ध से विश्व में खण्डस्वरूपसमर्पिका त्रिगुणभावमयी इसी योगमाया का साम्राज्य होरहा है। योगमाया के आवरण से एकत्वलक्षणा महामाया, एवं तदवच्छिन्न महामायी पुरुष, दोनों का स्वरूप आवृत होरहा है। योगमाया ने हीं आत्मस्वरूप को आवृत कर रक्खा है, जैसा कि भगवान् कहते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

—गीता

५९—योगमायावच्छिन्न विष्णु के अवतार का संस्मरण—

ध्यान रहै, अवतार का एकमात्र इसी योगमाया से सम्बन्ध है, क्योंकि अवतार विष्णु का ही होता है, एवं उसी की माया योगमाया है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुलमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तु मनश्चक्रे योगमाया--समाश्रितः ॥

श्रीमद्भागवते

महामाया का व्यापक पुरुष से सम्बन्ध है, एवं उसका अवतार असम्भव है । दूसरी दृष्टि सबसेउसी--के अवतार हैं--"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन-" ।

६०—महामोहप्रवर्त्तिका योगमाया, तन्निवृत्युपायभूता योगमायोपासना, एवं तत्सम्बन्ध में मार्कण्डेय–महर्षि के उद्बोधक--सूत्र—

जिसप्रकार उस व्यापक पुरुष के लिए वह महामाया है, एवमेव त्रिगुणात्मक विश्व, एवं विश्व में रहने वाली त्रिगुणात्मिका प्रजा के लिए तो योगमाया ही महामाया है । सभी प्राणी ज्ञानमात्रा से युक्त हैं, ज्ञान मोहनाश का कारण है । परन्तु इस महामायामयी योगमाया के निग्रहात्मक अनुग्रह से रहता हुआ भी ज्ञान मोह को नहीं हटा सकता । बड़े बड़े तपस्वी भी, ज्ञानी भी योगमाया के बलवत् आकर्षण से मोह के अनुगामी बन ही जाते है । मोह से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है—माया की आराधना, जगदम्बा की स्तुति । जिसने मोहपाश में आबद्ध कर रक्खा है, वही पाशबन्धन से विमुक्त भी कर सकती है । इसी मायारहस्य का विश्लेषण करते हुए महर्षि उपासक सुरथ राजा से कहते हैं--

१—ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे ।
विषयाश्च महाभाग यान्ति चैवं पृथक् पृथक् ॥

२—दिवान्धाः प्राणिनः केचिद्रात्रावन्धास्तथाऽपरे ।
केचिद्दिवा तथा रात्रौ प्राणिनस्तुल्यदृष्टयः ॥

३—ज्ञानिनो मनुजाः सत्यं किन्तु ते नहि केवलम् ।
यतो हि ज्ञानिनः सर्वे पशुपक्षिमृगादयः ॥

४—ज्ञानं च तन्मनुष्याणां यत्तेषां मृगपक्षिणाम् ।
मनुष्याणां च यत्तेषां तुल्यमन्यत्तयोभयोः ॥

५—ज्ञानेऽपि सति पश्यैतान्पतगाञ्छावचंचुषु ।
कणमोक्षादृतान्मोहात् पीड्यमानानपि क्षुधा ॥

६—मानुषा मनुजव्याघ्रा साभिलाषाः सुतान् प्रति ।
लोभात् प्रत्युपकाराय नन्वेतान् किं न पश्यसि ॥

७—तथापि ममतावर्त्ते मोहगर्त्ते निपातिताः ।
महामायाप्रभावेण संसारस्थितिकारिणः ॥
८—तन्नात्र विस्मयः कार्य्यो योगनिद्रा जगत्पतेः ।
महामाया हरेश्चैषा तया संमोह्यते जगत् ॥
९—ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥
१०—तया विसृज्यते विश्वं जगदेतच्चराचरम् ।
सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये ॥
११—सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी ।
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी ॥
१२—एतत्ते कथितं भूप! देवीमाहात्म्यमुत्तमम् ।
एवं प्रभावा सा देवी ययेदं धार्य्यते जगत् ॥
१३—विद्या तथैव क्रियते भगवद्विष्णुमायया ।
तया त्वमेष वैश्यश्च तथैवान्ये विवेकिनः ॥
१४—मोह्यन्ते मोहिताश्चैव मोहमेष्यन्ति चापरे ।
तामुपैहि महाराज! शरणं परमेश्वरीम् ॥
१५—आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा ॥

—श्रीमार्कण्डेपुराणे

६१—विश्वात्मा, एवं विश्व, समष्टिरूप सर्वप्रपञ्च, तदनुगता विवर्त्तत्रयी, एवं रूपा मोहजननी योगमाया—

अबतक के कथन का निष्कर्ष यही हुआ कि, विश्वविवर्त्त विश्वात्मा, और विश्व, इन दो भागों में विभक्त है। विश्वात्मा में अव्यय-अक्षर-क्षर ये तीन विवर्त्त हैं। तीनों क्रमशः पुरुष-प्रकृति-विकृति हैं। पुरुष मनः-प्रधान बनता हुआ ज्ञानप्रधान है, आलम्बन है। प्रकृति प्राणप्रधाना बनती हुई क्रिया-प्रधाना है, मध्यस्था होने से उभयात्मिका है। यही निमित्तकारण है, स्वरूप से एक है, महामाया है। विकृति वाक्प्रधाना बनती हुई अर्थप्रधाना है, उपादानकारण है। यही त्रिगुणभावात्मिका योगमाया है। यही मोह की जननी है, यही विश्वरूपा है, यही सर्वरूपा है। ये ही तीनों विवर्त्त क्रमशः ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगों के स्वरूप-समर्पक हैं। निम्न लिखित तालिकाओं से निष्कर्ष का स्वरूप सर्वात्मना स्पष्ट हो-जाता है।

१—अव्ययपुरुषः

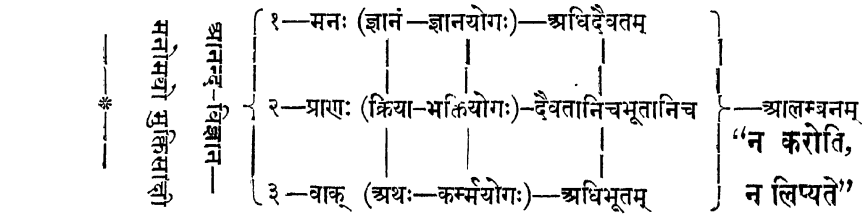

—*—

२—अक्षरप्रकृतिः (महामाया)

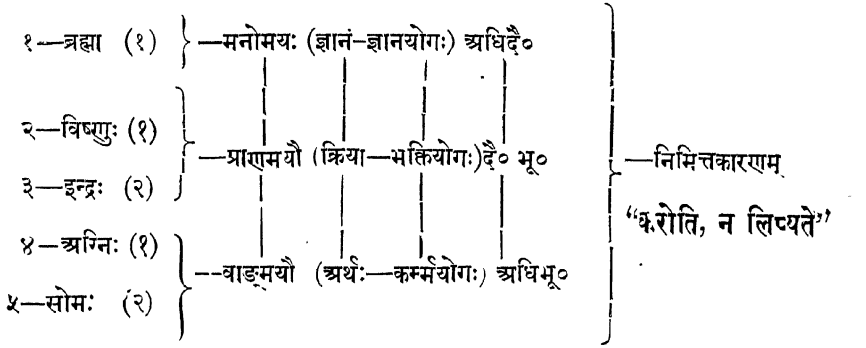

—*—

३—क्षरप्रकृतिः (प्रकृतिविकृतिः) योगमाया

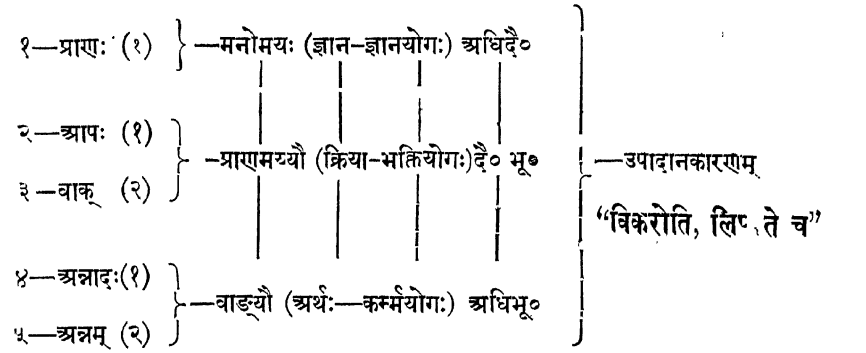

—*—

४—समष्टिः

१—मनः—ज्ञानं (ज्ञानयोगः)—मनोमूर्त्तिरव्ययः
२—प्राणः—क्रिया (भक्तियोगः)—प्राणमयोऽक्षरः
३—वाक्—अर्थः (कर्म्मयोगः)—वाङ्मयः क्षरः
—तदिदं सर्वम्

५—समष्टिः

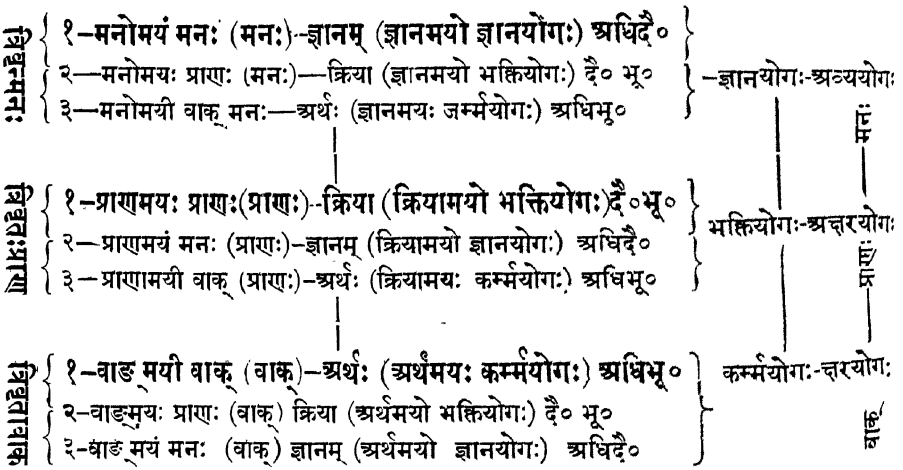

६--प्रकारान्तरेण समष्टिः--

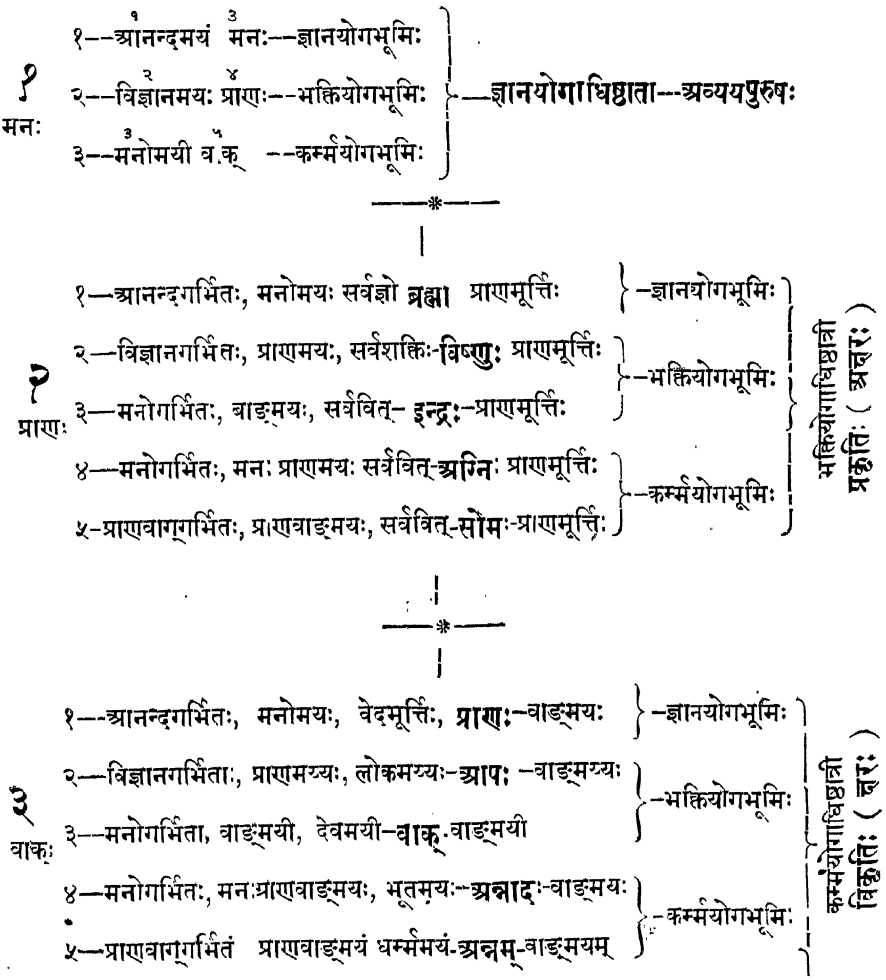

७—महामायाविवर्त्त—

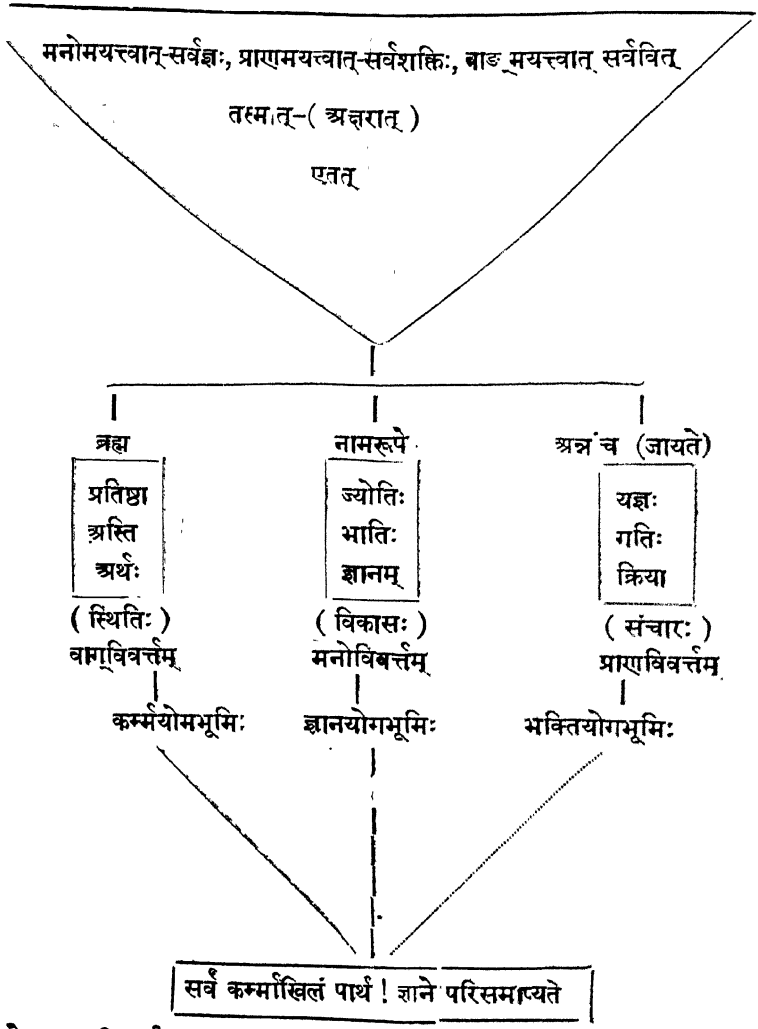

८—योगमायाविवर्त्त—

१—ब्रह्ममाया—ततो जन्म (उत्पादनम्)—अनुष्णाशीता-योगमाया
२—विष्णुमाया—ततः स्थितिः (पालनं रक्षणंच)—सौम्या-योगमाया
३—शिवमाया—ततो भङ्गः (संहारः)—आग्नेया-योगमाया

६—सौम्या विष्णुमाया—योगमाया-खण्डखण्डात्मिका—त्रिगुणमयी दुरत्यया—

१—सत्त्वगुणको महान्—तदिदं पारमेष्ठ्यं ब्रह्म सौम्यं वैष्णवम्—चिदात्मयोनिः
२—रजोगुणको महान् ,,
३—तमोगुणको महान् ,,
४—अहंकृतिमहान् ,,
५—प्रकृतिमहान् ,,
५—आकृतिमहान् ,,

१०—दर्शपौर्णमासः—

१—सौरप्रकाशानुगतो महान्—प्रकाशमूर्त्तिः—सत्त्वम्
२—सौरविख्द्धदिग्गतो महान्—तमोमूर्त्तिः—तमः
३—सन्धिगतो महान्—रजोमूर्त्तिः—रजः
४—सौरपूर्णमासेन महति—अहंकृतेरुदयः—अहंकृतिः
५—चान्द्रपूर्णमासेन महति—प्रकृतेरुदयः—प्रकृतिः
६—पार्थिवपूर्णमासेन महति—आकृतेरुदयः—आकृतिः

—*—

१—सत्त्वमूर्त्तिर्महान्—अहंकृतेरधिष्ठाता—ज्ञानयोगभूमिः
२—रजोमूर्त्तिर्महान्—प्रकृतेरधिष्ठाता—भक्तियोगभूमिः
३—तमोमूर्त्तिर्महान्—आकृतेरधिष्ठाता—कर्म्मयोगभूमिः

—*—

६२—पुरुषयुक्ता गुणान्विता त्रिकला प्रकृति, तन्निबन्धन—त्रित्वभाव, एवं—'त्रिःसत्या वै देवाः' का समन्वय—

प्रकृति क्या है ?, इस प्रश्न की मीमांसा की गई। इस मीमांसा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि, पुरुषयुक्ता प्रकृति अपनी अवयवरूपा त्रिगुणरूपा त्रिगुणभावात्मिका योगमाया को आगे कर विश्व का स्वरूप-निर्म्माण कर रही है। क्योंकि पुरुषविशिष्ट प्रकृति से युक्ता योगमाया ही विश्व की जननी है, दूसरी शब्दों में—तीनों का समन्वितरूप ही विश्व का आत्मा है, अतएव सम्पूर्ण विम्व में समष्टि, एवं व्यष्टिरूप से

सर्वत्र ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योगों का ही साम्राज्य है। प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्य की भाँति प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी भी मौलिक बनती हुई सर्वथा नित्या है। इसी योगत्रयी के प्रभाव से, अथवा योगत्रयावच्छिन्न त्रिकल विश्वात्मा के अनुग्रह से सर्वत्र त्रित्ववाद का साम्राज्य होरहा है। शास्त्रीय व्यवहारों में तो त्रिपुटि का शासन है ही, परन्तु लौकिक व्यवहार भी इससे वञ्चित नहीं हैं। इसी आत्मपुटि से आत्मसत्य परिगृहीत है। देवता सत्यानुगामी हैं, इसी अभिप्राय से इनके सम्बन्ध में--"त्रिःसत्या वै देवाः" यह वचन प्रसिद्ध है। त्रिपुटि का साम्राज्य कहाँ कहाँ व्याप्त है ?, यह निम्नलिखित कुछ एक उदाहरणों से व्यक्त होजाता है--

६३—त्रिपुटिभावान्विता त्रिगुणात्मिका योगमाया के त्रित्व-धर्म्मों का विभिन्न दृष्टि-कोणों से समन्वय, एवं प्राकृत विश्वानुबन्धिनी भावत्रयी के कतिपय उदाहरण—

विश्वातीत **प्रविविक्तब्रह्म**, विश्वचर **प्रविष्टब्रह्म**, विश्वरूप **सृष्टब्रह्म** भेद से ब्रह्म[1] के तीन विवर्त्त हैं। **भूमा, अणिमा, भूमाणिमा** भेद से विश्वातीत **परात्पर**[2] के तीन विवर्त्त हैं। **अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर** (**पुरुष-प्रकृति-विकृति**) भेद से विश्वचर षोडशी[3] पुरुष के तीन विवर्त्त हैं। संयत्री त्रैलोक्यरूप **स्वः**, क्रन्दसी त्रैलोक्यरूप **भुवः**, रोदसी त्रैलोक्यरूप **भूः** भेद से **विश्व**[4] भी त्रिपर्वा है।

आनन्द-विज्ञान-अन्तर्मनो (श्वोवसीयस्मनो) भेद से मुक्तिसाक्षी **ज्ञानात्मा**[5] (**विद्याव्यय**) भी त्रिपर्वा है। **मनः-प्राण-वाक्** भेद से सृष्टिसाक्षी **कर्म्मात्मा**[6] (**कर्म्माव्यय**) भी त्रिपर्वा है। **ब्रह्मा-इन्द्राविष्णू-अग्नीषोम** भेद से **प्रकृति**[7] (**अक्षर**) भी त्रिपर्वा है। **प्राण-आपोवाक्-अन्नान्नाद** भेद से **विकृति**[8] (**क्षर**) भी त्रिपर्वा ही है। **सत्ता-चेतना-आनन्द** भेद से **व्यापक**[9] **ब्रह्म** भी त्रिपर्वा है।

वाक्-आपः-अग्निः भेद से सृष्टिबीज **शुक्र**[10] भी त्रिपर्वा है। **आत्मा-प्राण-पशु** भेद से सृष्टिमूर्त्ति **प्रजापति**[11] भी त्रिपर्वा है। **आत्मा-पदं-पुनःपदं** भेद से प्रजापति की **संस्था**[12] भी त्रिपर्वा है। **उक्थ-ऋक्-अशीति** भेद से **महदुक्थ**[13] भी त्रिपर्वा है। **काम-तपः-श्रम** भेद से **सृष्ट्यनुबन्ध**[14] भी त्रपर्वा है। **ब्रह्म-कर्म्म-अभ्व**-भेद से **सोपाधिक ब्रह्म**[15] भी त्रिपर्वा है। **ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान** भेद से **ब्रह्म**[16] (ज्ञान) भी त्रिपर्वा है। **कर्म्म-विकर्म्म-अकर्म्म** भेद से **कर्म्म**[17] भी त्रिपर्वा है। **नाम-रूप-अर्थ** भेद से **अभ्व**-[18] भी त्रिपर्वा है। **संचित, प्रारब्ध-क्रियमाण** भेद से **अनुष्ठित कर्म्म**[19] भी त्रिपर्वा है। **कायिक-वाचिक-मानसिक** भेद से **भावात्मक कर्म्म**[20] भी त्रिपर्वा है। **क्रतु-चेष्टा-भाव** भेद से **आभ्यन्तर-कर्म्म**[21] भी त्रिपर्वा है। **संस्कार-विकार-सत्त्व** भेद से **बाह्यकर्म्म**[22] भी त्रिपर्वा है।

अव्यक्तात्मा-व्यक्ताव्यक्तात्मा-व्यक्तात्मा भेद से **ईश्वरविवर्त्त**[23] भी त्रिपर्वा है। **अन्तर्य्यामी, सूत्रात्मा, वेदात्मा** भेद से **अव्यक्तात्मा**[24] भी त्रिपर्वा है। **सत्यात्मा-यज्ञात्मा-चिदात्मा** भेद से **व्यक्ताव्यक्तात्मा**[25] भी त्रिपर्वा है। **सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्** भेद से **व्यक्तात्मा**[26] भी त्रिपर्वा है। **चिदात्मा-प्रत्यगात्मा-शारीरिकआत्मा** भेद से **आध्यात्मिक आत्मा**[27] भी त्रिपर्वा है। **वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ** भेद से **शारीरिकआत्मा**[28] भी त्रिपर्वा है। **अग्नि-वायु-इन्द्र** भेद से **वैश्वानर**[29] भी त्रिकल है। प्राण-

व्यान-अपान भेद से तैजस[30] भी त्रिकल है। प्रज्ञा-प्राण-भूत भेद से प्राज्ञ[31] भी त्रिकल है। पवमान-पावक-शुचि भेद से अग्नि[32] भी त्रिकल है। रुद्र-मरुत्-मारुत भेद से वायु[33] भी त्रिकल है। वासव-मरुत्वान्-मघवा भेद से इन्द्र[34] भी त्रिकल है।

अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवत भेद से प्रपञ्च[35] भी त्रिपर्वा है। ओम्-तत्-सत् भेद से परब्रह्म का निर्देशक शब्दब्रह्म[36] भी त्रिपर्वा है। स्फोट-स्वर-वर्ण भेद से वाङ्मय[37] प्रपञ्च भी त्रिपर्वा है। अखण्डस्फोट-वाक्यपदस्फोट-शब्दाक्षरस्फोट भेद से स्फोट[38] भी त्रिकल है (भूषणसम्मत आठों स्फोटों का इन्हीं तीनों में अन्तर्भाव है)। उदात्त-अनुदात्त-स्वरित भेद से स्वर[39] भी त्रिकल है। व्यञ्जनात्मक-स्वरात्मक-उभयात्मक[40] भेद से वर्ण भी त्रिकल है। भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान भेद से काल भी त्रिपर्वा[41] है। एकवचन-द्विवचन-बहुवचन भेद से वचन[42] भी त्रिपर्वा है। कर्त्ता-कर्म्म-करण भेद से कर्तृतन्त्र[43] भी त्रिपर्वा है। आत्मनेपद, परस्मैपद, उभयपद भेद से धातु[44] भी त्रिपर्वा है। अकर्म्मक-सकर्म्मक-प्रेरणार्थक भेद से क्रिया[45] भी त्रिपर्वा है। उत्तम-मध्यम-प्रथम भेद से पुरुष[46] भी त्रिपर्वा है। कर्तृप्रधानवाक्य,-कर्म्मप्रधानवाक्य- भावप्रधानवाक्य भेद से वाक्य[47] भी त्रिपर्वा है। लिंग-वचन-कारक भेद से संज्ञाङ्ग[48] भी त्रिपर्वा है। रूढ, यौगिक, योगरूढ भेद से संज्ञा[49] भी त्रिपर्वा है। पुल्लिंग-स्त्रीलिंग-नपुंसकलिंग भेद से लिंग[50] भी त्रिपर्वा है। स्वर-व्यञ्जन-विसर्ग भेद से सन्धिप्रकार[51] भी त्रिपर्वा है।

अहं-ब्रह्मास्मि-तत्त्वमसि-सोऽहं—भेद से महावाक्य[52] भी त्रिपर्वा है। सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद से भेद[53] भी त्रिपर्वा है। योग-विभूति-बन्ध भेद से सम्बन्ध[54] भी त्रिपर्वा है। काल-स्वभाव-कर्म्म भेद से नियति[55] भी त्रिपर्वा है। दृष्ट-अनुमान-आप्त भेद से प्रमाण[56] भी त्रिपर्वा है। औपश्लेषिक-वैषयिक-अभिव्यापक भेद से आधार[57] प्रकार भी त्रिपर्वा है। स्वार्थ-परार्थ-परमार्थ भेद से वृत्ति[58] भी त्रिपर्वा है। मिथ्या-व्यवहार-परमार्थ भेद से दृष्टि[59] भी त्रिपर्वा है। सत्य-ऋत-सत्यानृत भेद से भाव[60] भी त्रिपर्वा है

भृगु-अङ्गिरा-अत्रि भेद से ऋषि[61] भी त्रिपर्वा है। अग्निष्वात्ता, सोमसत-बर्हिषत् भेद से पितर[62] भी त्रिपर्वा है। आग्नेय-सौम्य-साध्य भेद से देवता[63] भी त्रिपर्वा है। नमुचि-वृत्र-बल भेद से असुर[64] भी त्रिपर्वा है। अङ्गा-बगधा-चेरपादा भेद से अतिक्रान्ता प्रजा[65] भी त्रिपर्वा है। कहाँ तक गिनावें, त्रिकल प्रजापति की इस त्रिपुटि के संक्षिप्त निदर्शन से ही एक स्वतन्त्र विशालकाय ग्रन्थ बन सकता है। अतः अधिक विस्तार न कर कुछ एक त्रिपुटियों की परिगणना उद्धृत कर विश्राम कर लिया जाता है—

६६–ऋक्-यजुः, साम (वेदत्रयी)।
६७–पद्य-गद्य-गान (रचनात्रयी)
६८–भूः-भुवः-स्वः (लोकत्रयी)
६९–अग्निः वायुः-आदित्यः (देवत्रयी)
७०–मा-प्रमा-प्रतिमा (छन्दोत्रयी)
७१ महोक्थं-महाव्रतं-साम (रहस्यत्रयी)
७२–ब्रह्म-क्षत्रं-विट् (वीर्य्यत्रयी)
७३–ब्रा० क्षत्रिय:-वैश्यः (वर्णत्रयी)
७४–यज्ञः-तपः-दानम् (कर्म्मत्रयी)
७५–इष्ट–आपू० दत्तम् (लोकर्म्मत्रयी)
७६–स्वर्ग-नरक-मुक्तिः (गतित्रयी)
७७–अग्निः-यमः-आदित्यः (अङ्गिरात्रयी)
७८–आपः-वायुः-सोमः (भृगुत्रयी)
७९-इष्टिः-पशुः-सोमः (यज्ञत्रयी)
८०–पुरोडाशः-वपाः-रसः (द्रव्यत्रयी)
८१–तेजः-आपः-अन्नम् (भूतत्रयी)
८२–सत्यवती-अङ्गवती-अन्यवती
(उपासनात्रयी)
८३–आकृतिः-प्रकृतिः अहंकृतिः (वृत्तित्रयी)
८४–जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिः (अवस्थात्रयी)
८५–उत्पत्तिः-स्थितिः-लयः (भावत्रयी)
८६-बृहत्, वैराज, रैवत (सौरसामत्रयी)
८७–रथन्तर-वैरूप-शाक्कर (पा० सामत्रयी)
८८–भर्गः-महः-यशः (तेजस्त्रयी)
८९–प्रातःसं०-माध्यंदि-सायं (सवनत्रयी)
९०–व्यक्तिः, आकृतिः, जातिः (विकासत्रयी)
९१–यज्ञायज्ञिय-बारवन्तीय श्रायन्तीय
(सामत्रयी)
९२ ज्योतिः-गौः-आयुः (सौरतत्त्वत्रयी)
९३–इड़ा-ऊर्क्-भोगाः (पारमेष्ठ्यतत्त्वत्रयी)
९४–रेतः-श्रद्धा-पशः (चान्द्रःतत्त्वत्रयी)
९५–वाक्-गौः-द्यौः (पार्थिवतत्त्वत्रयी)
९६–आत्मा-सत्त्वं-शरीम् (दण्डत्रयी)
९७–स्थूल० सूक्ष्म० कारण० (शरीरत्रयी)
९८–प्रज्ञा-प्राण-भूतमात्रा (मात्रात्रयी)
९९–नभचरः-स्थलचरः-जलचरः
(जीवयत्री)
१००–धातु-मूल-जीवाः (जीवयत्री)
१०१–संसज्ञाः, अन्तःसंज्ञाः, असंज्ञाः
(प्राणित्रयी)
१०२–निदानं—निघन्टुः—चिकित्सा
(आयुर्वेद--विषयत्रयी)
१०३–वातः-पित्तम्-कफः (धातुत्रयी)
१०४–शिराः-स्नायवः-धमन्यः
(नाड़ीत्रयी)
१०५–घनाः-द्रवाः-बाष्पाः (अवस्थात्रयी)
१०६–स्वेच्छा, अनिच्छा, परेच्छा
(प्रारब्धत्रयी)
१०७-दधि-मधु-घृतम् (रसत्रयी)
१०८–माता, पिता, सन्ततिः
(मैथुनीसंहिताश्रयी)
१०९–माता-पिता-आचार्य्यः
(सांस्कारिकी संहितात्रयी)
११०–आचार्य्यः, अन्तेवासी, विद्या
(ज्ञानसंहितात्रयी)
१११ ईश्वरः-जीवः-जगत् (सर्वत्रयी)

६४— लोकव्यवहारानुगत त्रित्व-धर्म्मों का समन्वय—

यह तो हुआ शास्त्रीय व्यवहार। अब संक्षेप से लौकिक व्यवहार का भी विचार कर लीजिए। घोर-घोरतम नास्तिक सम्प्रदाय, एवं आस्तिक सम्प्रदाय, दोनों नें हीं अपने व्यवहारकाण्ड में त्रित्ववाद को मूल मान रक्खा है। भारतीय काव्यों के उपक्रम उपसंहार में मङ्गलपाठ आवश्यक माना गया है। मङ्गलपाठ के उपसंहार में--"ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!" यह वाक्य सन्निविष्ट रहता है। शान्ति जिसकी चाही जायगी, वह आत्मा हो, शरीर हो, अथवा विश्व का कोई भी जड़ चेतन पदार्थ हो, त्रिगुणभाव के कारण वह त्रिपर्वा, किंवा त्रिकल ही होगा। ऐसी दशा में तत्प्रयुक्ता शान्ति तबतक सर्वाङ्गीण न बनेगी, जबतक कि शान्ति-भाव को भी त्रिपर्वा नहीं बना लिया जायगा। इसीप्रकार तीन बार आचमन करना, तीन बार हाथ धोना, तीन बार शपथ खाना, आदि आदि व्यवहार भी त्रिकल आत्मस्वरूप के ही अनुगामी बने हुए हैं।

६५--लोकानुबन्धी त्रिभावों का स्वरूप-समन्वय—

वर्त्तमान न्यायालयों में वादी-प्रतिवादियों के सम्बन्ध में न्यायविभाग का सेवक (चपरासी) "अमुक व्यक्ति उपस्थित है ?"। इस आह्वान-वाक्य को तीन बार दोहराना क्यों आवश्यक समझता है ?, रात्रि के समय बैङ्क--सेनास्थल आदि प्रवेशनिषिद्ध स्थानों में भूल से चले जाने वाले व्यक्ति पर "कौन ?" शब्द की त्रिरावृत्ति के अनन्तर ही रक्षक को उस आगन्तुक पर फायर करने का आदेश क्यों मिला ?, वधदण्ड के लिए सन्नद्ध व्यक्ति के गले में एक-दो-तीन के अनन्तर ही क्यों गलपाश डाला जाता है ?, क्या पश्चिमी वैज्ञानिकों के प्रज्ञाक्षेत्र में इन प्रश्नों का समाधान है ?। नहीं। इन सभी त्रित्वभावों का समाधान करेगा एकमात्र प्रकृति-शास्त्र, भारतीय शास्त्र। वही यह बतला सकेगा कि, आत्मपुरुष प्रकृति से युक्त है। स्वयं आत्मा भी त्रिकल है। एवं उसकी प्रकृति (स्वभाव) भी त्रिगुणभावमयी बनती हुई त्रिकल है। भला प्रकृति-पुरुष से सम्बन्ध रखने वाले इस सहज सिद्ध त्रित्वभाव का कौन विरोध कर सकता है ?।

६६--जननी के धर्म्मों का जन्य-पदार्थों में समन्वय—

उक्त सभी त्रयीभावों की मूल प्रतिष्ठा है गुणत्रयी। गुणत्रयी का मौलिक स्वरूप है--पाठकों की पूर्वपरिचिता वही "योगमाया" अणु से आरम्भ कर महान् पर्य्यन्त, भूत से आरम्भ कर देवता पर्य्यन्त, पृथिवी से आरम्भ कर द्युलोक पर्य्यन्त जितने भी विश्वभाव हैं, वे सभी गुणमयी इस दुरत्यया योगमाया के आवरण से नित्य आवृत हैं। जननी के धर्म्म जन्य में न आवें, यह कैसे होसकता है ?। योगमाया की, दूसरे शब्दों में योगमायानुबन्धी इन्हीं तीनों गुणों की सर्वव्याप्ति का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

सत्त्वं रज-स्तम-इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो ! देहे देहिनमव्ययम् ॥१॥ (गी० १४।५।)
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं ततम् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥२॥ (गी० ७।१३)।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥२॥ (गी० १८।४०।)

६७—योगत्रययुक्ता, गुणत्रयसमन्विता योगमाया का कर्तृत्व—

अव्यय के सम्बन्ध से ज्ञानयोगाधिष्ठात्री, अक्षर के सम्बन्ध से भक्तियोगाधिष्ठात्री, एवं स्वयं अपने त्रिगुण+ भाव से कर्म्मयोगाधिष्ठात्री, साथ ही अव्यय-अक्षर के बिना योगमाया रह ही नहीं सकती। फलतः इसका योगत्रयावच्छिन्नत्व भलीभाँति सिद्ध होजाता है। योगत्रययुक्ता, गुणत्रयसमन्विता योगमाया करती क्या है ?, सुनिए !

६८—प्राधानिक (सांख्य) शास्त्र-सम्मत प्राकृतिक भूतसर्ग का विस्तार, एवं उसके त्रिविध, तथा चतुर्दशविध विवर्त्तों का समन्वय—

श्रोता आप हैं, तो सुनाने वाला प्राधानिक शास्त्र है। प्रकृति क्या करती है ?, इस का ठीक ठीक उत्तर प्रकृतिवादी (सांख्य) ही देसकता है। प्रकृतितत्त्व के सम्पूर्ण विवर्त्तभावों को स्पष्ट करने वाले निम्नलिखित तीन वचन हमारे सामने आते हैं—

१—अष्टविकल्पो दैव, स्तैर्य्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥

+ त्रिगुणभाव का सम्बन्ध कर्म्मयोग से है। दूसरे शब्दों में-त्रिगुणभावमय कर्म्मयोग का बन्धन-मूला योगमाया से सम्बन्ध है। यदि कर्म्म से गुणभाव निकाल दिया जाता है, तो द्वन्द्वातीत यह कर्म्म प्रकृति-पाश से विमुक्त होकर निर्गुण, समत्वलक्षण अव्ययात्मा का कर्म्म बन जाता है। "निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" से भगवान् ने कर्म्ममार्ग में से त्रिगुणभाव के संशोधन का ही आदेश दिया है।

अध्यात्मसंस्था में व्यापक चिदात्मा के अंशभूत प्रत्यगात्मा, शारीक आत्मा, नाम के दो विवर्त्त हैं। दोनों में से प्रत्यगात्मलक्षण अव्यय देह में रहता हुआ भी त्रिभूतिभाव के कारण देहाभिमान से शून्य है, निर्लेप है। अक्षरप्रकृति से परे होने के कारण इस परा अक्षरप्रकृति के गर्भ में प्रकट होने वाली क्षररूपा यौगमाया के त्रिगुणभाव का आक्रमण नहीं होता, जैसाकि-"अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः । शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते" इत्यादि गीतासिद्धान्त से स्पष्ट है। शारीरिक आत्मा यद्यपि उसी प्रत्यगात्मा का अंश है। परन्तु "जीवभूतां महाबाहो" ! के अनुसार इसका आविर्भाव अक्षरप्रकृति के गर्भ में ही होता है। अतएव तत्समानधरातल पर प्रतिष्ठित रहने वाली योगमाया के आक्रमण से यह देहाभिमानी शारीरक अव्यय, (अतएव 'देही' नाम से प्रसिद्ध) नहीं बच सकता। शरीरस्थ प्रत्यगात्मलक्षण ईश्वराव्यय, शारीरकात्मलक्षण जीवाव्यय, दोनों में से शारीरक अव्यय ही बन्धन मे आता है, इसी स्पष्टीकरण के लिए भगवान् को अव्यय के साथ 'देहिनं' विशेषण लगाना पड़ा है।

२—ऊर्ध्वं सत्त्वविशाल, स्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजोविशालो, ब्रह्मादिस्तम्ब-पर्य्यन्तः ॥

३—तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥

—सांख्यकारिका ५३--५४--५५ ।

योगामायात्मिका प्रकृति का एकमात्र कार्य्य है—भूतसृष्टि, किंवा सांख्य के शब्दों में भौतिकसर्ग । निर्म्माण-सामग्री सत्त्व-रज-स्तमो-भेद से तीन भावों में विभक्त है । तीनों सामग्रियाँ यद्यपि परस्पर अविनाभूत हैं, अतएव प्रकृति से उत्पन्न प्रत्येक भौतिक सर्ग में तीनों गुणों की सत्ता माननी पड़ती है । इसी आधार पर प्रत्येक सर्ग में सत्त्वानुबन्धी अव्ययानुगत ज्ञानयोग, रजोऽनुबन्धी अक्षरानुगत भक्तियोग, एवं तमोऽनुबन्धी क्षरानुगत कर्म्मयोग, तीनों की सत्ता सिद्ध होजाती है । इसप्रकार यद्यपि गुणसमानापेक्षया सभी भूतसर्ग समान-धरातल पर प्रतिष्ठित हैं । तथापि गुणतारतम्य से यह सर्ग **सत्त्वविशाल, रजोविशाल, तमोविशाल** भेद से तीन भागों में विभक्त होजाता है । आगे जाकर तो छन्दः प्रस्तार की भाँति यह सर्ग असंख्य भेदों में परिणत होजाता है, जैसाकि अनुपद में हीं बतलाए जाने वाले कुछ एक उदाहरणों से स्पष्ट होजायगा । पहिले स्थूल-त्रयी का ही विचार कीजिए—जब प्रकृति में सत्त्वभाव की प्रधानता रहती है, रज और तम गौण बनते हुए सत्त्व के गर्भ में प्रविष्ट रहते हैं, तो उस दशा में सत्त्वप्रधाना बनती हुई वह प्रकृति—**ब्रह्म-प्रजापति-ऐन्द्र-पितर-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच** इन अष्टविध सत्त्वविशालसर्गों की जननी बनती है । यही **ऊर्ध्वसर्ग** कहलाता है । क्योंकि तीनों गुणों में से स्वयं सत्त्वगुण ऊर्ध्वस्थानीय है । यही "**दैवसर्ग**" नाम से भी प्रसिद्ध है । इन आठों जीवसर्गों में सुप्रसिद्ध ११ इन्द्रियाँ तो रहतीं हीं हैं, साथ हो जन्म से ही इनमें आठ सिद्धियाँ, नव तुष्टियाँ और रहतीं हैं । सम्भूय इनमें २८ इन्द्रियाँ होजातीं हैं । चान्द्रमण्डल इनकी आवास-भूमि है । सौर प्रकाश इनका शत्रु है । इनके पैर नहीं होते, अतएव विज्ञानभाषा में इन्हें "अपादजीव" कहा जाता है । चान्द्रसोम के सम्बन्ध से इनका शरीर उसी प्रकार सोमप्रधान है, जैसे कि पार्थिव-मिट्टी के सम्बन्ध से पार्थिव शरीर मृत्प्रधान रहता है । इसी सौम्य-भाव के कारण इन आठों देवयोनियों का सदसद्रूपों से सजातीय सौम्य प्राणियों पर (बच्चों, एवं स्त्रियों पर, क्योंकि बच्चों में भी सोम की प्रधानता रहती है, एवं स्त्रियों का मूलद्रव्य भी सोमतत्त्व ही है) आक्रमण हुआ करता है । यही आयुर्वेद के अनुसार **भूताक्रमण** कहलाता है । इसी के लिए हमारे इस वैज्ञानिक चिकित्सा-शास्त्र ने (चरकने) **भूतोपशमनीयाध्याय** नाम का एक स्वतन्त्र प्रकरण रक्खा है ।

६६—अष्टविध सत्त्वविशाल-सर्गों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

आठों में उत्तर उत्तर देवसर्ग की अपेक्षा पूर्व पूर्व सर्ग सत्त्ववृद्धि के कारण श्रेष्ठ-श्रेणि में प्रतिष्ठित है । दूसरी दृष्टि से **ब्रह्म-प्राजापत्य-ऐन्द्र-पैत्र्य** इन चारों का एक विभाग है, **गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच**-इन चारों का एक विभाग है । अन्य दृष्टि ये ब्रह्म-प्राजापत्य का एक युग्म, ऐन्द्र-पैत्र्य का एक युग्म, गन्धर्व-यक्ष

का एक युग्म, एवं **राक्षस पिशाच** का एक युग्म है। चारों युग्मों में से आरम्भ के दो युग्मों का आक्रमण तो क्वाचित्क है। शेष दोनों अवरयुग्म प्रायः उत्पात मचाते ही रहते हैं। **पिशाच** का माँस भाग पर आक्रमण होता है। यही बच्चों का "सूखा" (सूखने की बीमारी) कहलाता है। **राक्षस** का आक्रमण रुधिर पर होता है, रुधिर पीला, किंवा श्वेत होजाता है। **'यक्ष'** का आक्रमण इन्द्रियों पर होता है। इन्द्रियाँ अपना व्यापार अस्त व्यस्त करने लगतीं हैं। **'गन्धर्व'** का आक्रमण मन पर होता है, मन प्रलाप का अनुगामी बन जाता है। **'पितर'** का आक्रमण शुक्रस्थित महानात्मा पर होता है, संतान का निरोध हो जाता है, जिसकी कि अनेक चिकित्साओं में से **'पितृश्राद्ध'** भी एक अनिवार्य्य चिकित्सा मानी गई है। **'ऐन्द्र'** का आक्रमण बुद्धि पर होता है, बुद्धि का व्यवसायलक्षण समाधिभाव उच्छिन्न होजाता है। **'प्राजापत्य'** का आक्रमण योगमाया (प्रकृति) पर होता है, प्रकृति (स्वभाव) बिगड़ जाती है, स्वभाव चिड़चिड़ा होजाता है। **'ब्राह्म'** का आक्रमण अहंकृति पर होता है। मनुष्य अपना आपा ही खो बैठता है। इन दूषित आक्रमणों के साथ साथ अनुकूल अनुबन्ध–सामग्री के उपस्थिति होजाने पर कभी कभी इनका आक्रमण काम की भी वस्तु बन जाता है। स्वयं वेद में एक ऐसे ही सदाक्रमण का उल्लेख मिलता है। उल्लेख यों है—

७०—कबन्ध अथर्वा के द्वारा पतञ्जल काप्य से प्रश्न, एवं तन्मूलक देवसर्ग का संस्मरण—

अरुणपुत्र सुप्रसिद्ध वैज्ञानिज्ञ **उद्दालक** कहते हैं कि, याज्ञवाल्क्य ! हम (उद्दालक) काप्यमहर्षि के यहाँ यज्ञरहस्य के अध्ययन के लिए मद्रदेश में रहते थे। काप्य की स्त्री में गन्धर्व का आगमन होता रहता था। एक बार मेरे सामने हीं (परकायप्रवेशकुशल) गन्धर्वदेवता ऋषिपत्नी में प्रकट हुआ। मैंने उससे प्रश्न किया कि, तुम कौन हो ?। उत्तर मिला–मैं अथर्वा नाम के गन्धर्ववंश में उत्पन्न होने वाला, आथर्वण हूँ, और मेरा नाम **कबन्ध** है। आश्चर्य्य ! महाआश्चर्य्य !! अपने परिचय देने के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं पतञ्जल काप्य से, एवं उस स्थान में रहने वाले याज्ञिकों से कबन्ध प्रश्न कर बैठा कि–"यदि आप जानते हैं, तो उस **सूत्र** (सूत्रात्मा) का स्वरूप बतलाइए, जिसमें यह लोक, परलोक, एवं सम्पूर्ण भूतसर्ग बद्ध हैं ?। पतञ्जल काप्य कहने लगे, भगवन् ! मैं यह नहीं जानता कि, वह सूत्रात्मा कौन है। कबन्ध ने दूसरा प्रश्न यह किया कि "उस **अन्तर्य्यामी** का क्या स्वरूप है, जो इस लोक, परलोक एवं सम्पूर्ण भूतवर्ग को (उनके हृदय में बैठा हुआ) नियन्त्रण में रखता है ?। पतञ्जल काप्य कबन्ध के इस दूसरे प्रश्न का भी उत्तर न दे सके। आगे जाकर कबन्ध कहने लगा कि, हे काप्य ! जो व्यक्ति उस सूत्रात्मा, और अन्तर्य्यामी को जानेगा, वही ब्रह्मवित्, लोकवित्, देववित्, वेदवित् यज्ञवित्, भूतवित्, आत्मवित्, एवं सर्ववित् कहलाएगा। और तुम्हें यह जानकर प्रसन्नता होगी कि, उन दोनों का स्वरूप मैं जानता हूँ।" (शत १४।५।४।१।)।

७१—रजोविशालसर्ग का स्वरूप-समन्वय—

उक्त आख्यान से यह भी सिद्ध होता है कि, इन देवयोनियों में जन्म-मृत्यु, विवाह, सन्तति आदि मानुष-व्यवहार यथावत् प्रतिष्ठित हैं। इनमें प्रधानरूप से प्रकृति का सत्त्वभाग प्रतिष्ठित है। प्रकृति के ही अन्तर्य्यामी, सूत्रात्मा, ये दो विवर्त्त हैं, जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है। अतएव यह प्रजा प्रकृति के

अधिक सन्निकट रहती हुई प्रकृति के उक्त दोनों विवर्त्तों को जानने में विशेष समर्थ है। जब प्रकृति में रजोभाव की प्रधानता रहती है, सत्त्व और तम गौण बनते हुए रज के गर्भ में प्रविष्ट रहते हैं, तो उस दशा में रजःप्रधाना प्रकृति **मनुष्य–पशु–पक्षी–कृमि–कीट** इन पाँच रजोविशालसर्गों की जननी बनती है। यही **मध्यसर्ग** है। क्योंकि गुणत्रयी में रजोगुण मध्य-स्थानीय है। यही "**तिर्य्यक्सर्ग**" नाम से भी प्रसिद्ध है। इन पाँचों की चेतना का मूल आधार वायुतत्त्व ही है।

७२—तमोविशालसर्ग का स्वरूप–समन्वय—

तमोभावप्रधाना, सत्त्वरजोगर्भिता प्रकृति तमोविशालसर्ग की जननी बनती है। धातुवर्ग, ओषधि-वनस्पति से आरम्भ कर स्तम्ब पर्य्यन्त सम्पूर्ण प्रपञ्च तमोगुण-प्रधान है। यही प्रकृति का तीसरा भौतिक स्वरूप है। क्योंकि गुणत्रयी में तमोगुण मूल में प्रतिष्ठित है, अतएव इसे **मूलसर्ग** कहा जाता है।

७३—'चतुर्दशविधो भूतसर्गः', और ब्रह्मादि स्तम्ब पर्य्यन्त सर्गों का संस्मरण—

ऊर्ध्वसर्ग सत्त्वानुबन्धी, किंवा सत्त्वप्रधान बनता हुआ, सत्त्वसम्बन्धी ज्ञानमूर्त्ति अव्यय का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ ज्ञानप्रधान है। अतएव इस सर्ग को हम ज्ञानयोगानुगामी कह सकते हैं। मध्यसर्ग रजोऽनुबन्धी, किंवा रजःप्रधान बनता हुआ रजः-सम्बन्धी क्रियामूर्त्ति महामायात्मक अक्षर का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ क्रियाप्रधान है। अतएव इस मध्यसर्ग को (मध्यस्थता के कारण ज्ञानार्थरूपा उभय सम्पत्ति से युक्त रहने के कारण) भक्तियोगानुगामी कह सकते हैं। मूलसर्ग तमोऽनुबन्धी, किंवा तमः--प्रधान बनता हुआ तमः-सम्बन्धी अर्थमूर्त्ति योगमायात्मक क्षर का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ अर्थप्रधान है। अतएव इसे हम कर्म्मयोगानुगामी मान सकते हैं। **ब्रह्म** से आरम्भ कर **स्तम्ब** * पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला यह प्राकृतिक सर्ग सम्मूय १४ भागों में विभक्त है। यही सांख्यशास्त्र का—"**चतुर्दशविधो भूतसर्गः**" है। इन चौदहों में भी अवान्तर तारतम्य है।

७४—सत्त्वविशालसर्गानुगता ज्ञान–भक्ति–कर्म्म–योगत्रयी—

सत्त्वविशाल अष्टविध देवसर्ग इतर दोनों सर्गों की अपेक्षा जहाँ ज्ञानप्रधान बनता हुआ ज्ञानयोग का अनुगामी है, वहाँ अपने पारस्परिक भेद के कारण इनमें भी तीनों योगों का अन्तर्भाव सिद्ध होजाता है। **ब्रह्म-प्रजापति** नाम के प्रथम युग्म में सत्त्व की प्रधानता है, **इन्द्र** एवं **पितर** में रज की प्रधानता है, एवं **गन्धर्वादि** चारों में तम की प्रधानता है। सत्त्वप्रधान प्रथम युग्म ज्ञानयोगानुगामी है, रजःप्रधान द्वितीय-युग्म भक्तियोगानुगामी है, एवं तमःप्रधान चतुर्थयुग्म कर्म्मयोगानुगामी है। इसप्रकार **सत्त्व–रज–स्तम** के क्रमिक सम्बन्ध से इन सत्त्वविशाल, एवं ज्ञानयोगानुगामी देवसर्गों में भी अवान्तर तीन भेद हो जाते हैं।

---

* पानी में काई के रूप से प्रतिष्ठित शैवाल का मौलिक रूप ही "**स्तम्ब**" है।

७५—रजोविशालसर्गानुगता ज्ञान–भक्ति–कर्म्म- योगत्रयी—

मनुष्य–पशु–पक्षी–कृमि-कीट, इन रजोविशाल, अतएव भक्तियोगानुगामी तिर्यक्सर्गों में भी यही बात है। सत्त्वप्रधान मनुष्य ज्ञानयोगानुगामी है, रजःप्रधान–पशुपक्षी–युग्म भक्तियोगानुगामी है, एवं तमःप्रधान कृमि-कीट-युग्म कर्म्मयोगानुगामी है। इसप्रकार सत्त्व–रज–स्तम के क्रमिक विकास से इन रजोविशाल, अतएव भक्ति–योगानुगामी तिर्य्यक्सर्गों में भी तीनों योगों का अन्तर्भाव सिद्ध होजाता है।

७६—तमोविशालसर्गानुगता ज्ञान–भक्ति–कर्म्म–योगत्रयी—

धातु-ओषधि वनस्पति–स्तम्ब–लक्षण तमोविशाल, अतएव कर्म्मयोगानुगामी मूलसर्ग में भी व्यवस्था-साम्य है। सत्त्वप्रधान ओषधि-वनस्पतिवर्ग ज्ञानयोगानुगामी है, रजःप्रधान स्तम्ब भक्तियोगानुगामी है, एवं तमःप्रधान धातुवर्ग कर्म्मयोगानुगामी है। इसप्रकार सत्त्व–रज–स्तम के तारतम्य से तमोविशाल, अतएव कर्म्मयोगानुगामी इस मूलसर्ग में भी तीनों योगों का भोग सिद्ध हो जाता है, जैसा कि निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्ट है।

यद्यपि सांख्य ने १४ भूतसर्गों का **अष्टविकल्प दैवसर्ग**, पञ्चधा विभक्त [पशु–पक्षी–सर्प–कीट–स्थावर] **तैर्य्यक्सर्ग**, एकविध **मानुषसर्ग**, इस क्रम से विभाजन किया है। परन्तु विज्ञानदृष्टि को प्रधानता देते हुए हमने गुणविवेक की दृष्टि से देवताओं को एक वर्ग में मानते हुए इनका स्वतन्त्र विभाग माना है, चेतन-प्राणियों की साम्यदृष्टि से **मनुष्य–पशु–पक्षी–कृमि कीट** इन पाँचों का स्वतन्त्र विभाग माना है। सर्प के स्थान में सर्पविध कृमियों के संग्रह के लिए 'कृमि' शब्द ही अधिक उपयुक्त समझा है। **ओषध्यादि स्थावर विभाग** को स्वतन्त्र माना है। यदि सांख्यमतानुसार ही इस सर्ग का विचार किया जाता है, तो निम्नलिखित तालिका हमारे सामने आती है—

चतुर्दशविधो भूतसर्गः–सांख्याभिमतः—

देवसर्गः— { ब्रह्म[१], प्रजापतिः[२] इन्द्रः[३], पितरः[४] / गन्धर्वः[५], यक्षाः[६], राक्षसः[७], पिशाचाः[८] } — सत्त्वविशालसर्गः—ऊर्ध्वसर्गः–८

—*—

मनुष्यसर्गः— { ब्रा० क्ष० वै० शूद्रभेदभिन्नो मनुष्यः[१] } — रजोविशालसर्गः—मध्यसर्गः–१

—*—

तिर्य्यक्सर्गः— { स्थावराः[१], स्तम्बाः[२], कीटाः[३], पशवः[४], पक्षिणः[५] } — तमोविशालसर्गः–मूलसर्गः–५

चतुर्दशविधो भूतसर्ग

—*—

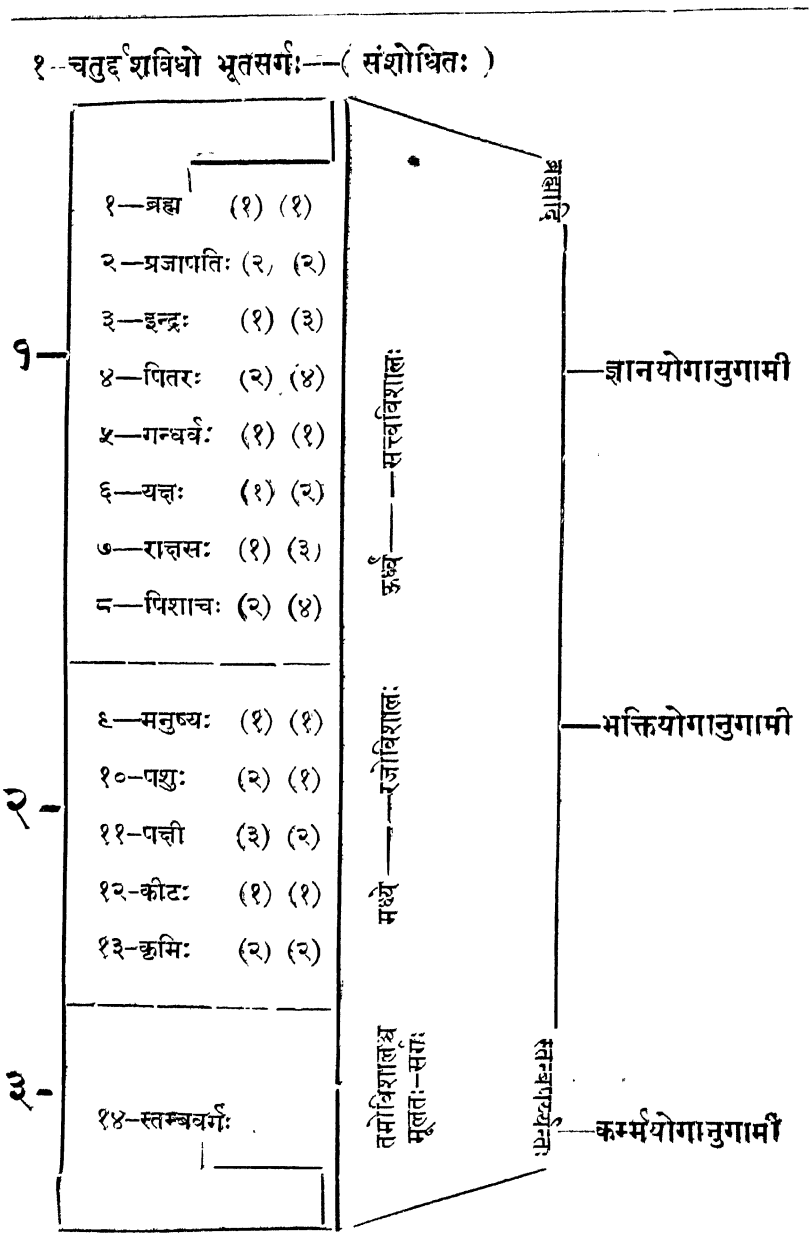
१—चतुर्दशविधो भूतसर्गः—(संशोधितः)
१—ब्रह्म (१) (१)
२—प्रजापतिः (२) (२)
३—इन्द्रः (१) (३)
४—पितरः (२) (४)
५—गन्धर्वः (१) (१)
६—यक्षः (१) (२)
७—राक्षसः (१) (३)
८—पिशाचः (२) (४)
९—मनुष्यः (१) (१)
१०—पशुः (२) (१)
११—पक्षी (३) (२)
१२—कीटः (१) (१)
१३—कृमिः (२) (२)
१४—स्तम्बवर्गः
१
२
३
ऊर्ध्वे—सत्त्वविशालः
मध्ये—रजोविशालः
तमोविशालश्च मूलतः—सर्गः
ज्ञानयोगानुगामी
भक्तियोगानुगामी
कर्म्मयोगानुगामी

२-सत्त्वविशालो देवसर्गः— (ज्ञानयोगानुगतः—

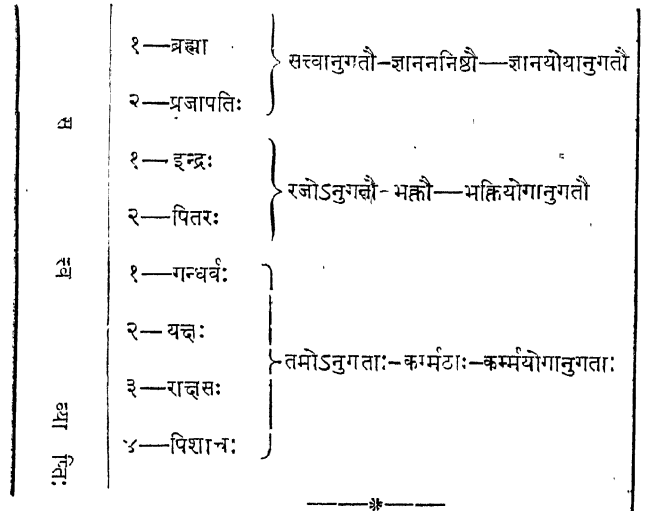

———*———

३-रजोविशालो तिर्य्यक्-सर्गः—(भक्तियोगानुगतः)—

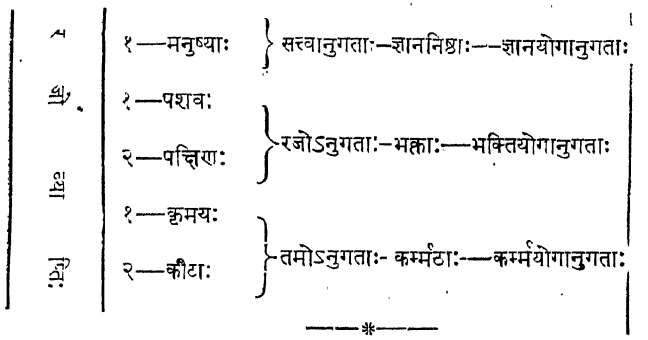

———*———

४-तमोविशालः स्थावरसर्गः--(कर्म्मयोगानुगतः—

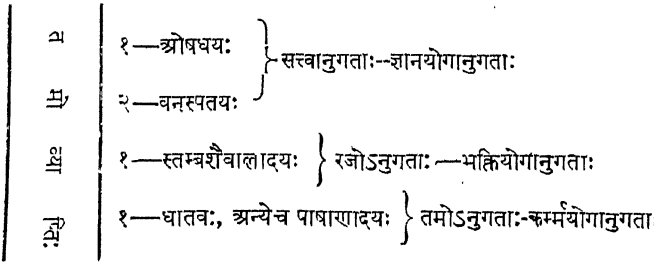

७७–पृथ्यनुगत 'भूत' तत्त्व, तदनुगता भौतिकी प्रजा, एवं स्तौम्यलोकात्मक-पार्थिव-भूत-सर्ग की चतुर्दशविधता का समन्वय—

जिस विज्ञानदृष्टि के आधार पर सांख्याभिमत भूतसर्ग का उक्त स्वरूप-संशोधन हुआ है, उस विज्ञानदृष्टि से इस भूतसर्ग को हम **ससंज्ञ–अन्तःसंज्ञ–असंज्ञ**, इन तीन भागों में विभक्त करेंगे। ये ही तीनों क्रमशः **चेतनसर्ग, अर्द्धचेतनसर्ग, अचेतनसर्ग** इन नामों से, एवं **त्र्यात्मक, द्व्यात्मक, ऐकात्मक**, नामों से भी व्यवहृत किए जासकते हैं। त्र्यात्मक चेतनसर्ग "**जीव**" नामक जीववर्ग है। द्व्यात्मक, अर्द्धचेतनवर्ग "**मूल**" नामक जीववर्ग है। एवं एकात्मक अचेतनवर्ग "**धातु**" नामक जीववर्ग है। विज्ञान-सिद्धान्त के अनुसार तीनों हीं सर्ग स्तौम्यत्रिलोकी से सम्बन्ध रखते हुए पार्थिव हैं। पृथिवी क्योंकि भूतरसमयी है, अतएव चतुर्दशविध इस पार्थिवसर्ग को हम अवश्य ही '**भूतसर्ग (भूतसृष्टि–पार्थिवप्रजा)** कह सकते हैं।

७८–दुरत्यया, दुर्विज्ञेया सर्गपरम्परा, एवं उसके 'भाव–गुण–विकार' नामक तीन विवर्त्तों का संस्मरण—

जब प्रकृति ही दुरत्यया होती हुई दुर्विज्ञेया है, तो प्रकृति से उत्पन्न सर्ग कैसे सुविज्ञेय रह सकते हैं। इन सर्गों की दुर्विज्ञेयता **भाव–गुण–विकार** भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। **भावसृष्टि अव्ययसृष्टि** है, इसे ही **मानसीसृष्टि** भी कहा जाता है। **गुणसृष्टि अक्षरसृष्टि** है, इसे ही **प्राकृतिकसृष्टि** भी कहा जाता है। **विकारसृष्टि क्षरसृष्टि** है, यही **मैथुनीसृष्टि, याज्ञिकीसृष्टि, वैकारिकीसृष्टि, अदितिसृष्टि, पार्थिवीसृष्टि, भूतसृष्टि, मायिकसृष्टि, कश्यपसृष्टि, त्रिदेवसृष्टि, त्रिगुणसृष्टि** आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है। इस त्रिगुणात्मिका **क्षरसृष्टि** का एकमात्र पार्थिव द्यावापृथिवी से ही सम्बन्ध है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर भगवान् ने कहा है—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥

—गीता

७९–त्रिगुणात्मिका प्रकृति की विश्वव्यापकता, एवं उसके भाव–गुण–विकार–नामक तीन महिमाविवर्त्त—

अव्ययानुगता मानसीसृष्टि की विकासभूमि **अव्यक्त–स्वयम्भू**, एवं **महत् परमेष्ठी** है। ऋषि [मौलिकप्राण], और **चार मनु** हीं इस भावात्मिका सृष्टि के प्रधान विवर्त्त हैं, जैसाकि–'**महर्षयः सप्त पूर्वे चत्त्वारो मनवस्तथा। भवन्ति भावा भूतानां मत्त** [अव्ययतः] **एव पृथग्विधाः**' इत्यादि गीतासिद्धान्त से स्पष्ट है। **अक्षरानुगता गुणसृष्टि** की विकासभूमि विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य है। त्रिगुणभाव का [अपने दर्शपूर्णमास यज्ञ से] स्वरूप समर्पक यही है, जैसाकि पूर्व में विस्तार से बतलाया जाचुका है। तन्मात्रारूप गुणों का उपक्रम यही स्थान है। **क्षरानुगता विकारसृष्टि** की विकासभूमि चन्द्रगर्भिता पृथिवी है। क्षर अक्षर का ही मर्त्यांश है। अतएव '**प्रकृति**' शब्द से दोनों गृहीत हैं। प्रकृति के ही अमृतप्रधान अक्षरभाग से गुणसृष्टि होती है, प्रकृति के ही मर्त्यप्रधान क्षरभाग से गुणसृष्टि होती है, एवं प्रकृति के ही मर्त्यप्रधान क्षरभाग से

विकारसृष्टि होती है, जैसाकि--'विकारांश्च गुणांश्चैतान् विद्धि प्रकृति-सम्भवान्' इत्यादि गीता-वचन से स्पष्ट है।

८०--सत्त्व--रज--स्तमो--गुणात्मिका प्रकृति के विश्वानुबन्धी 'परम--मध्यम--अवम--' नामक तीन धामों का संस्मरण—

निष्कर्ष यही हुआ कि, पञ्चपर्वात्मिका विश्वसृष्टि को हम **सत्त्वानुगता अव्ययसृष्टि, रजोऽनुगता अक्षरसृष्टि,** एवं **तमोऽनुगता क्षरसृष्टि** के भेद से तीन भागों में विभक्त करसकते हैं। यही विश्वसृष्टि का मौलिक विभाग है। **स्वयम्भू--परमेष्ठी की समष्टि परमधाम है, चन्द्रमा--पृथिवी की समष्टि अवमधाम है,** एवं **सूर्य्य मध्यमधाम है**। 'तस्माद्यत् किंचार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सूर्य्य से नीचे नीचे का विवर्त्त मर्त्यप्रधान है। ऊपर का भाग अमृतप्रधान है। 'निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च' इस यजुःश्रुति के अनुसार मध्यस्थ सूर्य्य दोनों का संयोजक बनता हुआ अमृतमृत्युमय है। अमृत-प्रधान परमधाम ÷ में अमृतप्रधान, सत्त्वमूर्त्ति अव्यय की प्रधानता है। मर्त्यप्रधान अवमधाम में मर्त्य-प्रधान, तमोमूर्त्ति क्षर की प्रधानता है, एवं उभयप्रधान मध्यमधाम में उभयप्रधान, रजोमूर्त्ति अक्षर की प्रधानता है।

८१—त्रिधामानुगत त्रिविध सर्ग, 'पुरुष-महामाया-योगमाया'-निबन्धना-सर्गत्रयी का विस्तार, एवं तालिका के द्वारा तत्समन्वय-प्रयास—

परमधाम ज्ञानयोगानुयायी है, मध्यमधाम भक्तियोगानुयायी है, एवं अवमधाम कर्म्मयोगानुयायी है। तीनों क्रमशः **भाव-गुण-विकार**-सृष्टियों के अधिष्ठाता बने हुए हैं। विज्ञान-दृष्टि से **भावसर्ग सत्त्वविशाल है, गुणसर्ग रजोविशाल है, एवं विकारसर्ग तमोविशाल है**। सत्त्वविशालसर्ग का स्वयं **पुरुष** से सम्बन्ध है, रजोविशालसर्ग का **महामाया** [**अक्षर**] से सम्बन्ध है, एवं तमोविशालसर्ग का **योगमाया** [**क्षर**] से सम्बन्ध है। तारतम्य से त्रिगुणात्मिका बनती हुई भी क्षररूपा योगमाया तमः-प्रधाना ही मानी जायगी। कारण- भगवान् ने योगमाया को आवरण * करने वाली बतलाया है, एवं आवरण करना एकमात्र तमोगुण का ही स्वाभाविक धर्म्म है। आपके सांख्याभिमत **सत्त्व-रज-स्तमो**-विशालसर्गों का विज्ञान-सिद्ध क्षरप्रधान योगमायानुबन्धी केवल तमोविशालसर्ग में ही अन्तर्भाव है, जैसा कि आगे की तालिकाओं से स्पष्ट है।

÷ स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम (उपनिषत्)
यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम। (गीता)

* "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः" (गीता)

विज्ञानाभिमत त्रिविध सर्ग—

१—(१) १—स्वयम्भूः, (२) २—परमेष्ठी } परमधाम (अव्ययविकासभूमिः)—सत्त्वानुगतममृतम्

२—(३) १—सूर्य्यः } मध्यमधाम (अक्षरविकासभूमिः)—रजोऽनुगतो अमृतमृत्यू

३—(४) १—चन्द्रमाः, (५) २—पृथिवी } अवमधाम (क्षरविकासभूमिः)—तमोऽनुगतं मर्त्यम्

पञ्चपर्वा—विश्वम्

—*—

१—सत्त्वानुगतेनाव्ययेन—भावसृष्टिः (ऋषयः—मानवाः-पितरः—असुराः

२—रजोऽनुगतेनाक्षरेण—गुणसृष्टिः (पञ्चतन्मात्राः)

३—तमोऽनुगतेन क्षरेण—विकारसृष्टिः (चतुर्द्दशविधो भूतसर्गः)

सर्वसर्गसमष्टिः

—*—

१—सत्त्वविशालो—ज्ञानानुगतो— भावसर्गः—ज्ञानयोगानुगतः (भावसृष्टिः)

२—रजोविशालो—क्रियानुगतो—गुणसर्गः—भक्तियोगानुगतः (प्राणसृष्टिः)

३—तमोविशालोऽर्थानुगतो—विकारसर्गः-कर्म्मयोगानुगतः (मैथुनीसृष्टिः)

—*—

१—अव्यक्तमहत्सृष्टिः (स्वायम्भुवी—पारमेष्ठिनी)—पुरुषानुगता—निर्गुणा सृष्टिः

२—व्यक्ताव्यक्तसृष्टिः (सौरी) —महामायानुगता-गुणात्मिका सृष्टिः

३-व्यक्तसृष्टिः (चान्द्रमसी पार्थिवी) —योगमायानुगता-त्रिगुणात्मिका सृष्टिः

—*—

८२ – त्रिविध-सर्गानुगता पार्थिवी–त्रिलोकी, एवं तदनुगत चौदह प्रकार का भूत-सर्ग –

वैज्ञानिकी सृष्टिधारा की मीमांसा को छोड़िए। प्रस्तुत है सांख्याभिमत चतुर्दशविध भूतसर्ग का वैज्ञानिक विचार। वही अत्र मीमांस्य है। यह पूर्णरूपेण लक्ष्य में रखना चाहिए कि, इस सर्ग का केवल **चन्द्र-गर्भिता पृथिवी** से ही सम्बन्ध है। पृथिवी के **चित्य-चितेनिधेय** भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। संक्षेप में इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, पिण्डपृथिवी के केन्द्र से निकल कर २१ वें स्तोम पर्य्यन्त व्याप्त प्राणाग्निमय मण्डल ही चितेनिधेया पृथिवी है। इसके त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५) एकविंश (२१) ये तीन विभाग हैं। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्राणमण्डल इस पृथिवी का पृथिवीलोक है, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्राणमण्डल इसका अन्तरिक्षलोक है, एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्राणमण्डल इसका द्युलोक है। इसप्रकार केवल स्तोमभेद से पृथिवी में हीं तीनों लोकों का भोग सिद्ध होजाता है। विज्ञानभाषा में यज्ञपृथिवीरूपा यही त्रिलोकी "**स्तोम्यात्रलोकी**" नाम से प्रसिद्ध है। इसे ही '**अदितिपृथिवी**' भी कहा जाता है। यही ब्राह्मणग्रन्थों की "**द्यावापृथिवी**" है। **पृथिवी माता है, द्यु पिता है। पृथिवी योनि है, द्यु रेतोधा है**, पार्थिव–**द्यु रस रेत है**। तीनों के समन्वय से ही चतुर्दशविध भूतसर्गों की अभिव्यक्ति हुई है।

८३—त्रैलोक्यदेवताओं का तानूनप्त्र, तन्निबन्धन सर्वज्ञ, हिरण्यगर्भ, विराट्-नामक त्रैलोक्य-देवता, एवं इनकी ज्ञान-क्रिया-अर्थ-रूपता का समन्वय—

त्रिवृत्पृथिवी अग्निप्रधान है। यह पार्थिव प्राणाग्नि अर्थशक्ति का अधिष्ठाता है। पञ्चदश अन्तरिक्ष वायुप्रधान है। यह क्रियाशक्ति का अधिष्ठाता है। एकविंश द्युलोक इन्द्रप्रधान है। यह ज्ञानशक्ति का अधिष्ठाता है। इन तीनों त्रैलोक्य-देवताओं का परस्पर **तानूनप्त्र** [**संगमन**] होता है। फलतः तीनों तीनों शक्तियों से युक्त होजाते हैं, केवल प्रधानता अप्रधानता का तारतम्य रहता है। ज्ञानशक्तियुत इन्द्र, क्रियाशक्तियुत वायु, इन दोनों को अपने गर्भ में रखने वाला, अतएव इन्द्र-वायु-अग्नि–मूर्त्ति-अर्थशक्तियुत अग्नि "**विराट्**" नाम से प्रसिद्ध है। यही "**मूलात्मा**" "**विष्णु**" इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। अर्थशक्तियुत अग्नि, ज्ञानशक्तियुत इन्द्र, इन दोनों को अपने गर्भ में रखने वाला, अतएव अग्नि-इन्द्र-वायुमूर्त्ति क्रियाशक्तियुत वायु "**हिरण्यगर्भ**" नाम से प्रसिद्ध है। यही "**हंसात्मा**"*–"**ब्रह्मा**" आदि नामों से प्रसिद्ध है। अर्थशक्तियुत अग्नि, क्रियाशक्तियुत वायु, इन दोनों को अपने गर्भ में रखने वाला, अतएव अग्नि-वायु-इन्द्रमूर्त्ति ज्ञानशक्तियुत इन्द्र "**सर्वज्ञ**" नाम से प्रसिद्ध है। यही "**इन्द्रात्मा**" "**शिव**" इत्यादि नामों से भी प्रसिद्ध है। तानूनप्त्र के कारण यद्यपि तीनों हीं तीनों शक्तियों से युक्त हैं, परन्तु क्रमशः **अग्नि-वायु-इन्द्र** की प्रधानता से तीनों क्रमशः **अर्थ-क्रिया-ज्ञान**-प्रधान ही बन रहे हैं।

---

* गयाश्राद्धानुगामी प्रेत हंसात्मा को इस हंसात्मा से सर्वथा पृथक् समझना चाहिए।

८४—सर्वज्ञानुगत संसज्ञसर्ग, हिरण्यगर्भानुगत अन्तःसंज्ञसर्ग, विराडनुगत असंज्ञसर्ग-भेद से त्रिविध-सर्गों का समन्वय, एवं तालिका-माध्यम से सर्गत्रयी का स्वरूप-व्यावच्छेद—

अर्थ का क्षर से सम्बन्ध है, अव्यय की क्षरानुगता वाक् से सम्बन्ध है, एवं यही तमोभाव का अधिष्ठाता है। अतएव तत्प्रधान अर्थमूर्त्ति विराट् विष्णु को हम तमोऽनुबन्धी कर्म्मयोग का अध्यक्ष कह सकते है। क्रिया का अक्षर से सम्बन्ध है, अव्यय के अक्षरानुगत प्राण से सम्बन्ध है, एवं यही रजोभाव का अधिष्ठाता है। अतएव तत्प्रधान क्रियामूर्त्ति हिरण्यगर्भ ब्रह्मा को हम रजोऽनुबन्धी भक्तियोग का अध्यक्ष मान सकते है। ज्ञान का अव्यय से सम्बन्ध है, अव्ययानुगत मन से सम्बन्ध है, एवं यही सत्त्वभाव का अधिष्ठाता है। अतएव तत्प्रधान ज्ञानमूर्त्ति सर्वज्ञ शिव को हम सत्त्वानुबन्धी ज्ञानयोग का प्रवर्त्तक कह सकते हैं-"**ज्ञानमिच्छेन्महेश्वरात्**"। तीनो लोकों के अधिष्ठाता ये ही तीनों देवता **संसज्ञ-अन्तःसंज्ञ-असंज्ञ** इन तीन भूतसर्गों के प्रवर्त्तक बनते हैं, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

१-त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नं—प्राणमण्डलम्—अग्निमयम्—(पृथिवी)		
२-पञ्चदशस्तोमावच्छिन्नं--प्राणमण्डलम्—वायुमयम्—(अन्तरिक्षम्)	चन्द्रगर्भिता-पृथिवी	मातृपृथ्वी-पितृद्यौः
३-एकविंशस्तोमावच्छिन्नं--प्राणमण्डलम्— इन्द्रमयम्—(द्यौः)		

—*—

१-अग्निः (अर्थमयः)—पार्थिवः—वाङ्मयः—क्षरानुगतः।	विश्वेदेवाः
२-वायुः (क्रियामयः)—आन्तरिक्ष्यः-प्राणमयः—अक्षरानुगतः।	
३-इन्द्रः (ज्ञानमयः)—दिव्यः—मनोमयः—अव्ययानुगतः।	

—*—

	१-इन्द्रः (ज्ञानम्)—मनः—अव्ययः—सत्त्वम्	अग्निवायुगर्भितः-"इन्द्रः" इन्द्रात्मा सर्वज्ञः-शिवः
१	२-वायुः (क्रिया)—प्राणः—अक्षरः—रजः	
	३-अग्निः (अर्थः)—वाक्—क्षरः—तमः	

—*—

१–वायुः (क्रिया)—प्राणः—अक्षरः—रजः
२ २–इन्द्रः (ज्ञानम्)—मनः—अव्ययः—सत्त्वम्
३–अग्निः (अर्थः)—वाक्—क्षरः——तमः

} अग्नीन्द्रगर्भितः-"वायुः" हंसात्मा हिरण्यगर्भः-ब्रह्मा

—*—

१–अग्निः (अर्थः) वाक्—क्षरः—तमः
३ २–वायुः (क्रिया) प्राणः—अक्षरः–रजः
३–इन्द्रः (ज्ञानम्) मनः—अव्ययः–सत्त्वम्

} इन्द्रवायुगर्भितः"अग्निः" मूलात्मा विराट्-विष्णुः

—*—

१–सर्वज्ञः——शिवः—दिव्यः——दिव्यसर्गाधिष्ठाता —सत्त्वमूर्त्तिः
२–हिरण्यगर्भः-ब्रह्मा—आन्तरिक्ष्यः—आन्तरिक्ष्यसर्गाधिष्ठाता–रजोमूर्त्तिः
३–विराट्—विष्णुः-पार्थिवः———पार्थिवसर्गाधिष्ठाता——तमोमूर्त्तिः

———*———

१–सत्त्वमूर्त्तिः शिवः—सत्त्वविशालसर्गप्रवर्त्तकः—ज्ञानयोगाधिष्ठाता—ससंज्ञभूतसर्गाणाञ्च ।
२–रजोमूर्त्तिर्ब्रह्मा——रजोविशालसर्गप्रवर्त्तकः—भक्तियोगाधिष्ठाता—अन्तःसज्ञभूतसर्गाणाञ्च ।
३–तमोमूर्त्तिर्विष्णुः—तमोविशालसर्गप्रवर्त्तकः—कर्म्मयोगाधिष्ठाता—असंज्ञभूतसर्गाणाञ्च ।

———*———

८५—इन्द्रात्मलक्षण सर्वज्ञ शिव से अनुप्राणित त्र्यात्मक–सत्त्वविशाल-ससंज्ञ–सर्ग का स्वरूप–परिचय-(सत्त्वविशालसर्गस्त्र्यात्मकः-दिव्यः–(१)—

चतुर्दशविध भूतसर्गों की मूलप्रतिष्ठा का दिग्दर्शन कराया गया। अब क्रमशः-तीनों के अवान्तर विभागों का विवेचन करते हुए तीनों के स्वरूपों की मीमांसा प्रस्तुत की जाती है। क्रमप्राप्त पहिले सत्त्वमूर्त्ति, सत्त्व-विशालसर्ग के प्रवर्त्तक सर्वज्ञ इन्द्रात्मा शिव से सम्बन्ध रखने वाले **ससंज्ञसर्ग** का ही विचार कीजिए।

'संसज्ञ' उस सर्ग का नाम है, जिस में ज्ञानभाग (चिदंश) की अभिव्यक्ति--प्राधान्य के साथ साथ क्रिया, एवं अर्थशक्ति का भी विकास रहे। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, जिस जीव में ज्ञानप्रधान सर्वज्ञ, क्रियाप्रधान हिरण्यगर्भ, एवं अर्थप्रधान विराट्, इन तीनों आधिदैविक आत्माओं का, किंवा एक ही आत्मा के इन तीनों विवर्तों का समावेश रहेगा, समावेश नहीं (क्योंकि समावेश तो त्रिवृद्भाव के कारण सब में है), अपितु अभिव्यक्ति रहेगी, वही **'संसज्ञजीव'** कहलाएगा। एवं उसे ही हम **"चेतन"** कहेंगे।

यह चेतनसर्ग चान्द्र सोम, तथा दिव्य इन्द्र के भेद से दो भागों में विभक्त है। पाठकों को स्मरण होगा कि, हमने सचन्द्रा पृथिवी को भूतसर्ग की प्रवर्तिका बतलाया था। जिन चेतनजीवों में चान्द्रसोम की प्रधानता रहती है, उन्हें **'देवता'** कहा जाता है, और ये पूर्वकथनानुसार **ब्रह्म-प्रजापति** आदि भेद से आठ भागों में विभक्त है। जिनमें चान्द्रप्राण गौण, एवं इन्द्रप्राण मुख्य रहता है, वही दूसरा चेतनवर्ग है। इसके **मनुष्य पशु-पक्षी-कीट-कृमि**, ये पाँच विभाग हैं।

पाचों में भी क्रमिक, ज्ञानवृद्धि है, यह बतलाया ही जाचुका है। कृमि के **सहस्रपात-शतपाद्-षोडशपात्** आदि अनेक भेद हैं। इनमें चेतना की अभिव्यक्ति स्वल्पमात्रा में है। पार्थिव आकर्षण अधिक है, ज्ञानप्रद इन्द्र की मात्रा स्वल्प है। अतएव ये भूपृष्ठ पर रेंगते हुए ही चलते हैं। भूपृष्ठ को छोड़कर अधर उठ जाना इन की शक्ति के बाहिर है। **भ्रमर-मक्षिका-मशक**-आदि वे सब प्राणी **कीट** कह-लावेंगे, जो भूपृष्ठ के साथ साथ निरावलम्ब भी रहसकते है। कृमि की अपेक्षा इन में चेतना की अधिक अभिव्यक्ति हुई। परिणामतः पार्थिव-आकर्षण शिथिल हुआ। कृमिके अनन्तर **पक्षियों** का स्थान है। पक्षी में ओर अधिक चेतना आई। पक्षी का मस्तकभाग द्युलोकस्थ इन्द्राकर्षण से थोड़ा ऊँचा होगया, पृष्ठभाग नीचा रहा। यहाँतक तो एक क्रम चला। अब यहाँ से पशु में क्रम बदल गया। पार्थिव, एवं सौर आकर्षण समानभाव में परिणत होगया। पक्षी के मस्तक-पृष्ठ भाग जहाँ ऊर्ध्व-अधः थे, वहाँ पशु के मस्तक-पृष्ठभाग समान धरातल पर आगए। आगे फिर क्रम बदला। मनुष्य में चेतना की पूर्ण अभि-व्यक्ति होगई। फलतः इसके आगे का मस्तकभाग पार्थिव आकर्षण से विमुक्त होता हुआ सौर इन्द्र की ओर वितत होकर (तन कर) खड़ा होगया। परन्तु इसके शरीर में मिट्टी का भाग अधिक रहा, अतएव यह भूपृष्ठ को न छोड़सका। इसी आधारभाव के लिए इसे पैरों की अपेक्षा हुई—**"पद्भ्यां भूमि प्रतिष्ठितः"**। आगे जाकर सोम की वृद्धि से चेतना में ओर भी अधिक वृद्धि हुई। सोम चिद्ग्राहक **'त्रीध्र'** पदार्थ है। यही चित् को अपने गर्भ में धारण कर प्राणात्मक इन्द्र को **प्राज्ञ**, किंवा **सर्वज्ञ** बनाता है। क्योंकि सोम की वृद्धि से चेतना की अधिक अभिव्यक्ति हुई, अतएव वह चेतनसर्ग पार्थिव आकर्षण से सर्वथा मुक्त होगया। उसे पैरों की आवश्यकता नही रही। आवश्यकता पड़ने पर सब प्रकार के शरीर धारण कर लेना इस का जन्म-सिद्ध धर्म्म बन गया। कृमि-कीटादि की भाँति इन आठ देवियोनियों में भी चेतना की क्रमिक अभिव्यक्ति हुई, जिस का कि विस्तार करना सर्वथा अप्राकृत होगा। इसप्रकार-चान्द्र सोम,--और दिव्य इन्द्रके तारतम्य से चेतन-सर्ग दो भागो विभक्त होगया। पहिला सर्ग आठ भागों में विभक्त हुआ, दूसरा ५ भागों में। सम्भूय सत्व--विशाल चेतनसर्ग के १३ विवर्त्त होगए। इसे हम **दिव्यसर्ग** ही कहेंगे। विराट् का अंश यहाँ **'वैश्वानर'** कहलाया, हिरण्यगर्भ का अंश **'तैजस'** कहलाया, एवं सर्वज्ञ का अंश **'प्राज्ञ'** कहलाया।

इन तीन आत्म-विवर्त्तों के कारण ही यह ससंज्ञ--सत्त्वविशालसर्ग "त्र्यात्मक" सम्बोधन का अधिकारी बना ।

८६–आप्त्यात्मलक्षण हिरण्यगर्भ ब्रह्मा से अनुप्राणित द्व्यात्मक रजोविशाल–अन्तः–संज्ञ–सर्ग का स्वरूप–परिचय (रजोविशालसर्गः--द्व्यात्मकः–आन्तरिक्ष्यः–(२)—

पार्थिवभाग की अधिकता से जीवों में चेतनांश अभिभूत होगया (दब गया), वे ही जीव "**अन्तः–संज्ञ**" नाम से प्रसिद्ध हुए । इन में आन्तरिक्ष्य हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के, एवं पार्थिव विराट् विष्णु के प्रत्यशों की ही प्रधानता रही । सर्वज्ञ के तिरोभावलक्षण अभाव से ये पृथिवी के मूल को न छोड़सके । विराट् के द्वारा इनके शरीर का निर्म्माण हुआ, एवं हिरण्यगर्भांशभूत तैजसवायु के द्वारा इन में ऊर्ध्वगमन--लक्षण गतिभाव का विकास हुआ । हिरण्यगर्भांशभूत तैजसवायु के विकास से ये बढ़ तो अवश्य गए, परन्तु मूल (भूगर्भ) को न छोड़सके । अतएव इन्हें **मूलजीव** कहा गया । यद्यपि अमरवल्ली आदि कुछ एक वल्लियाँ अवश्य ही ऐसी हैं, जो वृक्षों पर विना पृथिवीमूल के भी व्याप्त होजाती हैं । परन्तु इन में भी पूर्वदेश त्याग--उत्तर प्रदेशसंयोग--लक्षणा--प्राज्ञानुगता गति का तो अभाव ही है । अतएव इन को भी निर्म्मूल नहीं माना जासकता । इन मूलजीवों का आरम्भ स्तम्ब से होता है, एवं समाप्ति वृक्षों पर होती है । **स्तम्ब–कुश-काश-वल्ली-गुल्म-लता-तृण-उलुप-शुपक-वृक्ष** आदि अनेक विवर्त्तों में ये अन्तःसंज्ञ विभक्त हैं । इनमें केवल त्वगिन्द्रिय का ही विकास रहता है । जो अवस्था स्वप्नावस्था में मानव की रहती है, वही अवस्था इन अन्तः-संज्ञ जीवों की है । स्वप्न में हमारी **संज्ञा (प्रज्ञानमनोऽनुगत चिदंश)** अन्तर्मुख रहती है, एवमेव इनकी चेतना सदा अन्तर्मुख ही रहती है । अतएव इन्हें—"**अन्तःसंज्ञ**" कहा जाता है । त्वगिन्द्रिय के विकास के द्वारा ही इनमें **श्रवण-दर्शन–हसन–गन्ध--ग्रहणादि व्यापार होते हैं** । इसी के द्वारा इन्हें सुख-दुःखानुभव हुआ करता है । परन्तु जिसप्रकार स्वाप्न दुःख--सुखों--के प्रतीकार में हम असमर्थ रहते है, एवमेव स्वप्नावस्था से नित्ययुक्त ये अन्तःसंज्ञ जीव सुख--दुःख का अनुभव करते हुए भी इनके प्रतीकार में असमर्थ रहते हैं— "**अन्तःसंज्ञा भवंत्येन्ते सुखदुःखसमन्विताः**" (महाभारत) ।

इनका प्रधान आत्मा रजोमूर्त्ति हिरण्यगर्भ ब्रह्मा (वायु) हैं, अतएव इन्हें हम पूर्वपरिभाषानुसार भक्ति-योगानुमामी कहसकते हैं । इन में ज्ञान का भी आंशिक समावेश है, इसलिए तो ये अन्तःसंज्ञ हैं, अर्थ का भी समावेश है, इसलिए ये असंज्ञवत् हैं । सान्ध्य-अवस्था ही स्वप्नावस्था है । ज्ञानानुगता जाग्रदवस्था का इनमें अभाव है । उधर आप का भक्तियोग भी सान्ध्य ही माना गया है । ब्रह्मा का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है, अतवए इस अन्तःसंज्ञ, रजोविशालसर्ग को हम "**आन्तरिक्ष्य**" कह सकते हैं । वृक्षों में चेतना है, अथवा नहीं ?, इस प्रश्न की मीमांसा की आज कोई भी आवश्यकता नहीं रही, जब कि भारतललाम स्व० श्री **जगदीशचन्द्र वसु** ने यन्त्रों के द्वारा इस रहस्य को सभी के लिए व्यक्त कर दिया है ।

८७–अग्न्यात्मलक्षण विराट् विष्णु से अनुप्राणित एकात्मक तमोविशाल-सर्ग का स्वरूप–परिचय–(तमोविशालसर्गः-एकात्मकः–पार्थिवः–(३)—

पार्थिवभाग की ओर वृद्धि हुई । शेषभूता चेतना भी आत्यन्तिकरूप से अभिभुत होगई । केवल पार्थिव अग्नि का ही (विराडंशका ही) साम्राज्य शेष रह गया । वे ही जीव "**असंज्ञ**", किंवा '**अचेतन**' कह-

लाए। यह तो प्रत्येक दिशा में नहीं हीं भुलाना चाहिए कि, **चेतन–अचेतन--अर्द्धचेतन** इत्यादि व्यवहारों का कारण "**चिद्भाव--चिदभाव (आत्मसत्ता--आत्माभाव)** नहीं है। क्योंकि वैदिक-विज्ञान के अनुसार (आत्मा के त्रिवृदभाव के कारण) ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, **जिसमें मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मा प्रतिष्ठित न हो**। चिदंश का विकास, एवं अविकास ही उक्त व्यवहार का कारण है। इन्द्रियों के द्वारा ही चिदंश विकसित होता है। मेघ से यदि सौरप्रकाश आवृत होगया, मुखावरोध से घटस्थ दीपक का प्रकाश यदि अवरूद्ध होगया, तो इस अवरोधमात्र से ही सौरप्रकाश, एवं दीपप्रकाश का त्रैलोक्यावच्छिन्न पुराणाकाश में, एवं घटावच्छिन्न घटाकाश में अभाव नहीं माना जासकता। एवमेव प्रकाशसूचक इन्द्रियवर्ग के अभाव से यदि किसी भौतिक पदार्थ में चेतना का विनिर्गमन नहीं है, तो एतावता ही उसके भूताकाश को आत्मशून्य नहीं कहा जासकता। **इन्द्रियसत्ता, एवं इन्द्रियाभाव ही चेतन-जड़ भेद का कारण है, न कि आत्मसत्ता, एवं आत्माभाव**, जैसाकि–"**सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्**" इत्यादि आर्षवचनों से स्पष्ट है।

जो अवस्था सुषुप्तिकाल में हमारी रहती है, वही अवस्था इन असंज्ञजीवों की रहती है। इन में सर्वज्ञ शिवांशरूप प्राज्ञ, हिरण्यगर्भ ब्रह्मांशशभूत तैजस (ज्ञान–क्रिया) दोनों अभिभूत हैं। केवल विराट् विष्णु के अंशभूत अर्थप्रधान वैश्वानर की ही इन में प्रधानता है। अतएव इन्हें "एकात्मक" कहाजाता है। ये ही 'धातुजीव' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। सर्वज्ञ के विकासाभावलक्षण अभाव से न इन में ज्ञान है, एवं हिरण्यगर्भ के विकासाभावलक्षण अभाव से न इनके स्वरूप में वृद्धि है। ये जैसे के तैसे ही रहते हैं। यही सांख्यशास्त्र का "**स्थावरसर्ग**" है। क्योंकि इन में त्रिवृत्स्थानीय पार्थिव वैश्वानर का ही विकास है, अतएव इसे हम पार्थिवसर्ग ही कहेंगे। वैश्वानर क्षरानुगामी बनता हुआ तमोमय है। अतएव इस सर्ग को "**तमोविशालसर्ग**" कहा जायगा।

सौगन्धिक, पद्मराग, अनवद्यराग, पारिजातपुष्पक, बालसूर्य्यक, वैदूर्य्य, इन्द्रनील, कलायपुष्पक, महानील, नन्दक, शीतवृष्टि (चन्द्रकान्त), सूर्य्यकान्त आदि मणियाँ, सप्त धातु, सप्त उपधातु, सप्त रस, सप्त उपरस, सप्त विष, सप्त उपविष आदि ४२ रसगर्व, पन्ना, पुखराज, हीरक, मोती, अभ्रक, कांच, आदि आदि सब इस तीसरे स्थावर असंज्ञसर्ग में हीं अन्तर्भूत हैं। तमोविशाल असंज्ञसर्ग का यही संक्षिप्त स्वरूप–निदर्शन है।

अष्टविकल्प दैवसर्ग, पञ्चविकल्प तिर्य्यक्सर्ग, इन १३ सर्गों की समष्टि ही सत्त्वविशाल दिव्यसर्ग है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव द्युलोक ही इन की मूलप्रतिष्ठा है। ज्ञानयोग ही इनका अधिष्ठान है। एकविध, किंवा अनेकविध अन्तःसर्ग ही रजोविशाल आन्तरिक्ष्य सर्ग है। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव अन्तरिक्षलोक ही इन की मूल प्रतिष्ठा है। भक्तियोग ही इनका अधिष्ठान है। एकविध, किंवा अनेकविध असंज्ञसर्ग ही तमोविशाल पार्थिवसर्ग है। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव पृथिवीलोक ही इन की मूलप्रतिष्ठा है। एवं कर्म्मयोग ही इन का अधिष्ठान है। सत्त्वविशालसर्ग जाग्रत्-अवस्था है, रजोविशालसर्ग स्वप्नावस्था है, एवं तमोविशालसर्ग सुषुप्ति-अवस्था है। सत्त्वरजस्तम के तारतम्य से इनमें प्रत्येक में भी तीन तीन विभाग होसकते हैं, जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा।

विज्ञानसम्मत–योगमायानुबन्धी सर्ग—

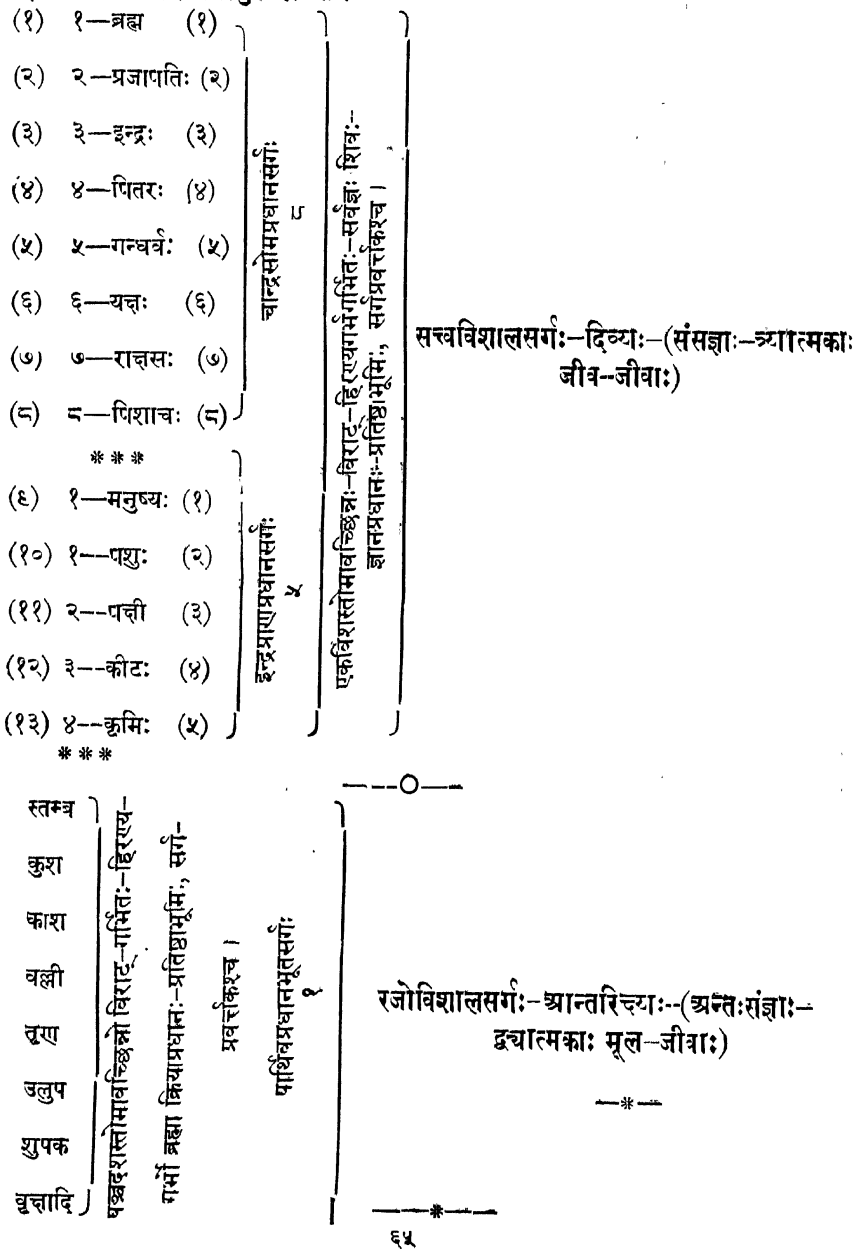

मणि
मुक्ता
वज्र
काच
गंधक
पारद
अभ्रक–आदि

विवृतरत्नोमावच्छिन्नो विराट् विष्णुः–अर्थप्रधानः–प्रतिष्ठाभूमिः सर्गप्रवर्तकश्च ।

तमोविशालसर्गः–पार्थिवः–(ससंज्ञाः–एकात्मकाः धातु–जीवाः)

—*—

१—सर्वज्ञांश ——प्राज्ञः——ज्ञानप्रधानः—अग्निवायुगर्भितः—इन्द्रः—इन्द्रात्मा—शिवः

२—हिरण्यगर्भांशः–तैजसः—क्रियाप्रधानः–अग्नीन्द्रगर्भितः——वायुः—हंसात्मा—ब्रह्मा

३—विराडंशः——वैश्वानरः-अर्थप्रधानः-वाय्विन्द्रगर्भितः——अग्निः–मूलात्मा—विष्णुः

—*—

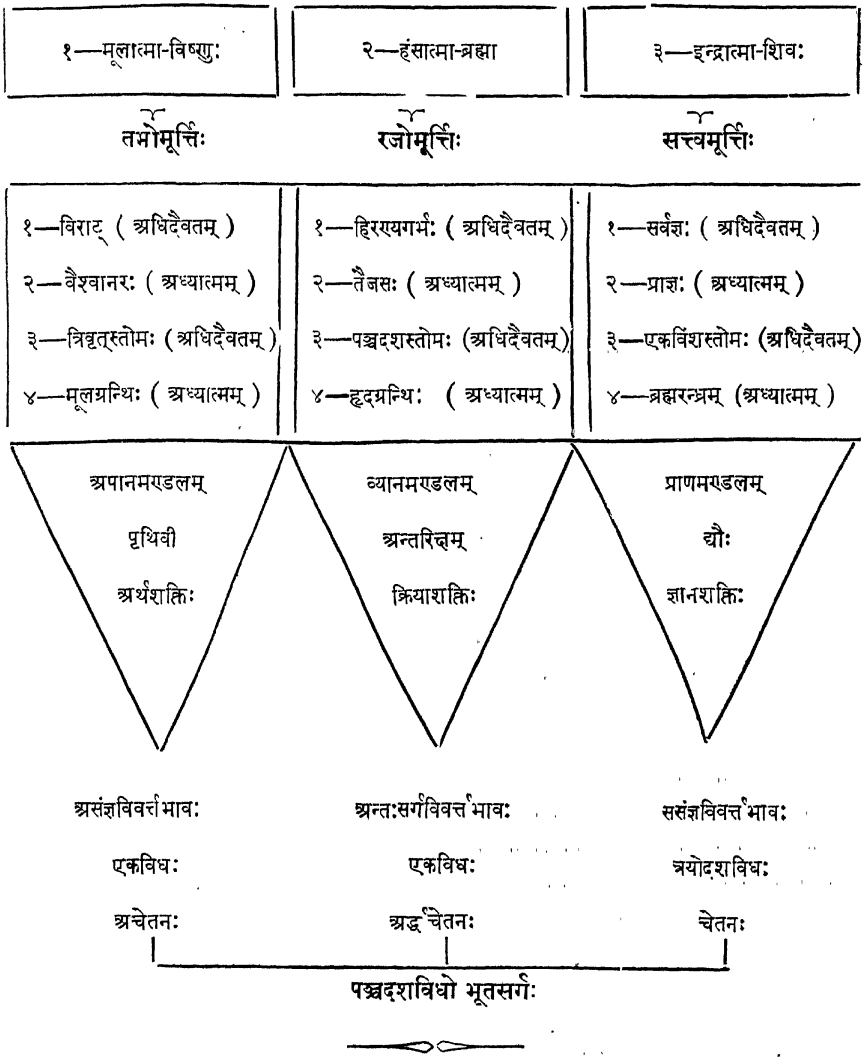
१—मूलात्मा-विष्णुः
२—हंसात्मा-ब्रह्मा
३—इन्द्रात्मा-शिवः
तमोमूर्त्तिः
रजोमूर्त्तिः
सत्त्वमूर्त्तिः
१—विराट् (अधिदैवतम्)
२—वैश्वानरः (अध्यात्मम्)
३—त्रिवृत्स्तोमः (अधिदैवतम्)
४—मूलग्रन्थिः (अध्यात्मम्)
१—हिरण्यगर्भः (अधिदैवतम्)
२—तैजसः (अध्यात्मम्)
३—पञ्चदशस्तोमः (अधिदैवतम्)
४—हृदग्रन्थिः (अध्यात्मम्)
१—सर्वज्ञः (अधिदैवतम्)
२—प्राज्ञः (अध्यात्मम्)
३—एकविंशस्तोमः (अधिदैवतम्)
४—ब्रह्मरन्ध्रम् (अध्यात्मम्)
अपानमण्डलम्
पृथिवी
अर्थशक्तिः
व्यानमण्डलम्
अन्तरिक्षम्
क्रियाशक्तिः
प्राणमण्डलम्
द्यौः
ज्ञानशक्तिः
असंज्ञविवर्त्तभावः
एकविधः
अचेतनः
अन्तःसर्गविवर्त्तभावः
एकविधः
अर्द्धचेतनः
ससंज्ञविवर्त्तभावः
त्रयोदशविधः
चेतनः
पञ्चदशविधो भूतसर्गः

१–प्राज्ञः
२–तैजसः } ससंज्ञास्त्र्यात्मका जीवाः–(जीवाः) ज्ञानयोगानुगताः
३–वैश्वानरः

१–तैजसः
२–वैश्वानरः } अन्तःसंज्ञाः–द्व्यात्मका जीवाः (मूलानि) भक्तियोगानुगताः

१–वैश्वानरः]–असंज्ञाः–एकात्मका जीवाः (धातवः) कर्म्मयोगानुगताः

——*——

८८–प्रकृतिनिबन्धन-त्रिगुणभाव का विस्तार, एवं भाव-गुण-विकार--सर्गत्रयी--से समन्वित विश्वसर्ग—

प्रकृति के क्रमिक अवतारभावों को लक्ष्य में रख कर ही हमें त्रिगुणभाव की व्याप्ति का विचार करना चाहिए । सत्त्वप्रधान पुरुषानुबन्धी भावसर्ग, रजःप्रधान महामाया–(अक्षरा)–नुबन्धी गुणसर्ग, एवं तमःप्रधान योगमाया–(क्षरा)–नुबन्धी विकारसर्ग, ये तीनों क्रमशः सत्त्वविशाल–रजोविशाल–तमोविशाल-सर्ग हैं । यही मौलिक विश्वसर्ग है । इन तीनो में से भावसर्ग स्वयम्भू–परमेष्ठी से, गुणसर्ग सूर्य्य से, एवं विकारसर्ग चन्द्रगर्भिता पृथिवी से सम्बन्ध रखता है ।

८९–सत्त्वविशाल-ससंज्ञसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विवर्त्त—

इस तमोविशाल पार्थिवसर्ग के भी सत्त्वविशाल ससंज्ञसर्ग, रजोविशाल अन्तःसंज्ञसर्ग, एवं तमोविशाल असंज्ञसर्ग भेद से तीन विभाग होजाते हैं । इनमें भी प्रत्येक सर्ग तीनों सर्गों से आक्रान्त है । क्रमप्राप्त पहिले सत्त्वविशाल–ससंज्ञसर्ग को ही लीजिए । अष्टविध दिव्य चान्द्रदेवसर्ग सत्त्वविशाल है, मनुष्य सर्ग आन्तरिक्ष्य बनता हुआ रजोविशाल है, एवं पशु-पक्षी-कृमि-कीट, इन चारों की समष्टि पार्थिवप्राण-प्रधान बनती हुई तमोविशाल है ।

९०–रजोविशाल–अन्तःसंज्ञसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विवर्त्त—

दूसरा रजोविशाल अन्तःसंज्ञसर्ग है । कितने एक पहाड़ी वृक्ष ऐसे हैं कि, यदि कोई प्राणी उनके समीप से निकलता है, तो वे उसीप्रकार अपनी शाखाओं से उसका वेष्टन कर लेते हैं, जैसेकि एक चेतन मनुष्य किसी वस्तु को बाहुपाश से बद्ध कर लेता है । अवश्य ही ऐसे वृक्ष–लतादि ज्ञानप्रधान माने जायँगे । छुई–मुई [लाजवन्ती] के यदि करस्पर्श कर दिया जाता है, तो वह उसीप्रकार नत हो जाती है, जैसेकि एक स्त्री श्वसुरादि के साक्षात्कार से लज्जा से विनम्रमुखी बन जाती है । ऐसे कतिपय अन्तःसंज्ञजीवों को हम अवश्य ही ज्ञानप्रधान मानते हुए सत्त्वविशाल कहेंगे । कमल–सूर्य्यमुखी आदि कतिपय पुष्पों में विकास-

एवं मुकुलित-भावानुबन्धी क्रियाभाव प्रत्यक्ष में देखा जाता है। क्रिया का रजोगुण से सम्बन्ध है। ऐसी दशा में ऐसे अन्तःसंज्ञ जीवों को अवश्य ही 'रजोविशाल' माना जासकता है। वट–पिप्पल–निम्ब–करीर–ताल [खजूर] आदि कर्कशाङ्ग, सर्वथा स्थूणरूप वृक्ष–ओषधि आदि अन्तःसंज्ञ जीवों को अवश्य ही तमोविशाल माना जासकता है।

६१–तमोविशाल-असंज्ञसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा–विवर्त्त—

तीसरा तमोविशाल असंज्ञवर्ग है। चन्द्रकान्त, सूर्य्यकान्त, स्फटिक, वैदूर्य्य, आदि ज्योतिर्घन मणियाँ प्रकाशरूप ज्ञानविकास के सम्बन्ध से सत्त्वविशाल मानी जासकती है। रेडियम, फास्फोरस, हीरक, मुक्ता, माणक, पन्ना, नीलम, पुष्पराग [पुखराज], गोमदेक, आदि पदार्थों को सामान्य विकास के सम्बन्ध से रजोविशाल कहा जासकता है। एवं सुवर्ण, रजत, ताम्र, सीसक, काँस्य, पित्तल आदि स्थूल, अप्रकाशित धातुवर्ग को अवश्य ही तमोविशाल माना जासकता है।

६२–सत्त्वविशाल-देवसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा–विवर्त्त

संसज्ञवर्ग के सत्त्वविशाल देवसर्ग को लीजिए। ब्रह्म–प्रजापति का युग्म ज्ञानप्रधान बनता हुआ सत्त्वविशाल है, इन्द्र-पितर का युग्म क्रियाप्रधान बनता हुआ रजोविशाल है, एवं गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच-चारों अर्थप्रधान बनते हुए तमोविशाल हैं।

६३–रजोविशाल-मानवसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा–विवर्त्त—

ससंज्ञवर्ग के रजोविशाल मनुष्यसर्ग को लीजिए। ब्रह्मवीर्य्ययुक्त, अतएव ज्ञानप्रधान मनुष्य [भारतीय परिभाषा के अनुसार ब्राह्मणवर्ण] सत्त्वविशाल है। क्षत्रवीर्य्ययुक्त, अतएव क्रियाप्रधान मनुष्य [क्षत्रियवर्ण] रजोविशाल है। एवं विड्वीर्य्ययुक्त, अतएव अर्थप्रधान मनुष्य [वैश्यवर्ण] तमोविशाल है।

६४–मानवव्यक्ति-निबन्धन-त्रिगुणात्मक तीन महिमा–विवर्त्त—

केवल मनुष्य का ही विचार कीजिए। ज्ञानशक्तियुक्त शिरोभाग सत्त्वविशाल है, क्रियाशक्तियुक्त हृत्-वक्षस्थल रजोविशाल है, एवं अर्थसंचयाधिष्ठाता उदरभाग तमोविशाल है। अथवा ललाट प्रदेशस्थ शिरो-गुहारूप अमृतस्थान ज्ञानात्मक श्वेतवर्ण प्रज्ञान शिव से युक्त होता हुआ सत्त्वविशाल है। हृदयस्थान क्रिया-प्रधान रक्तवर्ण ब्रह्मा से युक्त होता हुआ रजोविशाल है। एवं नाभिस्थान अर्थप्रधान, नीलवर्ण विष्णु से युक्त होता हुआ तमोविशाल है। केवल मस्तिष्क को लीजिए। आदित्यात्मक [इन्द्रात्मक] चक्षु ज्ञानप्रधान बनता हुआ सत्त्वविशाल है। वाय्वात्मिका नासिका क्रियाप्रधान बनती हुई रजोविशाल है। एवं अग्न्यात्मक मुख अर्थप्रधान बनता हुआ तमोविशाल है। करणों की दृष्टि से देखिए। ज्ञानाधिष्ठात्री बुद्धि सत्त्वविशाल है, उभयात्मक मन रजोविशाल है, एवं अर्थानुगत इन्द्रियवर्ग तमोविशाल है। खण्डात्मदृष्टि से मनुष्यशरीरगत आत्मविवर्त्त का विचार कीजिए। अव्यक्त-महत् का युग्म ज्ञानप्रधान बनता हुआ सत्त्वविशाल है, विज्ञानात्मा [बुद्धि] क्रियाप्रधान बनता हुआ रजोविशाल है, एवं प्रज्ञानयुक्त प्राणात्मा अर्थासक्त बनता हुआ तमोविशाल है।

६५--भूतसर्गनिबन्धन-त्रिगुणात्मक-विविध महिमा--विवर्त्तों का स्वरूप--समन्वय—

ससंज्ञवर्ग के तमोविशाल पश्वादिसर्ग की मीमाँसा कीजिए । ज्ञान की विशेष मात्रा से युक्त पक्षी सत्त्वविशाल है, क्रियानुगत पशु मध्यम श्रेणि में प्रतिष्ठित होता हुआ रजोविशाल है, एवं कृमि-कीटवर्ग जड़ समकक्ष बनते हुए तमोविशाल हैं। केवल पक्षियों को लीजिए । स्वर्गीय भेरुण्ड, शुक, सारिका आदि ज्ञानीय पक्षी सत्त्वविशाल हैं, चटक-सारस-तीतर-बाज-बगुला आदि पक्षी रजोविशाल हैं । एवं काक-गृद्ध-चिल्ह आदि पक्षी तमोविशाल हैं । पशुओं को लीजिए । हाथी-अश्व आदि पशु ज्ञानप्रधान बनते हुए सत्त्वविशाल हैं। वृषभ, हरिण, शूकर, सिंह, व्याघ्र आदि पशु क्रियाप्रधान बनते हुए रजोविशाल हैं। एवं गर्दभ-श्वान-शृगाल आदि मूर्ख पशु तमोविशाल हैं। कृमियों को लीजिए । पिपीलिका [चिऊँटी] कीट [कीड़ा] आदि ज्ञानानुगत कृमि सत्त्वविशाल हैं। मत्कुण-ऊर्णनाभि आदि क्रियानुगत कृमि रजोविशाल हैं। एवं कर्दम-विष्ठा आदि निकृष्ट पदार्थों को ही अपनी आवासभूमि बनाने वाले स्थूल सूक्ष्म कृमि अर्थानुगत बनते हुए तमोविशाल हैं। कीट विभाग पर दृष्टि डालिए। भ्रमर-पतग आदि ज्ञानानुगत कीट सत्त्वविशाल हैं । वायुसंचरणशील विविध कीट [क्रियानुगत] रजोविशाल हैं। एवं मशक-मक्षिका आदि अर्थप्रिय कीट तमोविशाल हैं। इसप्रकार ससंज्ञसर्ग के प्रत्येक पर्व में भी तीनों योग व्याप्त होरहे हैं । यही दशा रजोविशाल अन्तःसंज्ञसर्ग, एवं तमोविशाल असंज्ञसर्ग की समझिए। यही नहीं, महतोमहीयान् से आरम्भ कर अणोरणीयान पर्य्यन्त, स्थूलतम से आरम्भ कर सूक्ष्मतम पर्य्यन्त, द्रव्य से आरम्भ कर परमाणु पर्य्यन्त त्रिगुणभावमय त्रियोग व्याप्त है। **ज्ञान-भक्ति-कर्म्म**-युत आत्मा का यह विश्वसर्ग इन स्वाभाविक आत्मसर्गों से कैसे वञ्चित रह सकता है- **'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय'** !। आगे की तालिकाएँ प्रकृति के इसी त्रिगुणात्मक विस्तार का यशोगान कर रही हैं

१-विश्वाषयवेषु योगत्रयोपभोगः—(मौलिकयोगत्रयी)

१-सत्त्वानुबन्धी भावसर्गः [अव्ययकृतः-मानसः--ज्ञानम्-ज्ञानयोगः [सत्त्वविशालसर्गः महद्गर्भितः स्वायम्भुवः]
२-रजोऽनुबन्धी गुणसर्गः [महामायाकृतः-प्राणमयः-क्रिया--भक्तियोगः [रजोविशालसर्गः सौरः]
३-तमोऽनुबन्धी विकारसर्गः[योगमायाकृतः-वाचिकः-अर्थः-कर्म्मयोगः [तमोविशालसर्गः--चन्द्रगर्भितः पार्थिवः]

——*——

२-योगमायानुगतेषु जीवेषु योगत्रयोपभोगः—(विकारसर्गे वा)--(पार्थिवसर्गे वा)

(क)
१—वैश्वानरतैजसप्राज्ञमूर्त्तिर्जीवः—ससंज्ञः—ज्ञानानुगतः [जीवजीवाः] सत्त्वविशालः
२—वैश्वानरतैजसमूर्त्तिर्जीवः——अन्तःसंज्ञः-क्रियानुगतः [मूलजीवाः] रजोविशालः
३—वैश्वानरमूर्त्तिर्जीवः————असंज्ञः—अर्थानुगतः [धातुजीवाः] तमोविशालः

——*——

(ख)
१—मनः (ज्ञानं)—अव्ययः—सत्त्वं—इन्द्रः [२१]—द्यौः—शिवः—ज्ञानम्
२—प्राणः [क्रिया]—अक्षरः—रजः—वायुः [१५]—अन्त०—ब्रह्मा—भक्तिः
३—वाक् [अर्थः]—क्षरः—तमः—अग्निः [६]—पृथिवी—विष्णुः—कर्म्म
} सर्वज्ञः—इन्द्रः—ज्ञानयोगाधिष्ठाता

——*——

(ग)
१—प्राणः [क्रिया]—अक्षरः—रजः—वायुः [१५] अन्त० ब्रह्मा कर्म्म
२—मनः [ज्ञानं]—अव्ययः—सत्त्वं—इन्द्रः [२१] द्यौः—शिवः—भक्तिः
३—वाक् [अर्थः]—क्षरः—तमः—अग्निः [६] पृथिवी—विष्णुः—ज्ञानम्
} हिरण्यगर्भो वायुः—भक्तियोगाधिष्ठाता

——*——

(घ)
१—वाक् [अर्थः]—क्षरः—तमः—अग्निः [६] पृथिवी—विष्णुः—कर्म्म
२—प्राणः [क्रिया]—अक्षरः—रजः—वायुः [१५] अन्त०—ब्रह्मा—भक्तिः
३—मनः [ज्ञानं]—अव्ययः—सत्त्वं—इन्द्रः [२१] द्यौः—शिवः—ज्ञानम्
} विराड्विष्णुः—कर्म्मयोगाधिष्ठाता

——*——

(ङ)
१—सर्वज्ञांशभूताः —वैश्वानरतैजसप्राज्ञलक्षणजीवाः—ससंज्ञाः —ज्ञानिनः
२—हिरण्यगर्भांशभूताः—वैश्वानरतैजसलक्षणजीवाः —अन्तःसंज्ञाः—उपासकाः
३—विराडंशभूताः —वैश्वानरलक्षणजीवाः —असंज्ञाः —कर्म्मपरतन्त्राः

——*——

३—सत्त्वविशालेषु-ज्ञानयोगानुगतेषु—ससंज्ञेषु योगत्रयोपभोगः—

१—अष्टविकल्पो दैवसर्गः —सत्त्वविशालः—[ज्ञानयोगी]
२—मनुष्यसर्गः —रजोविशालः —[उपासकः]
३—पशु-पक्षि-कृमि-कीट-सर्गः —तमोविशालः —[कर्म्मपरतन्त्रः]

——*——

४-रजोविशालेषु-भक्तियोगानुगतेषु-अन्तःसंज्ञेषु योगत्रयोपभोगः—

१—लाजवन्ती —चेतनायुक्ताः —पर्वतीयवृक्षाः —सत्त्वविशालाः —ज्ञानिनः
२—कमल —सूर्य्यमुखी —आदिवृक्षपुष्पाः —रजोविशालाः —उपासकाः
३—वट —पिप्पल —तालादिवृक्षाः —तमोविशालाः —कर्म्मपरतन्त्राः

—*—

५—तमोविशालेषु-कर्म्मयोगानुगतेषु-असंज्ञेषु-योगत्रयोपभोगः—

१—मणिवर्गः —सत्त्वविशालः —ज्ञानी
२—हीरकपन्नकादिवर्गः —रजोविशालः —उपासकः
३—सुवर्ण-रजतादिधातुवर्गः—तमोविशालः—कर्म्मपरतन्त्रः

—*—

६-ससंज्ञात्मके-सत्त्वविशाले-ज्ञानयोगानुगते-देवसर्गे योगत्रयोपभोगः—

१—ब्रह्म च प्रजापतिश्च —सत्त्वविशालौ —ज्ञानिनौ
२—इन्द्रश्च पितरश्च —रजोविशालौ —उपासकौ
३—गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाचाः —तमोविशालाः —कर्म्मपरतन्त्राः

—*—

७—ससंज्ञात्मके-रजोविशाले—भक्तियोगानुगते—मनुष्यसर्गे—योगत्रयोपभोगः—

१—ब्रह्मवीर्य्योपेता मनुष्याः —सत्त्वविशालाः —ज्ञानिनः
२—क्षत्रवीर्य्योपेता मनुष्याः —रजोविशालाः —उपासकाः
३—विड्वीर्य्योपेता मनुष्याः —तमोविशालाः —कर्म्मपरतन्त्राः

—*—

८-केवलेषु-मनुष्येष्वेव योगत्रयोपभोगः—

(क) १—शिरोभागः —सत्त्वविशालः —ज्ञानी
२—हस्तौ, उरश्च—रजोविशालः —उपासकः
३—उदरम् —तमोविशालः —कर्म्मपरतन्त्रः

—*—

(ख) १—शिरोगुहात्मकममृतंस्थानम्—सत्त्वविशालम्—ज्ञानी
२—हृदयस्थानम् —रजोविशालम्—उपासकः
३—नाभिस्थानम् —तमोविशालम्—कर्म्मपरतन्त्रः

—*—

९–केवलमस्तिष्के–एव योगत्रयोपभोगः—

१—इन्द्रात्मकश्चक्षुः —सत्त्वविशालम् —ज्ञानी
२—वाय्वात्मिका नासिका—रजोविशाला —उपासकः
३—अग्न्यात्मकं मुखम् —तमोविशालम् —कर्म्मपरतन्त्रः

——*——

१०–करणेषु योगत्रयोपभोगः—

१—बुद्धिः —सत्त्वविशाला —ज्ञानयोगानुगता
२—मनः —रजोविशालम् —भक्तियोगानुगतम्
३—इन्द्रियाणि–तमोविशालानि —कर्म्मायोगानुगतानि

——*——

११–खण्डात्मवर्गे योगत्रयोपभोगः—

१—महद्गर्भिताव्यक्तात्मा—सत्त्वविशालः—ज्ञानी
२—विज्ञानात्मा ——रजोविशालः—उपासकः
३—प्रज्ञानगर्भितप्राणात्मा—तमोविशालः—कर्म्मपरतन्त्रः

——*——

१२–ससंज्ञात्मके तमोविशाले कर्म्मयोगानुगते पश्वादिसर्गे योगत्रयोपभोगः—

१—पक्षिणः—सत्त्वविशालाः—ज्ञानिनः
२—पशवः —रजोविशालः —उपासकः
३—कृमिकीटाः–तमोविशालाः—कर्म्मपरतन्त्राः

——*——

१३–सत्त्वविशालेषु ज्ञानयोगानुगतेषु पक्षिषु योगत्रयोपभोगः—

१—भैरुण्ड–शुक—सारिकादयः—सत्त्वविशालाः—ज्ञानिनः
२—चटक–सारस—बकुलादयः—रजोविशालाः —उपासकाः
३—काकगृद्धादयः — —तमोविशालाः —कर्म्मपरतन्त्राः

——*——

१४–रजोविशालेषु भक्तियोगानुगतेषु पशुषु योगत्रयोपभोगः—

१—गज —तुरगादयः—सत्त्वविशालाः—ज्ञानिनः
२—वृषभ—मृगादयः —रजोविशालाः—उपासकाः
३—गर्द्दभ—श्वानादयः–तमोविशालाः—कर्म्मपरतन्त्राः

——*——

१५–तमोविशालेषु, कर्म्मयोगानुगतेषु कृमिषु योगत्रयोपभोगः—

१—पिंपीलिका—कीटादयः —सत्त्वविशालाः—ज्ञानिनः
२—ऊर्णनाभि—मत्कुणादयः–रजोविशालाः—उपासकाः
३—मलिनद्रव्यगताः ——तमोबिशालाः—कर्म्मपरन्त्राः

——*——

१६–तमोविशालेषु कर्म्मयोगानुगतेषु कीटेषु योगत्रयोपभोगः—

१—भ्रमर—पतंगादयः ——सत्त्वविशालाः—ज्ञानिनः
२—अन्तरिक्षचारिणो विविधाः —रजोविशालाः—उपासकाः
३—मक्षिका–मशकादयः ——तमोविशालाः—कर्म्मपरतन्त्राः

——*——

त्रिगुणात्मिका प्रकृति [योगमाया] क्या करती है ?, इस प्रश्न का प्रतिप्रश्न है–प्रकृति क्या नहीं करती ? । त्रैलोक्य [पार्थिव-द्यावापृथिवी] में जो कुछ "अस्ति" कहने योग्य है, वह सबकुछ अदितिपृथिवीरूपा [चन्द्रगर्भिता] इसी त्रिगुणात्मिका दुरत्यया, दुर्विज्ञेया योगमाया का विस्तार है । अपने सत्त्वानुबन्धी ज्ञान–योग से, रजोऽनुबन्धी भक्तियोग से, एवं तमोऽनुबन्धी कर्म्मयोग से यह सर्वत्र व्याप्त होरही है । इसकी इसी योगात्मिका व्याप्ति से त्रैलोक्य में रहने वाले अचेतन–अर्द्धचेतन–चेतन, सब पदार्थ [प्रत्येक] तीनों योगों से व्याप्त हैं । यह स्वाभाविक ज्ञान–कर्म्म-भक्तियोग के तारतम्य से सर्वत्र सब में व्याप्त है । यही इन तीनों योगों की प्रकृतिसिद्धा * चातुर्वर्ण्यसमा नित्यता है । एवं यही **"योगत्रयी का संक्षिप्त मौलिक विचार"** है ।

'योगत्रयी का मौलिक–विचार' नामक द्वितीय–प्रकरण उपरत

?

——*——

*–"प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं, संस्कारविशेषाच्च" ।
––वसिष्ठः

श्रीः

इति-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—

"योगत्रयी का मौलिक विचार"

नामक

द्वितीय-प्रकरण-उपरत

२

श्रीः

अथ-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—

"योगत्रयी, और भारतीय महर्षि"

नामक

तृतीय-प्रकरण

३

३–योगत्रयी और भारतीय–महर्षि

१–प्रकृतिसिद्धा-ज्ञान, भक्ति, कर्म्म-योगत्रयी, तीनों योगों का सह–समन्वय, एवं कल्पित ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगों के द्वारा प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी की अन्तर्म्मुखता—

द्वितीय-प्रकरणोपवर्णिता **प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी** का उन आप्त महर्षियोंनें अपनी योगजदृष्टि से प्रत्यक्ष किया। प्रत्यक्ष कर प्रकृतिसिद्धा वर्णव्यवस्था की भाँति तीनों योगों को प्रकृति के अनुसार वर्णधर्म्मों का अनुगामी बनाते हुए भारतीय-मानव-समाज में इन तीनों योगों को व्यवस्थित किया। ऋषियों के द्वारा व्यवस्थित वे ही प्राकृतिक योग भारतीय-शास्त्र में **ज्ञानयोग–कर्म्मयोग–भक्तियोग**, इन नामों से प्रसिद्ध हुए। तीनों हीं योग सनातन हैं, नित्यसिद्ध हैं। तीनों के सम्बन्ध में यह कल्पना करना कि, "**पहिले कर्म्मयोग का आविष्कार हुआ, अनन्तर भक्तियोग प्रचलित हुआ, सर्वान्त में एकेश्वरवादमूलक ज्ञानयोग का परिज्ञान हुआ**" सर्वथा भ्रान्ति ही मानी जायगी। अपितु जिस देवयुग में **कर्म्मयोग** का आविर्भाव हुआ था, उसी युग में **भक्तियोग**, एवं **ज्ञानयोग** भी विकास की चरमसीमा पर पहुँच चुके थे। हाँ, इस सम्बन्ध में यह तो फिर भी माना जा सकता है कि, **सत्ययुगोपलक्षित देवयुग में ज्ञानयोग की, त्रेतायुगोपलक्षित वैदिकयुग में कर्म्मयोग की, एवं द्वापरयुगोपलक्षित पौराणिकयुग में भक्तियोग की विशेष प्रधानता रही**। आगे जाकर **कलियुगोपलक्षित अन्धयुग** में तीनों हीं योगों का स्वरूप विलुप्त होगया। **ज्ञानयोग का आसन कल्पित अद्वैतवाद ने छीन लिया। कर्म्मयोग का आसन कल्पित, अवैध यज्ञकर्म्मों नें छीन लिया, एवं ज्ञानवैराज्ञानुगामी भक्तियोग का आसन अज्ञान-आसक्ति के अनुयायी, नामसंकीर्त्तन-परायण, लोकयशःकामुक वञ्चक भक्तों नें छीन लिया।**

२–'योग' शब्द–व्यवहार का कारणान्वेषण–प्रयास—

जबकि तीनों योग प्रकृतिसिद्ध थे, सहजसिद्ध थे, तो इनके विरुद्ध अपनी कल्पना का समावेश कर तीन शास्त्रीय योगों का आविष्कार क्यों किया गया ?, यह भी एक सहज प्रश्न है। '**विष्णुमाया**' नाम से प्रसिद्धा **योगमाया** का स्वरूप बतलाते हुए यह कहा गया है कि, "**योग**" शब्द का अर्थ है - **संगमन, मेल, सम्बन्ध**। अब इस सम्बन्ध में हमें यह विचार करलेना चाहिए कि **ज्ञान, कर्म्म, भक्ति**, इन तीनों के साथ किस का योग (सम्बन्ध) हुआ, जिससे कि ये तीनों प्रकृतितन्त्र "**योग**" शब्द से व्यवहृत होने लग पड़े ?।

३–वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ–मूर्त्ति शारीरिक भूतात्मा से अनुप्राणित 'योग', और तदनुबन्धिनी योगत्रयी—

मानववर्ग से सम्बन्ध रखने वाली **योगत्रयी** का **पार्थिवसर्ग** से सम्बन्ध है, जैसाकि पूर्वप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। पार्थिवसर्ग में पार्थिव आत्मा हीं प्रधान है। इसी पार्थिव आत्मा को

सांख्यपरिभाषानुसार **शारीरिक आत्मा** कहा जाता है, मनु के शब्दों में यही कर्म्मकर्त्ता **भूतात्मा है**—"**यः करोति तु कर्म्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः**" (मनु१२।१२)। इस भूतात्मा की **अर्थप्रधान वैश्वानर, क्रियाप्रधान तैजस, एवं ज्ञानप्रधान प्राज्ञ,** ये तीन कलाएँ हैं। त्रिकल भूतात्मा इन्द्रियों के द्वारा वैश्वानर भाग से भूतानुबन्धी '**अर्थ**' के साथ '**योग**' करता है, तैजसभाग से अर्थानुबन्धी '**कर्म्म**' के साथ '**योग**' करता है, एवं प्राज्ञ भाग से अर्थानुबन्धी '**ज्ञान**' के साथ योग करता है।

४—लौकिक—सामान्य-मानववर्ग के प्रकृत्यनुगत प्राकृत—ज्ञान, भक्ति, कर्म्म—योगों का स्वरूप—दिग्दर्शन—

"**प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ जानता है**"—इस वाक्य का यही अर्थ है कि, इसके आत्मा के साथ (प्राज्ञभाग के साथ) भौतिक ज्ञान का योग होरहा है। **यही प्रकृतिसिद्ध ज्ञानयोग है**। "**प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ करता रहता है**"—इस वाक्य का यही अर्थ है कि, इसके आत्मा के साथ (तैजस भाग के साथ) भौतिक सम्मुन्नति—लक्षण कर्म्म का योग हो रहा है। **यही प्रकृतिसिद्ध भक्तियोग है**। जानने-ओर-करने से, दूसरे शब्दों में ज्ञानपूर्वक कर्म्म करने से भौतिकी अर्थसम्पत्ति प्राप्त होती है। इस अर्थसम्पत्ति के साथ भी कर्त्ता-ज्ञाता आत्मा का (आत्मा के वैश्वानर भाग का) सम्बन्ध होता है। **यही प्रकृतिसिद्ध कर्म्मयोग है**।

५—प्राणिमात्र से समन्विता लौकिकी-प्राकृतिकी-ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगत्रयी—

मूर्ख से मूर्ख मनुष्य, एवं विद्वान् से विद्वान् मनुष्य, सब में भूतात्मानुगामी प्रकृतिसिद्ध ये तीनों योग व्यवस्थित हैं। जिनका योग होता **है**, वे हैं **वैषयिक ज्ञान, भौतिक कर्म्म,** एव **भौतिक पदार्थ**। जिनके साथ योग होता है, वह है **भूतात्मा, किंवा भूतात्मा की ज्ञानमय--प्राज्ञ, कर्म्ममय--तैजस, एवं अर्थमय वैश्वानर नाम की तीन कलाएँ**। प्रकृतिमूलक, प्रकृतिसिद्ध ये तीनों योग न केवल मनुष्यों में हीं, अपितु प्राणीमात्र में प्रतिष्ठित हैं।

६—मानव के वैय्यक्तिक, एवं पारिवारिक योगक्षेम, तत्संसाधक तीन सामान्ययोग, एवं लौकिक योगत्रयी से अनुप्राणित भोगपरायण मानववर्ग—

ऐसे प्रकृतिसिद्ध तीनों योग केवल **योग-क्षेम** के ही साधन हैं, प्रकृतिसमता के ही आधार हैं। यदि मनुष्य ज्ञानपूर्वक कुछ करता रहेगा, तो अर्थ-प्राप्ति के द्वारा इसकी जीवनयात्रा का सुचारु-रूप से निर्वाह होता रहेगा। ऐसे **ज्ञानी-भक्त एवं कर्म्मठ** को अपने लिए, किंवा अपने कुटुम्ब के लिए भरण-पोषण की चिन्ता का विशेष सामना न करना पड़ेगा। एक शिल्पी (कारीगर) ज्ञानपूर्वक प्रासाद-निर्म्माण का काम करता है, अर्थप्राप्ति होती है। उसके द्वारा यह अपने भूतात्मा का भी भरण पोषण करता है, एवं अपने कुटुम्ब का भी पालन करता है। यदि वह प्रकृतिसिद्ध इन तीनों तन्त्रों का परित्याग करता हुआ, अकर्मण्य बन जायगा, तो अन्नमय इसका भूतात्मा भी सुरक्षित न रहेगा, एवं साथ ही यह कुटुम्ब-कलह का भी कारण बन जायगा। तात्पर्य्य यही हुआ कि, **भूतात्मा**, भूतात्मा से सम्बद्ध **शरीर**, एवं भूतात्मा-सम्बन्धी **पुत्र-स्त्री-बन्धुवर्ग**, आदि की जीवनयात्रा को लक्ष्य में रखते हुए, इनकी रक्षा के लिए भौतिक-प्राकृतिक

ज्ञान-कर्म्म-अर्थों की ओर अपने भूतात्मा को झुकाते हुए, भोजन के लिए आत्मसमर्पण करते हुए, परसिद्धान्त के अनुसार "खाना-पीना-मौज उड़ाना" इस आदर्श? का अनुगमन करते हुए, लौकिक ज्ञान-लौकिक कर्म्म, एवं लौकिक अर्थों का अपने भूतात्मा के साथ योग करा देना ही प्रकृतिसिद्ध-ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योग हैं। इन सहजसिद्ध योगों का अनुगामी बनता हुआ शारीरक भूतात्मा बहिर्जगत् का ही उपासक बन रहा है।

७-बहिर्य्योगत्रयी से समन्वित भूतात्मा की प्रत्यगात्मानुबन्धिनी योगत्रयी से पराङ्-मुखता, एवं आत्मयोगत्रयी से वञ्चित कामभोगात्मक-बहिर्योग से समन्वित मानव की अशान्ति के मूलकारणान्वेषण का प्रयास—

शारीरिक आत्मा में जहाँ भी कहीं से ज्ञान-कर्म्म-अर्थ की मात्राएँ आई हैं, जिनके अंशानुमन से कि शारीरक भूतात्मा ज्ञान-कर्म्म-अर्थ-मय बना हुआ है, उन पर [ईश्वराव्ययप्रदत्ता]-मात्राओं से कृतमूर्त्ति भूतात्मा बहिरङ्गजगत् के ज्ञान-कर्म्म-अर्थों के साथ जहाँ युक्त है, वहाँ उस 'परसम्पत्ति' [आत्मसम्पत्ति] से वियुक्त है। अंशीरूप-'परमात्मा' "प्रत्यगात्मा" कहलाता है। इसीके अंश से देहाभिमानी शारीरिक भूतात्मा का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। क्योंकि योगमाया क्षरानुबन्धिनी है, उधर स्वयं भूतात्मा भी (मनुष्य-सर्ग भी) क्षरानुबन्धी है, एवं बहिर्जगत् भी भूतप्रधान बनता हुआ क्षरानुबन्धी ही है, अतएव क्षरप्रपञ्च में स्वभावतः आसक्त ['प्रवृत्तिरेषा-भूतानाम्'] भूतात्मा उस क्षरातीत प्रत्यगात्मा के योग से, किंवा प्रत्यगात्म-सम्बन्धी—**अनासक्त ज्ञान-कर्म्म-अर्थों के योग** से तो वञ्चित रहता है, एवं क्षरप्रधान बाह्यजगत् के प्राकृतिक [क्षरानुबन्धी], किंवा योगमायानुबन्धी ज्ञान-कर्म्म-अर्थ-प्रपञ्चों के साथ युक्त रहता है। यही बाह्ययोग [उदरपोषण का साधक बनता हुआ भी, वैषयिक क्षणिक सुखों का उत्तेजक बनता हुआ भी] इसकी अशान्ति का ही मूलकारण प्रमाणित होजाता है।

८-पशुसर्गानुगता पशव्या योगत्रयी के साथ प्राकृत मानवसर्गानुगता मानुषी-योगत्रयी का सह समतुलन, एवं इस की आत्यन्तिकी भयावहता—

प्राकृतिक-योगत्रयी की दृष्टि से मनुष्य, और पशु, दोनों समधरातल पर ही प्रतिष्ठित हैं। पशु भी प्राकृतिक-योगत्रयी का अनुगमन करता हुआ जीवनयात्रा का निर्वाह कर ही लेता है, उधर मनुष्य भी प्राकृतिक-योगत्रयी का अनुगमन करता हुआ जीवितमात्र तो रह ही सकता है। वह सींग पूँछ वाला पशु है, तो यह बिना सींग पूँछ का पशु है। ऐसी योगत्रयी से न इसके आत्मानुगामी ज्ञान का विकास होता, न कर्म्म का विकास होता, एवं न अर्थ का। होता भी है,—तो उस ज्ञान का, जो कि ज्ञान-क्षणिक विज्ञान का बाना पहिनता हुआ मानवसमाज की शान्ति का मूलोच्छेदक ही है, उस कर्म्म का, जो मानव की वासनाओं को उत्तेजित ही करने वाला है, एवं उस अर्थ का, जो कि आत्मस्थिरता का भञ्जक ही है। इस दृष्टि से तो यह मानुषी-योगत्रयी पशव्या-योगत्रयी से भी कहीं भयानक बन जाती है।

९–सीमित योगक्षेमानुगत पशुसर्ग की प्राकृतिक तुष्टि, एवं तत्समतुलन में कामासक्तिमय मानव को प्रवृद्धा योगक्षेमवासना, तथा तन्निबन्धन प्रवृद्धतम इसका क्षोभ—

कारण–पशुओं का भूतात्मा सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है, अपितु वह नियतिचक्र का अनुगामी है। अतएव उसके ज्ञान-कर्म्म-अर्थ–भूतानुगामी बनते हुए भी वहींतक सीमित रहते हैं, जहाँतक कि उसका योग-क्षेम-पर्य्याप्त बना रहता है। इधर ज्ञानस्वातन्त्र्य से समन्वित मनुष्य ज्ञान का दुरुपयोग करता हुआ योग-क्षेम मर्य्यादा का भी अतिक्रमण कर जाता है। प्रकृति इसे जितना देना चाहती है, आसक्तिवश इसकी यह भूख और भी बढ़ जाती है। और यों "**जस जस सुरसा वदन बढ़ावा**" किंवदन्ती सर्वात्मना चरितार्थ होजाती है। कहना न होगा कि, पृथिवीमण्डल के समस्त मनुष्य प्रकृतिसिद्ध इन्हीं तीनों योगों के अनुगामी हैं। और यही योगानुगमन मानव की अशान्ति का मूल कारण है।

१०–'वदतोव्याघात' न्यायमूला एक विप्रतिपत्ति, एवं प्रकृतियोग, तथा पुरुषयोग के व्यवच्छेद-माध्यम से विप्रतिपत्ति का समन्वय-प्रयास—

यह वदतो-व्याघात कैसा ?। द्वितीय प्रकरण में प्रकृति के स्वरूप का उपक्रम करते हुए हमने यह कहा है कि, प्रकृति के अनुसार चलने में ही आनन्द है, शान्ति है। आज ठीक इसके विपरीत यह कहा जारहा है कि, **प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी तो पशुधर्म्म है, अशान्ति की जननी है**। दुरत्यया प्रकृति यदि वदतो–व्याघात करने के लिए हमें विवश करे, तो इसमें हमारा क्या दोष ?। **प्रकृति का अनुगमन सर्वथा शान्तिकर, किन्तु प्रकृति का ही अनुगमन सर्वथा अशान्ति कर**। यदि हमारा भूतात्मा योग–क्षेम-निर्वाह के लिए प्रकृतिसिद्ध योगों का अनुगमन करता हुआ **प्रत्यगात्मधर्म्मों** [**पुरुषधर्म्मों**] के साथ भी युक्त रहता है, तो इसे **समत्वसम्पत्ति** भी प्राप्त होजाती है। दोनों ओर से भार का समतुलन होजाता है। "**प्रकृतिसिद्ध-योग शान्तिकर है**" इस वाक्य का अर्थ है—'**पुरुषयोगानुबन्धी प्रकृतिसिद्ध योग**'। यदि केवल प्रकृति का ही योग है,-तो अवश्य ही महद्भय उपस्थित है। अपने लिए ही महद्भय नहीं, अपितु अपने साथ साथ जगत् का भी विनाश है। पशु जहाँ अपने तन्त्र से प्रकृति के अनुगामी रहते हैं, वहाँ पर तन्त्र से नियन्त्रित रहते हुए पुरुषयोग से भी एकान्ततः वञ्चित नहीं रहते हैं। अतएव विशुद्ध प्रकृतितन्त्रानुयायी मनुष्य की अपेक्षा पशु प्रकृत्यैव तुष्ट रहते हैं। उधर उस मनुष्य की अपेक्षा, जो केवल पशुधर्म्मवत् योगक्षेम पर ही अपने योगो को विश्रान्त कर देता है, वे मनुष्य अधिक अशान्त रहते हैं, जो कि योग-क्षेम–मर्य्यादा का अतिक्रमण कर अपने वासनाजगत् को निःसीमरूपेण उद्दीप्त कर लेते हैं। योगक्षेमानुगामी श्रमिक (मजदूर) रूखा-सूखा खाकर भी सुखी है, किन्तु अर्थकामुक श्रीमन्त षट्त्रिंशत् व्यञ्जन-प्रसाद करता हुआ भी क्लान्त है, इस सर्वानुभूत सिद्धान्त का कौन विरोध कर सकता है ?।

११–अव्ययपुरुषप्रधान ईश्वर, अक्षरप्रकृतिप्रधान जीव (मानव), क्षरविकृतिप्रधान जगत्, एवं विश्वमायात्मिका योगमाया का सहज आकर्षण—

तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि, प्रकृति का वही योगानुगमन शान्तिकर है, जिसमें पुरुषयोग समाविष्ट हो। पुरुषयोग से वञ्चित प्रकृतियोग क्यों अशान्ति का कारण बन जाता है ?, इस प्रश्न के समाधान

का भी समन्वय कर लीजिए। योगमाया ही यहाँ **प्रकृति** शब्द से ग्राह्य है। योगमाया क्षरप्रधाना है। एवं यही भूतसर्ग की अधिष्ठात्री है। स्वयं भूतात्मा महामायानुबन्धी बनता हुआ अक्षरप्रधान है, एवं प्रत्यगात्मा अव्ययप्रधान है। **अव्ययप्रधान प्रत्यगात्मा** (आध्यात्मिक) **ईश्वर है, अक्षरप्रधान शारीरिक आत्मा जीव है, एवं क्षरप्रधान विश्व जगत् है।** योगमाया क्योंकि क्षरप्रधाना है, एवं इसीके गर्भ में अक्षर-प्रधान जीव का जन्म होता है, अतएव वह विशेषतः योगमाया से आकर्षित होता हुआ तद्रूप भौतिक वर्गों का ही अनुगामी बना रहता है।

१२–पुरुष–प्रकृति–निबन्धन भूमानन्द का तारतम्य, तन्निबन्धन शान्ति-सुख तारतम्य, एवं प्रकृतियोग के क्षेत्र में शान्ति का अत्यन्ताभाव—

यह भी सिद्ध विषय है कि, अव्यय के द्वारा अक्षर में पुरुषप्रकाश का आगमन हुआ है, एवं अक्षर के द्वारा क्षर में। इसी द्वार–सम्बन्ध से यह भी निश्चित है कि, अव्ययप्रधान प्रत्यगात्मा की अपेक्षा अक्षर-प्रधान शारीरक आत्मा में प्रकाश अल्प है, इसकी अपेक्षा मनोयुक्त इन्द्रियवर्ग में कम है, एवं तदपेक्षया क्षरप्रधान विश्व में कम है। आनन्दलक्षणा तृप्ति का भूमाभाव से ही सम्बन्ध है। उधर योगमायानुबन्धी भौतिक वर्ग की अपेक्षा भूतात्मा स्वयं भूमामय है। ऐसी दशा में इसकी तृप्ति वही आनन्द कर सकता है, जो कि इसकी अपेक्षा भूमाभावापन्न हो। भौतिक पदार्थों में उस भूमा का अभाव है-"**नामृतत्त्वस्य तु-आशास्ति वित्तेन**"। परिणामतः अभिलषित आनन्द न मिलने से विशुद्ध प्रकृतियोगों के अनुगामी को कभी शान्ति नहीं मिल सकती।

१३–सहज-शान्ति-प्राप्ति से अनुप्राणित पुरुषानुबन्धी 'योग', सहज-शान्ति-विघातक प्रकृत्यनुबन्धी 'अयोगात्मक-योग', एवं दोनों का तारतम्य—

शान्ति मिले कब, जबकि जीवनमात्र-निर्वाह के लिए आवश्यक योगक्षेममात्रार्थ प्रकृतिसिद्ध योगत्रयी का अनुगमन करता हुआ भूतात्मा पुरुषसिद्धा (प्रत्यगात्मसिद्धा) योगत्रयी में प्रतिष्ठित रहे। पुरुषसिद्धा योग–त्रयी ही **समाधि है,** इसमें प्रतिष्ठित योगी ही प्रकृतिसिद्ध योगत्रयी का अनुगमन करता हुआ ऐहलौकिक अभ्यु-दय के साथ साथ पारलौकिक शाश्वत भूमानन्द (निःश्रेयस) का भी अधिकारी बनता हुआ **निर्योगक्षेम-आत्मवान्** बन जाता है। क्योंकि विशुद्ध प्राकृतिक–योगत्रयी केवल भौतिक–सम्पत्ति की अभिवृद्धि का कारण बनती हुई, भूतात्मा को अपनी ओर आकर्षित करती हुई उसे प्रत्यगात्मयोग से वञ्चित कर देती है, अतएव इस योग को हम "**अयोग**" ही कहेंगे, जिसके कि अनुगामी सम्पूर्ण प्राकृत विश्व, एवं तदात्मक यच्चयावत् प्राकृत मानव बने हुए हैं।

१४–आत्मस्वरूप के साक्षात्कारकर्त्ता महर्षियों के द्वारा दृष्टा, व्यवस्थिता पुरुषयोगत्रयी, तदनुगामी भारतवर्ष, एवं शेष का शेषभूतत्व—

आत्मसाक्षात्कार करने वाले महर्षियोंनें इस विप्रतिपत्ति का अनुभव किया। और इसके निराकरण के लिए ही प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी के आधार पर **पुरुषानुगामी तीन योगों** का आविष्कार किया। इस

आविष्कार का, अविष्कार के प्रचार का, प्रचार के अनुगमन का एकमात्र श्रेय मिला आविष्कर्त्ता-भारतीय महर्षियों को, मन्वादि धर्म्माचार्य्यों को, एवं तदनुगामिनी भारतीय-वर्णाश्रम-धर्म्मानुगता प्रजा को। इसी वैशिष्ट्य से यह आविष्कार एकमात्र भारतवर्ष की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति बन गया। शेष देश 'शेषकोटि' में रहते हुए-"तत्रैवावलम्बितो वेतालः" की सूक्ति को चरितार्थ करने वाले ही बने रह गए।

१५-अंशी प्रत्यगात्मा, एवं अंश भूतात्मा के ज्ञान-क्रिया-अर्थ-पर्वों का योगात्मक-'योग', तथा तन्निबन्धना ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-रूपा 'पुरुषयोगत्रयी'-का स्वरूप-समन्वय—

ज्ञान-कर्म्म-अर्थ-घन जिस प्रत्यगात्मा का शारीरिक आत्मा (मानवीय भूतात्मा) अंश है, अंशात्मिका उन ज्ञान-कर्म्म-अर्थ-मात्राओंका अंशी की घनात्मिका ज्ञान-कर्म्म-अर्थ-कलाओं के साथ योग-होजाना ही व्यावहारिक (शास्त्रमूलक व्यावहारिक, अतएव इस दृष्टि से पारमार्थिक) ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योग है। दूसरे शब्दों में-**प्रत्यगात्मा और शारीरक के ज्ञानों का योग ही ज्ञानयोग है, कर्म्मों का योग ही भक्तियोग है, एवं अर्थों का योग ही कर्म्मयोग है**। इन योगो की साधनभूता प्रक्रियाएँ भी आगे जाकर तान्छब्द्यन्याय से 'योग' नाम से ही प्रसिद्ध होगई हैं। **वस्तुतः योग सिद्ध पदार्थ है**। सिद्धयोग के साधन के लिए, दूसरे शब्दों में योगविभूति प्राप्त करने के लिए जिन साधनों का अनुगमन किया जाता है, वे साधन भी 'योग' नाम से ही प्रसिद्ध हैं। आज वे साधन ही सर्वसाधारण में **'योग'** नाम से प्रसिद्ध होरहे हैं। परन्तु योगतत्त्व की मीमांसा करते हुए हमें यह नहीं भुला देना चाहिए कि-**ज्ञान-भक्ति-कर्म्म, तीनों ही योग नित्य हैं, सिद्ध हैं**। अंशी का अंश के साथ, किंवा अंश का अंशी के साथ कभी योग न रहे, यह सर्वथा असम्भव है। हाँ, अंशात्मा अपने प्रज्ञापराध से संस्कारावरण को लेकर इस सिद्धयोगविभूति को मलिन अवश्य ही बना लेता है। इस मलिनता का प्रभाव भी अंश पर ही होता है। अंशी तो फिर भी निर्लेप ही रहता है। पुरुष का पुरुषार्थ यही है कि वह उपायविशेषों से आवरण को हटा दे। आवरण के हटाते ही **सिद्धयोगविभूति** का उदय होजायगा, एवं शारीरक आत्मा प्रत्यगात्मानुग्रह प्राप्त करता हुआ पूर्ण बन जायगा। अल्पता की आत्यन्तिक उत्क्रान्ति होजायगी, एवं नित्य भूपानन्द अभिव्यक्त होपड़ेगा।

१६-गीताशास्त्र की योगत्रयी के सम्बन्ध में पिष्टपेषणात्मिका महती विप्रपत्ति—

योगप्रेमी पाठक यह प्रश्न करेंगे कि, योगत्रयी अनादि है, एवं इसके अनुगमन से पुरुष का पुरुषार्थ सिद्ध होजाता है। फिर गीताने इन के सम्बन्ध में पिष्टपेषण के अतिरिक्त और क्या बतालाया?। प्रश्न का समाधान पूर्वप्रकरणों में कई प्रकार से किया जाचुका है। यहाँ भी प्रकरणसङ्गति के लिए दो अक्षर कह देना अनुचित न होगा।

१७-ज्ञानयोगवादी सांख्यों का कल्पित अद्वैतवादमूलक कर्म्मत्यागात्मक कल्पित ज्ञानयोग, और उसकी आपातरमणीयता—

प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी को बन्धन का कारण माननेवाले संशोधकोंने रोग की चिकित्सा के साथ साथ रोगी की भी चिकित्सा कर डाली। सबसे पहिले **ज्ञानयोगवादी सांख्यों** को ही लीजिए। उन्होंने यह समझा कि, ज्ञान एक पवित्र वस्तु है, एवं यही एकमात्र आत्मा का स्वरूपधर्म्म है। सांसारिक क्षर भौतिक अर्थोंने, एवं

भौतिक कर्म्मोंने हीं पवित्र ज्ञानात्मा को मलिन कर रक्खा है। ऐसी दशा में भूतात्मा को जबतक कर्म्मार्थप्रपञ्चों से पृथक् नहीं कर दिया जायगा, तबतक बन्धविमोक असम्भव है। एकमात्र इसी हेत्वाभास को आगे करते हुए कपिल ने कर्म्म का खण्डन करते हुए विशुद्ध ज्ञानानुष्ठान का ही आदेश दे डाला। इसप्रकार **व्यक्त कर्म्मवाद से विरहिता सांख्यनिष्ठा विशुद्ध अव्यक्तरूप में ही परिणत होगई**। इस निष्ठा में योग-क्षेम की भी सर्वथा उपेक्षा ही की गई।

१८–कर्म्मयोगवादी कर्म्मठों का कामनामय काम्य-कर्म्मयोग, एवं उसकी निस्सारता, तथा भक्तियोगवादी भक्तों के काम्य भक्तियोग का दिग्दर्शन—

कर्म्मयोगियोंने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि, जगदीश्वर ने कर्म्म के द्वारा ही यह लोकवैभव प्राप्त कर रक्खा **है**, तो हम भी इसकी कामना क्यों न करें?। इसी **कामना को, फलासक्ति को** आगे करते हुए उन्होंने विशुद्ध व्यक्त-कर्म्ममार्ग की ही श्रेष्ठता स्वीकार की। एतदतिरिक्त एक ऐसा मध्यम वर्ग अभिव्यक्त होगड़ा, जिसने कर्म्म को भी छोड़ना ठीक न समझा, एवं ज्ञानमूर्त्ति ईश्वर की उपेक्षा भी इस से सह्य न हुई। फलतः इस मध्यम वर्ग ने अपना यह निश्चय प्रकट किया कि, **कर्म्म करो, परन्तु ईश्वरार्प्पणबुद्धि से**। ऐसा करने से तुम्हें कर्म्म का फल भी मिल जायगा (क्योंकि कर्म्म कभी निरर्थक नहीं जाता), एवं ईच्छा क्योंकि ईश्वर की रहेगी, तुम केवल निमित्तमात्र रहोगे, अतएव कर्म्मजनित-संस्कारलेप का भी तुम पर कोई प्रभाव न होगा। इस ईश्वरानुग्रह से ही तुम्हारे सम्पूर्ण पाप पलायित हो जायँगे–"**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच!**"।

१९–कपिलसम्मता ज्ञानभावुकता, हिरण्यगर्भसम्मता भक्तिभावुकता, एवं स्वयम्भुसम्मता कर्म्मभावुकता का स्वरूप-दिग्दर्शन, तथा समत्वमूला-बुद्धियोगान्विता ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगनिष्ठाओं का पावन संस्मरण—

कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग, कामफलासक्तिलक्षण कर्म्मयोग, एवं **ईश्वरानुग्रहप्राप्ति-प्राकाम्य-लक्षण भक्तियोग,** ये तीनों योग कहने को अवश्य ही प्रत्यगात्मा के अनुगामी बन गए। परन्तु वास्तविक-दृष्टि से विचार किया जाता है, तो इनका आसन उन तीनों योगों के समधरातल पर ही प्रतिष्ठित मानना पड़ेगा, जो कि तीनों योग विशुद्ध प्रकृति के अनुगामी बनते हुए योगक्षेम के साधक माने गए हैं। **अव्यक्त प्रकृति (अक्षर) ज्ञानप्रधाना है, व्यक्त प्रकृति (क्षर) कर्म्मप्रधाना है**। एक में ज्ञानप्रधान, एवं कर्म्म-गौण है, एक में कर्म्म प्रधान, तथा ज्ञान गौण है। फलतः विषमभावयुक्त दोनों हीं योग समत्वमूलक प्रत्यगात्मा (अव्यय) की समता से तो सर्वथा ही वञ्चित हैं। भक्तियोग मध्यममार्ग बनता हुआ यद्यपि **'सम'** है, परन्तु ईश्वरानुग्रह-प्राप्ति-कामना के बीज से यह भी **विषम** ही बना हुआ है। इसप्रकार **भूतानुगामी लौकिक ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-यदि विशुद्ध क्षर के (योगमाया के) अनुगामी बनते हुए विषम हैं, तो लोकप्रचलित कपिल-हिरण्यगर्भ-स्वयम्भू-सम्मत शास्त्रीय ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोग-अक्षरानुगामी बनते हुए विषम हैं। समता का एकमात्र अध्यक्ष है–प्रत्यगात्मलक्षण ईश्वराव्यय**। बिना उसके योग के तीनों शास्त्रीय योग भी अयोग ही हैं। कपिल ने अव्यय को तटस्थ समझ कर ही अपने ज्ञानयोग को भ्रान्त बनाया। हिरण्यगर्भ ने त्रिगुणमाया से समन्वित सगुणेश्वर के कारण भ्रान्ति की। एवं स्वयम्भू का कर्म्म-

योग कामना के द्वारा विकृत बना दिया गया। भगवान्ने तीनों का संशोधन किया, और उस संशोधन की मूलप्रतिष्ठा बना एकमात्र **अव्ययपुरुष, तथा बुद्धियोग**। **बुद्धियोग–सम्पत्ति से युक्त, अव्ययानुगामी, अतएव कर्म्मपरिग्रहलक्षण ज्ञानयोग ही वास्तविक ज्ञानयोग माना गया, कामनात्यागलक्षण कर्म्मयोग ही वास्तविक कर्म्मयोग माना गया, एवं निष्कामभावयुक्त भक्तियोग ही वास्तविक भक्तियोग माना गया,** जैसाकि **पूर्वखण्डानुगत–ज्ञानयोगपरीक्षा–प्रकरण** में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

२०–अभ्युदय–निःश्रेयस–संसाधक 'गीतायो' का ब्रह्मर्षियों, एवं विशेषतः राजर्षियों के द्वारा आविष्कार, तथा गीतायोगानुबन्धी 'निष्कामभाव' का संस्मरण—

इस प्रकार प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी के आधार पर भारतीय **ब्रह्मर्षियों के द्वारा**, विशेषतः **राजर्षियों के द्वारा** मानव-समाज के अभ्युदय--निःश्रेयस् के लिए अधिकारभेद से तीन योगों का आविष्कार हुआ। ये ही तीन योग मानव--समाज के अभ्युदय, एवं निःश्रेयस् के कारण बने। बुद्धियोग के समावेश से शास्त्रमर्य्यादा की रक्षा के साथ साथ इन योगों में लोकसंग्रह का भी सर्वात्मना समावेश होगया। वर्णधर्म्मात्मक कर्त्तव्यकर्म्म को ही **'स्वधर्म्म'** का स्थान दिया गया। शास्त्रीय **ज्ञान-भक्ति-कर्म्म**-योगों को सर्वोच्च आसन प्रदान किया गया। एवं इन सभी विवर्त्तों की आधारभूमि माना गया एकमात्र **निष्कामभाव**। जिन कर्म्मों से लोकसंग्रह सुरक्षित रहता है, यदि वे वर्णधर्म्म के विरोधी भी हैं, तब भी उन का आदर किया गया, किन्तु अपवादरूप से, परिस्थितियों की दिग्देशकालानुगता--समता--विषमता के तारतम्यानुपात से।

२१–वर्णाश्रमधर्म्मानुगता ज्ञान–भक्ति–कर्म्म–योगत्रयी का ही सर्वतः श्रेयोपथत्व, एवं युगधर्म्मानुबन्ध से वर्णाश्रमधर्म्म का शैथिल्य—

सर्वतः श्रेयोपथ तो यही है कि, प्रत्येक वर्ण अपने अपने **वर्णधर्म्म** का अनुगमन करता हुआ **शास्त्रसिद्ध–ज्ञान–कर्म्म–भक्ति**, इन तीनों मे से किसी एक का ही अनुगमन करै। परन्तु युगधर्म्मों का परिवर्त्तन भी (शास्त्र के कथनानुसार ही) सहज लोकधर्म्म बन जाता है। शास्त्र ही हमें यह भी कहते हैं कि, कलियुग में वर्णधर्म्म शिथिल होजायगा, वर्णधर्म्म पर आरूढ रहना मानव--समाज के लिए कठिन होजायगा। इस का यह तात्पर्य्य तो नहीं है कि, हम स्वयं हीं युगधर्म्म के उत्तेजक बनते हुए वर्णधर्म्म के विरोधी बन बैठें। किंवा वर्णधर्म्म–प्रतिपादक शाश्वत धर्म्मगोप्ता शास्त्रों की निन्दा करते रहैं, किंवा उन्हें असामयिक बतलाते हुए उन के विरुद्ध विष-वमन किया करैं।

२२–सनातन ईश्वर–प्रजापति के सनातन विश्व की सनातन--लोकविभूतियाँ—

शास्त्रों की निर्भ्रान्तता, प्रामाणिकता, अतएव उपादेयता नित्यसिद्धा है। कोईसा भी युग हो, शास्त्रादेशानुसार वर्णधर्म्म-मूलक कर्त्तव्यकर्म्म पर आरूढ रहना अभ्युदय का ही कारण माना जायगा। परिवर्त्तनशीला क्षरप्रकृति प्रतिक्षण नवीन नवीन रूप धारण करती हुई हमारे सामने आती रहती है। इसीलिए संसार को परिवर्त्तनशील माना गया है। प्रकृति के इस सहजसिद्ध परिवर्त्तन के साथ साथ अपरिवर्त्तनीय भावों की भी उपेक्षा नही की जासकती। प्रकृति के **इन्द्र–वायु–अग्नि–जल–प्रकाश–विद्युत्–सोम** आदि आदि

जो भी तत्त्व सृष्टि के आरम्भ में जैसे थे, आज भी ज्यों के त्यों विद्यमान हैं। अतीत में उन से जो कर्म्म होता था, आज भी वही कर्म्म होरहा है। इसीप्रकार जौ--गेंहू--चाँवल--उर्द--मूँग आदि ओषधियाँ. आम्र--केला नारङ्गी आदि वनस्पतियाँ, और और भी धातुवर्ग जैसे पहिले थे, आज भी हैं। मनुष्य पशु---पक्षी—आदि के स्वरूपों का संघठन जैसे हजारों वर्ष पहिले था, आज भी है।

२३--प्रकृतिपरिवर्त्तनात्मक युगधर्म्म से अनुप्राणिता--परिवर्त्तन-भ्रान्ति, भ्रान्तिमूलक विसंवाद, एवं परिवर्त्तनवादियों के काल्पनिक-परिवर्त्तन के सम्बन्ध में नैष्ठिक-मानव का उद्बोधनसूत्र--

'प्रकृतिपरिवर्त्तनात्मक' जिस युगधर्म्म शब्द को आगे कर कुछ एक बुद्धिवादी शास्त्र-परिवर्त्तन की जिज्ञासा प्रकट करते हैं, साथ ही इसी हेत्वाभास को आगे कर प्रकृतिरहस्यानभिज्ञ जो महानुभाव वर्त्तमानयुग के लिए शास्त्रों की अनुपादेयता सिद्ध करने में हीं प्राणपण से प्रयत्नशील बने हुए हैं, क्या उनका यह प्रयत्न सर्वथा आपातरमणीय ही नहीं हैं ?। पीने के लिए वही पानी, भोजन के लिए वही अन्न, भोक्ता वही आत्मा, भोगसाधन वे ही इन्द्रियाँ। क्या उन्होंने इन में परिवर्त्तन की चेष्टा की है ?। परिवर्त्तन के पक्षपाती उन महानुभावों से हम पूँछते हैं कि, क्यों नहीं वे उस ईश्वर को ही बदल देते, जो कि आज बहुत पुराना हो-गया है ?। क्यों नहीं उस विश्व का ही कायाकल्प कर डालते, जिसमें सूर्य्य--चन्द्र--ग्रह--नक्षत्रादि अवयव यथास्थान व्यवस्थित रहते हुए आजतक उसी ढचरे पर चले आरहे हैं ?। क्यों नहीं उन वेदों के स्थान में नए वेद बना डालते, जब पुराने वेदों की भाषा आज के संघर्षशून्य, अतएव अनुकूलताप्रेमी मानव के लिए अत्यन्त क्लिष्ट, अतएव अनुपयुक्त है ?। क्यों नहीं प्रचलित भाषा में, छोटे छोटे वाक्यों के संग्रहरूप नवीन ही वेद बना दिए जाते ?। और फिर उन्हें मनुष्य, मनुष्यों में भी भारतीय, भारतीयों में भी द्विजातिवर्ग, ही अपना प्रातिस्विक-दायाद (मौरूसी जायदाद) समझें, इस की भी क्या आवश्यकता ?। वेद यदि ईश्वरीय ज्ञान है, तो उस का क्यों नहीं समानरूप से मनुष्यमात्र को अधिकार ?। न, न, पशुओंने क्या अपराध किया है। क्यों नहीं चतुष्पदान्त-जनता वेदभाषा में ही बात चीत करे ?। क्यों नहीं जौ--गैहूं के स्थान में पाषाणादि को ही अन्न बना लिया जाय ?। पानी के स्थान में अग्निपान ही क्यों न किया जाय ?। क्या ये सब ताण्डवनृत्य सम्भव हैं ?। यदि नहीं, तो शास्त्रों में भी परिवर्त्तन असम्भव है। फलतः उन मञ्चों पर वेतालनृत्य करने वाले परिवर्त्तनवादियों के उद्गार भी सर्वथैव निरर्थक हैं। प्रक्रान्त--युगधर्म्माभिनिविष्टों की इत्थंभूता भावुकता--पूर्णा मान्यताओं का चित्रण करते हुए ही नैष्ठिक मानव के मुख से ये उद्गार अभिव्यक्त हो ही तो पड़ते हैं कि—

स्यादन्यः परमेश्वरः, स हि नवं ब्रह्माण्डमुत्पादयेत्।
तत्राप्युल्वणवाच्य--वाचक-गुणान्-वेदान् समुल्लासयेत्॥
तान्-विन्देत चतुष्पदान्तजनता, चेष्टेत साप्युत्पथम्।
तर्ह्येवाद्य सभाजुषां हि हृदयोद्गारोऽपि पारं नयेत्॥

२४–अपरिवर्त्तनीय अक्षर से नियन्त्रित परिवर्त्तनशील क्षर के परिवर्त्तनों का भी अपरिवर्त्तनत्व, एवं सनातन ईश्वर के निःश्वासभूत शास्त्र का सनातनत्व–

अक्षरानुगामी अपरिवर्त्तनीय-भावों के साथ रहने वाला क्षरानुगामी परिवर्त्तन ही वास्तविक परिवर्त्तन है। मूलप्रकृति को गर्भ में रखती हुई ही विकृति अपने स्वरूप को सुरक्षित रखने में समर्थ है। जबतक स्थिति को प्रवाहरूपा गति की प्रतिष्ठा नहीं बना लिया जाता, तबतक प्रवाहरूपा गति की स्वरूपरक्षा ही सम्भव नहीं है। इस प्रावाहिक परिवर्त्तन को त्रिकालज्ञ शास्त्र नहीं जानता था, यह कौन कह सकता है। जिसने आत्मा–परमात्मा जैसे अतीन्द्रिय-भावों का स्पष्टीकरण कर दिया, वह शास्त्र "कल क्या होगा" यह जानने में असमर्थ होता हुआ अस्त-व्यस्त बक गया, यह वाक्य भी हमें प्रायश्चित का भागी बना रहा है। फिर युगधर्म्मानुसार जहाँ जितने अंशों में परिवर्त्तन अपेक्षित था, उस का निर्णय भी तो शास्त्रों-नें कर ही दिया है। इसीलिए हम कह सकते हैं कि—"सनातन ईश्वर की दिव्यवाणी की प्रतिकृतिरूप शास्त्र भी अवश्य ही सनातन है।"

२५–गीताशास्त्र की 'शास्त्र' के प्रति अनन्यनिष्ठा–

परिवर्त्तन के पक्षपाती, साथ ही गीताभक्ति का डिण्डिमघोष करने वाले उन उत्पथानुगामी आत्मबन्धुओं से हम पूँछते हैं कि, जब गीताशास्त्र ही इस समय के लिए उपयोगी है, इतर मन्वादि शास्त्र अनुपयुक्त हैं, तो भगवान् ने कर्त्तव्यकर्त्तव्य के निर्णय में शास्त्र का महत्त्व क्यों स्वीकार किया ?। यदि भगवान् की दृष्टि में शास्त्र-सामयिक ही होते, तो कभी उनके मुख से (परिवर्त्तनात्मक शास्त्र के सम्बन्ध में आपकी दृष्टि से) "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते" ये अक्षर न निकलते।

२६–शास्त्रीय सनातन सिद्धान्तों की सदैकरसता–निबन्धना सनातनता, एवं तदनुप्राणित शाश्वत–सनातनधर्म्म–

सत्य-अहिंसा-अस्तेय आदि नैतिक नियम हजारों वर्ष पहिले भी उत्तम माने जाते थे, आज भी उनकी उत्तमता ज्यों की त्यों अक्षुण्ण है। युगधर्म्माक्रमण से यदि आज कोई अज्ञ इन नैतिक आज्ञाओं का उल्लंघन करता है, तो क्या समाज उसे ऊँची दृष्टि से देखता है ?। क्या युगधर्म्म को, किंवा परिवर्त्तनमार्ग को आगे करते हुए—"सत्य बोलना पाप है, चोरी करना पुण्य है" इसप्रकार से उन नैतिक आज्ञाओं में परिवर्त्तन चाहने वाला व्यक्ति आदर की दृष्टि से देखा जायगा ?। हमें स्मरण रखना चाहिए कि, सत्य सदा सत्य ही है, उत्तम वस्तु सदा उत्तम ही है। अभ्युदय–निःश्रेयस-साधक शास्त्रादेशों का जो महत्त्व पूर्व-युगों में था, आज भी है। और उसी के अनुगमन में हमारा अभ्युदय भी है। परिस्थितिवश यदि कोई व्यक्ति सत्य का आचरण नहीं करता, तो क्या उसका यह कर्त्तव्य उत्तम माना जायगा कि, वह सत्य की निन्दा करने लगे ?। नहीं। यथाशक्ति हमें सत्य का ही अनुगमन करना चाहिए। परिस्थितिवश जहाँ मिथ्या का अवसर आवे, वहाँ से यथाशक्य आत्मपरित्राण का ही प्रत्यन करना चाहिए, और विवशता में मिथ्यानुगमन करने से हमें दुःखात्मक प्रायश्चित्त ही करना चाहिए।

२७–अविचारितरमणीया शास्त्रनिन्दा, एवं कल्पनाओं का काल्पनिक-व्यामोहन–

जबकि गीतासिद्धान्त के अनुसार ही शास्त्र सनातनसत्य है, तो उसके सम्बन्ध में भी हमें उक्त नीति का ही अनुगमन करना चाहिए। "हम शास्त्रादेशानुगमन करने में असमर्थ हैं," एकमात्र इसी हेतु

को आगे कर हम शास्त्र की निन्दा करने लगें, निन्दा का आवेशपूर्वक प्रचार करने लगें, अपनी इस कुप्रवृत्ति के लिए दुःख मानने के स्थान में उद्दण्डतापूर्वक शास्त्रसिद्धान्तों के खण्डन में हीं अपने बल-बुद्धि-तर्क का बलप्रयोग करने लगें, **क्या इसी का नाम गीताभक्ति है** ? । क्या गीता से हमने अशिक्षात्मिका ऐसी ही शिक्षा प्राप्त की है ? । क्या इसी आधार पर हम अपने को 'पक्का' ईश्वरवादी, एवं आस्तिक मानने का अभिमान कर रहे हैं ? । अब्रह्मण्यम् ? अब्रह्मण्यम् ?? महतीविडम्बना ???

२८--'परिस्थिति' मूलक हेत्वाभास का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं शास्त्रीय-कर्त्तव्य के प्रति हेत्वाभासानुयायियों की निरपेक्षता—

आज कुछ एक संशोधक महोदय शास्त्रादेशों के सम्बन्ध में ये भी उद्गार निकाला करते हैं कि, जब परिस्थितिवश हम शास्त्रादेशों का यथावत् पालन नहीं कर सकते, तो फिर उन आदेशों को धोका भी क्यों दिया जाय ? । क्यों नहीं उस दशा में हम शास्त्रों को कुछ समय के लिए एक कोने में रखकर समयानुसार प्रवाहित होने वाली प्रगति के ही अनुयायी बन जाँय ?। संध्या-तर्पण-श्राद्ध आदि कर्म्मों का जैसा विधान है, ठीक उसी विधान के अनुसार वैसा ही करना परिस्थितिवश वर्त्तमान युग में असम्भव है । जिन्हें सुविधाएँ प्राप्त हैं-वे करें, जो नहीं कर सकते, पूरी इतिकर्त्तव्यता नहीं निभासकते, वे करें हीं क्यों ।

२९—'असामर्थ्य' प्रयुक्त हेत्वाभास का वाग्विजृम्भण, तदनुगामी 'मध्यमवर्ग', एवं काल्पनिक-विविध-समस्याओं के सर्जन के द्वारा कर्त्तव्यनिष्ठा के प्रति तद्वर्ग की निरपेक्षता—

स्वागतं भोः । ऐसे वर्ग को ही हम माध्यमिक वर्ग भी कह सकते हैं । विचारपरामर्श से इस वर्ग के सम्बन्ध में भी हमें दो धारणाएँ व्यक्त करनी पड़तीं हैं । फलतः धारणाभेद से इस माध्यमिक वर्ग के भी आगे जाकर दो विभाग होजाते हैं । कुछ एक महानुभाव तो अवश्य ही ऐसे हैं, जो शास्त्रों पर पूर्ण श्रद्धा-विश्वास रखते हैं । शास्त्र का अक्षर अक्षर उनके लिए मान्य है । परन्तु साथ ही **"यदि कर्म्म का स्वरूप बिगाड़ दिया, तो वह कर्म्म लाभ के स्थान में हानि का ही कारण बन जायगा"** इस शास्त्रादेश की बिभीषिका से वे शास्त्रीय कर्म्मों में प्रवृत्त होते हुए ही डरते हैं। **सेवावृत्ति, शास्त्रीय ज्ञान का अभाव, कौटुम्बिक-चिन्ता, अर्थसंकट**, आदि अनेक कारणों को अपने गर्भ में रखने वाली परिस्थिति से विवश होकर उक्त बिभीषिका को मूल में रखते हुए ही ये महानुभाव कहा करते हैं कि, क्या करें, दुःख तो अवश्य होता है, अशास्त्रीय कर्म्मों से आत्मग्लानि भी होती है, परन्तु विवश हैं । इसी विवशता में पड़कर यहश्रद्धालुवर्ग शास्त्रीय **कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-योगों** से वञ्चित होता हुआ कहा करता है कि-**"जब हम ठीक ठीक कर नहीं सकते, तो करें हीं क्यों"** ।

३०--समाजानुबन्ध से प्रदर्शनमात्र के लिए शास्त्रभक्ति-प्रदर्शनपरायण वञ्चक-वर्ग का अनर्गल-प्रलाप-

कतिपय सज्जन ऐसे भी हैं, जो अन्तरात्मा से तो शास्त्र पर अणुमात्र भी श्रद्धा-विश्वास नहीं रखते । परन्तु जिस समाज में रहकर इन्हें अपनी अर्थलालसा पूरी करनी होती है, स्वार्थसिद्ध के लिए इन्हें उस समाज-

निष्ठा की हाँ में हाँ मिलानी पड़ती है। अवसर आने पर सच्चे श्रद्धालु की भाँति भावावेश प्रकट करते रहने में भी ये महानुभाव अणुमात्र भी संकोच नहीं करते। यह उस वर्ग की दशा है, जिस का पालन पोषण समाज के श्रीमन्तों की कृपा पर ही निर्भर है। उस शास्त्रनिष्ठ समाज को प्रसन्न करने के लिए, साथ ही "**तुम शास्त्रानुसार कर्म्म क्यों नहीं करते**" इस प्रश्न के समाधान के लिए ये व्याघ्रचर्म्माच्छन्न रासभ कहा करते हैं कि–"जी! इच्छा तो बहुत कुछ है, परन्तु क्या करें, परिस्थितिवश नहीं कर सकते। पूरी विधि न जानने से भय लगता है कि, कहीं भलाई के स्थान में बुराई न हो जाय। करें, तो ठीक ठीक करें, नहीं तो कुछ भी न करें"।

३१–युगधर्म्मानुगामी विभिन्न दो वर्गों का स्वरूपेतिवृत्त, ६वां तत्सम्बन्ध में विविध उहापोहों का स्वरूप–दिग्दर्शन—

इसप्रकार एक वर्ग हृदय से शास्त्र के प्रति निष्ठा रखता हुआ, दूसरा वर्ग समाजानुबन्ध से शास्त्रमान्यता का दम्भ करता हुआ वर्त्तमान युग में शास्त्रीय कर्म्म की उपेक्षा ही कर रहा है। दोनों में प्रथम वर्ग के लिए ही हमने "**स्वागतम्**" कहा है। दूसरे वर्ग के लिए तो–"**दुर्ज्जनं प्रथमं वन्दे**" ही पुरस्कार है। क्योंकि जो वर्ग उन्मुक्तरूप से(खुल्लम खुल्ला)शास्त्र की निन्दा करता रहता है,उसकी अपेक्षा भी यह द्वितीय वर्ग कहीं अधिक भयङ्कर है। कारण स्पष्ट है। जो महानुभाव पूर्ण सम्पन्न हैं, शास्त्रीय-मर्म्मज्ञान से कोसों दूर हैं, पश्चिमी-शिक्षा की सजीव-प्रतिमा हैं, जो स्वयं समाज के नहीं, अपितु जिनका समाज हैं, तात्पर्य्य–अर्थकुचक्र के द्वारा दुर्य्योधन की भाँति जिन्होंनें भीष्म-कृप-द्रोण सदृश कतिपय महापुरुषों को भी स्व-व्यामोहन–पाशमें सर्व्वथा आबद्ध कर रक्खा है, शकुनिस्थानीय कतिपय दुर्ज्जन ही जिनके पथप्रदर्शक हैं, दुर्ज्जन-सज्जनों के मध्य में रहने वाले माध्यमिक भी यदागमन्याय से जिनके पाश में परम्परया बद्ध हैं, ऐसे कतिपय धर्म्मदान्ध व्यक्ति ही स्पष्ट शब्दों में शास्त्रों की निन्दा से अपनी जिह्वा कलङ्कित करते रहते हैं। अर्थाधिपत्य के अभिमान से ये शास्त्राधिकारी भी बने रहते हैं। शास्त्र के सम्बन्ध में ये अपनी ऐसी परिष्कृत सम्मति देते रहते हैं, मानो इन्होंनें शास्त्रों का आमूलचूड़ मन्थन ही कर डाला हो। साथ ही "**हाँ बाबू बिलकुल ठीक**" कहने वालों की भी कमी नहीं रहती। ऐसे ही महानुभाव अपनी विलाललीला की सुविधाके अनुसार शास्त्रों में परीवर्त्तन चाहते रहते हैं। ये ही शास्त्रों के निन्दक हैं। इस्थंभूत वर्ग के लिए तो "**कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः**" ही पर्य्याप्त होगा।

जो अपने श्रीमुख से-"**अच्छा लो हम नास्तिक हैं, शास्त्र वास्त्र नहीं मानते, तुम्हीं स्वर्गासन छीन-लेना**" बड़े अभिमान के साथ यह कहते रहते हैं, अवश्य ही विज्ञान की विमलधारा मे स्नान कराकर इन्हें पवित्र किया जासकता है। क्योंकि–"**अज्ञानं तस्य शरणम्**"। अज्ञान से ही इन्होंनें असद्भावना को अपना लिया है। यदि विज्ञान-सम्मत तर्क के द्वारा इनके सम्मुख शास्त्रों का मर्म्म रक्खा जाता है, तो अवश्य ही कालान्तर में ये घोरघोरतम नास्तिक भी परम आस्तिक बन सकते हैं, जैसाकि हमें इस विषय का व्यक्तिगत अनुभव है। परन्तु जिसका आराध्य मन्त्र-"**मुखमें राम बगल में छुरी**" यही है, उस दूसरे अभिनिविष्ट वर्ग की चिकित्सा तो कठिन ही क्या, हमारे जैसे साधारण मनुष्यों के लिए तो असम्भव ही है। सम्भव है, 'तपस्वी' महर्षि अपने तपोबल के प्रयोग से उन का भी उद्धार कर सकें।

३२-गीताशास्त्र की प्रवृत्ति का मुख्य उद्देश्य—

अब हमारे सामने वह पहिला वर्ग बच रहता है, जो कि पूर्ण श्रद्धालु होता हुआ भी या तो परिस्थितिवश शास्त्रकर्म्मानुष्ठान न करने के कारण, अथवा विभीषिकावश न करने के कारण वर्त्तमान युग के लिए शास्त्रों को अनुपादेय बतला रहा है। **"हमारा गीताशास्त्र इन्हीं के उद्धार के लिए प्रवृत्त हुआ है"** यदि गीता के सम्बन्ध में यह भी कह दिया जाय, तो भी कोई अत्युक्ति न होगी।

३३-शास्त्रीय कर्त्तव्य-कर्म्मों के सम्बन्ध में साभिमान आवेश, और उसका नीरक्षीर-विवेक—

वैसे तो इस कलहमूलक कलियुग में कुछ एक परिगणित अपवादों को छोड़कर किसी को भी पूर्णरूप से शास्त्रीय आदेशों पर चलने का न तो अधिकार ही है, न योग्यता ही है, न साधन ही है, न समय ही है। स्मरण कीजिए उस वर्ण-व्यवस्था के वैज्ञानिक स्वरूप का, जिसके सम्बन्ध में बड़े अभिमान के साथ हमने यह कहा था कि—**"वर्णव्यवस्था प्रकृतिसिद्धा है, जन्मसिद्धा है"**। इसलिए प्रत्येक वर्ण को अपना अपना शास्त्रसिद्ध आधिकारिक कर्म्म हीं करते रहना चाहिए। वर्णधर्म्म-विरोधी शास्त्रसिद्ध कर्म्म कभी शाश्वत शान्ति के कारण नहीं बन सकते—**"न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम्"**।

३४-आदर्शवाद, और यथार्थवाद का समतुलन, एवं यथार्थवाद से वञ्चित आदर्शवाद-की आत्यन्तिक-यातयामता—

यदि इसी आदर्शवाक्य पर **सुख**, एवं **मुक्ति** का विश्राम मान लिया जाता है, तब तो सम्पूर्ण शास्त्र वर्त्तमान युग के लिए केवल नमस्कार की ही वस्तु बने रह जाते हैं। **आदर्शवाद की शोभा है-व्यवहार मार्ग**। ऐसे सिद्धान्त, जो आदर्शवाद की दृष्टि से स्वर्ग के सप्तम सोपान पर प्रतिष्ठित हैं, यदि व्यवहार में नहीं आते, किंवा नहीं आसकते, तो उस दशा में सचमुच वे सिद्धान्त दूर से ही प्रणम्य हैं। और सच पूँछिए, तो हमें निःसंकोच होकर कहना पड़ेगा कि, भारतश्री के ह्रास के जहाँ और और कई एक कारण हैं, वहाँ उन कारणों में **विशुद्ध आदर्शवाद**, किंवा **सिद्धान्तवाद** भी एक मुख्य कारण है। यदि हमारे सनातन-धर्म्मी पाठक बुरा न माने, तो यह भी कह देने में हम किसी आपत्ति का अनुभव नहीं करेंगे कि, एक मात्र विशुद्ध आदर्शवादने हीं हमारा सर्वनाश किया है। कैसे ?: तो सुनिए !

३५-गीताप्रतिपादित-शास्त्रीय-सिद्धान्त के सम्बन्ध में 'आदर्शवाद' का अन्वेषण-प्रयास, एवं गीताशास्त्र की पिष्टपेषणता, अतएव निरर्थकता—

आदर्श सदा आदर्श ही रहेगा, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। उत्तम वस्तु सदा उत्तम ही मानी जायगी, यह भी निर्विवाद है। शास्त्र सनातन सत्य हैं, और उनके निर्दिष्ट पथ का अनुगमन करने पर ही मानव-समाज का अभ्युदय सम्भव है, यह भी ध्रुव सत्य है। फलतः **"गीता प्रधानरूप से शास्त्रसिद्ध वर्णाश्रम-धर्म्मानुकूल कर्म्मों का ही प्रतिपादन करती है"** यह सिद्धान्त भी सर्वमान्य है। परन्तु केवल इसी सिद्धान्त पर गीतोद्देश्य का विश्राम मान लेने से तो गीता की अपूर्णता, विलक्षणता, एवं पूर्णता कदापि सिद्ध

नही होसकती। फिर तो यह कह देने में भी कोई आपत्ति न होगी कि, वर्णाश्रम का मौलिक रहस्य मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद से ही गतार्थ है। रहस्यज्ञान के सम्बन्ध में जो कुछ ज्ञातव्य है, वेद ने उससे भी अधिक बतला दिया है। वर्णाश्रमकर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता (किस को कब कौनसा कर्म्म करना चाहिए, यह पद्धति) मन्वादि-धर्म्मशास्त्रों से गतार्थ है। यदि गीता का यही चरम लक्ष्य है, तो श्रुति-स्मृति से सर्वथा गतार्थ उस उद्देश्य के समतुलन में गीता एक पिष्टपेषणमात्र ही है, अतएव वह एक निरर्थक शास्त्र ही है।

३६-वैदिक-कामनामय कर्म्मकाण्ड का संशोधक? निष्काम-कर्म्मयोगात्मक गीता-शास्त्र—

यदि इस सम्बन्ध में कोई गीताभक्त यह कहे कि, श्रुति-स्मृति में जिन कर्त्तव्य-कर्म्मों का विधान हुआ है, वे कामनामय होने से शाश्वत-शान्ति के कारण नहीं बन सकते। वेदादि शास्त्रविहित कर्म्म—"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादिरूप से सर्वथा सकाम हैं। **फलकामासक्ति को मूल में रखते हुए ही वैदिक कर्म्म विहित हैं**। गीताने श्रुति-स्मृति-सिद्ध तीनों योगों का आदर अवश्य किया है, परन्तु साथ ही कामना के परित्याग का आदेश दिया हैं। **"निष्कामकर्म्म ही शाश्वत-शान्ति के कारण हैं"** गीता का यही संशोधन है। और इसी संशोधन से गीता की अपूर्वता सिद्ध हो-जाती है।

३७-वैदिक कर्म्मयोग की निष्कामता के समतुलन में गीता के कर्म्मवाद का शैथिल्य, एवं पुनश्च गीता की पिष्टपेषणता—

परन्तु जब हम वैदिक-कर्म्मों के मौलिक रहस्य का अन्वेषण करने चलते हैं, तो उक्त हेतुवाद भी गीता की अपूर्णता सुरक्षित नहीं रख सकता। यह ठीक है कि कर्म्मकाण्डप्रधान ब्राह्मणग्रन्थों में पदे पदे "किं काम्या यजेमहि"—"किं ततो मे स्यात्"-**स्वर्गकामो यजेत**"इत्यादि रूप से कामभावों का प्राचुर्य्य उपलब्ध होता है। परन्तु वेद का ही अन्तिमभागरूप उपनिषत्-तन्त्र स्पष्ट शब्दों में निष्कामकर्म्म की ही घोषणा करता हुआ, एकमात्र उसे ही परा शान्ति का कारण बतलाता हुआ हमारे सामने आता है। गीताने स्थान स्थान पर अमृत-मृत्यु-लक्षण ज्ञान-कर्म्म के समन्वितरूप जिस समत्व का निरूपण किया है, उपनिषदों में विस्तार के साथ उस का भी निरूपण हुआ है, जैसाकि--"**स शान्तिमाप्नोति न काम-कामी**"—"**कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि**"—"**सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह**"—"**विद्यां चाविद्यां च यस्तेद्वेदोभयं सह**" "**अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्**" इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। यहीं नहीं, जिस **बुद्धियोग** को गीता का अपूर्व विषय बतलाया गया है, उसका मूल भी उपनिषदों में व्यक्त है, जैसाकि **भाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड** में विस्तार से बतलाया जाचुका है। स्वयं मानवधर्म्मशास्त्रने भी-"**प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म्म वैदिकम्**" इत्यादि रूप से वैदिक-कर्म्मों को **प्रवृत्त (सकाम)**, **निवृत्त (निष्काम)** भेद से क्रमशः प्रवृत्तकर्म्म को स्वर्गसुख का कारण माना है, एवं निवृत्तकर्म्म को पराशान्ति-प्राप्ति का हेतु बतलाया है। फलतः यदि गीता ने **निष्कामकर्म्म का निरूपण किया है, तो यह भी गीत।** का पिष्टपेषण ही है।

३८--शास्त्रसार--समन्वयात्मिका गीता का सर्वशास्त्रमयत्व--प्रदर्शन—

वादी यदि यह कहै कि श्रुति–स्मृति–शास्त्र आचार्य्यभेद से अत्यन्त दुर्गम है, अतएव सामान्य मनुष्य श्रौत-स्मार्त्त–कर्म्मों के सम्बन्ध में बहुविस्तृत श्रुति-स्मृति-ग्रन्थों से अपने इस स्वल्प जीवन में निर्णय नहीं कर सकता। इसी विप्रतिपत्ति से मनुष्य श्रौत-स्मार्त्त कर्म्म–जाल से भय खाता हुआ कर्त्तव्य–कर्म्म से विमुख होजाता है। भगवान् ने गीताशास्त्र में बड़े संक्षेप से कर्म्म का निर्णय कर दिया है। अनन्त वेदशास्त्र, एवं असंख्य स्मृतिशास्त्रों के दुर्गम कर्म्मजाल का समन्वय करते हुए केवल सातसौ श्लोकों से सम्बन्वित गीता में उन सब के लिए सरलपथ प्रदर्शित कर दिया है। इसीलिए गीता—**'सर्वशास्त्रमयी'** कहलाती है।

३९–गीता के सम्बन्ध में--'किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः' मूला नितान्त–भ्रान्त--धारणा—

इसी हेतुवाद को आगे करते हुए ये महानुभाव यह भी कहा करते हैं कि—**'जिसने गीता का मर्म्म समझ लिया, उसने सब कुछ जान लिया'**। गीतास्वाध्याय के अनन्तर मनुष्य के लिए कुछ भी ज्ञातव्य-कर्त्तव्य नहीं रह जाता। केवल गीता ही कर्म्मनिर्णय के सम्बन्ध में पर्य्याप्त साधन है–"**किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः**"। केवल इसी आधार पर आज कतिपय महानुभावों के श्रीमुख से यह भी सुनने का सौभाग्य प्राप्त होता रहता है कि—**सब शास्त्र निरर्थक हैं। यदि उन्हें थोड़ी देर के लिए सार्थक मान भी लिया जाय, तो भी "गीता के अतिरिक्त गीता के रहते उनकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती"**। देश के एक महान् नेता ने इस सम्बन्ध में अपने ये भाव प्रकट करते हुए कहा है—

"गीता के द्वारा हम अपनी तमाम धार्म्मिक उलझनें समझ लेंगे।..... । ऐसी एक भी धार्म्मिक समस्या नहीं, जिसे गीता हल न कर सके" (**श्रीगान्धीजी**)

४०–आपणव्यवसायात्मक आज का गीताशास्त्र, और राष्ट्रीय--गीतामक्तों का शास्त्रों के प्रति प्रचण्ड--आक्रोश—

यही कारण है कि भारतीय–राष्ट्रवर्ग में सब शास्त्रों का आसन आज गीताने हीं अपहृत कर लिया है। धार्म्मिक–शिक्षा क्या होनी चाहिए ?, इस प्रश्न के उत्तर में गीता को ही आगे रक्खा जाता है। इसप्रकार सर्वशास्त्र–विरहिता भगवान् की यह गीता आज एकप्रकार से **'आपणव्यवसाय'** का ही माध्यम बन गई है। सभी गीता के मर्म्मस्पर्शी बने हुए हैं। आज गीताध्ययन ही सब को प्रिय है। सचमुच यह 'आदरभाव' सौभाग्य के चिह्न हैं। चिह्नों का विचार तो फिर किया जायगा। प्रकृत में वक्तव्य यही है कि, हेतुवादियों के कथनानुसार गीता सब शास्त्रों का निचोड़ है, कर्म्म–निर्णय करने वाला राजमार्ग है। और यही गीता की विशेषता है।

४१–कर्म्मेतिकर्त्तव्यता से असंस्पृष्ट गीताशास्त्र, अतएव गीताशास्त्र की शास्त्रदृष्ट्या अकृत्स्नता, असर्वता, एवं स्वयं गीताशास्त्र की श्रुति--स्मृति--शास्त्रैकशरणता—

विचार करने पर इस युक्ति का भी कोई मूल्य नहीं रह जाता। आस्था–निष्ठा के माध्य से यह स्पष्टरूपेण प्रमाणित है कि, **गीता किसी भी कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता नहीं बतलाती**। अथ से इति पर्य्यन्त गीता के

अक्षरों का अन्वेषण कर जाइए, आपको–"**स्वधर्म्म का पालन करना चाहिए**"–"**वर्णाश्रम-कर्म्मों का आसक्ति छोड़कर अनुगम करना चाहिए**"–"**क्षत्रिय को युद्ध से विमुख नहीं होना चाहिए**"–"**सबको अपने अपने कर्म्मों में निष्कामभाव से प्रवृत्त रहना चाहिए**" इसप्रकार से स्वधर्म्म का शिक्षण अवश्य मिलेगा। परन्तु उस स्वधर्म्म का क्या स्वरूप है ?, **क्या इतिकर्त्तव्यता है ?, ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णों के कर्म्म किस पद्धति से होते है ?**, इन प्रश्नों का आचार–पद्धतिरूप कोई भी समाधान आपको गीताशास्त्र में उपलब्ध न होगा। यह तो एक गीताभक्त को भी मान हीं लेना पड़ेगा कि, द्विजातिवर्ग के लिए विहित मन्वादि शास्त्रसिद्ध–कर्म्म भगवान् को पूर्ण अभिमत हैं। परन्तु क्या कोई गीताभक्त केवल गीता के आधार पर ही उन सब कर्म्मों का अनुष्ठान कर सकता है ?। "**किस वर्ण को, किस आश्रम में कौनसा कर्म्म करना चाहिए ?**" इस प्रश्न का समाधान गीता से नहीं होसकता, एवं न होने की आवश्यकता ही है। यह प्रश्न श्रुति-स्मृति-शास्त्रों से जब गताथ है, तो उसका उल्लेख होता ही क्यों। किस वर्ण को क्या करना चाहिए ?, इस सम्बन्ध में भगवान् का–"**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्य-व्यवस्थितौ, ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि**" यह उत्तर ही पर्य्याप्त है।

४२–गीताशास्त्र की अपूर्वता का आधारभूत 'कर्म्मकौशल', एवं तदनुबन्धी समत्व-योगानुगत-'बुद्धियोग'—

यदि गीता ही हमारी कर्म्मेतिकर्त्तव्यता की जिज्ञासा शान्त कर देती, तो भगवान् कभी शास्त्रविधान की अर्गला में हमें न डालते। बिना इतर शास्त्रों के केवल गीता के आधार पर हमारा कोई भी कर्म्म सिद्ध नहीं होसकता। हमें अगत्या शास्त्रों के उस दुर्गम पथ का आश्रय लेना हीं पड़ता है, और लेना हीं पड़ेगा। **गीता का स्वधर्म्म शास्त्रविधानोक्त कर्म्म ही है**। जो महानुभाव भगवान् की उक्त आज्ञा के विरुद्ध स्वधर्म्म की कल्पित व्याख्या कर शास्त्रविधान की उपेक्षा करते है, वे भगवान् के, और उनके गीतासिद्धान्त के घोरशत्रु ही हैं। और फिर हमारा तो यह भी दृढ़ निश्चय है कि, बिना वेदादि-शास्त्रों के परिज्ञान के गीता के एक अक्षर का भी मर्म्म समझ में नहीं आसकता। यदि उन्हीं विचारशीलों के मतानुसार गीता सम्पूर्ण शास्त्रों का सार है, तो वह शास्त्रों से भी अधिक दुर्गम है। बहुविस्तारसापेक्ष शास्त्र ही जब हमारे लिए कठिन हैं, तो उनका वह संक्षिप्तसार हमारी युगधर्म्मानुगता स्वल्प–प्रज्ञा के लिए और भी अधिक जटिल ही प्रमाणित होगा, यह कौन बुद्धिमान् स्वीकार न करेगा। गीता का कर्म्मवाद यदि "**अधिकार**" शब्द पर प्रतिष्ठित है, तो स्वयं गीताशास्त्र भी अधिकारी की अपेक्षा रखता है। हम शास्त्रों की सर्वथा उपेक्षा करदें, उनकी निन्दा करें, संस्कृतभाषा हमारे लिए "**होआ**" बनी रहे, शास्त्रीय-कर्म्म हमारे शत्रु बनें रहें, और फिर हम अपनी कल्पना से फूत्कारमात्र से गीता का निगरण कर जाँय–"**एकैकमप्यनर्थाय**"।

इसप्रकार न गीता के द्वारा कर्म्म का निर्णय ही सम्भव, न गीता का विषय ही अपूर्व, फिर गीता कहती क्या है ?, यह प्रश्न ज्यों का त्यों सुरक्षित रह जाता है। इस प्रश्न का उन्मूलक है–"**समन्वयभाव**"। गीता एकमात्र कर्म्मशैली का निरूपण करती है, और वह शैली ही गीता की अपनी देन है। यह प्रत्यक्षसिद्ध है कि, कभी कभी काम के तरीके को न जानने से उत्तम साधनों के रहते भी कर्म्म बिगड़ जाता है। उत्तम से उत्तम कर्म्म भी शैली के विकृत होजाने से अशुभोदर्क बन जाता है। भगवान् ने कर्म्मशैली [कर्म्म करने के तरीके–ढँग]

का ही प्रधानरूप से निरूपण किया हैं। यद्यपि कर्म्मेतिकर्त्तव्यता भी कर्म्म का एक ढंग ही है, परन्तु कर्म्म-पद्धतिरूप इस ढँग का गीता में निरूपण नही है। मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है ?, इस प्रश्न पर गीता विशेष विचार नहीं करती। अपितु शास्त्रोक्त कर्त्तव्य-कर्म्मों का कौशल क्या है ?, गीता का यही प्रधान लक्ष्य है। और वह कौशल है एकमात्र वैराग्यलक्षण-"बुद्धियोग", जिसका कि निरूपण पाठक अगले प्रकरण में देखेंगे।

४३-गीताशास्त्र के उद्देश्य के सम्बन्ध में विविध कल्पनाएँ, एवं गीताशास्त्र की प्रातिस्विकता, तथा सार्वभौमता के अनुबन्ध से विचार--विमर्श—

हाँ, तो ऊपर की पङ्क्तियों से हम यह समझे कि, शास्त्रविहित कर्म्मों के साथ बुद्धियोगरूप कौशल का प्रदर्शन करने वाला शास्त्र ही "गीताशास्त्र" है। अवश्य ही गीता की यह अपूर्वता है। परन्तु केवल इसी अपूर्वता से गीता 'ईश्वरीयग्रन्थ' नहीं माना जासकता। सम्भव है, गीता की यह अपूर्वता वर्णाश्रमधर्म्म के अक्षपाती एक भारतीय का उपकार करसके। परन्तु जो श्रुति-स्मृति-शास्त्र से परिचित नही, श्रौत-स्मार्त्त कर्म्मों का जिन्हें अधिकार नहीं, वे तो ऐसी गीता से वञ्चित ही रह जाते है। गीता न भारतवर्ष की है, न द्विजातिवर्ग की ही अपनी कोई प्रातिस्विक निधि (धरोहर) है। अपितु गीता तो उन भगवान् की है, जो कि भगवान् चर-अचर सब के हृदयों में अन्तर्य्यामीरूप से प्रतिष्ठित रहते हुए सबका अपने नियतिर्दण्ड से सञ्चालन कर रहे हैं। भगवान् का अवतार केवल भारतीयों के अभ्युदय के लिए ही नहीं हुआ है, अपितु-"**अनुग्रहाय भूतानां मानुषीं देहमाश्रितः**" के अनुसार सम्पूर्ण विश्व के अभ्युदय के लिए ही भगवान् का प्राकट्य है। उन सर्वव्यापक भगवान् का ज्ञान भी कभी किसी व्यक्ति, देश आदि में सीमित नही रह सकता। अवश्य ही भगवान् का गीताज्ञान मनुष्यमात्र के अभ्युदय के लिए ही प्रवृत्त हुआ है। सभी वर्ण, सभी जातियाँ समानरूप से गीतायोग के अधिकारी हैं। जहाँ श्रुति--स्मृति शास्त्र-"**यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन् धर्म्मं निबोधत**" की अर्गला से बद्ध होते हुए केवल भारतीय वर्णाश्रमानुगामिनी प्रजा के ही उपकारक बन रहे हैं, वहाँ गीताशास्त्र विश्वबन्धुत्व को अपना मूल बनाता हुआ संसार की निधि है। विभिन्न धर्म्म, विभिन्न मतवाद, व्यक्तिगत स्वार्थ, साम्प्रदायिक सीमाभाव आदि आदि सभी भेदवाद अभिन्न गीतायोग के सामने हतवीर्य्य है। यही गीताशास्त्र की अपूर्वता है। गीतोपदेश एक वेदानुयायी द्विजाति का जितना उपकार कर सकता है, एक ईसाई, पारसी, मुसलमान, यहूदी भी इस योग का अनुष्ठान करता हुआ कृतकृत्य बन सकता है। और अपने इसी गुणातिशय से गीता आज विश्वबन्धु ग्रन्थ बन रहा है।

४४-सनातनधर्म्मी विद्वानों का प्रचण्ड आक्रोश, तत्प्रवर्द्धिका विचारशैली, एवं गीता से अनुप्राणिता विचार--द्वयी का परस्पर अश्वमाहिष्य—

सनातनधर्म्म के मौलिक रहस्य से अपरिचित, अतएव नाममात्र के सनातनधर्म्मी विद्वानों के सम्मुख जब गीतायोग के सम्बन्ध में गीता की उक्त अपूर्वता रक्खी जाती है, तो वे अग्निश्च-वायुश्च बन जाते हैं। वे यह कथमपि स्वीकार नहीं कर सकते, कि गीताज्ञान का सबको समानाधिकार है। गीता को विश्वबन्धु ग्रन्थ मानने में वे सनातनधर्म्म की हानि समझते हैं। और सामान्यदृष्टि से विचार करने पर हमें भी कुछ ऐसा ही प्रतीत होने लगता है कि, यदि गीता का सबको समानाधिकार दे दिया जायगा, तो गीता एक शास्त्रविरुद्ध ग्रन्थ बन

जायगा। क्योंकि श्रौत-स्मार्त्त ज्ञान--कर्म्म-भक्ति-योगों का अधिकार एकमात्र भारतीय वर्णप्रजा को ही है। यदि गीता के ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योग शास्त्रसिद्ध हैं, तब तो इनका भी सबको अधिकार नही दिया जासकता। यदि शास्त्र-विरुद्ध हैं, तो फिर गीताशास्त्र इतर देशों के लिए भले ही उपयुक्त हो, कम से कम भारतीय प्रजा तो ऐसे शास्त्र-विरुद्ध गीतायोग को कभी आदर की दृष्टि से नही देख सकेगी। बात दोनों में से एक ही मानी जायगी। या तो गीता को श्रुति--स्मृत्यनुगामिनी मानते हुए केवल भारतीय प्रजा के लिए ही नियत मानिए। अथवा--शास्त्रमर्य्यादा से बहिष्कृत मानिए। दोनों में से कौनसी बात मानी जाय ?, पहिली में शास्त्रमर्य्यादा की रक्षा है, परन्तु भगवत्ता की व्यापकता जीर्ण शीर्ण है। दूसरी में भगवत्ता की तो रक्षा है, परन्तु शास्त्रमर्य्यादा जीर्ण--शीर्ण है। बड़ी कठिन समस्या है। गीताशास्त्र के अतिरिक्त इस समस्या को और कौन सुलझा सकता है ?।

४५--गीताशास्त्र की अपूर्वता से दोनों तथ्यों का समन्वय, शास्त्र सिद्धायोगत्रयी, एवं लोकानुगता मतप्रवृत्ति, तथा कल्पित आदर्शवाद का संस्मरण—

गीता की अपूर्वता ने दोनों विरुद्ध भावों का समन्वय कर रक्खा है। अवश्य ही गीताशास्त्र--श्रुति-स्मृति के अक्षर अक्षर का अनुगामी बनता हुआ हम भारतीयो की ही एकमात्र मौलिक निधि है, इसमें तो अणु-मात्र भी सन्देह नहीं हैं। और इस दृष्टि से गीता वा योग एकमात्र हमारे ही अधिकार की वस्तु है। वर्णधर्म्म की अभेद्य चट्टान पर प्रतिष्ठित शास्त्रसिद्ध गीतोक्त ज्ञान--कर्म्म--भक्ति--योगों का एकमात्र हमें ही अधिकार है। जो व्यक्ति गीता को एक विनोद की सामग्री समझ रहे हैं, अवश्य ही वे भ्रान्ति में हैं। परन्तु इसके साथ ही गीता ने एक उपाय ऐसा भी बतला दिया है कि, जो व्यक्ति शास्त्रीय योगों का अनुगन न कर विरुद्धमार्ग का अनुगमन कर रहा है, वह भी उस उपाय से अपना जीवन सफल बना सकता है। शास्त्रसिद्धा योगत्रयी की अपेक्षा से जहाँ गीताशास्त्र वर्णाश्रमशृंखला से बद्ध होता हुआ देशविशेष के लिए सीमित है, वहाँ उपाय-दृष्ट्या वह सबका भी उपकारक है। क्योंकि जिसप्रकार योगत्रयी के लिए द्विजातिवर्ण ही अधिकारी माना जाता हैं, वहाँ उस उपाय का अनुगमन करने में वर्णनियन्त्रण की कोई आवश्यकता नहीं है। 'मनुष्य' शब्द ही उसकी व्याप्ति का स्थान है। वह क्या उपाय है ?, यह विचार पीछे किया जायगा। पहिले विशुद्ध आदर्शवादी काल्प-निक सनातनधर्म्मियों के काल्पनिक ताण्डवनृत्य का दृश्य देख लीजिए।

४६--यथार्थता से वञ्चित आदर्श की यातयामता —

जैसाकि पूर्व में कहा गया है, आदर्शवाद की शोभा व्यवहारमार्ग है, और व्यवहारमार्ग की प्रतिष्ठा सामयिक परिस्थिति है। धर्म्म की मौलिकता को प्राणपण से बचाने की चेष्टा करते हुए सामयिक परिस्थिति का अनुगमन करना ही सम्पूर्ण शास्त्रों का रहस्यार्थ है। जो व्यक्ति सामयिक परिस्थिति की सर्वथा उपेक्षा कर केवल आदर्शवाद, किंवा सिद्धान्तवाद के ही गुणगान किया करते हैं, उनका यह विशुद्ध आदर्श सर्वथा निर-र्थक ही बन जाता है, और सनातनधर्म्मियों की ओर से आज यही होरहा है।

४७--आचारात्मक यथार्थ से शून्य आदर्श से अनुप्राणित सनातनधर्म्मियों का व्याज-धर्म्माचरण, एवं तथाभूत धर्म्मव्याज से हमारा आत्यन्तिक पतन—

प्रत्येक बात में हम शास्त्रों की, एवं धर्म्म की दुहाई देने लगते है। और इस आवेश में पड़ कर हम सामयिक परिस्थिति को सर्वथा भूल जाते हैं। उदाहरण के लिए उस वर्णव्यवस्था को ही लीजिए, जिससे सिद्ध

करने में हम एड़ी से चोटी तक का पसीना बहा देते हैं। वर्णव्यवस्था सर्वोत्तम है, यह भी ठीक। वर्णव्यवस्था का अनुगमन प्रत्येक दशा में अभ्युदयकर है, यह भी ध्रुवसत्य। परन्तु जो वस्तु सिद्धान्त में सर्वोत्तम हो, परन्तु सामयिक परिस्थिति जिस सिद्धान्त को पनपने में बाधा पहुँचा रही हो, उस सिद्धान्त का गुणानुवाद ही हमारा हित साधन नहीं कर सकता। जो विद्वान् वर्णव्यवस्था के उपदेशों से सभामञ्चों को कम्पित किया करते है, क्या हम उन से यह पूँछने की धृष्टता कर सकते हैं कि, आज अपने आपको सनातनधर्म्मी कहने का अभिमान करने वाले कितने उपदेशक ऐसे हैं, जो शास्त्रसिद्ध वर्णव्यवस्था के अनुसार कर्म्मों में प्रवृत्त रहते हैं?। हमनें तो प्रत्यक्ष में देखा है कि, बड़े बड़े संस्कृतज्ञ विद्वानों की, महामहोपदेशकों की सन्ततियाँ भी उन्हीं की इच्छा से आज वर्णधर्म्मविरोधिनी पश्चिमीशिक्षा का अनुगमन कर रही हैं। आज कौन वर्ण अपने धर्म्म पर प्रतिष्ठित है?। परिस्थितिवश कहिए, अथवा और किसी कारणविशेष से कहिए, सबका कर्म्म उत्पथ ही बन रहा है। ब्राह्मणवर्ण शूद्रसमकक्ष बनता हुआ भी अभिमान कर रहा है। क्षत्रियवर्ण तो सर्वथा ही अस्तप्राय है। वैश्यमहाभाग भी धर्म्म की ओट में स्वार्थसाधन ही कर रहे हैं। शूद्र अमर्य्यादित बन रहे हैं। कर्म्मविरहित विशुद्ध जात्यभिमान ने भी क्या कभी वर्णधर्म्म की रक्षा की है?। व्यवहार हमारा सर्वथा पतित, और आदर्श इतना उदात्त। फिर कहिए तो सही, इस आदर्श का हम क्या करें?। और ऐसे आदर्शवादियों के उपदेश से जनता क्या लाभ उठावे?। स्मरण रखिए, आप कुछ समय के लिए अपनी वाणी को अवश्य ही धोका दे सकते हैं, परन्तु आत्मा को, एवं आत्ममूलक धर्म्म को धोका नही दिया जासकता। धोके में पड़ा हुआ यह धर्म्म ही अधर्म्म बन कर कभी हमें हीं धोका दे जायगा—"**न व्याजेन धर्म्ममाचरेत्**"।

४८—प्रचलित भक्तिकाण्ड की महती-बिभीषिकाएँ, एवं तद्द्वारा आचारधर्म्म का अभिभव—

इसीप्रकार प्रचलित उपासनावाद को लीजिए। शास्त्रपद्धति के द्वारा वेदमन्त्रों से प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ सर्वथा पवित्र हैं, एवं इनके दर्शन का एकमात्र अधिकार द्विजातिवर्ग को ही है, इस सत्यसिद्धान्त में कोई विप्रतिपत्ति नहीं उठाई जासकती। अवश्य ही शास्त्रमर्य्यादा की रक्षा के लिए अत्यंज-प्रवेश को रोकना चाहिए। परन्तु इस प्रवेश-निरोध का प्रचार करते समय हमारे सनातनधर्म्मी उपदेशक यह भूल जाते हैं कि, जिन प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा की रक्षा के लिए हम भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं, वह प्राणप्रतिष्ठा हमारे दोष से पहिले से ही पलायित होचुकी है। बुरा न मानिए, विवेक से काम लीलिए। हृदय पर हाथ धर कर अन्तर्य्यामी से पूँछिए कि, क्या वे मन्दिर, जो आज स्वार्थी सन्त-महन्तों की व्यभिचारलीला के पातक क्षेत्र बने हुए हैं, कभी दिव्यभावना से युक्त रह सकते हैं?। जिन मन्दिर-मठों की सात्त्विक आय का उपायोग मन्दिर-मठाधीशों की विलासलीला में पानी की भाँति बहता रहता है, शास्त्रतत्त्वानभिज्ञ जिन पुजारियों के मलिन अन्तःकरणों से पवित्र भगवत्-प्रतिमाएँ अहोरात्र संश्लिष्ट रहती हैं, जहाँ का कोना कोना दुषित वातावरण की प्रतिमा बना हुआ है, उनकी रक्षा के लिए गला फाड़ना क्या सफल हो सकेगा?। क्या इस स्वार्थलीला को सुरक्षित रखने का नाम हीं मन्दिर, एवं प्रतिमाओं की पवित्रता की रक्षा है?।

४९—आचारहीन-पुरुषसमाज जा स्त्रीवर्ग के प्रति दम्भपूर्ण आक्रोश, और आक्रोश-मूला पतनपरम्पराएँ—

और आगे बढ़िए। स्त्री का यह परम धर्म्म है कि, वह कभी परपुरुष का चिन्तन न करे। न केवल इस जन्म में हीं, अपितु परजन्म में भी वह उसी पति का अनुगनम करे। सचमुच सिद्धान्त बड़ा ही पवित्र

एवं प्रत्येक दशा से समादरणीय है। और नारी को इसी का अनुगमन करना भी चाहिए। परन्तु इस पातिव्रत्य-धर्म्म का उद्घोष करते हुए हम यह भूल जाते हैं कि, आज भारतीय पुरुषसमाज ने अपना व्यक्तित्व कहाँतक सुरक्षित रख रक्खा है ?। जगन्माता सीता, सावित्री, अनुसूया, दमयन्ती, नर्म्मदा, आदि महासतियों के चरित्रों को आगे कर जहाँ हम स्त्रीसमाज पर अपना प्रभाव डालना चाहते हैं, वहाँ साथ साथ ही हमें भी भगवान् राम, सत्यवान्, अत्रि, दुष्यन्त, आदि एकपत्नीव्रतनिष्ठों के आदर्श का अनुगमन करना चाहिए। हमारा चरित्र अथ से इति पर्य्यन्त दूषित रहे, और फिर हम अपने उसी कलङ्कित मुख से उस आदर्शवाद के कल्पित स्वप्न देखा करें, यह विडम्बना नहीं, तो और क्या है ?। निदर्शनमात्र है। आज हम सनातनधर्म्मियों के समीप कोरा आदर्श ही आदर्श रह गया है। उसका उपयोग होसकता है, तो यही कि—अपना कलङ्कित मुख उस आदर्श (दर्पण) में देख देख कर पश्चात्ताप किया करें। पद पद पर शास्त्रीय वचनों को, अतीत युग के आदर्श चरित्रों को सामने रखने से न आजतक किसी का अभ्युदय हुआ है, एवं न भविष्य में ऐसे धर्म्मव्याज से अभ्युदय की कोई आशा ही रखनी चाहिए। हाँ पतन अवश्य होता है, और होरहा है, जिसके कि कटुफल सनातन-धर्म्मी-जगत् को भोगने पड़ रहे हैं। आज प्रत्यक्ष में उनके शास्त्रों पर, शास्त्रीय कर्म्मों पर, आचारों पर, सभ्यता पर, देवमन्दिरों पर अन्यजनों की ओर से भीषण आक्रमण होरहे हैं, और वे आक्रमण सफल भी होते जारहे हैं। इस पाप का भागी कौन ?, हम, एकमात्र सनातनधर्म्मी-जगत्, उसकी मोह निद्रा, उसका कोरा आदर्शवाद, और आदर्शवाद के उदर में पनपे वाला मिथ्याचार।

५०-आचारधर्म्म, एवं युगधर्म्म का परस्पर प्रचण्ड संघर्ष, तथा धार्म्मिक-प्रजा की किंकर्त्तव्यविमूढता—

मान लीजिए—हम आदर्शवाद को सुरक्षित रखना चाहते हैं, शास्त्रानुकूल कर्म्मों में हीं प्रवृत्त रहना चाहते हैं। परन्तु उन शास्त्रों के कथनानुसार ही वर्त्तमानयुग में आदर्श को, शास्त्रमर्य्यादा को यथावत् सुव्यवस्थित रखने का कोई मार्ग नहीं मिल रहा। धर्म्मशास्त्र कहते हैं कि, जिसके राज्य में अधर्म्म होता हो, ब्राह्मण दुःख पाते हों,..... की हिंसा होती हो, उस देश को छोड़ देना चाहिए। चलिए, कहाँ चला जाय ?। ढूँढिए उस देश को, जहाँ उक्त विभीषीकाएँ न हों। क्या ढूँढ सकेंगे ?। असम्भव। यही तो युगधर्म्म है। कृत और कलि में यही तो अन्तर है। धर्म्मशास्त्रों में ऐसे असंख्य नियमोपनियम भरे पड़े हैं, जिनका युगधर्म्म की कृपा से अधिकांश में (इच्छा न रखते हुए भी) आज हम पालन नहीं कर सकते। और वर्त्तमान भारतवर्ष की तो चर्चा करना हीं व्यर्थ है, जहाँ की प्रजा स्वयं ही शास्त्रों को कुचलने के लिए सन्नद्ध खड़ी है। इसीलिए तो एक राष्ट्रीयनेताने अपने श्रीमुख से—"**यदि ब्राह्मण चाहेंगे, तो वे अछूत बन सकेंगे**" इस वाक्य से शब्दब्रह्म को काल्वालीकृत कर दिया था।

५१-अर्थसमस्यानुगत धार्म्मिक-संकट, और धर्म्मक्षेत्र की परवशता—

एक व्यक्ति आर्थिक सङ्कट में पड़कर सेवाधर्म्म स्वीकार कर लेता है। अहोरात्र परिश्रम करने पर कहीं वह अपना उदरपोषण करने में समर्थ होता है। प्राक्तनसंस्कारवश उस की शास्त्र पर भी पूर्ण निष्ठा है। परन्तु परिस्थितिवश उसे समय नहीं मिलता। बतलाइए, वह क्या करे ?। किस उपाय से वह इस धर्म्मसङ्कट से बचे ?। और हमारा विश्वास है कि, आज हजारों व्यक्ति एकमात्र अर्थसमस्या की जटिलता से ही अपनी

श्रद्धा को कार्य्यरूप में परिणत नहीं करसकते। क्या शास्त्रों में इन परवशों के अभ्युदय का कोई भी मार्ग नहीं है ?।

५२–अर्थप्रलोभनानुगता हमारी स्खलनपरम्पराएँ, एवं तद्रक्षणाय असत्य--दम्भ--छल-आदि आसुरधर्म्मों का अनुगमन—

और आगे चलिए। कितने एक व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो किसी प्रकार परिस्थितियों का सामना करते हुए श्रद्धावश शास्त्रीय कर्म्मों के लिए समय निकालते हैं, यथाशक्ति करते भी हैं। परन्तु सब साधनों की अनुकूलता के अभाव से, साथ ही स्वयं शास्त्रज्ञान की कमी से वह कर्म्म जिस विधि से होना चाहिए, नहीं होता। उदाहरण के लिए एक वकील को लीजिए, ऐसे प्लीडर को लीजिए, जो जाति से ब्राह्मण है, मातापिता जिसके परम सनातनधर्म्मी हैं। आर्थिक परिस्थिति के कारण जिसे पश्चिमी–शिक्षा का अनुगामी बन जाना पड़ा है। परन्तु संस्काराकर्षणवश श्राद्धादि कर्म्मों में उसका पूर्ण विश्वास है। श्राद्ध का समय है अपराह्ण। १० बजे उसे नियम से कोर्ट में पहुँच ही जाना चाहिए। फलतः उसे १० बजे से पहिले पहिले ही श्राद्धकर्म्म का श्राद्ध करदेना पड़ता है। इस शास्त्रविरुद्ध श्राद्धकर्म्म से होने वाले प्रत्यवाय से वह विवश व्यक्ति कैसे बचे ?। वह जानता है कि मिथ्या बोलना पाप है। परन्तु उसे यह भी ध्यान है कि, बिना इस ब्रह्मास्त्रप्रयोग के वह सफल प्लीडर नहीं बन सकता। बतलाइए, इसके उद्धार का क्या उपाय ?।

५३–कलियुगानुगता महती--विभीषिकाएँ, एवं तत्परित्राणोपायभूत अन्यतम--'भक्तियोग'–

निदर्शनमात्र है। त्रिगुणभावात्मिका प्रकृति के गर्भ में रहने वाले सर्वथा अल्पशक्ति मनुष्य के जीवन में पद पद पर ऐसे धर्म्मसङ्कट उपस्थित होते रहते हैं। कभी कभी तो ये सङ्कट जीवनसूत्र का भी विच्छेद कर डाल देते हैं। इन विषम परिस्थितियों में पड़ने से हमारा रहा सहा विवेकज्ञान भी लुप्त होजाता है, हम किंकर्त्तव्यविमूढ बन जाते हैं। हम ऐसी परिस्थितियों में या तो यह निर्णय कर डालते हैं कि–छोड़ो इन सब झगड़ों को। अथवा यह निश्चय कर लेते हैं कि, जैसे तैसे भिक्षाटन करके ही कालयापन करलेंगे। कौन इन सांसारिक वैभवों के पीछे दौड़े। इसप्रकार हमें स्वतएव क्लैव्यावस्थापन्न अर्जुन का उत्तराधिकार मिल जाता है। अब यदि हमारे अभ्युदय का कोई मार्ग बच जाता है, तो वह है एकमात्र श्रीकृष्ण का उत्तराधिकारी "गीताशास्त्र"। करुणावरुणालय भगवान् से हमें अवश्य ही आश्वासन मिलेगा। भगवान् हमें परिस्थिति से होने वाले पातकों से बचाएँगे। उसके लिए वे प्रयोग करेंगे उसी उपाय का, जो कि शास्त्रभक्तों की शास्त्र–निष्ठा को पूर्णरूप से सुरक्षित रखता हुआ, अर्द्धभक्तों, अभक्तों का भी अभ्युदय साधन करेगा। और वही उपाय होगा–इस 'पूर्वखण्ड' का मुख्य प्रतिपाद्य "भक्तियोग"।

५४–शास्त्रनिष्ठ आरूढयोगी, शास्त्रानुगत आरुरुक्षु मानवश्रेष्ठ, और सांसारिक--अस्मदादि सामान्य मानव—

शास्त्रसिद्ध कर्म्मों का यथाविधि अनुष्ठान करने वाले कृतकृत्य, निर्लेप सिद्धयोगी सर्वथा परिगणित हैं। स्थूलदृष्टि से तो ऐसे सिद्धयोगी सर्वथा ही परे हैं। युगधर्म्म के परिज्ञाता वे सच्चे योगी आज के संसार के सामने नहीं आते। आते हैं तो कब ?, जबकि सर्वनाश का समय उपस्थित होता है। फलतः इनके सम्बन्ध में तो कुछ भी

विचार करना अनधिकारचेष्टा ही होगी। कुछ महापुरुष ऐसे हैं, जो संसार में रहते हुए, यमनियमादि उपायों से इन्द्रियसंयम करते हुए, विविक्तदेशसेवी बनते हुए शास्त्रसिद्ध कर्म्म–ज्ञान–भक्ति, तीनों में से किसी योग का अनुष्ठान कर रहे है। प्रवृत्त्युन्मुख अस्मदादि संसारियों की दृष्टि में अवश्य ही वे परिगणित व्यक्ति शास्त्र के सम्यक् अनुष्ठाता कहला सकते हैं। फलतः गीता के शब्दों मे इन आरुरुक्षु (साध्यावस्थापन्न) योगियों की चर्चा करने का भी हमें अधिकार नहीं है।

५४–धर्म्मसूत्र का सञ्चालक–भारतीय मानववर्ग, एवं उसकी विविध उपाधियाँ —

अब हमारे सामने चार प्रकार का मानव समाज उपस्थित होता है। एक समाज तो ऐसा है, जो शास्त्रों का पूरा भक्त है, शास्त्रमर्म्म का भी परिज्ञाता है, परन्तु कहने भर के लिए वह शास्त्रसिद्ध योगानुष्ठान का भी अभिमान करता है। साधारण जनता इन्हें आदर की दृष्टि से भी देखती है, यथाशक्य इनके उपदेश-श्रवण का भी कष्ट उठाती है। सनातनधर्म्म के आचार्य्य, सन्त, महन्त, महामहोपदेशक, उपदेशक, धुरन्धर विद्वान्, इन सबको हम एक स्वतन्त्र श्रेणि में प्रतिष्ठित मानते हैं। धर्म्मसूत्र का सञ्चालक आज यही समुदाय है। परिणाम क्या होरहा है ?, यह आदर्शवत् ही प्रकट है।

५६–सहज श्रद्धाशील, किन्तु शास्त्रकर्म्मानभिज्ञ मानववर्ग —

कुछ एक श्रद्धालु ऐसे हैं, जो न तो संस्कृतभाषा का ज्ञान रखते, न परिस्थितिवश इच्छा रखते हुए भी अपनी जिज्ञासा ही शान्त करसकते। परन्तु शास्त्रों पर श्रद्धा विश्वास रखते हुए जैसे तैसे अस्तव्यस्त-रूप से शास्त्रसिद्धा योगत्रयी का अनुगमन करते रहते हैं।

५७–शास्त्र से तटस्थ प्राकृत मानवों का प्रदर्शनात्मक-छलपूर्ण शास्त्र-शब्दोद्घोष—

कुछ एक महानुभाव ऐसे भी हैं, जो शास्त्र वास्त्र जानते वानते कुछ नहीं। न शास्त्रों वास्त्रों, एवं तत्सिद्ध योगों वोगों में इनकी भक्ति-वक्ति ही। अन्तर्जगत् में यह सब कुछ इनके लिए ढकोसला है। परन्तु अपने प्रभुसम्प्रदाय को प्रसन्न रखने के लिए, अथवा शास्त्रनिष्ठ व्यक्तियों को व्यामोह में डाल कर उनसे स्वार्थ साधन करने के लिए ये सज्जन प्रकट में शास्त्रभक्ति का प्रचण्ड प्रदर्शन करते रहते है, साथ ही कर्त्तव्य के सम्बन्ध में अयोग्यता शब्द को आगे कर छुट्टी पालते हैं। यही नहीं, उन श्रद्धालुओं की निन्दा भी किया करते हैं कि, "देखो, वे जैसा चाहिए वैसा नहीं कर अनर्थ कर रहे हैं। और हम, हाँ हम इस अनर्थ से बचे हुए हैं"– "अन्तःशाक्ता बहिः शैवाः"।

५८–शास्त्रद्रोही, परिवर्त्तनवादी उच्छृङ्खल-मानववर्ग, और उसका अनर्गल प्रलाप—

अब एक ऐसा वर्ग हमारे सामने आता है, जिसका अन्तः, और बहिः, दोनों हीं समान धारा में प्रवाहित है। इनकी उत्पत्ति भी भारतवर्ष में ही हुई है। जन्म से भी ये द्विजाति ही हैं। परन्तु परिवर्त्तनप्रिय ये महानुभाव युगधर्म्मानुसार या तो शास्त्रों का परिवर्त्तन चाहते हैं, अथवा फिर शास्त्र का नामशेष भी नहीं रखना चाहते। इनकी दृष्टि में नाश का एकमात्र कारण है–भारतीय शास्त्र, उनके प्रवर्त्तक महर्षियों के स्वार्थ !

पूर्ण आदेश। केवल अर्थबल पर गलित-पतित समाज को अपना अनुयायी बनाते हुए, इसी निकम्मे, पुरुषार्थशून्य 'संघठन' को 'सङ्गच्छध्वम्' से अनुगत पवित्र संघठन शब्द से कलङ्कित करते हुए, हिन्दुत्त्व की रक्षा का ठेका लेकर हिन्दुत्त्व के विनाश पर तुले हुए, भारतीय सभ्यता से विरोध रखने वाले न्यायालयों के साथ समझौता करते हुए, अशास्त्रीय, अतएव सर्वथा असत्य आग्रह को उन्नति का मूल मन्त्र मानते हुए ये ही आज प्रबलवेग से भारतीय आदर्श-एवं बचे खुचे-व्यवहारकाण्ड को भी निर्म्मूल बनाने में प्रयत्नशील बन रहे हैं।

५६-विविध वर्गों के विविध विसंवाद—

एक कहते हैं, करो कुछ मत, केवल हमारा शास्त्र, हमारा शास्त्र, हमारा सनातनधर्म्म, हमारा सनातनधर्म्म पुकारते रहो। दूसरे कहते हैं, सब कुछ करो, कोई नियन्त्रण नहीं, धर्म्म का नाम निशान मिटादो। सम्भव हो तो शास्त्रों को समुद्रगर्भ में विलीन करदो। "हम हिन्दू हैं हिन्दुस्तान हमारा है, स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है"-इस वाक्य का पारायण करते हुए आगे बढ़ते चलो। विरोधियों को साम-दाम-दण्ड-भेद से, जैसे बने कुचलते जाओ।

६०-परस्परात्यन्तप्रतिद्वन्द्वी दो वर्गविभाग, एवं उनकी क्रमशः 'धर्म्म', तथा 'सुधार' के प्रति आचारशून्य दम्भप्रवृत्तियों का नग्न चित्रण—

एक ओर धर्म्म के ठेकेदार, तो दूसरी ओर हिन्दुत्त्व के ठेकेदार। सचमुच यह ठेकेदारी बड़ी भयङ्कर वस्तु है। जबतक हमारे इस पवित्र देश में ठेकेदारी न थी, तबतक हम पूर्ण सुखी थे। परन्तु जब से ठेकेदारी चली है, तब से प्रत्येक वस्तु का मूल्य तो बढ़ गया, परन्तु वस्तु का स्वरूप नष्ट होगया। भला लोकप्रचलित इस ठेकेदारी से धर्म्म-और हिन्दुत्त्व कैसे बचा रह जाता?। इन दोनों ठेकेदारों ने धर्म्म-और हिन्दुत्त्व का मूल्य तो अवश्य बढ़ा दिया। "**प्रत्याशां प्रचरन्ति धर्म्मकथकाः**"-के अनुसार आज आपको सर्वत्र सनातनधर्म्मसभा, आर्य्यसमाजमन्दिर, व्याख्यानवाचस्पति, महामहा-उपदेशक, प्रतिनिधिसभा, शाखासभा, उपशाखासभा आदि का प्राचुर्य्य मिलेगा। असंख्य मन्दिर, सहस्रशः मठ, आदि के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त होगा। प्रत्येक श्रीमान् अपने जीवन में एक दो मंन्दिर, धर्म्मशाला बनाकर अक्षय पुण्य लूटता ही मिलेगा। परन्तु"**सन्ध्यापि वन्ध्यायते**"! कोने कोने में धर्म्म की दुहाई लगने पर भी आज कोई ठीक समय पर सन्ध्या जैसा आवश्यक कर्म्म भी तो नहीं करता। इसीप्रकार हिन्दुत्त्व की सुदशा का नग्न चित्र हमारे सामने है। सर्वत्र हिन्दुत्त्व का आर्त्तनाद व्याप्त है। यही क्यों, आज तो ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रादि नामों का स्थान भी तो इसी हिन्दुत्त्वने छीन लिया है। इसप्रकार विज्ञान-सिद्धान्त के अनुसार आदि और अन्त, दोनों एक ही हृद्बिन्दु पर प्रतिष्ठित होरहे हैं। "**य एवादिः, स एवान्तः**"।

६१-'ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः'—

लक्ष्य एक, अभिनिवेश समान, परन्तु फल में बड़ा अन्तर। ऐसा क्यों?, उत्तर उसी योममाया से पूँछिए। धर्म्मानुयायी (किन्तु आलस्य की सजीव प्रतिमा) महानुभाव केवल आदर्शवाद में पड़कर योगमायानुबन्धी लोकवैभव से भी हाथ धोबैठे। न इधर के रहे, न उधर के। "**ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः**"।

६२-विभिन्न वर्गों की पारस्परिक-अहमहमिका, और तद्द्वारा राष्ट्रवैभव का अभिभव—

उधर योगमाया के ही अनन्य भक्त हिन्दुत्वानुयायी महानुभाव परमार्थदृष्टि से अन्ध पथ का अनुगमन करते हुए भी लोकवैभवसंग्रह में बाजी मार लेगए। कुछ सहयोग कालपुरुष का मिला, कुछ नैतिक सहयोग, कुछ चातुर्य्य, और सबसे बड़ा सहयोग लोकवैभव की अधिष्ठात्री योगमाया का। फिर क्या था। उन्हें जहाँ पेट भर भी अन्न न मिला, वहाँ इन्होंने अधिक खाते खाते वान्तियाँ करना आरम्भ कर दिया। एक वर्ग अधिक कृश होने से आचारधर्म्म में असमर्थ है, तो दूसरा वर्ग अधिक स्थूल होने से असमर्थ बना रहता हुआ—**'अशुभं कृत्वा मेद्यति'** को चरितार्थ कर रहा है। इन दो ठेकेदारों के बीच में ये दो वर्ग-एक श्रद्धालु, दूसरे अन्तःशाक्ता-बहिः शैवाः। आगे जाकर दोनों में कौन किस ठेकेदार का अनुयायी बन गया?, यह भी स्पष्ट कर लीजिए। **"समानशीलव्यसनेषु मैत्री"** प्रसिद्ध है। श्रद्धालुवर्ग का झुकाव धर्म्माभिनिविष्टों की ओर होना आवश्यकता था। नाम के श्रद्धालुओं, किन्तु घोर अश्रद्धालुओं झुकाव हिन्दुत्व के पक्षपतियों के साथ हुआ। हाँ, कुछ एक श्रद्धालु ऐसे भी रहे, जो अन्नग्रहगृहीत बन कर उधर न रहकर इधर ही रहे। परन्तु इनका आत्मा उधर ही रहा। इसप्रकार सम्भूय भारतीय मानववर्ग ६ भागो में विभक्त माना जासकता है। इतर देशानुयायियों में से अधिक देश तो उन राष्ट्रवादियों के अनुगामी रहे, और कुछ आत्मभिमानी धर्म्माभिनिविष्टों के पक्षपाती रहे। हम किसी विशेष प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर ही उक्त वर्गीकरण को साथ लेकर पाठकों के समक्ष उपस्थित हुए हैं। अतः हम अनुरोध करेंगे कि, उक्त ६ औ विभागों को ध्यान में रखते हुए हीं पाठक आगे के प्रकरण पर दृष्टि डालेंगे--

१-(१) १-सिद्धयोगिनः—आरूढाः——जीवन्मुक्ताः

२-(२) २-साध्ययोगिनः—आरुरुक्षवः—मुक्त्यनुगामिनः

——*——

३-(१) १-धर्म्माभिनिविष्टाः-कर्म्मशून्याः-विशुद्धसिद्धान्तवादिनः (आत्मभक्ताः-ज्ञानभक्ता वा)

४-(२) २-श्रद्धालवः———कर्म्मणि——अस्तव्यस्तरूपेण प्रवृत्ताः धार्म्मिकाः-उभयवादिनः उभयनिष्ठाः

——*——

५-(३) १-अश्रद्धालवः———श्रद्धाडम्बराः—कर्म्मशून्याः—उभयवादिनः—निष्ठाविच्युताः

६-(४) २-हिन्दुत्वाभिनिविष्टाः—धर्म्मशून्याः—राष्ट्रवादिनः—(शरीरभक्ताः—कर्म्मभक्ता वा)

——*——

६३-धर्म्मभीरु युधिष्ठिर की भयावहा धर्म्मभीरुता, भगवान् के द्वारा तद्भर्त्सन, एवं अभिनिविष्ट पाण्डवों का उद्बोधन—

गीता की आवश्कता क्यों हुई?, एवं गीता ने वह कौनसा उपाय तलाया, जिससे उक्त चारों वर्गों का अभ्युदय सम्भव है?, इसके लिए महाभारतकालीन मानवसमाज पर दृष्टि डालिए, समाधान हो-

जायगा । उस युग के अन्वेषण से पाठक इस निश्चय पर पहुँचेंगे कि, उस युग में मानवसमाज की प्रायः वही अवस्था थी, जिस अवस्था का कि पूर्व मे दिग्दर्शन कराया गया है । सिद्धयोगियों की भी उस युग में कमी न थी । पराशर–व्यास–परशुराम–आदि सब इसी कोटि में माने जासकते हैं । और सबसे बड़े योगी, साक्षात् योगेश्वर भगवान् कृष्ण भी उस युग का महत्त्व बढ़ा रहे थे । विदुर–उद्धव–बलराम–आदि साध्य–योगियो की भी उस युग में कमी न थी । अब शेष चारों दलों का विचार कीजिए । धर्म्माभिनिविष्ट पाण्डु–पुत्र पैत्रिक-सम्पत्ति से क्यों वञ्चित रहे ?, इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है–धर्म्माभिनिवेश । इन्होंने स्वधर्म्म का वास्तविक मर्म्म न समझते हुए—"**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**" इस नीति का तिरस्कार किया । युधिष्ठिर जानते थे कि, कौरव द्यूत के बहाने मेरा सर्वस्य अपहरण करना चाहते हैं । फिर भी अपनी धर्म्मभीरुता से कौरवों के निमन्त्रण को स्वीकार कर ही लिया । और फिर प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए जो न करना चाहिए था, भातृवर्ग की उपेक्षा कर वह सब कुछ कर डाला । स्वयं भगवान् कृष्णने युधिष्ठिर के इस कर्म्म की कैसी भर्त्सना की है, यह भी ऐतिह्य-तथ्यवेत्ताओं से छिपा नहीं है । हमें मानना पड़ेगा कि, युधिष्ठिर में धर्म्म का पूर्ण अभिनिवेश था । वे संसारयात्रा से अपरिचित थे । इसी दोष से उन्हें कष्ट सहने पड़े । यदि भगवान् कृष्ण मध्यस्थ बन कर इन्हें न संभाल लेते, तो पाण्डवों को यावज्जीवन ही कष्ट सहने पड़ते ।

६४–धर्म्मानिविष्ट युधिष्ठिर, एवं राज्यलिप्सासक्त–दुर्य्योधन, दोनों वर्गों का उत्पथ-गमन–एवं तत्सम्बन्ध में भगवान् का महान् उद्बोधनसूत्र—

दूसरा वर्ग कौरवों का था । इसके अधिनायक दुर्य्योधन की मनोवृत्ति के स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है । राज्यलिप्सा ही इसका परमधर्म्म था । अपनी इस सत्तालिप्सा के लिए दुर्य्योधन नीच से नीच कर्म्म करने में भी लज्जा का अनुभव नहीं करता था । धर्म्माभिनिविष्ट पाण्डुपुत्रों पर इस दुर्बुद्धि ने कैसे कैसे अत्याचार किए, यह सर्वविदित है । इन दोनों आद्यन्त के वर्गों के अनन्तर दोनों मध्यस्थ वर्ग हमारे सामने आते हैं । भीष्म, द्रोण, कृपादि धर्म्मरहस्यवेत्ता थे, पूर्ण श्रद्धालु थे । परन्तु अन्नग्रह से इनका शरीर दुर्य्योधन के ही साथ था । अन्तरात्मा से ये दुर्य्योधन की पापवृत्ति के घोर विरोधी थे । परन्तु परिस्थिति ने इन्हें विवश कर रक्खा था । शकुनि-कर्ण-दुश्शासनादि हृदय के बड़े कुटिल थे । ये प्रत्यक्षरूप से दुर्य्योधन की पापनीति का समर्थन कर रहे थे । तटस्थ स्वदेशी विदेशी राजाओं में से अधिक भाग दुर्य्योधन की ही ओर था, एवं स्वल्पभाग पाण्डुओं की ओर था । कारण स्पष्ट है । पापप्रवृत्ति के साधन संसार में अधिक सुलभ हैं । कौरव-पाण्डव-समर न था, अपितु धर्म्माभिनिविष्टों, एवं सत्ताभिनिविष्टों का समर था । दोनों वर्ग युद्ध के लिए सन्नद्ध थे, परन्तु उसी धर्म्माभिनिवेश ने सहसा सब काम चौपट कर दिया । अर्जुन में कार्पण्य-दोष का आविर्भाव होगया । स्वधर्म्म का रहस्य विलीन होगया । बस इसी "**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**" भगवान् का वह उपाय अर्जुन के सामने आया । और उस उपाय का परिणाम यह निकला कि, अन्त में अर्जुन के मुख से—"**करिष्ये वचनं तव**" ये अक्षर निकल पड़े । धर्म्माभिनिविष्टों का अभिनिवेश हटाया गया, और उनके सामने एक सर्वोच्च-सिद्धान्त रक्खा गया, जिसके कि सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि-विश्व मे शान्ति बनाए रखने के लिए गीता का वह एक सिद्धान्त ही पर्य्याप्त है । और उस सिद्धान्त का स्वरूप हैं—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"

६५--'ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम्' का समन्वय, 'धर्म्म' और 'नीति' का समतुलन, तथा भारतीय राजनीति की धर्म्मसापेक्षता—

"तुह्मारे साथ जो जैसा वर्त्ताव करै, तुम भी उसके साथ वैसा ही व्यवहार करो" इसी नीति के गर्भ में ही विश्वशान्ति का बीज प्रतिष्ठित हैं। जब जब भी समाज, किंवा राष्ट्र ने इस नीति की उपेक्षा की है, तब तब ही उसे आपत्ति का सामना करना पड़ा है। पाठक जानते ही होंगे, कि गौवंश को अपनी सेना के आगे करते हुए विदेशी आततायिनोंने भारतवर्ष की धर्म्मभीरुता से क्या कर डाला था?, जिसका कि प्रतिफल आजतक भारतीय प्रजा को भोगना पड़ रहा है। इसी धर्म्माभिनिवेश ने आज भी हमें अपने कर्त्तव्यपथ से वञ्चित कर रक्खा है। हम मिथ्याश्रद्धा में पड़कर "जैसे के साथ तैसा" नीति को भूल कर अपना सर्वनाश कर बैठते हैं। विशुद्ध धर्म्मनीति लोकवैभव की शत्रु है, जबतक कि उसके साथ राजनीति का समन्वय न करा दिया जाय। हाँ, राजनीति के सम्बन्ध में हमे प्रत्येक दशा में यह ध्यान रखना पड़ेगा, कि इस राजनीति का लोक-अभ्युदय से ही सम्बन्ध है। किसी व्यक्तिविशेष, अथवा देशविशेष के स्वार्थों की रक्षा करने वाली राजनीति कुटिल नीति ही मानी गई है। विष्णुगुप्त चाणक्य भले ही इसका समर्थन करैं, परन्तु मन्वादि धर्म्माचार्य्य उसे विशेष महत्त्व नहीं देते। समृद्ध नन्दवंश को उखाड़ कर यदि चन्द्रगुप्त को सर्वाधिकार दिला दिया गया, तो इससे क्या हुआ। 'राजनीति', जिसे साधारण भाषा में हम 'चातुरी' भी कह सकते हैं*, लोकद्वयसाधिनी ही होनी चाहिए। और यह तभी सम्भव है, जबकि राजनीति के मूल में धर्म्म प्रतिष्ठित किया जाय। इतर देशों की राजनीति, एवं भारतीय राजनीति में यही सबसे बड़ा अन्तर है। इतरदेशों में राजदण्ड राजनीति का ही सञ्चालन करता है, किन्तु भारतवर्ष में धर्म्मदण्ड ही राजनीति का सञ्चालन करता है।

६६--धर्म्मसमन्विता राजनीति का ही अभ्युदय--निःश्रेयस् करत्व, एवं धर्म्मभावुक पाण्डवों की धर्म्मभावना के साथ भगवान् के द्वारा नीति का समन्वय—

विचारदृष्टि से यह भी सिद्ध है कि, धर्म्मनीति का विशुद्ध सांख्यनिष्ठा से सम्बन्ध है, एवं राजनीति का विशुद्ध योगनिष्ठा (कर्म्मनिष्ठा) से सम्बन्ध है। विशुद्ध धर्म्मनीतिमूला ज्ञाननिष्ठा हमें लोकवैभव से वञ्चित कर देती है, एवं विशुद्ध-कर्म्मनिष्ठा हमें परमात्मसम्पत्ति से वञ्चित कर देती है। एक में विशुद्ध परमार्थ माना जाता है, दूसरी में विशुद्ध स्वार्थ है। वस्तुतः गीता की दृष्टि में दोनों हीं विशुद्ध स्वार्थ है। हाँ अपेक्षाकृत राजनीति में अवश्य ही स्वार्थ के साथ साथ थोड़ा परमार्थ भी है। भगवान् दोनों का भेद बुरा समझते हैं। गीतोपदेशकाल में भगवान् के सामने ये ही दो मार्ग उपस्थित थे। एक विशुद्ध धर्म्मनीति के अनुगामी बनते हुए राज्यवैभव से वञ्चित होरहे थे, दूसरा वर्ग विशुद्ध राजनीति का अनुगामी बनता हुआ विश्व-अशान्ति का कारण बन रहा था। भगवान् ने गीता के द्वारा दोनों का समन्वय किया। यद्यपि भगवान् ने विशुद्ध राजनीति-परायण दुर्य्योधन को भी समझाने में कोई न्यूनता नहीं की थी। वे चाहते थे कि दुर्य्योधन अपनी राजनीति में थोड़ा सा संशोधन करता हुआ धर्म्मनीति को उसका मूल बनाले। परन्तु स्वार्थी दुर्य्योधन पर भगवान् के उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। फलतः भगवान् की उस दूसरे वर्ग पर दृष्टि गई, जो कि--विशुद्ध धर्म्मनीति का अनुयायी था। उसके साथ भगवान् ने क्या किया?, यह सर्वविदित

---

* या लोकद्वयसाधिनी तनुभृतां—सा चातुरी चातुरी।

है। उनमें राजनीति का समावेश कराया गया, और उसका मूल उद्देश्य रक्खा गया, लोक-अभ्युदय।

६७—आपद्धर्म्मधिया विशेष-परिस्थितियों में धर्म्मनीति की उपेक्षा, एवं विशुद्ध राजनीति का अनुगमन, तथा तन्निबन्धना-पाप-पुण्य-मीमांसा—

इसी लोक-अभ्युदय की भावना से भगवान् ने विशेष-परिस्थियों में धर्म्मनीति की उपेक्षा करने में भी कोई हानि नहीं समझी। जिस धर्म्मराज ने अपने जीवन में कभी मिथ्याभाषण नहीं किया था, उसे "**नरो वा कुञ्जरो वा**" कहने के लिए विवश करना विशुद्ध राजनीति नहीं, तो और क्या है?। क्या युधिष्ठर ने ऐसा कहते हुए सत्यधर्म्म को धोका नहीं दिया?। दिया, और अवश्य दिया। इसी पाप के फल से भूपृष्ठ से ऊँचा चलने वाला युधिष्ठिर का रथ जमीन पर आठहरा। इसी पाप से युधिष्ठिर को कुछ समय के लिए नरक-स्थान में भी निवास करना पड़ा। धर्म्मनीति के सर्वथा विरुद्ध भीम को दुर्य्योधन की जङ्घा पर गदा-प्रहार के लिए सङ्केत करना क्या भगवान् का पुण्यकर्म्म था?। शस्त्र छोड़े हुए कर्ण पर प्रहार करने के लिए अर्जुन को प्रोत्साहित करना, धर्म्मभीरु अर्जुन के न न करने पर भी इसे उस निरस्त्र पर प्रहार करने के लिए विवश करना क्या पुण्यकर्म्म था?। शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा कर भीष्मवध के लिए सुदर्शन लेकर दौड़ पड़ना कौनसा धर्म्म-कर्म्म था?। जयद्रथ का धोके से वध करवा डालना कौनसी धर्म्मनीति थी?। इसप्रकार सैंकड़ों उदाहरण ऐसे दिए जासकते हैं, जिनमें विशुद्ध राजनीति का ही गन्ध उपलब्ध होता है। और धर्म्म की कसौटी पर कसने से उन्हें अधर्म्म ही मानना पड़ता है।

६८—भगवदवतार के सम्बन्ध में प्रासङ्गिक प्रश्न, और तन्निराकरण

ऐसी दशा में प्रश्न होना स्वाभाविक ही है कि, जब भगवान् का अवतार धर्म्मग्लानि को दूर करने, एवं धर्म्म की प्रतिष्ठा के लिए ही हुआ था, तो फिर जान बूझ कर भगवान् ने अधर्म्मनीति का आश्रय क्यों लिया?। कुछ एक भावुक सज्जन तो यह कहने में भी लज्जा का अनुभव नहीं करते कि, "कृष्ण ने भारतवर्ष का कोई उपकार नहीं किया। अपितु दो राष्ट्रों को लड़ा कर भारत के श्रेष्ठ वीरत्व का नाश ही करवा डाला"।

उत्तर में कहना पड़ेगा कि, भगवान् की भौतिक-स्वरूपसत्ता में भी जब दुर्य्योधनादि आसुरजीव भगवान् की भगवत्ता समझने में असमर्थ होते हुए उनकी निन्दा से नहीं चूकते थे, तो आज यदि कोई मन्दबुद्धि भगवत्ता का अणुमात्र भी स्वरूप न जानता हुआ यदि उन पर किसी प्रकार का आक्षेप करता है, तो इसमें उसका कोई दोष नहीं है।

६९—प्राकृतिक-द्वन्द्वात्मक-भौतिक-विश्व-की गुण-दोषानुगति, एवं विश्व के सामूहिक, तथा वैय्यक्तिक हिताहित का तारतम्य—

हम कह चुके हैं कि, भगवान् का प्रधान लक्ष्य है-विश्वशान्ति। यदि इसके लिए सर्वस्व का भी आहुति देनी पड़े, तब भी सौदा सस्ता ही माना जायगा। यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि, त्रिगुणा-

त्मिका योगमाया के द्वारा सञ्चालित इस विश्व में शुद्ध गुणविभूति कभी नहीं पनप सकती।। उत्तम से उत्तम कार्य्य में भी दोष का अनुषङ्ग अनिवार्य्य है—"**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः**"। इसी आधार पर यह भी सिद्ध होजाता है कि, जिस कर्म्म से अधिक मनुष्यों का उपकार हो--वह ग्राह्य है, एवं उस महोपकार के सामने अल्पोपकारानुगामी कर्म्म उपेक्ष्य हैं। युधिष्ठिर–अर्जुनादि को पाप लगा होगा, उसका फल भी उन्हें भोगना पड़ा होगा। परन्तु विश्वहित के सामने व्यक्तिहित का कोई मूल्य नहीं है। और रही भगवान् की बात। सो उनके सम्बन्ध में हमें टीका-टिप्पणी करने का कोई अधिकार नहीं है। भगवान् तो एक व्यक्ति के उद्धार के लिए भी अपने आपको बन्धन में डालते सुने गए हैं। वानरमुखाकृति नारद के समुद्धार के लिए भगवदंश को मानवरूप (दाशरथि रामरूप) धारण करना पड़ा है, यह सर्वविदित है।

७०--महाभारतयुग से अनुप्राणिता प्रचण्ड--संघर्षावस्था के कतिपय उदाहरण—

फिर वह समृद्ध वैभव भी किस काम का, जिसका एकमात्र उद्देश्य हो स्वार्थलिप्सा को उत्तेजना देना। वे विविध आविष्कार भी किस काम के, जिनसे मानवसमाज की शान्तभावनाएँ कुचली जाँय? दुर्योधन का वैभव ऐसा ही था। और उस युग में शस्त्रास्त्रों का विकास भी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। बात बात में योद्धा महायुद्धों के लिए सन्नद्ध होजाते थे। भीष्म–परशुराम–स्पर्द्धा, अर्जुन-कर्ण–स्पर्द्धा, विराट् नगर में होने वाली कौरव–पाण्डव-स्पर्द्धा आदि इस सम्बन्ध में ज्वलन्त उदाहरण हैं। "**क्रुध्यन्तं प्रति न क्रुध्येत्-आक्रुष्टः कुशलं वदेत्**" लक्षण शान्तिभाव के अग्रदूत द्रोणाचार्य्य जैसे तपस्वी ब्राह्मण भी शस्त्रबल से विरोधियों (द्रुपदराजा) को कुचलने की इच्छा रखते थे। ब्राह्मणबालक अश्वत्थामा भी अपने आपको वीरयोद्धा समझने में गौरव का अनुभव करता था। भला द्रोणाचार्य्य जैसे तपस्वी ब्राह्मण का राज्यलिप्सा से क्या सम्बन्ध? एक ब्राह्मण क्यों किसी से राग द्वेष करे, जबकि मानवधर्म्मशास्त्र ने उसके लिए–"**कुर्य्यादन्यं न वा कुर्य्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते**" यह आदेश दिया है। परन्तु हम देखते हैं कि, गुरुदक्षिणा में द्रोणाचार्य्य द्रुपद को अपने शरण में लाने की कामना अभिव्यक्त कर बैठते हैं। और उनकी यह क्षुब्ध मनोवृत्ति तबतक शान्त हो नहीं होती, जबतक कि वे द्रुपदराज्य का आधा भाग छीन कर "**अहिच्छत्रा**" को अपनी राजधानी नहीं बना लेते।

७१--विश्वशान्ति का प्रचण्ड शत्रु महाभारतकाल, एवं विश्वात्मिका धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए ही अवतीर्ण भगवान् वासुदेव कृष्ण के साम्यभावापन्न उद्गार—

सचमुच महाभारतकाल की समृद्धि विश्व के लिए, विश्व की शान्ति के लिए एक भयानक ही सन्देश था। भाई भाई का शत्रु था, प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने व्यक्तित्व को ही सर्वोच्च देखना चाहता था, नारीधर्म्म संकट में था, सामन्त-राजागण स्वार्थवश अन्याय के समर्थक बन रहे थे। यों वह वैभव हमारा सर्वस्व शान्त करने के लिए मुँह बाए खड़ा था। धरित्री व्याकुल थी, देवता सन्त्रस्त थे, धर्म्मग्लानि चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। कोई सांख्यनिष्ठा का बेसुरा राग आलाप रहा था, तो कोई यज्ञ याज्ञादि को ही उन्नति का चरम लक्ष्य मान रहा था। क्षत्रिय (अर्जुनादि) मोहवश ब्राह्मणधर्म्म को श्रेष्ठ समझने लगे थे, तो ब्राह्मण (द्रोणादि) क्षात्रधर्म्म का अभिमान करने लगे थे। वर्णाश्रमधर्म्म अस्तप्राय था। कुपुत्र (कंसादि) पिताओं पर (उग्रसेनादि पर) अत्याचार करते लज्जित नहीं होते थे। तिर्य्यग्योनियाँ (गन्धर्वादि) विलासलीलाओं में निमग्न थीं। इस-

प्रकार उस महाभारतकालीन समृद्धवैभव के गर्भ में अत्याचार का ही दावानल प्रज्ज्वलित होरहा था। परिणाम-स्वरूप जगदीश्वर मानुषदेह में उसी अत्याचार की सीमा में (कंस के कारागार में) प्रकट होते हैं। उनके सामने सारी परिस्थिति प्रकट होती है। अब इनके लिए एकमात्र कर्त्तव्य है—शान्ति स्थापित करना। और इसके उपाय हैं-साम, अथवा तो दण्ड। महाभारतवेत्ताओं को विदित है कि, भगवान् कृष्ण ने सदा दण्डनीति के समतुलन में सदैव सहयोग की नीति को ही उच्चासन प्रदान किया है। अवैधक्रान्ति की अपेक्षा वैध सहयोगान्दोलन को ही श्रेष्ठ माना है। और मानवता का यह आग्रह भी है कि, जहाँतक सम्भव हो, यदि समत्वमूलक सहयोग से ही शान्ति होजाय, तो पहिले उसी के लिए पूर्ण प्रयास करना चाहिए। भगवान् समत्वयोग के आविष्कारक थे। दण्डनीति में भी समता आती है, परन्तु पहिले विषमता का ही सामना करना पड़ता है। उधर सामनीति में आरम्भ से ही समता की प्रधानता है। भगवान् ने पहिले वही किया। क्या कंस को समझाने में भगवान् ने कोई बात बाकी रक्खी थी ?, शिशुपाल के कितने अपराध क्षमा किए ?। परन्तु जब सामनीति सफल न हुई, तो अन्त में भगवान् को सुदर्शन के द्वारा दण्डनीति का ही आश्रय लेना पड़ा। यही दशा कौरवों की हुई। जगन्नियन्ताने दूत बनने में भी सङ्कोच नहीं किया। वे नहीं चाहते थे कि, दो बन्धुओं में राज्यलिप्सा के कारण इसप्रकार रक्तपात हो, और भारत का समृद्धवैभव केवल इतिहासपत्रों की ही वस्तु बना रह जाय। परन्तु वे यह भी सहन नहीं कर सकते थे कि, अत्याचारी अधिकारसिद्ध न्यायोचित सत्त्व को भी पूरा न करें। समृद्धि भी बनी रहै, कोई अपनी आधिकारिक-सम्पत्ति से भी वञ्चित न रहै, दोनों लक्ष्य सामने रखकर ही भगवान्ने एक बार पुनः शान्ति की इच्छा प्रकट की। युधिष्ठिर ने बतलाया कि भगवन्! अब शान्ति की चेष्टा व्यर्थ है। मुझे विश्वास है कि, आपके सदुपदेश का दुर्योधन पर कोई प्रभाव न पड़ेगा *। परन्तु भगवान् क्या उत्तर देते हैं, सुनिए!। युधिष्ठिर! मैं धृतराष्ट्र की पापवासना को भलीभाँति जानता हूँ। और यह भी समझता हूँ कि—मुझे सन्धि के लिए गया सुनकर राजागण अनेक प्रकरण के अपवाद उठाएँगे। कहेंगे—युधिष्ठिर अपनी निर्बलता से डर कर सहयोग की भिक्षा के लिए कृष्ण को भेज रहा है। कदाचित् तुझे यह आशङ्का हो कि, मुझे एकाकी पाकर कौरव मेरा कुछ अनिष्ट कर डालेंगे, तो इस ओर से तुझे निश्चिन्त ही रहना चाहिए। अणुमात्र भी अविवेकता करने पर मैं सम्पूर्ण कौरवों को वहीं भस्मसात् कर दूँगा ÷। राजन्! यदि वे मान गए, तो अभ्युदय है,

---

* न ममैतन्मतं कृष्ण! यत्त्वं यायाः कुरून्प्रति।
सुयोधनः सूक्तमपि न करिष्यति ते वचः
—महाभारते—उद्योगपर्वणि ७२ अध्याये ८२ श्लोक।

÷ जानाम्येतां-महाभाग! धार्त्तराष्ट्रस्य पापताम्॥
अवाच्यास्तु भविष्यामः सर्वलोके महीक्षिताम्॥१॥
न चापि मम पर्य्याप्ताः सहिताः सर्वपार्थिवाः॥
क्रुद्धस्य संयुगे स्थातुं सिंहस्येवेतरे मृगाः॥२॥
अथ चेत्-प्रवर्त्तन्ते मयि किञ्चिद साम्प्रतम्॥
"निर्दहेयं कुरून् सर्वान्"-इति मे धीयते मतिः॥३॥
—म० उ० ७२ अ०। ८५,८६,८७ श्लो०।

अपयश दोनों अवस्थाओं में समान है। अवाच्यवादियों का मुख कौन रोक सकता है?। इसप्रकार युधिष्ठिर का परितोष कर लीलाधर दूतवेश में कौरवसभा में पहुँचते हैं, और वहाँ समयोचित वाणी का प्रयोग करते हुए कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच—कुरूणां पाण्डवानाञ्च शमः स्यादिति भारत ! ॥
अप्रणाशेन वीराणामेतद्--याचितुमागतः ॥१॥
राजन् ! नान्यत्--प्रकर्त्तव्यं तव नैःश्रेयसं वचः ॥
विदितं ह्येव ते सर्वं वेदितव्यमरिन्दम ! ॥२॥
क्षात्रधर्म्मादमेयात्मा नाकम्पत युधिष्ठिरः ॥
अहं तु तव, तेषां च श्रेय इच्छामि भारत ! ॥३॥
धर्म्मादर्थात् सुखाच्चैव मा राजन्नानशः प्रजाः ॥
अनर्थमर्थं मन्वानोऽप्यर्थं चानर्थमात्मनः ॥४॥
लोभेऽतिप्रसृतान् पुत्रान्--निगृहीश्व विशांपते ! ॥
स्थिताः शुश्रूषितं पार्थाः स्थिता याद्धुमरिन्दमाः ॥५॥
यत्ते पश्यतमं साधुँस्तस्मिंस्तिष्ठ परंतप ! ॥६॥

उद्यो० ६५ अ० ।

उपस्थित ब्राह्मण मण्डलीने, एवं कण्व नारदादि महर्षियों ने कृष्णसन्देश का पूर्ण समर्थन किया। उन्होंने दुर्य्योधन के सामने निम्नलिखित विभीषिका भी उपस्थित की कि—

सुहृदां हि धनं भुक्त्वा कृत्वा प्रणयमीप्सितम् ।
प्रतिकर्त्तुमशक्तस्य जितीवान्मरणं वरम् ॥

७२—आततायीवर्ग और तदनुप्राणता आनवाद्या दण्डनीति—

तत्र समवेत राजन्यमण्डली की भी यही सम्मति रही। परन्तु * परिणाम जो कुछ हुआ, वह पहले वर्णित है। इसप्रकार साम्यप्रिय भगवान् की सामनीति जब सफल नहीं होती, तो अगत्या उन्हें दण्डनीति का ही आश्रय लेना पड़ता है। भगवान् निश्चय कर लेते हैं कि, ये आततायी बिना वधदण्ड के नहीं मानेंगे। अत--

---

* यद्यपि अन्तर्य्यामी भगवान् पहिले से ही इस परिणाम को जानते थे। परन्तु लोक--शिक्षण के लिए ही उन्होंने सहयोगनीति का प्रथम आश्रय लिया। यदि भगवान् ऐसी शिक्षा न देते तो "यद्यदाचरति" के अनुसार दण्डशक्ति में असमर्थ रहता हुआ भी सामान्य जनसमाज उद्दण्डता का ही आश्रय प्रधान मान बैठता।

एव विवश होकर विश्वशान्ति के उदात्त उद्देश्य की सिद्धि के लिए भगवान् को भारत के उस समृद्ध वैभव का बलिदान ही करदेना पड़ा है। ऐतिह्य-घटनाओं का अन्वेषण किए बिना हीं भगवान् कृष्ण पर समृद्धिनाश का कलङ्क लगाने वाले सचमुच ही महापातकी हैं!

७३- गीतानुगत आत्ममूलक साम्यवाद, तथा भूतमूलक वर्त्तमान साम्यवाद (कम्यूनिज्म) का समतुलन----

साम्यवाद का शब्द प्रसङ्गतः उपस्थित होपड़ा। अतएव प्रसङ्गवश इस के सम्बन्धमें भी किञ्चिदिव निवेदन करदेना आवश्यक होगया है। गीतोक्त साम्यवाद, और वर्त्तमानयुग में प्रचलित साम्यवाद में कितना, और कैसा अन्तर है?, यह 'गीताभूमिका-प्रथमखण्ड' में संक्षेप से बतलाया जाचुका है। गीता का साम्यवाद 'आत्मसाम्य' से सम्बन्ध रखता हुआ राजतन्त्र पर प्रतिष्ठित है, एवं इस का मूल एकेश्वरवाद है। वर्त्तमान साम्यवाद भूतसाम्यवाद (जो कि सर्वथा असम्भव है) से सम्बन्ध रखता हुआ प्रजातन्त्र पर प्रतिष्ठित है, एवं इसका मूल अनीश्वरवाद है। यह साम्यवाद (कम्यूनिज्म) तो भौतिक-लिप्सा को उत्तरोत्तर समुत्तेजित ही करता रहता हैं। साम्यवाद, किंवा सहयोग वही श्रेष्ठ है, जिस के मूल में धर्म्मनीति प्रतिष्ठित है। हमारे राष्ट्रवादी साम्यवादमूलक सहास्तित्वनिबन्धन जिस सहयोगभाव की आकाङ्क्षा रख रहे हैं, वह धर्म्मनीति से वञ्चित रहता हुआ, साथ ही धर्म्मनीति का विरोध करता हुआ, गीता के साम्यवाद से ससिद्ध वर्णभेद का घोर शत्रु बनता हुआ सर्वथा हानिकार ही है।

७४--गीता का विश्वशान्ति--मलक महान् सूत्र, एवं उस का समन्वय--दिग्दर्शन—

हाँ, तो अब पुनः प्रकृत का अनुसरण कीजिए। हमने बतलाया है कि, विश्वशान्ति के लिए गीता का 'जैसे के साथ तैसा' सिद्धान्त ही पर्य्याप्त है। अवश्य ही विगत शताब्दियों में हमने इस सिद्धान्त की उपेक्षा कर अपना सर्वस्व ही खोदिया है। और आज भी हम अपनी अन्धश्रद्धा के कारण भावावेश में आकर उक्त आदेश की अवहेलनाही करते जारहे हैं। यह जानते हुए, एवं मानते हुए भी कि, अमुक व्यक्ति ने समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त कर अभिमान में पड़कर समाज को अशान्त बना रक्खा है, हम मौन धारण कर सामान्य जनप्रवाह की हाँ में हाँ मिलाते हुए उसकी घातक प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने का ही यत्न किया करते हैं। अयोग्य व्यक्तियों की पूजा-प्रतिष्ठा ही हमारे पतन का मुख्य कारण है। यदि हमें अपना, अपने समाज का, अपने राष्ट्र का, एवं विश्व का अभ्युदय अभीष्ट है, तो जिस अन्धश्रद्धामयी व्यक्तिपूजा ने आज प्रधान-आसन ग्रहण कर रक्खा हैं, उसका समूल विनाश कर ही देना पड़ेगा। यदि कोई साम्प्रदायिक आचार्य्य व्यक्तिप्रतिष्ठा से अनुचित लाभ उठाने का प्रयास करेगा, तो समाज पहिले शामनीति से काम लेगा, अन्यथा दण्डनीति को अपनाएगा। यदि कोई राष्ट्रीय नेता अर्थातिमान, यशोऽतिमान, आदि में पड़कर व्यक्तिप्रतिष्ठा में प्रवाहित होता हुआ यथेच्छ-अनर्गल आदेश देने लगेगा, तो हमें उसकी भी चिकित्सा कर ही देनी पड़ेगी। उद्दण्डता-अन्याय-अधर्म्म-की क्षणमात्र भी उपेक्षा नहीं की जायगी। प्रतिपद पर हमारी-"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" यही नीति रहेगी, और इसी से हमारा अभ्युदय सम्भव तथा सन्निश्चित बन सकेगा।

७५–भक्तिमार्ग का कर्म्मबन्धन–विमोकत्व—

उक्त सिद्धान्त के साथ साथ हमें भगवदुपदिष्ट उस उपाय का भी आश्रय लेना पड़ेगा, जिसके कि सम्बन्ध में—**'कर्म्मबन्धं प्रहास्यति'** यह सूक्ति प्रसिद्ध है। धर्म्मनीति में राजनीति का समावेश करना पड़ेगा, एवं राजनीति में धर्म्मनीति का समावेश करना पड़ेगा। सांख्य को योगानुयायी बनाना पड़ेगा, एवं योग को सांख्य का अनुयायी बनाना पड़ेगा। ईश्वर के ज्ञानभाग में कर्म्म को युक्त करना पड़ेगा, एवं कर्म्मभाग को ज्ञानपर प्रतिष्ठित करना पड़ेगा। और इसी **भक्तिमार्ग** से हम सर्वसिद्धि में समर्थ बन सकेंगे।

७६–अभ्युदय–निःश्रेयस्–संसाधक–गीता का भक्तियोग –

प्रश्न हमारे सामने यही था कि, श्रद्धालु व्यक्ति शास्त्रपद्धति का इस युग में यथावत् अनुष्ठान नहीं करसकते। कुछ श्रद्धालु तो किसी भी शास्त्रीय **ज्ञान–कर्म्म–भक्ति**-योग का अनुष्ठान नहीं करसकते। एवं भारतेतर देशवासियों को शास्त्रीय योगत्रयी का अधिकार ही नहीं। अतएव वे भारतीय सनातनधर्म्म के अनुगामी नहीं। इन सब के अभ्युदय का क्या उपाय ?, उत्तर **यही भक्तियोग**।

७७–साक्षीसुपर्ण का अंशभूत भोक्तासुपर्ण, दोनों के इच्छातन्त्र, एवं ईश्वरेच्छा के द्वारा ही जीवेच्छा की प्रक्रान्ति—

श्रद्धालुवर्ग को अपनी अवैध-शास्त्रीय-योगत्रयी में यही भय है कि, "हमें प्रायश्चित का भागी बनना पड़ेगा"। यह भय तभीतक है, जबतक कि हमारा कर्म्म, हमारा-ज्ञान, हमारी भक्ति **'हमारे'** हैं। अध्यात्मजगत् में हमने **प्रत्यागात्मा, एवं शारीरक आत्मा,** नाम के दो विवर्त्त बतलाए हैं। सर्वव्यापक देहस्थित **परमात्मा** ही प्रत्यगात्मा है, यही आध्यात्मिक हृदयस्थ **ईश्वर** है, एवं इसी को विज्ञानभाषा में **साक्षीसुपर्ण** कहा जाता है। देहस्थित-भावना–वासना–संस्कारों से सुवासित **देहाभिमानी आत्मा** हीं शारीरक आत्मा है, एवं यही **"भोक्तासुपर्ण"** नाम से प्रसिद्ध हैं। **पहिला वेदान्त-सम्मत सर्वव्यापक चैतन्य है, तो दूसरा प्राधानिक-सम्मत प्रतिशरीर भिन्न चैतन्य है**। इन दोनों हीं आत्माओं का स्वाभाविक योग अविद्याके आवरण से अयोगभाव में परिणत होजाता है। इसी अयोग से प्रत्यगात्मा के द्वारा आनेवाली इच्छा को जीवात्मा अपनी इच्छा समझने लगता है। और निश्चेपन यह इच्छास्वातन्त्र्य ही कर्म्मबन्धन का कारण बनता है।

७८–ईश्वरेच्छा-निबन्धना योगत्रयी का प्राधान्य, एवं तद्द्वारा 'अस्मत्कर्तृत्व'–विमोहन की उपशान्ति

इसी दृष्टिबिन्दु के माध्यम से भगवान् हम आदेश करते हैं कि, जिसे तुम अपनी इच्छा समझ रहे हो, विश्वास करो ! वस्तुतः वह ईश्वरेच्छा ही है। हृदयस्थ तन्त्रायी जगदीश्वर की ही प्रेरणा है, मेरी (अव्यय की) ही प्रेरणा है। जिस दिन तुम इस रहस्य पर विश्वास करलोगे, उस दिन तुम्हारी योगत्रयी प्रायश्चित्तभाव से सर्वथा ही मुक्त होजायगी। वैध हो, अथवा अवैध, योग कभी अनिष्ट नहीं करता। अनिष्ट का तो एकमात्र कारण है–इच्छास्वातन्त्र्य। **"हम करते हैं"** यही भावना उस योग के **सम विषम फल** के साथ हमें बद्ध कर देती है। यदि ईश्वरार्पणबुद्धया हम श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक अवैध–विधि–से भी योगत्रयी का अनुष्ठान करते हैं, तो वह योगत्रयी वैध बन जाती है, और उस समय परिताप को कभी अवसर नहीं मिलता।

७९—महायन्त्रानुगत विविध क्षुद्रयन्त्र, एवं महायन्त्रानुगता महती प्रेरणा से ही क्षुद्रयन्त्रों की गतिशीलता—

बात है थोड़ी अटपटी सी, परन्तु अनुभवसिद्ध। वास्तव में न हम कुछ करते, एवं न कुछ करसकते। जिसप्रकार गङ्गाप्रवाह में पड़ा हुआ एक तृण गङ्गाप्रवाह के साथ साथ प्रवाहित रहता है, इस प्रवाह में 'तृणेच्छा' का कोई मूल्य नहीं हैं, एवमेव हम भी उस संसारप्रवाह में एक तृण से अधिक कोई महत्त्व नहीं रखते। जिधर संसारचक्र जारहा है, विवश होकर हमें भी उसी ओर जाना पड़ता है। एञ्जिन का महायन्त्र अपने उदर में अनन्त छोटे छोटे यन्त्र प्रतिष्ठित रखता है। महायन्त्र के साथ साथ उन्हें भी घूमते रहना पड़ता है। छोटे यन्त्र महायन्त्र की **भक्ति** (भाग-अवयव) बने हुए विवश होकर उसके साथ घूमते रहते हैं। जब महायन्त्र अवरुद्ध (बँद) होजाता है, तो तत्काल ये क्षुद्रयन्त्र भी अपनी गति छोड़ बैठते हैं। ठीक इसीप्रकार यह **सप्तत्रितस्तिकायात्मक, महामायामय महाविश्व भी ईश्वर का महायन्त्र ही है।** सूर्य्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र-ऋषि-पितर-देवता-गन्धर्व-लोकपाल-दिक्पाल-मनुष्य-पशु-पक्षी-कृमि-कीट, आदि सब इस महायन्त्र के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाले, महायन्त्र की भक्ति बने हुए छोटे छोटे यन्त्र हैं। **कर्म्ममय ईश्वरात्मक महायन्त्र** अनवरत घूमता रहता है। इससे बद्ध उन क्षुद्रयन्त्रों को भी विवश होकर घूमना पड़रहा है। इन क्षुद्रयन्त्रों की स्वतन्त्र इच्छा का कोई भी मूल्य नहीं है।

८०—मानवीय जीव की इन्द्रियवर्गानुगता विविध-इच्छाएँ, एवं महायन्त्रात्मक तन्त्रायी ईश्वर के द्वारा ही तदिच्छाओं का सन्तनन—

हाथ का उठना, पैर का आगे बढ़ना, मुख से शब्द निकलना, नासिकासे ग्रन्धका ग्रहण होना, यह सब कुछ (व्यवहारष्टया) जैसे हमारी इच्छा मानी जाती है, हाथ-पैर-मुख-नासिका-कर्ण आदि अपनी इच्छा से कुछ नहीं करते। ये सब हमारे ही अवयव हैं, एवं इन अवयवों की इच्छा हमारी ही इच्छा है, ठीक इसी प्रकार हम सब उस ईश्वरशरीर के ही अवयव हैं। ईश्वरेच्छा ही हमारी इच्छा है। भोजन-पान-शयन-जागरण—सब कुछ उसी की इच्छा से प्रक्रान्त हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, इच्छा को हम (जीवात्मा) कभी उत्पन्न नहीं करते। आपितु ईश्वर के द्वारा अपने आप विनिर्गता इच्छा का ही हम **"हमारी इच्छा है"** इन शब्दों में अभिनय करते रहते हैं। **"मैं अब भोजन करूँ"** इस इच्छा के लिए हम अपनी ओर से कोई व्यापार नहीं करते। इच्छा होजाती है, तब हम उसे पहिचान पाते हैं। मानना पड़ेगा कि, अवश्य ही हमसे (जीव से) पृथक् कोई तत्त्व अन्तर्जगत् में ऐसा प्रसिष्ठित है, जिसकी प्रेरणा से ही इच्छा की अभिव्यक्ति होती रहती है, और हम उस इच्छा के निमित्तमात्र ही बनते रहते हैं। प्रत्यगात्मसम्बन्धिनी इसी ईश्वरेच्छा का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

८१- महायन्त्रात्मक ईश्वर की जीवानुबन्धिनी भक्ति, और 'भक्तियोग'—

जब यह सिद्ध है कि, हम हमारी इच्छा से कुछ नहीं करते, हम निमित्तमात्र हैं, तो परेच्छा से संचालिता योगत्रयी कभी बन्धन का कारण नहीं बन सकती। राजा की इच्छा से यदि एक वधिक किसी अपराधी

का वध कर देता है, तो इस में उस वधिक का क्या अपराध ?। उसने तो वेतन में अपना आत्मसमर्पण करते हुए 'राजा की भक्ति' प्राप्त कर रक्खी है। शास्त्रीय कर्म्म विधिपूर्वक न हुए, तो हमारा क्या दोष ?। ईश्वरेच्छा ने जैसा चाहा, कर लिया गया। ईश्वर की 'भक्ति' बन कर योगानुष्ठान करने से कभी पतन का भय नहीं है।

८२–आध्यात्मिक–राष्ट्रानुगता सहज–शान्ति का 'एकायतन' रूप ईश्वरार्पणात्मक भक्तियोग—

यदि पैर में काँटा लग जाता है, तो हाथ दौड़ पड़ते हैं। यदि पैर गड्ढे की ओर बढ़ रहे हैं, तो आँख बचा लेती हैं। उदर की बुभुक्षा हाथ के द्वारा प्रक्षिप्त भुक्तान्न शान्त कर देता है। इसप्रकार परस्पर कोई सम्बन्ध न रखने वाले शरीरावयव एक दूसरे की सहायता करते हुए 'आध्यात्मिक राष्ट्र' को शान्त बनाए रखते हैं। जिसप्रकार हस्तपादादि हमारे अवयव है, तद्वत् हम उस ईश्वरशरीर के अवयव हैं। **सब का वह एक आत्मा है–"सर्वेषामेकायतनम्"**। जिसप्रकार हस्तपादादि अनेक शारीरिक अवयवों का आत्मा एक ही है, तथैव अवयवात्मक सम्पूर्ण मूर्तों का प्रत्यगात्मा भी एक ही है। जिसप्रकार आध्यात्मिक राष्ट्र की शान्ति के लिए सम्पूर्ण शारीरिक अवयव विरोध से दूर रहते हुए एक दूसरे की सहायता में तत्पर रहते हैं, एवमेव मनुष्यमात्र को "सर्वभूतात्मभूतात्मा" सिद्धान्त को आगे रखते हुए परस्पर सहयोग की ही भावना रखनी चाहिए। **अपना–कर्म्म, अपना ज्ञान, अपनी भक्ति** विश्वेश्वर के महायन्त्र की स्वस्ति शान्ति में ही समर्पित कर देने चाहिएँ।

८३–विधि–वञ्चिता योगत्रयी, तदनुबन्धी भक्तियोग, एवं ईश्वरार्पणानुग्रह से तदुपयोगिता का समन्वय–प्रयास—

आँख का काम है–देखना, नाक का काम है–सूँघना, मुख का काम है–बोलना। इसप्रकार इश्वरने सब इन्द्रियों के ज्ञान-कर्म्म पहिले से ही नियत कर रक्खे हैं। क्या हमने अपनी इच्छा से इन्द्रियों का, एवं इन्द्रियधर्म्मों का निर्म्माण किया है ?। नहीं। तो ऐसी दशा में हमारी इच्छा का क्या मूल्य है ?। आँख का कर्म्म जब देखना है, तो वह देखेगी ही। इस देखने से हमारा (आत्मा का) क्या सम्बन्ध ?। न मैं खाता हूँ, न सुनता हूँ, न बोलता हूँ, मेरी इच्छा से होता ही क्या है ?। यदि मेरी इच्छा ही सब कुछ हो तो मैं दरिद्र क्यों रहूँ ?। क्यों रोगी बनूँ ?। क्यों दुःखी रहूँ। वस्तुस्थिति तो वास्तव में ऐसी है कि, मैंने उस ईश्वरेच्छा का तिरस्कार कर के ही दुःखों का क्रय कर लिया है। शास्त्रीय योगों को अविधिपूर्वक करने से हम प्रायश्चित्त से कैसे बचें ?, इस का एकमात्र उपाय यही भक्तियोग (प्रत्यगात्मेच्छा में आत्मसमर्पण) ही है। इसी उपाय का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

१–संन्यास्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥
२–योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

३–"नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन्-शृण्वन्-स्पृशन्-जिघ्रन्-अश्नन्-गच्छन्-स्वपन्-श्वसन् ॥
४—प्रलपन्-विसृजन्-गृह्णन्-उन्मिषन्-निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्ते, इति धारयन् ॥
५—ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

८४–अपूर्णता को पूर्णता प्रदान करने वाला विशिष्टसन्धाना भक्तियोग, तदनुबन्धी आत्मसमर्पण एवं गीतावचन-समन्वय-प्रयास—

प्रलपन्–श्वसन्-उन्मिषन्-निमिषन् आदि शब्दों में बड़ा ही चमत्कार है। प्रलापी (पागल) मनुष्य जो कुछ बोलता है, उसका परेच्छा से ही सम्बन्ध है। यदि कोई पागल किसी को गाली भी दे देता है, तो वह अपराधी नहीं माना जाता। न्यायधीश भी उसे "यह अपने वश में नहीं है" कह कर छोड़ देता है। भगवान् कहते हैं—तुम अपनी वाणी को प्रलाप समझो। समझो कि, मैं अपनी इच्छा से नहीं बोलता। अपितु कोई दूसरा ही मुझे बुलवा रहा है। आँखों की पलकों में उन्मेष (ऊँचा चढना) निमेष (नीचे गिरना) स्वाभाविक हैं। हमें ध्यान भी नहीं रहता, और यह कर्म्म होता रहता है। इच्छा करते हैं,-श्वास-रोकलें, परन्तु कितनी देर?। "करिष्यवशोऽपि तत्" । हमारे न न करने से कभी इस स्वाभाविकी इच्छा का नियन्त्रण नहीं होसकता। जो कुछ होरहा है, उसे होने दो। अपनापन समाविष्ट मत होने दो। जो कुछ होरहा है, उसमें अपनापन लगाना उसीप्रकार अपने आपको आपत्ति में डाललेना है, जैसे कि पुलिस की तहकीकात में राय देकर अपने आपको फँसाना है। ऐसी दशा में उन श्रद्धालुओं का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि, सुविधानुसार वे जिस योग का जिस रूप से भी अनुष्ठान करते हैं, सब के मूल में प्रत्यगात्मभावना को ही मुख्य आधार बनालें। प्रत्यगात्मा पूर्ण है, यही सन्धाता है। यदि उनका कर्म्म अपूर्ण होगा, तो 'प्रत्यगात्म-भक्ति' उसे पूर्ण कर देगी, यदि त्रुटियुक्त होगा, तो वही त्रुटि का सन्धान भी कर देगी। इसप्रकार शास्त्रीय योगत्रयी का यथावत् अनुष्ठान करने में असमर्थ रहते हुए भी ये श्रद्धालु क्रमशः सिद्धि प्राप्त करने में समर्थ होजाँयगे—"स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः"।

८५–वर्त्तमान भक्तिवाद के बन्धन, अभिनिवेश, अविद्या--आदि अतिमानात्मक--दोष—

"अपनी इच्छा का स्वातन्त्र्य हटा कर उसके स्थान में ईश्वरेच्छा का समावेश समझना" इस वाक्य में भी यत्किञ्चित् पतन का भय है। यत्किञ्चित् भी असावधानी से यह ईश्वरेच्छा जीवेच्छा से भी कहीं अधिक आसक्ति की जननी बन जाती है। और हमें कहना पड़ेगा कि, आज हमने भक्ति का वास्तविक मर्म्म न समझते हुए अपने प्रज्ञापराध से ईश्वरेच्छा को भी आसक्ति की ही जननी बना लिया है। वर्त्तमान भक्तिवाद का निष्कर्ष है—बन्धन, अभिनिवेश, अविद्या, जैसाकि पाठक आगे जाकर देखेंगे।

८६–प्रत्यगात्मानुगत-'मन्मनाभाव', एवं शारीरकात्मानुगत-'उन्मनाभाव'—

ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध में हमें "**मन्मना–उन्मना**" * इन दो प्रतिद्वन्द्वी शब्दों पर दृष्टि डालनी पड़ेगी। मनोवृत्ति को बहिर्मुख रखना हीं '**उन्मनाभाव**' है, एवं अन्तर्मुख रखना हीं '**मन्मनाभाव**' है। शारीरक [जीव] आत्मा "**जीवभूतां महाबाहो**" ! के अनुसार **अक्षर**प्रधान है। प्रत्यगात्मा [ईश्वर] अव्ययप्रधान है, एवं भौतिक विश्व **क्षर**प्रधान है। जीवात्मा के इस ओर अव्यय का साम्राज्य है, एवं उस ओर क्षर का वैभव है। अक्षरप्रधान जीवात्मा को क्षरानुगामी बनाने वाला इन्द्रिययुक्त मन ही है, एवं अव्ययानुगामी बनाने वाली बुद्धि ही है। **प्रत्यगात्मा–बुद्धि–जीवात्मा–मन–बहिरङ्ग भौतिक विषय**, यह क्रम है। बुद्धि के द्वारा जीवात्मा प्रत्यगात्मा का भक्त बनता हुआ जहाँ **मन्मना** रहता है, वहाँ मन के द्वारा बहिरङ्ग विषयों का भक्त बनता हुआ '**उन्मना**' रहता है। मन्मनावृत्ति में जीवात्मा अव्यय का भक्त है, एवं उन्मनावृत्ति मे क्षर का अनुयायी है।

८७–सर्वभूतनिगूढ-गुहानिहित–सुगुप्त–सर्वभूतान्तरात्मा, एवं तन्निबन्धन भक्ति-योग—

अव्ययलक्षण प्रत्यगात्मा "**एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते**" के अनुसार निगूढ़ है, गुप्त है ,सुगुप्त है, परोक्ष है। क्षरलक्षण विषय "**क्षरः सर्वाणि भूतानि**" के अनुसार प्रकट हैं, प्रत्यक्ष हैं। यदि हमारी भक्ति प्रकट है, तो हम सुगुप्ता अव्ययभक्ति से वञ्चित हैं। "**सब कुछ भगवान की इच्छा से होता है**" इस वाक्य का घन्टाघोष करना व्यक्त भक्तिभाव है। इस व्यक्तवाद से जीवात्मा ईश्वरेच्छा का गुणनुवाद करता हुआ भी व्यक्त क्षर का अनुगामी बना रहता है। फलतः अव्ययनिष्ठा से वञ्चित रहजाता है। यही इसका उन्मनाभाव है।

८८–मन्मनाभावानुगता-अव्यभिचारिणी भक्ति, एवं उन्मनाभावानुगता व्यभिचारिणी-भक्ति—

इन्हीं दोनों वृत्तियों के लिए विज्ञानभाषा में क्रमशः **अभिमान**, और **अतिमान** ये दो शब्द प्रयुक्त हुए है। ईश्वरेच्छा का अभिमान करना मन्मनाभाव है, एवं यही भक्तियोग की रक्षा का द्वार है। ईश्वरेछा का अतिमान करना उन्मनाभाव है, एवं यही भक्तियोग का विघातक है। **मन्मनाभक्ति अव्यभिचारिणी है**, क्योंकि इसमें '**अहम्**' शब्दवाच्य '**अव्यय**' की अभिव्यक्ति रहती है—"**भक्तिरव्यभिचारिणी**"। **उन्मनाभक्ति व्यभिचारिणी है**, क्योंकि इसमें **अस्मत्-प्रत्ययगोचरता** के साथ साथ **युष्मत्-प्रत्ययगोचरता** भी बनी रहती है।

---

* इसी शब्द के स्थान में हमारी प्रान्तीय भाषा में "**उणमणा**" शब्द प्रसिद्ध है।

८९–अभिमान, और अतिमान,-भावों का स्वरूप--तारतम्य, उपादेय 'अभिमान,' एवं हेय-'अतिमान', तथा--श्रद्धासूत्रानिबन्धना मनोवृत्ति का स्वरूप--विश्लेषण—

"हम उसी के अंश हैं, वही हैं, अनन्य हैं, उस की इच्छा ही हमारी इच्छा है, हमारी इच्छा उसी की इच्छा है" इस भाव का मनन करना अभिमान है। और यही 'आत्माभिमान' हमारी आत्मशक्ति का प्रवर्द्धक है। हमें अपने अन्तर्जगत् में अपने आपको सदा सर्वश्रेष्ठ ही समझना चाहिए। "हम गरीब हैं, दरिद्री हैं, मूर्ख हैं, असमर्थ हैं" यह भावना हमें कालान्तर में सर्वथैव निर्वीर्य्य बना डालती है। उस प्रत्यगात्मा की ईश्वरता के साथ शारीरक आत्मा का योग कराने के लिए, उससे इसका उद्धार कराने के लिए, उस का इस पर बन्धुत्व स्थापित करने के लिए सदा आत्मभिमान की ही भावना रखनी चाहिए। इस भावन से वह हमारा मित्र बन जायगा, एवं दयनीय भावना से उस का इस पर अनुग्रह न होगा। फलतः वही मित्रात्मा हमारा शत्रु बन जायगा। 'तं यथा यथोपासते, तथैव भवति' (छान्दो० उप०)–श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः" (गीता), एवं–"जा की रही भावना जैसी प्रभु मूरत देखी जिन तैसी" इत्यादि सूक्तियाँ इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रही हैं। इसी आत्माभिमान की आवश्यकता सूचित करते हुए भगवान् कहते हैं—

उद्धरेदात्मना (प्रत्यगात्मनः) ऽऽत्मानं (शारीरकम्)—
नात्मान-(शारीरक -मवमादयेत्।
आत्मैव (प्रत्यगात्मैव) ह्यात्मनो (शारीरकात्मनो) बन्धु—
रात्मैव (प्रत्यगात्मैव) रिपुरात्मनः (शारीरकान्मनः) (गीता)॥

९०–अतिमानपथानुगामी आसुर--मानव, तत्पराभव, शब्दाभिनय से अतीत गुहानिहित श्रद्धामय-आत्मदेव, एवं तदनुगत मन्मनाभावात्मक--'भक्तियोग'--

भावना रखना अभिमान है, यही अन्तर्जगत् की वस्तु है, एवं यही मन्मनावृत्ति है। परन्तु इस भावना का वाणी से अभिनय करते रहना अतिमान है। "तेऽसुरा अतिमानेनैव पराबभूवुः" (शतपथब्रा०) के अनुसार यह अतिमान हीं आत्मपतन–लक्षण पराभव का मूल कारण है। "हम साक्षात् ब्रह्म के अंश हैं, वही हैं" यह बोल देना हीं अतिमान है। गुहानिहित–निगूढ–सुगुप्त ब्रह्म पर शब्द की गति अवरुद्ध है– "संविदन्ति न यं वेदाः"। उस शब्दातीत अव्ययब्रह्म को शब्दानुगामी बना देना उसे क्षरभाव से ही युक्त कर देना है, मन्मना को उन्मना ही बना देना है। तो क्या दयनीयभाव प्रकट किए जाँय ?, नहीं। आत्मसम्बन्ध में शब्दचर्चा करना हीं व्यर्थ, एवं हानिकर है। जिसप्रकार उच्चभाव का अभिनय करना बुरा है, एवमेव "हम अकिञ्चन हैं, उस के सामने हम क्या हैं" इसप्रकार की दयनीय वाणी का प्रयोग भी व्यर्थ, एवं हानिकर ही है। क्योंकि दोनों में हीं उन्मनाभाव समाविष्ट है। समझो, किन्तु कहो मत, यही मन्मनाभाव, किंवा आत्माभिमान है, और यही वास्तविक भक्तियोग है।

६१–शब्दाभिनय-परम्परानुप्राणिता उन्मनाभाव-समन्विता भक्ति का शाब्दोद्घोष, एवं तन्निबन्धन आत्मपतन, और तत्सम्बन्ध में –'ईश्वरानन्यता-लक्षणा' भक्ति से व्यनुप्राणित--'मदर्पण' का स्वरूप-समन्वय—

आज क्या होरहा है ?। ठीक इस से विपरीत। पद पद पर मन्मनाभाव का आश्रय। अपने आप को भगवान् का प्रियभक्त कहने का अतिमान करने वाले, अन्तर्य्यामी को लवण-तैल (नोन–तेल) बना कर बेभाव बेचने वाले कुछ एक महानुभाव शास्त्रीय मर्य्यादा से सर्वथा विरुद्ध–"यह सब भगवान् की ही कृपा का फल है,-जिससे कि हम ऐसा करने में समर्थ हुए हैं। हमारी तो शक्ति ही क्या है" इत्यादि रूप से उन्मनाभावमय वाक्यों का प्रयोग करने में हीं अपना गौरव समझते हैं। सिद्ध पदार्थ का अभिनय कभी अभ्युदयजनक नहीं बन सकता। फिर ऐसे अभ्युदय को हम कैसे भक्तियोग का प्रकार कहें, जबकि उसकी प्रत्येक पद्धति अथ से इति पर्य्यन्त उन्मनाभावमूलक अभिनय से ही ओतप्रोत रहती है ?। हमें **मन्मना** ही बनना चाहिए, **मद्याजी** ही बनना चाहिए,**मद्भक्त** ही बनना चाहिए। तभी हम उस 'मां' को प्राप्त कर सकेंगे। अपने अन्तर्जगत् में सर्वव्यापक चैतन्य के दर्शन करते हुए, मौनभाव से ही योगत्रयी में प्रवृत्त रहना चाहिए। "हम अमुक की इच्छा से करते हैं, हम दोषी नहीं हैं, सब ईश्वरेच्छा से ही होता है" एक कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति के लिए ऐसे वागाडम्बर की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ?। उसे अपने कर्त्तव्य के अतिरिक्त और किसी पर दृष्टि डालने का अवसर ही नहीं है। **हमें तो अपने कर्त्तव्य को ही ईश्वर समझना है। कर्त्तव्यानन्यता ही उस की ईश्वरानन्यता है। मत् और–त्वत् का भेद ही जब इस अनन्यता में, मदर्पण में नहीं है, तो कौन किस से क्या कहे ?, और क्यों कहे ?,** "तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी"। यही वास्तविक भक्तियोग है। यही मन्मनाभाव है, और यही है मदर्पण।

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

६२–श्रद्धालु भावुक भक्तों की विभीषिकाएँ—

कुछ श्रद्धालु ऐसे भी हैं,-जो शास्त्रीय-योगत्रयी के अनुष्ठान में भी समर्थ हैं। जिन्हें सुविधाएँ भी प्राप्त हैं। परिस्थिति भी जिनके अनुकूल है। परन्तु केवल इस विभीषिका से कि नतो कोई आज श्रेष्ठ याजक-है, एवं न स्वयं हम हीं इतनी योग्यता रखते कि, योगत्रयी का यथाविधि अनुष्ठान करसकें। ऐसी दशा में न करना हीं अच्छा है। करें तो पूरा जान कर ठीक ठीक ही करें, अन्यथा सर्वथा न करें" वे इस ओर से प्रायः तटस्थ ही बने रहते है—"**अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे**" इस कारण को उपन्यस्त करते हुए।

६३–'पाणिडयं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्'–आदेशमूलक-उद्बोधन, "विद्या--श्रद्धा उपनिषत्' से समन्विता आचरनिष्ठा, एवं तत्सम्बन्ध में शास्त्रीय--दृष्टिकोण

ऐसे अनेक श्रद्धालुओं के साथ सम्पर्कावसर आए है, जो उक्त हेतुवाद को आगे कर कर्म्म छोड़े हुए हैं। "हम जानते ही नहीं कि, सन्ध्या का क्या तात्पर्य्य है, फिर करने से क्या लाभ" कोई

बतलाने वाला ही नहीं है''–इस 'ज्ञानाभाव' के दो दृष्टिबिन्दु (पहलू) हैं--एक **उपपत्तिज्ञान**, तथा दूसरा **कर्म्मज्ञान**। **कर्म्म किस पद्धति से किया जाता है**, यह जानना तो कोई कठिन बात नहीं है। केवल इसी हेतु से तो कभी कर्म्ममार्ग से वञ्चित नहीं रहना चाहिए। रही बात उपपत्तिज्ञान (मौलिक रहस्य) की, जिसके सम्बन्ध में भी यद्यपि हम मानते हैं कि--"**यदेव विद्यया करोति–श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति**" इस सिद्धान्त के अनुसार **कार्य्यकारणभावपरिज्ञानात्मिका विद्या, मनोयोगात्मिका श्रद्धा**, एवं **मौलिकरहस्यज्ञानात्मिका उपनिषत्**, इन तीनों से समन्वित योगानुष्ठानविशेष ही बलप्रद बनता है। परन्तु जबतक इन तीनों का परिज्ञान न हो, तबतक कर्म्म करें हीं नहीं, यह भ्रान्ति है। इसके लिए तो प्रत्येक दशा में हमें केवल **शास्त्रादेश** पर ही विश्राम करना पड़ेगा। **पाण्डित्य** को छोड़कर **बालवृत्ति** से बिना किसी ऊहापोह (नच नुच) के कर्म्म में प्रवृत्त होजाना पड़ेगा–"**पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्**"।

९४–'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' लक्षण शास्त्रादेश की अनन्यशरणीकरणीयता—

यदि हम मौलिक रहस्यज्ञान के अन्वेषण में हीं पड़े रहे, तो कभी हम कर्म्म में सफलता प्राप्त नहीं कर सकेंगे। और फिर उपपत्तिज्ञान सभी को होजाय, यह सम्भव भी नहीं है। हमें अपने लौकिक व्यवहारों में भी **महाजनो येन गतः पन्थाः**' इसी नियम का अनुगमन करना पड़ता है। बालक को पहिले वर्णशिक्षात्मक कर्म्म में हीं प्रवृत्त कर दिया जाता है। वह यदि यह कहने लगे कि, **मैं पहिले शिक्षा का मौलिक रहस्य जान-लूँगा, तभी शिक्षाकर्म्म का अनुष्ठान करूँगा**", तो वह कभी शिक्षित नही बन सकेगा। "**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ**"।

९५--'स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात्'-मूलक महान् उद्बोधनसूत्र—

जितना भी, जैसाभी बन पड़े-योगानुष्ठान अवश्य करते रहना चाहिए। **कर्म्मशून्या श्रद्धा** सर्वथा निरर्थक है। यदि एक ग्लास पानी में सम्पूर्ण शारीरक अग्नि को शान्त करने की शक्ति है, तो एक बूँद में भी अग्निपरमाणु को शान्त करने की शक्ति है। अभ्युदयकर धर्म्म का अंश भी निरर्थक नहीं जाता। फिर यह कौन सी बुद्धिमानी है कि,–रुपय्ये में से बचे हुए एक आने की भी हम उपेक्षा करदें ?। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं--

नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात ! गच्छति ।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

९६–कर्म्मानुगतिमूलक–श्रेयः-पन्था

"**कुछ भी न करने से कुछ तो भी करते रहना हीं श्रेयः पन्था है**" इस सार्वजनीन सिद्धान्त को सामने रखते हुए, प्रायश्चित के भय से त्राण पाने के लिए ईश्वरानन्यता को मूलाधार बनाते हुए उन विशुद्ध श्रद्धालुओं को भी यथाशक्ति अवश्य ही योगानुष्ठान में प्रवृत्त रहना चाहिए। इस उपाय से इनका भी अभ्युदय निश्चित है।

६७–श्रद्धालु, शास्त्रभक्त, किन्तु युगधर्म्म से पीड़ित मानवों का प्रश्न, एवं तत्समाधान-प्रयास, और तदुपकारक भक्तियोग का संस्मरण—

अब एक ऐसा श्रद्धालुवर्ग हमारे सामने आता है, जो शास्त्रों का भी पूर्ण भक्त है, एवं शास्त्रीय-योगत्रयी पर भी दृढ विश्वास रखता है। परन्तु योग-क्षेम के संकट में पड़कर वह योगनुष्ठान नहीं कर पाता। उदाहरण के लिए **आफिस के क्लर्क, स्कूलों के मास्टर, सेठों के मुनीम, संसत् के स्वतन्त्र सदस्य,** आदि वर्ग ही पर्य्याप्त मान लिए जायँगे। इन निरीह वर्गों को २४ घन्टे योगक्षेमार्थ ही आत्मसमर्पण किए रहना पड़ता है। फिर भी इनका ऐच्छिक-योग-क्षेम संसिद्ध नहीं होपाता। इनके अभ्युदय का क्या उपाय?, वही **भगवान् का ईश्वरानन्यतालक्षण भक्तियोग**। इन्हें विश्वास करना चाहिए कि, "हम जिन लौकिक कर्म्मों में प्रवृत्त हैं, उनमें हमारा कोई हस्तक्षेप, किंवा अपराध नहीं है। भगवत्-प्रेरणा से ही यह सब कुछ होरहा है"। अवश्य ही इस अनन्यता से इनका यह लौकिक कर्म्म भी उस प्रत्यगात्मा का भक्त (अवयव) बनता हुआ अभ्युदयकर ही बन जायगा। इस भावना से अवश्य ही इन्हें शान्ति मिल सकेगी। और कालान्तर में ये भी **भक्तियोगनिष्ठा** के अधिकारी बन जायँगे।

६८–सुदुराचारी मानववर्ग के सम्बन्ध में प्रश्न, तत्समाधानचेष्टा, एवं भक्तिपथ के माध्यम से सुदुराचारी का भी सम्भावित–परित्राण—

अब उस वर्ग से साम्मुख्य होता है, जोकि अन्तरात्मा से शास्त्रों में कोई विश्वास नहीं रखता। और इसीलिए वह शास्त्र, एवं तत्सिद्ध योग की निन्दा ही किया करता है। शास्त्रीय-आचार-व्यवहार (खान–पीन) आदि की मर्य्यादा का इसकी दृष्टि में यत्किंचित् भी महत्त्व नहीं है। भगवान् कहते हैं–दुराचारियों का भी अभ्युदय सम्भव है। दुराचारी अपने जीवन में यच्चेष्ट दुराचार करता रहै, कोई हानि नहीं। वह अपने दुराचार के साथ केवल ईश्वरीयसत्ता का, उसी प्रत्यगात्मलक्षण अव्यय का सम्बन्धमात्र करादे। वह यह अभ्यास करने लगे कि, "यह दुराचार मैं अपनी इच्छा से नहीं करता। अपितु ईश्वरीय प्रेरणा से ही यह सब कुछ होरहा है"। भक्तिनिष्ठा के लिए केवल बुद्धि का व्यवसाय-स्थिर-धर्म्म ही अपेक्षित है। वह **ईश्वरानन्यता** से भी शक्य है। एकत्व-भावना दुराचारी की अव्यवसायात्मिका बुद्धि को भी कालान्तर में व्यवसायरूप में परिणित कर देगी। यही वृत्ति कालान्तर में इसे **'सदाचारी'** भी बना देगी। इसप्रकार एक दुराचारी भी **अनन्येश्वरनिष्ठा से सुदुराचारी** बनता हुआ समय पाकर **भक्तियोग** के द्वारा अपना अभ्युदय करसकेगा। इसी रहस्य का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥

६९–सुदुराचारी मानववर्ग की लोकभक्ति का समन्वय-प्रयास—

"**भगवान् का भजन**" भी एक विचित्र समस्या है। आजकाल के भक्त तो इस भक्ति का यही अर्थ समझते हैं कि, दुराचारी को चाहिए कि, वह माला लेकर, अथवा झाँझ मँजीरे लेकर **हरे राम–हरे राम** किया करै। परन्तु एक ऐसा दुराचारी. जो अहोरात्र विषयों में लिप्त रहता है, माला लेकर जप

आरम्भ कर देगा, असम्भव है। यहाँ तो वही, वैसी ही भक्ति बन सकेगी, जो इसके दुराचार मे बाधा न डाले। दुराचरण के अतिरिक्त नामस्मरणलक्षणा भक्ति के लिए ही यदि इसके जीवन में समय होता, यदि वह यह जानता कि, नामस्मरण दुराचार को दूर कर देगा, दूसरे शब्दों मे यदि वह दुराचार को समझने की योग्यता रखता, तो वह दुराचार में प्रवृत्त ही नहीं होता। प्रश्न तो यह है कि, जिसे दुराचार के अतिरिक्त और कुछ अच्छा ही नहीं लगता, वह क्या करे?। उसकी भक्ति का स्वरूप एकमात्र यही हो सकता है कि, वह अपने दुराचार को अपना न समझकर ईश्वरीय प्रेरणा समझने लगे। उन दुराचार-खण्डों को अखण्ड नियति की महिमा ही समझे। इस अभ्यास से अपनापन हटाता हुआ यह दुराचारी अवश्य ही 'साधु' कहलावेगा, एव कालान्तर में तो यह वास्तव में साधु बन ही जायगा। यही सरल भक्तिमार्ग इस का श्रेयः पन्था है।

१००–भारतीय-हिन्दू-मानवातिरिक्त एतद्देशीय, तथा इतर-देशीय मानववर्गों का भी परित्राता गीता का भक्तियोग, एवं 'स्व-स्व-कर्त्तव्य-के आधारभूत भक्तियोग से मानवमात्र का सम्भावित आत्मत्राण—

न केवल भारतवासी ही, अपितु दूसरे देशों के मनुष्य भी इसी उपाय से शान्ति–लाभ कर सकते हैं। एक मुसलमान का यही कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह सर्वश्री मुहम्मद साहिब को अपना अनन्य देवता मानता हुआ कर्त्तव्य में प्रवृत्त रहे। यह अनन्यनिष्ठा ही इसकी बुद्धि को भी कालान्तर में व्यवसायधर्म्म से से युक्त कर देगी। इसीप्रकार ईसाई-पारसी-यहूदी आदि इतर सभी व्यक्ति अपनी अपनी निष्ठा के अनुकूल अपने अपने ईष्टदेवता में अनन्यनिष्ठा रखते हुए यदि कर्म्म में प्रवृत्त रहेंगे, तो वे साधु ही माने जायँगे। एवं गीतासिद्धान्त के अनुसार वे भी अवश्य ही कालान्तर में पराशान्ति के अधिकारी बन जायँगे।

१०१–धर्म्म–कर्म्म–आचार–श्रद्धा–शास्त्र–आदि की सन्निष्ठाओं के प्रचण्डविरोधी पुरुषपुङ्गवों का संस्मरण—

अब वे पुरुषपुङ्गव? शेष रह जाते हैं, जो उक्त उपायों मे से किसी एक का भी अनुगम करने के लिए सन्नद्ध नहीं हैं। उनका क्या मन्तव्य रहता है?, एवं वे किस पथ के अनुगामी बने रहते हैं?, इस प्रश्न का स्वयं गीताने हीं स्पष्टीकरण कर दिया है।

१०२–आसुर, दैव-भेद-निबन्धन द्विविध मानववर्ग, आसुर मानववर्गानुगता काल्पनिक-मान्यताएँ, तदनुप्राणित सत्य, और इस सत्य का दुराग्रहात्मक-आग्रह—

अर्जुन! इस (मायामय) विश्व में आसुर, और दैव नामक दो प्रकार की सृष्टियाँ हैं। इनमें से दैवसर्ग, का हमने विस्तार से निरूपण कर दिया है। अब आसुरसर्ग का स्वरूप सुन?। शास्त्रने जिन कर्म्मों में प्रवृत्त रहने का आदेश दिया है, उनका, एवं शास्त्रने जिन कर्म्मों से बचने का आदेश दिया है–उनका इन आसुर-मनुष्यों की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। शास्त्रोक्त विधि, एवं निषेध, दोनों हीं इन की दृष्टि में निरर्थक हैं। अपने इच्छानुकूल कर्म्मों में हीं ये प्रवृत्त होते हैं, एवं इच्छा को ही निवृत्ति में मुख्य स्थान

देते हैं। इनमें आभ्यन्तर, एवं बाह्य * दोनों प्रकार की पवित्रताओं का अभाव है। शास्त्रोक्त आचार का भी इनमें अभाव है। सत्य क्या वस्तु है, इसका तो इन्हें ध्यान भी नहीं हैं। जिसे ये अपनी तात्कालिकी युगधर्म्मानुगता कल्पना से सत्य मान लेते हैं, वही इनका सत्य है। और तदनुप्राणिता दुराग्रहदृष्टि ही इनका सत्याग्रह है। (गीता १६।७।)।

१०३-अनीश्वरवादी-कामभोगमात्र-परायण-कामकामी-नराधमों का प्रकृतिवाद-व्यामोहन, एवं तत्प्रवर्त्तक-कामभाव—

दया-तप-सत्य-शौच-विधि-निषेध से रहित ये आसुर मनुष्य स्वयं असत्य में रत रहते हुए जगत् को भी असत्य ही मानते रहते हैं। इनकी दृष्टि में ईश्वरसत्ता का भी कोई मूल्य नहीं है। ये विशुद्ध नैचर-वादी (नियतिचरवादी, किंवा प्रकृतिवादी) ही हैं। धर्म्म अधर्म्म को ये सुख दुःख का कारण नहीं मानते। अपितु वस्तुस्वभाव को ही सुख दुःख का कारण मानते हैं। "प्रजोत्पत्ति का एकमात्र कारण "काम" (हमारी इच्छा) ही है, ! ईश्वर का प्रजासृष्टि में कोई सम्बन्ध नहीं है"। (गी० १६।८।)।

इस पूर्वोक्त नास्तिक दृष्टि को प्रधान मानते हुए, आत्मा (प्रत्यगात्मा), और बुद्धि, दोनों के वास्तविक विकास (अन्तर्ज्योतिर्लक्षण विद्याविकास) से वञ्चित रहते हुए ये आसुर मनुष्य संसार के नाश के लिए (प्रकृति विरुद्ध) उग्र कर्म्मों में हीं प्रवृत्त रहते हैं। (गी० १६।९।)।

१०४-दम्भ-मान-मद-से उन्मत्त-प्रमत्त-आसुर-मानवों की निकृष्टकर्म्म प्रवृत्ति—

कभी पूर्ण न होने वाली कामना का आश्रय लेकर बहिर्धर्म्माङ्गीकार-लक्षण दम्भ, स्वात्मोत्-कृष्टतास्वीकृति-लक्षण मान, लोककविद्या-ऐश्वर्य्यलक्षण मद से नित्य युक्त रहते हुए, अर्थात् परधर्म्मों को हीं श्रेष्ठ मानते हुए, अपनी बुद्धि के सामने सब को तुच्छ समझते हुए, लोकोन्नतिलक्षण ज्ञान, और सम्पत्ति का अभिमान करते हुए, सर्वथा अपवित्र ये आसुर मनुष्य सर्वथा निकृष्ट कर्म्मों में हीं प्रवृत्त रहते हैं। (गी० १६।१०।)।

१०५-आशापाश-बद्ध, काम-क्रोध-परायण-अर्थ-सञ्चयलिप्सु नराधम—

उस चिन्ता के, जिस का कि अन्त प्रलय काल में हीं होगा, अनुगामी बनते हुए ये पामर काम-भोग को ही परमपुरुषार्थ मानते हुए, काम-क्रोध में नित्य प्रवृत्त, विविध प्रकार की आशाओं से बद्ध, अपनी काम-भोगवासना को शान्त करने के लिए अन्याय से ही अर्थसंचय की चेष्टा किया करते हैं। (११-१२।)।

१०६-विविध मोहजाल-समाविष्ट, काल्पनिक नामयज्ञादि में आसक्त-व्यासक्त नरकपथा-नुगामी आसुरमानव—

आज मैंने यह प्राप्त करलिया, कल मेरा अमुक मनोरथ सिद्ध होजायगा, यह तो मेरा है ही, कल यह और होजायगा, कुछ समय में मैं धनवान् बन जाऊँगा, मैंने उस शत्रु को मार दिया

* यद्यपि कहने भर के लिए ये बाह्य पवित्रता का आडम्बर करते हैं। परन्तु वे बाह्य द्रव्य (साबुन-क्रीम आदि) भी शुचिता के स्थान में अशुचि के ही कारण बने रहते है।

पर भी पहुँचना पड़ेगा कि, भगवान् ने तत्तद्विद्याओं में प्रधानयोग निरूपण के साथ साथ त्रिवृद्भाव-सिद्ध, अतएव मुख्ययोग से अविनाभूत उन इतर दोनों गौण योगों का भी दिग्दर्शन करा दिया है। विशेष विस्तार तो मूलभाष्य में हीं देखना चाहिए। यहाँ केवल प्रकरण-संगति के लिए उन योगों के समर्थक कुछ एक वचन मात्र हीं उद्धृत कर दिए जाते है—

१२१–ज्ञानात्मक ज्ञानयोग के समर्थक वचन—

१—ज्ञानयोगः (सिद्धविद्यात्मकः–७-८ अध्यायानुगतः)—

(त्रिवृन्मनोयोगः)

१—ज्ञानात्मको ज्ञानयोगः—

१–अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ (८।८)

२–यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥ (८।११)

३–सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम् ॥ (८।१२)।

१२२–कर्म्मात्मक ज्ञानयोग के समर्थक वचन—

२—कर्म्मात्मको ज्ञानयोगः—

१–उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ (७।१८)।

२–जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म्मचाखिलम् ॥ (७।२९)।

३–साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ (७।३०)।

१२३–भक्त्यात्मक ज्ञानयोग के समर्थक वचन—

३—भक्त्यात्मको ज्ञानयोगः—

१–तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ (७।१७) ।

२–बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ (७।१९) ।

३–येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्म्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ (७।२८) ।

—*—

— १ —

२–भक्तियोगः (राजविद्यात्मकः–९–१०–११–१२–अध्यायानुगतः)

(त्रिवृत्प्राणयोगः)

१२४–ज्ञानात्मक भक्तियोग के समर्थक वचन—

१—ज्ञानात्मको भक्तियोगः–

१–महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ (९।१३) ।

२–सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ (९।१४)

३–ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ (९।१५) ।

——*——

१२५–भक्त्यात्यक भक्तिमोग के समर्थक वचन—

२—भक्त्यात्मको भक्तियोगः–

१–समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् । (९।२९)

२–मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ (९।३४)
३–मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ (१२।८) ।

——*——

१२६–कर्म्मात्मक भक्तियोग के समर्थक वचन—

३—कर्म्मयोगात्मको भक्तियोगः–

१–पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ (९।२६) ।
२–यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ (९।२७) ।
३–शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ (९।२८) ।

——*——

— २ —

–कर्म्मयोगः[आर्षविद्यात्मकः–१३-१४-१५-१६-१७-१८अध्यायानुगतः]

(त्रिवृद्वाग्योगः)

१२७–ज्ञानात्मक कर्म्मयोग से समर्थक वचन—

१—ज्ञानात्मकः कर्म्मयोगः–

१–अमानित्वमदम्भित्वमहिंसाशान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्य्यमात्मविनिग्रहः ॥ (१३।७) ।
२–इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ (१३।८) ।
३–अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ (१३।११) ।

——*——

१२८-भक्त्यात्मक कर्म्मयोग के समर्थक वचन—

२--भक्त्यात्मकः कर्म्मयोगः-

१--मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ (१३।१०)।

२-इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ (१३।१८)।

३--भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ (१८।५५)।

१२९--कर्म्मात्मक कर्म्मयोग के समर्थक वचन--

३—कर्म्मात्मकः कर्म्मयोगः-

१--यज्ञ-दान-तपः-कर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ (१८।५)

१--एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ (१८।६)।

३-न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ (१८।१०)।

— ३ —

१३०-ज्ञानबुद्धियोगलक्षण संशोधित-ज्ञानयोग—

१--ज्ञानबुद्धियोगलक्षणो--ज्ञानयोगः (सिद्धविद्यारहस्यम्)।

१-भक्त्यात्मको ज्ञानयोगः-लोकेश्वरसंग्रहरूपः-उत्तमः

२-कर्म्मात्मको ज्ञानयोगः-लोकसंग्रहयुक्तोऽपि-मध्यमः

३-ज्ञानात्मको ज्ञानयोगः-लोकसंग्रहशून्यः-प्रथमः

है, दूसरों को भी इसीप्रकार चुन चुन कर मारदूँगा। मैं सम्पत्तिशाली हूँ, मुझमें भोगसामर्थ्य है, मैं सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ, वैभव से युक्त हूँ, मेरा परिवार बहुत बड़ा है, मुझ जैसा आज दूसरा कौन सुखी है, मैं याग (अवेध) करूँगा, दान करूँगा, बड़ा आनन्द मनाऊँगा" इसप्रकार की भावनाओं से विमोहित, अनेक विषयों की ओर अपने चित्त को चलित रखने वाले, महामोहजाल से घिरे हुए, कामभोगों में आसक्त ये आसुर मनुष्य घोरनरक में ही गिरते हैं (१३-१४-१५-१६)।

१०७–व्यक्तिविमोहनमूला श्रेष्ठता के दम्भ से मदोन्मत्त नराधमों की लोकैषणा—

सांसारिक वैभव, अभिमान, मद से युक्त, अपने मन से ही अपने आप को उत्तम समझने वाले ये पामर (वैदिक यज्ञों की उपेक्षा कर लोकप्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए) सर्वथा शास्त्रविरुद्ध, वैराग्य-ज्ञान-शून्य नाम-यज्ञों का ही बड़े दम्भ से अनुष्ठान करते रहते हैं। (१७)।

१०८–प्रत्यगात्मस्वरूप-अव्ययेश्वर के अत्यतम-प्रतिद्वन्द्वी नराधम—

मैं कुलशील सम्पन्न हूँ, सर्वशास्त्रपारङ्गत हूँ, सर्वज्ञ हूँ, धर्मिष्ठ हूँ, सर्वोत्तम हूँ–इसप्रकार अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों को सर्वश्रेष्ठ समझने का अहङ्कार करते हुए बल-दर्प-काम-क्रोध के प्रवाह में प्रवाहित होतेहुए ये अधम मनुष्य मुझ सर्वव्यापक अव्यय की व्याप्ति से द्वेष ही किया करते हैं। अपना व्यक्तित्त्व ही, अपना स्वार्थ ही इन का मूलमन्त्र है। सर्वव्यापक प्रत्यगात्मलक्षण अव्ययेश्वर के तो ये नास्तिक घोर शत्रु ही बने रहते हैं। (१९)।

१०९—आसुरी-योनियों के चक्र से चक्रायित नराधमों का आत्यान्तिक पतन

अव्ययात्मा से शत्रुता रखने वाले इन क्रूर कुटिल नरपिशाचों को मैं (अव्यय) पुनः पुनः आसुरी योनियों का ही अनुगामी बनाता रहता हूँ। अनेक जन्मों पर्य्यन्त आसुरीयोनियों के चक्र में फँसे हुए ये मूढ़ मुझे प्राप्त न होकर अधमगति के ही पात्र बनते हैं। (१८)।

११०–सर्वज्ञानविमूढ, अतएव स्वरूप-विमूढ, इत्थंभूत नराधमों का विनष्टप्राय इतिवृत्त—

इसप्रकार भगवदुपदिष्ट किसी भी मार्ग का आदर न करने वाले ऐसे स्वेच्छाचारी मनुष्यों का अभ्युदय सर्वथा ही असम्भव है। एक स्थान पर तो भगवान् ने बड़े आवेश के साथ इन उत्पथगामियों के लिए यह सम्मति दे दी है कि–"ऐसे सर्वज्ञानशून्य जड़ मनुष्यों का सर्वनाश ही निश्चित है"–'सर्वज्ञानविमूढाँस्तान विद्धि नष्टानचेतसः"। इन अभिनिविष्ट जीवों के अतिरिक्त गीताशास्त्र और सब श्रेणियों के मनुष्यों के लिए अभ्युदय का मार्ग बतला रहा है। गीताप्रतिपादित सिद्धान्तों से मनुष्यमात्र अपना अभ्युदय साधन कर सकते हैं। अतएव गीताशास्त्र इतर शास्त्रों की भाँति सीमित न रह कर विश्वशास्त्र ही बन गया है। इतर शास्त्रों की अपेक्षा गीताशास्त्र की यही सब से बड़ी अपूर्वता है। और उस अपूर्वता का प्रधान स्तम्भ है–गीता की योगत्रयी, उस में भी मध्यस्थ भक्तियोग। और यही इस निबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

१११-'भक्ति', और 'उपासना' शब्दों के वाच्यार्थों का स्वरूप--समन्वय-प्रयास

यद्यपि सर्वसाधारण की दृष्टि में **भक्ति**, और **उपासना**, दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक है, परन्तु विज्ञानदृष्टि से **कोई शब्द किसी शब्द का पर्य्याय नहीं बन सकता**। इस सामान्य-वैज्ञानिकी-परिभाषा के आधार पर हम कह सकते है कि, **भक्ति**-और **उपासना** शब्द भी समान अर्थ के वाचक नहीं होसकते। अवश्य ही भक्ति शब्द किसी अन्य अर्थ का वाचक है, एवं उपासना शब्द किसी दूसरे ही अर्थ का वाचक है। और अब हमें संक्षेप से इसी तारतम्य का विचार कर लेना है।

सेवार्थक **भज** धातु से ही भक्तिशब्द निष्पन्न हुआ है। सेवाभाव का अर्थ है "श्ववृत्ति" (**सेवा-श्ववृत्तिः-अमर २।६।२**)। जिसप्रकार श्वान (कुत्ता) अन्नप्रदाता स्वामी के पीछे पीछे अनुधावन करता रहता है, एवमेव सेवक भी अन्नप्रदाता स्वामी के पीछे पीछे ही अनुधावन करता रहता है। स्वामी के प्रति सेवक की इस अनुधावनवृत्ति का ही नाम सेवाभाव है! इसी सेवाभाव का नाम "**भक्ति**" है। एव इस भक्तिभाव का अनुयायी मनुष्य ही '**भक्त**' है।

११२-'भक्ति' शब्दानुगता सेवावृत्ति का स्वरूप-दिग्दर्शन—

भक्ति शब्द कामना को ही अपने उदर में रखता है। श्वानवृत्ति में श्वान की अन्न पर ही दृष्टि है। अन्नाकर्षण से ही श्वान स्वामी का भक्त बना रहता है। ठीक इसीप्रकार ईश्वरानुग्रहाकर्षण से आकर्षित मनुष्य ही ईश्वर का, किंवा ईश्वरविभूतिरूप तत्तद्देवताओं का भक्त बना रहता है। भक्तिभाव में भक्त स्वामी के अनुग्रह की ही अभिलाषा रखता है। यही इसकी **प्रेमाभक्ति** है, जैसाकि आगे के प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

११३-'भक्ति' शब्दानुगता-'भाग'-'अंश' मर्य्यादा, एवं तन्निबन्धना ज्ञानात्मिका, भक्त्यात्मिका, कर्म्मात्मिका-भक्ति-त्रयी का स्वरूप-दिग्दर्शन—

भक्ति का दूसरा अर्थ है **भाग**, किंवा **अंश**। किसी भी उपाय से जीवात्मा '**ईश्वरांशाभिव्यक्ति**' का अधिकारी बन जाय, वह उपाय ही भक्ति है। प्रत्यगात्मा, एवं शारीरकात्मा के भेद से भागात्मिका इस भक्ति के **ज्ञानात्मिका भक्ति, कर्म्मात्मिका भक्ति, उपासनात्मिका भक्ति**, ये तीन रूप होजाते हैं। गीताप्रतिपादिता **ज्ञानबुद्धियोग-लक्षणा सांख्यनिष्ठा** भी एकप्रकार का भक्तिमार्ग ही है। **धर्म्मबुद्धियोग-लक्षणा योग-निष्ठा** भी एकप्रकार का भक्तिमार्ग ही है। एवं **ऐश्वर्य्यबुद्धियोग-लक्षणा भक्तिनिष्ठा** भी एकप्रकार का भक्तिमार्ग ही है। तीनों हीं गीता के द्वारा संशोधित योग हैं। तीनों में **ज्ञान-कर्म्म**, दोनों का समन्वय है, अतएव तीनों हीं समत्वलक्षण **वैराग्यबुद्धियोग** की प्रतिच्छाया से अनुगृहीत हैं। क्योंकि-तीनों में दोनों हैं, अतएव तीनों को तीनों नामों से व्यवहृत किया जासकता है। ज्ञानयोग में कर्म्म का समावेश है, इसलिए यह कर्म्मयोग भी है। ईश्वरार्पणभावना है, इसलिए यह भक्तियोग भी है। कर्म्मयोग में निष्काम भाव का समावेश है, इसलिए यह ज्ञानयोग भी है, ईश्वरार्पणभाव भी "**ओमित्येतत्**" इस ब्रह्मनिर्देश के द्वारा समाविष्ट है, इसलिए यह भक्तियोग भी है। भक्तियोग में ज्ञान का समावेश है, इसलिए यह ज्ञानयोग भी है, कर्म्म के समावेश से कर्म्मयोग भी है। इस दृष्टि से ज्ञान-कर्म्म-भक्ति तीनों के ही निम्न लिखित तीन तीन रूप होजाते हैं।

११४-ज्ञानात्मक-ज्ञानयोग का स्वरूप-दिग्दर्शन—

वह ज्ञानयोग (१)—**ज्ञानात्मक ज्ञानयोग** कहलाएगा, जिसमे केवल अव्यक्तलक्षण निवृत्त-कर्म्म का ग्रहण रहेगा, एवं **धारण-ध्यान-समाधि-लक्षण ईश्वराभेदमूला अव्यक्तप्रधाना ईश्वरचिन्ता** रहेगी। इस ज्ञानात्मक ज्ञानयोग का अधिकारी कोई विरला ही बन सकेगा। कारण, यहाँ का कर्म्म भी निर्गुणभाव मे ही सम्बन्ध रखता है, एवं यहाँ की उपासना भी निर्गुणभावात्मिका ही है। **इस ज्ञानात्मक ज्ञानयोग में लोकसंग्रह का आत्यन्तिक अभाव रहेगा।**

११५-कर्म्मात्मक-ज्ञानयोग की स्वरूप-दिशा का समन्वय –

वह ज्ञानयोग (२)—**कर्म्मात्मक ज्ञानयोग** कलाएगा, जिसमें प्रधानता तो निवृत्ति-लक्षण अव्यक्त कर्म्म की ही रहेगी, परन्तु आंशिकरूप से लोकसंग्राहक व्यक्त कर्म्मों पर भी दृष्टि रहेगी। साथ ही उपासना भी रहेगी तो अव्यक्तमूला निर्गुणात्मिका ही, परन्तु आंशिकरूप से सगुणप्रजापति की ओर भी झुकाव रहेगा। इस कर्म्मात्मक ज्ञानयोग में लोकसंग्रह का आंशिकरूप से समावेश रहेगा।

११६-भक्त्यात्मक-ज्ञानयोग का स्वरूप-समन्वय—

वह ज्ञानयोग (३)—**भक्त्यात्मक ज्ञानयोग** कहलाएगा, जिसमें अव्यक्ता ज्ञानचार्य्या के साथ साथ, निवृत्तिमूलक निगुर्णोपयिक अव्यक्त कर्म्मों के साथ साथ निष्कामबुद्धया सहकृत लोकसंग्राहक व्यक्त कर्म्मों का भी विशेषरूप से समावेश रहेगा। उपासना रहेगी निर्गुणप्रधाना ही, परन्तु सगुण का भी साधनरूप से समावेश रहेगा। इन तीनों ज्ञानयोगों में—**ज्ञान-कर्म्मात्मक भक्तियोगमय ज्ञानयोग सर्वश्रेष्ठ माना जायगा, कर्म्मात्मक ज्ञानयोग इससे अवरकक्षा का माना जायगा,** एवं **ज्ञानात्मक ज्ञानयोग सबसे नीची श्रेणि का माना जायगा।** कारण-भक्त्यात्मक ज्ञानयोग में लोकसंग्रह पर विशेष दृष्टि है, अतएव स्वार्थ के साथ साथ यह परमार्थभाव से भी युक्त है। कर्म्मात्मक ज्ञानयोग भी आंशिक लोकसंग्रस के कारण आंशिक रूप से परमार्थ की ओर ही झुका हुआ है। **परन्तु ज्ञानात्मक ज्ञानयोग लोकसंग्रह की उपेक्षा करता हुआ विशुद्ध स्वार्थ का ही अनुमोदक बन रहा है।**

११७-ज्ञानात्मक-कर्म्मयोग, कर्म्मात्मक-कर्म्मयोग, एवं भक्त्यात्मक-कर्म्मयोग का स्वरूपेतिवृत्त—

दूसरा है कर्म्मयोग। वह कर्म्मयोग (१)—**ज्ञानात्मक कर्म्मयोग** कहलाएगा, जिसमें अव्यक्त ज्ञानोपयिक नैष्कर्म्य-कर्म्मों की प्रधानता रहेगी, एवं सगुणब्रह्माभेदमूला ईश्वरचिन्तन-लक्षणा अव्यक्ता उपासना का समावेश रहेगा। इसमें लोकसंग्रह पर आंशिकरूप से दृष्टि रहेगी। वह कर्म्मयोग (२)—**कर्म्मात्मक कर्म्मयोग** कहलाएगा, जिसमें लोकसंग्राहक व्यक्त कर्म्मों की ही प्रधानता रहेगी, एवं उपासना का वही रूप रहेगा। वह कर्म्मयोग (३)-**भक्त्यात्मक कर्म्मयोग** कहलाएगा, जिसमें ईश्वरानन्यन्ता को प्रधान बना कर लोकसंग्राहक व्यक्त कर्म्म प्रधान रहेंगे। इन तीनों कर्म्मयोगों में भी **भक्तियोगात्मक कर्म्मयोग सर्वश्रेष्ठ माना जायगा, कर्म्मयोगात्मक कर्म्मयोग इससे अवरकक्षा का माना जायगा, एवं ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोग इससे भी नीची श्रेणि का माना जायगा।** कारण यही है कि, भक्तियोग, एवं कर्म्मयोग

में लोकसंग्रह के साथ साथ ईश्वरानन्यनता का भी विकास है। कर्म्मात्मक कर्म्मयोग में लोकसंग्रह की तो प्रधानता है, परन्तु अनन्यतालक्षणा भक्ति गौण बन रही है। परन्तु ज्ञानात्मक कर्म्मयोग में लोकसंग्रह भी थोड़ा है, एवं अनन्यता भी मुकुलिता है।

११८–ज्ञानात्मक-भक्तियोग, कर्म्मात्मक-भक्तियोग, एवं भक्त्यात्मक भक्तियोग का चिरन्तनेनिवृत्त—

तीसरा है भक्तियोग। वह भक्तियोग (१)—**ज्ञानात्मक भक्तियोग** कहलाएगा, जिसमें प्रधानदृष्टि ईश्वरानन्यता-सम्पादक द्वर कर्म्मों की रहेगी, एवं तदनुकूल ही अव्यक्तमूला ज्ञानचर्य्या रहेगी। लोकसग्रह रहेगा, परन्तु लोकसंग्रहदृष्टि से नहीं, अपितु ज्ञानदृष्टि से। वह भक्तियोग (२)—**कर्म्मात्मक भक्तियोग** कहलाएगा, जिसमे अव्यय-ज्ञानचर्य्या के साथ साथ लोकसग्राहक व्यक्त कर्म्मों पर प्रधानदृष्टि रहेगी। एवं वह भक्तियोग (३)—**भक्त्यात्मक भक्तियोग** कहलाएगा, जिसमें अव्ययमूलक ज्ञान, एव क्षरमूलक लोक-सग्राहक व्यक्तकर्म्मों पर समान दृष्टि रहेगी। इन तीनो भक्तियोगों में **भक्त्यात्मक भक्तियोग को सर्वश्रेष्ठ माना जायगा। ज्ञानात्मक भक्तियोग को अवरकक्षा का कहा जायगा, एवं कर्म्मात्मक भक्तियोग को मध्यम श्रेणि का माना जायगा।** कारण यही है कि, भक्त्यात्मक भक्तियोग मे समस्वयोग विकसित है, लोकसंग्रह की भी पूर्ण रक्षा है। कर्म्मात्मक भक्तियोग में अनन्यता गौण है। एवं ज्ञानात्मक भक्तियोग में लोकसंग्रह गौण है।

११९–ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या, एवं धर्म्म-बुद्धियोगानुगता आर्षविद्या से अनुप्राणिता, गीता के द्वारा संशोधिता ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोगत्रयी का स्वरूप-समन्वय—

पाठको को विदित है कि, उक्त तीनों संशोधित योगों का गीता की **सिद्धविद्या, राजविद्या, आर्षविद्या,** इन तीन विद्याओं में निरूपण हुआ है। ७-८ अध्यायात्मिका **सिद्धविद्या में ज्ञानबुद्धियोग-लक्षण संशोधित ज्ञानयोग का निरूपण हुआ है।** ९-१०-११-१२-अध्यायात्मिका **राजविद्या में ऐश्वर्य्य-बुद्धियोग-लक्षण संशोधित भक्तियोग का निरूपण हुआ है।** एवं १३-१४-१५-१६-१७-१८ अध्यायात्मिका **आर्षविद्या में धर्म्मबुद्धियोगलक्षण सशोधित कर्म्मयोग का निरूपण हुआ है।** पाठको को यह भी स्मरण रहे कि-**ज्ञानयोग का आत्मा की मनः कला से सम्बन्ध है, भक्तियोग का प्राणकला से सम्बन्ध है, एवं कर्म्मयोग का वाक्कला से सम्बन्ध है।** योगग्रथी के उसी मौलिक रहस्य प्रकरण में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि, आत्मा की ये तीनों कलाएँ त्रिवृद्भाव के कारण तीनों भावो से युक्त हैं। इसी त्रिवृद्भाव से तीनों योगों में प्रत्येक मे) तीनों योगों का अन्तर्भाव सिद्ध होजाता है। प्रधानता क्योंकि तीनो में स्व-स्वयोग की ही रहती है, अतएव वे योग इतर दोनों नामों से व्यवहृत न होकर स्व स्व प्रधान योग-नामों से हीं व्यवहृत होते हैं।

१२०–त्रिवृद्भावानुबन्धिनी योगत्रयी का स्वरूप-संस्मरण—

इसी सामान्यभाव के कारण गीताप्रतिपादित तीनों विद्याओं में यद्यपि क्रमशः प्रधानरूप से-**ज्ञान-भक्ति-कर्म्म**-योगों का ही निरूपण हुआ है। परन्तु विद्यारहस्य के अन्वेषण से पाठकों को इस निष्कर्ष

१३१–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण संशोधित–भक्तियोग—
२–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षणो भक्तियोगः (राजविद्यारहस्यम्)।

१–भक्त्यात्मको ज्ञानयोगः–ज्ञानकर्म्मसमत्वलक्षण.–उत्तमः

२–कर्म्मात्मको भक्तियोगः–लोकसंग्रहप्रधानः———मध्यमः

३–ज्ञानात्मको भक्तियोगः–आंशिकलोकसंग्रहात्मकः–प्रथमः

——*——

१३२- धर्म्मबुद्धियोगलक्षण संशोधित कर्म्मयोग—
३–धर्म्मबुद्धियोगलक्षणः कर्म्मयोगः (आर्षविद्यारहस्यम्)।

१–भक्त्यात्मकः कर्म्मयोगः–लोकेश्वरसमत्वलक्षणः–उत्तमः

२–कर्म्मात्मकः कर्म्मयोगः–लोकसंग्रहप्रधानः———मध्यमः

३–ज्ञानात्मकः कर्म्मयोगः–लोकसंग्रहविच्युतः–प्रथमः

——*——

१३३–उपासनात्मक–भक्तियोग की श्रेष्ठता का समन्वय, तदाधारभूत प्रत्यगात्मा, एवं शारीरक–आत्मानुगत–भक्त्यात्मक भक्तियोग—

उक्त तीनों योग वे शास्त्रीय योग हैं, जिनका संशोधन करते हुए भगवान्ने गीताशास्त्र में (लोक-निष्ठा की रक्षा के लिए) संग्रह कर लिया है। इन संशोधित तीनों योगों का जो भक्तियोग है, उसे हम उपासनात्मक भक्तियोग होने से 'भक्ति' न कह कर 'उपासना' ही कहेंगे। यदि और भी सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाता है, तो त्रिविध भक्तियोगों में से भी केवल भक्त्यात्मक भक्तियोग को ही 'उपासना' कहा जायगा। ज्ञानात्मिका भक्ति भी भक्ति है, एवं कर्म्मात्मिका भक्ति भी भक्ति है। परन्तु भक्त्यात्मिका भक्ति ही उपासना है। यही योगात्मिका भक्ति है। तीनों भक्तियों में से इस योगात्मिका भक्ति का ही प्रत्यगात्मा से सम्बन्ध है। इसी भक्तितत्त्व के लिए भगवान्ने "तेऽतीव मे प्रियाः" यह कहा है। शेष दोनों भक्तियाँ, एवं त्रिविध–ज्ञानयोग, और त्रिविध कर्म्मयोग, इन सब का शारीरक-आत्मा से ही सम्बन्ध है।

१३४–ज्ञान–कर्म्म–भक्ति–योगानुबन्धी–श्रेणिविभाग के तारतम्य का स्वरूप–समन्वय, एवं उपासना, तथा भक्ति–निबन्धन–तथ्य का समन्वय—

यद्यपि यह ठीक है कि, त्रिविध ज्ञानयोगों में भक्त्यात्मक ज्ञानयोग भी आंशिकरूप से प्रत्यगात्मा का अनुगामी बना हुआ है, त्रिविध कर्म्मयोगों से से भक्त्यात्मक कर्म्मयोग भी आंशिकरूप से प्रत्यगात्मानुगामी बना

हुआ है, इन त्रिविध भक्तियोगों में से ज्ञानात्मक भक्तियोग, तथा कर्म्मात्मक भक्तियोग भी आंशिकरूप से प्रत्यगात्मा का सहचारी बना हुआ है। और इसी विशेषता के कारण हमनें त्रिविध ज्ञानयोगों में से प्रत्यगात्मानुयायी भक्त्यात्मक ज्ञानयोग को, एवं त्रिविध कर्म्मयोगों में से प्रत्यगात्मानुयायी भक्त्यात्मक कर्म्मयोग को, इन दोनों की अपेक्षा त्रिविध भक्तियोग को श्रेष्ठ बतलाया है। तथापि प्रत्यगात्मा का वास्तविक अनुग्रह क्योंकि त्रिविध भक्तियोगों में से भक्त्यात्मक भक्तियोग पर ही है, अतः इसे ही हम सर्वश्रेष्ठ कहेंगे। **भाग ही का तो नाम भक्ति है**। भक्त्यात्मक ज्ञानयोग में ज्ञान की भक्ति प्राप्त होती है, सो भी शारीरक अक्षरज्ञान की भक्ति, अव्यक्तज्ञान की भक्ति। भक्त्यात्मक कर्म्मयोग में कर्म्म की भक्ति प्राप्त होती है, सो भी शारीरक कर्म्म की भक्ति, व्यक्तकर्म्म की भक्ति। ज्ञानात्मक भक्तियोग में अव्ययज्ञानभक्ति अवश्य ही प्राप्त होती है, परन्तु इस में अव्यय का ज्ञानभाग प्रधान बना हुआ है। एवमेव कर्म्मात्मक भक्तियोग में अव्यय की कर्म्मभक्ति ही प्राप्त होतीहै, परन्तु इसमें अव्यय का कर्म्मभाग प्रधान बना हुआ है। इधर भक्त्यात्मक भक्तियोग में अव्यय की ज्ञानभक्ति भी प्राप्त है, एवं अव्यय की कर्म्मभक्ति भी प्राप्त है। अव्यय न केवल ज्ञानमूर्त्ति है, न कर्म्ममूर्त्ति। अपितु उभयमूर्त्ति है। ज्ञान, एवं कर्म्म, दोनो हीं अव्यय के भाग हैं। अतएव दोनों भागों के संग्रह के बिना भक्तिभाव अपूर्ण ही रहता है। अतएव एक एक भाग की अनुयायिनी ज्ञानात्मिका भक्ति, एवं कर्म्मात्मिका भक्ति सर्वथा अपूर्ण है। इसीलिए इसे हम '**उप सना**' न कहकर '**भक्ति**' शब्द से ही व्यवहृत करते हैं।

१३५–उपासना, और भक्ति से अनुप्राणित-तारतम्य-दिग्दर्शन—

उपासना का अर्थ है–'**उप–आसन (समीप बैठना)**'। ज्ञानात्मिका भक्ति का अनुयायी भक्त ज्ञानदृष्ट्या अवश्य ही अव्ययात्मा के समीप बैठा हुआ है, परन्तु कर्म्मभाग से अभी यह वञ्चित है। अतएव भाग–सम्पत्ति–प्राप्त करता हुआ भी यह "**उप–आसन**" से वञ्चित है। एवमेव कर्म्मात्मिका भक्ति का अनुयायी ज्ञान के उप–आसन से वञ्चित है। भक्तियोगात्मक भक्तियोग में ज्ञान के भी यह "उप" (समीप) है, कर्म्म के भी 'उप' है। अतः यहाँ 'उपासनभाव' सम्यक्–रूपेण प्राप्त होजाता है। **उपासना, और भक्ति में यही तारतम्य है**।

१३६–प्रत्यगात्मनिबन्धना सर्वश्रेष्ठा बुद्धियोगात्मिका भक्ति का संस्मरण—

पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि, गीता में जहाँ जहाँ '**भक्ति**' शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहाँ वहाँ वह सर्वत्र (१) **शारीरक-ज्ञानभक्ति-लक्षण ज्ञानात्मक भक्तियोग**। (२) **शारीरक–कर्म्मभक्तिलक्षण कर्म्मात्मक भक्तियोग**, (३) **प्रत्यगात्मज्ञानभक्तिलक्षण ज्ञानात्मक भक्तियोग, एवं प्रत्यगात्म–कर्म्मभक्तिलक्षण कर्म्मात्मक भक्तियोग**, इन चारों '**अपूर्ण–भक्तियों**' में से किसी एक भक्तियोग का ही सूचक है। एवं जहाँ-जहाँ "**यथोक्त पर्य्युपासते**" इत्यादिरूप से '**उपासना**' शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहाँ-वहाँ वह सर्वत्र **प्रत्यगात्मज्ञानकर्म्मभक्तिलक्षण भक्त्यात्मक (ज्ञानकर्म्मात्मक) भक्तियोग** का ही सूचक है। और यही गीता की दृष्टि में **सर्वश्रेष्ठा योगात्मिका भक्ति है** *।

---

* इस भक्तियोग की श्रेष्ठता दूसरे योगों की अपेक्षा ही समझनी चाहिए। इसकी श्रेष्ठता का मूलकारण यही है कि, यह भक्तिनिष्ठा भगवत्सम्मता वैराग्यनिष्ठा से मिलती जुलती है। परन्तु जब हम इस

१३७–अक्षरनिबन्धना 'परा विद्या', क्षरनिबन्धना 'अपरा विद्या' का संस्मरण, एवं तन्निबन्धना शास्त्रीय--योगनिष्ठाएँ—

इसके अतिरिक्त पाठकों को यह भी नहीं भुला देना चाहिए कि, लोक में जो शास्त्रीय तीन निष्ठाएँ प्रचलित हैं, उनका व्यक्त ज्ञान-कर्म्म से ही सम्बन्ध है। प्रत्यगात्मा **ईश्वरतन्त्र** है, शारीरक आत्मा **जीवतन्त्र** है, एवं भौतिक विश्व **जगत्तन्त्र** है। तीनों क्रमशः **व्यक्ताव्यक्तातीत सनातन-ज्ञान-कर्म्मसमत्त्व–लक्षण अव्यय, अव्यक्त ज्ञानप्रधान अक्षर, एवं व्यक्त कर्म्मप्रधान क्षर** से अनुगृहीत हैं। क्षरात्मक कर्म्मप्रधान जगत्तन्त्र का **अपराविद्या** (वेदविद्या) से सम्बन्ध है, अक्षरात्मक ज्ञानप्रधान जीवतन्त्र का **पराविद्या** से सम्बन्ध है, एवं अव्ययात्मक ज्ञान-कर्म्ममय ईश्वरतन्त्र दोनों का अनुग्राहक है, जैसा कि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

क्षरविद्या (अविद्या-कर्म्म)—"तस्मै स होवाच–द्वे विद्ये वेदितव्ये–इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैव अपरा च। तत्रापरा–ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदो, ऽथर्व्ववेदः, शिक्षा, कल्पः, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दो, ज्योतिषमिति।

अक्षरविद्या—(विद्या–ज्ञानम्)--"अथ परा-यया तदक्षरमधिगम्यते। यत्तदद्रेश्यम–ग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्। ÷ तदव्ययं, तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।

—मुण्डकोपनिषत् १।१।५।

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

—श्वेता० उप० ५।१।

१३८–त्रिगुणभावानुबन्धिनी वेदवादरति, तन्निबन्धना अयोगात्मिका त्रिगुणाभावापन्ना योगत्रयी, और 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' का संस्मरण—

अव्ययपुरुष का ज्ञानकर्म्म अक्षर, एवं क्षर में अवतीर्ण होकर जीवतन्त्र, एवं जगत्तन्त्र का सञ्चालन कर रहा है। इस त्रिपुरुषभेद से ज्ञानकर्म्म के तीन रूप होजाते हैं। **त्रिगुणभावात्मिका अपराविद्या**

भगवन्निष्ठा की दृष्टि से भक्तियोग की श्रेष्ठता का विचार करेंगे, तो उस समय वैराग्यनिष्ठा की अपेक्षा यह भी अवरकक्षा में हीं रह जायगी। भक्तियोग में अव्ययज्ञान भी है, अव्ययकर्म्म भी है, इसलिए तो यह वैराग्यनिष्ठा के समकक्ष है। परन्तु अव्ययकर्म्म के साथ इसमें आधिभौतिक व्यक्त क्षरकर्म्म का भी समावेश है, यही इसकी आंशिक विषमता है। इसी अस्वारस्य ने इसे वैराग्यनिष्ठा की अपेक्षा नीचा आसन दे रक्खा है, जैसाकि आगे के बुद्धियोगपरीक्षाप्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

÷ अक्षर मध्यस्थ है। अतएव वह पर अव्यय का भी अनुग्राहक है, एवं अवर-भूतयोनिलक्षण क्षर का भी संग्राहक है। अतएव श्रुतिने पराविद्यात्मक अक्षर को अव्यय, और भूतयोनि भी मान लिया है, जैसाकि–"एतद्धये वाक्षरं ब्रह्म (क्षरः), एतद्धये वाक्षरं परम् (अव्ययः)" इत्यादि अन्य श्रुतियों से भी स्पष्ट है।

का प्रतिपादक शास्त्र जिस योगत्रयी का निरूपण करता है, उसमें आधिभौतिक क्षर की ही प्रधानता है ऐसे तीनों योग अव्ययाक्षर, दोनों से वञ्चित होते हुए भूतसम्पत्ति के ही अनुगामी हैं। भगवान् की दृष्टि क्षरानुगामी शास्त्रीय ज्ञान-कर्म्म-भक्ति, तीनों योग अयोग हैं। यही भोगैश्वर्य्यप्रसक्त वेदवादरत के त्रिगुणात्मक योग हैं। ऐसे कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग को भगवान् न ज्ञानयोग कहते, न फलाभिसं कर्म्मयोग को कर्म्मयोग मानते, एवं न ईश्वरानुग्रहप्राप्तिलक्षण प्रेमाभक्तिरूप भक्तियोग को भक्तियोग कहते "निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"।

१३९-अपराविद्या में पराविद्या का समन्वय, एवं तन्मूलक-योगसंशोधन, तथा-'उप आसन' निबन्धना 'उपासना'—

इसके अनन्तर संशोधिता योगत्रयी हमारे सामने आती है। अपराविद्या में पराविद्या का समन्वय ही संशोधन है। ये ही तीनों योग ग्राह्य हैं। इनमें ज्ञानात्मिका-कर्म्मात्मिका भक्ति तो 'भाग' भाव से सम्बन्ध रखती हुई 'भक्ति' कहलाती है, एवं ज्ञान-कर्म्मसमन्विता भक्त्यात्मिका भक्ति 'उप-आसन' भाव के कारण 'उपासना' कहलाती है। शेष रहा विद्या-अविद्यासे अतीत अव्यय, और उससे सम्बन्ध रखने वाली भगवन्निष्ठा। इसमें, और उपासना में क्या अन्तर है?, इस प्रश्न की मीमांसा स्वतन्त्ररूप से अनुपद में हीं की जाने वाली है। अबतक योगत्रयी के सम्बन्ध में जिन विभिन्न दृष्टिकोणों का स्वरूपोपबृंहण हुआ है, निम्न लिखित तालिकाओं से उन सबका संक्षेप से सर्वात्मना स्पष्टीकरण होजाता है।

१४०—त्याज्या क्षरानुगता योगत्रयी—

१-ज्ञानयोगः—कर्म्मत्यागलक्षणः———अज्ञानयोगः
२-कर्म्मयोगः—फलकामासक्तिलक्षणः——अकर्म्मयोगः
३-भक्तियोगः—ईश्वरानुग्रहप्राप्तिकामलक्षणः-अभक्तियोगः

} "त्याज्या"

———*———

१४१-ग्राह्या अक्षरानुगता योगत्रयी—(१)

१—ज्ञानयोगः—(अनुगमनीयः)

१—ज्ञानात्मको ज्ञानयोगः—शारीरकात्मज्ञानप्रधानः (अवरः)
२—कर्म्मात्मको ज्ञानयोगः—शारीरकात्मककर्म्मप्रधानः (मध्यमः)
३—भक्त्यात्मको ज्ञानयोगः—शारीरकात्मज्ञानकर्म्मप्रधानः (उत्तमः)

———*———

२—कर्म्मयोगः—(ग्राह्यः)

१—ज्ञानात्मकः- कर्म्मयोगः—शारीरकज्ञानानुगतः (अवरः)

२—कर्म्मात्मकः—कर्म्मयोगः—शारीरककर्म्मानुगतः (मध्यमः)

३—भक्त्यात्मकः-कर्म्मयोगः—शारीरकज्ञानकर्म्मानुगतः (उत्तमः)

—*—

३—भक्तियोगः—संग्राह्यः—

(भक्तिः) १-ज्ञानात्मको भक्तियोगः—प्रत्यगात्मानुगतशारीरकज्ञानानुगतः (अवरः)

(प्रपत्तिः) २-कर्म्मात्मको भक्तियोगः—प्रत्यगात्मानुगतशारीरककर्म्मानुगतः (मध्यमः)

(उपासना) ३-भक्त्यात्मको भक्तियोगः-विश्वकर्म्मानुगतप्रत्यगात्मलक्षणज्ञानकर्म्मानुगतः (उत्तमः)

—*—

१४२—भारतीय महर्षियोंकी 'पुराणीप्रज्ञा' से प्रसूता 'योगत्रयी' का संस्मरण, एवं तृतीय-प्रकरणोपराम—

तदित्यं-पवित्रतम—ब्राह्मणवर्ण से समन्वित-पार्थिवत्रैलोक्याधिष्ठाता 'भारत' नामक 'अग्निदेव' के अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से धन्यतम-पवित्रतम-यशस्यतम बने हुए इस पावनतम 'भारतवर्ष' के महिमामय विशाल प्राङ्गण में अवतीर्ण होने वाले प्रज्ञावदातश्रममूर्त्ति महामहिमशाली प्रत्यक्षदृष्टा 'आर्षमहर्षियों' की सत्त्वानुगता 'पुराणीप्रज्ञा' से मानव के अभ्युदय निःश्रेयस् के लिए जिस अलौकिक, एवं लोकव्यवहार्य्य महतो-महीयान् राजपथ का आविर्भाव हुआ, वही राजपथ—'भारतीय महर्षियों की योगत्रयी' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिस इस 'त्रयीपथ' के 'ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योग' नामक तीनों योगों का ही प्रक्रान्त तृतीय प्रकरण में अनेक दृष्टिकोणों से संस्मरण-प्रयास हुआ है। अब अग्रिम प्रकरण में इसी योगत्रयी से सम्बन्ध रखने वाले देवयुग-वेदयुग-पुराणयुग-दर्शनयुग-आदि आदि युगधर्म्मानुबन्धों से अनुप्राणित तीनों योगों के युग-धर्म्मात्मक परिवर्त्तित-स्वरूपों के समन्वय का ही प्रयास सम्भावित है।

इति-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे

"योगत्रयी, और भारतीय-महर्षि"

नामक

तृतीय-प्रकरण-उपरत

३

श्रीः

इति-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—

"योगत्रयी, और भारतीय-महर्षि"

नामक

तृतीय-प्रकरण-उपरत

३

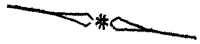

श्रीः

अथ-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—

"युगधर्मानुगता--विविध-उपासनाएँ"

नामक

चतुर्थ-प्रकरण

४

श्रीः

(१)-देवयुगानुगता निर्गुणोपासना से अनुप्राणित-पारिभाषिक-परिलेख—

"अव्ययोपासना" (निर्गुणः--अव्ययः-ईशः)

ज्ञानमेव-उपासना-ज्ञानात्मिका—(अमृतम्)
निर्गुणोपासना-ईशोपासना-ज्ञानात्मिका
मनोमयी-उपासना-ज्ञानात्मिका

सोऽयं निर्गुणोऽव्ययः
१-आनन्दः—आनन्दमयोऽव्ययः——मन एव
२-विज्ञानम्--विज्ञानमयोऽव्ययः——मन एव
३-मनः——श्वोवस्यस्मनोमयोऽव्ययः-मन एव
तदिदं अव्ययविवर्त्तम् मनोविवर्त्तमेव

सोऽयं-मनोमयो निर्गुणोऽव्यय एव विजिज्ञासितव्यः
सोऽनुध्यताव्यः--उपासितव्यश्च

(सोऽयं देवयुगः प्रथमः--सत्ययुगारम्भात्मकः)

अमृतम्
अव्ययः
ज्ञानम्
मनः
} तदेतत्--सर्वं मन एव, अव्यय एव-निर्गुणः
"अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः"

विजिज्ञासा-ज्ञातुमिच्छा-ज्ञानमेव
सैषा विजिज्ञासा-अनुध्यानलक्षणैव
सैवच-ज्ञानात्मिका-उपासना-'उपासना' देवयुगानुगता-प्रथमा (१)
"अनुध्यानञ्च-समानप्रत्ययाप्रवाहधारणमेव"

श्रीः

"युगधर्म्मानुगता-विविध-उपासनाएँ"

नामक

चतुर्थ-प्रकरण

४

—*—

(चतुर्थप्रकरणान्तर्गत-प्रथम-अवान्तर-प्रकरण)

१-देवयुगानुगत-निर्गुणोपासनामार्ग

—*—

१—ऋषिदृष्टा योगत्रयी के युगधर्म्म-निबन्धन विविध-परिवर्त्तन—

'ज्ञान-भक्ति-कर्म्म'—नाम से प्रसिद्धा जिस योगत्रयी का भारत के महर्षियों की 'पुराणी प्रज्ञा' से मानव के अभ्युदय-निःश्रेयस् के लिए देवयुगारम्भ में आविर्भाव हुआ, वह योगत्रयी, किंवा उस योगत्रयी के तीनों प्रक्रमों का स्वरूप आगे चलकर युगधर्म्मानुगत--दिग्देशकालानुबन्धी-मनः-शरीरानुप्राणित—विविध-उच्चावच परिवर्त्तनों के कारण विभिन्न-विभिन्न-प्रकारों में ही परिणत होता गया।

२-परिवर्त्तित-स्वरूपानुगत अपरिवर्त्तनीय-मूलतत्त्व—

युगधर्म्मानुगता मान्यताओं के समावेश से उस ऋषिसम्मता योगत्रयी का स्वरूप युगधर्म्मानुपात से बदलता रहा, जबकि येन केन रूपेण उन परिवर्त्तनों के मूल में ऋषिसम्मत मौलिक स्वरूप भी अनुशयरूपेण न्यूनाधिक-मात्रया प्रतिष्ठित ही होता आरहा है। इसी मूलदृष्टि से तत्तद्-युगों के लोकसंग्राहक-मनीषी विद्वानों के द्वारा, समाजनेताओं के द्वारा तत्तत्परिवर्त्तित-स्वरूपों का भी लोकसंग्रह की दृष्टि से समादर होता रहा, और युगधर्म्मानुगता इसी मान्यता-परम्परा के कारण ऋषिदृष्टा-'मौलिक-योगत्रयी' के अवान्तर विभिन्न-अगणित भेद होगए, जबकि लक्ष्यदृष्ट्या सब की पर्य्यवसान-भूमि वह 'एक ही मूलतत्त्व' रहा* ।

---

* रुचीनां वैचित्र्याद्-ऋजु—कुटिल—नानापथजुषां-
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥
—महिम्नस्तोत्रे परमशैवः श्रीपुष्पदन्तः

३–आपातरमणीय—कल्पनाओं के समाधान—प्रयास का उपक्रम—

ऋषियुगात्मक–देवयुग से आरम्भ कर वर्त्तमान युग पर्य्यन्त उस योगत्रयी के मध्यस्थ सुप्रसिद्ध 'भक्तियोग' के, किंवा–'उपासना' के कितने अवान्तर विभेद होपड़े ?, प्रस्तुत चतुर्थ–प्रकरण में संक्षेप से इसी प्रश्न–समाधान का प्रयास प्रक्रान्त होरहा है । श्रद्धापूर्णा ऐसी आस्था है कि, उपासना के विविध रूपों से भावुकतावश हम जो अन्यथा कल्पनाएँ करने लग पड़ते है, प्रस्तुत प्रकरण सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अवश्य ही उन आपातरमणीय-कल्पनाओं का समन्वय करसकेगा ।

४–भक्तियोगनिष्ठा के सम्बन्ध में आलोचकों की युगधर्म्मानुगता भ्रान्त धारणा—

भक्तियोग के सम्बन्ध में यह विचार भी कम महत्त्व नहीं रखता कि, इस भक्तिनिष्ठा का विकास किस युग में हुआ ? । कुछ समालोचकों का कहना है कि, आरम्भ में **ज्ञान**, एवं **कर्म्म**, नाम की दो निष्ठाएँ हीं प्रचलित थी । तीसरी भक्तिनिष्ठा का विकास उस पौराणिकयुग में हुआ है, जिसे कि महाभारतकाल भी कहसकते हैं । इस तथ्य को पुष्ट करने के लिए समालोचकों की ओर से अन्यान्य कई एक हेत्वाभासों के अतिरिक्त निम्नलिखित गीतावचन भी उद्धृत हुआ है––

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ! ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म्मयोगेन योगिनाम् ॥

—गीता

५–देवयुग, वेदयुग, तथा पुराणयुग–अनुबन्धों से अनुप्राणित ज्ञान-कर्म्म--भक्ति-निष्ठात्रयी का युगधर्म्मनिबन्धन काल्पनिक वाग्विजृम्भण —

उनका कहना है कि, जिस समय भगवान् ने गीतोपदेश दिया था, उस से पहिले लोक में **सांख्यों की ज्ञानयोगनिष्ठा**, एवं **स्वयम्भूमनु की (धर्म्मात्मिका) कर्म्मयोगनिष्ठा**, ये दो निष्ठाएँ हीं प्रचलित थीं । भगवान् ने इन दोनों का संशोधन करते हुए तीसरी **भक्तियोगनिष्ठा** स्थापित की, और यही गीता का मुख्य लक्ष्य बना, जैसाकि–"**मन्यनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु**' इत्यादि भक्तिसमर्थक वचनों से स्पष्ट है । यद्यपि उसी युग में यत्र तत्र भक्तिमार्ग का विकास होचुका था, परन्तु वह भक्ति कामना–मयी थी । भगवान् ने इस के स्थान में **निष्कामभक्ति** का ही विधान किया । इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, पुराणयुग से पहिले क्रमशः अपनी सत्ता रखने वाले **देवयुग**, एवं **वेदयुग** में भक्तिमार्ग का सर्वथा अभाव ही था । उन युगों का मानवसमाज ज्ञानयोग, एवं कर्म्मयोग का ही अनुयायी था ।

६–पौराणिक भक्तियोग का संस्मरण, तन्निबन्धन वितण्डावाद, तदनुप्राणिता विविध-कल्पनाएँ, एवं निष्ठात्रयी का काल्पनिक अभिनिवेश––

समालोचकों की उक्त समालोचना से थोड़ी देर के लिए हम भी व्यामोहन में पड़ जाते हैं । ठीक तो है । यदि **देवयुग**, एवं **वेदयुग** में तीसरे भक्तियोग की भी सत्ता रहती, तो भगवान् कभी "**लोकेऽस्मिन्**

द्विविधा निष्ठा'' यह न कहते। फिर पौराणिक भक्तियोग का (अवतारोपासनादिरूप भक्तियोग का) जो स्वरूप आज हम देख रहे हैं, उस का मूल वेद में कहीं तो उपलब्ध होता। हम देखते हैं कि, देवयुगकालीन गाथा-मन्त्रों में, एवं वेदयुगकालीन समस्त वैदिक साहित्य में कहीं भी भक्ति का उक्त स्वरूप उपलब्ध नहीं होरहा। सब से बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि, जिस **ईश्वरतत्त्व** के आधार पर **पौराणिक-भक्तिवाद** प्रतिष्ठित है, समस्त वैदिक वाङ्मय में उस **'ईश्वर'** शब्द का ही आत्यन्तिक अभाव है। **'ईश्वर'** शब्द ही नहीं, **रामकृष्णादि अवतारों** का नामोल्लेख नहीं, **पत्रं-पुष्पं-फलं भावोपेता भक्ति** का उल्लेख नहीं। फिर किस आधार पर भक्तियोग को प्राचीन मान लिया जाय ?, एवं किस आधार पर इसे वेदशास्त्र-सम्मत माना जाय ?। अतएव कहना पड़ेगा कि, भक्तिमार्ग केवल कल्पना की ही वस्तु है। वस्तुतः शास्त्रसिद्ध योग तो केवल ज्ञानयोग, एवं कर्म्मयोग ही है।

७-वेदादि प्राचीन शास्त्रों में भक्तिनिष्ठा की अनुपलब्धि का महान् व्यामोहन--

समालोचना को ही अपना नित्यकर्म्म समझने वाले उन समालोचकधुरीणों से इस सम्बन्ध में हम प्रश्न करते हैं कि, उन्हें भक्तियोग के स्वरूप की अनादिता में सन्देह है ?, अथवा भक्तियोग की अनादिता में सन्देह है ?। पूर्व में जो हेतु बतलाए गए हैं, उन से तो स्पष्टरूप से यही सिद्ध होरहा है कि, उन्हें प्राचीन वेदादि साहित्य में भक्ति का प्रचलित (पौराणिक) स्वरूप नहीं मिल रहा। अतएव वे इसे कल्पना की वस्तु समझ रहे है।

८-कपिलमुनि-सम्मता सांख्यनिष्ठा, हिरण्यगर्भऋषि-सम्मता योगनिष्ठा, जैमिनि-सम्मता कर्म्ममीमांसा, आदि दृष्टिकोणों के माध्यम से भक्तियोगनिष्ठा का स्वरूप-समन्वय—

उत्तर में यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि, केवल स्वरूप के आधार पर ही किसी वस्तुतत्त्व के सादित्व अनादित्व का निर्णय नहीं किया जासकता। क्या वे समालोचक यह सिद्ध कर सकेंगे कि, ज्ञान-योग-कर्म्मयोगों का जो स्वरूप क्रमशः देवयुग, तथा वेदयुग में प्रचलित था, आजतक उसका वही स्वरूप सुरक्षित है ?। हम तो देखते हैं कि, सांख्यलक्षण-कपिल-निष्ठात्मक ज्ञानयोगने आज वेदान्तलक्षणा व्यास-निष्ठा का ही परिधान (बाना) पहिन लिया है। एवमेव स्वयम्भू-निष्ठात्मक कर्म्मयोग जैमिनिसम्मत मीमांसा-भाव से ही युक्त होरहा है। यह तो स्थूल परिवर्त्तन की कथा है। यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जायगा, तो उन दोनों के तत्कालीन स्वरूपों में, और वर्त्तमान स्वरूपों मे शाखा-प्रशाखा-भेद-युक्त अहो-रात्र का अन्तर मिलेगा। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि, आज के ज्ञानयोग, और कर्म्मयोग के स्वरूपों का आप उन अनादि-शास्त्रों में अन्वेषण करने चलेंगे, तो अधिकांश में आप का यह प्रयास व्यर्थ ही प्रमाणित होगा। क्या इसी आधार पर ज्ञान-कर्म्म-निष्ठाओं को भी कल्पना की ही वस्तु मान लिया जायगा ?।

९–भक्तियोगनिष्ठा की अनादिता, एवं परिवर्त्तनात्मक युगधर्म्मों के अनुपात से भक्ति के अनुष्ठानात्मक प्रकारों में उच्चावच–परिवर्त्तन—

ठीक यही स्थिति भक्तियोग के स्वरूप के सम्बन्ध में समझिए। परिवर्त्तनशील मानवीय मन के सम्बन्ध से भक्तियोग का बाह्य–आचारात्मक स्वरूपमात्र बदल गया है, परन्तु भक्ति का मौलिकरूप तो ज्यों का त्यों ही सुरक्षित है। स्वरूप तो बदलता ही रहेगा, और बदलना ही चाहिए। क्योंकि युगधर्म्म के परिवर्त्तन के साथ साथ चित्तवृत्ति का बदलना भी अनिवार्य्य है। चित्तवृत्ति के परिवर्त्तन के साथ साथ योगस्वरूप–परिवर्त्तन भी आवश्यक है। देवयुग, तथा वेदयुग काल में भी भक्तियोग का पूर्ण विकास था। परन्तु उस समय उसका स्वरूप दूसरा था, लक्ष्य दूसरा था। पौराणिकयुग में स्वरूप, और लक्ष्य दोनों बदल गए। एतावता ही भक्तियोग का उन युगों में अभाव मान बैठना प्रौढिवाद नहीं, तो और क्या है?।

१०–भक्तियोग के सम्बन्ध में पुरातनयुगानुगत आवश्यक प्रश्न, एवं अतिपुरातन युगात्मक साध्ययुग की योगत्रयी—

हाँ, इस सम्बन्ध में यह जिज्ञासा अवश्य ही न्यायसंगत है कि, **देवयुगकालीन भक्तियोग का कैसा स्वरूप था?, वेदयुग में भक्ति का क्या स्वरूप होगया?, एवं पौराणिक युग में भक्ति में क्या वैचित्र्य आगया?**। तीनों जिज्ञासाओं में से प्रकृत प्रकरण प्रथम जिज्ञासा को ही शान्त करने के लिए प्रवृत्त हुआ है। **"देवयुगानुगता भक्ति, किंवा उपासना का क्या स्वरूप है?**, इस जिज्ञासा के साथ-साथ **"लोकेस्मिन् द्विविधा निष्ठा"** यह विप्रतिपत्ति भी उपस्थित है, और वह न्यायसङ्गता भी है। अवश्य ही हमें इस सम्बन्ध में भी कोई समीचीन उत्तर मिलना हीं चाहिए, जिसके आधार पर ही हम यह विश्वास कर सकें कि–"यद्यपि लोक में तीसरी भक्तिनिष्ठा भी पहिले से ही प्रचलित थी, परन्तु अमुक कारण-विशेष से भगवान् ने तीसरी निष्ठा का नामनिर्देश करना आवश्यक नहीं समझा"।

११–भूतविज्ञाननिष्णात साध्यगणों का भूतानुबन्धी यज्ञात्मक कर्म्मयोग, तदनुप्राणिता भौतिकी योगत्रयी, एवं साध्ययुगोत्तरभावी देवयुग में उसका संशोधन—

पाठकों को यह विदित है कि, हमनें देवयुग से पहिले उस **साध्ययुग** की सत्ता बतलाई थी, जिसका एकमात्र लक्ष्य **"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः"**, यही था। (देखिये भाष्यभूमिका प्रथमखण्ड गीता-कालमीमाँसा। यज्ञकर्म्म ही उस सुसमृद्धा, महासभ्या साध्यजाति का परम पुरुषार्थ था। दूसरे शब्दों में इसके लिए यह भी कहा जासकता है कि, वह साध्य–सुसाध्य-प्रज्ञाशील-समाज केवल कर्म्मयोग का ही अनुगामी था। भौतिकी–समुन्नति के लिए जो विज्ञानात्मक (क्षणिक–विज्ञानात्मक) ज्ञान अपेक्षित है, उसकी तो चरमसीमा पर ही वे साध्यगण पहुँचे हुए थे। परन्तु आत्मानुबन्धी, एकेश्वरवादमूलक ज्ञान से वे सर्वथा ही वञ्चित थे। वे अपने यज्ञकर्म्म से यज्ञकर्म्म (भौतिक प्रपञ्च) का ही यजन करते थे। इनका कर्म्मयोग कर्म्ममय, किंवा कर्म्मप्रधान विश्व का ही उपकारक था।

१२–देवयुग, और वेदयुग का आंशिक–पार्थक्य–समन्वय, एवं वेदयुगानुगता योगत्रयी का संस्मरण—

यह भी एक सिद्ध विषय है कि, जब-जब युगपरिवर्तन होता है, तो उन परिवर्त्तित–युगों में कुछ समय के लिए पूर्वयुग के भी कुछ एक धर्म्मों का समावेश होजाता है। पूर्वयुगों के परिष्कृतरूप का नाम हीं तो उत्तरयुग है। फलतः साध्ययुग के अनन्तर आने वाले देवयुग में (उत्तरयुग में) साध्ययुगकालीन यज्ञधर्म्मों का समावेश प्रकृतिसिद्ध बन जाता है। यद्यपि देवयुग, और वेदयुग को हम पृथक् नहीं मान सकते। क्योंकि, देवयुगप्रवर्त्तक स्वयम्भूने हीं चातुर्वर्ण्य–धर्म्ममूलक वेदशास्त्र को सुव्यवस्थित किया है। तथापि वैदिक-साहित्य में जिस योगत्रयी का निरूपण हुआ है, उसमें, एवं वैदिकयुग की आरम्भदशारूपा देवयुगानुगता योगत्रयी में थोड़ासा अन्तर है। इसी अन्तर के कारण हम दोनों का पार्थक्य भी मान रहे हैं।

१३–द्वन्द्वातीत-सर्वालम्बन–निर्गुण–अव्ययात्मा का स्वयम्भू के द्वारा प्रथमाविर्भाव, तदनुप्राणित सर्वाधार ज्ञानयोग, एवं तदनुगता योगत्रयी का संस्मरण—

देवयुग की प्रवृत्ति का मूलश्रेय स्वयम्भू प्रजापति को ही है। और ये स्वयम्भू यज्ञकर्म्म-प्रिय साध्यजाति के अनुशासन में रहने वाली साध्ययुगानुगता तुषितजाति में हीं प्रकट हुए थे। इन्होंने ही सर्वप्रथम साध्यजाति के सामने, किंवा तत्कालीन मानव-समाज के सामने–"तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास" यह सिद्धान्त उपस्थित किया था। ब्रह्माने उस सर्वव्यापक ब्रह्म का अविष्कार किया, जो कि सम्पूर्ण भौतिक प्रपञ्चों का एकमात्र आलम्बन है। आगे जाकर "मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय!" इस सिद्धान्त से पुष्ट होने वाले द्वन्द्वातीत, सर्वालम्बन, निर्गुण, परमात्मस्वरूप–अव्यय * का प्रथमाविर्भाव स्वयम्भू के द्वारा ही हुआ। और यह अव्ययनिष्ठा ही ज्ञानयोगनिष्ठा कहलाई। साध्यों के सामने यही सिद्धान्त उपस्थित किया गया कि, तुम्हारा यज्ञकर्म्म तबतक सर्वथा निरर्थक है, जबतक कि-तुम उस सर्वव्यापक ज्ञानमूर्ति निर्गुण ब्रह्म को अपने इस स्वकर्म्म का आलम्बन नहीं बनालेते। ज्ञानयोग ही तुम्हारे कर्म्मयोग का मूल आधार है, और यही सिद्धि का अन्यतम द्वार है–"स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः"।

१४–देवयुगानुगता निर्गुण–अव्यय्मूला निर्गुणभक्ति, वेदयुगानुगता सगुण–प्रजापतिमूला 'सगुणभक्ति', एवं तदाधारणैव अभिव्यक्ता पुराणयुगानुप्राणिता 'सविकारभक्ति'—

इसप्रकार कर्म्मयोग के साथ-साथ अव्ययमूलक ज्ञानयोग का भी विकास हुआ। ये ही दोनों निष्ठाएँ देवयुग की आरम्भ की दो निष्ठाएँ हैं। इन्हीं सर्वारम्भ की दो निष्ठाओं को लक्ष्य में रख कर

---

* अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय! न करोति, न लिप्यते॥ (गीता)

भगवान् ने "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ !" यह कहा गया है। अपने यज्ञकर्म्म को ज्ञानात्मक निर्गुणब्रह्म (अव्यय) के प्रति अर्पित कर देना हीं उस युग का तीसरा भक्तियोग माना गया। निर्गुणभक्ति ही देवयुग की भक्ति बनी। और यही निर्गुणभक्ति आगे जाकर वेदयुग में सगुणरूप मे परणित हुई, एवं यही सगुणभक्ति आगे जाकर पौराणिकयुग में सविकाररूप में परिणत हुई, जैसाकि आगे के प्रकरणो में स्पष्ट होजायगा।

१५–भक्तियोग का मौलिक-रहस्यसूत्र, भक्तिकाण्डानुगता रहस्यपूर्णा 'अनन्यता' तथा 'अन्यता' का स्वरूप--समन्वय, एवं भूताभिनिविष्ट साध्यों के भौतिक--योग-विजृम्भण—

भक्तियोग का मौलिक रहस्य है—"कर्म्ममार्ग को पराश्रित मानना"। "हम नहीं कर रहे, अपितु कोई दूसरी हां शक्ति प्रेरणा कर रही है" इस आत्मविश्वास का नाम हीं भक्ति है। यद्यपि भक्ति की उपनिषत् "अनन्यता" ही मानी गई है। परन्तु व्यवहारदृष्टि से 'अन्यता' ही भक्ति की उपनिषत् है। दूसरे शब्दों में अन्य के साथ रहने वाली अनन्यता ही भक्तियोग की उपनिषत् है। हम अपने आपको ही सब कुछ समझते हुए, अपने से अन्य किसी व्यापक सर्वज्ञ तत्त्व की सत्ता स्वीकार न करते हुए अपने कर्म्म को अनन्य (दूसरे की प्रेरणा से कोई सम्बन्ध न रखने वाला) माने, यही साध्यों का कर्म्मयोग था। यही इनका ज्ञानयोग था, एवं यही इनका भक्तियोग था। और इस दृष्टि से साध्य भी तीनों योगों के अनुयायी बने हुए थे।

१६–योगत्रयी का अधिष्ठाता प्रत्यगात्मा, एवं योगत्रयी का साधक शारीरक--आत्मा, तथा त्रिविध--योगों के प्रत्यगात्मानुबन्धी स्वरूप-लक्षण —

तीनों योग जब प्रकृतिसिद्ध हैं, तो प्रकृति के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाले साध्य तीनों से कैसे वञ्चित रह सकते थे। स्वाभाविकी योगत्रयी का सम्बन्ध तो प्राणीमात्र के साथ है, जैसाकि परीक्षारम्भ में हीं विस्तार से बतलाया जाचुका है। परन्तु इस प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी में वैकारिक त्वरभाग की ही प्रधानता है। अतएव इसमें "तत्" भाव का गन्ध भी नहीं है। केवल "मत्" की ही प्रधानता है। आत्मा योगत्रयी का अधिष्ठाता है, एवं प्रज्ञानमन योग कराने वाला है। आत्मा के ज्ञानमय मनोभाग के साथ प्रज्ञानमन के द्वारा वैकारिक-भौतिक-प्रपञ्च के—साथ ज्ञान का सम्बन्ध होजाना हीं प्राकृतिक—'ज्ञानयोग' है। आत्मा के क्रियामय प्राणभाग के साथ प्रज्ञान के द्वारा भूतवर्द्धक, भूतानुगामी कर्म्म का योग होजाना हीं प्राकृतिक भक्तियोग है। एवं आत्मा के अर्थमय वाग्-भाग के साथ प्रज्ञान के द्वारा भूतमात्राओं का (वासनारूप से) योग होजाना हीं प्राकृतिक कर्म्मयोग है। इसप्रकार भूतानुगत ज्ञानयोग, भूतानुबन्धी भक्तियोग, एवं भूतमय कर्म्मययोग, ये तीनों हीं वैकारिकयोग केवल योगक्षेम के सवाहक बनते हुए, केवल लोकवैभव के उत्तेजक बनते हुए प्रकृति-सिद्ध ही हैं।

१७-प्राणीमात्र से अनुप्राणिता प्रकृतिसिद्धा-भौतिकी-योगत्रयी, एवं उसकी त्रिगुणात्मकता, तथा तन्निबन्धना विषमता का दिग्दर्शन—

तीनों में हीं मत्कृतिसाध्यतेष्टासाधनतामूला—ममत्वलक्षणा अनन्यता विद्यमान है। आपामर—आविद्वज्जन, आबालवृद्ध सभी इस प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी के जन्म से ही अनुगामी हैं। **"मैं हीं जानता हूँ"—यह अनन्य ज्ञानयोग है। "मैं हीं करता हूँ"—यह अनन्य भक्तियोग है। एवं "मैं हीं मेरी अर्थ-सम्पत्ति का प्रभु हूँ" यह अनन्य कर्म्मयोग है।** इसप्रकार साध्ययुग में भी तीनों योगों की सत्ता सिद्ध होजाती है। परन्तु तीनों में भूतभाग की ही प्रधानता है, वैकारिक प्रपञ्च का ही साम्राज्य है, विशुद्ध लोकवैभव का ही विकास है। एवं भूतभाग ही कर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव साध्यों के वे तीनों ही योग **"कर्म्मयोग"** ही बन जाते हैं। कर्म्मयोगात्मक ये तीनों हीं योग योग-क्षेम के कारण बनते हुए भी आत्मतृप्ति के विघातक बनते हुए अयोग ही हैं। कारण स्पष्ट है। आत्मा की तीनों कलाएँ पूर्ण हैं, नित्य हैं। उधर प्राकृतिक योग से आने वाले ज्ञान-क्रिया-अर्थ, तीनों हीं प्रक्रम गुणत्रयी के सम्बन्ध से द्वन्द्वभाव में परिणत होते हुए, दूसरे शब्दों मे द्वन्द्वभाव के प्रवर्तक बनते हुए विषम है।

१८—त्रिगुणभावापन्ना क्षरात्मिका योगमायारूपिणी प्रकृति, तदनुप्राणिता गुणात्मिका योगत्रयी, एवं इत्थंभूता योगत्रयी का बन्धनप्रवर्त्तकत्व—

पाठकों को स्मरण होगा कि, हमने प्राकृतिक-योगत्रयी का सम्बन्ध त्रिगुणात्मिका योगमाया से ही बतलाया है। साथ ही वहीं क्षरभाव को इस योगमाया का अनुबन्धी बतलाया गया है। क्षरात्मिका योगमाया ही त्रिगुणात्मक, अतएव द्वन्द्वभावाक्रान्त भौतिक ज्ञान-क्रिया-अर्थमय विश्व की प्रतिष्ठा है। फलतः यह प्राकृतिकी-योगत्रयी कर्म्म—(अर्थ)—प्रधाना हीं बन जाती है। कर्म्म की प्रधानता से विश्वानुबन्धी ज्ञान—क्रिया—अर्थ—तीनों ही आत्मविरोधी बने हुए हैं। इनके सम्बन्ध से प्रत्यगात्मलक्षण—समाधिभाव उत्तरोत्तर आवृत ही होता रहता है। अतएव इस प्राकृतिकी क्षरप्रधाना, योगमायानुगता योगत्रयी को हम केवल **"कर्म्मयोग"** ही कहेंगे, एवं इसे आत्मा के आवरक होने के कारण, साथ ही विद्याबुद्धि के अव्ययात्मा के साथ रहने वाले स्वाभाविक योग को च्युत करने के कारण इसे अयोग ही कहेंगे।

१९—अव्यक्त-अक्षरानुबन्धी-शास्त्रसिद्ध तीन योग, शास्त्रीय योगों का गुणात्मक वितान, एवं शास्त्रसिद्ध भी गुणात्मक योगों का आत्मपचनानुगत—अत्यन्तिक-विषमत्व, अतएव अनुपादेयत्व—

शास्त्र ने किया क्या ?, इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है—क्षर की ओर से आत्मा को (शारीरक आत्मा को) हटाकर उसे अक्षरानुगामी बनाना। शास्त्रसिद्ध ज्ञान—भक्ति—कर्म्म, तीनों हीं शारीरक आत्मा के उपकारक बन गए। परन्तु भगवान् की दृष्टि से ये शास्त्रसिद्ध योग भी अयोग ही रहे। कारण स्पष्ट है। कर्म्म-त्याग-लक्षण ज्ञानयोग की विश्रामभूमि अव्यक्त अक्षर बना। यद्यपि शास्त्रसिद्ध ज्ञानयोग में कर्म्म का आत्यन्तिक परित्याग नहीं है। **यम—नियम—आसन—प्राणायाम** आदि लक्षण इन्द्रियनिरोधक, तपश्चर्यात्मक कर्म्म अवश्य ही विद्यमान हैं। परन्तु ये सब कर्म्म साँसारिक लोकसंग्राहक कर्म्मों के सर्वथा विरोधी हैं। व्यक्त क्षर-

कर्म्मों की आत्यन्तिक उपेक्षा करने वाले ये कर्म्म निवृत्तिलक्षण बनते हुए अव्यक्त हैं, अक्षरानुगामी हैं। इनमें अव्यक्त अक्षरानुबन्धी ज्ञान प्रधान बना हुआ है, एवं व्यक्त क्षरानुबन्धी कर्म्म नहीं के समान है। नहीं के समान इसलिए कहना पड़ता है कि, अव्यक्त-ज्ञानानुयायी ज्ञानयोगी को भी शरीरयात्रानुबन्धी व्यक्त कर्म्म (भोजन- शयन--शौचादि) तो प्रत्येक दशा में करने ही पड़ते है। इन कर्म्मों के परित्याग से तो शरीरयात्रा (जीवन) ही सम्भव नही है—"**शरीरयात्रा पि च ते न प्रसिद्धयेदकर्म्मणः**"। इसप्रकार आंशिकरूप से इस कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग में भी व्यक्त कर्म्म का संग्रह अवश्य है। परन्तु इसका उद्देश्य केवल "**हम जीवित रहें**" ("पचन्त्यात्मकारणात्") यही है। ऐसे ज्ञानयोगी से ससार का कोई उपकार सम्भव नहीं है। अतएव भगवान् की दृष्टि में ऐसा ज्ञानयोग एकान्ततः अनुपादेय ही है।

२०-गुणात्रयात्मिका शास्त्रसिद्धापि योगत्रयी में भगवान् के द्वारा विशुद्धीकरणात्मक संशोधन, एवं शब्दप्रमाणात्मक-निर्भ्रान्त-आप्तप्रमाणरूप-शास्त्र प्रामाण्य के सम्बन्ध में महती समस्या—

पूर्व प्रकरणों में हमने अनेक स्थानों में यह स्पष्ट किया है कि, भगवान् शास्त्रसिद्धा योगत्रयी मे सशोधन चाहते हैं। इस "**संशोधन**" शब्द का यही तात्पर्य्य निकलता है कि, शास्त्र ने कुछ भूल कर दी थी, उस भूल का ही भगवान् ने संशोधन किया है। यदि यह बात सच है, तो भारतीय वर्णाश्रमधर्म्म का कोई महत्व शेष नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में-"**आप्तोपदेशः शब्दः-शब्दप्रमाणका वयं, यदस्माकं शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्**" इस शास्त्रभक्ति का यत्किञ्चित् भी महत्त्व शेष नहीं रहजाता। आर्य्यजाति का सर्वस्व तथ्य शब्दप्रमाण पर ही निर्भर है। उस की दृष्टि में शास्त्र सर्वथा निर्भ्रान्त है, अतएव उसका अक्षर अक्षर उसे मान्य है। यदि शास्त्रों में आंशिकरूप से भी भ्रान्ति होती, तो भगवान् के मुख से कभी निर्द्वन्द्वभाव से "**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ**" ये अक्षर नहीं निकलते। फिर हम किस आधार पर यह कह सकते हैं कि, शास्त्रसिद्धा योगत्रयी का भगवान् संशोधन चाहते हैं? अथवा शास्त्रों में जो भूल रह गई थी, उस का भगवान् उसीप्रकार संशोधन आवश्यक समझते हैं, जैसेकि वार्त्तिककार सूत्रकार के सिद्धान्त में "**यणः प्रतिषेधो वाच्यः**" यह संशोधन आवश्यक समझते हैं।

२१-सुप्त सर्प-विकम्पन-भय से विकम्पित गतानुगतिक व्याख्याताओं के द्वारा शास्त्रमान्यता के संरक्षणानुबन्ध से गीता के १८ अध्यायों का त्रिधा वर्गीकरण-प्रयास-

अवश्य ही गीताप्रतिपादिता योगत्रयी के सम्बन्ध में यह एक जटिलतमा समस्या है। समस्या ऐसी दुरूह है कि, प्राचीन व्याख्याताओं में से किसी ने भी इस सुप्त सर्प को विकम्पित करना (छेड़ना) उचित नहीं समझा। अपितु शास्त्रभक्ति को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंनें यही मान लेने में आत्मपरित्राण समझा कि, वेद-शास्त्र के जिस **ब्राह्मणभाग में कर्म्मयोग का, आरण्यकभाग में भक्तियोग का, एवं उपनिषद् भाग में ज्ञानयोग का निरूपण हुआ है,** भगवान् ने एक ही गीताग्रन्थ में ६-६-६ अध्यायों के क्रम से क्रमशः **ज्ञान-भक्ति-कर्म्म,** तीनों योगों का संग्रहमात्र कर दिया है, **और यही गीता का 'सर्वशास्त्रत्त्व' है।**

कर्म्मों की आत्यन्तिक उपेक्षा करने वाले ये कर्म्म निवृत्तिलक्षण बनते हुए अव्यक्त हैं, अक्षरानुगामी हैं। इनमें अव्यक्त अक्षरानुबन्धी ज्ञान प्रधान बना हुआ है, एवं व्यक्त क्षरानुबन्धी कर्म्म नहीं के समान है। नहीं के समान इसलिए कहना पड़ता है कि, अव्यक्त-ज्ञानानुयायी ज्ञानयोगी को भी शरीरयात्रानुबन्धी व्यक्त कर्म्म (भोजन--शयन--शौचादि) तो प्रत्येक दशा में करने ही पड़ते है। इन कर्म्मों के परित्याग से तो शरीरयात्रा (जीवन) ही सम्भव नही है—"शरीरयात्रा पि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्म्मणः"। इसप्रकार आंशिकरूप से इस कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग में भी व्यक्त कर्म्म का संग्रह अवश्य है। परन्तु इसका उद्देश्य केवल "हम जीवित रहें" ("पचन्त्यात्मकारणात्") यही है। ऐसे ज्ञानयोगी से ससार का कोई उपकार सम्भव नहीं है। अतएव भगवान् की दृष्टि में ऐसा ज्ञानयोग एकान्ततः अनुपादेय ही है।

२०—गुणात्रयात्मिका शास्त्रसिद्धापि योगत्रयी में भगवान् के द्वारा विशुद्धीकरणात्मक संशोधन, एवं शब्दप्रमाणात्मक-निर्भ्रान्त-आप्तप्रमाणरूप-शास्त्र प्रामाण्य के सम्बन्ध में महती समस्या—

पूर्व प्रकरणों में हमने अनेक स्थानों में यह स्पष्ट किया है कि, भगवान् शास्त्रसिद्धा योगत्रयी मे सशोधन चाहते हैं। इस "संशोधन" शब्द का यही तात्पर्य्य निकलता है कि, शास्त्र ने कुछ भूल कर दी थी, उस भूल का ही भगवान् ने संशोधन किया है। यदि यह बात सच है, तो भारतीय वर्णाश्रमधर्म्म का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में-"आप्तोपदेशः शब्दः-शब्दप्रमाणका वयं, यदस्माकं शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्" इस शास्त्रभक्ति का यत्किञ्चित् भी महत्त्व शेष नही रहजाता। आर्य्यजाति का सर्वस्व तथ्य शब्दप्रमाण पर ही निर्भर है। उस की दृष्टि में शास्त्र सर्वथा निर्भ्रान्त है, अतएव उसका अक्षर अक्षर उसे मान्य है। यदि शास्त्रों में आंशिकरूप से भी भ्रान्ति होती, तो भगवान् के मुख से कभी निर्द्वन्द्वभाव से "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ" ये अक्षर नहीं निकलते। फिर हम किस आधार पर यह कह सकते हैं कि, शास्त्रसिद्धा योगत्रयी का भगवान् संशोधन चाहते है ?। अथवा शास्त्रों में जो भूल रह गई थी, उस का भगवान् उसीप्रकार संशोधन आवश्यक समझते हैं, जैसेकि वार्त्तिककार सूत्रकार के सिद्धान्त में "यणः प्रतिषेधो वाच्यः" यह संशोधन आवश्यक समझते हैं।

२१—सुप्त सर्प-विकम्पन-भय से विकम्पित गतानुगतिक व्याख्याताओं के द्वारा शास्त्रमान्यता के संरक्षणानुबन्ध से गीता के १८ अध्यायों का त्रिधा वर्गीकरण-प्रयास—

अवश्य ही गीताप्रतिपादिता योगत्रयी के सम्बन्ध में यह एक जटिलतमा समस्या है। समस्या ऐसी दुरूह है कि, प्राचीन व्याख्याताओं में से किसी ने भी इस सुप्त सर्प को विकम्पित करना (छेड़ना) उचित नहीं समझा। अपितु शास्त्रभक्ति को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने यही मान लेने में आत्मपरित्राण समझा कि, वेदशास्त्र के जिस ब्राह्मणभाग में कर्म्मयोग का, आरण्यकभाग में भक्तियोग का, एवं उपनिषद् भाग में ज्ञानयोग का निरूपण हुआ है, भगवान् ने एक ही गीताग्रन्थ में ६-६-६ अध्यायों के क्रम से क्रमशः ज्ञान-भक्ति-कर्म्म, तीनों योगो का संग्रहमात्र कर दिया है, और यही गीता का 'सर्वशास्त्रत्त्व' है।

२२--गीताव्याख्याताओं की परस्परात्यन्तविरूद्धा ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-प्रधाना व्याख्याओं की अहमहमिका.

अधिक से अधिक व्याख्याताओंनें गीता को त्रिमार्गानुगामिनी मान कर विश्राम कर लिया। कुछ एक व्याख्याताओंनें तो यह सिद्ध किया कि, गीता में यद्यपि प्रधानता ज्ञानयोग की ही है, अथ से इति पर्य्यन्त गीता कर्म्मत्यागलक्षण, उपनिषत्सिद्ध, निःश्रेयससाधक ज्ञानयोग को ही अपना मुख्य लक्ष्य बनाती है। तथापि लोकसंग्रह की रक्षा के लिए सामान्य अधिकारियों के लिए भगवान् ने गौणरूप से कर्म्म-मार्ग, एवं भक्तिमार्ग का भी दिग्दर्शन करा दिया है। कुछ एक भागवत ज्ञानकर्म्म को गौण मानते हुए गीता को भक्तिप्रधान ग्रन्थ ही कहते हैं। एवं कुछ एक अर्वाचीन महानुभाव ज्ञान-भक्ति को गौण मानते हुए इसे कर्म्मयोगशास्त्र ही मान रहे हैं।

२३--ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-भावों में अभिनिविष्ट साम्प्रदायिक-व्याख्याता, एवं समन्वय-कौशल के अनुगामी महामहिम महामाहेश्वर श्रीअभिनवगुप्ताचार्य्य—

यह स्मरण रखने की बात है कि, गीता के प्रायः सभी व्याख्याता श्रीशङ्कराचार्य्य का अनुगमन करते हुए ज्ञानयोग पर ही विशेष बलप्रयोग कर रहे हैं। वैष्णव-सम्प्रदाय के जितने भी आचार्य हैं, वे सब शङ्करव्याख्या से विरुद्ध भक्तियोग की ही स्थापना कर रहे हैं। इसप्रकार शास्त्रसिद्ध सम्प्रदाय की दृष्टि से ज्ञान-योग–भक्तियोग, गीता के ये दो ही मुख्य सिद्धान्त बन रहे हैं। केवल महामाहेश्वर अभिनवगुप्ताचार्य्य ने ही गीता में ज्ञान–भक्ति-कर्म्म, इन तीनों का समन्वय माना है। "गीता विशुद्ध कर्म्मयोगशास्त्र है" इस सिद्धान्त का प्राचीन व्याख्याओं में सर्वथा अभाव ही है। यह सिद्धान्त तो सर्वथा अर्वाचीन, अतएव उपेक्षणीय ही है, जैसाकि भूमिका-प्रथमखण्ड में नाममीमांसान्तर्गत उपनिषच्छब्दरहस्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

२४--शास्त्रनिष्ठासंरक्षण के लिए आतुर गीताव्याख्याता, एवं गीताक्षरों के माध्यम से ही गीताव्याख्याताओं की मान्यता का शैथिल्य—

तात्पर्य्य कहने का यही है कि, शास्त्रनिष्ठा को सुरक्षित रखने के लिए गीता के व्याख्याताओंनें नत-मस्तक होकर यही मान लेने में अभ्युदय समझा कि, गीता शास्त्रसिद्धा योगत्रयी का, अथवा तीनों में से किसी एक योग का ही प्रधानरूप से निरूपण कर रही है। परन्तु जब स्वयं गीता के अक्षरों के आधार पर हम गीतासिद्धान्त का अन्वेषण करने चलते हैं, तो इमें गीता के उक्त सिद्धान्त सर्वाक्तना शून्यं शून्यं हीं (निरे खोखले ही) प्रतीत होने लगते हैं, जैसाकि आगे के * बुद्धियोगपरीक्षा-प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है *।

---

* सर्वान्तरतमपरीक्षानुगत–गीताभूमिकान्तर्गत–आठसौ पृष्ठात्मक–बुद्धियोगपरीक्षा–पूर्वखण्ड प्रकाशित होगया है प्रस्तुत भक्तियोगपरीक्षा से पूर्व ही।

२५--शास्त्रप्रामाण्यनिष्ठा के सम्बन्ध में अब्रह्मण्या-धारणा, तन्निराकरण-प्रयास, एवं गीता की शास्त्रनिष्ठा का संस्मरण—

क्या हम शास्त्रनिष्ठा के विरोधी हैं ?, क्या शास्त्र हमारी दृष्टि में भ्रान्त है ? । शिव ! शिव ! ! अब्रह्मण्यम् ! ! ! अब्रह्मण्यम् ! ! ! ! शास्त्र के सम्बन्ध में ऐसे अक्षर निकलना भी अपने आप को प्रायश्चित्त का भागी बना लेना है । शास्त्र का अक्षर अक्षर हमारे लिए मान्य है, साथ ही सांख्यनिष्ठा के प्रवर्त्तक कपिल भी हमारे आराध्य हैं । स्वयं भगवान् ने "सिद्धानां कपिलो मुनिः" कहते हुए कपिल के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट की है । उधर विदितवेदितव्य, भक्तिनिष्ठा के प्रवर्त्तक हिरण्यगभ महर्षि भी हमारे लिए ईश्वरतुल्य-ही मान्य हैं । कर्म्मयोगनिष्ठा के मूलप्रवर्त्तक स्वयम्भू मनु भी हमारी श्रद्धा के अनन्यभाजन है । फिर हम कैसे इनके सिद्धान्तों को भ्रान्त बतलाने का दुस्साहस करसकते हैं । जब हम यह दुस्साहस नहीं करसकते, तो फिर यह भी किस आधार पर कह सकते हैं कि, "गीता ने शास्त्रसिद्धा योगत्रयी का संशोधन किया है"। निर्भ्रान्त शास्त्र की निर्भ्रान्ता योगत्रयी में संशोधन की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? ।

२६–श्रुति. स्मृति–भेदसे द्विधा विभक्त शास्त्र, शास्त्र को स्वतः-प्रमाण, परतःप्रमाण–भेदभिन्ना द्विविधा प्रवृत्ति, निर्भ्रान्त वेदशास्त्र, और स्मृतिशास्त्र की युगधर्म्म–निबन्धना-भ्रान्ति—

यही वह विप्रतिपत्ति है, जिसकी त्रिभीषिका से ही व्याख्याता आज पर्य्यन्त तटस्थ ही बनते आरहे हैं । एवं जिस तटस्थता से ही गीता का वास्तविक मर्म्म अबतक सर्वात्मना तिरोहित ही रहा है । "शास्त्र" को हम सबसे पहिले दो भागो में विभक्त करते है । पहिला विभाग "श्रुतिशास्त्र" है, एवं दूसरा विभाग "स्मृतिशास्त्र" है । वेदशास्त्र श्रुतिशास्त्र है, एवं वेदातिरिक्त, किन्तु वेदार्थानुगामी, वेद से अविरुद्ध इतर सम्पूर्ण शास्त्रों का संग्रह स्मृतिशास्त्र है । वेदशास्त्र अपौरुषेय होने से, एवं ऋषियों की प्रत्यक्षदृष्टि होने से स्वतःप्रमाण है । एवं स्मृतिशास्त्र पौरुषेय होने से, एवं ऋषियों की अनुमानदृष्टि होने से परतःप्रमाण है । अनुमानप्रमाण-प्रधान स्मृतिशास्त्रों में यदि कोई अंश वेदशास्त्र का विरोधी है, तो वह सर्वथा त्याज्य है । साथ ही यह भी निश्चित है कि, मानवज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला स्मृतिशास्त्र कदापि एकान्ततः निर्भ्रान्त नही बन सकता । अवश्य ही उसमें कुछ न कुछ त्रुटि रह ही जाती है । सर्वज्ञ ईश्वर का ज्ञान ही सर्वात्मना निर्भ्रान्त होसकता है । वेदशास्त्र सर्वज्ञ ईश्वर की वाणी है, अतः केवल वेदशास्त्र ही निर्भ्रान्त होसकता है । वेदशास्त्र के आधार पर निर्म्मित मानवज्ञान–सम्बन्धी स्मृतिशास्त्र तो सामयिक परिस्थिति का अनुगामी बनता हुआ सदा के लिए कदापि निर्भ्रान्त नहीं माना जा-सकता ।

२७–सामान्य धर्म्म–प्रतिपादक वेदशास्त्र, एवं विशेषधर्म्म--प्रतिपादक स्मृति-शास्त्र, तथा वेदमूलक स्मृतिशास्त्र का प्रामाण्य और वेदविरुद्धा स्मृतियों का अप्रामाण्य—

वेदशास्त्र जहाँ सामान्यधर्म्म का प्रतिपादक है, वहाँ स्मृतिशास्त्र विशेषधर्म्मों का प्रचारक है । अवश्य ही वेदानुगत स्मृतिशास्त्र को स्वप्रतिपाद्य विशेषधर्म्मों के साथ साथ वेदप्रतिपाद्य सामान्यधर्म्म

का भी आदर करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में–इसे अपने विशेषधर्म्म की प्रामाणिकता के लिए सामान्य धर्म्म की भी प्रमाणिकता स्वीकार करनी पड़ती है। इसीलिए स्मृतिशास्त्र का यह भी एक आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि, देश–काल–पात्र–द्रव्य–श्रद्धा के तारतम्य से विशेषधर्म्मों के परिवर्त्तन के विधान के साथ साथ इसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि, कहीं वेदसिद्ध सामान्यधर्म्म (चातुर्वर्ण्यमूलक वर्णाश्रमधर्म्म) पर तो कोई आघात नहीं होरहा। यदि कोई स्मृतिशास्त्र वेद के इस सामान्यधर्म्म की उपेक्षा कर विशुद्ध सामयिक प्रवाह में पड़कर धर्म्म के आत्यन्तिक परिवर्त्तन की कुचेष्टा करता है, तो आर्षसाहित्य उसका सर्वात्मना बहिष्कार ही कर देता है, जैसाकि निम्न लिखित स्मार्त्त वचन से स्पष्ट है—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ॥
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥१॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ॥
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥२॥

—मनुः १२।९४।९६।

[२८-स्मृतियों का अनुगमनीय सुचरित, एवं बुद्धिवादात्मक-त्याज्य–दृष्टिकोण, तथा तत्सम्बन्ध में तत्त्वसमन्वय—

उक्त शास्त्रद्वयी के आधार पर हमें इस निश्चय पर पहुँचना पड़ता है कि, वेदशास्त्र सर्वथा निर्भ्रान्त शास्त्र है*, एवं मानवज्ञान–सम्बन्धी स्मृतिशास्त्र आंशिकरूप से भ्रान्त बन सकता है। स्मृतिशास्त्र का जो आदेश वेदसम्मत है, वह बिना किसी संशोधन के हमें मान्य है। परन्तु मानवसुलभ सहज अनृतभावमूलक जो सिद्धान्त वेद-विरुद्ध है, प्रत्येक दशा में वह स्मार्त्त सिद्धान्त तो संशोधन की ही अपेक्षा रखता है। यदि स्मृतिशास्त्र सर्वथा निर्भ्रान्त ही होता, तो आचरणमूलक उसके लिए वेद हमें कभी यह आदेश न देता कि–"जो हमारे (स्मृतिशास्त्र के) वेदशास्त्रसम्मत सुचरित हैं, तुम उन्हीं का अनुगमन करना, अन्यों का नहीं"÷।

---

* पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ (मनुः १२।९४।)।

÷ यान्यस्माकं सुचरितानि-तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि।
यान्यनवद्यानि कर्म्माणि, तानि त्वया सेवितव्यानि, नो इतराणि ॥ (उपनिषत्)

यह भी एक रहस्य की बात है कि, वेद विद्याशास्त्र है, एवं स्मृति धर्म्मशास्त्र है। धर्म्म का मौलिक रहस्य विद्या है, एवं इस का वेद में प्रतिपादन हुआ है। मौलिकरहस्यानुगत आचरण ही धर्म्म है, एवं इस का स्मृति में निरूपण हुआ है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, धर्म्म का धर्म्मत्व बतलाना वेदशास्त्र का काम है, एवं धर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाना स्मृतिशास्त्र का काम है।

२६–स्मार्त्त ग्रन्थों की भ्रान्ति के विभिन्न दो दृष्टिकोण, एवं स्मृतिग्रन्थों के व्याख्याताओं की कल्पना से अनुप्राणिता विविध भ्रान्तियाँ—

स्मृतिशास्त्रों की भ्रान्ति के दो स्वरूप हैं। जिन महापुरुषोंने स्मृतिग्रन्थों का निर्म्माण किया है, वे स्वयं भी ज्ञान की सीमा से भ्रान्ति कर सकते हैं, अथवा **'गच्छतः स्खलनं वापि भवत्येव प्रमादतः'** के अनुसार उन से भी त्रुटि होसकती है। अथवा स्मृतिशास्त्रों के अनुयायी स्मार्त्त वचनों के वास्तविक तात्पर्य्य को न समझकर हम अपने बुद्धिदोष से भी उन स्मार्त्त सिद्धान्तों को भ्रान्त बना डालते हैं। उदाहरण के लिए गीता-शास्त्र को ही लीजिए। गीताने आत्मव्यापकता की भावना के अभ्यास के लिए **'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः'** यह आदेश दिया है। अब यदि कोई राष्ट्रवादी गीताभक्त इस वचन का यह तात्पर्य्य समझने की भूल कर बैठता है कि,–**'समझदार आदमी के लिए कुत्ते और चाण्डाल में कोई अन्तर नहीं है, उस के लिए तो दोनों समान है,"** इस आदेश से भगवान् **यही बतलाना चाहते हैं कि, संसार के प्राणीमात्र एक धरातल पर ही प्रतिष्ठित हैं। परस्पर स्पृश्यास्पृश्य की भावना करने लग पड़ना, छोटा बड़ा समझना, गीता के विरुद्ध है'** तो इस से भी सामान्य मनुष्य भ्रान्ति कर बैठते हैं। इसप्रकार स्वयं ग्रन्थकर्त्ता के सहजसिद्ध अनृतसंहित--मानवस्वभाव से भी ग्रन्थ मे भ्रान्ति सम्भव है, एवं तत्सिद्धान्तानुयायी अल्पज्ञ मनुष्यों के दोष से (वास्तव में निर्भ्रान्त रहता हुआ भी वह सिद्धान्त) भ्रान्त बन जाता है।

'क्या करना चाहिए ?, क्या नहीं करना चाहिए' ?, इस आचरणभाव का प्रतिपादक शास्त्र स्मृतिशास्त्र है। **'किस पद्धति से, किस उपनिषत् से करना चाहिए'** इस मौलिकभाव का प्रतिपादक शास्त्र वेदशास्त्र है। गीता यद्यपि सामान्य-परिभाषा के आधार पर स्मृतिशास्त्र ही माना गया है। परन्तु गीता का प्रधान लक्ष्य कर्म्मेतिकर्त्तव्यता बतलाना नहीं है, **क्या 'करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए'** यह लक्ष्य नहीं है। अपितु वेदशास्त्रवत् कर्त्तव्यधर्म्म का मौलिक रहस्य बतलाते हुए उस की रहस्यात्मिका उपनिषत् (मौलिक-उपपत्ति) बतलाना हीं गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। अपने उसी मौलिक विषय के कारण गीता स्मृति होती हुई भी **'उपनिषत्'** (**वेद**) कहलाई है, एवं अपनी इसी अपूर्वता के कारण यह ईश्वरीयशास्त्र–अपौरुषेय वेदशास्त्र के समकक्ष मान लिया गया है। इस वक्तव्य से प्रकृत में हमें यही कहना है कि, **"यान्यस्माकं सुचरितानि०'** इत्यादि श्रुति का **'सुचरितानि'** पद स्मृतिशास्त्र की ओर ही संकेत कर रहा है। ऐसा मानने के दो कारण हैं। आचरण ही सुचरित से अभिप्रेत है। एवं आचरण ही कर्म्मेतिकर्त्तव्यता है। यह इति-कर्त्तव्यता स्मृतिशास्त्र से ही प्रधान सम्बन्ध रखती है। दूसरा कारण यह है कि, वेदशास्त्र सर्वथा निर्भ्रान्त है। उस की आज्ञा में–**"यह मान्य, वह अमान्य"** इस द्वैधीभाव का समावेश असम्भव है। इसीलिए महर्षियों का यह निर्णय सुसंगत है कि, **'जहाँ श्रुतियों में परस्पर विरोध आवे, वहाँ दोनों हीं प्रमाण हैं"**। यह निर्णय तभी मान्य बन सकता है, जब कि श्रुति को अथ से इति पर्य्यन्त निर्भ्रान्त ही मान लिया जाय। ऐसी दशा में **'नो इतराणि'** वाक्य का स्मृतिशास्त्र पर ही पर्य्यवसान मानना शास्त्र, एवं युक्तिसम्भत सिद्ध होता है। इसीलिए हमने इन वचनों को स्मृतिशास्त्रपरक ही माना है।

३०–वेदाभिमता योगत्रयी के सम्बन्ध में स्मृतिग्रन्थ, एवं स्मृत्यनुगता योगत्रयी के भ्रान्त दृष्टिकोण का दिग्दर्शन—

अब हमें विचार यह करना है कि, स्मार्त्तग्रन्थों में वेदाभिमता जिस योगत्रयी का निरूपण हुआ है, उस का कौनसा अंश भ्रान्त है?, एवं भगवान्ने उस का किस रूपसे संशोधन किया है?। सब से पहिले तो उस योगत्रयी का ही विचार अपेक्षित है, जिस का कि स्वतःप्रमाणभूत, अतएव निर्भ्रान्त वेदशास्त्र से सम्बन्ध है। वेदशास्त्र जब निर्भ्रान्त है, तो तत्सम्मता योगत्रयी भी निर्भ्रान्ता ही होनी चाहिए, और वास्तव में ऐसा है भी। वेदयुगानुगत भक्तिमार्ग का स्वरूप है?, इस प्रश्न का समाधान तो अगले प्रकरणों में होगा। अभी तो केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, वेद का ब्राह्मणभाग कर्म्मनिष्ठा का प्रतिपादक है, वेद का आरण्यक भाग भक्तिनिष्ठा का समर्थक है, एवं उपनिषद्भाग ज्ञाननिष्ठा का अनुमोदक है।

३१–वेद के ब्राह्मणभागोक्त कर्म्मयोग के सम्बन्ध में मानव की त्रिगुणात्मिका प्रवृत्ति, तथा त्रिगुणातीता निवृत्ति का स्वरूप-समन्वय, एवं प्रवृत्ति-निवृत्ति-भावद्वयात्मक ब्राह्मणवेद—

तीनों में से पहिले ब्राह्मणभागोक्त कर्म्मकाण्ड का ही विचार कीजिए। वेद एक प्रकृतिसिद्ध सनातन-शास्त्र है। योगमाया के गर्भ में रहने वाले त्रिगुणभाव से नित्य आक्रान्त मानवसमाज के अभ्युदय के लिए प्रवृत्त वेदशास्त्र स्वाभाविक प्रवृत्ति की एकान्ततः उपेक्षा नहीं करसकता। संसार में रहने वाले योगमाया-ग्रहग्रस्त मनुष्य स्वभाव से ही वैभवों की ओर आकर्षित बने रहते हैं—'**प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्**'। पुत्र-लोक-वित्तैषणाओं में किस मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है?। स्वर्गादि सुख कौन नहीं चाहता?। जो व्यक्ति जन्मतः लोकसम्पत्ति की ओर झुका रहता है, उसे यदि सहसा यह कह दिया जाय कि, '**तुम किसी फल की कामना न रखते हुए कर्म्म करो**' तो सम्भवतः इस आदेश का अनुगामी सहस्रों में से कोई सा ही व्यक्ति बन सकेगा। जबतक सिद्धान्त व्यवहार में न आवे, तबतक उसका मूल्य ही क्या है?। और ऐसे अव्यवहार्य्य, अथवा क्वाचित्क सिद्धान्त का उपदेश देने वाले उस वेदशास्त्र का महत्त्व ही क्या है?। वेद जब ईश्वरीय ज्ञान है, तो उस में वैसी शक्ति होनी ही चाहिए कि, वह प्रकृतिमर्य्यादा को, मानव-समाज की स्वाभाविक प्रवृत्ति को प्रश्रय देता हुआ ही क्रमशः उसे अभ्युदय निश्रेयस् की ओर लेजाय। एकमात्र इसी लक्ष्यसिद्धि के लिए वेदने अपने कर्म्मकाण्ड को **प्रवृत्ति-निवृत्ति** के भेद से दो भागों में विभक्त किया। कामनामय कर्म्मों का भी विधान किया, एवं निष्कामकर्म्मों का भी स्पष्टीकरण किया।

३२–वेद के उपनिषद्भाग के सम्बन्ध में वेदान्ताभिनिविष्टों की मान्यता, तदनुबन्धिनी विडम्बना, एवं 'बृहदारण्यकोपनिषत्' आदि व्यवहारमूलक-तथ्य का समन्वय प्रयास—

कल्पित-वेदान्तवादियोंने समझ रक्खा है कि, वेद का उपनिषत्-भाग ही निवृत्तिमार्ग का उपदेश देता है, ब्राह्मणभाग तो केवल प्रवृत्ति-प्रधान ही है। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि, कर्म्मकाण्ड के प्रतिपादक सुप्रसिद्ध शतपथब्राह्मण के तेरह काण्ड जहाँ प्रवृत्तिमार्ग का निरूपण करते हैं, वहाँ कर्म्मप्रतिपादक इसी ब्राह्मण

का चौदहवाँ काण्ड निवृत्तिमार्ग का ही विधान कर रहा है । सब से बड़ा चमत्कार तो यह है कि, शतपथ का यह अन्तिम काण्ड ही स्वतन्त्ररूप में आकर उसी वेदान्तसम्प्रदाय मे 'बृहदारण्यकोपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध होरहा है । कर्म-भक्ति-ज्ञान का पार्थक्य वहाँ है ही नहीं । वेद की दृष्टि से जो योग है, वही सांख्य है । एवं जो सांख्य है, वही योग है । इसी रहस्य को सूचित करने के लिए ऋषिने केवल शथपथ-ब्राह्मण में हीं तीनों का समन्वय कर दिया है ।

३३-वेदयुगानुगता भक्ति का उपनिषत् के ज्ञानमार्ग में अन्तर्भाव, अतएव भक्तियोग' के स्वतन्त्र-व्यवहार का अनवसर—

इस समन्वय में भी कुछ चमत्कार है । भक्तिमार्ग ज्ञान कर्म्म से पृथक् नहीं बचता । इसीलिए भक्तिप्रतिपादक आरण्यक, एवं ज्ञानप्रतिपादक उपनिषत्, दोनों का एकसाथ ग्रहण कर लिया गया है, जैसाकि 'बृहदारण्यकोपनिषत्' इत्यादि वृद्धव्यवहारों से स्पष्ट है । यही कारण है कि, वेदसम्बन्धिनी निष्ठात्रयी आगे जाकर दो ही निष्ठाओं हीं में परिणत होगई है । तीसरी भक्तिनिष्ठा का ज्ञानयोग में हीं अन्तर्भाव होगया है ।

३४-ब्राह्मणभागोक्त-प्रकृतिनिबन्धन-गुणात्मक-प्रवृत्युन्मुख कर्म्मों की उपयोगिता का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं भौमदेवताओं के द्वारा तत्कर्म्म-माध्यम से असुर-पराभव—

इसप्रकार कर्म्मप्रतिपादक ब्राह्मणभागने प्रवृत्तिकर्म्म--निवृत्तिकर्म्म (जिसे कि गीतापरिभाषा में निष्कामकर्म्म कहा जाता है) दोनों का ही निरूपण हुआ है । प्रवृत्तिकर्म्म के सम्बन्ध में यह प्रश्न होसकता है कि, जब प्रवृत्ति स्वाभाविकी है, तो उस का विधान करने की क्या आवश्यकता रह जाती है ? । उत्तर स्पष्ट है । प्रवृत्ति का कोई नियत नियमनसूत्र है, नियत व्यवस्था है । वही सूत्र 'प्रकृति' है । यदि फलकामुक मनुष्य प्रकृति के अनुसार कर्म्म करेगा, तो उस की प्रवृत्ति सफल होगी, एवं प्रकृत्यनुकूला वैसी सिद्धि विश्व-अशान्ति का भी कारण नही बनेगी । उधर प्रकृति-विरुद्ध कर्म्मों में प्रवृत्त रहने वाले व्यक्ति के कर्म्म में सफलता भी संदिग्ध रहेगी, यदि सफलता हो भी जायगी, तो वह प्रकृति से विरुद्ध जाती हुई वैकारिक विश्व के लिए अशान्ति का भी कारण सिद्ध होगी । परमार्थ न सही, स्वार्थ तो कम से कम हमारा ऐसा हो, जिस से दूसरों को हानि न पहुँचे । इसी प्रयोजन के लिए वेदने प्रवृत्तिकर्म्मों को सुव्यवस्थित करना आवश्यक समझा । और त्रिगुणभावमयी यह प्रवृत्ति आत्मनिःश्रेयसभाव की सम्पादिका न बनती हुई भी लोकरक्षा के लिए अवश्य ही चरितार्थ हुई । प्रवृत्तिमूलक इन्हीं यज्ञकर्म्मों से भौमदेवताओंने समय समय पर आसुर बल को परास्त कर विश्व को आपत्तियों से बचाया, यह सर्वविदित ही है ।

३५-लोकप्रवृत्ति के समतुलन में शास्त्रप्रवृत्ति का श्रेष्ठत्व, एवं ब्राह्मणभागोक्त कर्म्मकाण्ड का निर्विरोध-समन्वय—

प्रवृत्तिकर्म्म के साथ साथ ही निवृत्तिकर्म्म का उद्घोष करते हुए वेदने यह भी सिद्ध कर दिया कि, लोकप्रवृत्ति से यद्यपि यह शास्त्रप्रवृत्ति कहीं अच्छी है । परन्तु कहीं इसी पर विश्राम न कर लेना-'नामृतत्त्व-

स्य तु-आशास्ति वित्तेन (शत०ब्रा०)। चरम निःश्रेयस् तो निवृत्तिभाव पर ही निर्भर है। इसप्रकार सामान्य अधिकारियों के बुद्धिवाद को सुरक्षित रखने से लिए पहिले वेदने कामनामय, अतएव त्रिगुणभावमय कर्म्म-काण्ड का समर्थन किया, एवं आगे जाकर चौदहवें काण्ड में त्रिगुणातीत निवृत्तिप्रधान कर्म्ममार्ग का आदेश दिया। स्थूलारुन्धतीन्याय से वेद को जो कुछ कहना था, कह दिया। यही वेद के ब्राह्मणभाग से सम्मत कर्म्मयोग कहलाया, जो कि सर्वथा निर्भ्रान्त है।

३६–कर्म्मानन्तरभावी भक्तिपथ, तथा ज्ञानपथ, एवं औपनिषद-ज्ञानयोग से अनुप्राणित कर्म्म का स्वरूप-दिग्दर्शन—

कर्म्म के अनन्तर वेद के सामने **भक्तिकाण्ड, और ज्ञानकाण्ड** आए। इनके लिए इसे आरण्यक, एवं उपनिषत्, रूप में परिणत होना पड़ा। वेद का भक्तिमार्ग क्योंकि निवृत्तिप्रधान था, अतएव पूर्वकथनानुसार आगे जाकर निवृत्तिमूलक औपनिषद ज्ञानयोग में हीं इस का अन्तर्भाव होगया। वेद को आशङ्का थी कि, कहीं ज्ञानयोग का अर्थ कर्म्मसन्यास न समझ लिया जाय। अतएव ज्ञानयोग की प्रतिपादिका पहिली ईशोपनिषत् में ही उसने–'**कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि**'—'**न लिप्यते नरे**' यह स्पष्ट करते हुए ज्ञानमार्ग में भी कर्म्म की आवश्यकता सूचित करदी।

३७–कर्म्मत्यागाभिमानी ज्ञानवादी वेदान्तियों का कर्म्मोपदेश के सम्बन्ध में अनर्गल प्रवाद, एवं तत्सम्बन्ध में कर्म्म की अनिवार्य्यता का उद्घोष—

कर्म्मत्यागाभिमानी कहा करते हैं कि, "यह श्रुति सामान्य अधिकारियों से ही सम्बन्ध रखती है। जो ज्ञानयोग की योग्यता नहीं रखते, उन्हें ही कर्म्म का उपदेश दिया गया है।" अतिमानी व्याख्याता यह भूल जाते हैं कि, वेद का यह कर्त्तव्य तो ब्राह्मणभाग से ही गतार्थ होरहा है। जो निवृत्तिकर्म्ममूलक ज्ञानयोग की उच्च भूमिका के अधिकारी नहीं हैं, उन्हीं के लिए आरण्यक, और ब्राह्मण भाग नियत हैं। जब यह लक्ष्य पूर्वभागों से गतार्थ है, तो फिर उपनिषत्–सम्बन्धी कर्म्मवचन को उधर खैंचना कैसे सङ्गत होसकता है?। अवश्य ही औपनिषद ज्ञानयोग का यही तात्पर्य्य मानना पड़ेगा कि, ज्ञानयोग में भी कर्म्म का ज्ञानुष्ठान किया जाय, परन्तु कर्त्तव्यबुद्धि से, फलकामासक्ति छोड़ कर।

३८–उपनिषदों की आवश्यकता के सम्बन्ध में एक प्रश्न, एवं तन्निराकरण-प्रयास—

पाठक यह प्रश्न करेंगे कि, जब ज्ञानयोग का यही तात्पर्य है–कि, निष्कामबुद्धया कर्म्म करना, तो उपनिषत् की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। क्योंकि पूर्वकथनानुसार यह काम तो वेदोक्त ब्राह्मणभाग से ही गतार्थ है। जब ब्राह्मणभागने प्रवृत्ति के साथ साथ निवृत्तिकर्म्म का भी उपदेश दे दिया, एवं निवृत्तिकर्म्म ही का नाम जब ज्ञानयोग है, तो उस अवस्था में 'उपनिषत्'भाग तो सर्वथा निरर्थक ही होजाता है।

३९–ब्राह्मणभागोक्त कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-त्रयी का स्वरूप-समन्वय, तन्मूला द्विविधा निष्ठा, एवं सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-अव्ययेश्वरसम्मत-'बुद्धियोग'—

यही विप्रतिपत्ति उस रहस्यात्मक चौथे बुद्धियोग का स्पष्टीकरण कर रही है, जिसका कि हम आरम्भ से ही यशोगान करते आरहे हैं। **ब्राह्मणभागोक्त प्रवृत्तिमूलक कर्म्म कर्म्मयोग है, ब्राह्मणभागोक्त निवृत्तिमूलक**

निष्कामकर्म्म ज्ञानयोग है, आरण्यकभागोक्ता उपासना भक्तियोग है, एवं उपनिषदुक्त, कर्म्म-परिग्रहलक्षण, रागद्वेषवियुक्त ज्ञानयोग चौथा बुद्धियोग है। लेप का रागद्वेष से सम्बन्ध है। क्योंकि बुद्धियोगलक्षण औपनिषद ज्ञानयोग में, किंवा ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोग में रागद्वेष का अभाव है, वैराग्य का समावेश है, अतएव यह बुद्धियोगलक्षण 'योग' ही कर्म्मों में (ब्राह्मणोक्त प्रवृत्तिमूलक कर्म्मों में) कौशल बनता हुआ सर्वथा अबन्धन है। उपनिषत् की निम्न लिखित श्रुति इसी **रहस्यमय बुद्धियोग** का विश्लेषण कर रही है—

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे॥

—ईशोपनिषत्

४०—मत्सम्मत वैराग्यबुद्धियोग का सम्मरण—

"अन्ते मतिः सा गतिः" इस सिद्धान्त के अनुसार वेद का अन्तिम भागरूप, अतएव 'वेदान्त' नाम से प्रसिद्ध उपनिषच्छास्त्र अपने बुद्धियोग के द्वारा यही शिक्षण करता है कि, तुम प्रवृत्तिमूलक ब्राह्मणभागोक्त कर्म्मयोग का यदि बुद्धियोग के समावेश से अनुष्ठान करोगे, तो तुम्हारा यह कर्म्मयोग "**धर्म्मबुद्धियोग**" बन जायगा। निवृत्तिलक्षण कर्म्मयोग (जिसे कि हम ज्ञानयोग कहेंगे) में बुद्धियोग के समावेश से यह "**ज्ञानबुद्धियोग**" बन जायगा। एवं आरण्यक-सम्मत भक्तियोग में बुद्धियोग के समावेश से यह "**ऐश्वर्य्यबुद्धियोग**" बन जायगा। इसप्रकार तीनों का, किंवा दोनों निष्ठाओं का पार्थक्य हट जायगा, एवं साम्राज्य रह जायगा केवल **मत्सम्मता-बुद्धियोगनिष्ठा का**, किंवा **वैराग्यबुद्धियोग का**।

४१—क्षरानुगत कर्म्मयोग, अक्षरानुगत ज्ञानयोग, क्षराव्ययानुगत भक्तियोग, एवं अव्ययानुगत बुद्धियोग, तथा शास्त्रसिद्ध-योगानुगता कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-बुद्धि-भेद-भिन्ना काण्डचतुष्टयी का संस्मरण—

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, वेदोक्त इन चारों निष्ठाओं में धर्म्मबुद्धियोगनिष्ठा में (कर्म्मयोग में) वैकारिक विश्व की, दूसरे शब्दों में क्षरप्रपञ्च की ही प्रधानता है, अतएव इसे हम "**क्षरयोग**" ('**व्यक्तयोग**') कहसकते हैं। ज्ञानबुद्धियोगनिष्ठा में (ज्ञानयोग में) विकारप्रपञ्चाधिष्ठाता अक्षर की प्रधानता है, अतएव इसे हम **अक्षरयोग** (**अव्यक्तयोग** कह सकते हैं। ऐश्वर्य्यबुद्धियोगनिष्ठा में व्यक्ताक्षर, एवं अव्ययेश्वर का समन्वय है, अतएव इसे हम **क्षराव्ययोग** कह सकते हैं। यद्यपि भक्तिमें आंशिकरूप से अव्ययलक्षणा मन्निष्ठा भी का सम्बन्ध है, अतएव तीनों की अपेक्षा इसे उत्कृष्ट भी माना गया है, अतएव इस का उपनिषत् में समन्वय भी माना गया है, तथापि क्षरकर्म्म के समन्वय से यह विशुद्ध मन्निष्ठा नहीं है। उधर उपनिषत् से संसिद्ध चौथे वैराग्ययोग में कर्म्म भी अव्ययानुगत है, तथा ज्ञान भी अव्यायानुबन्धी ही है। गीतापरिभाषानुसार "**अहं**" शब्द अव्यय का ही वाचक है, अतएव इस चौथे योग को हम "**मन्निष्ठा**" (**अव्ययनिष्ठा**—"**मे मतम्**" (**अव्ययमतम्**) कह सकते हैं। इसप्रकार थोड़ी सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर त्रिकाण्डवेद-शास्त्र में उसीप्रकार चार काण्डों की सत्ता सिद्ध होजाती है, जैसे कि त्रिकाण्डा गीता वस्तुतः चतुष्काण्डा ही बनी हुई है।

४२–वेदसम्मता योगचतुष्टयी, वैराग्यबुद्धियोगगर्भिता संशोधिता निर्भ्रान्ता योगत्रयी, एवं प्रामाणिक-शास्त्रों का संस्मरण—

वेदसम्मता यह योगचतुष्टयी, किंवा दूसरे शब्दों में वैराग्यबुद्धियोगगर्भिता योगत्रयी ही निर्भ्रान्ता योगत्रयी है। इस में संशोधन अणुमात्र भी अपेक्षित नहीं हैं, एवं इस दृष्टि से गीताशास्त्र किसी अपूर्वयोग का निरूपण नहीं कर रहा। इसी दृष्टि को लक्ष्य बना कर भगवान् ने "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते" कहा है। गीता का 'शास्त्र' शब्द प्रधानरूप से वेदशास्त्र का संग्राहक बनता हुआ, वेदसम्मत वेदान्तशास्त्र (शारीरकशास्त्र), मनुस्मृति, एवं और और भी वेदाविरोधी निबन्धादि शास्त्रों का अनुग्राहक बन रहा है।

४३–श्रुतिशास्त्रसिद्धा योगत्रयी-चतुष्काण्डा—

१—प्रवृत्तं वैदिकं कर्म्म——आत्मक्षरयोगः——कर्म्मयोगः } —१
२—निवृत्तं वैदिकं कर्म्म——अव्यक्ताक्षरयोगः—ज्ञानयोगः }
३—अव्ययानुगता भक्तिः——व्यक्त-अतीतयोगः——भक्तियोगः } —२
४——अव्ययानुगते ज्ञानकर्म्मणी-पुरुषोत्तमयोगः——बुद्धियोगः } —३
} बुद्धियोगः

—⁂—

४४–प्रकारान्तरेणश्रुतिशास्त्रसिद्धा योगचतुष्टयी, योगत्रयी वा

१—कर्म्मयोगः—धर्म्मबुद्धियोगः——ब्राह्मणभागसिद्धः }
२—ज्ञानयोगः——ज्ञानबुद्धियोगः——आरण्यकभागसिद्धः } ब्राह्मणयोगः १
३—भक्तियोगः——ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः——ब्राह्मणभागसिद्धः } आरण्यकयोगः २
४——बुद्धियोगः——वैराग्यबुद्धियोगः—उपनिषद्भागसिद्धः } उपनिषद्योगः ३

—⁂—

४५–'ज्ञातव्यवेद' के आधार पर प्रतिष्ठित 'कर्त्तव्यवेद' के सुप्रसिद्ध तीन ग्रन्थ-संस्थान, एवं तीनों संस्थानों के द्वारा कर्म्म-उपास्ति-ज्ञान का स्वरूप–उपबृंहण—

उक्त विभाग-चतुष्टयी के सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, यदि वेदशास्त्र की दृष्टि में तीन के स्थान में चार योग थे, तो उसका यह कर्त्तव्यात्मक भाग चार भागों में विभक्त क्यों नहीं माना गया ?। कर्त्तव्यवेद के **ब्राह्मण–आरण्यक–उपनिषत्**, ये तीन भाग ही प्रसिद्ध हैं। एवं सामान्य प्रत्यय के अनुसार भी तीनो क्रमशः **कर्म्म–उपास्ति–ज्ञान** के ही प्रतिपादक माने गये हैं। फिर यह चौथा 'बुद्धियोग' कहाँ से आगया ?, और आ भी गया, तो इसके लिए वेद का एक स्वतन्त्र काण्ड और क्यों न हुआ ?।

४६–बुद्धियोग-निबन्धन स्वतन्त्र काण्ड के सम्बन्ध में एक महती विप्रतिपत्ति, एवं तन्निराकरण-प्रयास—

विप्रतिपत्ति यथार्थ है। पूर्व के **'ज्ञानयोग-परीक्षाप्रकरण'** में भी प्रकारान्तर से इस विप्रतिपत्ति का दिग्दर्शन कर दिया गया है, एवं साथ ही रूपान्तर से वहीं समाधान भी कर दिया गया है। यहाँ एक दूसरी दृष्टि से यह विप्रतिपत्ति हमारे सामने आई है। बात वास्तव में यह है कि, कर्त्तव्यभागात्मक वेदशास्त्र जीवात्मा का ईश्वरात्मा के साथ योग कराना चाहता है। यह प्रत्यगात्मा (ईश्वर), एवं शारीरक आत्मा (जीव), दोनो ही **"स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः"** के अनुसार त्रिकल है। इस की तीनो कलाओं का उस की तीनों कलाओं के साथ योग करा देना हीं वेदशास्त्र का मूल उद्देश्य है। **वाक्कला का वाक्कला के साथ योग करा देना हीं कर्म्मयोग है। प्राण का प्राण के साथ योग करा देना हीं भक्तियोग है। एवं मनका मन के साथ योग करा देना हीं ज्ञानयोग है।** एवं इस दृष्टि से तीन ही योग बनते हैं। इसी प्रकृतिसिद्धा त्रित्वमर्य्यादा की रक्षा के लिए वेद को **ब्राह्मण–आरण्यक उपनिषत्**, इन तीन ही भागों में परिणत होना पड़ा है। इसीलिए कर्त्तव्यवेद के भाग **'त्रिकाण्ड'** नाम से ही प्रसिद्ध हुए हैं।

४७–बुद्धियुक्त मन की विज्ञानवत्ता, तन्निबन्धना योगत्रयी की बुद्धियोगरूपता, एवं विप्रतिपत्ति का आत्यन्तिक–निराकरण—

ये तीनों हीं योग यदि सकामभाव से किए जाते हैं, तो ये प्रत्यगात्मयोग से वञ्चित रह जाते हैं। इसके लिए तीसरे उपनिषत्–भागने **"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि"** इत्यादिरूप से तीनों के साथ निष्कामभाव का सम्बन्ध कराना आवश्यक समझा। उपनिषत् ने बतलाया कि, **कर्म्म–ज्ञान–भक्ति**–तीनो हीं **विद्या-श्रद्धा–उपनिषत्** से किए जाने पर ही वीर्य्यवत्तर बनते हुए सफलयोग बन सकते हैं। कामभाव मन की वृत्ति है, एवं निष्कामभाव असङ्गबुद्धि का व्यापार है। यदि असङ्गबुद्धि को प्रधान बनाते हुए, दूसरे शब्दों में–बुद्धि का मन के साथ योग कराते हुए योगत्रयी का अनुष्ठान किया जायगा, तो जीवात्मा संसार-समुद्र का तरण करता हुआ लक्ष्यस्थान पर पहुँच जायगा। इसप्रकार उपनिषत्ने विस्पष्ट शब्दों में बुद्धियोग की घोषणा की, और आदेश दिया कि, तुह्मारा कर्म्म, तुह्मारी भक्ति, एव तुह्मारा ज्ञान तभी सफल है, जबकि तुम **विज्ञानवान् (बुद्धियोगी)** बन जाओ।

४८–रथ-रथी-प्रग्रह मार्ग-यात्रा-आदि से समन्वित कर्त्तव्यपथ का संस्मरण, एवं तत्-सम्बन्ध में महर्षि कठ के उद्गार—

शरीररूप 'रथ'में प्रतिष्ठित 'रथी' आत्मा(शारीरक आत्मा)को प्रत्यगात्मा पर पहुँचना है। इन्द्रियाश्व का 'प्रग्रह' (लगाम) मन है। 'सारथी' बुद्धि है। यदि सारथी के हाथ में बागडोर है, तो घोड़े ठीक मार्ग पर चलते हुए लक्ष्यस्थान पर पहुँचा देते हैं। यदि सारथी प्रमादी रहा, तो लगाम (मन) ढीली पड़ जायगी, घोड़े बिगड़ जायँगे, रथ टूट जायगा, रथी घायल होजायगा, और यों सबकुछ नष्ट भ्रष्ट ही होजायगा। ऐसी दशा में सारथी का योग (बुद्धियोग) नितान्त अपेक्षित होजाता है। इसी बुद्धियोग का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है--

यः सेतुरीजानानां अक्षरं ब्रह्म यत् परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शक्रेमहि ॥ १ ॥
आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ३ ॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ४ ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत् पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ६ ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ ७ ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ८ ॥'

—कठोपनिषदि

४९–प्रत्यगात्मा, तथा शारीरकात्मा की मध्यस्था बुद्धि, शारीरकात्म-निबन्धना योगत्रयी, एवं प्रत्यगात्मानुबन्धी बुद्धियोग, तथा इसके स्वतन्त्र-व्यवहार की अनुपयुक्तता का समन्वय--

प्रत्यगात्मा, और शारीरक-आत्मा के मध्य में बुद्धि प्रतिष्ठित है। ऐसी अवस्था में आत्मा मन के साथ जबतक बुद्धि को न रखले, तबतक बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त नहीं होसकती। एवं तबतक् योगत्रयी सफल नहीं हो-

सकती। उपनिषत् कोई स्वतन्त्र विभाग नहीं है। बुद्धियोग का प्रतिपादक वेदभाग ही उपनिषत् है। योगत्रयी तो ब्राह्मण, एवं आरण्यक भाग से ही गतार्थ है। उसके साथ बुद्धि का योग कराने के लिए ही उपनिषद् भाग प्रवृत्त हुआ है। उपनिषत् को ज्ञानयोग का प्रतिपादक मानना तो सर्वथा भ्रान्ति ही है। निवृत्तिकर्म्म ही का नाम जब ज्ञानयोग है, और वह जब ब्राह्मणभाग से ही गतार्थ है, तो फिर उसके लिए उपनिषत् की क्या आवश्यकता रह जाती है?। मानना पड़ेगा कि, उपनिषत् तो एक वैसा विभाग है, जिसका तीनों योगों से सम्बन्ध है। इसीलिए ब्राह्मणभाग में भी उपनिषत् का सम्बन्ध देखा जाता है, एवं आरण्यक भाग में भी सम्बन्ध पाया जाता है। यद्यपि औपनिषद-बुद्धियोग है तीनों से पृथक्, परन्तु तीनों का मूलाधार बना हुआ है। अतएव चतुर्थ काण्ड के स्वतन्त्र व्यवहार का अवसर नहीं आया-इति "सर्वं सुस्थम्।"

५०-धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य-नामक-योगों की अभिधाओं के सम्बन्ध में एक महती विप्रतिपत्ति, एवं औपनिषद-बुद्धियोग के सम्बन्ध में गीताशास्त्र की अपूर्वता, तथा विलक्षणता का समन्वय--

एक विप्रतिपत्ति और। त्रिकाण्डात्मक उक्त वेदभाग में स्पष्टरूप से धर्म्म-ज्ञान-ऐश्वर्य्य-वैराग्य नामक बुद्धियोगों का उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि उपनिषत् में अवश्य ही बुद्धियोग का आभास मिलता है, परन्तु स्पष्टरूप से यहाँ भी व्यवच्छेद (छाँट) नहीं हुआ है। इसका क्या कारण?। और किस आधार पर इस विभागचतुष्टयी को प्रामाणिक मान लिया जाय?। इस विप्रतिपत्ति का उत्तर यही हमारा गीताशास्त्र है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, उपनिषत् में प्रतिपादित बुद्धियोग, एवं अव्ययात्मा सर्वथा संकुचित ही रहे। वहाँ रहस्यभाषा में, गुप्तरूप से बड़े ही संक्षेप से बुद्धियोग, एवं अव्ययविद्या का निरूपण हुआ है। उसी संक्षेप का विस्तार किया है गीताशास्त्र ने, गीतोपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण ने। हमें तो इस सम्बन्ध में यह भी कह देने में कोई संकोच नहीं होरहा कि, यदि गीता न होती, तो वेद का रहस्यपूर्ण बुद्धियोग, एवं अव्ययात्मा अविज्ञात ही बने रह जाते। यही कारण है कि, वेदसिद्ध इस मत के लिए भगवान् ने-"ये मे मतम्" कहने में भी कोई संकोच नहीं किया। संक्षिप्त, गुहानिहित, रहस्यपूर्ण, राजर्षिसम्प्रदाय मे हीं परम्परया प्रतिष्ठत देवयुग के आरम्भ में भगवान् ने हीं इसका विस्तार किया। एवं महाभारतकाल में भी भगवान् ने हीं इसका पुनरुद्धार किया। इसीलिए यह भगवद्वाणी "गीता" कहलाई। संकुचित पद्य का विस्तार ही तो गान है, जैसाकि प्रथमखण्डान्तर्गत नाममीमांसाप्रकरण की गीताशब्द-निरुक्ति में विस्तार से बतलाया जाचुका है। सचमुच यह बड़े ही खेद का विषय है कि, आज पुनः गीता का वह रहस्यपूर्ण बुद्धियोग विलुप्त होगया है। क्यों विलुप्त होगया?, इसका कारण पाठक अनुपद में ही देखेंगे।

५१-योगचतुष्टयी का तत्त्वतः योगद्वयीरूपा निष्ठाद्वयी में हीं अन्तर्भाव--

इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। आत्मा का मनोभाग इस ओर है, यही ज्ञानयोग (बुद्धियोग) का अधिष्ठता है। वाग्भाग उस ओर है, यही कर्म्मयोग है। मध्यस्थ प्राणभाग भक्तियोग है। ज्ञानयोग ब्रह्म का ज्ञानविवर्त्त है, कर्म्मयोग कर्म्मविवर्त्त है। मध्यस्थ भक्तियोग मे ज्ञान-कर्म्म के अतिरिक्त तृतीय का अभाव है। अतः आगे जाकर वेदोक्त चार निष्ठाओं का देवयुगारम्भकाल में दो

ही निष्ठाओं में पर्य्यवसान होगया। व्यक्त-क्षरमूलक प्रवृत्तिकर्म्मात्मक कर्म्मयोग, अव्यक्ताक्षरमूलक निवृत्ति-कर्म्मात्मक ज्ञानयोग, इन दोनों का कर्म्मत्वेन एक विभाग मान लिया गया। निर्गुण-(अव्यय)-मूलक भक्तियोग, अव्ययमूलक औपनिषद ज्ञानयोग (बुद्धियोग), दोनों का एक विभाग मान लिया गया।

५२—योगत्रयी के क्षेत्र में संशोधन के लिए सर्वप्रथम प्रवृत्त देवयुगानुगत गीताशास्त्र का संस्मरण—

देवयुगानुगत भक्तिमार्ग में आरण्यकमूला सगुणोपासना का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। अपितु उस आरम्भ की परिस्थिति में "**तस्माद्वान्यन्नः परः किञ्चनास**" इस स्वायम्भुव सिद्धान्त के आधार पर समान-प्रत्ययप्रवाहरूपा निर्गुणोपासना ही प्रचलित थी। यह उपासना निर्गुण अव्ययमूलक बुद्धियोग से स्वतन्त्र न थी। अतएव उस युग में भक्तियोग के स्वतन्त्र व्यवहार का अवसर ही नहीं आया। उस पुरायुग में लोक में दो ही निष्ठाएँ प्रचलित थीं। अवश्य ही कुछ समय पर्य्यन्त दोनों निष्ठाओं का स्वरूप सुरक्षित रहा। परन्तु कुछ ही समय पीछे दोनों का पार्थक्य कर डाला गया। उसी के संशोधन के लिए उसी देवयुग में गीतोपदेश प्रवृत्त हुआ।

५३—सुप्रसिद्धा धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य-नाम की चतुर्विधा योगनिष्ठाएँ, एवं उन का सुप्रसिद्धा दो निष्ठाओं से ही समतुलन-समन्वय—

इस परिस्थिति को न जानकर यदि कोई मन्दबुद्धि यह कहने का दुस्साहस करे कि—"देवयुगारम्भ में केवल कर्म्म-ज्ञान-निष्ठाएँ हीं प्रचलित थीं, भक्तिनिष्ठा का आरम्भ में अभाव था। पौराणिक समय में हीं भक्तिमार्ग का आविर्भाव हुआ है। इसीलिए भगवान् ने पुराकाल में दो ही निष्ठाओं का उल्लेख किया है" तो उसका कोई भी महत्त्व नहीं है। अवश्य ही ज्ञान-कर्म्मवत् भक्तिनिष्ठा भी प्राचीन ही है। तीनों का आविर्भाव भी समकालिक ही है। केवल निर्गुणोपासना का स्वतन्त्ररूप से व्यवहार करना अनावश्यक समझा गया है। और इसी आधार पर "**लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता**" यह कहा गया है।

१—
- १—प्रवृत्तं कर्म्म (कर्म्मयोगः)—कर्म्म —ब्राह्मणभागः
- २—निवृत्तं कर्म्म (ज्ञानयोगः)—कर्म्म —ब्राह्मणभागः

—कर्म्मनिष्ठा

२—
- ३—निर्गुणभक्तिः (भक्तियोगः)—ज्ञानम् —आरण्यकभागः
- ४—बुद्धियोगः (बुद्धियोगः)—ज्ञानम्—उपनिषद्भागः

—बुद्धिनिष्ठा (ज्ञाननिष्ठा)

५४–वेदसिद्धा काण्डचतुष्टयी, तथा गीतासिद्धा योगचतुष्टयी का सह-समतुलन, वेदोक्ता संक्षिप्ता योगविभूति का गीता के द्वारा विस्तार, एवं प्रवृत्तिमूलक त्रैगुण्य का संशोधन—

वेदसिद्धा निष्ठाचतुष्टयी, एवं गीतासिद्धा निष्ठाचतुष्टयी में कोई अन्तर नहीं है। केवल दो बातों में गीताशास्त्र वेदशास्त्र की अपेक्षा अपूर्व बना हुआ है। पहिली बात तो यही है कि, वेद के उपनिषत्-भाग में बुद्धियोगावच्छिन्न जिस अव्ययात्मा का जहाँ बड़ी ही रहस्यभाषा में बड़े ही संक्षेप से दिग्दर्शन हुआ है, वहाँ गीता ने उसे विस्तृतरूप दे दिया है। दूसरी बात ब्राह्मणभागोक्त प्रवृत्तिमूलक कामनामय कर्म्मयोग से सम्बन्ध रखती है। वेद के ब्राह्मणभागने लोक की स्वाभाविक प्रवृत्ति को सुरक्षित रखने के लिए जिस प्रवृत्तिमार्ग का आदर किया है, भगवान् ने उसे स्वीकार नहीं किया। यह बहुत सम्भव है कि, सत्य–त्रेता-युगों में (जब कि-मानव-समाज की बुद्धि परमार्थ की ओर ही विशेषरूप से झुकी हुई थी) प्रवृत्तिमूलक कर्म्ममार्ग परमार्थभावना को मुख्य मानता हुआ विशेषरूप से अभ्युदय का ही कारण बनता होगा। उस समय के यज्ञ यागादि लोकोपकार की भावना से ही किए जाते होंगे। इसी दृष्टि से वेद का यह आदेश उन युगों के लिए अवश्य ही उपादेय रहा होगा। परन्तु इस कलियुग में, जिसमें कि मानवसमाज महास्वार्थपरायण बना रहता है, प्रवृत्तिमूलक कर्म्ममार्ग विशुद्ध स्वार्थमूलक बनता हुआ विश्व की अशान्ति का, एवं आत्मपतन का ही कारण बन जाता है। केवल इसी हेतु को मूल मान कर भगवान् ने त्रैगुण्यभावमूलक प्रवृत्तिकर्म्म को अनुपयुक्त सिद्ध कर दिया।

५५–कलियुगानुगता वैयक्तिक-स्वार्थमूला पापात्मिका वृत्ति के मूलोच्छेद-पूर्वक ही वेदवादरति का संशोधन, एवं लोकसंग्राहक भगवान् के द्वारा निर्योगक्षेम का आदेश—

भगवान् का अवतार द्वापर के अन्त में, एवं कलि के आरम्भ में हुआ था। तत्समय की परिस्थिति महास्वार्थपूर्ण थी। सब अपनी अपनी वैयक्तिकी स्वार्थसिद्धि के प्रयास में हीं संलग्न थे। ऐसी दशा में यदि भगवान् उस त्रिगुणभावमय वेदोक्त प्रवृत्त कर्म्म को उपादेय बतला देते, तो तत्कालीन मानवसमाज की स्वार्थवृत्ति को अवश्य ही अधिक प्रोत्साहन प्राप्त होजाता। इसलिए भगवान् ने यह आवश्यक समझा कि, अब मानव-समाज में वह योग्यता नहीं है कि, वह लोकोपकार की भावना से प्रवृत्तिकर्म्मानुष्ठान में समर्थ होसके। इसी लोकसंग्रहरक्षा के लिए भगवान् को विवश होकर वेदोक्त त्रिगुणकर्म्म के सम्बन्ध में यह कह ही देना पड़ा कि–

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

५६—भावुक-मानवों की वेदानुगता भ्रान्ति, एवं गीता के ही शब्दों में भ्रान्ति का आमूलचूड़ निराकरण, तथा वैदिक यज्ञ-तपो-दान-त्रयी का निष्ठापूर्वक समर्थन—

कितने ही महानुभाव उक्त वचनों उक्ति का यह तात्पर्य्य लगाते हैं कि, भगवान्ने स्पष्ट शब्दों में वेद की, किंवा वेदसम्मत यज्ञ-तपो-दान कर्म्मों की निन्दा ही की है। कहना पड़ेगा कि-अभी वे गीता के तात्पर्य्य से सर्वथा ही वञ्चित है। भगवान् शत्रु थे केवल प्रवृत्तिमार्ग के, न कि वेदोक्त कर्म्ममार्ग के। कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय के सम्बन्ध में शास्त्रैकनिष्ठ भगवान् वेद की निन्दा करें?, यह असम्भव है। सम्भवतः भगवान् को भी उक्त वचन श्रीमुख से निकालते हुए यह विचार हुआ होगा कि, कहीं इसका यह तात्पर्य्य न समझ लिया जाय कि, वेदोक्त कर्म्ममार्ग निन्द्य है, मोक्ष का प्रतिबन्धक है (जैसाकि आजकल के अद्वैतवादी समझ रहे हैं)। इसी-लिए भगवान् को आगे जाकर स्पष्ट कर ही देना पड़ा कि—

यज्ञ-दान-तपः-कर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत् ॥
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥१॥
एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ॥
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥२॥
नियतस्य तु सन्यासः कर्म्मणो नोपपद्यते ॥
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥३॥
तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञ-तपः-क्रियाः ॥
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥४॥
यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः ॥
तदर्थं कर्म्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥५॥

५७—वेदोक्त कर्म्ममार्ग की मोक्षोपयिकता का समन्वय, वेदोक्त प्राजापत्य यज्ञकर्म्म का गीता के द्वारा यशःख्यापन, एवं निष्कामभावानुबन्धी वैदिक-कर्म्मयोग का उन्मुक्तहृदय से समादर—

उक्त वचनों को देखते हुए ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो कि वेदोक्त कर्म्ममार्ग को मोक्षमार्ग का प्रति-बन्धक बतलाने की मूर्खता करेगा। वेदवादरति के ही भगवान् विरोधी हैं, स्वार्थमूला भोगैश्वर्य्यप्रवृत्ति के ही शत्रु हैं। गीतान्वेषण से हमें तो यह मान लेने में भी कोई संकोच नहीं होरहा कि, यदि हमारा प्रवृत्तिकर्म्म हमारे स्वार्थ का कारण नहीं है, परमार्थकामना से यदि हम कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त होते हैं, संसार के मानव-समाज को इष्ट-भोग मिलते रहैं, इस कामना से यदि हम सकाम भी कर्म्म करते हैं, तो भगवान् की दृष्टि में वे भी आदरणीय ही है। भगवान् केवल उस कामना के विरोधी हैं,जो कि केवल आत्मपचन का ही कारण बनी-रहती है। परमार्थकामनामय तो प्रवृत्तिकर्म्म भी भगवत्सम्मत ही है। और वेदोक्त प्रवृत्तिकर्म्म का यही मूल उद्देश्य

भी है । क्योंकि स्वार्थमूलक कलि में ऐसा होना कठिन है। इसलिए भगवान्ने कामना का निरोध करना आवश्यक समझा । यदि कोई श्रेष्ठ पुरुष इस युग में भी परमार्थकामना से काम्य कर्म्म करता है, तो भगवान् उसे आदर ही देते हैं । देखिए !

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ॥
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ॥
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥२॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ॥
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥३॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ॥
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥४॥
कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ॥
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥५॥
एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः ॥
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ ! स जीवति ॥६॥

५८–कतिपय कलिवर्ज्य शास्त्रीय विधान, एवं गीताशास्त्र-सम्मत संशोधन का तात्त्विक समन्वय -

नियोगविधि शास्त्र-सम्मत है, पशुपुरोडाश शास्त्रविहित है, परन्तु इन्हें कलिवर्ज्य माना गया है। कारण इसका यही है कि, कलियुग में मनुष्य स्वभावतः एव इन्द्रियपरायण होते हैं । ऐसी दशा में उन्हें नियोग की आज्ञा देना 'अनाचार' को ही प्रोत्साहन देना है । यही अवस्था पशुपुरोडाश की है । श्राद्ध में अवश्य ही माँसपरिपाक होना चाहिए । परन्तु उसके स्थान में जो माष (उर्द) का विधान हुआ है, इसका भी यही रहस्य है । इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, कलियुग में ऐसा करना पाप है । यदि कोई ऋषीकेष इन्द्रिय-संयमपूर्वक ऐसा करसकता है, तो बड़ा ही उत्तम है । स्वयं याज्ञवल्क्यने चयनयज्ञ के सम्बन्ध में इसी मार्ग को श्रेष्ठ माना है । चयन में पुरुष, अश्व, गौ, अवि, अज, इन पाँच पशुओं का आलम्भन कर इन के माँस से युक्त मिट्टी से इष्टका-निर्म्माण होता है । अवश्य ही यह कर्म्म कलिवर्ज्य है । परन्तु कोई करै, तो अवश्य ही यह उत्तम भी है (देखिए! शत०ब्रा० ६ कां०) । ऐसी दशा में युगधर्म्म की मर्य्यादा को लक्ष्य में रखकर यदि भगवान् ने वेदोक्त प्रवृत्तिकर्म्म का निरोध कर दिया, तो एतावता ही गीता को वेदविरोधिनी मान बैठना सर्वथा उपहासास्पद ही तो माना जायगा ।

५९–श्रुतिशास्त्रसिद्धैव योगत्रयी का गीताशास्त्र के द्वारा उपबृंहण—

तात्पर्य्य उक्त निवेदन का यही हुआ कि, श्रुतिशास्त्र ने जिस योगचतुष्टयी का, दूसरे शब्दों में-औपनिषद-बुद्धियोगगर्भिता, अतएव बुद्धियोगात्मिका जिस योगत्रयी का संक्षेप से निरूपण किया है, बिना किसी संशोधन के (नाममात्र का संशोधन करते हुए) भगवान्ने गीता में उसका विस्तार के साथ ज्यों का त्यों संग्रह कर लिया है। वेदशास्त्रसम्मत, अतएव सर्वथा निर्भ्रान्त इसी शास्त्रीया-योगत्रयी के सम्बन्ध में भगवान्ने—"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते" यह कहा है।

६०–स्मृतिशास्त्रसिद्धा योगत्रयी का गीता के द्वारा यत्किञ्चित्-संशोधनपूर्वक संग्रह—

अब दूसरा स्मृतिशास्त्र हमारे सामने आता है। इसके सम्बन्ध में अवश्य ही गीता ने संशोधन किया है। और इसी स्मार्त्त-संशोधन को लक्ष्य में रखकर हमने कहा है कि—"गीता शास्त्रसिद्ध योगत्रयी का संशोधन करके ही उन का संग्रह कर रही है।"

६१–वेदशास्त्रसिद्धा निष्ठात्रयी के आधार पर स्वयम्भूमनु, अपान्तरतमा, तथा कपिल के द्वारा कर्म्म-भक्ति--ज्ञान--योगत्रयी का स्वरूपोद्भव, एवं तत्संशोधन के लिए ही प्रवृत्त गीताशास्त्र—

वेदशास्त्रसिद्धा निष्ठात्रयी के आधार पर उसी देवयुग में तीन आचार्य्यों के द्वारा तीन स्वतन्त्र शास्त्रों का जन्म हुआ। क्योंकि ये तीनों हीं शास्त्र श्रुत्यर्थानुगामी थे, अतएव इन्हें "**स्मृति**" कहना अन्वर्थ माना गया। ब्राह्मणभागोक्ता कर्म्मनिष्ठा के आधार पर स्वयम्भूमनु के द्वारा **मानवसंहिता** का जन्म हुआ, जिसका कि रूपान्तर आज "**मानवधर्म्मशास्त्र**" नाम से प्रसिद्ध है। इसी आधार पर इस स्मृतिशास्त्र से सिद्ध कर्म्मयोग को "**स्वयम्भूनिष्ठा**" भी कहसकते है। आगे जाकर वेदाचार्य्य प्राचीनबर्हि (अपान्तरतमा) नामक भारतीय महर्षि के द्वारा यह निष्ठा लोक में प्रचलित हुई। आरण्यकभागोक्ता भक्तिनिष्ठा के आधार पर हिरण्यगर्भ के द्वारा भक्तियोगात्मिका भक्तिनिष्ठा का विकास हुआ। अतएव इसे हम "**हिरण्यगर्भनिष्ठा**" भी कह सकते हैं। अवश्य ही मानवधर्मशास्त्र की भाँति हिरण्यगर्भ का भी योगात्मिकोपासना का प्रतिपादक कोई ग्रन्थ रहा होगा। परन्तु आज वह अनुपलब्ध है। सुप्रसिद्ध **पातञ्जलयोगदर्शन** इसी निष्ठाग्रन्थ का रूपान्तर है। उपनिषद्-भागोक्ता ज्ञाननिष्ठा के आधार पर कपिल के द्वारा कर्म्मत्यागलक्षणा ज्ञाननिष्ठा का जन्म हुआ। यही निष्ठा आगे जाकर प्राकृतिक अव्यक्तज्ञान के सम्बन्ध से **सांख्यनिष्ठा** नाम से प्रसिद्ध हुई। क्योंकि प्रधानवादी कपिल ने संख्यासिद्ध अव्यक्त ज्ञान को ही "**सांख्य**" कहा है। सुप्रसिद्ध "**सांख्यदर्शन**" इसी निष्ठा का समर्थक है। इसप्रकार श्रुति के आधार पर इन तीन आचार्य्यों नें तीन स्वतन्त्र निष्ठाओं को जन्म दिया।

६२–निष्ठात्रयी की अन्ततोगत्वा निष्ठाद्वयी में हीं परिणति—

ये तीनों निष्ठाएँ भी कुछ ही समय में दो ही रूपों में परिणत होगईं। हिरण्यगर्भ-सम्मता योगनिष्ठा साँख्यानुगामिनी बनती हुई सांख्यनिष्ठारूप में ही परिणत होगई। क्योंकि इस योग में गुणातीत ध्यानभाव का ही प्राधान्य था। उधर सांख्य भी गुणविवेक का ही पक्षपाती था। इसीप्रकार स्मृतिशास्त्रसिद्धा

तीनों निष्ठाओं में से कर्म्म-ज्ञान, दो ही निष्ठाएँ शेष रह गईं । कर्म्मनिष्ठा **'योगनिष्ठा'** नाम से प्रसिद्ध हुई, एवं ज्ञाननिष्ठा **'सांख्यनिष्ठा'** नाम से प्रसिद्ध हुई ।

१—कर्म्मनिष्ठा—स्वयम्भूनिष्ठा (कर्म्मयोगः स्मार्तः)—ब्राह्मणमूलकः
२—भक्तिनिष्ठा—हिरण्यगर्भनिष्ठा (भक्तियोगः स्मार्तः)—आरण्यकमूलकः
३—ज्ञाननिष्ठा—कपिलनिष्ठा (ज्ञानयोगः स्मार्तः)—उपनिषन्मूलकः

——०——

१—कर्म्मयोगः-योगिनाम्]—योगनिष्ठा १ (कर्म्ममार्गः)
२—भक्तियोगः-सांख्यानाम् }
३—ज्ञानयोगः-सांख्यानाम् } —सांख्यनिष्ठा २ (ज्ञानमार्गः)

——०——

६३-ग्रन्थकर्त्ता की भ्रान्ति, एवं ग्रन्थव्याख्याता की भ्रान्ति, रूपेण भ्रान्ति के दो विवर्त्त, एवं गीता के द्वारा संशोधित--तथ्य की स्वरूप--जिज्ञासा—

प्रकरणारम्भ में यह बतलाया जाचुका है कि, स्मार्तग्रन्थों के सम्बन्ध में दो प्रकार से भ्रान्ति सम्भव है । स्वयं ग्रन्थकर्त्ता भी भ्रान्ति करसकता है, एवं ग्रन्थ का वास्तविक मर्म्म न समझने वाले तदनुयायी भी ग्रन्थ के सिद्धान्त को भ्रान्त बना सकते हैं । अब हमें यह विचार करना चाहिए कि, उक्त तीनों स्मार्त्तनिष्ठाओं में से, अथवा दोनों स्मार्तनिष्ठाओं में से ग्रन्थकारोंनें भ्रान्ति की है, अथवा तदनुयायियों नें उनके सिद्धान्तों को भ्रान्त बनाया है ? । और उस भ्रान्ति का क्या स्वरूप है ?, जिसके कि संशोधन की (भगवान् को) आवश्यकता हुई।

६४—परमाराध्य त्रिविध आचार्य्य, तथैव सर्वथैव मान्य उन के त्रिविध—शास्त्रोय-योग, एवं तदाधारणैव संशोधन—विचार--विमर्श, तथा गीता का तत्सम्बन्ध में लोकसंग्राहक विशाल--दृष्टिकोण—

सब से पहले तो इस समालोचना—कर्म्म से हमें अपना अहंत्व हटाना पड़ेगा । हमारे लिए तीनों हीं स्मार्त्तनिष्ठाएँ, एवं समार्त्तनिष्ठाओं के प्रवर्त्तक आचार्य्य आराध्य है । हम उनकी वाणी की समालोचना करने का कोई अधिकार नहीं रखते । ऐसी दशा में इस कर्म्म के लिए हमें भगवत्सिद्धान्त का ही आश्रय लेना पड़ेगा । यह भी ध्यान रखने की बात है कि, भगवान् ने भी तन्निष्ठाप्रवर्त्तक आचार्य्यों में अपनी पूर्ण श्रद्धा ही प्रकट की है । उदाहरण के लिए सांख्यप्रवर्त्तक कपिल को ही लीजिए । **"सिद्धानां कपिलो मुनिः"** कहते हुए भगवान् ने कपिल को अपनी विभूति बतलाया है । यही नहीं, कपिल के प्रकृतिवाद को भगवान ने स्थान स्थान पर पूर्ण समर्थन किया है । सांख्य यदि सम्पूर्ण विश्व को अव्यक्तमूलक बतलाता है, तो भगवान् भी उसे अव्यक्तमूलक ही मान रहे हैं (देखिए गीता ८।१८) । सांख्य के अनुसार यदि कोई पुरुष निर्लेप है, निर्गुण

तो भगवान् भी "न करोति न लिप्यते" कहते हुए इसका समर्थन ही कर रहे हैं। इन सब समताओं को देखते हुए तो यही मानना पड़ता है कि, भगवान् सांख्यनिष्ठा के पूर्ण समर्थक हैं। फिर भी एक स्थान ऐसा रह जाता है, जिसके लिए संशोधन आवश्यक होजाता है, और वह स्थान है "अव्ययपुरुष"।

६५–'सांख्यज्ञान–प्रधान–गीताशास्त्र'–लक्षणा मान्यता की सर्वथैव आपातरमणीयता—

कितने हीं महानुभाव गीता को सांख्यशास्त्र की प्रतिच्छाया ही सिद्ध करते हुए यह कहा करते हैं कि, "भगवान् ने गीता में प्रधानरूप से 'सांख्यज्ञान' का ही निरूपण किया है। कर्म्मत्यागलक्षण सांख्य ही इस का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। एवं 'सांख्य' वही सुप्रसिद्ध 'कपिलनिष्ठा' है। यदि भगवान् सांख्यनिष्ठा के विरोधी होते तो, तत्प्रवर्त्तक कपिल को "सिद्धानां कपिलो मुनिः" यह उच्चासन कदापि प्रदान नहीं करते।"

६६–विविध-विभूति-स्मरणात्मक कपिलादि का यशः-ख्यापनमात्र, एवं तदनुबन्धेनैव गीता में कापिल–सांख्य का समादर—

केवल उक्त युक्ति से कभी गीता को सांख्यनिष्ठा–परक नहीं माना जासकता। विभूतिगणना में तो भगवान् ने "द्यूत" कर्म्म को भी अपनी विभूति बतलाया है। क्या इससे यह माना जायगा कि, गीता द्यूत-कर्म्म का भी समर्थन करती है?। "पाण्डवानां धनञ्जयः" वाला अर्जुन क्यों मोहग्रस्त बना?। यदि भगवान् की विभूति अर्जुन भ्रान्ति कर सकता है, तो भगवद्विभूतिरूप कपिल से भी भ्रान्ति सम्भव है। वक्तव्यांश यही है कि, उक्त तीनों निष्ठाओं में से दो निष्ठाएँ अवश्य ही संशोधन की अपेक्षा रखती हैं।

६७–मानवधर्म्मशास्त्रात्मिका-स्वयम्भू-निष्ठा का गीता के द्वारा सर्वात्मना समर्थन—

स्वयम्भूनिष्ठा ही कर्म्मयोग है। इसका निरूपक मानवधर्म्मशास्त्र है। यह सर्वथा वेदसम्मत है। "मनुर्वै यत्किञ्चावदत् तद्भेषजं भेषजतायाः" इत्यादि रूप से स्वयं वेद ने इसकी प्रमाणिकता दृढ़ की है। अतएव "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणते" से जैसे वेदशास्त्र गृहीत है, एवमेव मानवधर्म्मशास्त्र भी गृहीत है। और यह वेदवत् सर्वथा निर्भ्रान्त ही है। यही कारण है कि, जिसप्रकार वेदवाह्या स्मृतियाँ अग्राह्या मानीं गईं हैं, एवमेव मनुस्मृति के विपरीत जाने वालीं स्मृतियाँ भी अग्राह्या ही मानीं गईं हैं।

६८–आचार्य्यसम्मता भक्तिनिष्ठा, तथा सांख्यनिष्ठा का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं गीता के द्वारा दोनों निष्ठाओं का बुद्धियोग–माध्यम से संशोधन—

अब शेष रहती है भक्तिनिष्ठा, एवं ज्ञाननिष्ठा। इस भक्ति का रूप है तपःप्रणिधान, कायक्लेशपूर्वक इन्द्रियसंयम, सांसारिक कर्म्मों से अरति। एवं इस ज्ञान का स्वरूप है–कर्म्मत्याग, तथा विशुद्ध ज्ञानानुगमन। कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा, एवं योगात्मिका भक्तिनिष्ठा, इन दोनों का मूलभाष्य के "लोकेऽस्मिन्" इत्यादि श्लोकभाष्य में विस्तार से निरूपण होने वाला है। अतः यहाँ इस सम्बन्ध में विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं है। यह भक्तिनिष्ठा, किंवा हिरण्यगर्भनिष्ठा सांख्यज्ञान (अव्यक्तज्ञान) की अनुगामिनी बनी। अतएव दोनों मिलकर एक सांख्यनिष्ठा ही रह गई। एवं इसके संशोधन से ही उसका भी संशोधन गतार्थ बन गया।

६९–हिरण्यगर्भनिष्ठानुगता महती भ्रान्ति, एवं गीता के द्वारा तत्संशोधन–प्रयास—

हिरण्यगर्भ ने भ्रान्ति यह की कि, वेदसम्मत ईश्वरानन्यता की उपेक्षा कर उसने आत्मसंयम—लक्षण कायक्लेश को ही प्रधानता दे डाली। ईश्वर का स्थान (अव्यय का स्थान) योगसमाधि ने छीन लिया। योगसमाधि के आकर्षण से यह भक्ति योगज—सिद्धियों की अनुगामिनी बनती हुई ईश्वरभाव से वञ्चित रह गई। आत्मनिःश्रेयस का स्थान लोकसिद्धियोंने छीन लिया। फलतः इसका संशोधन आवश्यक होगया।

७०–कपिलनिष्ठानुगता महती भ्रान्ति, एवं भगवान् के द्वारा तत्संशोधन—

कपिल ने यह भ्रान्ति की कि, उपनिषत्–सम्मत बुद्धियोग का अर्थ उन्होंने निवृत्तिमार्ग समझ लिया। उनका लक्ष्य बना प्रतिशरीर में भिन्न, देहाभिमानी जीवात्मा। और उसका कपिल ने निःश्रेयस समझा कर्म्मत्याग में। ब्राह्मणोक्त निवृत्तिकर्म्म, एवं उपनिषदुक्त बुद्धियोग, दोनों को एक समझ लिया गया। एवं इस समझ के कारण बने "**त्यागेनैके ऽमृत्त्वमानशुः**"—"**नास्त्यकृतः कृतेन**"—"**आत्मेत्येवोपासीत**" "**नामृतत्वस्यत्वाशास्ति वित्तेन**" इत्यादि औपनिषद—वचन। इसप्रकार बुद्धियोग का आसन उपनिषदुक्त ज्ञानयोग ने छीन लिया। फलतः इसका भी संशोधन आवश्यक होगया।

७१–ग्रन्थकर्त्ता के सम्बन्ध से ही निष्ठाद्वयी में भ्रान्ति—

तात्पर्य्य यह निकला कि, तीनों स्मार्त्त–निष्ठाओं में से ब्राह्मण–भागसम्मता कर्म्मयोगनिष्ठा ग्रन्थकर्त्ता के सम्बन्ध से निर्भ्रान्त रही, एवं उपनिषद्भाग-सम्मता ज्ञानयोगनिष्ठा, एवं आरण्यकभाग–सम्मता भक्तिनिष्ठा ग्रन्थकर्त्ता के ही सम्बन्ध से भ्रान्त बन गईं। गीता ने इन्हीं दोनों का विशेषरूप से संशोधन किया।

७२–ब्राह्मण–आरण्यक- उपनिषत्–सिद्धा निष्ठात्रयी का स्वरूप–संस्मरण—

श्रौत-स्मार्त्त–निष्ठाओं की निर्भ्रान्त-भ्रान्त-निष्ठाओं की तुलना के लिए यह भी जान लेना आवश्यक है कि, श्रौती निष्ठात्रयी का क्या स्वरूप था?। संसार के अभ्युदय के लिए परमार्थ–कामना से काम्य कर्म्मों में प्रवृत्त होना हीं ब्राह्मणभागसिद्धा कर्म्मनिष्ठा थी। आत्माभ्युदय के लिए (लोकसंग्रह पर दृष्टि रखते हुए) निवृत्तिकर्म्मों में प्रवृत्त रहना हीं उपनिषद्भागसिद्धा ज्ञाननिष्ठा थी। आत्मनिःश्रेयस के लिए (लोकसंग्रह पर दृष्टि रखते हुए) ईश्वरानन्यध्यान–लक्षणा निर्गुण–ब्रह्मोपासना हीं आरण्यकभागसिद्धा भक्तिनिष्ठा थी।

७३–सर्वात्मना सुरक्षिता स्वयम्भू–निष्ठा, एवं हिरण्यगर्भनिष्ठा, तथा कपिलनिष्ठा के सम्बन्ध में भगवान् के द्वारा पर्य्याप्त–संशोधन—

इन तीनों श्रौत–निष्ठाओंमें से स्वयम्भू ने तो कर्म्मनिष्ठा का स्वरूप ज्यों का त्यों सुरक्षित रक्खा। परन्तु हिरण्यगर्भ ने भक्तिनिष्ठा का, एवं कपिल ने ज्ञाननिष्ठा का स्वरूप विकृत कर दिया। जैसा कि पूर्व में कहा गया है, हिरण्यगर्भ, एवं कपिल के सम्बन्ध में भ्रान्ति बतलाने का साहस अस्मदादि को नहीं है। हम तो उन्हें

निर्भ्रान्त ही कहेंगे। और स्वयं भगवान् ने भी यह अधिकार केवल अपने ही हाथ में रक्खा है—जैसाकि—"लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा" इत्यादि से सिद्ध है। महापुरुषों के उदात्त सिद्धान्त की समालोचना का अधिकार भी महापुरुष ही रखते हैं। हमारे लिए तो गुरु, और गोविन्द, दोनों समानधरातल पर ही प्रतिष्ठित है।

७४—सर्वविदित—'लोके-वेदे च' सूत्र, तन्निबन्धना—लोकनिष्ठा, तथा वेदनिष्ठा, एवं दोनों की हेयोपादेयता का दिग्दर्शन—

"लोके वेदे च" यह वाक्य सर्वविदित है। शास्त्रसम्मत मार्ग को "वैदिकमार्ग" कहा जाता है, एवं लोकसम्मत मार्ग को "लौकिकमार्ग" कहा जाता है। यदि शास्त्रनिष्ठा वेदानुगता है, तो वह "वेदनिष्ठा" है, एवं मानवसमाज ने उसका विरूद्ध तात्पर्य्य लगाते हुए यदि लौकिक बना डाला है, तो वह 'लोकनिष्ठा' है। दोनों में वेदनिष्ठा ग्राह्य है, एवं लोकनिष्ठा त्याज्य है। लोकनिष्ठा भी वही ग्राह्य है, जिसका वेदनिष्ठ अलौकिक पुरुषों के द्वारा संशोधन होजाय।

७५—हिरण्यगर्भनिष्ठानुगता योगनिष्ठा की उपादेयता, एवं तत्सम्बन्ध में भगवान् के द्वारा मान्यता-प्रदान—

कम से कम हमें तो बिना किसी नचनुच के नतमस्तक होकर यह मान हीं लेना चाहिए कि, वेदनिष्ठावत् स्मार्त्तनिष्ठा भी सर्वथा निर्भ्रान्त ही है। कर्म्मनिष्ठा की निर्भ्रान्तता के सम्बन्ध में तो कुछ वक्तव्य ही नहीं है। अब रह जाती हैं—हिरण्यगर्भनिष्ठा, एवं कपिलनिष्ठा। यह ठीक है कि हिरण्यगर्भ का प्रधान लक्ष्य चित्तशुद्धि ही रहा, ईश्वरानन्यता नहीं। परन्तु जबतक चित्तशुद्धि नहीं होजाती, तबतक ईश्वरानन्यता प्राप्त भी तो नहीं होसकती। फिर भगवान् ने भी तो कायक्लेशात्मक इस ध्यानात्मक भक्तिमार्ग का (योगमार्ग का) समर्थन ही किया है, जैसाकि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ २॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ ३॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया॥
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ ४॥
स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ ५॥
यतेन्द्रियमनो-बुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ ६ ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ ७ ॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ! ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ८ ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ॥
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थानमधिगच्छति ॥ ९ ॥

—————*—————

७६- अव्यक्तभावापन्ना हिरण्यगर्भनिष्ठात्मिका भक्तिनिष्ठा के योगात्मक स्वरूप के सम्बन्ध में शास्त्रीय वचन--दिग्दर्शन--

हिरण्यगर्भ-सम्मत, कायक्लेशात्मक, इन्द्रियसंयम-लक्षण योगात्मक भक्तिमार्ग का प्रायः वही स्वरूप है, जो कि उक्त गीतासिद्धान्त से स्पष्ट हुआ है । उन्होंने भक्तिनिष्ठाप्राप्ति के लिए चित्तविशोधक इसी मार्ग का समर्थन किया है, जैसाकि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

हन्त ते सम्प्रवक्ष्यामि यदेतदनुपृच्छसि ।
योगकृत्यं महाराज ! पृथगेव शृणुष्व मे ॥ १ ॥
विमुक्तः सर्वसंगेभ्यो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
मनो बुद्ध्या स्थिरं कृत्वा पाषाण इव निश्चलः ॥ २ ॥
स्थाणुवच्चाप्यकंपः स्याद्गिरिवच्चापि निश्चलः ।
बुद्ध्या विधिविधानज्ञस्तदा युक्तं प्रचक्षते ॥ ३ ॥
निर्वाते यथा दीप्यन् दीपस्तद्वत् प्रकाशते
निर्लिङ्गो विचलश्चोर्द्ध्वं न तिर्य्यग्गतिमाप्नुयात् ॥ ४ ॥
एवं पश्यन् प्रपश्यन्ति आत्मानमजरं परम् ।
योगदर्शनमेतावदुक्तं ते तत्त्वतो मया ॥ ५ ॥

———*———

७७--योगात्मिका स्मार्त्ती--उपासना को वेदशास्त्र के द्वारा मान्यता--प्रदान--

कहना न होगा कि, उक्त लक्षणा हिरण्यगर्भनिष्ठा का गीता में सर्वात्मना समादर ही हुआ है । और होना भी चाहिए, जब कि यह योगोपासना आत्मविशुद्धि का कारण बनती हुई ईश्वरानन्यभाव की प्राप्ति का

कारण बन जाती है। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि, यह योगात्मिका स्मार्त्ती उपासना वेदानुगता बनती हुई अवश्य ही निर्भ्रान्ता है।

७८- कपिलानुगता-स्मार्त्ती-सांख्यनिष्ठा का सर्वात्मना समर्थन, एवं तत्र शास्त्रसम्मति—

यही दशा साँख्यनिष्ठा की समझिए। सांख्य ने कर्म्मत्याग का आदेश अवश्य दिया है, परन्तु उनका लक्ष्य क्या था, यह देखना चाहिए। मनुष्य की स्वाभाविक निर्बलता कपिल भलीभाँति जानते हैं। गुणान्वित-कर्म्मप्रपञ्चों का अनुष्ठान करता हुआ मनुष्य इनसे उत्पन्न होने वाले संस्कारलेप से बचा रहै, यह कठिन है। इसके लिए कपिल ने सांसारिक कर्म्मों का परित्याग ही आवश्यक समझा। सांख्यशास्त्र ने यह आवश्यक समझा कि, जीवात्मा बन्धन से मुक्त होने के लिए तत्त्वविवेक का आश्रय लेता हुआ प्रकृति–पुरुष का विवेक करे। और यह विश्वास करे कि, यह कर्म्मजाल योगमायामयी त्रिगुण-अव्यक्त-प्रकृत्ति का ही विस्तार है। पुरुष सर्वथा निर्लेप है। इस चिरकालिक--भावना से मनुष्य की अहन्ता छूट जायगी, फलतः संन्यासनिष्ठा का उदय होजायगा। निम्नलिखित श्लोक इसी सांख्यसिद्धान्त का स्पष्टीकरण कर रहे हैं——

अव्यक्तं क्षेत्रमित्युक्तं तथा सत्त्वं तथेश्वरः ॥
अनीश्वरमतत्त्वं च तत्त्वं तत् पञ्चविंशकम् ॥ १ ॥
सांक्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानुदर्शनम् ॥
सांख्याः प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ॥ २ ॥
पञ्चविंशः प्रकृत्यात्मा बुध्यमान इति स्मृतः ॥
यदा तु बुद्धयतेऽत्मानं तदा भवति केवलः ॥ ३ ॥
सम्यग्दर्शनमेतावद्भाषितं तव तत्त्वतः ॥
एवमेतद्विजानन्तः साम्यतां प्रतियान्त्युत ॥ ४ ॥

७९--श्रीभगवद्गीता के द्वारा कपिल की सांख्यनिष्ठा को मान्यता-प्रदान—

भगवान् ने भी उक्त सिद्धान्त का रूपान्तर से समर्थन ही किया है। अहंभाव को भगवान् भी बुरा ही समझते हैं। यदि यह भी कहा जाय कि, गीता ने अहंभाव के विनाश के लिए ही अवतार लिया है, तब भी कोई अत्युक्ति न होगी। अर्जुन कहता था, मैं कर रहा हूँ, भगवान् कहते थे–तू तो निमित्त है। प्रकृति ही सबकुछ कर रही है। जिस दिन तूँ तत्त्वविवेक कर लेगा, उस दिन तेरी अहन्ता हट जायगी। देखिए निम्नलिखित गीतावचन इसी सांख्य–सिद्धान्त का समर्थन कर रहे हैं——

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्वशः ॥
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥ १ ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो ! गुणकर्म्मविभागयोः ॥
गुणा गुणेषु वर्त्तन्ते, इति मत्वा न सज्जते ॥ २ ॥

८०--वेदसम्मता, गीतासम्मता, अतएव सर्वथा निर्भ्रान्ता हिरण्यगर्भ कपिल-निष्ठाओं की लोकसंग्रहात्मिका मान्यता का समन्वय-प्रयास--

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि, हिरण्यगर्भ की योगात्मिका भक्तिनिष्ठा, एवं कपिल की सांख्यनिष्ठा, दोनो ही वेदसम्मत, अतएव निर्भ्रान्त हैं। अवश्य ही इनसे भी आत्मनिःश्रेयस सम्भव है। इसीलिए गीता ने इन्हें आदर प्रदान किया है। ऐसी दशा में एकेहेलया यह मान बैठना कि, गीता ने इनका खण्डन किया है, सर्वथा अनुचित है। हां, भगवान् ने थोडा सा संशोधन अवश्य ही किया है। परन्तु वह संशोधन भी मूल सिद्धान्त पर कोई प्रहार नहीं कर रहा। संशोधन क्या किया ?, संशोधन की आवश्यकता क्यों समझी गई ?, उत्तर स्पष्ट है।

८१- हिरण्यगर्भसम्मत 'योगमार्ग' की उपादेयता का समर्थन, तन्निबन्धना जटिलता, एवं तत्स्थान में संशोधनात्मक-- ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' का संस्थापन—

हिरण्यगर्भ का योगमार्ग भी अवश्य ही आत्मनिःश्रेयस का साधक है। परन्तु योगप्रक्रियाएँ आवश्यकता से अधिक जटिल हैं। न इनमें सर्वसाधारण प्रवृत्त होसकता, न प्रवृत्त होने वालों में से सभी को सफलता ही मिल सकती। कोई विरला जितेन्द्रिय ही इसका अधिकारी बन सकता है। लोकसंग्रह का भी इसमें अत्यान्तिक अभाव है। योगारूढ़ योगी यत्किञ्चित् भी असावधानी से गिर सकता है। इसप्रकार का क्लेशसाध्य यह योग अनेक जन्मो के अभ्यास से ही बन्धन--विमोक का कारण बनता है। जो ऐसा ही करना चाहते हैं, वे करें, कोई हानि नहीं है। परन्तु इस मार्ग में सर्वसाधारण का निश्रेयस सम्भव नहीं है। इसी अरुचि को आगे करते हुए भगवान् ने इस योगमार्ग की अनुपादेयता सिद्ध करते हुए इसके स्थान में ऐश्वर्य्यबुद्धियोग-लक्षण भक्तिमार्ग स्थापित किया, जो कि योगात्मिका भक्ति का ही संशोधित रूप है।

८२-कपिल-सम्मत 'सांख्यमार्ग' की उपादेयता का अभिनन्दन, तन्निबन्धना जटिलता, एवं तत्स्थाने च संशोधनात्मक-"ज्ञानबुद्धियोग' का संस्थापन—

यही दशा कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा की है। "**संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः**"-"**अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं क्लेशवद्भिरवाप्यते**" इत्यादि रूप से भगवान् ने यह बतलाया कि, संसारी मनुष्य कर्म्म छोड़ बैठे, यह बड़ा कठिन है। यदि कर्म्म छोड़ दिया, और संकल्प बना रहा, तो उलटा सर्वनाश है--"**क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति**"। माना कि कपिल ने आध्यात्मिक कर्म्मों की आवश्यकता स्वीकार की है, और यदि कोई इस निष्ठा में सफल होसके, तो हानि नहीं है। परन्तु ऐसे स्थान सर्वथा क्वचित्क ही हैं। रही कर्म्मलेप की विभीषिका, उसका उत्तर अव्ययपुरुष है। प्रकृति से परे रहने वाले उसे मूल बना लेने से यह भय भी जाता रहता है। इसी कारण को आगे करते हुए भगवान्ने कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग की भी अनुपादेयता सिद्ध कर इसके स्थान में '**ज्ञानबुद्धियोग**'-लक्षण **ज्ञानमार्ग** स्थापित किया, जोकि ज्ञानयोग का ही संशोधित रूप है। निष्ठाओं के मूल स्वरूप में यहीं संशोधन पर्य्याप्त था। यह संशोधन वैसा ही है, जैसाकि कलियुग में नियोगविधि का निषेध करना।

सर्वदैव तथाकथित अव्यक्त **योग**, एवं अव्यक्त **ज्ञान** (सांख्य) निष्ठाओं के अनुगमन की सभी में क्षमता नहीं रहती। यही आचाररूप इन दोनों लोकनिष्ठाओं के संशोधन का प्रमुख कारण बना। एवं इसी तथ्य-समन्वय के आधार पर हमें यह भी मान लेना पड़ा कि, 'श्रौती (वेदाभिमता) निष्ठात्रयी की भाँति स्मार्त्ती निष्ठात्रयी भी सर्वथैव निर्भ्रान्ता, अतएव 'क्वाचित्करूपेण' अनुगमनीया भी है।

८३—लोकनिष्ठाओं के व्याख्याताओं की लोक-मान्यताओं पर भगवान् के द्वारा प्रहार—

सबमेव सुस्थम्। परन्तु हम देखते हैं कि, भगवान् ने सांख्यनिष्ठा पर भी पर्य्याप्त प्रहार किया है। एवं कर्म्ममार्ग की भी निन्दा की है। इसी आधार पर हमें यह निश्चय करना पड़ता है कि, यह निन्दा मूलनिष्ठाओं की निन्दा नहीं है, अपितु निष्ठानुयायी मनुष्यों की लोकनिष्ठाओं की ही निन्दा है। उन्होंने अपने बुद्धिदोष से मूलनिष्ठाओं का स्वरूप बिगाड़ कर उन्हें भ्रान्त बना दिया है। मनुष्योंने क्या भ्रान्ति कर डाली?, वेद निष्ठाओं को कैसे लोकनिष्ठा बना डाली?, इसका उत्तर भी गीता से ही गतार्थ है।

८४—वेद के ब्राह्मणभाग से अनुप्राणिता--कर्म्मनिष्ठा की गुणात्मकता पर गीता का प्रचण्ड प्रहार—

वेद के ब्राह्मणभाग से सिद्धा, एवं स्वयम्भू मनु के द्वारा उपबृंहिता यज्ञ-तपो-दान-लक्षणा कर्मनिष्ठा का स्वरूप कुछ समय पर्य्यन्त तो अक्षुण्ण बना रहा। इन का एकमात्र लक्ष्य लोकाभ्युदय ही बना रहा। परन्तु आगे जाकर तदनुयायियोंने इसे स्वार्थ की ही वस्तु बना डाला। विविध वैय्यक्तिक भोगैश्वर्य्यों के लिए यज्ञकर्म्मों का अनुष्ठान होने लगा। इसी क्षणिक प्रलोभन में पड़कर निष्ठानुयायी भ्रान्त वर्गने अभिनिवेशपूर्वक यह घोषणा करदी कि-" केवल यह कर्म्ममार्ग ही हमारी सब आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए पर्य्याप्त है। हमें अभ्युदय के लिए किसी अन्य मार्ग की कोई अपेक्षा नहीं है। आत्मोपयिक वह ज्ञानयोग निरर्थक है, जिससे कि भोगैश्वर्य्य से हमें वञ्चित होना पड़ता है।" इसप्रकार इन लोकबुद्धियों की कृपा से वेदोक्ता कर्म्मनिष्ठा आत्यन्तिकरूप से दूषित ही होगई। इसी दूषित निष्ठा को लक्ष्य में रखकर **"कर्म्मयोगेन योगिनाम्"** यह कहा गया है। भगवान् ने इसी कल्पितनिष्ठा की निम्नलिखित शब्दों में प्रचण्ड भर्त्सना निन्दा की है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ॥
वेदवादरताः पार्थ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥१॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्म-कर्म्मफलप्रदाम् ॥
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥२॥
भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥३॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ॥
तावान् सर्वस्य वेदस्य ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥५॥

८५–गुणात्मक कर्म्मयोग की निर्गुणता-सम्पादन के लिए गीता के द्वारा महान् संशोधन —

संशोधन भगवान् ने यही किया कि, वेदोक्त कर्म्ममार्ग सर्वोत्तम है, अवश्य ही इसका अनुष्ठान करना चाहिए, परन्तु स्वार्थबुद्धि छोड़कर। फलकामासक्ति का परित्याग कर। बुद्धियोग से युक्त वही वेदोक्त कर्म्ममार्ग इष्टकामधुक् भी बन जायगा, और बन्धन भी न होगा। यही संशोधितरूप "धर्म्मबुद्धियोग" कहलाया। निम्नलिखित वचन इसीके समर्थक हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ॥
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ ! कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि ॥१॥
कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ॥
मा कर्म्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥२॥
योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ! ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥३॥
कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ॥
जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥४॥

८६–भारण्यक–आगानुगता उपासना के व्याख्याताओं के काल्पनिक भक्तियोग पर गीता का प्रचण्ड प्रहार—

वेद के आरण्यकभाग से संसिद्धा, एवं हिरण्यगर्भ के द्वारा उपबृंहिता चित्तविशोधनलक्षणा भक्तिनिष्ठा का स्वरूप भी कुछ समय पर्य्यन्त तो अक्षुण्ण बना रहा। आत्मविशोधन-पूर्वक ईश्वरप्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य बना रहा। परन्तु आगे जाकर तदनुयायी वर्गने इसे भी स्वार्थभावना से रँग डाला। विविध प्रकार की अणिमा महिमादि सिद्धियों के लिए, इन सिद्धियों से स्वार्थसिद्धि करने के लिए ही इस मार्ग का उपयोग होने लगा। सात्त्विक योगमार्ग ने तामस आसुरभाव का आसन ग्रहण कर लिया। सिद्धियों के प्रलोभन में पड़कर इन स्वार्थी-योगियोंनें शास्त्रविरुद्ध घोर तमोमार्ग का ही आविष्कार कर डाला। ईश्वरार्चन का स्थान भूतप्रेतार्चनने छीन लिया। इसप्रकार कर्म्मयोगवत् यह योगात्मक भक्तियोग भी आगे जाकर भूतसम्पत् का ही अनुगामी बन गया। इसी दूषित निष्ठा की निन्दा करते हुए भगवान् कहते हैं—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपोजनाः ॥
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ १ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ २ ॥

८७–काममयी भक्ति का लोकसंग्राहक भगवान् के द्वारा संशोधन—

संशोधन भगवान् ने यह किया कि, सिद्धि के द्वारा जिस ऐश्वर्य्य के लिए तुम योगात्मिका भक्ति को कायक्लेशात्मिका बना रहे हो, वह ऐश्वर्य्य तो आत्मा का स्वाभाविक धर्म्म है। चित्तविशोधनान्तर वह तो स्वतः ही संसिद्ध है। उस शाश्वत संसिद्धि की उपेक्षा कर इन क्षणिक सिद्धियों में हीं रह जाना तो पुरुषार्थ नहीं है। तुझे सदा आत्मविशोधक योग के द्वारा ईश्वरानन्यता-लक्षणा, ऐश्वर्य्यविभूति-सम्पन्ना बुद्धियोगसम्मता भक्ति का ही अनुगमन करना चाहिए। इससे तुझे ऐश्वर्य्य भी मिल जायगा, और बन्धन भी न होगा। यही संशोधित रूप "ऐश्वर्य्यबुद्धियोग" कहलाया। निम्न लिखित वचन इसी संशोधन का समर्थन कर रहे हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १ ॥
मदर्थमपि कर्म्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ २ ॥
ये तु सर्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ३ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ४ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ५ ॥

८८–आरण्यकोपनिषद्–भागानुगता सांख्यनिष्ठा के व्याख्याताओं की काल्पनिक-सांख्य-निष्ठा पर गीता का प्रचण्ड–प्रहार—

आरण्यकोपनिषदात्मक ब्राह्मण के अन्तिम भाग से सिद्धा (किन्तु कपिलमतानुसार उपनिषद्भाग से सिद्धा), कपिल के द्वारा उपबृंहिता, शारीरकात्मोपकार-लक्षणा, क्षीणोदर्कमुक्तियुता, ज्ञाननिष्ठा का स्वरूप भी कुछ समय पर्य्यन्त तो उपादेय बना रहा। परन्तु आगे जाकर यह निष्ठा भी लोकसंग्रह की महाविरोधिनी बन गई। क्योंकि इसमें व्यक्त सांसारिक कर्म्मों का आत्यन्तिक परित्याग था। यही नहीं, इस निष्ठा के व्याज से लोगों ने आगे जाकर संसार को धोके में डालना आरम्भ कर दिया। ढोंगी सन्यासियोंनें अपने आपको तो धोका दिया ही, किन्तु साथ ही अपने अकर्म्मप्रचार से संसार को भी कर्म्मशून्य बनाना आरम्भ कर दिया।

संकल्पसंन्यास को मूल में रखने वाला यह कर्म्मसन्यास आगे जाकर संकल्पसंन्यास से वञ्चित होता हुआ प्रवृत्ति-मार्ग से भी निकृष्ट बना डाला गया। लुक-छिपकर कर्म्म का भी परिग्रह होने लगा। इसप्रकार स्वार्थियोंनें संन्यासनिष्ठा को सर्वथा ही दूषित बना डाला। इसी कर्म्मत्याग-लक्षणा-दूषित-संन्यासनिष्ठा के लिए भगवान् ने—"**ज्ञानयोगेन योगिनाम्**" यह कहा है। इसी के लिए अरुचि प्रकट करते हुए भगवान् कहते हैं—

न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ १॥
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ २॥
कर्म्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

८९—कर्म्मत्यागात्मिका सांख्यनिष्ठा का भगवान् के द्वारा संशोधन—

संशोधन भगवान् ने यही किया कि, जिस लेपभय से तुम कर्म्म छोड़ना चाहते हो, वह भय निष्काम-कर्म्म के समावेश से भी दूर होसकता है। ऐसा करने से तुह्मारा तो अभ्युदय निश्चत है ही, साथ ही तुह्मारे सहयोग से लोकसंग्रह की भी रक्षा होजायगी। बुद्धियोगयुक्त, कर्म्मसहकृत तुह्मारा यह ज्ञानयोग सभी दृष्टियों से लाभप्रद ही सिद्ध होगा। यही संशोधित ज्ञानयोग "**ज्ञानबुद्धियोग**" कहलाया। इसी का समर्थन करते हुए भगवान् कहते हैं—

काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ १॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्म्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ २॥
अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः॥३॥

९० संशोधन का मूलाधारसूत्र 'वैराग्यबुद्धियोग'—

तीनों लोकनिष्ठाओं का संशोधक, तीनों को बुद्धियोग का स्वरूप प्रदान करने वाला वह संशोधन उपनिषत्-प्रागसिद्ध वही चौथा "**वैराग्यबुद्धियोग**" है, जिसका कि उपबृंहण एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा ही हुआ है। एवं जिसके सम्बन्ध से ही '**गीताशास्त्र-बुद्धियोगशास्त्र**' कहलाया है, जैसाकि पाठक अगले प्रकरण में देखेंगे।

६१-देवयुगानुगता निर्गुणोपासना का संस्मरण—

भगवान् ने किन निष्ठाओं का संशोधन किया ?, शास्त्रसिद्ध निष्ठाएँ जब निर्भ्रान्त थीं, तो उनका संशोधन करने की क्या आवश्यकता हुई ?, इन प्रश्नों के समाधान के लिए ही यह अवान्तर प्रकरण पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया गया। इस प्रकरण का मुख्य लक्ष्य था—"**देवयुगानुगता उपासना का स्वरूप प्रदर्शन**"। यह लक्ष्य भी उक्त प्रकरण के साथ ही गतार्थ है।

६२-युगभेदनिबन्धना--उपासना का स्वरूप--समन्वय, एवं चतुर्थ प्रकरणान्तर्गत प्रथम-अवान्तर प्रकरण की उपरति—

यद्यपि देवयुग, और वेदयुग का पार्थक्य नहीं है। कारण-देवयुग के प्रवर्त्तक ब्रह्मा ने वेद के आधार पर ही देवव्यवस्था व्यवस्थित की थी। फिर भी उपासना के सम्बन्ध से हमें उस एक ही युग के दो भेद मान लेने पड़े हैं। आरम्भ में कुछ समय पर्य्यन्त समानप्रत्ययप्रवाहरूपा निर्गुणोपासना का ही आविष्कार हुआ था। मानस-ध्यान ही उस युग की मौलिक उपासना थी। किन्तु कुछ ही समय पीछे निर्गुणोपासना का स्थान सगुणोपासना ने, किंवा प्रजापत्युपासना ने ग्रहण कर लिया, जैसाकि आगे के प्रकरण में विस्तार से बताया जानेवाला है। "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" ही तद्युगानुगता उपासना का मूल धरातल था। दूसरे शब्दों में—यह भी कहने में कोई आपत्ति न होगी कि, उस युगारम्भकाल में "ईश" नामक व्यापक निर्गुणब्रह्म की ज्ञानात्मिका उपासना ही प्रचलित थी। आगे जाकर इसी 'ईश' ने 'ईश्वर' का आसन ग्रहण कर लिया। **निर्गुण हीं उपासना की सिद्धि के लिए सगुण बन गया। और यह सगुणोपासना ही आरण्यकोपासना (वेदयुगानुगता-उपासना) कहलाई।**

इति--"युगधर्म्मानुगता--विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे

"देवयुगानुगता-निर्गुणोपासना"

नामक

प्रथम--अवान्तर--प्रकरण--उपरत

श्रीः

(२)--वेदयुगानुगता-सगुणोपासना से अनुप्राणित- पारिभाषिक- परिलेख—

"अक्षरोपासना" (षोडशी-प्रजापतिः-ईश्वरः)

ज्ञानानुगतं कर्म्म-एव-उपासना-प्राणात्मिका (ब्रह्म)
सगुणोपासना-ईश्वरोपासना- कर्म्मात्मिका
प्राणमयी-उपासना-क्रियात्मिका

———*———

सोऽयं सगुणोऽक्षरः

- पञ्चकलोऽव्ययोऽक्षरमूर्त्तिः--'मनः'-प्राण एव
- पञ्चकलोऽव्ययोऽक्षरमूर्त्तिः--'प्राणः'--प्राण एव
- पञ्चकलोऽव्ययोऽक्षरमूर्त्तिः--'वाक्'-प्राण एव
- सर्वाधारो निराधारस्तुरीयः---'तत्'-सर्वमेव

} तदिदमक्षरविवर्त्तम्-प्राणविवर्त्तमेव

स एव--कर्म्मणा-उपासितव्यः
वेद्धव्यः-ज्ञेयश्च

———*———

"उपासनं नाम--ज्ञान--कर्म्मणोः समीपे--भागरूपेण--अवस्थानम्"
सैषा--क्रियात्मिका उपासनैव--भक्तिरव्यभिचारिणी
द्वितीया

२

(सोऽयं वेदयुगः--द्वितीयः--सत्ययुगात्मकः)

ब्रह्म
अक्षरः
क्रिया
प्राणः

तदेतत्सर्वं--प्राण एव, अक्षर एव सगुणः
"गुणांश्चैतान्--विद्धि प्रकृति-सम्भवान्"
(प्रकृतिर्हि--अक्षरः)

———*———

१-देवयुगानुगत-निर्गुणोपासनामार्ग
(चतुर्थप्रकरणान्तर्गत-द्वितीय-अवान्तर-प्रकरण)

१

—————*—————

६३-व्यवच्छेदात्मक पाण्डित्य, तदनुप्राणित निश्चित निर्णय, एवं भारतीय उपासनाकाण्ड—

"व्यच्छेदो हि पाण्डित्यम्" इस लक्षण के अनुसार प्रत्येक विषय को विज्ञानदृष्टि से विभक्त कर उसे सुव्यवस्थित कर देना ही पाण्डित्य है। इधर कुछ शताब्दियों से हम यह देख रहे है कि, पण्डितसमाज उक्त पाण्डित्य से प्रायः वञ्चित ही होरहा है। व्यवच्छेदवृत्ति के अभाव से आज का विद्वत्-समाज "इदमित्थमेव" निर्णय करने में सर्वथा ही असमर्थ है। यही दशा हमारे इस 'उपासनाकाण्ड' की है। उपासना का मौलिक स्वरूप क्या है ?, उपासना के विविध स्वरूप क्यों बन गए ?, किस उपासना का कौनसा शास्त्र मूल है ?, उपासना का कौनसा अंश दूषित है ?, इन सब प्रश्नों का वास्तविक समाधान तबतक असम्भव है, जबतक कि मूलसभ्यता से आरम्भ कर अबतक की पारस्थिति का व्यवच्छेददृष्टि से समन्वय न कर लिया जाय।

६४-निर्गुण-सगुणोपासना का तारतम्य-समन्वय, एवं शास्त्राचार की उपेक्षा से सम्भावित महान् स्खलन—

प्रक्रान्त चतुर्थ-प्रकरणान्तर्गत पूर्व के प्रथम अवान्तर-प्रकरण में यह बतलाया गया है कि, "देवयुग में 'निर्गुणोपासना' की ही प्रधानता थी। आगे जाकर इसका स्थान 'सगुणोपासना' ने ग्रहण कर लिया, एवं वही वेदयुगानुगत उपासनामार्ग कहलाया"। इसी के आधार पर आगे जाकर 'पौराणिक भक्तिवाद' का आविर्भाव हुआ। एवं पुराणसमकालिक दर्शनयुग ने तत्त्वरूप से भक्तिमार्ग की व्यवस्था की। सर्वान्त में उक्त चारों ही प्रकारों के वास्तविक उपासनातत्त्व का स्थान प्रचलित भक्तिमार्ग ने अपहृत कर लिया। यद्यपि यह ठीक है कि-"रीझ भजो, या खीज" इस लोकसूक्ति के अनुसार भक्ति का यह विकृतरूप भी आगे जाकर तुष्टिकर ही सिद्ध होता है, तदपि शास्त्रीय निकषा (कसौटी) पर परीक्षित करने से ज्ञान-वैराग्य-पुत्रों से वञ्चिता प्रचलित माता भक्ति एक अवैध भक्ति ही आ ठहरती है। औषधपान अनुपालन के सुव्यवस्थित रखने से ही अधिक उपकारक सिद्ध होता है। अव्यवस्थित तो भोजन भी कभी कभी हानिप्रद ही बन जाता है। इसमें कोई आश्चर्य्य नहीं कि, यदि अव्यवस्थित, अशास्त्रीय भक्तिमार्ग भी अभ्युदय के स्थान में पतन का ही कारण बन जाय।

६५-विविध भेदभिन्न असंख्य-अगणित भक्तिवादों का युगधर्म्मानुबन्ध से पञ्चधा वर्गीकरण—

जब से आर्य्यसभ्यता का मूलस्रोत प्रवाहित हुआ, तब से आरम्भ कर आज की बीसवीं शताब्दी-पर्य्यन्त भक्तिमार्ग में कितने परिवर्त्तन हुए ?, शैव, शाक्त, कापालिक, गाणपत्य, वैष्णव, आदि आदि मान्य-

ताओं के भेद से भक्ति के कितने रूप आविर्भूत, एवं तिरोभूत हुए ?, इन सब विवादों को यदि छोड़कर भक्ति-मार्ग पर दृष्टि डाली जाती है, तो स्थूलरूप से इस सम्बन्ध में हमारे सामने पाँच हीं मार्ग उपस्थित होते है। एवं इन पाँचों मार्गों को हम क्रमशः निम्नलिखित नामों से व्यवहृत करसकते हैं—

१—देवयुगानुगत—भक्तिमार्ग
२—वेदयुगानुगत—भक्तिमार्ग
३—पुराणयुगानुगत—भक्तिमार्ग
४—दर्शनयुगानुगत—भक्तिमार्ग
५—वर्त्तमानयुगानुगत—भक्तिमार्ग

——*——

९६—महारम्भ—शास्त्र से अनुप्राणित भक्तिमार्ग में शास्त्रैकशरणता की ही अनन्यता—

जबकि शास्त्रनिष्ठा ही हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ, एवं सर्वज्येष्ठ प्रमाण है, तो उक्त पाँचों भक्तिमार्गों के लिए भी हमें शास्त्र का ही आश्रय लेना पड़ेगा। महारम्भशास्त्र मे प्रतिपादित भक्तिमार्ग का व्यवच्छेद करते हुए ही पाँचों मार्गों की प्रामाणिकता सिद्ध करनी पड़ेगी। बिना ऐसा किए पाँचों हीं मार्ग केवल कल्पना की ही वस्तु रह जायगी, और उस दशा में इस भक्तिव्याख्या का वही मूल्य रह जायगा, जो कि मूल्य वर्त्तमानजगत् में उत्पन्न होने वाले, **धर्म्म-कर्म्म-ज्ञान-भक्ति** आदि के निर्णय के सम्बन्ध में केवल अपनी बुद्धि को श्रेष्ठ प्रमाण मानने वाले, सनातनशास्त्रों में परिवर्त्तन चाहने वाले, शास्त्रविरोधी व्यक्तियों के द्वारा निर्णीत कल्पित मार्ग का है।

९७—भक्ति—मार्गानुबन्धी उपास्य—उपासक, एवं उपासना—साधन—त्रयी का संस्मरण—

भक्ति के सम्बन्ध में यह विशेषरूप से ध्यान देने की बात है कि, इस मार्ग में **द्वैतभाव** की ही प्रधानता है। "**उपास्य—उपासक—उपासनासाधन**", इन तीन पर्वों के समन्वय से ही "**भक्ति**" का स्वरूप निष्पन्न होता है। शास्त्रों का चरम लक्ष्यभूत **अखण्ड, अद्वय, निर्गुण, निराकार, निरञ्जन, सर्वव्यापक आत्मब्रह्म** उक्त तीनों पर्वों से बहिर्भूत होता हुआ सर्वथा अनुपास्य ही है। व्यापक आत्मदृष्टि में **उपास्य—उपासक** का भेद सर्वथा अनुपपन्न है। फलतः उस व्यापक आत्मदृष्टि से न कोई उपास्य है, न कोई उपासक है, एवं न उपासना का साधन ही है।

९८—द्वैतभावनिबन्धन भक्तिमार्ग—

'मनोयोग' को उपासना मानिए, अथवा शङ्करपरिभाषानुसार **समानप्रत्ययप्रवाहरूप** 'ध्यानयोग' को उपासना कहिए, उभयथा इस योग के लिए द्वैतभाव को ही आधार बनाना पड़ेगा। यही कारण है कि,

ज्ञानयोगदृष्टि को प्रधान मानने वाले भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य्य ने ज्ञानदृष्टि से जहाँ "अहं" और "असौ" (जीव और ईश्वर) का अभेद माना है, वहाँ भक्तिमार्ग की दृष्टि से उन्होंने भी इन दोनों का भेद ही आवश्यक समझा है, जैसाकि उनकी इस सूक्ति से स्पष्ट है—

यद्यपि भेदापगमे नाथ ! तवाहं, न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः, क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥

९९–भक्तिमार्ग–निबन्धन द्वैतभाव की स्वरूप-मीमांसा, तत् प्राणप्रतिष्ठारूपा अद्वैत-निष्ठा, एवं तत्सम्बन्ध में आर्ष–वचनों का संस्मरण—

भक्तिमार्गानुबन्धी इस भेदवाद का मूल रहस्य यही है कि, हमारा **मन**, एवं **बुद्धि**, दोनों हीं परिच्छिन्न हैं, ससीम हैं, परिमित हैं । इनका योग किसी परिच्छिन्न, ससीम, एवं परिमित तत्त्व के साथ ही सम्भव है । उधर वह मायातीत अद्वयब्रह्म अपरिच्छिन्न, असीम एवं अपरिमित है । अतएव वहाँ न हमारा सीमित मन पहुँच सकता, एवं न सीमित बुद्धि का ही वहाँ गमन सम्भव । हम हमारे **मानस ज्ञान** से, **विज्ञानज्ञान से**, एवं वाणी से जिस आत्मा के ज्ञान एवं यशोगान का अभिमान करते हैं, वह **सगुण–साकार–सावच्छिन्न–ससीम एवं परिमित आत्मा ही है** । **निर्गुण–निराकार–अनवच्छिन्न तत्त्व तो हमारे विज्ञानज्ञान–प्रज्ञानज्ञान–श्रोत्र–वाक्** आदि सब परिग्रहों से बहिर्भूत ही है । उसी की अनुपास्यता, एवं अनिर्वचनीयता बतलाते हुए निम्नलिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं—

१–"न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, न मनः, न विद्मः, न विजानीमः, यथैतदनुशिष्यात् । अन्यदेव तद्विदितात् , अथो अविदितादधि । इति शुश्रुम धीराणां ये न स्तद्व्याचचक्षिरे" ।
२–यद्वाचानभ्युदितं, येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥
३–यस्यामतं–तस्य मतं, मतं यस्य–न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम् ॥
४–संविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

१००–निराकार–साकार–भेद भिन्ना–औपासनिकी तत्त्वमर्य्यादा, अनुपास्य निराकार, एवं उपास्य सगुणप्रजापति का संस्मरण—

"नेदं यदिदमुपासते" इस वचन ने 'ज्ञेय' (तटस्थ लक्षण से ज्ञेय, किन्तु स्वरूपतः सर्वथा अविज्ञेय), एवं 'उपास्य' दोनों का सर्वथा पार्थक्य ही सिद्ध किया है । यही वचन यह सिद्ध करने के लिए भी पर्य्याप्त

प्रमाण है कि, **निराकार सर्वथा अनुपास्य ही है**। हम जिस की उपासना करते हैं, वह उस व्यापक निराकार से सर्वथा भिन्न ही तत्त्व है। फलतः जो महानुभाव द्वैतमूला सगुणोपासना की उपेक्षा करते हुए **निराकार की उपासना** का अभिमान करते हैं, पद पद पर **निरञ्जन–निराकार** का यशोगान करते हुए शास्त्रसिद्धा–सगुणोपासना पर आक्षेप करते हैं, वे बालिश अवश्य ही दया के पात्र है।

१०१–आत्मा–प्राण–पशु–समष्ट्यात्मक उपास्य सगुणेश्वर का संस्मरण—

वक्तव्यांश यही है कि, उपासना व्यापक निर्गुण की नहीं होती। होती है एकमात्र सगुण ब्रह्म की, द्वैतमूलक संसारप्रवर्त्तक विश्वेश्वर प्रजापति की। आगे जाकर तो पाठक यह भी देखेंगे कि, वस्तुतः उपासना ईश्वर (सगुणब्रह्म) की भी नहीं होसकती। ईश्वरप्रजापति के आत्मा (सगुणात्मा)–प्राण–पशु, ये तीन विवर्त्त हैं। इन तीनों में आत्मा "ईश्वर" है। प्राण 'ईश्वर की विभूति' है, यही 'देवता' है। एवं पशु 'भौतिक संसार' है। पशुरूप भौतिक संसार अर्थप्रधान है, कर्म्मप्रधान है। आत्मरूप ईश्वर ज्ञानप्रधान है। एवं प्राणरूप देवता उभयरूप है।

१०२–अध्यात्म–अधिदैवत–अधिभूत–निबन्धन उपासक–उपास्य–उपासना–साधन–भावत्रयी का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

यह बतलाया जाचुका है कि, ज्ञानयोग ज्ञानप्रधान है, कर्म्मयोग कर्म्मप्रधान है, एवं मध्यस्थ भक्तियोग में ज्ञान-कर्म्म दोनों का समन्वय है। फलतः सिद्ध होजाता है कि, ज्ञानयोग की आत्मस्वनभूमि आत्मेश्वर है, कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा भौतिक विश्व है। एवं भक्तिनिष्ठा का अन्यतम आधार प्राणदेवता है। ज्ञान ईश्वर का ही होता है, कर्म्म संसार से ही सम्बन्ध रखता है, एवं उपासना, किंवा भक्ति मध्यस्थ देवता की ही होती है। सभी विषयों का आगे के प्रकरणों में विस्तार से स्पष्टीकरण होने वाला है। प्रकृत में केवल यही वक्तव्य है कि, आत्मतत्त्व के विश्व-विश्वातीत, ये दो विवर्त्त हैं। इन में विश्वातीत सर्वथा अनुपास्य है, अविज्ञेय है, एवं विश्वब्रह्म ही सगुणब्रह्म बनता हुआ उपास्य बनता है। तथा सगुणब्रह्मोपासनाकाण्ड में न केवल भगवत्पाद माध्वाचार्य्य-सम्मत द्वैतवाद ही, अपितु भगवत्पाद रामानुजाचार्य्य-सम्मत "ईश्वर–जीव–जगत्" इस त्रित्ववाद की ही प्रधानता है। ईश्वर आधिदैविक तत्त्व है, जगत् आधिभौतिक तत्त्व है, एवं जीव आध्यात्मिक तत्त्व है। आधिभौतिक जगत् उपासनासाधन है, आधिदैविक ईश्वर उपास्य है, एवं आध्यात्मिक जीव उपासक है। "इस के द्वारा यह वहाँ युक्त होजाता है" यही उपासनाकाण्ड है। ज्ञानयोग साध्य–साधनापेक्षया उभयथा जहाँ आधिदैविक है, कर्म्मयोग साध्य–साधनापेक्षया उभयथा जहाँ आधिभौतिक है, वहाँ हमारे इस उपासनाकाण्ड में साध्य आधिदैविक है, साधन आधिभौतिक है, एवं साधक आध्यात्मिक (जीव) है। "अध्यात्म (जीव) अधिभूत-(जगत्)-साधनों से अधिदैवत (ईश्वर) का भाग बन जाय" यही भक्तिनिष्ठा का निष्कर्ष है, जैसा कि आगे के परिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

१०३-देवयुगानुगता निर्गुणोपासना की ज्ञानैकप्रवणता, एवं तत्सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति-परम्पराएं—

पूर्वप्रतिपादित देवयुगानुगत भक्तिमार्ग--परिच्छेदों में हमने यह कहा है कि, उस युग की उपासना "निर्गुणोपासना" ही थी। परन्तु इन परिच्छेदों में यह कहा जारहा है कि-**निर्गुण की उपासना बन ही नहीं सकती**। यह पूर्वापर--विरोध कैसा ?, एक विप्रतिपत्ति । एक ही शास्त्रने भक्ति के सम्बन्ध में अनेक मार्ग किस आधार पर बतलाए, जब कि सनातन सत्यमार्ग सदा एक ही होता है ?, दूसरी विप्रतिपत्ति। मौलिक भक्तिमार्ग किन कारणों से अनेक रूपों में परिणत होगया ?, तीसरी विप्रतिपत्ति। इन्हीं कतिपय विप्रतिपत्तियों के निराकरण के लिए निम्नलिखित सन्दर्भ उपक्रान्त होरहा है। अवधानपूर्वक दृष्टि-निक्षेपानुग्रह से किसी भी विप्रतिपत्ति का महत्त्व शेष नहीं रह जाता। फलतः शास्त्रविरोध का यथापूर्व समन्वय होजाता है, संशयात्मक सभी झञ्झावात विलीन होजाते हैं।

१०४-उपास्यतत्त्व का पावन संस्मरण, तदनुप्राणिता अद्वैतनिष्ठा, एवं तत्समर्थक-श्रुतिसन्दर्भ--

उपासनाकाण्ड के पाँच मार्गों के समन्वय से पहिले हमें 'उपास्यतत्त्व' का ही विचार करना पड़ेगा। उपास्य का स्वरूप ही इस विप्रतिपत्ति के निराकरण का मूलाधार माना जायगा। ईश्वर-आत्मा-ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-वरुण-अग्नि-मातरिश्वा--महेश--दुर्गा-गणेश--सूर्य्य--चन्द्रमा--ओङ्कार--राम-कृष्ण-इत्यादि रूप से उपास्य देवताओं के अनेक नाम सुने जाते हैं, एवं इस नाम--भेद से ही उपासनामार्ग विभिन्न भी बन रहे हैं। इस में कोई सन्देह नहीं कि-"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" * इत्यादि ऋङ्मन्त्र के अनुसार उक्त सभी उपास्य उस एक ही तत्त्व के अनेक विवर्त्त हैं। अतएव यह भी निःसंदिग्ध है कि, इन उपास्यों में से किसी एक रूप की उपासना करता हुआ भी उपासक परम्परया उसी तत्त्व की उपासना कर रहा है, जैसा कि निम्नलिखित श्रौत-स्मार्त्त-वचनों से स्पष्ट है—

१--स यथेमा नद्यः यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते, एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्य-अस्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। स एषोऽकलोऽमृतो भवति" (प्रश्नोपनिषत्)

२—येप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय !। यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ (गीतोपनिषत्)

---

*—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति—"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्"॥
---ऋक्संहितायाम्

१०५–उपास्यदेवता के विभिन्न विवर्त्त—

अब हमारे सामने प्रमुख प्रश्न केवल यही शेष रह जाता है कि, वह एक तत्त्व कौन है, एवं कैसा है, जिसके कि ये अनेक उपास्य–विवर्त्त बन जाते हैं। इन सब प्रश्नों का **सम्यक् दर्शन-सम्यक्-ज्ञान-सम्यक् चारित्र्य भूमिका द्वितीय खण्डान्तर्गत 'आत्मपरीक्षाप्रकरण' से** गतार्थ है। अतः यहाँ उस विषय के पिष्टपेषण की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रकरणसङ्गति के लिए दो शब्दों में उस **आत्म-स्वरूप** का सिंहावलोकनमात्र ही कर लिया जाता है।

१०६–निर्गुण ब्रह्म की परिग्रहानुगता सगुणता का समन्वय—

सर्वज्ञविशिष्ट (सर्वकर्म्मविशिष्ट) रसमूर्त्ति (ज्ञानमूर्त्ति) तत्त्व ही "परात्पर" "परमेश्वर" "विश्वातीत" "अनुपाख्यब्रह्म" "निर्गुणब्रह्म" "निराकार" "निरञ्जन" "अद्वय" "अखण्ड" "प्रविविक्त" इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध है। यही निर्गुण विश्वातीत ब्रह्म परिग्रहों से युक्त होकर (अंशरूप से) सगुण बन जाता है।

१०७–सगुणताप्रवर्त्तक षड्विध (६) परिग्रहों का नाम-स्मरण—

परिग्रह ही उस **निर्धर्म्मक** को **सर्वधर्म्मोपन्न** प्रमाणित कर देते हैं। वे परिग्रह षट्संख्याओं से परिगणित (गिने गिनाए) हैं, एवं वे ६ परिग्रह क्रमशः १–**माया**, २–**कला**, ३–**गुण**, ४–**विकार**, ५–**अञ्जन**, ६–**आवरण** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन ६ परिग्रहों के सम्बन्ध से उस एक ही विश्वातीत के षड्विध (६) विश्वरूप होजाते हैं। माया से युक्त मायी तत्त्व ही "**अव्यय**"[1] कहलाता है। कला से युक्त मायी अव्यय ही "**षोडशीप्रजापति**"[2] (षोडशीपुरुष) कहलाता है। गुण से युक्त षोडशीप्रजापति ही "**सत्य-प्रजापति**"[3] [**वेदसत्यात्मक**] कहलाता है। विकार से युक्त सत्यप्रजापति ही "**यज्ञप्रजापति**"[4] [**शुक्रात्मक**] कहलाता है। अञ्जन से युक्त यज्ञप्रजापति ही "**विराट्प्रजापति**"[5] [**देवसत्यात्मक**] कहलाता है। एवं आवरण से युक्त विराट्प्रजापति ही "**विश्व**"[6] [**पाञ्चभौतिक, सप्तवितस्तिरूप, त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप विश्व**] कहलाता है।

१०८–षट्परिग्रहभेद से सगुणप्रजापति के विभिन्न ६ स्वरूप—

विश्वदृष्टि से वही तत्त्व **अव्यय**[1]-**षोडशी**[2]-**सत्य**[3]-**यज्ञ**[4]-**विराट्**-[5]**विश्व**[6] इन ६ रूपों के समन्वय से षट्कल है। विराट् दृष्टि से वही **अव्यय**[1]–**षोडशी**[2]–**सत्य**[3]–**यज्ञ**[4]-**विराट्**[5] इन पाँच रूपों के समन्वय से **पञ्चकल**[2] है। यज्ञदृष्टि से वही **अव्यय**[1]–**षोडशी**[2]–**सत्य**[3]–**यज्ञ**[4] इन चार रूपों के समन्वय से **चतुष्कल**[3] है। सत्यदृष्टि से वही **अव्यय**[1]–**षोडशी**[2]–**सत्य**[3] इन रूपों के समन्वय से **त्रिकल**[4] है। षोडशीदृष्टि से वही **अव्यय**–[1]**षोडशी**[2] इन दो रूपों के समन्वय से **द्विकल**[4] है। विशुद्ध अव्ययदृष्टि से वही अकल है। एवं परात्परदृष्टि से वही सब कुछ है भी, सब कुछ नहीं भी है।

१०९–अत्यन्त-विलक्षण-परिग्रहविशिष्ट प्रजापति का आश्चर्य्यमय-समन्वय-प्रयास—

कैसा विलक्षण समन्वय है, कैसा अनिर्वचनीय सम्बन्ध है, जिसके सम्बन्ध में सबकुछ कह सकते हैं, एवं कुछ भी नहीं कह सकते। थोड़ा भी कह सकते हैं, एवं बहुत भी। क्या कहें, कुछ कहते भी नहीं बनता, बिना कहे भी रहा नहीं जाता। यह कहें कि वह, इसे सच माने, अथवा उसे, सब कुछ सच, सब कुछ अस्तव्यस्त। यह भी वही है, तो वह भी यही है। न यह वह है, न वह यह है। 'ना' भी वही है, 'हाँ' भी वही है। न वह 'ना' है, न वह 'हाँ' ही है। वह 'ना' भी है

तो 'हाँ' भी है। आत्मब्रह्म के इस अनिर्वचनीय विवर्त्त के सम्बन्ध में मानवीय मन इत्थंभूता अलग्ला अस्तव्यस्ता वाणी के प्रयोग के अतिरिक्त और कर भी क्या सकता है ?। सब से अच्छा तो यही होगा कि, तटस्थरूप से लीलाधर की लीला पर आश्चर्य्य ही करते रहें हम निरन्तर यावज्जीवन, और तत्सम्बन्ध में कहें कुछ भी नहीं। यदि काममय मन के स्वाभाविक चाञ्चल्य से कुछ तो भी कहने की आकुलाता ही हो, तो अधिक से अधिक "नेति-नेति" मात्र ही कहदें--"नेति नेति कहि वेद पुकारा" (देखिए ! गीताभूमिका-'आत्मपरीक्षात्मक' द्वितीयखण्ड के 'क' विभाग का-'दार्शनिक-दृष्टि से आत्मपरीक्षा' नामक अवान्तर प्रकरण)।

११०-सगुणात्मविवर्त्त-समन्वयः (परिलेखात्मकः)—

निर्गुणआत्मा—परात्परः
विश्वातीतः सर्वातीतः सर्वरूपः

परा						
	१ १-अव्ययः					
	१ २-अव्ययः	२ षोडशी				
	१ ३-अव्ययः	२ षोडशी	३ सत्यप्रजापतिः			
	१ ४-अव्ययः	२ षोडशी	३ सत्यप्रजापतिः	४ यज्ञप्रजापतिः		
	१ ५-अव्ययः	२ षोडशी	३ सत्यप्रजापतिः	४ यज्ञप्रजापतिः	५ विराट्प्रजापतिः	
	१ ६-अव्ययः	२ षोडशी	३ सत्यप्रजापतिः	४ यज्ञप्रजापतिः	५ विराट्प्रजापतिः	६ विश्वम्
विश्वम्	१-अव्ययः	२-षोडशी	३-सत्यप्रजापतिः	४-यज्ञप्रजापतिः	५-विराट्प्रजापतिः	६-विश्वम्

स गु णा त्म वि व र्त्त म्

१११–षड्विध-परिग्रह-समन्वयः (परिलेखात्मकः)—

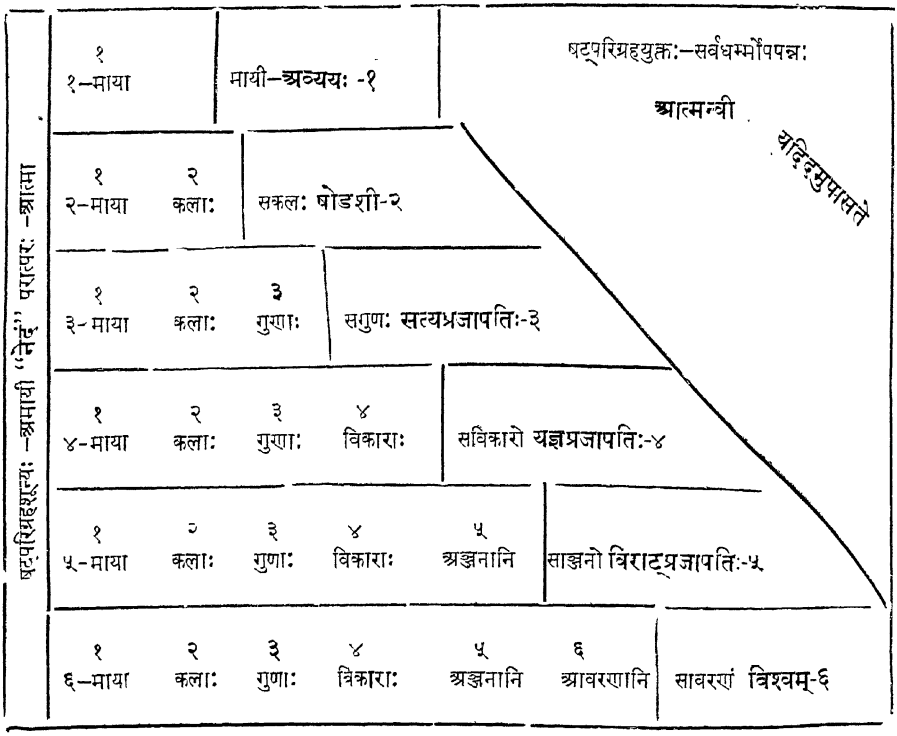

११२–अभिन्न-विद्युद्यन्त्र से सञ्चालित भिन्न भिन्न तन्त्र, एवं अभिन्न-आत्मतन्त्र से सञ्चालित नानाभेद-भिन्न प्राकृतिक-विवर्त्त—

एक ही विद्युद्-यन्त्र, परन्तु उससे सञ्चालन असंख्य कार्य्यों का। रेल, तार, टेलीफोन, वायरलेस-टेलीग्राफी, रेड़ियो, वायुयान, जलयान, फोनोग्राफ, पुतलीघर, जलाकर्षण, लाइट, प्रेस, पनचक्की, आदि आदि सभी तो उस एक ही विद्युद्-यन्त्र से सञ्चालित हैं। इन सभी विविध कर्म्मों का एकमात्र विद्युद्-यन्त्र ही तो मूलाधार है। उस एक ही पर तो ये नाना कर्म्म प्रतिष्ठित हैं। उक्त किसी कर्म्म का यदि वास्तविक रहस्य जानने की इच्छा होती है, तो इसकी सम्यक् पूर्त्ति के लिए पहिले उस विद्युद्-यन्त्र का रहस्य जान लेना परमावश्यक होजाता है। कारण–सभी कर्म्मों का वही विद्युद्-यन्त्र मूलस्रोत बना हुआ है।

११३–सर्वाधारात्मक स्वाधारभूत निराधार आत्मतन्त्र की सर्वव्याप्ति, एवं तदनुगता सर्वतन्त्रानुप्राणिता जिज्ञासा—

ठीक यही स्थिति विद्युद्-यन्त्र-स्थानीय उस सर्वाधार (किन्तु स्वयं स्वाधार, अतएव निराधार) एक आत्मा के, एवं इतर आविष्कार-स्थानीय इतर विवर्त्तों के सम्बन्ध में समझिए। "सर्वेषामेकायतनम्" इस सिद्धान्त के अनुसार वही उक्त ६ ओं विवर्त्तों का मूलाधार है। न केवल इन्हीं का, अपितु—ज्ञान-कर्म्म-यज्ञ-तप-दान-इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-इत्यादि जितने भी वैदिक-लौकिक-शास्त्रीय-अशास्त्रीय प्रपञ्च हैं, सब का मूल आधार वही एक तत्त्व है। फलतः इन सबमें से जिसकी भी स्वरूप-जिज्ञासा होगी, प्रत्येक के आरम्भ में उसका विवर्त्तज्ञान आवश्यकरूपेणैव संस्मरणीय होगा।

११४–प्रक्रान्त उपासनात्मक-भक्तियोग के अनुबन्ध से सर्वाधारभूत आत्मतन्त्र का अनिवार्य्य संस्मरण, एवं काल्पनिकों के काल्पनिक आक्षेप का निरसन—

जब वह सबके मूल में प्रतिष्ठित है, तो हमारा उपासनाकाण्ड भी उससे कैसे वञ्चित रहसकता है?। फलतः उपासना के पाँचों विवर्त्तों के मौलिक रहस्य के परिज्ञान के लिए भी उसी मूलतत्त्व के विस्तार का परिज्ञान आवश्यक बन जाता है। ऐसी दशा में यदि कोई यह आक्षेप करे कि—निबन्ध-निबन्धा (लेखक) "पद पद पर उसी अव्यय-अक्षर-की गाथा गाकर समय नष्ट कर रहा है" तो इस आक्षेप का कोई मूल्य नहीं रह जाता। आप तो उपासना के लिए कहते हैं। हमारा तो यह भी विश्वास है कि, यदि कोई यह जिज्ञासा करे कि-"सूर्य्योदय से पहिले क्यों उठना चाहिए?, यज्ञोपवीत क्यों धारण करना चाहिए?, सन्ध्या क्यों करनी चाहिए"?, तो इन प्रश्नों के समाधान के लिए भी उसी मूलात्मा के स्वरूप को आगे रखना पड़ेगा। यही कारण है कि, पूर्वप्रकरणों में प्रत्येक विषय के साथ हमें भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से उसी मूलतत्त्व का स्वरूप बतलाना पड़ रहा है, और आगे भी आवश्यकतानुसार उसका अवश्य ही आश्रय लिया जायगा। वही मर्य्यादा प्रस्तुत उपासनाकाण्ड में भी उसीके स्वरूपोपबृंहण की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है।

११५–'एतत्' रूप विश्व के आधारभूत 'तत्' रूप विश्वात्मा की मनः-प्राण-वाग्-निबन्धना ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तित्रयी का पावन संस्मरण—

'उसे' पहिचाने के लिए 'इसे' पहिचाना पड़ेगा, एवं 'इसे' पहिचाने के लिए 'उसे' ध्यान में रखना पड़ेगा। 'इसका' अर्थ है-"विश्व", एवं 'उसका' अर्थ है "आत्मा"। 'यह' कार्य्य है, तो 'वह' कारण है। कार्य्यस्वरूप से कारणस्वरूप का अनुमान लगा लेना दार्शनिक-सम्प्रदाय का भी सर्वसम्मत सिद्धान्त है। कार्य्यरूप विश्व में हम ज्ञान-क्रिया-अर्थ, इन तीन विवर्त्तों का साक्षादूरूप से अनुभव, एवं प्रत्यक्ष कर रहे हैं। ज्ञान-क्रिया का तो अनुभव होता है, एवं अर्थ का प्रत्यक्ष होता है। कार्य्यविश्व के इन्हीं अनूभूत, दृष्ट-तीनों भावों के आधार पर हमें यह अनुमान लगा लेना पड़ता है, कि अवश्य ही कारणरूप तत्त्व में ऐसी कोई तीन शक्तियाँ होंगीं, जिनसे कि कार्य्यरूप विश्व की इन तीन शक्तियों की अभिव्यक्ति हुई। 'विश्वज्ञान' का आधार वही कारणपर्व "मन" नाम से प्रसिद्ध है। 'विश्वक्रिया' का आधार वही

कारणपर्व "प्राण" नाम से, एवं 'विश्वार्थ' का आधार वही कारणपर्व "वाक्" नाम से प्रसिद्ध है। मनःप्राणवाङ्मय कारणतत्त्व ही ज्ञान-क्रिया-अर्थमय कार्य्यविश्व की आधारभूमि है। वही इस विश्व का आत्मा है, जैसाकि-"स वा एष आत्मा वाङ्मय, प्राणमयो, मनोमयः" इत्य दि औपनिषद-सिद्धान्त से स्पष्ट है।

११६-विश्वातीत-निष्कल-'परात्परात्मा' की षट्परिग्रह-निबन्धना-मायानुगता-'सकलता', एवं निष्कलता का संस्मरण—

जैसाकि आरम्भ में कहा गया है, विश्वतीत आत्मा निष्कल है। प्रश्न स्वाभाविक है कि, वह निष्कल त्रिकल कैसे बन गया ?। उत्तर वे ही माया-कला-गुण-आदि ६ परिग्रह हैं। इन परिग्रहों में "माया" नाम का परिग्रह ही सर्वादि, सर्वज्येष्ठ, एवं सर्वश्रेष्ठ है। इसके उदय से ही वह असीम अंशतः समीम बन कर 'अव्ययपुरुष' कहलाने लगता है। केवल मायामय, अतएव 'मित' (परिमित) वही तत्त्व सर्वथा 'अकल'-किंवा निष्कल "अव्ययपुरुष" है।

११७-मायापरिग्रह-युक्त 'मायी' अव्यय की सगुणारूपता का दिग्दर्शन, एवं तत्त्व-दृष्ट्या मायी अव्यय की अनादित्वनिबन्धना 'निर्गुणता' का समन्वय—

यदि माया को भी एकप्रकार का 'गुण' ही मान लिया जाता है, तब तो वह 'मायी अव्यय' भी 'सगुण आत्मा' कहला सकता है। परन्तु वस्तुतः 'गुण' तीसरा परिग्रह है, एवं इसका उदय 'योगमाया-मय' तीसरे 'सत्यप्रजापति' में हीं होता है। "योगत्रयी का मौलिक रहस्य" नामक द्वितीय प्रकरण में यह विस्तार से बतलाया जाचुका है कि, 'महामाया' का अक्षर से सम्बन्ध है, एवं योगमाया का क्षर से सम्बन्ध है। अव्यय का स्वरूप-सम्पादन करने वाली महामाया गुणातीता (विशुद्ध सत्त्वात्मिका-जिसके कि आधार पर ही वाल्लभों का शुद्धाद्वैतसम्प्रदाय प्रतिष्ठित है) है। एवं क्षरात्मिका योगमाया ही त्रिगुणभाव की जननी बनती हुई 'यज्ञ-विराट्' के द्वारा विश्वस्वरूप की सम्पादिका बनती है। इस दृष्टि से हम केवल महा-मायावच्छिन्न अव्ययपुरुष को (सीमाभाव से सगुण होते हुए भी) गुत्रत्रय से बहिर्भूत बने रहने के कारण 'निर्गुण' ही कहेंगे, जैसाकि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥
—गीता

११८-'सर्वान्तरतम'-'श्वोवसीयस्-मनो-मूर्त्ति निर्गुण अव्ययात्मा की अक्षरप्रकृति-निबन्धना मनःप्राणवाङ्मयता का संस्मरण—

मायाजनित सीमाभाव के उदयकाल में हीं सीमाभाव का नित्यसहचारी 'हृदयबल' उद्बुद्ध होजाता है। हृदयावच्छिन्न मायामय वही अव्यय "मन" (श्वोवसीयस्' नामक 'अव्ययमन', 'सर्वान्तरतममन') कहलाने लगता है। आगे जाकर हृदयबलरूपा क्षरयुक्ता 'अक्षरप्रकृति' के व्यापार से वही मन प्राणवाङ्मय

बनता हुआ त्रिकल बन जाता है। इसप्रकार केवल मायाबल ही अक्षर-क्षर के सहयोग से अकल, मनोमय उस 'अव्यय' को मनः-प्राण-वाङ्मय-बना डालता है।

११९-प्रकृतिनिबन्धन अक्षरभाव के अनुबन्ध से अव्यायत्मा की ही अव्यय-अक्षर-क्षर-भेदनिबन्धना सांस्थात्रयी का क्रमानुगत-समन्वय—

इन तीनों में-प्रत्येक के तीन तीन विवर्त्त गिनाते हैं स्वयं अव्ययमन के वे तीनों विवर्त्त[1] आनन्द-[2]विज्ञान-[3] मन (अन्तर्म्मन), इन नामों से प्रसिद्ध है। यही मौलिक 'अव्ययात्मसंस्था है', ये तीनों 'मनोमय अव्यय' के ही तीन विवर्त्त हैं, अतएव इसे हम-"मनःसंस्था" भी कहसकते हैं। हृदयबलात्मक पञ्चकल अमृता-प्रकृतिरूप अक्षर का प्राणविवर्त्त से सम्बन्ध है। इस 'अक्षरप्राण' के तीनों विवर्त्त 'मन (बहिर्म्मन]-प्राण-वाक् इन नामों से प्रसिद्ध हैं। यही दूसरी 'अक्षरात्मसंस्था' है। ये तीनों प्राण-मय अक्षर के ही तीन विवर्त्त हैं, अतएव इसे हम "प्राणसंस्था" कहसकते है। हृदयबलात्मक, पञ्चकल, मर्त्या-प्रकृतिरूप आत्मक्षर का 'वाग्विवर्त्त से सम्बन्ध है। इस 'क्षरप्राण' के तीनों विवर्त्त "वाक्-आपः-अग्निः" इन नामों से प्रसिद्ध है। यही तीसरी 'क्षरात्मसंस्था' है। तीनों वाङ्मय क्षर के ही तीन विवर्त्त हैं, अतएव इसे हम "वाक्संस्था" कहसकते हैं।

१२०-कामरेतोमय मनोमूर्त्ति अव्ययात्मा के त्रिवृद्भावापन्न--मनः--प्राण-वाग्--विवर्त्तों का स्वरूप--समन्वय, एवं निष्कल--मायी की पञ्चकलोपेतता का दिग्दर्शन—

तात्पर्य्य यही हुआ कि, मायामय 'अव्ययमन' आरम्भ में अक्षर के सम्बन्ध से होने वाली 'चिति' से प्राणमय बनता हुआ 'द्विकल' बना, एवं क्षर के सम्बन्ध से होने वाली चिति से वाङ्मय बनता हुआ 'त्रिकल' बना। आगे जाकर प्रकृतिजन्य त्रिवृद्भाव के कारण इसकी तीनों कलाएँ मनः प्राण-वाक्, इन तीन तीन भावों से युक्त बनतीं हुईं ९ संख्या में परिणत होगईं। इनमें त्रिवृन्मन स्वयं अव्ययपुरुष रहा, त्रिवृत्प्राण अक्षर रहा, एव त्रिवृत्-वाक् क्षर रही। त्रिवृन्मनोमय अव्यय का मनोभाग आनन्द, प्राणभाग विज्ञान, एवं वाग्भाग मन कहलाया। इस वाङ्मय मन के गर्भ में कामना का साम्राज्य रहा, जैसाकि "कामस्तदग्रे समवर्त्ताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्" इत्यादि * मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इसी कामना से वाङ्मय मन ने (अव्ययमन ने) अपने ऊपर 'बल' की 'बहिश्चिति' की। वह चिति "प्राण-वाक्" इन दो भागों में विभक्त हुई। इसप्रकार आनन्द-विज्ञान-गर्भित कामनामय वाग्रूप मन ही मन-प्राण-वाग्रूप में परिणत होता हुआ तीन के स्थान में 'पञ्चकल' बन गया।

---

*--कामस्तदग्रे समवर्त्ताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥
--ऋक्संहिता।

१२१ आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाग्-भेदेन पञ्चकोशात्मक अव्ययात्मा, तन्नि-बन्धना मुमुक्षा-सिसृक्षा, तदनुप्राणिता निवृत्ति-प्रवृत्ति, एवं सृष्टिसाक्षी, तथा मुक्तिसाक्षी अव्ययात्मा का संस्मरण—

यही पञ्चकल अव्यय उपनिषदों में पञ्चकोशमय (आनन्दमय-विज्ञानमय-मनोमय-प्राणमय-वाङ्मय-अन्नमय)-ब्रह्म कहलाया। इसके पाँच कोश निवृत्तिकामना-प्रवृत्तिकामना के भेद से दो रूपों में परिणत होगये। काममय मन का निवृत्तिभाव 'सृष्टिनिवृत्ति' (बन्धनविमुक्ति) का कारण बना, एवं काममय मन का प्रवृत्तिभाव 'सृष्टिप्रवृत्ति' [बन्धनप्रवृत्ति] का कारण बना। आनन्द-विज्ञान-मनोमय वही अव्यय मुक्तिसाक्षी बनता हुआ मुमुक्षाका आलम्बन बना, एव मनःप्राणवाङ्मय वही अव्यय सृष्टिसाक्षी बनता हुआ 'सिसृक्षा' का अधिष्ठान कहलाया। मुक्तिसाक्षी अव्यय 'विद्यामूर्त्ति' कहलाया, एवं सृष्टिसाक्षी अव्यय 'कर्म्ममूर्त्ति अव्यय कहलाया। सर्वथा यह स्मरण रखने की बात है कि, अव्यय के ये पाँचों रूप मनोमय बनते हुए ज्ञानप्रधान ही हैं। एवं इसके मनः-प्राण-वाक्, ये तीनों सृष्टिसाक्षीरूप वाङ्मय मन के ही तीन विवर्त्त हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट होजाता है।

१२२—अव्ययात्मसंस्थान-समन्वयः-परिलेखात्मकः—

१—१-मनोमयं मनः—आनन्दः (ज्योतिर्म्मयः)]—[१] मनोमयं मनः (आनन्दः) (मनः)]

२—२-मनोमयः प्राणः—विज्ञानम् (विकासमयम्]—[२] मनोमयः प्राणः (विज्ञानम्) (मनः)

३—३-मनोमयी वाक्—मनः (निवृत्तिकाममयम्)]
४-वाङ्मयं मनः—मनः (प्रवृत्तिकाममयम्)]—[३] मनोमयी वाक् (मनः) (मनः)]—"मनः" (ज्ञानम्)

४—५-वाङ्मयः प्राणः—(तपोमयः)

५—६-वाङ्मयी वाक्—(श्रममयी)]

———०———

१२३-अक्षरात्मासंस्थान-समन्वयः-परिलेखात्मकः—

यह तो हुआ मनः-प्राण-वाग्रूप (आनन्द-विज्ञान-मनोमय) मनोरूप अव्ययात्मा का संक्षिप्त निदर्शन। अब कृपप्राप्त प्राणमय अक्षर पर दृष्टि डालिए। अक्षर पर अव्यय के त्रिवृत्-प्राण का अनुग्रह होता है। इन में प्राणमय मन अमृत-ब्रह्माक्षर का अनुग्राहक बनता है, प्राणमय प्राण अमृत-इन्द्राग्नि-अक्षरों का अनुग्राहक बनता है, एवं प्राणमयी वाक् अमृत-अग्नि-सोमाक्षरों की अनुग्राहिका बनती है। इस-प्रकार पञ्चकल अक्षर में त्रिवृत्प्राण का उपभोग सिद्ध होजाता है।

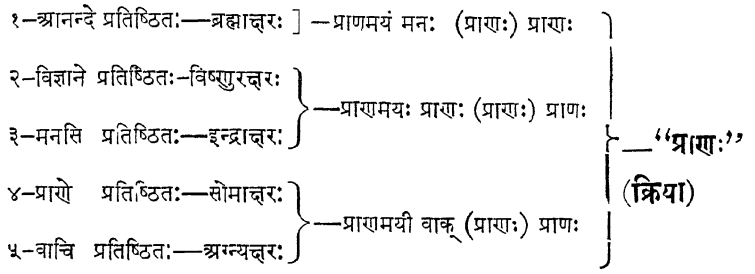

—o—

१२४–क्षरात्मसंस्थान-समन्वयः-परिलेखात्मकः—

अक्षर के अनन्तर है **वाङ्मय क्षर**। इस आत्मक्षर पर अव्यय की त्रिवृता वाक् का अनुग्रह होता है। इन में वाङ्मय मन **मर्त्य ब्रह्माक्षर** का अनुग्राहक बनता है, यही **वाक्शुक्र है**। वाङ्मय प्राण **मर्त्य इन्द्राविष्णूक्षरों** का अनुग्राहक बनता है, यही **आपःशुक्र है**। वाङ्मयी वाक् **मर्त्य अग्नि-सोमक्षरों** की अनुग्राहिका बनती है। यही **अग्निशुक्र** है। इसप्रकार पञ्चकल आत्मक्षर में त्रिवृता वाक् का उपभोग सिद्ध होजाता है।

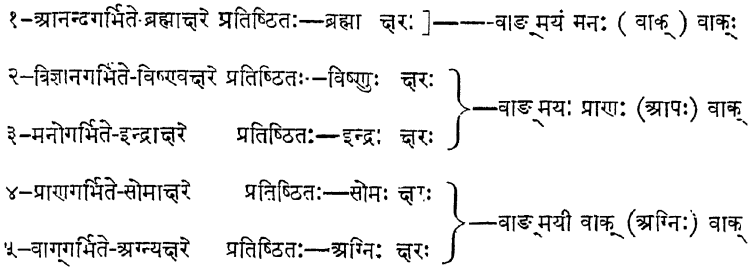

—*—

१२५–अव्यय-अक्षर-क्षरा-नुबन्धी-कला-गुण-विकार-परिग्रह-समन्वय, एवं अव्ययपुरुष की प्रातिस्विकी निष्कलता, निर्विकारता, तथा निर्गुणता का संस्मरण—

मायापरिग्रह अव्ययानुबन्धी है, कलापरिग्रह अक्षरानुबन्धी है, एवं गुणपरिग्रह आत्म-क्षरानुबन्धी है। यह विशुद्ध मायामय अव्यय कलाप्रवर्त्तक अक्षर, एवं गुणप्रवर्त्तक क्षर के समन्वय से आगे जाकर **षोडशकल** बन जाता है। यही दूसरा **षोडशीविवर्त्त कहलाता है**। क्षर गुणप्रवर्त्तक अवश्य है, परन्तु इस का प्रभुत्व स्वयं षोडशीपुरुष पर नहीं होने पाता। प्रभुत्व होता है इस का आगे के **'विकारक्षर'** पर, जिस से कि तीसरे **'सत्यप्रजापति'** का स्वरूप निष्पन्न होता है, एवं जिसे कि हम अनुपद में हीं **'सगुण-**

प्रजापति' कहने वाले हैं। इस दृष्टि से जहाँ विशुद्ध अव्यय को हम निर्गुणात्मा कहते हैं, वहाँ दूसरे षोडशी को भी निर्गुण (किन्तु क्षरदृष्ट्या गुणप्रवर्त्तक, एवं विकारप्रवर्त्तक) ही कहेंगे। विज्ञानसिद्धान्त के अनुसार अव्यय जहाँ भावसृष्टि (मानसी सृष्टि) का प्रवर्त्तक है, वहाँ अक्षर, और आत्मक्षर-रूपा परा-अपरा-प्रकृतियाँ क्रमशः गुण, एव विकारसृष्टि की प्रवर्त्तिकाएँ कहलाती हैं। गुण, तथा विकार की प्रवृत्ति यद्यपि षोडशी से ही होती है। परन्तु यह स्वतःशुद्ध अव्ययवत् निर्गुण, एवं निर्विकार ही है।

१२६–'न करोति, न लिप्यते' मूलक विशुद्ध निर्गुण अव्यय, एवं—'भूतभृन्नच भूतस्थो ममात्मा भूतभावन', मूलक सगुणाव्ययमूर्त्ति षोडशीप्रजापति—

कारण स्पष्ट है। गुण, एव विकार-भावो का विश्वसृष्टि से ही सम्बन्ध है। विश्वसृष्टि का मूलोपादन सगुण-सत्यप्रजापति (वेदमय), एवं सविकार-यज्ञप्रजापति ही है। षोडशी तो त्रिगुणात्मक-सविकार विश्वका निर्गुण-निर्विकार आत्मा है। इसी दृष्टि से यह भी कहा जासकता है कि, विशुद्ध निर्गुण-निष्कल अव्ययात्मा न करता है, न लिप्त होता है। षोडशीप्रजापति कर्त्ता अवश्य है, परन्तु लिप्त नहीं होता। "न करोति न लिप्यते" ये अक्षर जहाँ विशुद्ध अव्यय के सूचक हैं, वहाँ–"भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः" ये अक्षर षोडशीप्रजापति की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे है।

१२७–अव्यय-निबन्धन-'आत्मा' शब्द, एवं षोडशीप्रजापति-निबन्धन 'आत्मन्वी' शब्द, तथा आत्मा-प्राण-पशु-समष्ट्यात्मक 'प्रजापति' का स्वरूप-समन्वय—

एक बात और। अव्यय केवल 'आत्मा' शब्द के-सम्बोन्धन का ही अधिकारी है। इसे 'ईश्वर' नही कहा जासकता। 'ईश्वर' शब्द 'आत्मन्वी' का वाचक है, और यही 'प्रजापति' है। प्रजापति में आत्मा–प्राण–पशु, ये तीन विवर्त्त होने चाहिएँ। निष्कल अव्यय में त्रित्वका अभाव है। अतएव न वह 'ईश्वर' कहला सकता, न 'प्रजापति'। प्रजापतियों में पहिला प्रजापति यही षोडशीपुरुष है। इसका पञ्चकल अव्ययभाग आत्मा है, पञ्चकल अक्षरभाग प्राण है, एवं पञ्चकल क्षरभाग पशु है। इन्हीं तीनों के समन्वय से यह "प्रजापति" मर्य्यादा से युक्त है।

१२८–विशुद्ध अव्यय की 'तत्'-रूपता, एवं षोडशीप्रजापति की 'अमृत-ब्रह्म-शुक्र'-रूपता का समन्वय—

विशुद्ध अव्यय "तत्" है, एवं षोडशीपुरुष "अमृत–ब्रह्म–शुक्र" है। "तत्" ही "अमृत" (पञ्चकल–अव्ययपुरुष) बना है, "तत्" ही "ब्रह्म" (पञ्चकल अक्षरपुरुष, किंवा अपराप्रकृति) बना है, एवं "तत्" ही "शुक्र" (पञ्चकल क्षरपुरुष, किंवा अपराप्रकृति) बना है, जैसाकि—"तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते" इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त से स्पष्ट है।

१२९–अर्द्धमात्रात्मक निष्कल अव्यय, अकारात्मक पञ्चकल अव्यय, उकारात्मक पञ्चकल अक्षर, मकारात्मक पञ्चकल क्षर, एवं प्रणवमूर्त्ति–षोडशी-प्रजापति-लक्षण–'ईश्वर'—

'तत्'तत्त्व (विशुद्ध अव्यय) अकर्त्ता एवं निर्लेप है। 'अमृत' तत्त्व (सकल अव्यय विश्व का आलम्बन है, 'ब्रह्म' तत्त्व (अक्षर) विश्वकर्त्ता है, एवं 'शुक्र' तत्त्व (क्षर) विश्व का उपादान है। विश्वोपादनरूप शुक्र

(क्षर) मर्त्य सृष्टप्रपञ्च (विश्व) रूपा विश्वासक्ति से युक्त रहता हुआ "मकार" है। विश्वालम्बनरूप अमृत (सकलअव्यय) निर्लेप रहता हुआ "अकार" है, एवं विश्वनिमित्तकारणरूप ब्रह्म (अक्षर) मध्यस्थ बनता हुआ "उकार" है। चौथा बचता है–वही विशुद्ध अव्यय, निष्कल अव्यय। उसका भी इसमें समावेश। इसी से इसकी सोलहवीं कला की पूर्ति होती है। वही तुरीय पद "अर्द्धमात्रा", किंवा "अमात्रा", किंवा 'सर्वमात्रा' है। समष्टि ही "ओङ्कार" है। प्रणव ही इस षोडशी-ईश्वर का वाचक माना गया है–– 'तस्य वाचकः प्रणवः' (पातञ्जलयोगसूत्र)।

१३०–चतुपाद् ब्रह्म के ऊर्ध्वभावानुगत तीन पाद, एवं चतुर्थ पाद की विश्वरूपता का समन्वय, तथा अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक-अणोरणीयान्-महतोमहीयान् 'पूर्णपुरुष' रूप अश्वत्थप्रजापति का माङ्गलिक-संस्मरण

यही प्रणवमूर्त्ति षोडशी विश्वात्मा विश्व का (व्यापक) एक आत्मा है। इसे ही उपनिषदोंने "अश्वत्थ" कहा है। विशुद्ध अव्यय, सकल अव्यय, अक्षर, ये तीन पाद अतीत हैं। चौथे क्षरपाद से ही वह विश्व में (विश्वाभिमानरूप से) प्रविष्ट रहता है –– 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोस्येहा-भवत्पुनः'। विश्व में महतोमहीयान् भी यही अश्वत्थवृक्ष है, एवं अणोरणीयान् भी यही है। इसी षोडशीपुरुष का दिगदर्शन कराती हुई श्रुति कहती है––

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥

श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।९।

ऊर्ध्वम्मूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे
तदु नात्येति कश्चन
"एतद्वै तत्"

कठोपनिषत् २।६।१

१३१–पराव्ययमूर्त्ति, ब्रह्मक्षरमूर्त्ति, एवं परावराक्षरमूर्त्ति, अतएव सर्वमूर्त्ति—मध्यस्थ अक्षरप्रजापति की प्रणवोङ्कारता का स्वरूप-समन्वय—

ध्यान रहे, वह विशुद्ध अव्यय इस षोडशीपुरुषसे सर्वथा भिन्न तत्त्व है। वहाँ केवल माया का वेष्टन है, षोडशी में कलाभाव का विकास है, और इस कलाभाव का प्रवर्त्तक एकमात्र अक्षर स्वयं भी 'कलाचिति' से पञ्चकल बना हुआ है। एवं अव्यय-क्षर को भी इसी ने पञ्चकल बना रक्खा है। इसीलिए हम इस षोडशी

को "सकलप्रजापति" कहते हैं। एवं इसी रहस्य के आधार पर इस दूसरी संस्था को हम **'अक्षरसंस्था'** कहते हैं। इसीलिए "**ओमित्येकाक्षरम्**" इत्यादिरूप से ईश्वरवाचक (षोडशीवाचक) ओङ्कार को "**अक्षर**" माना गया है। मध्यस्थ अक्षर उस ओर की "**परसम्पत्ति (अव्ययसम्पत्ति)**" से युक्त होता हुआ **'पर'** (अव्यय) भी बन रहा है, इस ओर की **ब्रह्मसम्पत्ति (क्षरसम्पत्ति)** से युक्त होता "ब्रह्म" भी बन रहा है, एवं स्वस्वरूप से **'अक्षर'** भी बन रहा है। षोडशीपुरुष के स्वरूप--समर्पक इसी अक्षरतत्त्व की सर्वव्याप्ति का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है----

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि॥ १॥
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म (क्षरः), एतद्ध्येवाक्षरं परम् (अव्ययम्)।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्"॥

----कठोपनिषत् १।२।१५,१६,।

१३२--अमृत ब्रह्म-शुक्र-मूर्त्ति-अश्वत्थलक्षण षोडशीप्रजापति के त्रिवृद्भावापन्न तात्त्विक-स्वरूप का समन्वय-प्रयास---

उक्त विवेचन का निष्कर्ष यही निकला कि, परात्पर का प्रदेश मायापरिग्रह से युक्त बनकर "**अव्ययपुरुष**" कहलाया। यह ससीम होता हुआ भी निर्गुण, अतएव अकर्त्ता निर्लेप कहलाया। मन हीं इसका प्रातिस्विक रूप हुआ। आगे जाकर **कलापरिग्रह** से यही मनोमय [ज्ञानमय] अव्यय--मनः--प्राण--वाग्रूप में परिणत होकर मनःप्राणवाक् के त्रिवृद्भाव से क्रमशः त्रिसंस्थ बनता हुआ **षोडशकल** बन गया। यही **'षोडशीपप्रजापति'** कहलाया। इस षोडशी का त्रिवृन्मनोमय अव्ययभाग **ज्ञान--अमृत--मन--पुरुष--आलम्बन--अकार** आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ। त्रिवृत्प्राणमय अक्षरभाग **क्रिया-ब्रह्म-प्राण-परा-प्रकृति-निमित्त-'उकार'** इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हुआ। त्रिवृत्वाङ्मय क्षरभाग--**अर्थ--शुक्र--वाक्--अपराप्रकृति--उपादान--'मकार'** आदि नामों से व्यवहृत हुआ। एवं अधिष्ठानात्मक अखण्डधरातलात्मक विशुद्ध अव्यय **कार्य्यकारणातीत--अरूप--सर्वरूप--अप्राण--अमन--शुभ्र--ज्योतिषां ज्योतिः--अर्द्धमात्रा-अमात्रा--सर्वमात्रा--तुरीय** आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ। विशुद्ध अव्ययगर्भित आनन्द--विज्ञान-मनोमय **'मन'**, मनः-प्राण-वाङ्मय **'प्राण'**, वाक्-आपः अग्निमयी **'वाक्'**, ये ही तीनों क्रमशः **अव्यय-अक्षर-क्षर-संस्थाओं** के स्वरूप समर्पक बनते हुए षोडशीप्रजापति के स्वरूप--समर्पक बने। कलापरिग्रहयुक्त सकल षोडशी-प्रजापति का यही संक्षिप्त निदर्शन है। आगे की तालिकाओं से उक्त स्वरूप सर्वात्मना गतार्थ बन जाता है।

* निष्कलोऽव्ययः-तुरीयः-तत्——(मनः) * * * * अर्द्धमात्रा

१-पञ्चकलोपेतः—अव्ययः-अमृतम् (आनन्दः-विज्ञानम्-मनः) अकारः

२-पञ्चकलोपेतः— अक्षरः-ब्रह्म (मनः—प्राणः—वाक्) उकारः

३-पञ्चकलोपेतः—क्षरः—शुक्रम् (वाक्—आपः—अग्नि) मकारः

—ईश्वरप्रजापतिः (षोडशी) विश्वात्मा

——*——

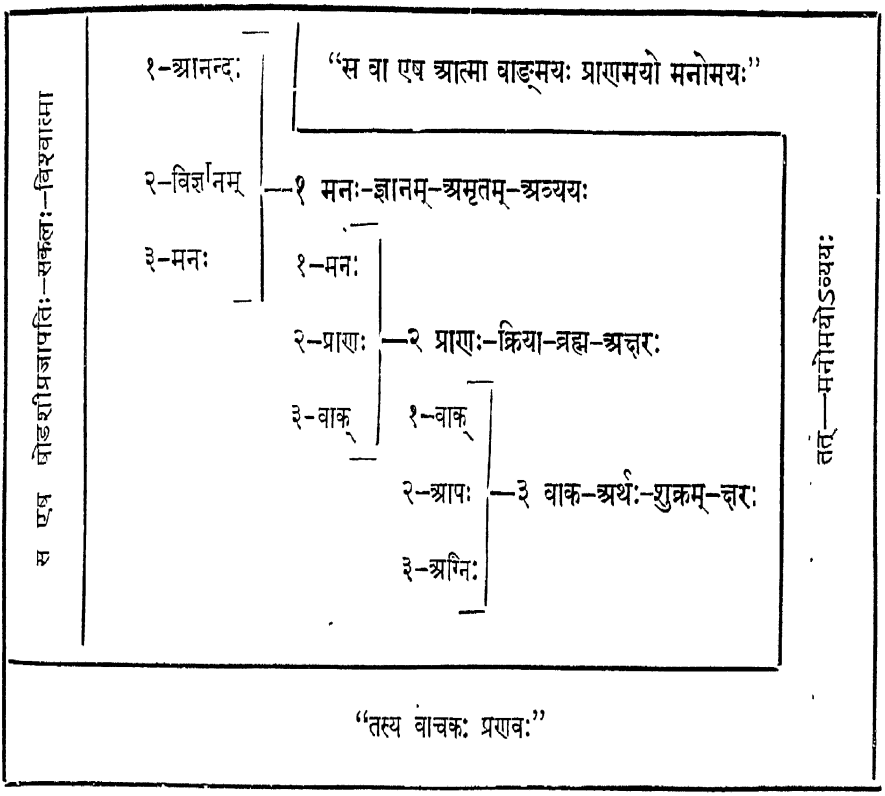

*–सर्वबलविशिष्टरसमूर्तिः –परात्परः

१–महामायावच्छिन्नो मायी, निर्गुणः, अकलः, परमात्मायं-अव्ययः-(अमनाः)

२–षोडशी—प्रजापतिः —षोडशकलावच्छिन्नः

१– *-अव्ययः (मनः ––ज्ञानम्)

२– १–आनन्दः (मनः–मनोमयम्––ज्ञानम्)] —मनोमयं मनः –ज्ञानम्–१–**आनन्दः** (मनः–ज्ञनम्)

३– २-विज्ञानम् (प्राणः–मनोमयः––क्रिया)] —मनोमयः प्राणः –क्रिया–२–**विज्ञानम्** (मनः–ज्ञानम्)

४– ३–मनः (वाक्––मनोमयी––अर्थः) — मनोमयी वाक्–**अर्थः** –३-**मनः** (मनः–ज्ञानम्) –पञ्चकलोपेतस्त्रिवृन्मनोमयः-अव्ययपुरुषः '**मनः**' (१)

५– १–मनः (मनः––वाङ्मयम्-अर्थः)]

६– ३–प्राणः (प्राणः––वाङ्मयः–अर्थः)]

६– ३–वाक् (वाक्––वाङ्मयी-अर्थः)]

७– १–ब्रह्मा क्षरः]—(मनः –प्राणमयम्–ज्ञानम्)—१–**मनः** (प्राणः –क्रिया)

८– २–विष्णवक्षरः] –(प्राणः –प्राणमयः –क्रिया)—२–**प्राणः** (प्राणः –क्रिया) ––पञ्चकलोपेतस्त्रिवृत्प्राणमयः ––**अक्षरपुरुषः** "**प्राणः**" (२)

९– ३–इन्द्राक्षरः]

१०– ४–सोमाक्षरः] –'वाक्––प्राणमयी––अर्थः)— ३–**वाक्** (प्राणः– क्रिया)

११– ५–अग्न्यक्षरः]

१२– १–ब्रह्मा क्षरः]—(मनः –वाङ्मयं –ज्ञानम्)—१–**वाक्** (वाक्– अर्थः)

१३– २–विष्णुः क्षरः] –(प्राणः –वाङ्मयः –क्रिया)—२–**आपः** (वाक् · अर्थः) ––पञ्चकलोपेतस्त्रिवृद्वाङ्मयः –**क्षरपुरुषः** "**वाक्**" (३)

१४– ३–इन्द्रः क्षरः]

१५– ४-सोमः क्षरः] –(वाक्–वाङ्मयी–अर्थः)— ३–**अग्निः**(वाक्– अर्थः)

१६– ५–अग्निः क्षरः]

१३३–'सत्यप्रजापति' का स्वरूप--संस्मरण, तन्निबन्धन परिग्रहों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं अक्षरानुबन्धी गुणभाव की सगुणरूपता का स्वरूपोबृंहण—

मूलतत्व के ६ विवर्त्तों में से निष्फल, किन्तु मायी 'अव्यय, एवं षोडशकल **षोडशीप्रजापति**, इन दो विवर्त्तों का दिगदर्शन करा दिया गया। अब क्रमप्राप्त तीसरा "**सत्यप्रजापति**" नामक तीसरा विवर्त्त हमारे सामने आता है। पूर्व में यह कहा गया है कि, माया–कला–गुण--विकार, इन चारों परिग्रहों का क्रमशः निष्फल अव्यय, पञ्चकल अव्यय, **अक्षर**, आत्मक्षर से सम्बन्ध है। क्योंकि षोडशी में अव्ययानुबन्धी मायाभाव, अक्षरानुबन्धी कलाभाव, आत्मक्षरानुबन्धी गुणभाव, एवं विकारक्षरानुबन्धी विकारभाव, इन चारो का समन्वय है। अतएव इस दृष्टि से हमें दूसरे षोडशीप्रजापति को 'सकल' के साथ-साथ सगुण-एवं सविकार भी कहना चाहिए था। परन्तु जैसा कि वही स्पष्ट कर दिया गया है, षोडशी के अक्षरभाग से अवश्य ही गुणप्रवृत्ति, एवं आत्मक्षरभाग से अवश्य ही विकारप्रवृति होती है, परन्तु स्वय अक्षर और क्षर में गुण-विकारों का लेपरूप विकास नहीं होता। गुण का विकास होता है विकारक्षरप्रपञ्च में, एवं विकार का विकास होता है वैकारिक क्षरप्रपञ्च में। अतएव षोडशी को हम निर्विकार ही कहेंगे। हाँ, अक्षरानुबन्धिनी गुणविभूति से यह अवश्य ही युक्त रहता है। एवं इसी दृष्टि से इसे हम अवश्य ही "सगुण" कह सकते हैं। विशुद्ध अव्यय जहाँ केवल मायानुबन्ध से निर्गुण है, षोडशी का अव्यय जहाँ कलासम्बन्ध से सकल है, वहाँ स्वयं षोडशी अक्षरानुबन्धी गुणभाव से सगुण भी माना जासकता है।

१३४–पञ्चविध--विकारक्षरों का संस्मरण, तन्निबन्धन परिग्रहों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं आत्मक्षरानुबन्धी विकारभावों की सविकाररूपता का स्वरूपोपबृंहण, और तदनुप्राणिता--सत्य--यज्ञात्मिका त्रयीविद्या—

अव्ययालम्बन पर प्रतिष्ठित अक्षर से क्षर के द्वारा सर्वप्रथम प्राण--**आपः-वाक्-अन्न अन्नाद**, ये पाँच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। विज्ञानभाषा में तो इन्हें विकार कहा जाता है, परन्तु प्राधानिक-परिभाषा के अनुसार ये ही "**गुणभूत**" हैं। इन पाँचों में प्राण प्रधान है। प्राण ही वेदतत्त्व (यज्जू का यद्भाग) है। वेद ही सत्य है। षोडशीब्रह्म के निःश्वासभूत इस सत्यवेद से युक्त होकर वही षोडशी "**सत्यप्रजापति**" बन जाता है। वेद ही साक्षात् गुणविभूति है, जैसाकि–"**त्रैगुण्यविषया वेदाः**" इत्यादि गीतासिद्धान्त से स्पष्ट है। वेदात्मक गुणभाव ही "**तद्यदेतत् सत्यं-त्रयी सा विद्या**" इस श्रुति के अनुसार सत्य है। गुणात्मक वेदसत्य से युक्त वही षोडशी सत्यप्रजापति है। "**वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे**" इस मानवसिद्धान्त के अनुसार षोडशी ईश्वर वेद के द्वारा ही विश्वनिर्म्माण में समर्थ होता है। अतएव ईश्वर को वेदमूर्त्ति कहा गया है।

१३५–'यज्ञ' के द्वारा 'सत्य' का महिमात्मक वितान, एवं प्रजापति का चतुर्थ–विवर्त्त—

"**यज्ञं कृत्त्वा सत्यं तनवामहै**" इस सिद्धान्त के अनुसार इसी सत्यवेद के आधार पर आगे जाकर यज्ञवितान होता है। क्षरात्मक अग्नीषोम का समन्वय ही यज्ञ है। अग्नि की प्रतिष्ठा त्रयीवेद है, एवं सोम की प्रतिष्ठा अथर्ववेद है। "**सैषा त्रयीविद्यायज्ञः**" के अनुसार अथर्व--गर्भिता त्रयीविद्या का ही विततरूप ही "यज्ञ" है। विकारक्षर की पञ्चीकृतावस्था ही यज्ञ है। गुण का विकारभाव ही यज्ञ है। इस यज्ञ से युक्त वही सत्यप्रजापति यज्ञप्रजापति कहलाने लगता है, और यही उसका चौथा विवर्त्त है।

१३६–अङ्गिरामय अग्नि, एवं भृगुमय सोम के अवस्था-निबन्धन षड्विध महिमा-विवर्त्त, तदनुबन्धी षट्कल 'सुब्रह्म', तदनुप्राणित कलाचतुष्टयात्मक–'ब्रह्म', एवं ब्रह्म–सुब्रह्म–समष्ट्यात्मक-दशकल–विराट्प्रजापति—

अग्नि अङ्गिरा है (ऋक् सं० १।३३।१*) एवं सोम भृगु है। अङ्गिरोऽग्नि की **अग्नि-यम-आदित्य**, ये तीन अवस्था है, भृगुसोम की **आपः-वायुः-सोमः**, ये तीन अवस्था हैं। यही षड्ब्रह्मात्मक सुब्रह्म यज्ञ है। ऋक्–साम–यत्–जू–इन चार की समष्टि सत्यात्मक (वेदात्मक) ब्रह्म है। ब्रह्म चतुष्कल है, सुब्रह्म षट्कल है। चतुष्कल ब्रह्म सत्यप्रजापति है, एवं षट्कल सुब्रह्म यज्ञप्रजापति है। दोनों का समन्वित रूप ही दशकल **'विराट्प्रजापति'** है। सत्य और यज्ञ से युक्त होकर वही सत्य **'विराट्प्रजापति'** बन जाता है। विराट् में सत्य–यज्ञ दोनो का समन्वय है। यज्ञ का सत्य के साथ यजन होने से ही यज्ञसत्यमूर्त्ति विराट्पुरुष का प्रादुर्भाव होता है, जैसाकि–**'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'** इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। यह उसका पाँचवाँ विवर्त्त है। **अञ्जन** (यज्ञपाप्मा) ही इस का स्वरूप–सम्पादक बनता है। अतएव इसे हम **'साञ्जन-प्रजापति'** मान सकते हैं।

१३७–आत्मसन्तान की विश्रामभूमि सावरणभाव–निबन्धन षष्ठ–प्राजापत्य–विवर्त्त—

यही अञ्जनभाव आगे जाकर तम के आवरण से विश्व का स्वरूप–समर्पक बनता है। यहीं गुण–विकारभावों का (आवरण के समावेश से) पूर्ण विकास होता है। सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ ही प्रकृत में 'विश्व' शब्द से गृहीत हैं। विराड्यज्ञ ही इस चतुर्दशविध भूतसर्ग का उपादान बनता है, जैसाकि—**"सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः"** इत्यादि से स्पष्ट है। यही उसकी ६ ठी संस्था है। और यही आत्मसन्तान की विश्रामभूमि है।

१३८–सत्य–यज्ञ–विराट्–विश्व–भावानुबन्धी प्राजापत्य–विवर्त्तों का समष्ट्यात्मक-संस्मरण—

सत्य-यज्ञ–विराट्-विश्व, इन चारों विवर्त्तों का जो स्वरूप बतलाया गया, वह सन्तोषावह नहीं माना जासकता। अतएव ये चारों हीं विवर्त्त कुछ विशेष स्पष्टीकरण की अपेक्षा रख रहे हैं। "आरम्भ में नेति नेति रहने वाला, आगे जाकर मायापरिग्रह से मनोमय बनने वाला, कलापरिग्रह से मनः–प्राण–वाङ्मय बनने वाला षोडशीपुरुष ही विश्व का आत्मा है, यही ईश्वरप्रजापति है" यहाँतक का स्पष्टीकरण तो सन्तोषजनक है। विश्व-मर्य्यादा से सम्बन्ध रखने वाले आगे के सत्य-ज्ञयादि चारों विवर्त्त अवश्य ही स्पष्ट-मीमांसा की आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं। अतः संक्षेप से वही मीमांसा पाठकों के सम्मुख उपस्थित होरही है।

---

* **त्वमग्ने ! प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।**
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः॥

—ऋक्संहिता

१३ --महिमामय प्रजापति से अनुप्राणित अविकृत-परिणामवाद, एवं 'ब्रह्म' के नित्य--महिमाभाव का स्वरूप--समन्वय—

"षोडशीपुरुष का मनोमय (त्रिवृन्मनोमय) अव्ययरूप अमृतभाग विश्वसृष्टि का आलम्बन बनता है, प्राणमय (त्रिवृत्प्राणमय) अक्षररूप ब्रह्मभाग निमित्तकारण बनता है, एवं वाङ्मय (त्रिवृद्वाङ्मय) क्षररूप शुक्रभाग उपादानकारण बनता है" यह पूर्व में कहा जाचुका है । इस स्पष्टीकरण से यह भी स्पष्ट होजाता है कि, षोडशीपुरुष के अव्यय-अक्षरभाग (विश्व में रहते हुए भी) विश्व के उस ओर (विश्वासक्ति से बहिर्भूत) हैं, क्षरभाग मध्य में है, एवं विश्व इस ओर है । क्योंकि मध्यस्थ क्षर उपादान है, एवं उपादानकारण की सत्ता ही कार्य्य की सत्ता बनती है, इसी सत्ता-अभेद से कार्य्य कारण से नित्य युक्त रहता है, अतएव इस उपादानकारणात्मक वाङ्मय क्षर को हम विश्वमर्य्यादा में अन्तर्भूत मानते हुए विश्व-कोटि में भी मान सकते हैं । साथ ही क्षर का उपादानभाव अविकृतपरिणामवादात्मक है । क्षर से अनन्त विकार अवश्य ही उत्पन्न होते रहते हैं । परन्तु क्षर सदा अपने उसी रूप से सुरक्षित रहता है, जैसेकि विकारोत्पत्ति से पहिले । यही इस क्षरब्रह्म की अपूर्वमहिमा है, जैसाकि-'**एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान**" इत्यादि श्रौत सिद्धान्त से स्पष्ट है ।

१४०-क्षर की आत्मरूपता, तथा विश्वरूपता का समन्वय, एवं तन्निबन्धन अविकृत-परिणामभाव—

आत्मा का यही स्वरूप है । वह न स्वस्वरूप से कम होता, न अधिक, अपितु सदा एकरस ही रहता है । अविकृतपरिणामभाव के कारण क्षर क्षरणशील होता हुआ भी अक्षरवत् अक्षीण '**आत्मक्षर**' कहा जाता है । अतएव यह षोडशी--विश्वात्मा का ही एक अन्तिम अवयव माना लिया गया है । इसप्रकार अविकृतपरिणाम-भाव से आत्मकोटि में प्रविष्ट होता हुआ आत्मक्षर विश्वात्मा भी बन रहा है, एवं कार्य्यकारणसत्तैक्य-सिद्धान्तानुबन्धीभाव के कारण विश्व में प्रविष्ट (आसक्त) होता हुआ विश्वमर्य्यादा से भी आक्रान्त हो-रहा है !

१४१-विश्वोद्देश्येन प्राजापत्यात्मसंस्थाओं का विचार--समन्वय, एवं त्रिपुरुषात्मक-प्रजापति की कारणतात्रयी का दिग्दर्शन—

यदि विश्व को उद्देश्य मान कर आत्मसंस्थाओं का विचार किया जायगा, तो हमें अव्यय-अक्षर क एक विभाग मानना पड़ेगा, एवं क्षर, तथा क्षरात्मक विश्व का एक विभाग मानना पड़ेगा । मनोमय अव्यय, तथ **प्राणमय अक्षर**, दोनों की समष्टि को **विश्वात्मा** कहना पड़ेगा, एवं वाङ्मय क्षर, तथा क्षरात्मक भौतिक प्रपञ्च, दोनों के समुच्चय को **विश्व** कहना पड़ेगा । विश्वात्मा क्योंकि क्षर से अविनाभूत है । अतएव उसे हम षोडशी कहते हुए भी संकोच नहीं करेंगे । विश्व में भी पञ्चकल क्षर प्रविष्ट है, अतः विश्व को भी पञ्चकलात्मक कहने में कोई आपत्ति नहीं करेंगे । क्षर की इसी विश्वरूपता को, अक्षर की इसी निमित्तता को, एवं अव्यय की इसी धारणात्मिका आलम्बनता को लक्ष्य में रखकर भगवान्ने कहा है—

क्षरः सर्वाणि भूतानि (क्षरः)
कूटस्थोऽक्षर उच्यते (अक्षरः)
बिभर्त्यव्यय ईश्वरः (अव्ययः) } "षोडशी"

१४२–विश्वात्मा के क्षरात्मक एकांश से विश्वादय, एवं प्रजापति की सर्वव्याप्ति—

यद्यपि यह ठीक है कि, षोडशीपुरुष इस क्षरात्मक पाञ्चभौतिक विश्व का आत्मा है, यह इसका शरीर है, वह उसका आत्मा बनता हुआ विश्वात्मा है, और इसीलिए दोनों के स्वरूप में अहोरात्र का अन्तर भी है, तथापि क्षरदृष्ट्या हम उसे विश्व के साथ अभिन्न मानने के लिए सन्नद्ध है। उस विश्वात्मा का क्षरूप एकांश (क्षरांश) ही तो विश्व बना हुआ है-"एकांशेन जगत् सर्वम्'। यही कारण है कि, ऋषिने विश्वात्म-रूप प्रजापति, और उसकी विश्वसृष्टि को अभिन्न मानते हुए यह कहा है कि--प्रजापति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, जैसाकि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है–

प्रजापते ! न त्वदेतन्न्यिन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

—यजुःसं० ३३।६५।

१४३–विश्वानुबन्धी 'आत्मा', एवं आत्मप्रतिष्ठ–'विश्व', तथा तन्निबन्धन त्रिवृद्भाव का संस्मरण—

यह सब कुछ ठीक ठीक मानते हुए भी, दूसरे शब्दों में षोडशी को विश्वात्मा मानते हुए भी, विश्व को क्षरप्रधान मानते हुए भी विश्वदृष्ट्या हम अव्ययाक्षर को ही आत्मा कहेंगे, एवं क्षरयुक्त भौतिक प्रपञ्च को ही 'विश्व' कहेंगे। अब एक सर्वथा स्वतन्त्र दृष्टि से विचार कीजिए। अव्यय को हमने मनोमूर्त्ति, अक्षर को प्राणमूर्त्ति, क्षर को वाङ्मूर्त्ति कहा है। एवं तीनों के त्रिवृद्भाव से क्रमशः त्रिसंस्थ षोडशीप्रजापति का स्वरूप-निर्म्माण बतलाया है। इन में अव्यय को अमृत, अक्षर को ब्रह्म, एवं क्षर को शुक्र कहा गया है। तीनों की समष्टि को सकल षोडशी प्रजापति कहा गया है। अब इस क्रम को थोड़ी देर के लिए सर्वथा विस्मृत कर एक नवीन क्रम पर दृष्टि डालिए।

१४४–निर्गुण-षोडशी–सगुण–सविकार–भावानुगत सत्य, यज्ञ का स्वरूप–समन्वय, एवं सर्वज्ञाव्यय, सर्वशक्ति अक्षर, सर्ववित् क्षर का स्वरूप-दिग्दर्शन—

केवल अव्यय मायोपाधिक निर्गुण अव्यय है, केवल अक्षर सकल षोडशी है, एवं केवल क्षर सगुण सविकार सत्य-यज्ञ प्रजापति है। विकारक्षर विराट्प्रजापति है, एवं वैकारिक भूतप्रपञ्च विश्व है। केवल अव्यय से तात्पर्य्य है—आनन्द-विज्ञान–मनोमूर्त्ति अव्यय, जिसे कि पूर्वदृष्टि में हमने पञ्चफल अव्यय कहा था। पूर्वदृष्टि में निर्गुण अव्यय केवल मनोमय था, किन्तु इस दृष्टि का निर्गुण अव्यय आनन्द–विज्ञान–मनोमय है। केवल अक्षर का तात्पर्य्य है–मनः–प्राण–वाङ्मय अक्षर। मनोमय अक्षर अव्यय है, प्राणमय अक्षर अक्षर है, एवं वाङ्मय अक्षर क्षर है। निर्गुण आनन्द-विज्ञान–मनोमय अव्यय सोलहवाँ है। इस प्रकार निर्गुणाव्ययगर्भित मनोऽवच्छेदेन वही अक्षर पञ्चकल [illegible] (सर्वज्ञात्मक बन कर) विश्व

का आलम्बन बना हुआ है, प्राणावच्छेदेन वही अक्षर पञ्चकल अक्षर बनता हुआ (सर्वशक्तिमान् बनकर) विश्व का निमित्तकारण है, एवं वागवच्छेदेन वही अक्षर पञ्चकल क्षर बनता हुआ (सर्ववित्–सर्वार्थमय बनकर) विश्व का उपादान बन रहा है।

१४५–माया–कला–आदि परिग्रहों का सृष्ट्यनुबन्धी तारतम्य–समन्वय, विभिन्न दृष्टियों से सपरिग्रह–प्रजापति के विविध–विवर्त्त, एवं तालिका–माध्यम से विवर्त्त–भावों का स्वरूप–समन्वय—

सम्भवतः पाठक यह न भूले होंगे कि, पूर्वदृष्टि में हमने अक्षर को ही कलाप्रवर्त्तक बतलाया था। जब चेतनरूप अक्षर ही चिदव्यय को, एवं अचित् क्षर को ५–५ कलाओं में विभक्त कर स्वयं भी पाँच कलाओं में परिणत होजाता है, तो हम कह सकते हैं कि, षोडशकल विश्वात्मा का विश्वात्मत्व केवल अक्षर ही है। स्वयं अव्यय पुरुष यह स्वीकार करते हैं कि—यद्यपि मैं अपने प्रातिस्विक अव्ययरूप से "अज" (अजन्मा) हूँ। फिर भी अक्षर के द्वारा मुझे विश्वसम्भूति में आकर विश्वात्मा बनना पड़ता है, जैसाकि "**अजोऽपि सन्**" * इत्यादि से स्पष्ट है। अक्षर उसे अपने रँग में रञ्जित कर विश्वात्मा बना डालता है। ऐसी दशा में विश्वात्मा के अव्यय–अक्षर–क्षर–इन तीनों विवर्त्तों को हम अक्षरमय मानते हुए षोडशी–प्रजापति को "**अक्षरप्रजापति**" ही कह सकते हैं। इसप्रकार पूर्वदृष्टि का षोडशीगर्भित अव्यय तो इस दृष्टि में निर्गुण अव्यय बन जाता है, एवं केवल षोडशी का **अक्षर**भाग अपने त्रिवृत्प्राणात्मक मनः–प्राण–वाक् से षोडशीपुरुष बन जाता है। यही दूसरी अक्षरसंस्था है। वहाँ षोडशी में हीं अव्यय–अक्षर–क्षर–ये तीन संस्थाएँ थीं, यहाँ केवल अक्षर में ही मनोधया अव्ययसंस्था, प्राणधिया अक्षरसंस्था, एवं वाग्धिया क्षरसंस्था का भोग होरहा है। यही इस एकाक्षर ओङ्कार–प्रजापति की सर्वज्ञता (अव्ययवत्ता), सर्वशक्तिमत्ता (अक्षरवत्ता), एवं सर्ववित्ता (क्षरवत्ता) है। "**यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः**" ÷ वाला ब्रह्म यही अक्षरब्रह्म है, जो कि मध्यस्थ होने से उस ओर के मनोमय अव्यय को लेकर अव्ययमूर्त्ति, इस ओर के वाङ्मय क्षर को लेकर क्षरमूर्त्ति, एवं स्वात्मसंस्थ प्राण के सम्बन्ध से अक्षरमूर्त्ति, अतएव षोडशकल बनता हुआ सर्वज्ञ–सर्वशक्तिमान्–सर्ववित् बन कर विश्व का आलम्बन–निमित्त, एवं उपादान बन रहा है। यदि इसी दृष्टि से प्राधानिक शास्त्र विशुद्ध पुरुष (अव्यय) को निर्लेप, एवं अव्यक्त प्रकृति (अक्षर) को ही विश्वजननी मानता है, तो सांख्यसिद्धान्त में क्या विप्रतिपत्ति है ?–"**नृणामेको गम्यः**"। पूर्वदृष्टि से सम्बन्ध

---

*–**अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।**
प्रकृतिं स्वां (अक्षर) अधिष्ठाय सम्भवाम्यत्ममायया॥
—गीता ४।६।

÷ **यः सर्वज्ञः सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः।**
तस्मादेतत्–ब्रह्म, नामरूप–मन्नञ्च जायते॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।९।

रखने वाली तालिकाओं को लक्ष्य में रखते हुए निम्न लिखित तालिकाओं पर दृष्टि डालिए, दोनों का निर्विरोधात्मक पार्थक्य भलीभाँति गतार्थ होजायगा।

१–आनन्दः (मनोमयः)
२–विज्ञानम् (मनोमयम्) } मनः—ज्ञानम्— मायोपाधिको निर्गुणः—"अव्ययः"
३–मनः (मनोमयम्)

—*—

१–(१) निर्गुण अव्ययः—मायोपाधिकः (मनः)

२–(५) आनन्द[१] विज्ञान[२] मन[३]: प्राण[४] वाङ्मय[५]: पञ्चकलोऽव्ययोऽक्षरात्मकः—प्राणमयं—मनः

३–(५) ब्रह्मेन्द्र[२]विष्णव[३]ग्नि[४]सोम[५]मयः पञ्चकलोऽक्षरोऽक्षरात्मकः—प्राणमयः—प्राणः

४–(५) ब्रह्मेन्द्र[२]विष्णव[३]ग्नि[४]सोम[५]मयः पञ्चकलः क्षरोऽक्षरात्मकः—प्राणमयी—वाक्

अक्षरः (षोडशी)

—*—

(१) १–आनन्द—विज्ञान—मनोमूर्त्तिर्मनोमयः—निर्गुण अव्ययः (एकलः)—मायी

(५) २–प्राणमूर्त्तिरक्षरो मनोमयः—पञ्चकलावच्छिन्नोऽव्ययात्मकः—अक्षरः (अव्ययमूर्त्तिः)

(५) ३–प्राणमूर्त्तिरक्षरः प्राणमयः—पञ्चकलावाच्छिन्नोऽक्षरात्मकः—अक्षरः (अक्षरमूर्त्तिः)

(५) ४–प्राणमूर्त्तिरक्षरो वाङ्मयः—पञ्चकलावच्छिन्नः क्षरात्मकः—अक्षरः (क्षरमूर्त्तिः)

स एष षोडशीप्रजापतिः सकलः

—*—

१४६-तालिका-प्रदर्शित विवर्त्तभावों का यथापूर्व समन्वय-प्रयास—

पूर्व-तालिकाओं से यह सिद्ध होजाता है कि, षोडशीप्रजापति के अव्ययभागने (पञ्चकल-अथवा त्रिकल अव्ययभागने) यहाँ आकर निर्गुण-मायिक अव्यय का आसन ग्रहण करलिया, एवं षोडशी के त्रिवृत्-प्राणमूर्त्ति, अतएव मनः-प्राण-वाङ्मूर्त्ति अक्षरने षोडशी का आसन ग्रहण करलिया। अब बच गया षोडशी का त्रिवृद्वाङ्मय आत्मक्षरभाग। यही क्षरभाग अपने विकारभाव को लेकर आगे जाकर सत्य, एव यज्ञरूप मे परिणत होता है।

१४७-पञ्चविध 'गुणभूतों' का स्वरूप-विस्तार, एवं तदाधारेण वाक्-आपः-अग्नि-रूपा शुक्रत्रयी की अभिव्यक्ति—

क्षरतत्त्व वाङ्मय है, यह कहा जाचुका है। यही वाक्तत्त्व अक्षर की पाँच कलाओं के समन्वय से तद्रूप में (पञ्चकलरूप में) परिणत होता हुआ क्रमशः **प्राण-आपः-वाक् अन्न,-अन्नाद**, इन पाँच **'गुणभूतों'** का जनक बनता है। **वाङ्मय मर्त्य क्षरब्रह्म से प्राण का, वाङ्मय मर्त्य क्षरविष्णुसे आपः का, वाङ्मय मर्त्य क्षरइन्द्र से वाक् का, वाङ्मय मर्त्य क्षर सोम से अन्न का,** एवं **वाङ्मय मर्त्य क्षर अग्नि से अन्नाद का विकास होता है**। ये पाँचों हीं **'विकारक्षर'** वाङ्मय क्षर में अन्तर्भूत होते हुए क्षरात्मक ही कहलाते हैं। जिसप्रकार अव्यय का मन त्रिवृत् है, अक्षर का प्राण त्रिवृत् है, एवमेव यह क्षरात्मिका वाक् भी त्रिवृता ही मानी गई है। वाङ्मय मन, वाङ्मय प्राण, वाङ्मयी वाक्, ये तीनों क्रमशः **वाक्-आपः- अग्निः** इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

१४८-शुक्रत्रयी का पञ्चविध क्षरों के साथ सम्बन्ध-समन्वय—

वाक्-तत्त्व वाङ्मय मन है, इस का क्षरमूर्त्ति ब्रह्मयुक्त प्राण-विकार के साथ सम्बन्ध है। आपः तत्त्व वाङ्मय प्राण है, इस का क्षरमूर्त्ति-विष्णु-इन्द्रयुक्त आपः-वाक् के साथ सम्बन्ध है। अग्नि-तत्त्व वाङ्मयी वाक् है (वागेवोर्पानषत्), एवं इस का क्षरमूर्त्ति सोमाग्नियुक्त अन्न-अन्नाद के साथ सम्बन्ध है। इसप्रकार तीनों का पाँचों क्षरों में उपयोग होरहा है, जैसाकि निम्न लिखित तालिका से स्पष्ट है—

१-प्राणः (ब्राह्मः) } —वाङ्मयं मनः (वाग्गर्भिता—"वाक्" }
२-आपः (वैष्णव्यः) } —वाङ्मयः प्राणः (वाग्गर्भिताः-"आपः" } —"क्षरः"
२-वाक् (ऐन्द्री) }
३-अन्नम् (सौम्यम्) } —वाङ्मयी वाक् (वाग्गर्भितः-"अग्निः" }
४-अन्नादः(आग्नेयः) }

१४९–मनः–प्राण–वाक् के त्रिवृद्भाव का मौलिक रहस्य, एवं त्रिवृद्भाव के विविध प्रक्रम–अभिक्रम—

मन–प्राण–वाक् का त्रिवृद्भाव भी बड़ा ही रहस्यपूर्ण है। इस रहस्य-परिज्ञान के आधार पर ही आत्मा के ६ विवर्त्तों का परिज्ञान अवलम्बित है। **ज्ञानघन मन, क्रियाघन प्राण, अर्थघना वाक्**, तीनों हीं स्वतन्त्र तन्त्र हैं, एवं तीनों ही क्रमशः विश्वानुबन्धी **ज्ञान-क्रिया-अर्थ**–भावों के अधिष्ठाता हैं। हम देखते हैं कि—कोई ज्ञान ऐसा नही है, जिस के गर्भ में क्रिया, एवं अर्थ (विषय) प्रतिष्ठित न हो। कोई ऐसी क्रिया नहीं है, जिसका ज्ञान, एवं अर्थ के बिना सञ्चालन होता हो। एवमेव ऐसा कोई अर्थ भी नही है, जिस में परिवर्त्तनरूपा क्रिया न हो। जब क्रिया है, तो अवश्य ही उस अर्थ में ज्ञान की भी सत्ता का अनुमान विज्ञानसिद्ध है। क्योंकि बिना कामना के क्रिया का सञ्चालन सम्भव नही, एवं बिना ज्ञान के कामनोत्थान सम्भव नही। इसप्रकार ज्ञान–क्रिया–अर्थ, विश्वके इन तीनों तन्त्रों में (प्रत्येकमें) हम क्रमशः क्रिया-अर्थ, ज्ञान–अर्थ, क्रिया-ज्ञान का समन्वय पाते हैं। यह तभी सम्भव है, जबकि इनके कारणरूप आत्मा के ज्ञानघन मन, क्रियाघन प्राण, अर्थघना वाक् तीनों में (प्रत्येक में) क्रमशः–प्राण–वाक्, मनो–वाक्, प्राण–मन का समन्वय मान लिया जाय। मनः–प्राण–वाक् के त्रिवृद्भाव का यही मौलिक रहस्य है।

१५०–त्रिवृद्भावानुबन्धी विस्तार से अनुप्राणिता प्राजापत्यसंस्थाओं के १–३–९-संख्यानुगत विस्तार—

हाँ, इस सम्बन्ध में यह विवेक अवश्य कहलेना चाहिए कि, ज्ञानघन मनका **'मन'** क्योंकि ज्ञानप्रधान है, अतएव तदन्तर्गर्भित प्राण–और वाक् भी ज्ञानमय ही होंगे। अर्थात् ज्ञानानुबन्धी, किवा मनोऽनुबन्धी मनः प्राण–वाक्, तीनों मनोमय बनते हुए ज्ञानमय ही रहेंगे। मनोमय ईश्वरीय कर्म्म ही उसका तप है, एव मन की प्रधानता से ही उसका यह तप **"ज्ञानमय"** कहलाता है—**"यस्य ज्ञानमयं तपः"**। क्रियाघन प्राण क्योंकि क्रियाप्रधान है, अतएव तदन्तर्गर्भित मन, और वाक् भी क्रियाप्रधान ही रहेंगे। अर्थात् क्रिया–नुबन्धी, किंवा प्राणानुबन्धी मनः–प्राण–वाक्, तीनो प्राणमय बनते हुए क्रियामय ही रहेंगे। एवमेव अर्थघना वाक् क्योकि अर्थप्रधाना है, अतएव तदन्तर्गर्भित मन, और प्राण भी अर्थप्रधान ही रहेंगे। अर्थात् अर्थानु–बन्धी, किंवा वागनुबन्धी मनः–प्राण–वाक्, तीनों वाङ्मय बनते हुए अर्थमय ही रहेंगे। यह तो हुआ स्थूलविभाग। यदि अवान्तर विभागों का विचार किया जाता है, तो सामान्यरूपेण दृष्टा १–३–९ वाली यह अनन्त की विभूति अनन्त पर ही विश्राम करती है।

१५१–त्रिवृद्भावनिबन्धन अव्यय, अक्षर, क्षर–पुरुषों के तात्त्विक महिमाभाव—

उक्त त्रिवृद्भाव का प्रकृत आत्मविवर्त्तों के साथ समन्वय कीजिए। **अव्यय मनोमय है, अक्षर प्राणमय है, एवं क्षर वाङ्मय है**। इसका यह भी तात्पर्य्य निकला कि, तीनों क्रमशः–**ज्ञान–क्रिया–अर्थमय** हैं। क्योंकि तीनों हीं त्रिवृत् हैं, अतएव आगे जाकर यह निष्कर्ष निकला कि, तीनों हीं (प्रत्येक) मनः–प्राण–वाङ्मय बनते हुए त्रिकल है। साथ ही पूर्वरहस्यानुसार यह भी सिद्ध होगया कि, **अव्यय के**

तीनों भाव ज्ञानप्रधान हैं, मनःप्रधान हैं। अक्षर के तीनों भाव क्रियाप्रधान हैं, प्राणप्रधान हैं। एवं क्षर के तीनों भाव अर्थप्रधान हैं, वाक्प्रधान हैं। इसी से यह भी मान लेना पड़ा कि, ज्ञानप्रधान अव्ययतन्त्र के गर्भमे रहने वाले तीनों अव्ययरूप है। क्रियाप्रधान अक्षरतन्त्र के गर्भ में रहनेवाले तीनों अक्षररूप हैं। एवं अर्थप्रधान क्षरतन्त्र के गर्भमें रहने वाले तीनों क्षररूप हैं।

१५२–अव्यय की अक्षररूपता, एवं अक्षर की क्षररूपता का समन्वय—

साथ ही यह भी स्मरण रखिए कि, आरम्भमें केवल मनोमय रहने वाला अव्यय ही त्रिवृत्–प्राणात्मक अक्षररूप में परिणत हुआ। एवं त्रिवृत्–अक्षर का वाग्भाग ही त्रिवृत्–क्षररूप में परिणत होगया। अब यह भी देख लीजिए कि, वे त्रिवृद्रूप किन किन नामों से व्यवहृत हुए।

१५३–मायापरिग्रहात्मक त्रिवृद्भावापन्न मनोमय अव्ययात्मा, एवं तन्निबन्धना 'अव्ययसंस्था'—

मनोमय अव्यय का मनोमय मन **आनन्द**[1] कहलाया, मनोमय प्राण **विज्ञान**[2] कहलाया, एवं मनोमयी वाक् **"मन**[3]**"** कहलाया। **यही पहिली निर्गुण–अव्ययात्म–संस्था कहलाई**। परिग्रहों में यहाँ केवल सर्वादिभूत **'मायापरिग्रह'** का विकास हुआ।

१५४–त्रिवृद्भावापन्न प्राणमय अक्षरात्मा—

मनोमयी वाक्, जिसे कि अब अव्ययमन कहा जायगा, आगे जाकर अक्षरविवर्त्त के विकास का कारण बनी। मन हीं प्राणात्मक क्रियाभाव में परिणत होता हुआ अक्षर का अनुग्राहक बना। इसी से अक्षर प्राणमय कहलाया। प्राणमय अक्षर का प्राणमय मन **मन**[1] **कहलाया**, प्राणमय अक्षर का प्राणमय प्राण **प्राण**[2] कहलाया, एवं प्राणमय अक्षर की प्राणमयी वाक् **'वाक्**[3]**'** कहलाई। इसप्रकार केवल त्रिवृत्–प्राणमूर्त्ति अक्षर मनः–प्राण–वाक्–इन तीन रूपों में परिणत होगया।

१५५–कलापरिग्रहात्मिका–'अक्षरसंस्था'—

यही प्राणात्मक अक्षरमन, किंवा मनोमय अक्षर पञ्चकल अव्यय बना, यही प्राणात्मक अक्षरप्राण, किंवा प्राणमय अक्षर पञ्चकल अक्षर बना, एवं यही प्राणात्मिका अक्षरवाक्, किंवा वाङ्मय अक्षर पञ्चकल क्षर बना। त्रिवृत्–प्राणमूर्त्ति अक्षर की इन्हीं १५ कलाओंने उस मनोमय निर्गुण–अव्यय को मूलाधार बनाते हुए **षोडशीप्रजापति** नाम धारण किया। **यही दूसरी सकल–अक्षरसंस्था कहलाई**। परिग्रहों में यहाँ **'कलापरिग्रह'** की प्रधानता रहती। कलाविकास से ही अक्षर **'षोडशी'** बन गया।

१५६–त्रिवृद्भावापन्न वाङ्मय क्षरात्मा—

अक्षर के तीनों विवर्त्तों में से तीसरा वाग् विवर्त्त हमारे सामने आया। प्राणमयी यह वाक्, जिसे कि अब हम 'अक्षरप्राण' कहेंगे, आगे जाकर क्षरविवर्त्त के विकास का कारण बनी। इसी के सम्बन्ध से क्षर–

वाङ्मय प्राण वागात्मक अर्थभाव में परिणत होता हुआ क्षरका अनुग्राहक बना। इसी से क्षर वाङ्मय कहलाया। वाङ्मय क्षर का वाङ्मय मन **वाक्**[1] कहलाया, वाङ्मय **क्षर** का वाङ्मय प्राण **आपः**[2] कहलाया, एवं वाङ्मय क्षर का वाक् भाग **अग्नि**[3] कहलाया। इसप्रकार केवल त्रिवृद्वाङ्मूर्ति क्षर **वाक्-तत्त्व वाक्-आपः-अग्निः**--इन तीन रूपोमें परिणत होगया।

१५७-प्रकृतिभावनिबन्धन-परिग्रहों के विविध-समन्वय, एवं त्रिपुरुषपुरुषानुबन्धी तीन विवर्त्तों का आविर्भाव—

यही वागात्मक वाङ्मय (मनोमय) क्षर प्राण से [क्षरप्रकृतिवाली पहिली प्राण कला से] सहयोग कर वेदत्रयीरूप में परिणत हुआ, जैसाकि-"**अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा**"-"**वाग्विवृताश्च वेद्याः**" इत्यादि से स्पष्ट है। वाक् का यही गुणात्मक रूप "**सत्य**" कहलाया, जैसाकि पूर्व मे स्पष्ट किया जाचुका है। आगे जाकर यही वागात्मक आपोमय (प्राणमय) क्षर आपः से [क्षरप्रकृति वाली दूसरी आपः कला से] सहयोग कर आहुतिद्रव्य (सोम) बना, एवं यही वागात्मक अग्निमय (वाङ्मय) क्षर वाक् से (क्षरप्रकृतिवाली तीसरी वाक्कला से) सहयोग प्राप्त कर आहुतिग्राहक (अग्नि) रूप में परिणत हुआ। इन दोनों के समन्वय से यज्ञतत्त्व का विकास हुआ। इसप्रकार क्षर के **वाक्-आपः--अग्निः** (**मनः--प्राण--प्राक्**) इन तीनों से क्रमशः **प्राणः-आपः-वाक्** इन तीनों के क्रमिक सहयोग से क्रमशः **'वाङ्मयवेदाः-सत्यम्'--"आपोमयं--(सोममयं) आहुतिद्रव्यम्"--'अग्निमयः--आहुतिग्राहकः-(वेद--सोम--अग्नि)** नामक तीन विवर्त्तभाव अभिव्यक्त हुए।

१५८-विवर्त्तत्रयी की समष्टिरूप सत्येवद, एवं त्रिवृद्भावापन्ना 'क्षरात्मसंस्था' का स्वरूप समन्वय---

उक्त तीनों की समष्टिरूप **'सत्यवेद'** का स्वतन्त्र विभाग रहा, यही परिग्रहों में से **'गुणपरिग्रह'** की अधिष्ठानभूमि बना। इसी के आधार पर [सत्यवेद के आधार पर] आग्नेयमय दाह्य सोम, एव दाहक अग्नि, इन दोनों का समन्वय हुआ। इन्ही दोनो का समन्वितरूप **'यज्ञ'** कहलाया। यही आकर परिग्रहो में से **'विकार'** नाम के चौथे परिग्रह का विकास हुआ। इसप्रकार क्षरतत्त्व ही **वाक्--आपः --अग्निः** के तारतम्य से **गुण--विकार** परिग्रहों से युक्त होता हुआ पहिले **सत्य--प्रजापति** बना, यही **सगुणप्रजापति** कहलाया, एवं पीछे यज्ञ से युक्त होकर सत्यविकार परिग्रह के अनुग्रह से **'यज्ञ--प्रजापति'** बन गया, यही **सविकारप्रजापति** कहलाया। इन दोनों संस्थाओं का मूलाधार केवल **'क्षरतत्त्व'** [**वाङ्मय क्षरतत्त्व**] ही बना, अतएव इन दोनों प्रजापति-संस्थाओं को हम **'क्षरसंस्था'** नाम की एक ही संस्था कहेंगे।

१५९-अमृत--ब्रह्म-शुक्र--भावों का दृष्टिकोणभेदनिबन्धन विभिन्न समन्वय—

पाठकों को स्मरण होगा कि, पूर्वदृष्टि में हमने षोडशी के त्रिकल, किंवा पञ्चकल अव्यय को **'अमृत'** कहा था, अक्षर को **'ब्रह्म'** कहा था, एवं क्षर को **'शुक्र'** कहा था। परन्तु आज वह क्रम भी बदल गया है। अब **निर्गुण त्रिकल अव्यय अमृत कहलाएगा, सकल [षोडशकल] अक्षर ब्रह्म कहलाएगा,**

एवं पञ्चकल, किंवा त्रिकल क्षर शुक्र कहलाएगा। वहाँ के अमृत मे पञ्चकल अव्यय था, यहाँ के अमृत में त्रिकल, किंवा निष्कल अव्यय है। वहाँ के ब्रह्म में पञ्चकल अक्षर था, यहाँ के ब्रह्म में पञ्चकल अमृताव्यय–पञ्चकल ब्रह्माक्षर–पञ्चकल शुक्राक्षर, इन तीनों का समन्वय है। वहाँ के तीनों यहाँ केवल ब्रह्म बन रहे हैं। वहाँ के शुक्र में पञ्चकल षोडशी वाला सकल क्षर था, एवं यहाँ के शुक्र में गुण-विकार-युक्त त्रिकल क्षर है।

१६०–ज्ञान-क्रिया-अर्थ-प्रधाना क्रमसिद्धा पुरुषसंस्थात्रयी, एवं विभिन्न-तालिकाओं के माध्यम से तत्स्वरूप-समन्वय---

इसप्रकार केवल त्रिवृद्भाव की कृपा से वह एक ही तत्त्व **माया-कला-गुण-विकार**, इन चार परिग्रहों के क्रमिक सम्बन्ध से **निर्गुण-षोडशी-सत्य-यज्ञ**, इन चार स्वरूपों में परिणत होजाता है। चारों में निर्गुण मनोमय अव्यय है, षोडशी प्राणमय अक्षर है, सत्य-यज्ञ की समष्टि वाङ्मय क्षर है। इसप्रकार सत्ययज्ञ के समन्वय से चार के तीन ही वर्ग शेष रह जाते हैं। **अव्ययात्मसंस्था ज्ञानप्रधाना है, अक्षरात्मसंस्था क्रियाप्रधाना है, एवं क्षरात्मसंस्था अर्थप्रधाना है। अव्यय आत्मा है, अक्षर षोडशी आत्मन्वी है, एवं क्षर सत्य-यज्ञात्मक आत्मन्वी है।** विषय थोडा दुरूह है, अतः आगे की तालिकाओं से इस दुरूहता का यथावत् यथाक्रम व्यवच्छेद कर लेना चाहिए।

***–'मनः' –'ज्ञानम्' –'तत्रैव सर्वं परिसमाप्यते'**

('सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते')

१-(*'मनः'–) मनः–प्राण–वाचां त्रिवृद्भावः

१–मनः
- १--मनः (आनन्दः --मनः)[१]
- २--प्राणः (विज्ञानम्--मनः)[२]
- ३–वाक् (मनः --मनः)[३]

२–प्राणः
- १--मनः (मनः –प्राणः)[१]
- २–प्राणः (प्राणः -प्राणः)[२]
- ३--वाक् (वाक्--प्राणः)[३]

३–वाक्
- १-मनः (वाक् -वाक्)[१]
- २-प्राणः (आपः वाक्)[२]
- ३-वाक् (अग्निः वाक्)[३]

*-'ज्ञानम्'-'मनः'- 'ज्ञानम्'-'पवित्रतममिदम्'

| ('न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते')

२-(*ज्ञानम्) ज्ञान-क्रिया-र्थभावनां त्रिवृद्भावः

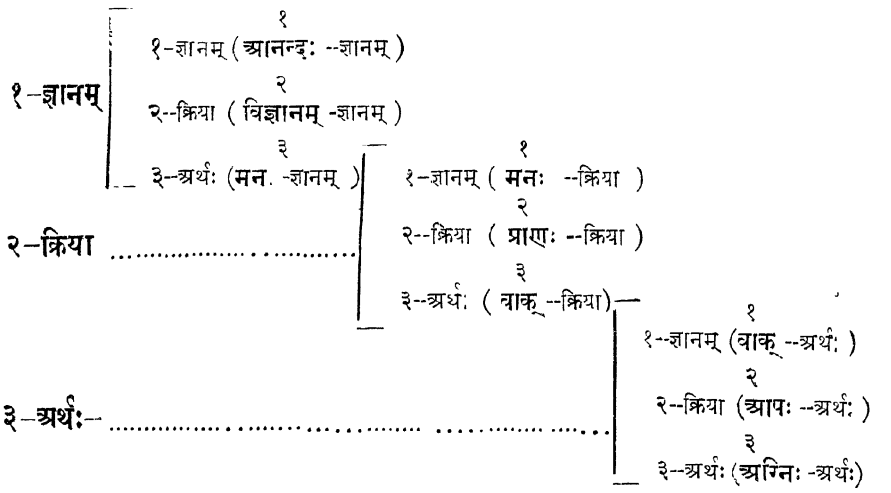

*

१—प्रकारान्तरेण—

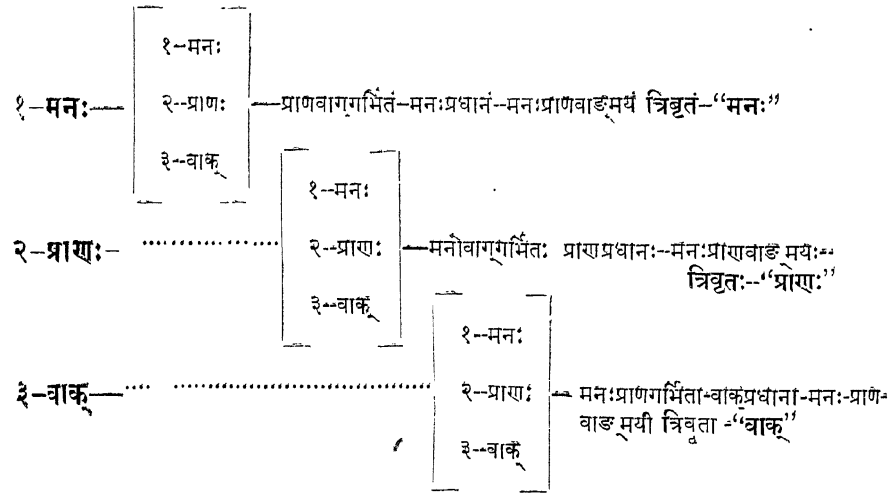

—:*:—

२—प्रकारान्तरेण—

१-ज्ञानम्- [१-ज्ञानम्, २-क्रिया, ३-अर्थः] —क्रियार्थगर्भितं-ज्ञानप्रधानं-ज्ञानक्रियार्थमयं-त्रिवृतं-"ज्ञानम्"

२-क्रिया— [१-ज्ञानम्, २-क्रिया, ३-अर्थः] —ज्ञानार्थगर्भिता-क्रियाप्रधाना-ज्ञानक्रियार्थमयी—त्रिवृता-"क्रिया"

३-अर्थः— [१-ज्ञानम्, २-क्रिया, ३-अर्थः] —ज्ञानक्रियागर्भितः-अर्थप्रधानः-ज्ञान-क्रियार्थमयः—त्रिवृतः-"अर्थः"

—:*:—

१ [१—मनोमयः-अव्ययः-अमृतम्, २—प्राणमयः-अक्षरः-ब्रह्म, ३—वाङ्मयः-क्षरः-शुक्रम्] —"तदिदं-सर्वम्"

२ [१—ज्ञानमयः-अव्ययः-अमृतम्, २—क्रियामयः-अक्षरः-ब्रह्म, ३—अर्थमयः-क्षरः-शुक्रम्] —"तदिदं-सर्वम्"

१-अव्ययाक्षरक्षराणां--मनःप्राणवाङ्मयानां त्रिवृद्भावः—

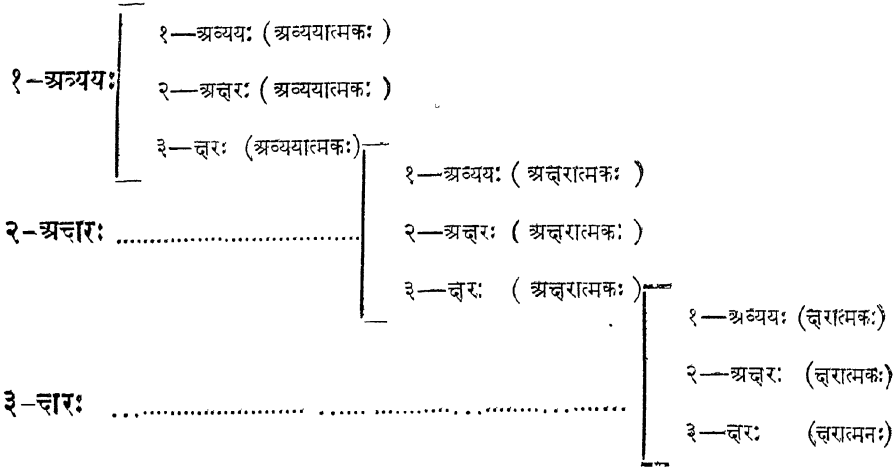

२--अमृत-ब्रह्म--शुक्राणां--अव्ययाक्षरक्षरमयानां त्रिवृद्भावः—

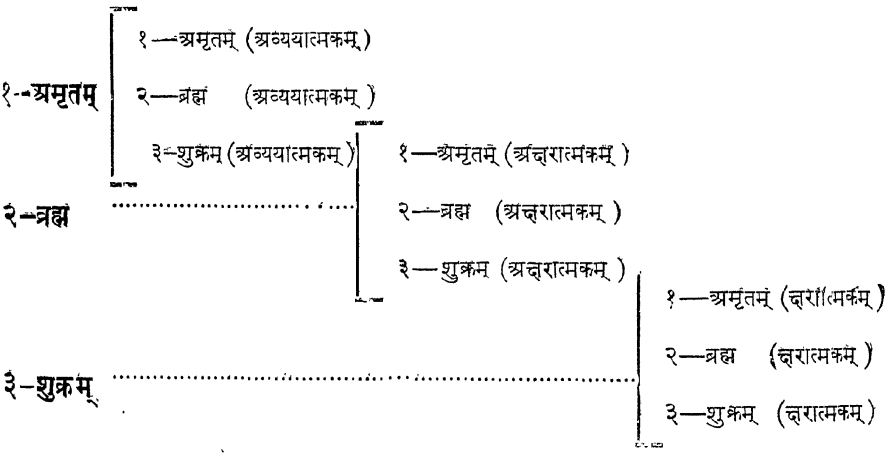

१–निर्गुणाऽक्षरात्मसंस्था–'मायापरिग्रहोपेता'—'अव्ययः' अमृतात्मा—

१*

१-आनन्दः [मनोमयं-मनः -ज्ञानम्-अव्ययः अमृतम्]-[मनः -ज्ञानं-अव्ययः अमृतम्]

२-विज्ञानम [मनोमयः प्राणः -क्रिया-अक्षरः ब्रह्म]-[मनः -ज्ञानं-अव्ययः -अमृतम्] } –आत्मा

३—मनः [मनोमयी-वाक्–अर्थः -क्षरः शुक्रम]–[मनः –ज्ञानं–अव्ययः -अमृतम्]

—*—

२–अक्षरात्मसंस्था-'कलापरिग्रहोपेता'-'अक्षरः षोडशी' ब्रह्मात्मा—

१*मायोपेतः –मनोमयो–ज्ञानमयोऽमृतमयः –अव्ययः (निर्गुणः,–तुरीयः)

१ षोडशीप्रजापतिः

२—आनन्द–विज्ञान–मनः –प्राण–वाङ्मयः पञ्चकलोऽव्ययः —मनः [अमृतम्]

३—ब्रह्मे—न्द्र——विष्णव – ग्नि–सोममयः पञ्चकलोऽक्षरः —प्राणः [ब्रह्म] } –ब्रह्म

४ –ब्रह्मे—न्द्र——विष्णव—ग्नि–सोममयः पञ्चकलः क्षरः —वाक् [शुक्रम्]

(२) १ -प्रकारान्तरेण—(अक्षरात्मसंस्था–'षोडशीप्रजापतिः–ब्रह्मात्मा' -अक्षरात्मकः)

१*मनोमयोऽव्ययः [तत्]

(२) षोडशी -प्रजापतिः

१—मनः [प्राणामयं: –मनः –ज्ञानं–अव्ययः –अमृतं]-[प्राणः -क्रिया-अक्षरः –ब्रह्म]

२—प्राणः [प्राणामयः -प्राणः क्रिया-अक्षरः –ब्रह्म]–[प्राणः -क्रिया--अक्षरः --ब्रह्म] } –ब्रह्म

३—वाक् [प्राणामयी--वाक्--अर्थः –क्षरः --शुक्रं]--[प्राणः -क्रिया--अक्षरः -ब्रह्म]

—*—

(३)–प्रकारान्तरेण-(अक्षरात्मसंस्था-षोडशीप्रजापतिः-ब्रह्मात्मा अक्षरात्मकः)।

(१) १❀ मनोमयोऽव्ययः (तत्)

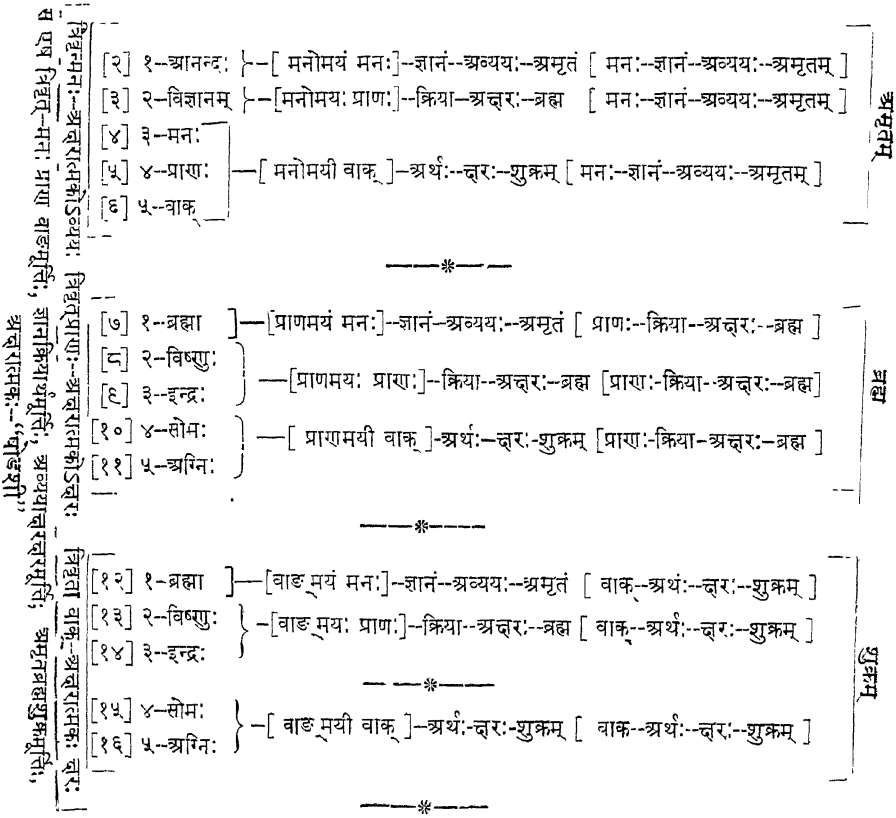

३--क्षरात्मसंस्था "गुण-विकारपरिग्रहोपेता"–"क्षरः" (सत्य--यज्ञप्रजा--पतिः शुक्रात्मा)

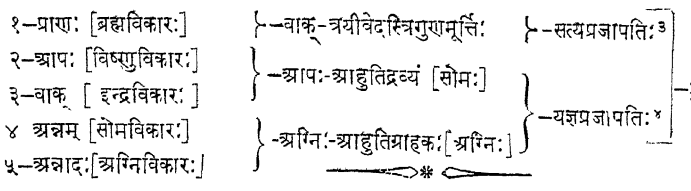

(३) प्रकारान्तरेण--(गुणविकार-परिग्रहोपेता--क्षरात्मसंस्था--"सत्ययज्ञप्रजापतिः"--"शुक्रात्मा"--क्षरात्मकः—

अमृत———	ब्रह्म ——— गर्भितं ———			शुक्रम्			
१--आनन्द (निर्गुणानन्द)--	ब्रह्माक्षरानन्द—	ब्रह्माक्षरब्रह्म——	ब्रह्मा-क्षरब्रह्मगर्भितः--	प्राणः	--वाक्--वेदाः	सत्यः	शुक्रात्मा
२--विज्ञान (निर्गुणविज्ञान)--	विष्णवक्षरविज्ञान-	विष्णवक्षरविष्णु--	विष्णुक्षरविष्णुगर्भिताः--	आपः	--आपः-सोमः	यज्ञः	
३--मन * (निर्गुणमन)--	इन्द्राक्षरमन-·—	इन्द्राक्षरेन्द्र——	इन्द्रक्षरेन्द्रगर्भिता——	वाक्			
४--मन * (निर्गुणमन)--	सोमाक्षरप्राण—	सोमाक्षरसोम——	सोमक्षरसोमगर्भितं——	अन्नम्	-अग्निः-अग्निः		
५--मन * (निर्गुणमन)--	अग्न्यक्षरवाक्—	अग्न्यक्षरोऽग्नि--	अग्निक्षरोऽग्निगर्भितः--	अन्नादः			
१--आनन्दः (निर्गुणानन्दः)	१--आनन्दः	१--ब्रह्माक्षरः	१--ब्रह्मा--क्षरः--तद्गर्भितः—	४--प्राणः	--१-वाक्-वेदाः	सत्यः	शुक्रात्मा
२-विज्ञानम्(निर्गुणविज्ञानम्)	२-विज्ञानम्	२-विष्णवक्षरः	२--विष्णुः क्षरः-तद्गर्भिताः-	२--आपः	२-आपः-सोमः	यज्ञः	
३--मनः * (निर्गुणमनः)	३--मनः	३--इन्द्राक्षरः	३--इन्द्रः क्षरः-तद्गर्भिता--	३--वाक्			
*--मनः (निर्गुणमनः)	४--प्राणः	४--सोमाक्षरः	४--सोमः क्षरः-तद्गर्भितं—	४--अन्नम्	--अग्निः-अग्निः		
*--मनः (निर्गुणमनः)	५--वाक्	५--अग्न्यक्षरः	५--अग्निः क्षरः-तद्गर्भितः-	५--अन्नादः			
निर्गुण--अव्ययः (मनः)	अक्षरात्मक-अव्ययः (मनः)	अक्षरात्मक--अक्षरः प्राणः	अक्षरात्मक—क्षरः वाक्	क्षरः			
अ व्य य: (मनः)	अ	क्ष	र: (प्राणः)	क्ष	र:	(वाक्)	
अव्यय———	———अक्षर———	———गर्भितः—	———क्षरः				

४--समष्टिपरिलेखः—(परात्पर–अव्यय[1]- षोडशी[2]–सत्य[3]–यज्ञ[4]– प्रदर्शकः) ।

* सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्तिः, अद्वयः, निरञ्जनः, निराकारः **नित्यनिर्गुणः**, विश्वातीतः **परात्परः**

निर्गुण-अव्ययः

(१)

* आनन्दः
* विज्ञानम्
* **मनः** *

मनः * ....

प्रजापतिः

[२]

* आनन्दमयः-आनन्दः (मनः)-मनः] ..... "**आनन्दः**"
(१) * विज्ञानमयं विज्ञानम् (प्राणः)-मनः] ..... "**विज्ञानम्**"
* मनोमयं **मनः** * (वाक्–मनः *)–मनः] ..... "**मनः**" *

षोडशी प्रजापतिः

(२) १–आनन्दगर्भितः "**आनन्दः**"* (मन *)] ..... मनः
(३) २–विज्ञानगर्भितं–"**विज्ञानम्**" * (प्राणः) } ..... मनः
(४) ३–मनोगर्भितं"**मनः**" * (वाक्-मनः *) } ..... मनः — [1] "**मनः**" *
(५) ४–मनोगर्भितः-"**प्राणः**" * (प्राणः) } ..... मनः
(६) ५–मनोगर्भिता-"**वाक्**" * (वाक्–मनः *) } ..... मनः

(७) १–* आन्दगर्भितः-"**अक्षरब्रह्मा**" (मनः *)] ..... प्राणः
(८) २–* विज्ञानगर्भितः-"**अक्षरविष्णुः**" (प्राणः) } ..... प्राणः — [2] "**प्राणः**"
(९) ३–* मनोगर्भितः-"**अक्षरेन्द्रः**" (वाक्-मनः *) } ..... प्राणः
(१०) ४–* प्राणगर्भितः-"**अक्षरसोमः**" (प्राणः) } ..... प्राणः
(११) ५–* वाग्गर्भितः-"**अक्षराग्निः**" (वाक्-मनः *)

(१२) १–आनन्द-अक्षरब्रह्मगर्भितः-"**क्षरब्रह्मा**" (मनः *)] ..... वाक्
(१३) २–विज्ञान-अक्षरविष्णुगर्भितः-"**क्षरविष्णुः**" (प्राणः) } ..... वाक् — [3] "**वाक्**" *
(१४) ३–मन—अक्षरेन्द्रगर्भितः —"**क्षरेन्द्रः**" (वाक्-मनः *) } ..... वाक्
(१५) ४–प्राण—अक्षरसोमगर्भितः–"**क्षरसोमः**" (प्राणः) } ..... वाक्
(१६) ५–वाक्–अक्षराग्निगर्भितः–"**क्षराग्निः**" (मनः *)

सत्य-यज्ञ-प्रजापतिः

[३]

१–आनन्द-अक्षरब्रह्म–क्षरब्रह्मगर्भितः—"**प्राणः**" [मनः *] ..... विकारः] [1] "**वाक्**" *
२–विज्ञान-अक्षरविष्णु-क्षरविष्णुगर्भिताः-"**आपः**" [प्राणः] } ..... विकारः] [2] "**आपः**"
३–मन—अक्षरेन्द्र—क्षरेन्द्रगर्भिता— "**वाक्**"[वाक्-मनः*] }
४–प्राण–अक्षरसोम—क्षरसोमगर्भितं–"**अन्नम्**" [प्राणः] } ..... विकारः] [3] "**अग्निः**"
५–वाक्—अक्षराग्नि–क्षराग्निगर्भितः-"**अन्नादः**" [वाक्]

४—समष्टिपरिलेखः—

* सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्तिः—"परात्परः" (विश्वातीतः) ।

*—आनन्दः
*—विज्ञानम् } * मनः
*—मनः

*—आनन्दमयः--आनन्दः मनः (मनः).....आनन्द.[1]
*—विज्ञानमयं विज्ञानम् प्राणः (मनः)..... .....विज्ञानम्[2]
—मनोमयंमनः वाक् (मन:).....मनः[3]*

१—आनन्दगर्भितः आनन्दः—मनः *]—मनः
२—विज्ञानगर्भितं विज्ञानम्—प्राणः]—मनः
३—मनोगर्भितं—मनः— वाक् (मनः*) } —मनः
४—मनोगर्भितः—प्राणः—प्राणः
५—मनोगर्भिता—वाक्—वाक् (मनः*) } —मनः
—मनः[1]

१—आनन्दगर्भितः-अक्षरब्रह्मा—मन- * }—प्राणः
२—विज्ञानगर्भितः--अक्षरविष्णुः—प्राणः
३—मनोगर्भितः--अक्षरेन्द्रः—वाक् (मनः*) } —प्राणः
४—प्राणगर्भितः--अक्षरसोमः— प्राणः
५—वाक्गर्भितः-अक्षरोऽग्निः—वाक् (मनः*) } —प्राणः
—प्राणः[2]

१—आनन्द—अक्षरब्रह्मगर्भितः--क्षरब्रह्मा— मनः* }—वाक्
२—विज्ञान —अक्षरविष्णुगर्भितः--क्षरविष्णुः—प्राणः
३—मनः-अक्षरेन्द्रगर्भितः--क्षरेन्द्रः—वाक् (मनः*) } —वाक्
४—प्राण—अक्षरसोमगर्भितः-क्षरसोमः -- प्राणः
५—वाक्—अक्षराग्निगर्भितः-क्षरोऽग्निः—वाक् (मन*) } —वाक्
—वाक्[3]

१—आनन्द—अक्षरब्रह्मा--क्षरविष्णुगर्भितः-प्राणः—मनः* }—विकारः]—वाक्[1]
२—विज्ञान—अक्षरविष्णु--क्षरविष्णुगर्भिताः-आपः —प्राणः
३—मन — अक्षरेन्द्र -- क्षरेन्द्रगर्भिता--वाक्वाक् (मनः*) } —विकार —आपः[2]
४—प्राण - अक्षरसोम-- क्षरसोमगर्भितं—अन्नम्— प्राण
५—वाक् - अक्षरो -क्षरोऽग्निगर्भितः—अन्नादः--वाक् } —विकारः } —अग्निः[3]

—०—

[४] प्रकारान्तरेण—[समष्टिपरिलेखः]।

अमृतम्—१—निर्गुणात्मसंस्थामयो मायी— "अव्ययः[१]"— आत्मा (अव्यथात्मा[१])।
ब्रह्म— २—सकलात्मसंस्थामयः सकलः— "षोडशीप्रजापतिः[२]"—आत्मन्वी (क्षरात्मा[२])।
शुक्रम्— ३— *अगुणात्मसंस्थामयः सगुणः— "सत्यप्रजापतिः[३]"—आत्मन्वी
*सविकारसंस्थामयः सविकारः—"यज्ञप्रजापतिः[४]"—आत्मन्वी (क्षरात्मा[३])।

———*———

१६१—आत्मसंस्थात्रयी का स्वरूप-संस्मरण—

उक्त तीनों आत्मसंस्थाओं में से २ के सम्बन्ध में तो अब कोई विशेष वक्तव्य नहीं रहा। हाँ, तीसरी क्षरात्मसंस्था अवश्य ही अभी और भी स्पष्टीकरण की अपेक्षा रख रही है। इसी अपेक्षा की पूर्त्ति कर यह 'परिग्रहप्रकरण' समाप्त किया जाता है।

६२—विकारप्रपञ्चानुगता विज्ञाननिबन्धना विश्वसृट्, पञ्चजन, पुरञ्जन-त्रयी, एवं दर्शननिबन्धना गुणभूत-अणुभूत-रेणुभूत-त्रयी का स्वरूप-समतुलन—

"क्षरसंख्या वाङ्मयी है, एवं वाक् तत्त्व त्रिवृद्भाव के कारण वाक्-आपः-अग्नि- इन तीन रूपों में विभक्त है। साथ ही इन तीनों की समष्टि "शुक्र" नाम से प्रसिद्ध है" यह स्पष्टीकरण तो पूर्व प्रकरण से गतार्थ है। इसे लक्ष्य में रखते हुए ही आगे का विचार करना है। वाङ्मय क्षर की ब्रह्मादि पाँच कलाओं से क्रमशः प्राण-आपः-वाक्-अन्न-अन्नाद, ये पाँच विकार उत्पन्न हुए। इन पाँचों के पञ्चीकरण से इन्हीं नामों से युक्त पाँच पञ्चीकृत-प्राणादि का विकास हुआ। इन पञ्चीकृत पाँचों प्राणादि के समन्वय से पञ्च-पञ्चात्मक प्राणादि विकसित हुए। इसप्रकार यज्ञप्रक्रियात्मक इसी पञ्चीकरणभाव से आत्मक्षर की ब्रह्मादि कलाओं से उत्पन्न प्राणादि विकारक्षरों के विशुद्ध विकारक्षर, पञ्चीकृत विकारक्षर, पञ्चपञ्चीकृत विकारक्षर, ये तीन विभाग होगए। विकारप्रपञ्च के ये ही तीनों विभाग विज्ञानभाषा में क्रमशः विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन, इन नामों से व्यवहृत हुए। दर्शनभाषा में ये ही क्रमशः गुणभूत-अणुभूत-रेणुभूत, इन नामों से प्रसिद्ध हुए।

१६३—गुणभूतात्मक 'विश्वसृट्', तथा अणुभूतात्मक 'पञ्चजन' का तात्कालिक पञ्चीकरण, एवं रेणुभूतात्मक 'पुरञ्जन' की स्पष्ट-अभिव्यक्ति, तथा तन्निबन्धन पुरभावात्मक विश्व का संस्मरण—

इन तीनों विवर्त्तों के सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि, विश्व में-गुणभूतरूप विश्वसृट्, (विकारक्षर), एवं अणुभूतरूप पञ्चजन (पञ्चीकृत विकारक्षर) कभी स्वतन्त्र नहीं मिलेंगे। क्षर की कलाओं से जिस समय विश्वसृट् नामक विकार का विकास होता है, तत्काल इनका पञ्चीकरण होजाता है,

विश्वसृट् पञ्चजनरूप में परिणत होजाते हैं । पञ्चजन अव्यवहितोत्तरकाल में हीं "**पुरञ्जन**" रूप में परिणत होजाते हैं। इसप्रकार तीनों में अन्त का पुरञ्जनरूप ही शेष रह जाता है । विकार--प्राण पञ्चीकृत--प्राण बना, यही आगे जाकर **वेदात्मक**–पुरञ्जन बना । विकार-आपः पञ्चीकृत-आपः बना, यही आगे जाकर **लोकात्मक**–पुरञ्जन बना । विकार–वाक् पञ्चीकृत–वाक् बनी, यही आगे जाकर **देवात्मक**–पुरञ्जन बना । विकार–अन्न पञ्चीकृत अन्न बना, यही आगे जाकर **पश्वात्मक**–पुरञ्जन बना । विकार-अन्नाद पञ्चीकृत-अन्नाद बना, यही आगे जाकर **भूतात्मक**--पुरञ्जन बना । तात्पर्य्य इसका यह निकला कि, **प्राण--आपः--वाक्--अन्न--अन्नाद**, ये पाँच विकारत्तर पञ्चीकृत "**सार्व्य**" प्राणादि रूप में परिणत होते हुए अन्त में **वेद--लोक--देव--पशु--भूत**, इन रूपों में परिणत होगए । इनमें वेदपुरञ्जन **वाक्शुक्र** कहलाया, लोक-देव-पुरञ्जन **आपःशुक्र** कहलाया, एवं पशु-भूत पुरञ्जन "**अग्निशुक्र**" कहलाया । २१२ वें पृष्ठ की समष्टिप्रदर्शनात्मिका तालिका के सर्वान्त की **विकारत्तरात्मिका तालिका** का इस दृष्टि से निम्नलिखित स्वरूप हमारे सामने आया---

(३)–क्षरात्मसंस्था-परिलेखः-(शुक्रात्मा)–"सत्य-यज्ञ-प्रजापतिरूपः"—

१–आनन्द–अक्षरब्रह्मा–क्षरविष्णु–विकारप्राण–पञ्चीकृतसार्व्यप्राणगर्भिताः—	वेदाः	(पुरञ्जनम्)–मनः *]—	विकारः-१ वाक्	शुक्रम्
२–विज्ञान–अक्षरविष्णु–क्षरविष्णु–विकारापः–पञ्चीकृतसार्व्यापोगर्भिताः—	लोकाः	(पुरञ्जनम्)–प्राणः	विकारः-२ आपः	
३–मन–अक्षरेन्द्र–क्षरेन्द्र–विकारवाक्–पञ्चीकृतसार्व्यवाग्गर्भिताः—	देवाः	(पुरञ्जनम्)–वाक्-(मन*)		
४–प्राण–अक्षरसोम–क्षरसोम–विकारान्न–पञ्चीकृतसार्व्यान्नगर्भिताः—	पशवः	(पुरञ्जनम्)–प्राणः	विकारः अग्निः ३	
५–वाक्–अक्षराग्नि–क्षराग्नि–विकारान्नाद–पञ्चीकृतसार्व्यान्नादगर्भितानि—	भूतानि	(पुरञ्जनम्)–वाक्		

विशुद्धा विकारक्षराः	पञ्चीकृता विकारक्षराः	पञ्चपञ्चीकृता विकारक्षराः
विश्वसृजः	पञ्चजनाः	पुरञ्जनाः
गुणभूतानि	अणुभूतानि	रेणुभूतानि

१--	प्राणः	—	१--	सर्वप्राणः	—	१--	वेदाः	— प्राणमयाः सर्वे वेदाः]—	वाक्
२--	आपः	—	२--	सर्वापः	—	२--	लोकाः	— आपोमयाः सर्वे लोकाः	आपः
३--	वाक्	—	३--	सर्ववाक्	—	३--	देवाः	— वाङ्मयाः सर्वे देवाः	शुक्रम्
४--	अन्नम्	—	४--	सर्वान्नम्	—	४--	पशवः	— अन्नमयाः सर्वे पशवः	अग्निः
५--	अन्नादः	—	५--	सर्वान्नादः	—	५--	भूतानि	— अन्नादमयानि सर्वाणि भूतानि	

१६४—विश्वतीत 'परात्परब्रह्म' नुगत रस-बल के अनुग्रह से षड्विध-प्राजापत्य—विवर्त्तों में 'अमृत'--'मृत्यु' भावो का अपेक्षाभेद—निबन्धन-समन्वय—

अमृत-ब्रह्म-शुक्र, इन उक्त तीनो संस्थाओं के अनेक विवर्त्त बतला गए। इन सब विवर्तों का पर्य्यवसान उसी 'रस-बल' तत्व पर माना गया है। रस अमृत है, बल मृत्यु है। दोनों के सम्बन्ध-तारतम्य से उस एक ही के अनेक रूप होजाते है। जिसमें अमृत की प्रधानता रहती है, वह अमृतसंस्था कहलाती है। एवं जिसमें मृत्यु की प्रधानता रहती है, वह मर्त्यसस्था कहलाती है। पूर्व पूर्व के आत्मविवर्त्तों में उत्तर उत्तर के आत्मविवर्त्तों की अपेक्षा अमृत (रस) की प्रधानता है, एवं पूर्वसंस्थापेक्षया उत्तरसंस्था में मृत्यु (बल) की प्रधानता है। इस दृष्टि से विश्व-सम्बन्धी ६ विवर्त्तों में से आद्यंत के विवर्त्त (निर्गुण अव्ययविवर्त्त, एवं त्रिगुणभावमय विश्व) तो अमृत एवं मृत्यु प्रधान ही है। एवं मध्य के चार विवर्त्त (षोडशी-सत्य-यज्ञ-विराट्) अपेक्षया अमृत भी हैं, मर्त्य भी हैं।

१६५—'अव्ययसंस्था' की निष्कैवल्या-'अमृतरूपता', तथा 'विश्वसंस्था' की विशुद्धा-'मृत्युरूपता' का समन्वय—

इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि, अव्ययसंस्था अमृत है, एवं अक्षरसंस्था अव्यय की दृष्टि से मर्त्या है। क्षर की दृष्टि से अक्षरसंस्था अमृता है, एवं अक्षर की दृष्टि से पूर्वतालिका-प्रदर्शित वाक्-आपः-अग्नि-मयी क्षरसंस्था मर्त्या है। परन्तु आगे की विराट्संस्था की अपेक्षा यही क्षरसंस्था अमृता बनी हुई है, एवं इस सत्य-यज्ञात्मिका क्षरसंस्था की अपेक्षा वह विराट्संस्था मर्त्या बनी हुई है। विश्वदृष्टया यही विराट्संस्था अमृता बनी हुई है, एवं विराट्दृष्टया विश्वसंस्था मर्त्य बन रही है।

१६६—अमृतनिबन्धन अव्यय, और--'आत्मा', अमृत-मृत्यु--निबन्धन—षोडशी-सत्य, यज्ञ, विराट् और 'आत्मन्वी', तथा मृत्युनिबन्धन विश्व—

निष्कर्ष यही निकला कि, आत्मलक्षण अव्यय विशुद्ध अमृतरूप है, आवरणलक्षण विश्व विशुद्ध मृत्युमय है, एवं मध्यस्थ षोडशीप्रजापति, सत्यप्रजापति, यज्ञप्रजापति, विराट्प्रजापति ये चारों प्रजापति (जिन्हें कि हमने "आत्मन्वी" कहा है) अपेक्षया अमृत-मृत्युमय बनते हुए उभयात्मक बने हुए हैं।

१६७—'प्रजापतिः प्रजया संरराणः' मूलक 'प्रजापति' रूप 'आत्मा', तथा 'प्रजा' रूप 'विश्व' का स्वरूप--समन्वय, एवं आत्म--विश्व--समष्ट्यात्मक—'आत्मन्वी'—

यही कारण है कि प्रजापति का स्वरूप बतलाते हुए ऋषि ने इस प्रजापतिवर्ग को ही उभयात्मक बतलाया है, जैसा कि-"अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्" (शतपथब्रा० १० काण्ड) इत्यादि वाजिश्रुति से स्पष्टतम है। न आत्मा प्रजापति है, न विश्व प्रजापति है। अपितु विश्व, और आत्मा, दोनों का समुच्चय ही प्रजापति है। और यह द्वैतभाव न अव्ययात्मा में विकसित है, न विश्व में विकसित है। अपितु मध्य के चार आत्मविवर्त्तों में हीं विकसित है। षोडशीप्रजापति का पञ्चफल अव्यय

आत्मा है, पञ्चकल अक्षर-पञ्चकल क्षर इसकी प्रजारूप विश्व है। अव्ययात्मना यह अमृत है, तो अक्षर-क्षरात्मना यही मर्त्य भी है। षोडशीगर्भित सत्यप्रजापति का सत्य भाग अमृत है, एवं यज्ञ भाग प्रजापति की मर्त्या प्रजा है। षोडशी-सत्यगर्भित यज्ञ प्रजापति का यज्ञ भाग प्रजा है, एवं विराट् भाग इस की मर्त्यप्रजा है। षोडशी-सत्य-यज्ञ-गर्भित स्वयं विराट् आत्मा है, एवं विश्व इसकी मर्त्य-प्रजा है। इसप्रकार चारों में **अमृतात्मा, और मर्त्यप्रजा,** इन दोनो का समन्वय सिद्ध होजाता है। **"प्रजापतिः प्रजया संरराणः"** हीं प्रजापति का मख्य लक्षण माना गया है।

१—निर्गुण अव्ययः	**अमृतम् (अमृतम्)**	**आत्मा**	
१—षोडशीप्रजापतिः	मृत्युः (अमृतम्)	आत्मन्वी	अक्षर-क्षरात्मना प्रजापतेरात्मनो मर्त्यामसिद्धं ममृतम्
२—सत्यप्रजापतिः	मृत्युः (अमृतम्)	आमन्वी	
३—यज्ञप्रजापतिः	मृत्युः (अमृतम्)	आमन्वी	
४—विराट्प्रजापतिः	मृत्युः (अमृतम्)	आमन्वी	
१—विश्वम्	**मृत्युः (मृत्युः)**	**शरीरम्**	

—*—

(१)—१—**निर्गुणअव्ययः** (आत्मा-अमृतम्) आत्मा (अमृतम्)

(२)—१—**षोडशीप्रजापतिः**—

१—पञ्चकलोऽव्ययः आत्मा (अमृतम्)
२—प० अक्षरः, प०क्षरः शरीरम् (मृत्युः) } —षोडशीप्रजापतिः (आमन्वी)

(३)—२—**सत्यप्रजापतिः**—

१—सत्यवेदत्रयी आत्मा (अमृतम्)
२—यज्ञोऽग्निसोमयः शरीरम् (मृत्युः) } —सत्यप्रजापतिः (आमन्वी)

—*—

(४)—३—**यज्ञप्रजापतिः**—

१—यज्ञोऽग्निसोममयः आत्मा (अमृतम्)
२—विराट्सावरणः शरीरम् (मृत्युः) } —यज्ञप्रजापतिः (आमन्वी)

—*—

[४]—४—विराट्-प्रजापतिः—

१—विराट्-साज्ञनम्—आत्मा (अमृतम्)
२—विश्वं-सावरणम्—शरीरम् (मृत्युः) } विराट्प्रजापतिः (आत्मन्वी)

—*—

[६]—१-विश्वं-सावरणम्-शरीरम्—(मृत्युः)।

—* —

१६८—अमृत-मृत्यु-विवेक--निबन्धना तृतीया 'शुक्रसंस्था' से अनुप्राणित पञ्चपुरञ्जनात्मक विवर्त्तभावों का संस्मरण, एवं शुक्रत्रयी की षट्शुक्ररूप में परिणति—

उक्त अमृतमृत्युविवेक से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, जिस वाङ्मयी तीसरी शुक्रसंस्था का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, जिसे कि सत्य-यज्ञ की समष्टि बतलाया गया है, जिस के कि **वाक्--आपः--अग्निः**, ये तीन विवर्त्त बतलाए गए हैं, जिसे कि **वेद--लोक--देव-पशु-भूत-भेद** से पञ्चपुरञ्जनात्मक सिद्ध किया गया है, उस शुक्रसंस्था में भी अमृत-मृत्यु नामक दोनों भावों का समन्वय है । 'वाक्-आपः-अग्नि'-शुक्रसंस्था के ये तीनों हीं पर्व अमृत-मृत्यु भेद से दो दो भागों में विभक्त होकर तीन के स्थान में ६ रूप धारण कर लेते हैं। **और यों शुक्रत्रयी शुक्रषट्करूप में परिणत होजाती है।**

१६९—सत्य-यज्ञ-प्रजापति से अनुगता अमृता शुक्रत्रयी, विराट्-प्रजापत्यनुगता मर्त्या शुक्रत्रयी, एवं विकार-परिग्रहात्मक 'यज्ञप्रजापति' का संस्मरण—

इन ६ शुक्रों में से ३ अमृतशुक्रों का तो स्वयं **सत्य-यज्ञ-प्रजापति** में हीं भोग होता है, शेष तीन मर्त्यशुक्रों से **विराट्-प्रजापति** की स्वरूप-निष्पत्ति होती है । **अमृतशुक्रत्रयी सत्ययज्ञसंस्था है, एवं मर्त्यशुक्रत्रयी विराट्संस्था है** । सत्य को हमने गुणपरिग्रह से युक्त बतलाया है, एवं यज्ञ को विकारपरिग्रह से समन्वित कहा है । अमृतशुक्रत्रयी का वाग्भाग ही गुणपरिग्रह से युक्त होकर वेदरूप में परिणत होकर सत्यप्रजापति बनता है, एवं 'अमृत आपः--अग्नि' इन दो शुक्रों की समष्टि ही विकारपरिग्रह से युक्त होकर यज्ञ प्रजापति बनती है ।

१७०—'अञ्जन' परिग्रहानुगत सप्तविध (७) यज्ञपाप्माओं का नाम--प्रदर्शन-समन्वय—

इस यज्ञिया शुक्रद्वयी में आगे जाकर 'अञ्जन' परिग्रह का योग होता है । यह अञ्जन हीं विज्ञानभाषा में--"**यज्ञपाप्मा**" नाम से प्रसिद्ध है । एवं ये अञ्जनात्मक यज्ञपाप्मा क्रमशः **१-पर्य्याय, २-ऊर्म्मि, ३-आशय, ४-अवस्था, ५-कर्म्म, ६-विपाक, ७-अविद्या**, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। यदि इन के अवान्तर भागों का संकलन किया जाता है, तो कुल ३३ यज्ञपाप्मा होजाते हैं, जिनका कि **मूलभाष्यकाण्डान्तर्गत** '[३]-बुद्धियोग को कर्म्मपरित्याग नहीं करना चाहिए' प्रथमा **राजर्षिविद्या** की इस तीसरी उपनिषत् के (३) "**यज्ञार्थकर्म्म अवन्धन हैं, अतः इन का परित्याग नहीं करना चाहिए**" इस तृतीय उपदेश में ["**यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र०** ३।९ से आरम्भ कर "**एवं प्रवर्त्तितं चक्रम्०** ३।१६ यहाँतक के यज्ञ-रहस्य प्रकरण में] विस्तार से निरूपण किया जाने वाला है । यज्ञपाप्माओं से युक्त वह यज्ञप्रजापति ही विराट्रूप में परिणत होता है ।

१७१—'आवरण' परिग्रहानुगत-यज्ञपाप्माओं से समन्विता मर्त्या शुक्रत्रयी, एवं तद्द्वारा 'विश्व' के स्वरूप की अभिव्यक्ति—

सर्वान्त में **'आवरण'** नाम के ६ ठे परिग्रह से युक्त होकर वही प्रजापति विश्व [प्रजासृष्टि] रूप में परिणत होजाते हैं, जैसाकि अनुपद में हीं स्पष्ट होने वाला है । कहना यही है कि-

अमृतशुक्रत्रयी जहाँ सत्यगर्भित यज्ञप्रजापति की स्वरूप-सम्पादिका बनती है, वहाँ मर्त्यशुक्रत्रयी यज्ञपाप्माओं से युक्त होकर विराट्प्रजापति की स्वरूप-सम्पादिका बनती है।

१७२–अमृता-शुक्रत्रयी के तीन पर्वों से अमृता-देवत्रयी-का आविर्भाव, तन्निबन्धना 'एका मूर्त्तिः', एवं सगुणसत्यानुगत-यज्ञप्रजापति का स्वरूप-समन्वय—

अमृतशुक्रत्रयी का वेदमय वाग्भाग ही आगे जाकर "स्वयम्भू" रूप में परिणत होता है। इस का लोकमय आपोभाग ही "**परमेष्ठी**" रूप में परिणत होता है, एवं देवमय अग्निभाग ही "सूर्य्य" रूप में परिणत होता है, स्वयम्भू **ब्रह्मा** है, परमेष्ठी विष्णु है, सूर्य्य **महादेव** है। तीनों मिलकर 'एकामूर्त्ति' हैं। तीनों का समन्वितरूप एक शुक्रसंस्था है। यही तीसरी सत्ययज्ञात्मिका शुक्रसंस्था है। इन में **ब्रह्मा सत्य-प्रजापति है, विष्णुशिव-समुच्चय यज्ञप्रजापति** है। सत्यप्रजापतिमूर्त्ति ब्रह्मा **सगुणप्रजापति है**, एवं यज्ञप्रजापतिरूप विष्णु–शिव-समष्टि **यज्ञप्रजापति** है। सत्य ही इन की प्रतिष्ठा है, जैसाकि "**ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा**"–"**ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम्**"–"**ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव**" इत्यादि वचनों से प्रमाणित है।

१७३–षोडशीपुरुषेश्वर के शुक्रात्मक 'त्वर' की विविध-सोपानपरम्पराएँ, तन्निबन्धन सृष्टिविवर्त्त, एवं पंचपर्वा शुक्रत्वरात्मा से पञ्चपर्वा विश्व की स्वरूपाभिव्यक्ति—

अब हम यह कह सकते हैं कि, जो त्वर आरम्भ में प्राणादिरूप में परिणत हुआ, आगे जाकर जो पञ्चीकृत सर्वप्राणादिरूप में परिणत हुआ, आगे जाकर जो पञ्चजनात्मक वेद–लोकादिरूप में परिणत होता हुआ 'वाक्-आपः-अग्निः' इन तीन शुक्ररूपों में परिणत हुआ, आगे जाकर यज्ञपाप्माओं के समन्वय से जिस के ये तीन रूप ६ भावों में परिणत होगए, आगे जाकर ६ में से जिस के तीन अमृतरूप क्रमशः स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य रूप में परिणत हुए, वही **सत्य–यज्ञप्रजापति–मूर्त्ति, अमृत–वाक्–आपः–अग्नि–मूर्त्ति, स्वयम्भू-परमेष्ठी–सूर्य्यमूर्त्ति अमृतशुक्रात्मा तीसरा त्वरात्मविवर्त्त कहलाया**। इसप्रकार पूर्व की तालिकाओं में अमृत-ब्रह्म-शुक्र भावों का जैसा स्वरूप-समन्वय हुआ था *, वह अब यहाँ आकर आगे की तालिकाओं के रूप में परिणत होगया, जिन इन निर्दिष्ट-तालिकाओं को अब हम निर्णयात्मिका-तालिका मान सकते हैं-स्व-बुद्धि-व्यामोहन की उपशान्ति-मात्र के लिए ही।

* देखिए पृष्ठ संख्या २०६, २१०, २११, एवं २१४ वें पृष्ठों की तालिकाएँ

(३)—क्षरात्मसंस्थापरिलेखः—(शुक्रात्मा)—"सत्य-यज्ञ-प्रजापतिरूपः"—

१–आनन्द– अक्षरब्रह्म— क्षरब्रह्म– विकारप्राण-- पञ्चीकृतसार्व्यप्राण-वेदपुरञ्जनगर्भितः-**प्राणः**—मनः* } — अमृतवाक्शुक्रम्—स्वयम्भू-ब्रह्मा

२–विज्ञान-- अक्षरविष्णु– क्षरविष्णु-विकारापः—- पञ्चीकृतसार्व्यापः-लोकपुरञ्जनगर्भिताः-**आपः**—प्राणः

३–मन—— अक्षरेन्द्र—— क्षरेन्द्र— विकारवाक्—पञ्चीकृतसार्व्यवाक्-देवपुरञ्जनगर्भिता-**वाक्**—वाक् (मनः*) } —अमृतापःशुक्रम्—परमेष्ठी-विष्णुः

४–प्राण—- अक्षरसोम— क्षरसोम– विकारान्न——पञ्चीकृतसार्व्यान्न --पशुपुरुञ्जनगर्भितं -**अन्नम्**—प्राणः

५–वाक्— अक्षराग्नि— क्षराग्नि– विकारान्नाद–पञ्चीकृतसार्व्यान्नाद-भूतपुरञ्जनगर्भितः-**अन्नादः** - वाक् } —अमृताग्निशुक्रम्—सूर्य्यः-शिवः

———— * ————

स एष क्षरात्मा-'शुक्रात्मा'-

१–अमृतवाक्- शुक्रम् [वाक्]-स्वयम्भू ब्रह्मा सत्यमूर्त्तिर्वेदमूर्त्तिः————————सत्यपतिः [सत्यनाथः--उत्पादकः-सगुणः] } सत्यप्रजापतिः-यज्ञप्रजापतिः

१–अमृतापः--शुक्रम् [आपः]-परमेष्ठी विष्णुः-यज्ञमूर्त्तिःपशुगर्भितो-लोकमूर्त्तिः-——यज्ञपतिः [देवनाथः—भर्त्ता—सविकरः]

२–अमृताग्निः-शुक्रम् [अग्निः]-सूर्य्यः शिवः-यज्ञपतिर्वास्तोष्पतिर्भूतगर्भितो देवमूर्त्तिः-भूतपतिः[भूतनाथः—रुद्रकः—सविकारः]

———— * ————

१७४–क्रमसिद्धा-'विराट्प्रजापति'-रूपा पञ्चमी-संस्था, एवं विराट्प्रजापति की सुप्रसिद्धा दश-कलाओं का स्वरूप-समन्वय—

अमृतशुक्रत्रयी के साथ साथ सत्य-यज्ञप्रजापति नाम की तीसरी, तथा चौथी ह्यरात्मसंस्था का निरूपण भी गतार्थ हुआ। अब क्रमप्राप्त पाँचवी **विराट्प्रजापति-संस्था** हमारे सामने आई। यज्ञप्रजापति के साथ अञ्जन का समावेश होने से ही इस पाँचवी संस्था का आविर्भाव हुआ है। **अञ्जन** से अमृतशुक्रत्रयी मर्त्यभाव में परिणत हुई। इस मर्त्यवाक्-शुक्र से सूर्य्य का विकास हुआ, मर्त्य आपः शुक्र से चन्द्रमा का विकास हुआ, एवं मर्त्य अग्नि-शुक्र से त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूपा स्तौम्या महापृथिवी का विकास हुआ। इनमें सौरवाक्शुक्र यज्ञपरिभाषानुसार **आहवनीय अग्नि** कहलाया, चान्द्र (आन्तरिक्ष्य) आपः शुक्र **धिष्ण्याग्नि** कहलाया, एवं पार्थिव अग्निशुक्र **गार्हपत्याग्नि** कहलाया।

१७५–एककल गार्हपत्य, अष्टविध धिष्ण्य, एककल आहवनीय-भेदनिबन्धन वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-मूर्त्ति दशावय विराट्प्रजापति, एवं उस की-'देवसत्यरूपता'-का दिग्दर्शन —

इनमें आहवनीय, और गार्हपत्य तो एक एक कलायुक्त ही रहा। परन्तु मध्यस्थ आन्तरिक्ष्य धिष्ण्याग्नि **अष्टविध नाक्षत्रिक सपाग्नि** के सम्बन्ध से अष्टकल बन गया। इसक्रम से ३ के स्थान में १० कला होगई। एककल सौरदिव्य आहवनीय **'सर्वज्ञ'** कहलाया, अष्टकल आन्तरिक्ष्य धिष्ण्य **'हिरण्यगर्भ'** कहलाया, एवं एककल पार्थिव गार्हपत्य (नूतनगार्हपत्य) **'वैश्वानर'** कहलाया। **अग्निशुक्रमय एककल अर्थमूर्त्ति पार्थिव वैश्वानर, आपःशुक्रमय अष्टकल क्रियामूर्त्ति आन्तरिक्ष्य हिरण्यगर्भ, एवं वाक्-शुक्रमय एककल ज्ञानमूर्त्ति दिव्यलोकस्थ सर्वज्ञ, इन तीनों की समष्टि ही देवसत्यात्मक "विराट्-प्रजापति" कहलाया।** दस संख्या के सम्बन्ध से ही यह **'विराट्'** नाम से समन्वित हुआ। **एवं यही पाँचवीं साञ्जनसंस्था कहलाई।**

१७६–सूर्य्य के द्वैधीभाव के सम्बन्ध में महती विप्रतिपत्ति, तन्निराकरण, और सावरण-विश्व के सुप्रसिद्ध तीन-'धाम', एवं तत्र मन्त्रश्रुति का संस्मरण—

अमृतशुक्रत्रयी के तीसरे अमृताग्निशुक्र को भी हमने सूर्य्य का स्वरूप-समर्पक बतलाया है, एवं मर्त्यशुक्रत्रयी के पहिले मर्त्याग्निशुक्र को भी सूर्य्य का स्वरूप-सम्पादक बतलाया है। तो क्या नास्तिकदर्शन के अनुसार सत्ताब्रह्मोपासक वैदिक–विज्ञान भी दो दो सूर्य्य मानता है ?। नहीं। सूर्य्य तो एक ही है। इस एक ही सूर्य्य में अमृताग्नि का भी समावेश है, एवं मर्त्याग्नि का भी समावेश है। मध्यस्थ सूर्य्य से ऊपर के पारमेष्ठ्य मण्डल में अमृतात्मक आपःशुक्र की, परमेष्ठी से ऊपर के स्वायम्भुव मण्डल में अमृतमय वाक् शुक्र की प्रधानता है। इन्हीं दोनों अमृतधामों की समष्टि **"परमधाम"** कहलाती है। एवमेव सूर्य्य से नीचे के आन्तरिक्ष्य चान्द्रमण्डल में मृत्युप्रधान आपःशुक्र की प्रधानता है, एवं चन्द्रमा से नीचे के पार्थिवमण्डल में मृत्युप्रधान वाक्शुक्र-की प्रधानता है। इन्हीं दोनों मृत्युधामों की समष्टि **"अवमधाम"** नाम से प्रसिद्ध है। मध्यस्थ सूर्य्य इस ओर के पहिले मर्त्याग्निशुक्र को लेकर मर्त्य

अवमधामों का भी व्यवस्थापक बन रहा है, एवं उस ओर के तीसरे अमृताग्निशुक्र को लेकर अमृतधामों का भी व्यवस्थापक बन रहा है, जैसाकि--"निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च" * इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इसी धामत्रयी का दिग्दर्शन कराती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥

—यजुःसं० १६।२१।

१७७—अमृतसूर्य्य के द्वारा "धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य"-भावों की, तथा मर्त्यसूर्य्य के द्वारा-"अभिनिवेश-अविद्या-आसक्ति-अस्मिता"-भावों की क्रमिक अभिव्यक्ति का दिग्दर्शन—

निष्कर्ष यही हुआ कि, सूर्य्य से नीचे नीचे मर्त्य आपःशुक्र (चन्द्रमा), एवं मर्त्य वाक्शुक्र [महिमा-पृथिवी] की प्रधानता है। दूसरे शब्दों में सूर्य्य से नीचे नीचे विशुद्ध मृत्यु का साम्राज्य है--"तस्माद्यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात्-सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्" [शतपथ० १० कां०] सूर्य्य से ऊपर ऊपर अमृत आपःशुक्र, एवं अमृत वाक्शुक्र की प्रधानता है, एवं मध्यस्थ अमृताग्निशुक्र, एवं मर्त्याग्निशुक्र दोनों के समन्वय से सूर्य्य उभयमूर्त्ति है। अमृतरूप से वही सूर्य्य हमारी बुद्धि में **धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य**, इन चार **'विद्या-भावों'** का विकास करता है, एवं मृत्युरूप से वही सूर्य्य बुद्धि को **अभिनिवेश-अविद्या-आसक्ति-अस्मिता**, इन चार **'अविद्याभावों'** से युक्त करता है। वक्तव्य यही है कि, एक ही सूर्य्य में दोनों अग्नि-शुक्रों का भोग होरहा है। इसी दृष्टि से हमने अमृतशुक्रत्रयी में भी सूर्य्य का सम्बन्ध बतला दिया है, एवं मर्त्यशुक्रत्रयी में भी सूर्य्य का सम्बन्ध मान लिया है।

१७८-विराट्प्रजापति की 'रुद्र'-रूपता, तन्निबन्धना रुद्रपत्नी-रूपा रोदसी-त्रिलोकी, एवं तालिकारूपेण विराट्प्रजापति का चतुर्द्धा संस्मरण—

उक्त शुक्रविभूति से हम इस निश्चय पर पहुँचे कि, अमृतशुक्रत्रयी तो **सत्ययज्ञात्मक चरप्रजापति** की स्वरूप-समर्पिका है, एवं मर्त्यशुक्रत्रयी **विराट्प्रजापति** की स्वरूप--समर्पिका **है**। यही विराट् प्रजापति मृत्युप्रधान बनता हुआ 'रुद्र' नाम से प्रसिद्ध है। **रुद्र के सम्बन्ध से सूर्य्य-चन्द्र-पृथिव्यात्मिका त्रिलोकी "रोदसी-त्रिलोकी" कहलाती है---"रोदसी रुद्रपत्नी"। पाँचवें विराट्प्रजापति का यही संक्षिप्त स्वरूप-निदर्शन है, जैसाकि आगे की तालिकाओं से स्पष्ट है।**

---

* **आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च**
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

—यजुःसं० ३३।४३

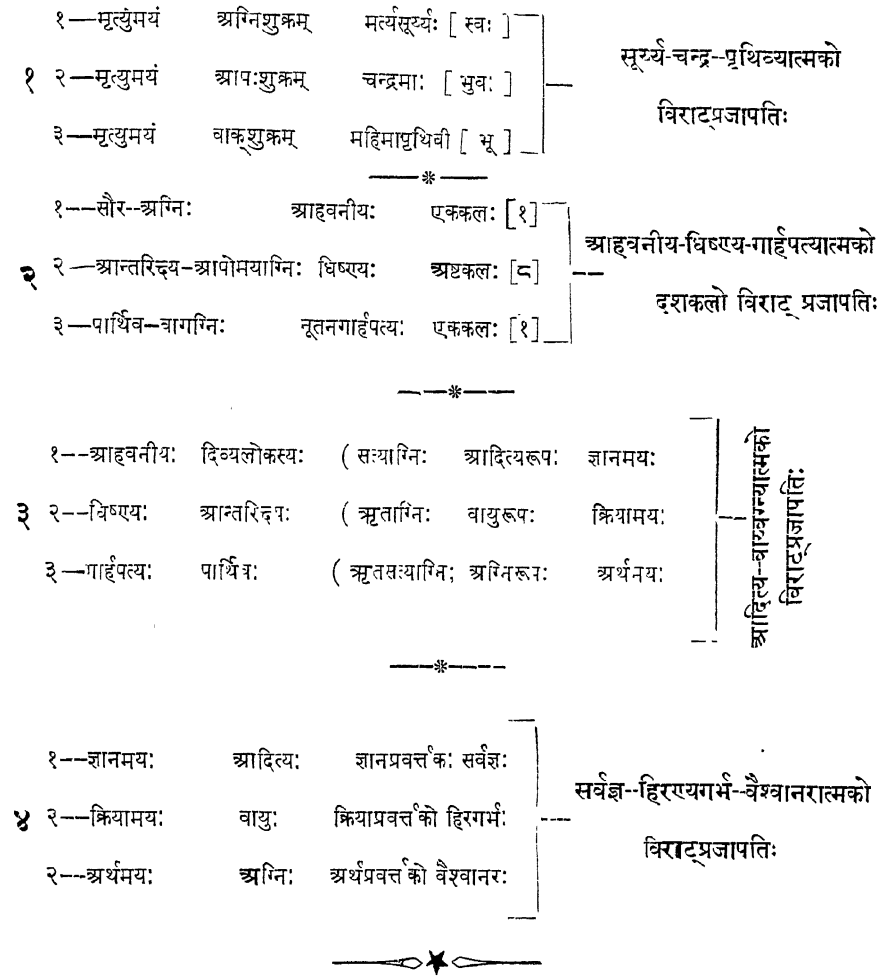

१७६—शुक्रसंस्थानुगत क्षरतत्त्व के द्वारा सत्य-यज्ञ-विराट्—भावों की स्वरूप-शिक्षा—

यही शुक्रनिरूपण हमें यह भी शिक्षा दे रहा है कि, क्षरात्मिका शुक्रत्रयी ही अमृत—मृत्यु के भेद से षट्कल बनती हुई क्रमशः **सत्य--यज्ञ--विराट्**, इन तीन संस्थाओं के विकास का कारण बन रही है। क्षर--संस्था के गर्भ में हीं तीनों प्रजापति प्रतिष्ठित हैं। और इसी दृष्टि से **इन** तीनों संस्थाओं को हम **'क्षरसंस्था'** भी कह सकते हैं। यहीं सब कुछ समाप्त है। **अव्यय--अक्षर--क्षर,** इन तीन के अतिरिक्त और हो भी क्या सकता है ?। आगे के परिलेखों से क्षरानुबन्धिनी तीनों संस्थाओं का स्वरूप सर्वात्मना गतार्थ है।

१ प्राणः [वेदा] वाक् [ब्रह्मा स्वयम्भूः वाङ्मयः]]—सत्यप्रजापतिः (३)

२ आपः [लोकाः] आपः [विष्णुः परमेष्ठी आपोमयः]
३ वाक् [देवाः] अग्निः [शिवः सूर्य्यः अग्निमयः] } यज्ञप्रजापतिः (४)

१

१ वाक् [देवाः] अग्निः [वाक् सूर्य्यः अग्निमयः]
२ अन्नम् [पशवः] आपः [अन्नम् चन्द्रमाः आपोमयः] } विराट्प्रजापतिः (५)
३ अन्नादः [भूतानि] वाक् [अन्नादः पृथिवी वाङ्मयी]

—*—

२

वाक् स्वयम्भूः [प्राणमयः]]—सत्यः
आपः परमेष्ठी [आपोममयः] } यज्ञः — अमृतशुक्रत्रयी
अग्निः सूर्य्यः [वाङ्मयः]]

अग्निः सूर्य्यः [वाङ्मयः]
आपः चन्द्रमाः [अन्नमयः] } विराट् — मर्त्यशुक्रत्रयी
वाक् पृथिवी [अन्नादमयी]

ज्वरसंस्था (शुक्रम्)

—०—

३

अमृतस्वयम्भूः —१—स्वयम्भूः— सत्यप्रजापतिः [ब्रह्मा]

अमृतपरमेष्ठी —२—परमेष्ठी } यज्ञप्रजापतिः [विष्णुः]
अमृतसूर्य्यः } —३—सूर्य्यः— }
मर्त्यसूर्य्यः }
मर्त्यचन्द्रमाः —४—चन्द्रमाः } विराट्प्रजापतिः [महादेवः]
मर्त्यपृथिवी —५—पृथिवी }

———*———

१८०–'साञ्जनविराट्प्रजापति' के आधार पर 'सावरण-विश्व' की स्वरूपाभिव्यक्ति, अग्नीषोमात्मिका विश्वस्वरूप-परिभाषा, एवं अग्नि के त्रिविध-महिमा-विवर्त्तों का वर्गीकरण—

अब क्रमप्राप्त ६ ठा विवर्त्त हमारे सामने सामने आया। साञ्जन--विराट्प्रजापति के साथ जब तमःप्रधान **आवरणपरिग्रह** का सम्बन्ध हुआ, तो **सावरणविश्व** का प्रादुर्भाव हुआ, एवं यही उस **'तत्'** का ६ ठा परिग्रह कहलाया। इस विश्व के सम्बन्ध में एक महती विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। विश्व का क्या स्वरूप है ?, इस प्रश्न के उत्तर में श्रुति का--"**अग्नीषोमात्मक जगत्**" यह वचन हमारे सामने आता है। अग्नि, और सोम, दोनों के समन्वितरूप का ही नाम **जगत्**, किंवा **विश्व** है। यह अग्नितत्त्व **वेदाग्नि**[1] **अङ्गिरोऽग्नि**[2] **अन्नादाग्नि**[3] भेद से तीन भागों में विभक्त है। वेदाग्नि हीं **सत्याग्नि, वाग्नि प्राणाग्नि, ब्रह्माग्नि, सार्वयाजुषाग्नि**, इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध है। अङ्गिरोऽग्नि ही **सावित्राग्नि, वेदाग्नि, पुरुषाग्नि, यज्ञाग्नि**, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। एवं तीसरा अन्नादाग्नि हीं **गायत्राग्नि, भूताग्नि, उख्याग्नि, मृग्याग्नि, चितेनिधेयाग्नि**, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है।

१८१- विश्वनिबन्धन सोम के द्विविध-महिमा-विवर्त्तों का नाम-संस्मरण—

दूसरा सोमतत्त्व **दिक्सोम, भास्वरसोम**, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। इस में पहिला दिक्सोम **आपः, ब्रह्मणस्पति, पवित्र**, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। एवं दूसरा भास्वरसोम **सोम, चन्द्रमा, अश्मा, वृत्र, ओषधि** इत्यादि नामो से प्रसिद्ध है। इसप्रकार विश्वस्वरूप–सम्पादक अग्नि, एवं सोम ३--२ के क्रम से ५ भागो में विभक्त होरहा है।

१८२–त्रिविध अग्नि-विवर्त्तों, तथा द्विविध सोम-विवर्त्तों से समन्वित पञ्चात्मक-पञ्चपर्वा-सावरण-विश्व की स्वरूप-निष्पत्ति—

इन पाँचों का जब हम अन्वेषण करने चलते हैं, तो पूर्वोक्ता त्रसंस्था की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित होजाता है। अवश्य ही **त्रसंस्था का सत्यस्वयम्भू ही वेदाग्नि है, आपोमम परमेष्ठी ही दिक्सोम**, है, जिसके लिए–"**तृतीयस्थां वै इतो दिवि सोम आसीत्**" यह कहा जाता है। **अग्निमय सूर्य्य ही अङ्गिरोऽग्नि है, आपोमय चन्द्रमा ही भास्वरसोम है**, एवं **वाङ्मयी पृथिवी ही अन्नादाग्नि है**। यही त्रसात्मक पञ्चपर्वा भौतिक विश्व है। **विश्व ही आत्मा का धाम है**। अतएव पूर्व मे स्वयम्भू आदि को **परम-अवम-मध्यम**--धाम कहना भी चरितार्थ होजाता है। इसप्रकार **'विश्व'** नामका विवर्त्त त्रसंस्था से कोई पृथक् पदार्थ सिद्ध नहीं होता *।

---

* खण्डचतुष्टयात्मक–"**भारतीय हिन्दू मानव, और उस की भावुकता**" नामक पाँच सहस्र-पृष्ठात्मक निबन्ध के--'**विश्वस्वरूपमीमांसा**' नामक प्रथमखण्ड में 'विश्व' का सुविशद वैज्ञानिक-समन्वय-प्रयास हुआ है।

(वाक्)—१–स्वयम्भूः (वेदाग्निः)–प्राणमयः—आग्निः
(आपः)—२–परमेष्ठीः (दिक्सोमः)–आपोमयः—सोमः
(अग्निः)—३–सूर्य्यः (अङ्गिरोऽग्निः –वाङ्मयः—अग्निः
(आपः)—४–चन्द्रमाः (भास्वरसोमः)–अन्नयमः—सोमः
(वाक्)—५–पृथिवीः (अन्नादाग्निः)-अन्नादामयी–अग्निः

—अग्नीषोमात्मकं जगत्

१८३–अव्ययाक्षर का 'आत्मत्व', एवं क्षर का 'विश्वत्व', तन्निबन्धन पञ्चमहाभूतों का स्वरूप–समन्वय, तथा तालिका-माध्यम से पञ्चभूतात्मक-शुक्रात्मक-विश्व का स्वरूप–दिग्दर्शन—

एक दूसरी दृष्टि से भी क्षरप्रपञ्च का विश्वरूपत्व सिद्ध होजाता है। पाठकों को स्मरण होगा कि, हमने **मनोमय निर्गुण अव्यय, एवं प्राणमय सकल अक्षर** (षोडशी), इन दोनों को तो 'आत्मा' कहा था, एवं **वाङ्मय क्षर** को 'विश्व' कहा था (देखिए पृष्ठसंख्या १६६)। आनन्द–विज्ञान–मनोमयी निर्गुण-अव्ययसंस्था मन है, अक्षरात्मक मनोमय अव्यय, अक्षरात्मक प्राणमय अक्षर, वाङ्मय क्षर, तीनों की समष्टिरूप मनः–प्राण–वाङ्मयी सकला अक्षरसंस्था प्राण है। मनोरूप अव्यय, एवं प्राणरूप अक्षर, दोनों का समुच्चितरूप ही 'आत्मा' है। इसी मनःप्राणमय आत्मा से (प्राणात्मा के वाङ्मय क्षर भाग से) उपनिषच्छास्त्रने क्रमशः **आकाश–वायु–तेज–जल–पृथिवी**, इन पाँच भूतों को उत्पत्ति मानी है, जैसा कि—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी" इत्यादि तैत्तिरीय–वचन से स्पष्ट है। अवश्य ही **आकाश स्वयम्भू है, वायुसमुद्र परमेष्ठी है, तेजोघन सूर्य्य है, आपोमय चन्द्रमा है, सर्वान्त में वही पूर्वोक्ता पृथिवी है। पञ्चमहाभूतों की समष्टि का ही नाम विश्व है,** एवं वह विश्व क्षरसंस्था के सत्य-यज्ञ–रूप स्वयम्भू आदि से पृथक् नहीं है। इस दूसरी दृष्टि से भी हम क्षरसंस्थात्मक सत्ययज्ञरूप शुक्रभाग को ही विश्व कह सकते हैं।

(वाक्) १-आकाशः—स्वयम्भूः—प्राणमयः
(आपः) २–वायुः——परमेष्ठी——आपोमयः
(अग्निः) ३–तेजः——सूर्य्यः——वाङ्मयः—
(आपः) ४–जलम्——चन्द्रमाः—अन्नमयः—
(वाक्) ५–पृथिवी——पृथिवी—अन्नादमयीः

—पञ्चभूतात्मकं शुक्रात्मकं वा विश्वम्

१८४–भौतिक विश्व का मौलिक-उपादान-द्रव्यात्मक-'वाक्' तत्त्व, तत्प्रसूत आपोमय भृग्वङ्गिरा, तदनुप्राणित वराहवायु, एवं तद्द्वारा 'सूर्य्य' की स्वरूपाभिव्यक्ति—

एक तीसरी दृष्टि से भी उक्त सिद्धान्त की ही पुष्टि होरही है । विज्ञान-सिद्धान्त के अनुसार भौतिक विश्व का उपादान **वाक् तत्त्व** ही माना गया है । वाक् से सर्वप्रथम पानी [अप्तत्त्व] उत्पन्न होता है– "सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्" । यह अप्तत्त्व "आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्" इस अथर्व-सिद्धान्त के अनुसार **भृगु**, एवं **अङ्गिरोमय है** । भृगु **सोमरूप आपः है**, एवं **अङ्गिरा अग्निरूप आपः है** । यही ऋतग्नि **वराहवायु** की नोदना से आगे जाकर संघातमात्र में परिणत होता हुआ सूर्य्यरूप में परिणत होता है । आपः के गर्भ में हीं यह **'अग्नि'** नामक अग्निमय सूर्य्य प्रकट हुआ है । पृथिवी इसी सूर्य्य का उपग्रह है । एवं चन्द्रमा इसी पृथिवी का अत्रिप्राणात्मक उपग्रह माना गया है ।

१८५–विश्वमूलभूत वाक्तत्त्व के-'सत्या-आम्भृणी-बृहती-अनुष्टुप्-सुब्रह्मण्या' नामक पाँच महिमा-विवर्त्त, एवं तन्निबन्धन पञ्चवागात्मक विश्व का तालिका-माध्यम से स्वरूप-समन्वय—

इसप्रकार वह वाक्तत्त्व ही क्रमशः **आपः–सूर्य्य-पृथिवी–चन्द्रमा**, इन चार रूपों में परिणत होता हुआ पञ्चात्मक विश्वरूप में परिणत होरहा है । स्वयम्भू की प्राणमयी वाक् **सत्यावाक्** कहलाती है, परमेष्ठी की आपोमयी वाक् "**आम्भृणीवाक्**" कहलाती है, सूर्य्य की वाङ्मयी वाक् "**बृहतीवाक्**" कहलाती है, इसे ही **गौरिवीता**, किंवा **गौरीविता** भी कहा गया है । चन्द्रमा की अन्नमयी वाक् "**सुब्रह्मण्या**" नाम से प्रसिद्ध है । एवं अन्नादमयी पार्थिवी वाक् "**अनुष्टुप्**" नाम से प्रसिद्ध है–"**अनुष्टुभमनु चर्चूर्य्यमाण-मिन्द्रं निचिक्यु; कवयो मनीषा**" । वाक् की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य में रख कर–"**वाचीमा विश्वा-भुवनान्यर्पिता**"–"**अथो वागवेदं सर्वम्**" यह कहा जाता है । यह भी विज्ञ पाठकों को विदित ही है कि, वाङ्मय क्षर ही **वाक्-आपः–अग्निः, अग्निः-आप;-वाक्** , इन शुक्ररूपों में परिणत होता हुआ स्वयम्भू परमेष्ठी आदि [सत्य-यज्ञ-संस्थाओं] का स्वरूप-समर्पक बना है । **इस दृष्टि से भी हम क्षरसंस्थात्मक सत्य-यज्ञरूप शुक्रभाग को ही विश्व कहेंगे** ।

वाक्	१	वाक्	स्वयम्भूः (सत्यावाक्)	प्राणमयी	
आपः	२	भृगुः	परमेष्ठीः (आम्भृणीवाक्)	आपोमयी	
अग्निः	३	अङ्गिरा	सूर्य्यः (बृहतीवाक्)	वाङ्मयी	पञ्चवागात्मकं
वाक्	४	पृथिवी	पृथिवी (अनुष्टुब् वाक्)	अन्नादमयी	शुक्रात्मकं वा विश्वम्
आपः	५	चन्द्रमाः	चन्द्रमाः (सुब्रह्मण्यावाक्)	अन्नमयी	

—*—

१८६–स्मार्त्ती-दृष्टि से अनुप्राणित विश्व की सत्य-यज्ञा-नुगता शुक्रात्मकता का समन्वय—

एक चौथी **स्मार्त्ती दृष्टि** से भी उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन होरहा है। **भूतप्रपञ्च की समष्टि ही विश्व माना गया है**। और भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में "क्षरः सर्वाणि भूतानि" यह कहते हुए भूतात्मक विश्व को क्षरमय ही सिद्ध किया है। उधर वाङ्मय क्षर से सम्बन्ध रखने वाले शुक्रषट्क से ही स्वयम्भू परमेष्ठी आदि सत्ययज्ञ विवर्त्तों का प्रादुर्भाव सिद्ध किया गया है। **इस भगवद्दृष्टि से भी हम क्षरसंस्थात्मक सत्य-यज्ञरूप शुक्रभाग को ही विश्व कहेंगे**।

१८७–सत्य-यज्ञ-विराट्-त्रयी की समष्टि से अनुप्राणित विश्व, एवं तत्सम्बन्ध में षष्ठ-संस्थानुगता महती विप्रत्तिपत्ति—

जब अनेक दृष्टियों से शुक्रभाग का ही, दूसरे शब्दों में **सत्य-यज्ञ-विराट्-प्रजापतियों** का ही समष्टिरूप विश्व बन जाता है, तो प्रश्न स्वाभाविक है कि, **'आवरण'** परिग्रह से सम्बन्ध रखने वाले इस "विश्व" नाम के ६ ठे विवर्त्त का क्या स्वरूप है ?, एव वह विश्व कौनसा है ?, जिसकी अपेक्षा से हमें ५ के स्थान मे ६ विवर्त्त मानने पड़े ? । और फिर ऐसा कोई श्रौत प्रमाण भी तो नही है, जिसके आधार पर पञ्चमहाभूतात्मक विश्व से अतिरिक्त [जिसका कि सत्य-यज्ञ-विराट्मूर्त्ति शुक्रभाग में हीं अन्तर्भाव है] "विश्व" नामक पदार्थ की सत्ता सिद्ध की जासके।

१८८–पञ्चपर्वात्मक विश्व, एवं सत्य-यज्ञ-विराट्-मूर्त्ति शुक्रात्मक क्षर की अभिन्नता, तन्निबन्धना अमृत-ब्रह्म–शुक्र–त्रयी का स्वरूप-समन्वय, तथा अश्वत्थप्रजापति से अनुप्राणित 'लोक' का संस्मरण—

विप्रतिपत्ति यथार्थ है। अवश्य ही **पञ्चपर्वात्मक विश्व, एवं सत्य-यज्ञ-विराट्-मूर्त्ति शुक्रात्मक क्षर,** दोनों एक ही वस्तु तत्त्व हैं। फिर भी हमें "विश्व" नाम की एक स्वतन्त्र ६ ठी सस्था मान हीं लेनी पड़ती है। और **तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे"** यह श्रुति ही ऐसा मनने के लिए हमें विवश कर रही है। मनोमय निर्गुण अव्ययात्मा **"अमृतम्"** है, प्राणमय सकल षोडशीप्रजापति [अक्षरप्रजापति] **"ब्रह्म"** है। एवं पूर्वकथनानुसार वेदात्मा स्वयम्भूरूप **सत्यप्रजापति** [वाक्शुक्र], लोकात्मक परमेष्ठी, एवं देवात्मक अमृतसूर्य्यरूप **यज्ञप्रजापति** [आपः-अग्निशुक्र], तथा देवात्मक-मर्त्यसूर्य्यरूप सर्वज्ञ [मर्त्याग्नि, शुक्र], पश्वात्मक मर्त्य चन्द्ररूप हिरण्यगर्भ [मर्त्य आपः शुक्र], भूतात्मक पृथिवीरूप वैश्वानर [मर्त्य वाक् शुक्र], इन तीनों की समष्टिरूप **विराट्प्रजापति** की समष्टि ही वाङ्मय सगुण-सविकार-साञ्जन **"शुक्रम्"** है। **"अमृत"–"ब्रह्म"** [अव्यय–अक्षर] **आत्मा है, 'शुक्र' इस आत्मा का शरीर है**। एवं यही शरीर भागवत-सम्प्रदायानुसार **सप्तवितस्तिकायात्मक "विश्व"** है। इसके अतिरिक्त उस **"तत्"** के विस्तार में 'विश्व' नाम का कोई अन्य पदार्थ शेष नहीं रह जाता। परन्तु श्रुति कहती है कि, अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक उस प्रजापति [अश्वत्थप्रजापति] में सम्पूर्ण **"लोक"** आश्रित रहते हैं।

"तदेव शुक्रं–तद् ब्रह्म–तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे"

१८९–कठश्रुति का 'लोकाः' शब्द, त्रैलोक्य-निवासिनी 'प्रजा' का 'लोकभाव', एवं लोकात्मक 'विश्व' शब्द—

विचारणीय यह है कि श्रुति का यह "लोकाः" कौन है ?। यह "लोकाः" पञ्चपर्वा विश्व तो हो नहीं सकता। क्योंकि विश्व तो 'तत्' के वाङ्मय तीसरे शुक्रविवर्त्त से ही गतार्थ है। ऐसी दशा में मानना पड़ेगा कि, यह "लोकाः" किसी अन्य वस्तु का ही वाचक है, और उसी अन्य वस्तु को हमने "विश्वम्" कहा है। "लोकस्तु भुवने जने" के अनुसार लोकशब्द जहाँ भुवनात्मक विश्व का वाचक है, वहाँ जन का भी संग्राहक है, एवं "प्रजा स्यात् सन्ततौ जने" के अनुसार प्रजावर्ग [त्रैलोक्य में रहने वाली जीवात्मिका प्रजा) ही जन है। "प्रजा वै जनकल्पाः" [ऐ० ब्रा० ६।३२] इत्यादि श्रुति भी इसी पक्ष का समर्थन कर रही है। त्रैलोक्य में रहने वाली इसी प्रजा के लिए, दूसरे शब्दों में इसी जीवसृष्टि के लिए हमने "विश्वम्" कहा है।

१९०–'यद्वै विश्वं, सर्वं तत्'–निगम मूलक 'विश्व' शब्द की सर्वरूपता, तदनुबन्धी–'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव', एवं 'विश्व' शब्द का स्वरूप-समन्वय—

अब प्रश्न केवल यही बच रहता है कि, इसे "प्रजा"-"जन"-"लोक" आदि शब्दों में से किसी एक शब्द से व्यवहृत न कर "विश्व" शब्द से ही सम्बोधित क्यों किया गया ?। उत्तर यही है कि, 'विश्व' शब्द केवल पञ्चपर्वा विश्व का ही वाचक नहीं है। अपितु "विश्वातीत-विश्व" इन दो महतोमहीयान् विभागों के अनुसार परात्पर को 'विश्वातीत' कहा जाता है, एवं आगे के यच्चयावत् विवर्त्त "विश्व" नाम से व्यवहृत किए जासकते हैं। श्रुति ने भी-"यद्वै विश्वं, सर्वं तत्" (शत० ३।१।२।११] यह कहते हुए विश्व को सर्वप्रपञ्च का ही वाचक माना है। अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक प्रजापति की सर्वता प्रजासृष्टि पर ही सम्पन्न होती है। वह यहीं आकर 'सर्व' बनता है। अतएव इस प्रजात्मक ६ ठे विवर्त्त को हम "सर्व" कह सकते हैं। "विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव" इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार 'सर्व' के स्थान में 'विश्व' शब्द प्रयुक्त होता देखा गया है। केवल इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखते हुए हमने इस प्रजा-विवर्त्त को "विश्व" कह दिया है।

१९१–'प्रजा'-रूप-'विश्व' के सत्त्व-रज-स्तमो-गुण-निबन्धन त्रिविध महिमा-विवर्त्त, एवं विश्वप्रजानुगता सञ्चरवृत्ति की विश्रान्ति—

इस प्रजारूप विश्व की अभिव्यक्ति सत्य-यज्ञगर्भित वाङ्मय विराट्प्रजापति से ही होती है, यह बतलाया जाचुका है। विराट् के सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ वैश्वानर, ये तीन विवर्त्त बतलाए गए हैं। इन्हीं तीनों से क्रमशः सत्त्वविशाल, रजोविशाल, तमोविशाल, नाम के चतुर्दशविध भूतसर्गों का विकास हुआ है, जैसाकि पूर्व प्रकरणों में प्राकृतिक-सृष्टि-विवर्त्त में विस्तार से बतलाया जाचुका है। ससंज्ञ चेतनजीव प्राज्ञ-प्रधान बनते हुए विराट् की सर्वज्ञकला पर प्रतिष्ठित हैं। अन्तःसंज्ञ अर्द्धचेतन जीव तैजसप्रधान बनते हुए उसकी हिरण्यगर्भकला पर प्रतिष्ठित हैं। एवं असंज्ञ अचेतनजीव [पार्थिव पाषाणादि-जड़पदार्थ] वैश्वानरप्रधान बनते हुए उसकी वैश्वानरकला पर प्रतिष्ठित हैं। इन तीनों जीवसर्गों का ६ ठे 'आवरणपरिग्रह' से ही सम्बन्ध है। यही वैकारिक प्रपञ्च है। यहाँ आकर सृष्टिवितान, किंवा सृष्टि का संचरक्रम विश्रान्त है।

१९२–स्वायम्भूतिकल्प, मायाकल्प, विकारकल्प, भेद से सृष्टिकल्पों के त्रिविध महिमा-विवर्त्त—

एक दूसरी दृष्टि से उक्त सृष्टिकल्प का समन्वय कीजिए। वैज्ञानिकोंने सृष्टिकल्प [सृष्टिविवर्त्तभाव] के तीन विभाग माने हैं। वे तीनों कल्प क्रमश **स्वयम्भूतिकल्प, मायाकल्प, विकारकल्प**, इन नामों से यत्र तत्र इतिहास-पुराणग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। **मायाकलावच्छिन्न मनोमय अव्यय 'स्वयम्भूतिकल्प' है, यही 'पुरुषकल्प' है। षोडशी–सत्य-यज्ञ-विराट् ये चारों 'मायाकल्प' हैं, एवं मैथुनीसृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला भूतसर्ग ही तीसरा 'विकारकल्प'**

१९३–महामाया, योगमाया, दैवीमाया, महन्माया, आसुरीमाया, जीवमाया, भेदभिन्न प्रकृतितत्त्व के षट्परिग्रह-निबन्धन षड्विध महिमा–विवर्त्त

एक तीसरी दृष्टि से उक्त सृष्टिकल्प का समन्वय कीजिए। **"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि"** इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण तत्त्ववाद को **'पुरुष'-'प्रकृति'**, इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। **"तत्तु समन्वयात्"** इस शारीरक-सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति–पुरुष के समन्वय से ही उक्त ६ विवर्त्तों का विकास हुआ है। **माया-कला-गुण-विकार-अञ्जन-आवरण**, इन ६ परिग्रहरूप उपाधियों से ही उस बलात्मिका प्रकृति * के ६ रूप होजाते हैं। इन परिग्रहों से युक्त होकर वह अनादि-प्रकृति सादिभावों में परिणत होती हुई ६ रूप धारण कर लेती है। **मायापरिग्रहोपेता वही प्रकृति महामाया[1] है, कलापरिग्रहोपेता वही प्रकृति "योगमाया"[2] है, गुणपरिग्रहोपेता वही प्रकृति "दैवीमाया"[3] है, विकारपरिग्रहोपेता वही प्रकृति "महन्माया"[4] है, अञ्जनपरिग्रहोपेता वही प्रकृति "आसुरीमाया"[5] है, एवं आवरणपरिग्रहोपेता वही प्रकृति "जीवमाया"[6] है।**

१९४–षड्विध–परिग्रहों से समन्वित षड्विध मायाविवर्त्तों के अनुबन्ध से षड्विध उपास्य–पुरुषों का स्वरूप–संस्मरण—

पुरुष के साथ महामाया के समन्वय से **'निर्गुण-अव्यय'[1]** का विकास होता। अव्यय के साथ योगमाया के समन्वय से **सकल-षोडशी[2]** प्रजापति का प्रादुर्भाव होता है। षोडशी के साथ दैवीमाया के समन्वय से **'सगुण[3] सत्यप्रजापति'** का प्रादुर्भाव होता है। सत्य के साथ महन्माया के समन्वय से **'सविकार[4] यज्ञप्रजापति'** का प्रादुर्भाव होता है। यज्ञ के साथ आसुरीमाया के समन्वय से **'साञ्जन-विराट्[5] प्रजापति'** की उत्पत्ति होती है। एवं विराट् के साथ जीवमाया के समन्वय से **'विश्वरूप चतुर्दशविध[6] भूतसर्ग'** की उत्पत्ति होती है। इसप्रकार परिग्रहोपेता, षड्भावापन्ना प्रकृति ही पुरुष के साथ समन्वित होती हुई ६ विवर्त्तभावों का कारण बनती है। सिद्धान्तरूप से बात एक ही है, केवल वक्तव्यात्मिका दृष्टि में ही विभेद है, जैसाकि परिलेखों से स्पष्ट है।

---

*–विद्वत्–समाज में प्रकृति, और माया को एक वस्तु समझा जारहा है। परन्तु विज्ञानदृष्टि से दोनों तत्त्व सर्वथा पृथक् पृथक् हैं। **परात्पर का बलगर्भित अनादिरस पुरुष है, एवं रसगर्भित अनादि बल प्रकृति है।** यही बलात्मिका प्रकृति सीमाभाव में आकर **"माया"** कहलाती है। **मायात्मिका प्रकृति सादि है, मायामय पुरुष भी सादि है एवं मायावस्थाशून्य प्रकृति-पुरुष-अनादि हैं।**

१-त्रयः सृष्टिकल्पाः—

१ — १—स्वयम्भूतिकल्पः—अव्ययकल्पः [मनोमयः]—भावसृष्टिः
२—मायाकल्पः——अक्षरकल्पः [प्राणमयः]—गुणविकारसृष्टिः
३—विकारकल्पः——क्षरकल्पः [वाङ्मयः]—मैथुनीसृष्टिः
} तदिदं सर्वम्

——*——

२ — १—अव्ययः } स्वयम्भूतिकल्पः [अव्ययसृष्टिः]
२—षोडशी
३—सत्यः
४—यज्ञः
५—विराट्
} मायाकल्पः [अक्षरसृष्टिः]
६—विश्वम् } विकारकल्पः [क्षरसृष्टिः]
} "तदिदं सर्वम्"

——*——

२--प्रकृति-पुरुषकल्पः—

माया---परिग्रहयोगात्-प्रकृतिः—**महामाया**-ततः-अश्वत्थोदयः ।
कला----परिग्रहयोगात्-प्रकृतिः—**योगमाया**—ततः-कलोदयः ।
गुण----परिग्रहयोगात्-प्रकृतिः—**दैवीमाया**-ततः-त्रैगुण्योदयः ।
विकार-परिग्रहयोगात्-प्रकृतिः—**महन्माया**-ततः-मात्रोदयः ।
अञ्जन---परिग्रहयोगात्-प्रकृतिः-**आसुरीमाया**-ततः-पाप्मोदयः ।
आवरण-परिग्रहयोगात्-प्रकृतिः—**जीवमाया**-ततः-विश्वोदयः ।

—★—

१६५–उपास्य-तत्त्वानुबन्धी 'भक्तियोग', भक्तियोगनिबन्धन उपास्यतत्त्व की परिग्रह-रूपता, एवं तन्निबन्धना अनिवार्य्यरूपेण उपादेया षड्विध-परिग्रहमीमांसा—

यद्यपि हम यह अनुभव कर रहे हैं कि, उक्त परिग्रहकाण्ड पाठकों की नीरक्षीरविवेकिती दृष्टि में आलोच्य ही बन रहा होगा। भला 'भक्तिपरीक्षा' में इस परिग्रहाडम्बर की क्या आवश्यकता ? । वह सबकुछ अनुभव करते हुए भी हम अपने पाठकों को यह विश्वास दिलाते है कि, बिना इस **परिग्रह–पारिज्ञान** के भक्तिमार्ग की, दूसरे शब्दों में आरम्भ में बतलाए गए 'भक्ति' के पाँच मार्गों की परीक्षा ही सम्भव नहीं है। परिग्रह ही एकमात्र ऐसी कसौटी है, जिस को मूल में रखते हुए भक्तिमार्गों का हम समन्वय कर सकके हैं। भक्ति पाँच रूपों में परिणत होगई। आगे जाकर पाँच के पचासो रूप होगए, इसमें न भक्ति का कोई अपराध है, एवं न भक्त की ही कोई त्रुटि है। अपितु जिस उपास्य की उपासक भक्ति करता है, वह उपास्यदेवता ही स्वयं पाँच भागों में विभक्त है। और यह भी निश्चित है कि, जबतक उपास्य-देवता के परिग्रह--निबन्धन उन पाँचो रूपो का सम्यक् परिज्ञान प्राप्त नही कर लिया जाता, तबतक **'भक्तिपरीक्षा'** सर्वथा अपूर्ण ही रह जाती है। एकमात्र इसी ध्येय को लक्ष्य में रखते हुए, पाठको की दृष्टि में अप्रासङ्गिक बने हुए, किन्तु भक्तिमार्ग की दृष्टि से न केवल प्रासङ्गिक ही, अपितु नितान्त आवश्यक बने हुए परिग्रहयुक्त पाँचों उपास्यों का स्वरूप बतलाना अनिवार्य्य मान लिया गया।

१६६–भक्तियोगानुबन्धी उपास्यतत्त्व का "३-६-४–५" क्रम से चतुर्द्धा वर्गीकरण—

अब उक्त परिग्रहविवर्त्त के सम्बन्ध में केवल यही कर्त्तव्य शेष रह जाता है कि, परिग्रहो के द्वारा कृतरूप उन पाँचों उपास्यों का स्वरूप संग्रहरूप से पाठकों सम्मुख उपस्थित कर दिया जाय। भिन्न भिन्न दृष्टियों से सम्बन्ध रखते हुए हम उन उपास्यरूपों को--[३]--[६]--[४]--[५] इन चार भागों में विभक्त कर रहे हैं।

१६७–'त्रिकल–उपास्य' से सम्बन्ध रखने वाली 'त्रिकला–भक्ति', एवं त्रिकला भक्ति के त्रिवृद्भावानुबन्धी 'ज्ञान-भक्ति-कर्म्म' भावों का विस्तार- समन्वय—

[१]–पहिले त्रिकल-विभाग को ही लीजिए। निर्गुण अव्यय [1] **अव्ययसंस्था** है, सकल–षोडशीप्रजापति [2]**अक्षरसंस्था** है, एवं सगुण–सत्यप्रजापति सविकारयज्ञप्रजापति, साङ्गनविराट्प्रजापति, तथा सावरणविश्व, इन चारों की समष्टि [3] **क्षरसंस्था** है। ये तीनों संस्थाएँ क्रमशः [1] **"आनन्द, विज्ञान, मनोमयी"** [2]–**"मनः, प्राण-वाङ्मयी"**–[3]**"वाक-आपः-अग्निमयी"**,—इन रूपों में परिणत होतीं हुईं क्रमशः **मनोमयी–प्राणमयी–एवं वाङ्मयी हैं**। मनोमय अव्यय क्योंकि ज्ञानमय है, अतएव तदात्मिका उपासना **'ज्ञानात्मिका'** कहलाएगी। प्राणमय अक्षर [षोडशी] क्योंकि क्रियामय है, अतएव तदात्मिका उपासना **'क्रियात्मिका'** कहलाएगी। एवं सत्य-यज्ञ--विराट्–विश्व की समष्टिरूप वाङ्मय क्षर क्योंकि अर्थमय है, अतएव तदात्मिका उपासना **'अर्थमयी'** कहलाएगी। **यही त्रिकल उपास्य से सम्बन्ध रखने वाली त्रिकला भक्ति है।**

१६८–'उपासना' और 'भक्ति' के तारतम्य की स्वरूप-मीमांसा—

आगे जाकर जिन असंख्य मार्गों का विकास हुआ है, उन सब का उक्त तीनों में से किसी एक में ही अन्तर्भाव होजाता है। ज्ञानात्मिका उपासना **ज्ञानयोग**–रूपा है, क्रियात्मिका उपासना **भक्तियोग**रूपा है, एवं अर्थात्मिका उपासना **कर्म्मयोग**रूपा है। ज्ञानयोगरूपा अव्यय की भक्ति **'उपासना'** कहलाएगी। कर्म्मयोग–रूपा अक्षर की भक्ति मध्यस्थिता बनती हुई **'भक्ति'** कहलाएगी, एवं कर्म्मयोगरूपा क्षर की उपासना **'कर्म्म'** कहलाएगी, जैसा कि पूर्व के **"उपासना, और भक्ति में तारतम्य"** नामक प्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है।

३–१–त्रिकलभक्तिमार्गः—

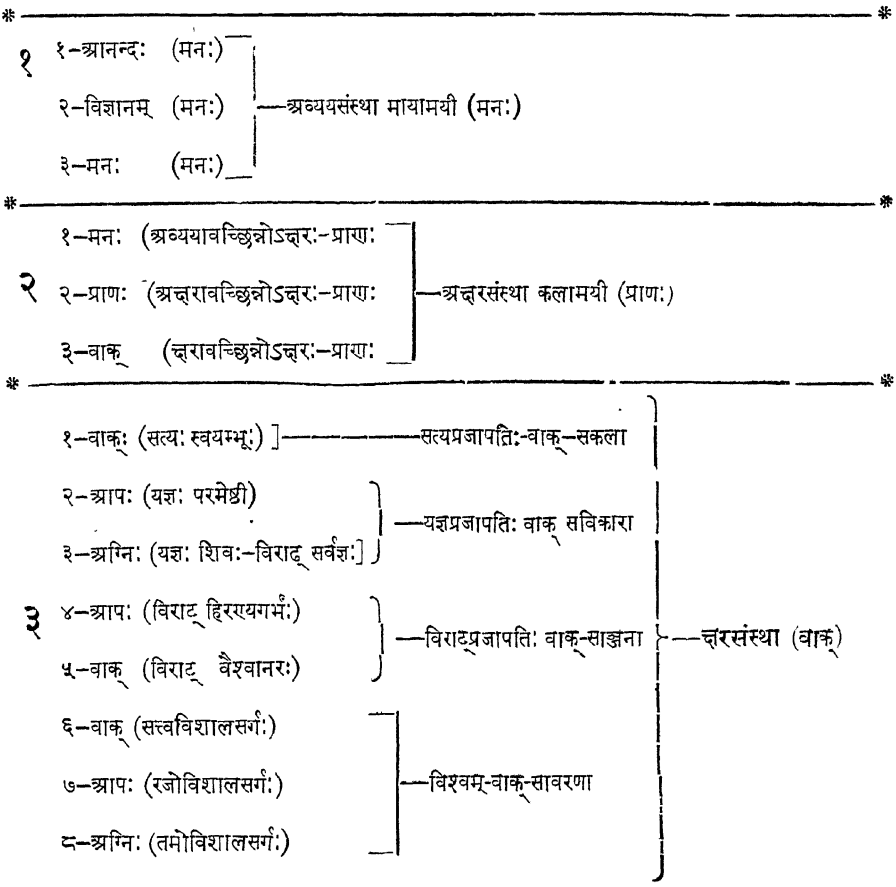

२ १–अव्ययात्मा मनोमयः—ज्ञानात्मा उपास्यः—ज्ञानात्मिका भक्तिः [ज्ञानयोगमयी "उपासना"
२–अक्षरात्मा प्राणमयः—कर्म्मात्मा उपास्यः—क्रियात्मिका भक्तिः [भक्तियोगमयी "भक्तिः"
३–क्षरात्मा वाङ्मयः—अर्थात्मा उपास्यः—अर्थात्मिका भक्तिः [कर्म्मयोगमयं "कर्म्म"

ओमित्येतत् ३ * परात्परः–अर्द्धमात्रा—
१–अव्ययः–अकारः–["यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति"–उपासना]
२–अक्षरः–उकारः–["तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति"–भक्तिः]
३–क्षरः–मकारः–["सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति"–कर्म्म]
–तत्तो पदं संग्रहेण ब्रवीमि"

१

१९९–षट्कलविभागात्मक द्वितीय उपास्य-तन्त्र का संस्मरण, एवं तन्निबन्धन षड्विध-उपासनापथों का नाम-समन्वय—

[२]–दूसरा **षट्कल-विभाग है** । निर्गुण-अव्यय [१]-'**अव्ययात्मा**' है, सकल–षोडशीप्रजापति [२]-**ईश्वरात्मा है**, सगुण–सत्यप्रजापति, [३]-**वेदात्मा है**, सविकार-यज्ञप्रजापति [४]-**यज्ञात्मा है**, साङ्गन विराट्–प्रजापति, [५]-**सर्वभूतान्तरात्मा** [ईश्वरीय देवसत्य] है, एवं सविकार विश्व [६]-**भूतात्मा** [**जीवसम्बन्धी देवसत्य**] है । इन ६ उपास्यों से सम्बन्ध रखने वाली उपासना भी क्रमशः [१] **मनोमयी**, [२]**प्राणमयी**, [३]**वाङ्मयी**, [४]**विष्णुमयी**, [५]**देवमयी**, [६]**भूतमयी**, इन ६ भागो में हीं विभक्त है । (१)–**निर्गुणाव्यय का मानस चिन्तन मनोमयी उपासना है** । (२)–**जीवन के कर्म्म को ईश्वरार्पित कर देना प्राणमयी उपासना है** । (३)–**वेदस्वाध्याय, एवं अध्यापन वाङ्मयी उपासना है** । (४)-**यज्ञ-कर्म्म विष्णुमयी उपासना है** । **यज्ञातिरिक्त (५) प्राकृतिक प्राणदेवताओं की उपासना देवमयी है** । एवं (६) **प्रतिमापूजन भूतमयी उपासना है** । इन ६ ओं में आदि की उपासना ज्ञानयोगात्मिका बनती हुई ज्ञानयोग-स्थानीया "**उपासना**" है । अन्त की उपासना अर्थात्मिका बनती हुई कर्म्मयोग-स्थानीय "**कर्म्म**" है । एवं मध्य की चारों उपासनाएँ क्रियात्मिका बनतीं हुईं भक्तियोग-स्थानीया "**भक्ति**" हैं । इस दृष्टि से उपासनाकाण्ड ६ भागों में विभक्त होजाता है, जैसाकि आगे के परिलेखों से स्पष्ट है ।

षट्कलभक्तिमार्गः—६—

(१)—१–आनन्दः [मनः]
२–विज्ञानम् [मनः]
३–मनः [मनः]
—निर्गुणअव्ययः————————अव्ययात्मा-उपास्यः

१–मनः [अव्ययावच्छिन्नोऽक्षरः]--प्राणः
२–प्राणः [अक्षरावच्छिन्नोऽक्षरः]-प्राणः
३–वाक् [क्षरावच्छिन्नोऽक्षरः]--प्राणः
—सकलः षोडशी–ईश्वरात्मा–उपास्यः

१–वाक् [सत्यस्वयम्भूः]–वाक्]—सगुणः **सत्यः**————————**वेदात्मा**–उपास्यः

१–आपः–[यज्ञः परमेष्ठी]--वाक्
२–अग्निः–[यज्ञः सूर्य्यः]–वाक्
—सविकारोः **यज्ञः**————**यज्ञात्मा**--उपास्यः

१–अग्निः [विराट्–सर्वज्ञः]–वाक्
२–आपः–[विराट् हिरण्यगर्भः]–वाक्
३–वाक् –[विराट् वैश्वानरः]—वाक्
—साङ्गनो **विराट्—सर्वभूतान्तरात्मा**-उपास्यः

१–अग्निः-[प्राज्ञः] –वाक्
२–आपः–[तैजसः] –वाक्
२–वाक्--[वैश्वानरः] -वाक्
—सावरणं **विश्वम्—भूतात्मा—**उपास्यः

(२)—१–अव्ययात्मा——मनोमयी उपासना—**मानसचिन्तनम्**—"**उपासना**"
२–ईश्वरात्मा——-प्राणमयी उपासना—**ईश्वरार्पणम्**
३–वेदात्मा —— —वाङ्मयी उपासना—**वेदस्वाध्यायः**
४–यज्ञात्मा————विष्णुमयी उपासना—**यज्ञानुष्ठानम्**
५–सर्वभूतान्तरात्मा--देवमयी उपासना—**प्राणदेवाराधनम्**
—"**भक्तिः**"
६–भूतात्मा————भूतमयी उपासना—**प्रतिमोपासनम्**—"**कर्म्म**"

——२——

२००–चतुष्कलोपेता 'भक्ति' के आत्मा, पदं, पुनःपदं, अशीतिः, रूप चार विवर्त्त, एवं तदनुप्राणिता भक्ति के चार–विभिन्न–विवर्त्तों का स्वरूप–समन्वय—

[३]--**तीसरा चतुष्कल भक्ति--विभाग है** । निर्गुण अव्यय **'आत्मा'** है, सकल षोडशी "प्रजापति" है, सगुण--सविकार सत्य--यज्ञसमष्टि **'महिमा'** है, एवं साञ्जन--सावरण विराट्--विश्व की समष्टि **"सर्वम्"** है। आत्मा विज्ञानभाषा में [१]--**आत्मा** ही कहलाता है, प्रजापति को [२]–**"पदम्"** कहा जाता है, महिमारूप [३]--**'पुनपदम्'** नाम से प्रसिद्ध है, एवं सर्वरूप [४]–**"अशीति"** नाम से प्रसिद्ध है। इन चार उपास्यों से सम्बन्ध रखने वाली उपासना भी क्रमशः **आत्मोपासना, प्रजापत्युपासना, महिमोपासना, सर्वोपासना** इन चार भागों में विभक्त है। **आत्मचिन्तन आत्मोपासना है, ईश्वरबुद्ध्या अनुष्ठीयमान ज्ञान–क्रिया--अर्थ प्रजापत्युपासना है, स्वर्गप्राप्त्यर्थ अनुष्ठीयमान महिमा--सम्पादक 'यज्ञकर्म्म' 'महिमोपासना' है। एवं लोकवैभव--प्राप्त्यर्थ अनुष्ठीयमान विविध देव--भूतोपासना सर्वोपासना है।** चारो में आदि की उपासना ज्ञानात्मिका बनती हुई ज्ञानयोग--स्थानीया **"उपासना"** है। अन्त की उपासना अर्थात्मिका बनती हुई कर्म्मयोग–स्थानीय **"कर्म्म"** है, एवं मध्य की दोनों उपासनाएँ क्रियात्मिका बनतीं हुईं भक्तियोग-स्थानीया **'भक्ति'** है, जैसाकि निम्नलिखित परिलेखों से स्पष्ट है।

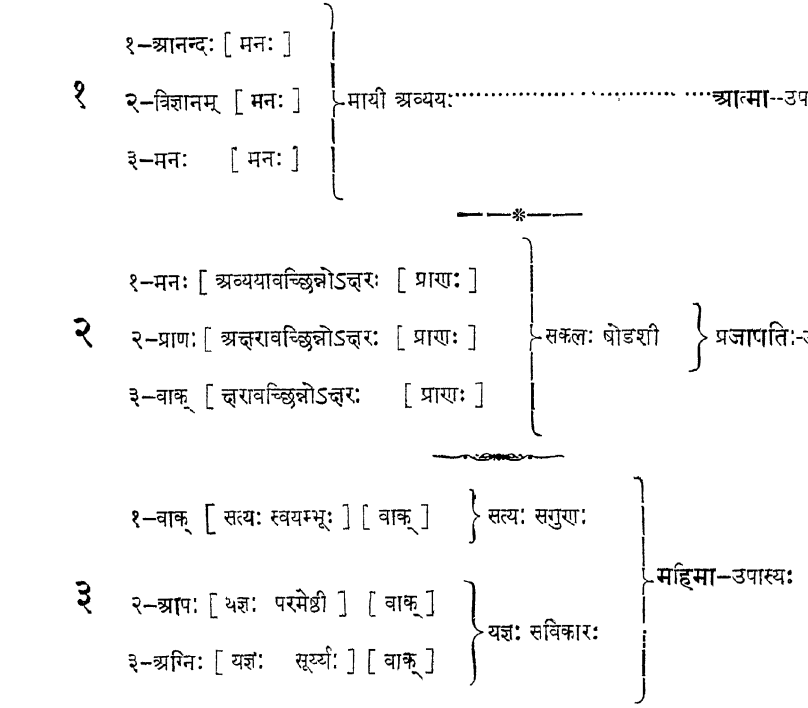

४ १–अग्निः [विराट्—सर्वज्ञः] [वाक्] } विराट् साङ्गनम् } सर्वम्–उपास्यः
२–आपः [विराट्-हिरण्यगर्भः] [वाक्]
३–वाक् [विराट्–वैश्वानरः] [वाक्]
४–वाक् [भूतमया लोकाः] [वाक्] } विश्वं सावरणम्

—o—

१–आत्मा [आत्मा–हृद्यः]——आत्मोपासना–आत्मचिन्तनम् } "उपासना"

२–प्रजापतिः [पदम्–अन्तःपृष्ठम्]—प्रजापत्युपासना–ज्ञानक्रियार्थानुष्ठानम् } "भक्तिः"
३–महिमा [पुनःपदम्-बहिः-पृष्ठम्]—महिमोपासना—काम्ययज्ञानुष्ठानम्

४–सर्वम् [अद्वितयः–साहस्री]—सर्वोपासना——काम्यदेवभूतोपासनम् } "कर्म्म"

३

२०१–क्रमप्राप्त चतुर्थ–भक्तिपथ से अनुप्राणित अष्टविध–महिमा–विवर्त्त, एवं इन का पञ्चविध–महिमाभावों में अन्तर्भाव, तथा तन्निबन्धन पञ्चविध–उपास्यों का संस्मरण—

अब सर्वान्त में वह चौथा भक्ति–प्रकार हमारे सामने आता है, जिसे कि हम पाँच भागों में विभक्त करते हैं। एवं जो कि हमारे इस भक्तिपरीक्षा–प्रकरण का मूलस्तम्भ है। मनः–प्राण–वाङ्–मय आत्मविवर्त्त को हम क्रमशः [1] **अव्यय**–[2]**अक्षर**–[3]**आत्मक्षर**–[4]**विकारक्षर**–**वैकारिकक्षर,** इन पाँच भागों में विभक्त करसकते हैं। यद्यपि विकारक्षर के **विशुद्ध–विकारक्षर, पञ्चीकृत विकारक्षर, पञ्चपञ्चीकृत विकारक्षर, [विश्वसृट्–पञ्चजन–पुरञ्जन–पुर],** ये चार विवर्त्त बतलागए हैं। इस क्रम से आत्मविवर्त्त ८ भागों में विभक्त होजाता है। तथापि जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है, विकार कभी स्वतन्त्र नहीं रहते, अपितु सदा पुररूप में परिणत होकर ही उपलब्ध होते हैं। अतएव **विकारादि पुरान्त** चारों का एक विकारक्षर–विभाग ही मान लिया जाता है। इसप्रकार ८ के स्थान में प्रधानरूप से पाँच ही विभाग शेष रह जाते हैं।

२०२–विभिन्न परिग्रहों से समन्वित परिग्रहात्मक पञ्चविध उपास्य–देवताओं का स्वरूप-समन्वय —

उक्त पाँचों विभागों में पहिले अव्यय–विभाग का मन से, दूसरे अक्षर–विभाग का प्राण से, तीसरे आत्मक्षर-विभाग का अमृतमयी शुक्रवाक् से, चौथे एवं पाँचवें का विकार, एवं वैकारिकक्षर मर्त्य वाक्शुक्र एवं भूतवाक् से सम्बन्ध है। पहिली मनोमयी अव्ययसंस्था [1]निर्गुण–अव्ययात्मा है, दूसरी प्राणमयी अक्षरसंस्था [2] सगुणप्रजापति है, तीसरी अमृतवाक्शुक्रमयी आत्मक्षरसंस्था [3] सर्व–धर्म्मोपहित प्रजापति है, एवं चौथी मर्त्य वाकशुक्रमयी संस्था [4] सर्वधर्म्मविशिष्टप्रजापति है, तथा पाँचवीं भूतवाङ्मयी संस्था [5] सर्वधर्म्मोपपन्नजापति है। पाँचों में क्रमशः [1]माया–कला [2]गुण–[3]विकार [4]अञ्जन–[5]आवरण इस क्रम से ६ ओं परिग्रहों का भोग होरहा है।

२०३–भक्तियोग–समन्वय–निबन्धन पञ्चविध–उपास्यों की अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षिता लक्ष्यारूढता —

इस क्रम में यह ध्यान रखना चाहिए कि, गुणपरिग्रहात्मक सत्यप्रजापति का हमने षोडशी में हीं अन्तर्भाव मान लिया है। इसी आधार पर इस संस्था के षोडशी को हमनें "सगुणप्रजापति" कह दिया है। इसी गुणात्मक सत्यवेद के समावेश से षोडशी ईश्वर "वेदमूर्त्ति"–"वेदैकवेद्य" इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। एवं एकमात्र इसी आधार पर वेद को [ईश्वर से अभिन्न मानते हुए] ईश्वर का [षोडशी का] निःश्वास मान लिया गया है, जैसाकि उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–न्तर्गत वेदप्रकरण से गतार्थ है। हम पाठकों से साग्रह निवेदन करेंगे कि, भक्ति के इन पाँच मार्गों का मौलिक रहस्य हृदयङ्गम करने के लिए वे इन पाँचों उपास्यों के व्यवच्छेद को सावधानी से ही लक्ष्य में आरुढ रखने का अनुग्रह करेंगे।

२०४–निर्गुण, सगुण, सर्वधर्म्मोपहित, सर्वधर्म्मोपपन्न, सर्वधर्म्मविशिष्ट, पञ्चविध–उपास्य–देवताओं का परिग्रहात्मक–समन्वय—

मायापरिग्रह से युक्त निर्गुण अव्यय निर्गुणात्मा है, यह मनोमय बनता हुआ ज्ञानप्रधान है, एवं इसकी उपासना "निर्गुणोपासना" है। कला, एवं गुणपरिग्रह से युक्त कलागर्भित सगुण अक्षर "सगुण–प्रजापति" है, यह प्राणमय बनता हुआ "क्रियाप्रधान" है, एवं इसकी उपासना "सगुणोपासना" है। विकार-परिग्रह से युक्त सविकार आत्मक्षर "सर्वधर्म्मोहितप्रजापति" है, यह अमृतवाक्शुक्रमय बनता हुआ "अर्थप्रधान" है, एवं इसकी उपासना "विकारोपासाना" है। अञ्जन-परिग्रह से युक्त साञ्जन विकार क्षर "सर्वधर्म्मोपोपन्नप्रजापति" है, यह मर्त्यवाक्शुक्रमय बनता हुआ "देवप्रधान" है, एवं इस की उपासना "देवोपासना" है। एवं आवरण-परिग्रह से युक्त सावरण-वैकारिक क्षर प्रपञ्च "सर्वधर्म्मविशिष्ट–प्रजापति" है, यह भूतवाङ्मय बनता हुआ "भूतप्रधान" है, एवं इस की उपासना "भूतोपासना" है।

२०५–आत्मोपासना–ईश्वरोपासना–विकारोपासना, देवोपासना, भूतोपासना–भेदनिबन्धना पञ्चविधोपासना —

आत्मोपासना [1]अव्यय की उपासना है, ईश्वरोपासना (षोडशीसत्यप्रजापतिमूर्त्ति) [2]अक्षर की उपासना है, विकारोपासना [3]आत्मक्षर की उपासना है, देवोपासना [4]विकारक्षर की उपासना है, एवं भूतोपासना [5]वैकारिकक्षर की उपासना है। पहिली अमृतोपासना है, दूसरी ब्रह्मोपासना है, तीसरी अमृतशुक्रोपासना है, चौथी मर्त्य–शुक्रोपासना है, एवं पाँचवीं भूतशुक्रोपासना है। आगे के परिलेख ही स्पष्टीकरण के लिए पर्य्याप्त हैं।

(५)-पञ्चकलभक्तिमार्गः (राद्धान्तभूतः)

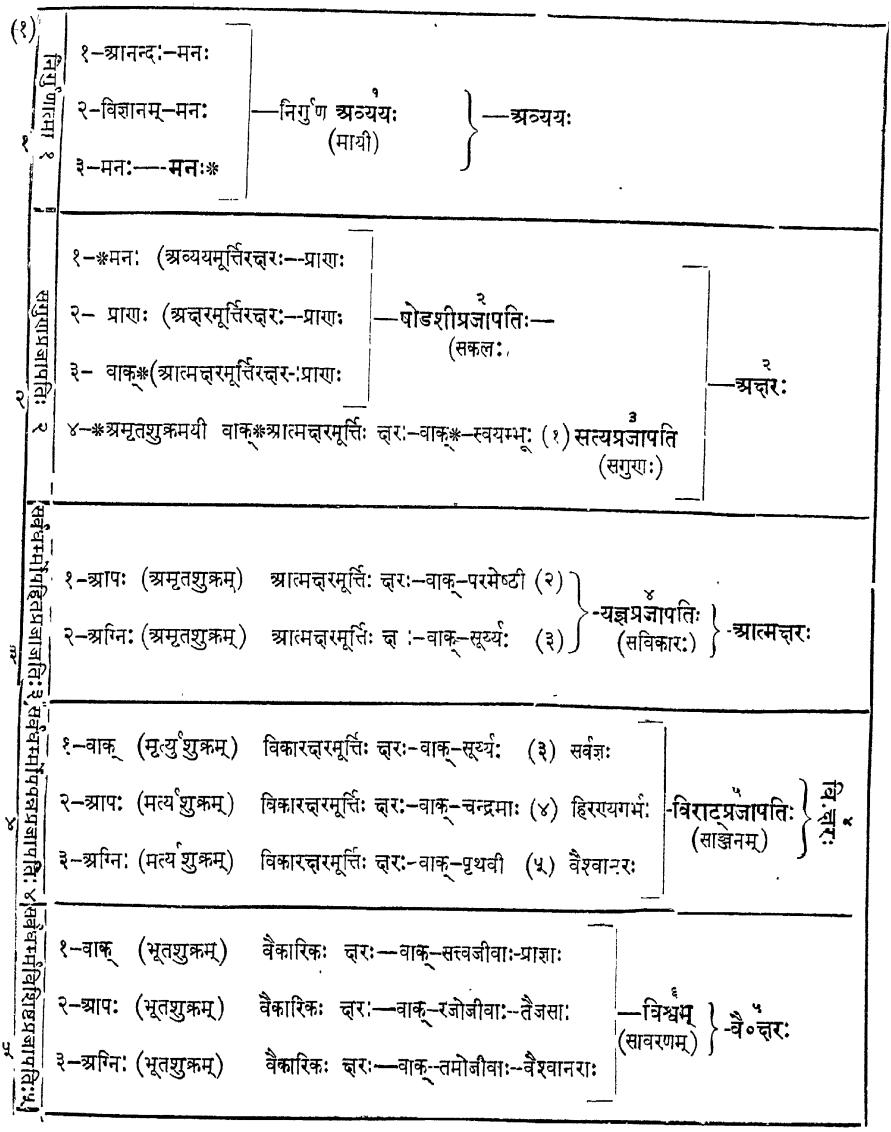

(२)	१—निर्गुणात्मा	मनोमयः	(अव्ययः——उपास्यः)।
	२—सगुणप्रजापतिः	प्राणमयः	(अक्षरः——उपास्यः)।
	३—सर्वधर्म्मोपहितप्रजापतिः	अमृतवाक्शुक्रमयः	(आत्मक्षरः—उपास्यः)।
	४—सर्वधर्म्मोपपन्नप्रजापतिः	मर्त्यवाक्शुक्रमयः	(विकारक्षरः—उपास्यः)।
	५—सर्वधर्म्मविशिष्टप्रजापतिः	भूतवाक्शुक्रमयः	(वैकारिकक्षरः—उपास्यः)।

(३)	१—निर्गुणः	ज्ञानप्रधानः	(अव्ययः——मायी —— उपास्यः)।
	२—सगुणः	क्रियाप्रधानः	(अक्षरः — सकलो, सगुणश्च-उपास्यः।
	३—सर्वधर्म्मोपहितः	अर्थप्रधानः	(आत्मक्षरः—सविकारः — उपास्यः)।
	४—सर्वधर्म्मोपपन्नः	देवप्रधानः	(विकारक्षरः—साञ्जनः — उपास्यः)।
	५—सर्वधर्म्मविशिष्टः	भूतप्रधानः	(वै० क्षरः—सावरणः — उपास्यः)।

(४)	१—अव्ययोपासना	आत्मोपासना	(अमृतोपासना)	निर्गुणा।
	२—अक्षरोपासना	ईश्वरोपासना	(ब्रह्मोपासना)	सगुणा।
	३—आत्मक्षरोपासना	विकारोपासना	(अमृतशुक्रोपासना)	सविकारा।
	४—विकारक्षरोपासना	देवोपासना	(मर्त्यशुक्रोपासना)	साञ्जना।
	५—वैकारिकक्षरोपासना	भूतोपासना	(भूतशुक्रोपासना)	सावरणा।

२०६–'तत्' के विवर्त्तभूत पञ्चविध उपास्य, तन्निबन्धन पञ्चविध उपासनापथ, तदनुप्राणिता उपयोगिता, एवं पञ्चोपासना-विवर्त्तों का उपासनात्रयी में अन्तर्भाव—

उक्त पाँचों ही उपास्यदेव उस एक ही "तत्" के पाँच महिमा-विवर्त्त हैं। अतः पाँचों में से किसी एक की भी उपासना करता हुआ उपासक आत्मा के अभ्युदयपूर्वक निःश्रेयस् साधन करसकता है। इसी लिए शास्त्रोंने अधिकारी की योग्यता के भेद से पृथक् पृथक् पाँच उपास्यों से सम्बन्ध रखने वाले पाँचों ही उपासनामार्गों का समादर कर लिया है। हाँ, इन पाँचों के सम्बन्ध में यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि, पहिला मार्ग विशुद्ध आत्मा की ओर झुका हुआ है, दूसरा मार्ग मध्यस्थ बना हुआ है, एवं आगे के तीन मार्ग विश्व की ओर झुके हुए हैं। अन्त के तीनों मार्ग क्योंकि "शुक्र" से सम्बन्ध रखते हैं, एवं शुक्र ही विश्व का बीज है, जैसाकि ईशभाष्यान्तर्गत "स पर्य्यगाच्छुक्रम्" इत्यादि मन्त्रभाष्य में विस्तार से निरूपित है। अतएव शुक्रात्मिका उपासनात्रयी को हम 'विश्वात्मिका' कहसकते हैं। **विश्व कर्म्मप्रधान है, आत्मा ज्ञानप्रधान है, मध्यस्थ अक्षररूप षोडशी उभयमूर्त्ति है।** इसी आधार पर **प्रथम मार्ग ज्ञानप्रधान उपासनामार्ग कहलाया है, मध्यमार्ग उभयमूर्त्ति भक्तिमार्ग कहलाया है, एवं अन्त के तीनों उपासनामार्ग कर्म्मप्रधान उपासनामार्ग कहलाए हैं,** जैसाकि पाँचों प्रकरणों के शीर्षकों से स्पष्ट है। इसी दृष्टि से इन पाँच मार्गों के तीन हीं मार्ग शेष रह जाते हैं।

२०७–आत्मकाममूला, निष्कामभावान्विता, एवं सकामभावानुबन्धिनी उपासनात्रयी का तारतम्य, तथा उपासनानुगता उपासना-भक्ति-कर्म्म-त्रयी का स्वरूप-समन्वय—

इन तीनों मार्गों की प्रतिष्ठा क्रमशः आत्मकाम, निष्काम, काम ये तीन विवर्त्त हैं। **अव्ययमूला ज्ञानप्रधाना मनोमयी अमृतोपासना का 'आत्मकाम' से सम्बन्ध है। अक्षरमूला (षोडशीमूला) उभयप्रधाना प्राणमयी ब्रह्मोपासना का 'निष्कामभाव' से सम्बन्ध है। एवं आत्मक्षर-विकार-क्षर-वैकारिकक्षरमूला कर्म्मप्रधाना वाङ्मयी शुक्रोपासना का 'सकामभाव' से सम्बन्ध है।** काममयी शुक्रोपासना में **संसारबन्धन** है, निष्काममयी ब्रह्मोपासना में **बन्धनविमोक है,** एवं आत्मकाममयी अमृतोपासना में **समत्वलयलक्षण विदेहभाव है। शुक्रातिवर्त्तन** का एकमात्र उपाय मध्यस्था निष्काममयी अक्षरोपासना ही है, जैसाकि—"**उपासते पुरुषं (षोडशीपुरुषात्मकमक्षरपुरुषं) ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः**" इत्यादि उपनिच्छ्रुति से स्पष्ट है। इसप्रकार निष्कर्षरूप से आगे जाकर उपासना के तीन हीं मार्ग शेष रह जाते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

१-अव्ययोपासना———मनोमयी]—अमृतोपासना—आत्मकामप्रधाना—"**उपासना**" १
२--अक्षरोपासना———प्राणमयी]—ब्रह्मोपासना——निष्कामभावप्रधाना--"**भक्तिः**" २

३--आत्मक्षरोपासना—वाङ्मयी
४--विकारक्षरोपासना वाङ्मयी | शुक्रोपासना———सकामभावप्रधाना—"**कर्म्म**" ३
५--वैकारिकक्षरोपासना--वाङ्मयी

——*——

२०८–आत्मा, ईश्वर, उपेश्वर, एवं विराट्भावानानुगत उपासनातत्त्व का स्वरूप-समन्वय–

अव्यय आत्मदेवता है, अक्षर सर्वव्यापक ईश्वर है, आत्मक्षर उपेश्वर है, विकारक्षर सर्वभूतान्तरात्मा नाम से प्रसिद्ध देवसत्यमूर्त्ति विराट्पुरुष है। इन चारो की उपास्यरूपता में तो कोई सन्देह नहीं है। परन्तु पाँचवे वैकारिकक्षररूप उपास्य के सम्बन्ध में सन्देह उपस्थित होता है। इस विवर्त्त का हमने जीवसृष्टि से सम्बन्ध बतलाया है। जीवात्मा तो उपासक बनता है, न कि उपास्य। फिर जीव-विवर्त्तरूप वैकारिक क्षर को उपास्य कैसे बतलाया गया ?, यही उक्त सन्देह का बीज है। प्रसङ्गोपात्त इस सन्देह का भी निराकरण कर ही लेना चाहिए।

२०९–'विश्व'–भावानुबन्धी षड्विध (६) जीवसर्गों का तात्त्विक–स्वरूप–संस्मरण—

जीव विवर्त्त (१)—आधिकारिक अचेतनजीव, (२—आधिकारिक चेतनजीव, (३)—आधिकारिक अर्द्धचेतनजीव, (४)—आश्वत्थिक अचेतनजीव, (५)—आश्वात्थिक चेतनजीव, एवं [६]—आश्वात्थिक अर्द्धचेतनजीव, भेद से ६ भागों में विभक्त माने जासकते हैं। यद्यपि हमारी दृष्टि से सूर्य्य-चन्द्रमा-नक्षत्र-ग्रह-पृथिवी आदि विवर्त्त उपेश्वर हैं, परन्तु विश्वव्यापक षोडशीपुरुष की दृष्टि से ये सब विश्वावयव "जीव" ही कहलाएँगे। इन जीवों को ही हम "आधिकारिक अचेतनजीव" कहेंगे। "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" [शारीरकसूत्र] इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार अर्थप्रधान आत्मक्षर-विकारक्षरमूर्त्ति, अतएव अचेतन [चेतनागर्भित] यह जीववर्ग [सूर्य्य चन्द्रमादि] कर्म्म भोगने के लिए प्रवृत्त नहीं हुए हैं। अपितु ईश्वराज्ञा [षोडशीपुरुष की आज्ञा] से ये जीव सृष्टिकर्म्म-के सञ्चालन का नियत समय के लिए अधिकार प्राप्त करके ही प्रकट हुए हैं। जब सृष्टिकर्म्म की अवधि समाप्त होजाती है, तो ये आधिकारिक अचेतनजीव स्वाधिकृत कर्म्म से उपरत बनते हुए उसी स्व-प्रभव ईश्वरप्रजापति में विलीन होजाते हैं। ऐसे जीव ईश्वरीय बल से नित्ययुक्त रहते हैं। अतः इन्हें मध्यस्थ बनाकर भी उपासना के द्वारा वह बल प्राप्त किया जासकता है। इनके अतिरिक्त गङ्गा, यमुना, सरस्वती, सरयू, आदि दिव्य नदियाँ भी इसी वर्ग में अन्तर्भूत हैं।

२१०–आधिकारिक–चेतन जीवों से अनुप्राणिता उपासना का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

दूसरा विभाग आधिकारिक चेतन जीवों का है। धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए समय समय पर ईश्वरांश (षोडशीपुरुषांश) योगमाया को आगे कर राम–कृष्ण–परशुराम–कूर्म्म–वराह–मत्स्य–वामन आदि शरीर धारण कर इस धरातल पर मानवशरीर से अवतीर्ण हुआ करता है। ये भी अधिकार लेकर ही प्रादुर्भूत होते हैं। इन का शारीरिक कर्म्म भोगार्थ प्रवृत्त नहीं होता, अपितु ईश्वराज्ञासिद्ध अधिकार-भाव से युक्त बनता हुआ यह वर्ग भी तद्रूप बनता हुआ अवश्य ही उपास्य बन जाता है। धर्म्मग्लानि के शान्त होने पर ये 'अवतारपुरुष' अपने आधिकारिक कर्म्मों से उपरत होते हुए लीलासंवरण कर अपने उसी परमधाम में लीन होजाते हैं। इन्हें मध्यस्थ बना कर भी आत्मदेवता की उपासना की जा सकती है।

२११–आधिकारिक–अर्द्धचेतन–जीवों से अनुप्राणिता उपासना का संस्मरण—

तीसरा विभाग आधिकारिक अर्द्धचेतन जीवों का है। अश्वत्थ, वट, बिल्व, तुलसी, केल, आदि कतिपय वनस्पतियाँ, सोमवल्ली, ब्राह्मी आदि कतिपय ओषधियाँ हीं आधिकारिक अर्द्धचेतन–जीव हैं। इन में तत्तद्देवप्राणों की अधिकाररूप से प्रतिष्ठा रहती है। इनका आविर्भाव लोकोपासना के लिए ही हुआ है। इन्हें मध्यस्थ बना कर भी देवप्राणोपासना के द्वारा आत्मोपासना की जा सकती है।

२१२–आश्वत्थिक–अचेतन जीवों का स्वरूपेतिवृत्त–समन्वय—

चौथा वर्ग आश्वत्थिक अचेतन जीवों का है। पाषाण, लोष्ठ, आदि पार्थिव जड़ पदार्थ, उपयोग में आने वाले और और जड़पदार्थ अचेतन जीव हैं। कर्म्मपाप्मा के अतिशय आवरण से इनका चिंदंश सर्वथा अभिभूत रहता है। अतएव आत्मसत्ता रहने पर भी ये जड़ बन गए हैं। (छां० उपनिषत्)। ऐसे निरिन्द्रिय अचेतन जीव न ज्ञान के अधिकारी हैं, न उपासना के। फलतः इन का उद्धार सर्वथा असम्भव बन जाता है। प्रतिसञ्चरक्रम की अन्तिम सीमा ही इन के उद्धार का एकमात्र उपाय है।

२१३–आश्वत्थिक त्रयोदशविध (१३) चेतन–जीवों का स्वरूपेतिवृत्त–समन्वय—

पाँचवाँ वर्ग आश्वत्थिक चेतन जीवों का है। ये जीव ब्रह्मा-इन्द्र-प्रजापति-पितर-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस–पिशाच–मनुष्य–पशु–पक्षी–कीट–कृमि इन तेरह भागों में विभक्त हैं। कर्म्मतारतम्य से ही इन्हें तत्तद्योनियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें उत्तर उत्तर जीववर्ग पूर्व पूर्व की अपेक्षा अल्पशक्तियुत है। पूर्व पूर्व जीववर्ग उत्तर उत्तर के जीववर्ग की अपेक्षा विशेष शक्तिशाली हैं। इन तेरहों में ब्रह्मादि पिशाचान्त आठ जीववर्ग "सत्त्वविशालदेवयोनि" नाम से प्रसिद्ध हैं, एवं मनुष्यादि कृमयन्त पाँच जीववर्ग "रजोविशाल-तिर्य्यग्योनि" नाम से प्रसिद्ध हैं।

२१४–आश्वत्थिक–चेतन–जीवों की उपास्यता का समर्थन—

उक्त पाँचों वर्गों में से पशु-पक्षी-कीट-कृमि, इन चारों को तो न उपासना का अधिकार है, एवं न ज्ञान का। शेष मनुष्यवर्ग ही उपासना का अधिकार रखता हुआ आत्माभ्युदय–निःश्रेयस् करसकता है। आठ देवता यद्यपि कर्म्मसंतान से बद्ध बनते हुए आश्वत्थिक जीव बन रहे हैं। तथापि स्वतःसिद्ध आठ सिद्धियाँ, एवं ९ तुष्टियों से यह वर्ग सिद्धि–तुष्टि शून्य, किन्तु सिद्धि तुष्टि-कामुक मनुष्य का उपास्य भी बन जाता है।

२१५–आश्वत्थिक–अर्द्धचेतन-जीव, तन्निबन्धन प्राणदेवता, एवं तदनुगता उपासना का रहस्यपूर्ण–समन्वय—

६ ठा वर्ग आश्वत्थिक अर्द्धचेतनजीवों का है। सम्पूर्ण वनस्पतियाँ, सम्पूर्ण ओषधियाँ हीं अर्द्ध-चेतन जीव हैं, जैसाकि—"अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः" इत्यादि व्याससिद्धान्त से स्पष्ट है। ये भी ज्ञान-उपासना, दोनों मार्गों से वञ्चित रहते हुए "तत्रैवावलम्बितो वेतालः" को चरितार्थ कर रहे हैं। इसप्रकार सम्भूय जीववर्ग ६ भागों में विभक्त होजाता है।

१–१–आधिकारिक अचेतनजीव—(सूर्य्य-चन्द्र-अग्नि-पवन-ग्रह-नक्षत्र-गंगा-यमुना-आदि

१ २–२–आधिकारिक चेतनजीव——(राम, कृष्ण, कूर्म्म, मत्स्य, वराह, वामन आदि)

३–३–आधिकारिक अर्द्धचेतनजीव–(अश्वत्थ, वट, तुलसी, बिल्व, सोम आदि)

४–१–आश्वत्थिक अचेतनजीव––(पाषाण लोष्ठादि जड़ भौतिक पदार्थ)

२ ५–२–आश्वत्थिक अचेतनजीव—[अष्टविध देवयोनि, पञ्चविध तिर्य्यग्योनि]

६–३–आश्वत्थिक अर्द्धचेतनजीव-[ओषधि-वनस्पति-वर्ग]

———*———

२१६–षड्विध (६) जीववर्ग से अनुप्राणिता उपासना से अनुप्राणित नीर-क्षीरविवेक—

अब यह विचार कीजिए कि, इन ६ वर्गों में से कौन वर्ग उपास्य है ?, एवं पूर्वोक्त, उपास्य वर्गों में से किस उपास्यवर्ग में किस जीववर्ग का अन्तर्भाव है ?। यदि उपासनाकाण्ड को थोड़ी देर के लिए एक ओर रख कर उपास्य की विज्ञानदृष्टि से मीमांसा की जाती है, तो ६ ओं हीं वर्ग हमारे लिए उपास्य बन जाते हैं । **आधिकारिक-- अचेतनजीव, आधिकारिक-- चेतनजीव, आधिकारिक-- अर्द्धचेतन,** एवं **आश्वत्थिक चेतनजीवों में अष्टविध देवसर्ग** (देवयोनियाँ), इनकी उपास्यता में तो कोई सन्देह ही नहीं है । शेष रहते हैं—**आश्वत्थिक पञ्चविध तिर्य्यग्जीव, आश्वत्थिक अर्द्धचेतनजीव,** एवं **आश्वत्थिक अचेतन जीव** । पहिले आश्वत्थिक पञ्चविध वर्ग को ही लीजिए ।

२१७–'मानवोपासना' का तात्त्विक–स्वरूप-समन्वय (मनुष्य की मनुष्य के द्वारा उपासना)—

मनुष्यों में वे मनुष्य, जो **वेदशास्त्र–सम्पन्न** हैं, शास्त्रानुसार **ज्ञान-भक्ति–कर्म्म** का अनुष्ठान करते हैं, **भगवद्भक्तिपरायण हैं, लोकोपकार** ही जिनके जीवन का मूलमन्त्र है, पीड़ितों के दुःखों से जिनका हृदय रोपड़ता है, राग-द्वेष से जो बाहिर निकल चुके हैं, ऐसे **ज्ञानी, भक्त, महात्मा, कर्म्मठ, योगी, वीतराग, आचार्य्य, सन्त, गुरु, उपदेशक,** आदि महापुरुष अस्मदादि साधारण मनुष्यों के लिए अवश्य ही उपास्य हैं । हम इन की उपासना से, इन के संसर्ग से, इनके उपदेश से अवश्य ही अपना आत्माभ्युदय-साधन कर सकते हैं । और हम तो इस सम्बन्ध में यह भी आवश्यक समझते हैं कि, मनुष्य के मनुष्यत्त्व की अभिव्यक्ति महापुरुषलक्षणा मनुष्योपासना पर ही निर्भर है ।

२१८–उपासना से अनुप्राणित प्रथम–सोपान, तदनुप्राणित 'लौकिकब्रह्म', एवं तदनुबन्धिनी उपयोगिनी उपासना का स्वरूप–समन्वय—

यही उपासना का प्रथम सोमान है। बिना गुरूपदेश के हम, [मानव] और पशु, समानधरातल पर ही प्रतिष्ठित हैं। आज जिस ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-रहस्य का हम यशोगान कर रहे हैं, वह इस मानवोपासना का ही सुपरिणाम है। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" के अनुसार श्रुति भी ब्रह्मवेत्ता इन महापुरुषों को साक्षात् "ब्रह्म" ही कह रही है। "ब्रह्म लौकिकम्+" कहती हुई स्मृति भी सुसंस्कृत द्विजाति को "लौकिकब्रह्म" मान रही है। यही कारण है कि, आर्य्यसन्तान अपने उपदेशक गुरु को "साक्षात् भगवान्" मान कर ही उसकी उपासना करने में सर्वात्मनैव अभ्युदय निःश्रेयस् की संसिद्धि मानती आरही है। सचमुच ईश्वरात्मसर्पण-रूपा उपासना से पहिले हमें इन महापुरुषों की ही अनन्योपासना करनी पड़ेगी, ईश्वरत् इन की ही सेवा करनी पड़ेगी–"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया"। ये ही ज्ञाननिष्ठ–तत्त्ववेत्ता हमारी उपासना से सन्तुष्ट होते हुए हमें रहस्यबोध कराएँगे,–"उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं, ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः"। भगवान् भी ज्ञानी पुरुष को अपना आत्मा बतलाते हुए उसकी उपास्यता ही सिद्ध कर रहे हैं–"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"। इन महापुरुषों की चरणरज का स्पर्श कर अस्मत् सदृश कितने भावुक मानवों का उद्धार होगया, यह ऐतिहासिक चरित्रों से स्पष्ट है। इसप्रकार आश्वत्थिक कोटि का यह पहिला मनुष्यवर्ग (उत्तलक्षण) भी हमारा उपास्य बन जाता है।

२१९–देवप्राणनिबन्धन–पशुओं की उपासना का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

दूसरा विभाग पशुओं का है। पशुओं में मनुष्यों की अपेक्षा अवश्य ही ज्ञानमात्रा की न्यूनता है, यह भी मानते हैं। इन्हें ज्ञान, एवं उपासना का अधिकार नहीं हैं, यह भी विज्ञान-सिद्ध है। परन्तु वैज्ञानिक महर्षियों की दृष्टि से तो ये भी उपास्य ही बने हुए हैं। रहस्य इस उपासना का है–"प्राणदेवता"। तत्तत्पशुओं

÷१–स्वाध्यायेन, व्रतै, र्होमै, स्त्रैविद्येने, ज्यया शुभैः।
महायज्ञैश्च, यज्ञै श्च–'ब्राह्मी–यं क्रियते तनुः॥ (हारीतः)।

२–गार्भैर्होमैर्जातकर्म्मचौड़मौञ्जी–निबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥ (मनुः)।
१ २ ३ ४ ५ ६

३–धृतिः–क्षमा–दया–शौच–मनायासोऽनुसूयितम्।
७ ८
अस्पृहत्वा–मकामत्वं–ब्राह्मणानामभी गुणाः॥

४–संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैं, रुत्तरैरपि संस्कृतः।
नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो–"ब्रह्म–लौकिकम्"।
ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः॥ (शङ्खः)।

में तत्प्राण--देवताओं की प्रधानता रहती है। इस 'पशु-उपासना' से पशुशरीरगत तत्तत्प्राणदेवता का हमारे भूतात्मा के साथ सम्बन्ध होजाता है, एवं भूतात्मा देवाधभूति से युक्त होकर परम्परया हमारे अभ्युदय का कारण बन जाता है।

२२०–महद्भूतात्मक आराध्य गौपशु का औपासनिक-समन्वय—

उदाहरण के लिए अश्वपशु को ही लीजिए। अश्व में 'रैवन्त नाक्षत्रिकप्राण' रहता है। इस अश्वसम्पत्ति के परिग्रह के लिए आर्य्यराजा विजयदशमी को अश्व का पूजन करते हैं (थे)। अश्वमेधीय अश्व को श्रुति ने अत्यन्त पवित्र, एवं उपास्य माना है। गजपशु साक्षात् गणपति की प्रतिमा है। मूषकपशु साक्षात् गणपति-प्राणमय है। हमारी गौपशु-निबन्धना उपासना तो सर्वलोकविदिता ही है। स्वयं श्रुतिने-"माता रुद्राणां, दुहिता वसूनां, स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः" कहते हुए गोवंश के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित कीं हैं। सत्यकाम जाबालने इसी गोतत्त्वोपासना के बल पर ब्रह्म का साक्षात्कार किया था (छान्दोग्य–उपनिषत्)। सुप्रसिद्ध सूर्य्यवंशी सम्राट् दिलीप ने इसी उपासना से रघुवंश सुरक्षित रक्खा था।

२२१–बुद्धियोगनिष्ठा-प्रवर्त्तिका महती उपासना, एवं तदाधारभूत महतोमहीयान् दिव्य-प्राणमूर्त्ति गौपशु—

हमें तो इस महद्भूतात्मक गौपशु की उपासना के सम्बन्ध में यह कहते भी सकोच नहीं होरहा कि, जिसे आत्मज्ञान प्राप्त करना हो, जिसे वेद का मौलिक रहस्य जानना हो, जिसे आत्मा का अविद्यावरण हटाना हो, जिसे अपनी बुद्धि का विकास करना हो, एवं सर्वान्त में जिसे गीतोक्त बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करनी हो, उसे अनन्यभाव से गौमाता की ही सेवात्मिका उपासना करनी हीं चाहिए। नित्यप्रति नियमतः गौमूत्र का पान करना हीं चाहिए, गोष्ठान के पवित्र, मलविशोधक वातावरण में रहना हीं चाहिए, गोस्पर्श से अपने पाप्मा शरीर को धन्य बनाते ही रहना चाहिए, गोदर्शन से अपने आप को कृतकृत्य ही समझना चाहिए। इसी सर्वोत्कृष्टा उपासना के प्रसार के लिए हमारे चरितनायक, सर्वेश्वरने (भगवान् कृष्णने) गोचारण, गोसेवावृत्ति को भी अपने जीवन का एक मुख्य उद्देश्य बनाकर हमें संकेत किया कि, यदि तुम बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करना चाहते हो, तो पहिले अपनी बुद्धि को निर्म्मल बनाओ, एवं इसके लिए गोपशु की ही अनन्य भाव से आराधना करो।

२२२–सौर- दिव्य--इन्द्र--प्राणात्मिका गौ एवं तदुपासना का समन्वय—

तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि, इस पशु का विकास आत्मघन सूर्य्य, किंवा सौर इन्द्रप्राण से ही हुआ है-"आयं गौः पृश्निरक्रमीत्"। उधर "सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" के अनुसार सूर्य्य साक्षात् आत्मदेवता हैं, एवं-"धियो यो नः प्रचोदयात्" के अनुसार यही सौर इन्द्रप्राण तुम्हारी बुद्धि का स्वरूप-समर्पक है। ऐसी दशा में बुद्धिघन सूर्य्य-सजातीय गौपशु की उपासना के अतिरिक्त और

कोई उत्कृष्ट साधन बुद्धि को निर्मल बनाने वाला नहीं हैं। और यह भी निश्चित है कि, बिना इस उपासना के तुम मेरी बुद्धियोगनिष्ठा के भी अधिकारी नहीं हो *।

२२३–विभिन्नप्राणात्मक विभिन्न अश्व–गज–मूषक–आदि प्राणियों की उपास्यता का संस्मरण—

इसीप्रकार संहारप्राणात्मक सिंह भी शाक्तों के लिए क्रम उपास्य नहीं हैं। 'श्याव', एवं 'शबल' नामक–'श्वानप्राणों' से कृतात्मा श्वान (कुत्ता) भी प्रेतकर्म्म-निबन्धन-बलि-प्रयोग की दृष्टि से श्राद्धादि कर्म्मों में उपास्य बना हुआ है। शीतलाप्राणात्मक-कपाललिप्तरसप्राणात्मक रासभ (गधा) भी शीतलाशक्ति–वाहनत्त्वेक उपास्य बना हुआ है। निदर्शनमात्र है। प्राणदेवता को मूल में रखते हुए सभी पशु हमारे उपास्य बने हुए है।

२२४–दिव्यप्राणनिबन्धन पक्षी, कृमि, आदि की उपासना का संस्मरण—

तीसरा विभाग पक्षियो का है। रामभद्रोपास्य शिवप्राणात्मक नीलकण्ठपक्षी, ब्रह्मप्राणात्मक हंस, प्रेतप्राणात्मक काक, आदि पक्षी भी तत्तस्थानों में उपास्य ही माने गए हैं। कृमिवर्ग की सर्पजाति की उपासना भी प्रसिद्ध ही है। 'नागपूजन' से सम्बन्ध रखनेवाली 'नागपञ्चमी' भी सर्वविदिता ही है।

२२५–आश्वत्थिक-अचेतन-जीवानुबन्धिनी प्रतिमोपासना (मूर्त्तिपूजन), एवं शास्त्र-सिद्धा भूतोपसना के सम्बन्ध में वेदभक्तों का व्यामोहन—

इसके अतिरिक्त अश्वत्थिक अचेतन जीववर्ग की प्रतिमारूप से उपासना भी लोकप्रचलिता है ही। सभी तो भगवदंश हैं, फिर इस दृष्टि से कौन सा भाग उपासनामर्य्यादा से बाहिर निकल सकता है?- "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"। इसी आधार पर भागवतने अणु अणु को भगवान् का अवतार बतलाया है। "निर्दोषं हि समं ब्रह्म" के अनुसार 'भगवत्तत्त्व' सर्वत्र सबमें समष्टि-व्यष्टिरूप से व्याप्त है। "सब में उसे देखना, सबको उसमें देखना ही" उपासना का मूलमन्त्र है। समझ में नहीं आता, वेदनिष्ठ भी स्वामी दयानन्दजी ने लोकप्रचलिता प्रतिमोपासना (जड़ोपासना) का किस आधारपर विरोध कर आर्य्यजाति की सनातन श्रद्धा पर आघात करते हुए लोकसंग्राहक बुद्धिवाद का भेद करडाला, जबकि–"भूतेषु भूतेषु निचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति"--इत्यादि श्रुति भूतोपासना को भी सर्वथैव उपादेय बतला रही है। अत्र निवेदनीय यही है कि,--आश्वत्थिक त्रिविध जीववर्ग भी अवश्य ही हमारा [उपासक मनुष्य वर्ग का] उपास्य बन सकता है। और इसी आधार पर हमने वैकारिक चरूरूप इस पाँचवें आश्वत्थिक–जीववर्ग को भी उपास्य बतलाया है। फलतः सन्देहबीज को अङ्कुरित होने का कोई अवसर नही मिल सकता।

---

* इस गोतत्त्व का विशद वैज्ञानिक विवेचन श्रीकृष्णतत्त्वखण्डान्तर्गत "मानुषोत्तमकृष्णरहस्य" प्रकरण में देखना चाहिए।

२२६--आधिकारिक-अचेतन-उपास्य-जीवों से अनुप्राणिता उपासना, एवं उपासनातत्त्व-नियन्धन पञ्चविध विवर्त्त-भावों का तालिका-माध्यम से समन्वय-प्रयास—

षड्विध जीव वर्गों में उपास्य कौन कौन है ?, इस का समाधान हुआ। अब वह प्रश्न सामने उपस्थित हुआ कि, किस वर्ग का किस संस्था में अन्तर्भाव है ?। **आधिकारिक, सूर्य्य-चन्द्र-गङ्गादिलक्षण अचेतन उपास्य जीवों का** विकारसंस्था में अन्तर्भाव है, जोकि चौथी संस्था मानी गई है, जिसे कि हमने **'देवोपासना'** कहा है। **अवतारलक्षण आधिकारिक जीवों का** तीसरी आत्मक्षरसंस्था में अन्तर्भाव है। पाठकों को स्मरण होगा कि, इसी संस्था को हमनें **'यज्ञप्रजापति'** कहा है। एवं पूर्वप्रकरणों में यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, यज्ञ ही विष्णु है, एवं जितने भी अवतार [२४] सुने जाते हैं, वे विष्णुतत्त्व से ही सम्बन्ध रखते हैं। आधिकारिक अश्वत्थादि अर्द्धचेतन उपास्यों का, एवं आश्वत्थिक त्रिविध उपास्य जीवों का पाँचवीं **वैकारिकक्षरसंस्था** में ही अन्तर्भाव है, इसी को हमने **"भूतोपासना"** कहा है। **यक्ष-राक्षसःभूत-प्रेतादि की, महापुरुषों की, पशु-पक्षी-सर्पादि की, देवप्रतिमाओं की** उपासनाओं का भी इसी पाँचवी संस्था में अन्तर्भाव है, जैसाकि निम्नलिखित परिलेख से स्पष्ट है।

१–निर्गुणाव्ययात्मोपासना (आत्मोपासना)]————**अव्ययः**–उपास्यः (ज्ञानम्)

२--सगुणेश्वरोपासना (ईश्वरोपासना)]————**अक्षरः**--उपास्यः (भक्तिः)

३--आधिकारिक-चेतन--अचेतन जीवोपासना (अवतारोपासना)] ——**आत्मक्षरः**–उपास्यः (सत्कर्म्म)

४--आधिकारिक–अचेतन-जीवोपासना (प्राणदेवतोपासना) } --(प्राणदेवोपासना)]—**विकारक्षरः**:--उपास्यः (सुकर्म्म)

५--**क**--आधिकारिक-अर्द्धचेतन-जीवोपासना--(औ० वनस्पत्युपासना)
ख–आश्वत्थिक–चेतनजीवोपासना--(देवयोनि--तिर्यग्योन्युपासना)
ग--आश्वत्थिकअर्द्धचेतन-जीवोपासना--(ओषधि-वनस्पत्युपासना)
घ -आश्वत्थिक-अचेतनजीवोपासना——(प्रतिमोपासना)
—**वैकारिकक्षरः**--उपास्यः (कर्म्म)

——*——

२२७–पञ्चविधोपासनामूला-ईश्वरोपासना, जीवोपासना, जगदुपासना,–त्रयी का स्वरूप-समन्वय—

इसी उपासना-विवर्त्त को हम **ईश्वरोपासना–जीवोपासना–जगदुपासना**, इन तीन दृष्टियों से भी देख सकते है। **विशुद्ध निर्गुण अव्यय**, एवं **सगुणषोडशी**, दोनों के समन्वितरूप को **"ईश्वर"** माना

जासकता है। मध्य के आधिकारिक चेतनवर्ग (अवतार) को "जीव" कहा जासकता है। एवं आगे के ४-५ वे दोनो विवर्त्तों को "जगत्" कहा जासकता है। इसप्रकार ५ उपास्य-सँस्थाओं का इन तीन उपास्यों में ही अन्तर्भाव होजाता है। **ईश्वरोपासना ज्ञानयोगात्मिका है, जीवोपासना भक्तियोगात्मिका है, एवं विश्वोपासना कर्म्मयोगात्मिका है।** उपासक जीव विश्व को उपासना का साधना बनाता हुआ जीववर्ग की उपासना करता हुआ तद्द्वारा ईश्वरभाव प्राप्त करने में समर्थ होजाता है। **विश्वोपासना उपासना का प्रथम सोपान है, जीवोपासना इस का द्वितीय सोपान है, एवं ईश्वरोपासना उपासक का तृतीय सोपान है, और यही उपासक की कृतकृत्यता है।**

१ १--निर्गुणोपासना
  २--सगुणेश्वरोपासना
  ——————ईश्वरः (ईश्वरोपासना)—उपासना (उत्तमसोपानम्)

२ ३--आधिकारिक--चेतन--जीवोपासना (१)]——जीवः [जीवोपासना]—भक्तिः [मध्यमसोपानम्]

३ ४--आधिकारिक--अचेतन--जीवोपासना [२]
  ५--क--आधिकारिक-अर्द्धचेतन-जीवोपासना [३]
  ख--आश्वत्थिक-चेतन-जीवोपासना [४]
  ग--आश्वत्थिक-अर्द्धचेतन-जीवोपासना [५]
  घ--आश्वत्थिक-अचेतन-जीवोपासना [६]
  —जगत् [विश्वोपासना]—कर्म्म [प्रथमसोपानम्]

२२८--संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्, तथा गीताशास्त्र से अनुप्राणित प्रमाण-वचनों का उपक्रम—

"एक ही उपास्य उक्तरूप से पाँच विवर्त्त-भावों में परिणत होरहा है" यह सिद्धान्त तभी सर्वमान्य बन सकता है, जबकि इस सम्बन्ध में ऋजुभावात्मक श्रौत-स्मार्त्त-प्रमाण उपस्थित कर दिए जाँय। शास्त्रैकनिष्ठ भगवान् की गीता का भक्तिमार्ग तबतक पाँच भागों में विभक्त नहीं किया जासकता, जबतक कि इन पाँचों के लिए शास्त्रीय प्रमाण उपस्थित नहीं कर दिए जाते। प्रमाण के लिए प्रकृत में हम **संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्** इन चार भागो में विभक्त **वेदशास्त्र**, एवं वेदनिष्ठ **गीताशास्त्र**, इन दो शास्त्रों को ही पर्य्याप्त समझते हुए इनके प्रमाण ही उद्धृत कर रहे है। इस सम्बन्ध में यह विशेसरूप से लक्ष्य में रखना चाहिए--कि **संहिता--ब्राह्मण--आरण्यक--उपनिषत् गीता**, शास्त्र के इन ५ पर्वों में प्रत्येक में उक्त पाँचों उपास्यों का संक्षेप, तथा विस्तार से निरूपण हुआ है। इन में से क्रमप्राप्त पहिले **संहिता-भाग** को ही लीजिए, और तदाधारेणैव अपनी श्रद्धा को दृढमूल बनाने का निःसीम अनुग्रह कीजिए।

२२६-[१]-"वेदसंहितामूलक-पञ्चधा-विभक्त-उपास्य-तत्त्व"-

१-निर्गुण-अव्ययात्मा (अव्ययः)—

१-"परिकोशं मधुश्चुत-"अव्यये" वारे अर्षति ।
अभि वार्णाऋषीणां सप्त नूषत" ॥
—ऋक्सं० ६।१०३।३।

२-"अजो" न द्यां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः ।
प्रिया पदानि पश्वो नि पाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः ॥"
—ऋक्सं० १।६७।३ ।

३-एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति, 'एकं' वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥
—ऋक्सं० ८।५८।२ ।

४-अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥
—ऋक्सं० १।१६४।६।

—*—

२-त्रिगुणः-षोडशीप्रजापतिः (अक्षरः ❀)—

१—"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥"
—ऋक्सं० १०।१२१।४।

२—"प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः ।
शिवा सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तास्तां वयं प्रजया संमदेम ॥"
—ऋक्सं० ०।१६९।

---

*-तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति, तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ।
ततः क्षरत्यक्षरं तदिश्वमुपजीवति ॥
—ऋक्सं० १।१६४।४२

३—"यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स 'षोडशी' ॥
—यजुःसं० ८।३६।

४—"यस्माज्जातं न पुरा किंच नैव य आ बभूव भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषी सचते स षोडशी" ॥
—यजुःसं० ३२।४।

३-सविकारो यज्ञप्रजापतिः [आत्मक्षरः ÷]—

१—"यज्ञो" देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः ।
आवोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादंहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासत् ॥
—ऋक्सं० १।१०७।१।

२—"इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं "यज्ञो" भुवनस्य नाभिः ।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥
ऋक्सं० १।१६४।३५

३—यज्ञं पृच्छाम्यवमं स तद्दूतो वि वोचति ।
क्व ऋतं पूर्व्यं गतं कस्तद्बिर्भर्त्ति नूतनः ॥
—ऋक्सं० १।१०५।४।

४—"यज्ञेन "यज्ञ" मयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥
यजुःसं० ३१।१६।

———*———

४-साङ्गनो विराट् प्रजापतिः [विकारक्षरः ❀]—

१—तस्मा "द्विराड" जायत, विराजो अधिपूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥
—ऋक्सं० १०।९०।५।

÷—परिणो अश्वमश्वविद्गोमदिन्दो हिरण्यवत् । "त्वरा" सहस्रिणीरिषः ।
—ऋक्सं० ९।६१।३।

*—समावर्ति विष्ठितो जिगीषुर्विश्वेषां कामश्चरतामभूत् ।
शश्वाँ अपो "विकृतं" हित्व्यागादनु व्रतं सवितुर्दैव्यस्य ॥
ऋक्सं० २।३८।६।

२—"विराट्"–मित्रावरुणयोरभि श्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुविह भागो अह्नः ।
विश्वान् देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाकॢप्त ऋषयो मनुष्याः ॥
—ऋक्सं० १०।१३०।५।

३—ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षाः सहस्रणीथः पदवीः कवीनाम् ।
तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो "विराज" मनु राजति ष्टुप् ॥
—ऋक्सं० ९।९६।१८।

४—"ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम् ।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं "गोपतिं" गवाम् ॥
—ऋक्सं० १०।१६६।१

५-सावरणो विश्वप्रजापतिः [वैकारिकस्तरः]—

१-त्वं नो अग्ने पित्रोरुपस्थ आ देवो देवेष्वनवद्य जागृविः ।
तनूकृद्बोधि प्रमितिश्च कारवे त्वं कल्याण वसु "विश्व" मोपिषे ॥
—ऋक्सं० १।७१।९।

२-ऊर्ध्वो न पाह्यंहसो नि केतुना "विश्वं" समत्रिणं दह ।
कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुवः ॥
—ऋक्सं० १।३६।१४।

३-यद्वो वयं प्रमिनाम व्रतानि विदुषां देवा अविदुष्टरासः ।
अग्निष्ट--'द्विश्वमा' वृणाति विद्वान्येभिर्देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति ॥
—ऋक्सं० १०।२।४।

४-व्यस्तभ्नाद्रोदसी मित्रो अद्भुतोऽन्तर्वावदत्कृणोज्ज्योतिषा तमः ।
विं चर्म्मणीव धिषणे अवर्त्तयद्बृश्वानरो 'विश्व' मधत्त वृष्ण्यम् ॥
—ऋक्सं० ६।८।३।

२३०–[२]–ब्राह्मण-मूलक-पञ्चधा-विभक्त-उपास्य-तत्त्व—

१–निर्गुण–अव्ययात्मा [अव्ययः]—

१–सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥
—गो० ब्रा० पू० १।२६।

२–"सर्वं ह्ययमात्मा (अव्ययः)" [शत० ब्रा० ४।२।२।१।]।

३–"यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, अयमेव सः–योऽयमात्मा । इदममृतं, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम्" [शत० १४।५।४।१।]।

४–"असङ्गो ह्ययं पुरुषः" [शत० १४।७।१।१७।]।

२–सगुणः षोडशीप्रजापतिः [अक्षरः ❀]—

१–षोडशकलं वै ब्रह्म [गौ० उ० ब्रा० ३।३८।३।]

२–षोडशकलः प्रजापतिः [शत० ब्रा० ७।२।२।१७]।

३–स (प्रजापतिः) "षोडशधाऽऽत्मानं व्यकुरुत" (जै० उ० ब्रा० १।४।६।२।)।

४–त्रिवृद्वै (मनः-प्राण वाङ्मयः) * षोडशी (कौ० ब्रा० १७। ।३।

—*—

३–सविकारो यज्ञप्रजापतिः [आत्मक्षरः]—

१–एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः (शत० ब्रा० ४।३।४।३।)।

२–यज्ञ उ वै प्रजापतिः (कौ० ब्रा० १०।१।)।

३–स वै यज्ञ एव प्रजापतिः (शत० १।७।४।४।)।

४–विष्णुर्वै यज्ञः [ऐ० ब्रा० १।१५।]।

—*—

---

* यद्वेवाक्षरं–नाक्षीयत–तदस्मादक्षयम् । अक्षयं ह वै नामैतत्–तदक्षरमिति परोक्षमाचक्षते ।
—जै० उ० ब्रा० १।२४।२।

४–साङ्गनो विराट् प्रजापतिः (विकारक्षरः)—

१–विराट् सृष्टा प्रजापतेः, योनिरग्ने प्रतिष्ठितिः [तै० ब्रा० १।२।२।२७]।
२–विराड् वाऽअग्निष्टोमः (अग्नि-वाऽएवेन्द्रष्टोमः) [कौ० ब्रा० १५।५]।
३–वैराजो वै पुरुषः [तां० ब्रा० २७।८]।
४–वाग्वै विराट् [शत० ३।५।१।३४]।

——*——

५–सावरणो विश्वप्रजापतिः (वैकारिकक्षरः)—

१–यद्वै विश्वं सर्वं तत् [शत० ब्रा० ३।२।४।११]।
२–इमे वै लोका विश्वा सद्मानि [शत० ६।७।३।१०]।
३–"वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता" [तै० ब्राह्मण ३]।
४–यो जागार भुवनेषु विश्वा (शत० ब्रा० ११।३।१।८ ।

२

——*——

२३१–३–आरण्यकमूलक पञ्चधा-विभक्त उपास्यतत्त्व—

१–निर्गुण अव्ययात्मा–(अव्ययः)—

१–तस्मात् पुरुषं पुरुषप्रत्यादित्यो भवति [जै० आ० ३।२।३]।
२–आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् [तै० आ० ९।१।५।]।
३–विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् ,,
४–मनो ब्रह्मेति व्यजानात् ,,
५–स एष पुरुषः समुद्रः [तै० आ० ३।२।३]।

——**——

२–सगुणः षोडशीप्रजापतिः [अक्षरः]—

१—अम्भस्य पारे भुवनस्य मध्ये नाकस्य पृष्ठे महतो महीयान्।
शुक्रेण ज्योतींषि समनुप्रविष्टः प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तः॥
(तै० आ० १।१)।

२—यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
तदेव भूतं तदु भव्यमा इदं तदक्षरे परमे व्योमन् ॥ (तै० आ० १।१।)
३—प्रजापति र्वा इदं पुरुषमुदञ्चत ॥ (शां० आ० ११ अ० १)।
४—तदेवर्क्तं तदु सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम् ।
इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं विश्वं बिभर्त्ति भुवनस्य नाभिः ॥
(तै० आ० १०।१)।

—**—

३–सविकारो यज्ञप्रजापतिः (आत्मक्षरः)—

१—स एष वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरि क्रमो-यत्-"यज्ञः" (ऐ० आ० २।३।३)।
२—एष वै यज्ञे यज्ञोऽहन्यहर्देवेषु देवोऽध्यूढो यदेतन्महदुक्थम्"
(ऐ० आ० २।३।४।)।
३—मखाय त्वा, मखस्य शीर्ष्णे (तै० आ० ४।१।)।
४—प्रसृतेन वै यज्ञेन देवाः स्वर्गं लोकमायन् (तै० आ० २।६।१।)।

—**—

४–साङ्गनो विराट् प्रजापतिः [विकारक्षरः]—

१—अथातो विअवस्ता विराजो भवन्ति, तस्मात्पुरुषः (ऐ० आ० १।४।१।)
२—विराजः शंसति । अन्नं वै विराजः (ऐ० आ० १।५।
३—तथक्षत्रिया विराजमाप्नोति (शां० आ० २।१)।
४—विराड्भ्यां पुरुषः प्रतिष्ठितः (ऐ० आ० १।४।२।)।

—**—

५–सावरणो विश्वप्रजापतिः [वैकारिकक्षरः]—

१—विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम (शां० आ० २।४।)।
२—देवानां जनिमानि विश्वा (ऐ० आ० २।५।१।)
३—विश्वतो दावन्–विश्वतो न आभर (ऐ० आ० ५।२।२।)
४—स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे (ऐ० आ० ३।१।२।)।

२३२-४-उपनिषन्मूलक पञ्चधा-विभक्त उपास्य तत्त्व--

१--निर्गुण-अव्ययात्मा-[अव्ययः]—

१—दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरोह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥
—मुण्डकोपनिषत् २।१।२।

२—गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परे ऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥
—मुण्डकोपनिषत् ३।२।७।

३—एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥
--कठोपनिषत् १।३।१७।

४—यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रे ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
--मुण्डकोपनिषत् ३।२।८।

—— —**——

२ सगुणः षोडशीपूजापतिः (अक्षरः)—

१-सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ;
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि-"ओम्" इत्येतत् ॥
--कठोपनिषत् १।२।१५।

२-ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषो ऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं-तद् ब्रह्म-तदेवामृतमुच्यते ॥
--कठोपनिषत् २।६।१।

३-अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि (शरीरे) तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥
—कठोपनिषत् ३।४।१२।

४-यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा ऽस्मिन्संदेह्ये गहने प्रविष्टः ।
स विश्वकृत् , स हि सर्वस्य कर्त्ता, तस्य लोकाः, स उ लोक एव ॥
—बृहदारण्यकोपनिषत् ४।४।१३।

——**——

३-सविकारो यज्ञप्रजापतिः [आत्मक्षरः]—

१-अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यान्त्यत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥
—ईशोपनिषत् ४।

२-स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्म्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
—ईशोपनिषत् ८।

३-यः सर्वज्ञः सर्ववित् , यस्य ज्ञानमयं तपः
तस्मादेतद् ब्रह्म--नामरूप--मन्नञ्च जायते ॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।९।

४-यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।६।

—**—

४-साङ्गनो विराट्प्रजापतिः (विकारक्षरः)—

१-एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा (महानात्मा पारमेष्ठ्यः) ।
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ५।३।

२-गुणान्वयो यः फलकर्म्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्म्मभिः ॥
—श्वेता० ५।७।

३-अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥
—श्वे० उप० ५।१३।

४-एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्म्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥
—श्वेता० ६।११।

—*—

५–सावरणो विश्वप्रजापतिः (वैकारिकक्षरः)

१–तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः ॥
—श्वेता० उप० ४।२।

२–त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ।
—श्वेता० ४।३।

३–स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥
—श्वेता० ६।१६।

४–स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।
स ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥
—श्वेता० ६।१७।

४

२३३-५-गीताशास्त्रमूलक-पञ्चधा-विभक्त-उपास्य-तत्त्व—

१ निर्गुण–अव्ययात्मा (अव्ययः)—

१–अनादित्वान्निर्गुणत्वात्–परात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति, न लिप्यते ॥
—गीता १३।३१

२–गतिर्भर्त्ता–प्रभुः–साक्षी- निवासः–शरणं–सुहृत् ।
प्रभवः–प्रलयः–स्थानं–निधानं–बीज–मव्ययम् ॥ (आधिदैविकः–ईश्वराव्ययः)
—गीता ९।१८।

३–उपद्रष्टाऽनुमन्ता च–भर्त्ता–भोक्ता–महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः–'पर–' ॥ (आध्यात्मिकः–जीवाव्ययः)
—गीता १३।२२।

४ त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं ततम् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् (गुणातीतम्) ॥
—गीता ७।१३।

—*—

२—सगुणः-षोडशीप्रजापतिः—

१—मत्तः परतरं नान्यत्-किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
—गीता ७।७।

२—ये चैव सात्त्विका भावा, राजसा, स्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि नत्त्वहं तेषु, ते मयि ॥
—गीता ७।१२।

३—अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ! ॥
—गीता ८।४।

४—क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः (षोडशी) ॥
—गीता १५।१६,१७

—*—

३—सविकारो यज्ञप्रजापतिः—

१—भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥
—गीता ५।२९।

२—सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
—गीता ३।१०।

३—कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥
—गीता ३।१५।

४--यज्ञार्थात्कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥
—गीता ३।९।

—*—

४-साङ्गनो विराट्प्रजापतिः—

१--इहैकस्थं जगत्--कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश ! यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥
—गीता ११।७।

२--द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तदेवं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥
—गीता ११।२०।

३--कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्-प्रवृद्धो लोकान्त्समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥
—गीता ११।३२।

४--त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ! ॥
—गीता ११।३८।

—*—

५-सावरणो विश्वप्रजापतिः—

१--मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि नचाहं तेष्ववस्थितः ॥
—गीता ९।४।

२--न च मत्स्थानि भूतानि, पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥
—गीता ९।५।

३--मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्त्तते ॥
—गीता ९।१०।

४–मया प्रसन्नेन तवार्जुनेन रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ।।
—गीता ११।४७।

५

—*—

२३४–'यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश' मूलक-पाङ्क्त-विश्वयज्ञानुबन्धी पञ्चापयव-उपास्य-विवर्त्तों का संस्मरण—

पाठक इससे यह कल्पना न करलें कि, पाँच उपास्य-विभागों को सिद्धान्त मान बैठाना लेखक की कल्पना है। यद्यपि यह ठीक है कि, ३-४-६-, किंवा असंख्य उपास्य, सभी शास्त्रसिद्ध हैं। परन्तु इन सबका आत्मा के [1] अव्यय–[2] अक्षर [षोडशी]–[3] आत्मक्षर–[यज्ञप्रजापति]; [4] विकारक्षर [विराट्प्रजापति]–[5] वैकारिकक्षर [विश्वप्रजापति] पाँच विवर्त्तों में ही अन्तर्भाव है। पाँचों उस एक ही के पाँच विवर्त्त हैं। एवं "यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः"–"यदक्षरं पञ्चविधं समेति"–"यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश–"पाङ्क्तो वै यज्ञः" इत्यादि श्रुतियाँ भी इस पञ्चोपास्यविवर्त्त का ही सिद्धान्तरूप से समर्थन कर रहीं हैं। इसी आधार पर हम उपास्यदेव के इन पाँच विवर्त्तों को ही सिद्धान्तकोटि में प्रविष्ट मानते हैं।

२३५–पञ्चवर्त्मक महारम्भ आर्षशास्त्र में उपवर्णित पञ्चोपास्य-विवर्त्त—

जबकि पञ्चपर्वा [संहिता[1]–ब्राह्मण[2]–आरण्यक[3]–उपनिषत्[4]–गीता[5]] शास्त्र-में [प्रत्येक में] पाँच पाँच उपास्यतत्त्वों का विवेचन हुआ है, तो इसी आधार पर हमें यह भी मान ही लेना चाहिए कि, अवश्य ही पाँचों शास्त्रपर्वों में [प्रत्येक में] पाँचों उपास्यतत्त्वों की उपासना का भी निरूपण हुआ होगा। विस्तारभय से शास्त्र के चार पर्वों को तो हम छोड़ते हैं, केवल गीताशास्त्र में प्रतिपादित उन पाँचों उपासनामार्गों की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहें हैं। पाँचों में से पहिले क्रमप्राप्त निर्गुण अव्यय की उपासना का ही गीता में अन्वेषण कीजिए।

१–निर्गुण–अव्ययोपासना–समर्थक गीतावचन–[देवयुगानुगता–उपासना]–

२३६–गीताशास्त्र की प्रत्यगात्मनिबन्धना-निर्गुणाव्ययमूला निर्गुणोपासना का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

जैसाकि पूर्व में कहा गया है, अव्ययोपासना का न तो निष्कामभाव से सम्बन्ध है, एवं न कामभाव से। अपितु यहाँ केवल 'आत्मकामना' से ही सम्बन्ध है। अव्ययपुरुष विद्या-कर्म्ममय है। जानना, और करना इस अव्यय का स्वाभाविक धर्म्म है। यही उभयमूर्त्ति अव्ययपुरुष प्रत्यगात्मा [आध्यात्मिक ईश्वर] की प्रतिष्ठाभूमि बना हुआ है। जो भक्त बुद्धियोग के द्वारा यह अव्ययनिष्ठा प्राप्त कर लेता है, उसके

सकाम, एवं निष्काम, दोनो भाव उच्छिन्न होजाते हैं। फलतः इसका यह उपासनामार्ग विशुद्ध ज्ञानानुगत बनता हुआ आत्मानुगामी बन जाता है। और यों **यह उपासना अद्वैतमूला ही बन जाती है।** सकाम-भाव में तो द्वैत है ही, परन्तु ईश्वरानन्यतालक्षण निष्कामभाव भी द्वैतमर्य्यादा से पृथक् नहीं है। **"मैं अपनी इच्छा से कुछ नहीं करता, अपितु ईश्वर की इच्छा हीं सबकुछ कर रही है"** यही निष्कामभाव है। दूसरे शब्दों में-**'अपनी कामना'** हटा कर उसके स्थान में **'ईश्वरकामना'** को प्रतिष्ठित कर देना हीं निष्कामभाव है। इसमें निश्चयेन द्वैतगन्ध **अनुषक्त** है। हम उसकी और हमारी कामना पृथक् कर रहे हैं। **इधर अव्ययोपासक तो ज्ञान के द्वारा वही बन जाता है।** इस ब्राह्मीस्थिति में न तो इस उपासक को-**"मैं करता हूँ, मैं और वह एक हूँ"** यह अभिनय करने की ही कोई आवश्यकता रह जाती, एवं न **"मैं नहीं करता, उस की इच्छा से ही सबकुछ होरहा है"** यह कहने की ही कोई आवश्यकता रह जाती। यहाँ तो केवल अद्वैतमूला आत्मकामना का ही साम्राज्य है, जिसका कि वाणी के द्वारा अभिनय सर्वथा असम्भव है। कौन करता है, किसकी प्रेरणा है, किसकी इच्छा है, इन द्वन्द्व-भावों को यहाँ प्रवेश करने का भी अवसर नहीं मिल सकता। यहाँ तो अधिक से अधिक **"यो ऽस्मि सो ऽस्मि, यथानियुक्तोऽस्मि तथा करोमि"** केवल इसी सहज-आत्मसिद्धा आत्मसंवित् की प्रधानता रहती है।

२३७-आत्मकाममयी अव्ययोपासना की स्वरूप-मीमांसा—

वस्तुतस्तु **'तथाकरोमि'** कहने का भी [अत्र निर्गुणोपासनायाम्] अवसर नहीं मिलता। कारण स्पष्ट है। अव्यय न ज्ञानमय है, न कर्म्ममय है। ज्ञानमय ज्ञानवान् कहलाता है, कर्म्ममय कर्म्मवान् कहलाता है। **अव्यय ज्ञान-कर्म्ममूर्ति है,** "वान्" नहीं हैं। **'वान्'** को ही यह कहने का अवसर मिलता है कि, **मैं जानता हूँ, मैं करता हूँ।** जो स्वयं ज्ञान-कर्म्ममूर्ति बन गया, उसे ज्ञान-कर्म्मानुष्ठान के अतिरिक्त इसके लिए समय ही कौनसा बच रहता है, जिसमें कि यह **"मैं करता हूँ"** यह कहे। नित्यकर्म्मज्ञान का कदापि अभिनय नहीं हुआ करता। **निष्कामभाव-सम्बन्धी, अक्षरानुबन्धी ज्ञानकर्म्मों** का, एवं **सकामभाव-सम्बन्धी क्षरानुबन्धी ज्ञानकर्म्मों का** ही अभिनय सम्भव है। हम प्रतिदिन भोजन स्नानादि नित्यकर्म्म करते हैं। परन्तु देखते है कि, इनका अभिनय नहीं होता। आत्मेच्छा से ही सब कुछ [अज्ञातदशावत् ही] यथावत् होता रहता है। **यही आत्मकाममयी अव्ययोपासना है।**

२३८-निर्गुणाव्ययोपासक की अवस्थिति का विश्लेषण—

सामान्य लौकिक जनों की दृष्टि में तो ऐसा उपासक एक प्रकार से नास्तिक ही बना रहता है। कारण, न यह कभी माला लेकर जप ही करता, न उच्चस्वर से कभी नामसंकीर्त्तन ही करता, न ऐसे उत्सवों में यह अभिनिवेशपूर्वक कोई भाग ही लेता, न उद्घोषपूर्वक ईश्वरसत्ता का ही प्रचार करता। उसे इन कार्य्यों के लिए अवसर ही कहाँ है?। वह **नित्यनिष्ठ, नित्यतृप्त योगी अनन्यभाव से अपने कर्त्तव्यकर्म्म पर ही आरूढ रहता है। संसार क्या कर रहा है?, क्या कह रहा है?,** इसकी मीमांसा का यहाँ यत्किञ्चित् भी अवसर ही नहीं है। **यह सबमें रहता हुआ भी, सब कुछ करता हुआ भी सबसे पृथक् है, एवं कुछ नहीं कर रहा। संसार इसे नहीं जानता, न यह जानना चाहता।** ख्याति का यह महान् शत्रु है। **जिसके कर्त्तव्य पर स्तुति से भी किसी ने अँगुली उठादी, वह भी इस मार्ग से गिर गया।**

२३९–अव्ययोपासनानुगत निर्गुणभाव, एवं तत्समर्थक-गीतावचन—

अव्ययज्ञानकर्म्मात्मिका, प्रत्यगात्मानुगता यही आत्मोपासना वैराग्यलक्षणा बुद्धियोगनिष्ठा है। इस के आविष्कार–प्रचार का एकमात्र श्रेय भगवान् को ही है। अतएव इसे हम "भवगन्निनिष्ठा" कहते हैं। विवस्वान्, इक्ष्वाकु, जनकादि राजर्षि—इसी निष्ठा का अनुगमन करते हुए 'विदेह' कहलाए हैं, साथ ही यह भी ध्यान रखिए कि, इस का मूल प्रधानरूप से 'उपनिषत्' शास्त्र ही बना हुआ है। वैराग्यबुद्धियोगात्मिका अव्ययमूला इसी निर्गुणोपासना का स्पष्टीकरण करते हुए निम्नलिखित वचन हमारे सामने आते हैं---

१ - येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्म्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ (७।२८।) ।

२—जरामरणमोक्षाय 'मा' माश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म्म चाखिलम् ॥ (७।२९।)

३—साधिभूताधिदैवं 'मां' साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च "मां" ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ (७।३०।)

४—तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च **मम** प्रियः ॥ (७।१७।)

५—उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ (१७।१८।)

६—वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (७।१९।)

७—मद्भक्ता (अव्ययभक्ता) यान्ति मामपि ॥ (७।२३।) ।

८—योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ (६।४७) ।

९—पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ (८।२२।) ।

१०—समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ (९।२९।)

——*——

२४०–दुरधिगम्य दुःसाध्य अद्वैतपथ को गीता के द्वारा ऋजुभाव-प्रदान, एवं तन्नि-बन्धन गीताशास्त्र का महतोमहीयान् कौशल—

विचार करने पर प्रतीत होता है कि, गीता की उक्त अव्ययोपासना एक महती उच्च-भूमिका है। यह अद्वैतमार्ग शास्त्रों की दृष्टि में अत्यन्त ही दुर्गम पथ बन रहा है। गीताशास्त्र की सब से बड़ी विशेषता यही है कि, जिस अद्वैतभावना को अभिनिविष्टोंने एक जटिल समस्या बना रक्खी थी, जिस की प्राप्ति के लिए अद्वैतपथ–व्याख्याता संसार छोड़ना आवश्यक समझते थे, विधि–निषेधात्मक शास्त्रमार्ग से बाहिर निकलना अपेक्षित मानते थे, भगवान्ने उसे बुद्धियोग से सर्वथा ऋजु (सरलमार्ग) ही प्रमाणित कर दिया।

२४१–इतर शास्त्रापेक्षया गीताशास्त्र की अपूर्वता, विलक्षणता, एवं पूर्णता का संस्मरण—

छन्दोमर्य्यादा से सम्बन्ध रखते वाले ब्रह्मवीर्य्य से शूद्रवर्ग प्रकृत्यैव जन्मनैव वञ्चित है। धामच्छ-द अत्रिप्राण से युक्त स्त्रीवर्ग भी इस से वियुक्त है। एवं विड्वीर्य्ययुक्त वैश्य भी इस से वञ्चित है। तीनों वर्गों का उपादान 'पाप्मा (असद्भाव) ही है। अतएव इन तीनों को 'पापयोनि' कहा जाता है। इन में शास्त्रसिद्ध विधि–निषेध के अनुपालन की योग्यता का अभाव है। परन्तु भगवान् उसी उच्चभूमिका के द्वारा उनका भी अभ्युदय कर रहे हैं, यह क्या कम आश्चर्य्य है?। धर्म्मव्याध का दृष्टान्त भी इस सम्बन्ध में ज्वलन्त उदाहरण है। मानव अपना अपना कर्म्म करते रहें, साथ ही काम-निष्काम-भावों से आत्मपरित्राण करते हुए कर्त्तव्यबुद्ध्या स्व स्व-कर्म्म में अनन्यनिष्ठा से प्रवृत्त रहे, यही आत्मोपासन-लक्षणा बुद्धियोगनिष्ठा है। "तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च" का भी यही रहस्य है। यहाँ अनुस्मरण का यही तात्पर्य्य है कि, कर्म्म में प्रवृत्त वह व्यक्ति सदा उस अव्ययात्मा को अपने स्मृतिपटल पर अङ्कित रक्खे। कौन क्या करते हैं, इस भाव से दूर रहता हुआ अपने आप को कर्त्तव्यकर्म से अभिन्न समझे। न केवल वैश्य-शूद्र-स्त्रीवर्ग ही, अपितु एक दुराचारी भी इस अनुस्मरण से मुक्त होजाता है। इस अव्ययसंस्मरण से स्वल्पकाल में हीं वह सदाचारी बनता हुआ बुद्धियोगनिष्ठा का अधिकारी बन जाता है। क्योंकि गीता की दृष्टि में—"सम्य-ग्व्यवसितो हि सः"। इसप्रकार उच्चभूमिका इसदृष्टि से सरलतम बनी हुई है, और यही गीताशास्त्र की इतर शास्त्रों से अपूर्वता, पूर्णता, एवं विलक्षणता है। एवं यही गीता का 'बुद्धि-योग' है।

१

२–सगुणषोडशीपूजापत्युपासनासमर्थक–गीतावचन—

२४२–यज्ञात्मक विश्वकर्म्मों की अबन्धनता, एवं तत्प्रेरक अन्तर्य्यामी-यज्ञेश्वर-प्रजापति–

अव्यय के अनन्तर मनः (अव्ययः)–प्राण (अक्षर)–वाङ् (आत्मक्षर) मय अक्षरमूर्त्ति षोडशकल ईश्वरप्रजापति का स्थान है। इसे ही पूर्वप्रकरण में हमने 'ओङ्कार' कहा है। यही 'विश्वात्मा' है। इसी की कामना से 'यज्ञात्मक विश्वकर्म्मों' का सञ्चालन होरहा है। यह षोडशी–प्रजापति

अव्यय के ज्ञान-कर्म्म से **ज्ञानवान् एवं कर्म्मवान्**, बनता हुए सब में प्रविष्ट होरहा है। इसी की इच्छा से सब का सञ्चालन होरहा है—"भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया"।

२४३–मुकुलितवृत्तिरूपा अस्मिता की निवर्त्तिका ऐश्वर्य्यप्रदात्री भक्ति, एवं उस की सगुणरूपता का समन्वय—

जीवात्मा इसी का अंश है। अंशी की इच्छा ही **अंशेच्छा** है। जीवात्मा का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह कर्म्म को ईश्वरेच्छा से ही नियन्त्रित समझे। अपनी कामना को हटा कर उस के स्थान में उस तन्त्रायी की इच्छा का ही समाशेश करदे। यही **निष्कामभाव (ईश्वरकामभाव) मूला अक्षरोपासना कहलाएगी। 'ओङ्कार ही इस उपासना का मूल धरातल बनेगा'**। इस अनुध्यान से यह उस का **'भाग'** (अंश) बन जायगा, फलतः भक्तियोगनिष्ठा प्राप्त होजायगी। यद्यपि **'भाग'** यह आज भी बना हुआ है, परन्तु अविद्यावरण से यह उस के ऐश्वर्य्यभाव से वञ्चित होरहा है। परिणामतः वह अपने कर्त्तव्य–निर्णय में पद पद पर कुण्ठित ही होता रहता है। सांसारिक–विभीषिकाओं से व्याकुलमना ही बना रहता है। जब प्रणवध्यान के द्वारा यह अविद्यावरण हटा देता है, तो उस ईश्वर की **ईश्वरता** की, किंवा विकासलक्षणा ऐश्वर्य्य की इस में स्वतः ही अभिव्यक्ति होजाती है। **मुकुलितवृत्ति (अस्मिता) जाती रहती है, ऐश्वर्य्यलक्षणा बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त होजाती है।**

२४४–काशिराज प्रतर्दनादि भारतीय-नृपतिवरों की परम्परा में प्रचलिता ऐश्वर्य्य-बुद्धियोगात्मिका-भक्ति—

काशिराज प्रदर्दन, केकय, बबर प्रावाहणि आदि नृपतिगण इसी भक्ति से ऐश्वर्य्यशाली होगए हैं। यही निष्कामभावमूला, ईश्वरानन्यता–लक्षणा गीता की (राजविद्यानुगता) **"ऐश्वर्य्यबुद्धियोगनिष्ठा"** है। **"मैं कुछ नहीं करता, वही सब कुछ करता है"** यही इस की मूलप्रतिष्ठा है। यही गीता का **भक्ति-योग"** है, जिस का कि, विश्लेषण परीक्षाप्रकरण के अन्त में होने वाला है। इस भक्तिलक्षणा उपासना से ज्ञानवान् बना हुआ यह भक्त कालान्तर में (प्रयाणकाल में) उस पूर्वोक्त **'माम्'** [अव्यय] को प्राप्त करने में समर्थ होजाता है।

२४५–राजविद्यानुगता, षोडशीपुरुषनिबन्धना-ईश्वरानन्यता–लक्षणा भक्ति, एवं सगुण-षोडशीप्रजापत्युपासना–समर्थक-गीतावचन—

अव्ययभक्ति इसी जन्म में **"मां"** प्राप्ति का कारण बनती हुई **विदेहभाव** का कारण बनती है, एवं षोडशीरूपा अक्षरभक्ति जन्मान्तर में, यदि कुछ विघ्न आगए, तो अनेक जन्मों के पीछे [कलाभाव के आत्यन्तिक निर्वाण होने पर] अव्ययमूलक विदेहभाव प्राप्त होता है। दोनों उपासनाओं में यही अन्तर है। साथ ही यह भी ध्यान रखिए कि, इसका प्रधानरूप से **'आरण्यक'** ही मूल बना हुआ है। **इस राजविद्यानुगता, षोडशी-प्रजापति-निबन्धना, ओङ्कारात्मिका, निष्कामभावमूला, ईश्वरानन्यता लक्षणा, ऐश्वर्य्यबुद्धियोगोपयिका, भक्तिरूपा उपासना** का स्पष्टीकरण करते हुए ही आगे के वचन हमारे सम्मुख आते है।

१—कविं पुराणमनुशासितार*मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं ÷ तमसः परस्तात् ॥ (८।९)।

२—प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ (८।१०)।

३—यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ (८।११) ।

४—ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
य प्रयातिः त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ (८।१३)।

५—अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ (८।१४)॥

६—महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ (९।१३) ।

७—सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ (९।१४)।

८—अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ (१०।८)।

९—तेषा सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि × बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ (१०।१०)।

१०—बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
"वासुदेवः सर्वमिति" स महात्मा सुदुर्लभः ॥ (७।१९)।

२

---

*—शास्ता—अक्षरः—"अक्षरस्य प्रशासने गार्गि !"।

÷—आदित्य सूर्य्य है, एवं इसी में अक्षर की अभिव्यक्ति हुई है।

× अक्षरभवक्त्यैव निर्गुणाव्ययमूलक—बुद्धियोगावाप्तिरिति सिद्धान्ततं प्रागेव ।

३—सविकारयज्ञपूजापत्युपासनासमर्थक गीतावचन—

२४६-विकारानुबन्धी सत्यप्रतिष्ठ यज्ञप्रजापति, एवं तदनुगता उपासना—

यह लोकप्रचलित प्रवृत्ति-मूलक उसी कर्म्मयोग का संशोधित रूप है, जिसे कि कतिपय राष्ट्रवादियोंने गीता का मुख्य विषय मानने की भ्रान्ति करली है। षोडशीपुरुष के अनन्तर **अमृतवाक्-आपः-अग्नि-मय यज्ञप्रजापति** का ही स्थान है। वाक्सत्य वेदतत्त्व है। आपः सोम है, एवं अग्नि अग्नि है, और दोनों का समन्वितरूप ही **यज्ञप्रजापति** है, एवं वागात्मक (वेदात्मक) **सत्यप्रजापति** ही इसकी प्रतिष्ठा है, जैसाकि पूर्वप्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

२४७—'तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्' मूलक यज्ञात्मक कर्म्म, एवं तद्रूपा भक्ति—

हमारे सम्पूर्ण कर्म्म इस प्रजापति को अनन्य बनाते हुए ही सम्पन्न हों, यही तीसरा **कर्म्मात्मक भक्तिमार्ग है**। "तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्" के अनुसार यह धर्म्मरूप प्रजापति ही उस पूर्वोक्त अक्षरब्रह्म की प्रतिष्ठाभूमि है—"तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्"।

२४८—यज्ञप्रजापति के अर्चनोपासन से अनुप्राणिता त्रिगुणात्मिका भक्ति—

इस यज्ञप्रजापति को निमित्त बनाकर **यज्ञ--तप--दान** करना, **इष्ट-- आपूर्त्त--दत्त** करना, और और भी **लोक-संग्राहक लोकाभ्युदयमूलक**, किन्तु **विश्वशान्ति के समर्थक--कर्म्म** करना **यज्ञार्थ** (यज्ञप्रजापति के लिए किए हुए कर्म्म) कर्म्म कहलाएँगे। इस कर्म्म से यज्ञप्रजापति का अर्चन होगा, यह परम्परया षोडशी—प्रजापति की प्राप्ति का कारण बनेगा, षोडशी—प्रजापति परम्परया अव्ययावाप्ति का कारण बन जायगा। **इसप्रकार अपने कर्म्मों से यज्ञप्रजापति का अर्चन करता हुआ यह कर्म्मात्मक भक्त परम्परया सिद्धि प्राप्त करनें में समर्थ होसकेगा**—"स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः"।

२४९-कर्म्ममय-भक्तिमार्ग की त्रिगुणात्मकता के प्रचण्डविरोधी गीताचार्य्य—

ध्यान रहै, इस मार्ग में ईश्वरात्मक अक्षर, किंवा प्रणव लक्ष्य नहीं है। अपितु कर्म्ममार्ग ही लक्ष्य है—"**कर्म्मेति मीमांसकाः**"। **कर्म्म को ही ईश्वर समझ कर निष्कामभाव से इसकी आराधना करना कर्म्ममय भक्तिमार्ग है**। कर्म्मका आत्मक्षर से सम्बन्ध है, अतएव इसके द्वारा तद्रूपा यज्ञप्रजापतिसंस्था ही प्राप्त होती है। यदि सकामभाव है, तो पुनरावर्त्तन है। और प्रवृत्तिमूलक यही कर्म्मयोग त्रिगुणात्मक बनता हुआ, भोगैश्वर्य्य-गतिप्रधान बनता हुआ, अशाश्वत स्वर्गफल का उत्तेजक बनता हुआ भगवान् की दृष्टि में सर्वथैव "**हेय**" है --"निस्त्रैगुण्यो भवार्जुनः!"

२५०—गीता के द्वारा संशोधित गुणात्मक-भक्तिमार्ग का 'धर्म्मबुद्धियोगात्मक' स्वरूप—

निष्कामभाव से लोकसंग्रह-दृष्टिमात्र से किया हुआ यह कर्म्मानुष्ठान इष्टकामधुक् बनता हुआ परम्परया मुक्तिलक्षणा सिद्धि का ही कारण बन जाता हैं, और **यही गीता का संशोधित, कर्म्मबुद्धियोग-लक्षण कर्म्मयोग, किंवा कर्म्मनिष्ठा है**। आर्षविद्यानुगत यही मार्ग ऋषियों का "**योग**" है--"**कर्म्मयोगेन योगिनाम्**"।

२५१–ब्राह्मणभागनिबन्धन धर्म्मबुद्धियोगपथ—

दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, यहाँ कर्म्म ही उपास्यदेवता है, अतएव इसे हम कर्म्मात्मिका भक्ति भी कह सकते हैं। जो सर्वव्यापक ईश्वर की अनन्यता में असमर्थ हैं, वे अपने कर्म्म को ईश्वर-मानते हुए भी (निष्कामभाव की कृपा से) अभ्युदय-साधन कर लेते हैं–"नहि कल्याणकृत कश्चिद्दुर्गतिं तात ! गच्छति"। इस उपासना का मूल प्रधानरूप से "ब्राह्मणभाग" ही है, यह भी अविस्मरणीय है।

२५२–अवतारोपासनात्मिका सविकारोपासना, एवं उस के विविध विवर्त्त—

"अवतारोपासना' का भी इसी 'सविकरोपासना' में अन्तर्भाव है। आधिकारिक–चेतन–जीवात्मक-अवतारपुरुषों को अपने कर्म्म का साक्षी बनाता हुआ भी उपासक भक्तिबल के द्वारा अभ्युदय-साधन कर सकता है। इसके अतिरिक्त सूर्य्य–चन्द्र-पृथ्वी-गङ्गा आदि आधिकारिक-अचेतन-जीवों को मध्यस्थ बनाता हुआ भी उपासक अभ्युदय-साधन कर सकता है। इस दृष्टि से इस कर्म्मात्मिका भक्ति के तीन क्रमसंस्थान होजाते हैं।

२५३-लोकात्मक-विश्वधर्म्म से अनुप्राणित कर्म्मात्मक-भक्तिमार्ग का स्वरूप-समन्वय—

१—लोकचक्रात्मक विश्वधर्म्म की सुव्यवस्थिति के लिए निष्कामभाव से वर्णाश्रमधर्म्मानुसार स्वस्व-कर्म्म में प्रवृत्त रहना, दूसरे शब्दों में कर्म्ममय विश्व को (यज्ञात्मक विश्व को) लक्ष्य बनाकर तदर्थ (तत्संग्रहार्थ) निष्कामभाव से कर्म्म करना ही कर्म्मात्मक भक्तिमार्ग है।

२५४–अवतारचरित्रनिबन्धन-कर्म्मात्मक-भक्तिमार्ग का स्वरूप-समन्वय—

२—रामकृष्णादि अवतारपुरुषों के निष्कामभावमूलक उदात्त, लोकसंग्राहक चरित्रों को आदर्श बनाते हुए, उनके अमानव दिव्य शरीरों का संस्मरण करते हुए अपने आपको केवल कर्म्माधिकारी, एवं फलानधिकारी समझते हुए निष्कामभाव से कर्त्तव्यकर्म्म में प्रवृत्त रहना ही कर्म्मात्मक भक्तिमार्ग है।

२५५–आधिकारिक–अचेतन–सूर्य्यचन्द्रादि जीवनिबन्धन–कर्म्मात्मक भक्तिमार्ग का समन्वय—

३—जिसप्रकार सूर्य्यचन्द्रादि आधिकारिक-अचेतन-जीव ईश्वराज्ञासिद्ध अधिकारभाव (उत्तरदायित्व) से युक्त होकर 'विश्वरक्षाकर्म्म' में असङ्गभाव से, किंवा निष्कामभाव से युक्त–प्रवृत्त हैं, एवमेव इनके आदर्श को लक्ष्य में रखकर हमें भी अधिकारबुद्धया कर्म्म में निष्कामभाव से ही प्रवृत्त रहना चाहिए, यही कर्म्मात्मक भक्तिमार्ग है।

२५६-भक्तिमार्ग के प्रथम, मध्यम, उत्तम-भावनिबन्धन तीन विभिन्न सोपान—

उक्त तीनों मार्गों में भी 'अधिकारीभेद' व्यवस्थित किया जासकता है। प्रथममार्ग उत्तमाधिकारियों से, द्वितीय मार्ग मध्यमाधिकारियों से, एवं तृतीय मार्ग प्रथमाधिकारियों से सम्बन्ध रखता

है। शास्त्र ने जिन यज्ञादि कर्म्मों का विधान किया है, शास्त्र पर पूर्ण निष्ठा रखते हुए वर्णधर्म्मानुसार अधिकारभेद से "यज्ञप्रजापति" रूप 'उपेश्वर' के निमित्त निष्कामभाव से कर्म्म करना ही कर्म्मात्मिका-भक्ति का उत्तममार्ग है।

२५७–ईश्वरसत्ता से तटस्थ मानवों के अभ्युदय से अनुप्राणित भक्तिमार्ग की रूपरेखा–

कुछ एक ऐसे व्यक्ति भी हैं, जोकि ईश्वरसत्ता, किंवा उपेश्वरसत्ता पर विश्वास नहीं रखते। रामकृष्णादि ईश्वरावतारों को वे महापुरुष ही समझते हैं। कोई हानि नहीं। महापुरुषों का आदर्श भी तो हमारा अभ्युदय कर सकता है। हमें यह तो मान ही लेना पड़ेगा कि, ये महापुरुष लोकाभ्युदयार्थ ही कर्म्म में प्रवृत्त रहते थे [हैं]। इनके आदर्श को सम्मुख रखते हुए निष्कामभाव से हमें उनके बतलाए हुए सिद्धान्तों के अनुसार ही कर्म्ममार्ग में प्रवृत रहना चाहिए। जो सात्विक जीव उन्हें साक्षात् ईश्वर मान कर उनका संस्मरण करते हुए कर्म्म में प्रवृत्त रहते हैं, वे तो पूर्वोक्त उत्तम मार्ग के ही अनुयायी कहलाएँगे।

२५८–केवल प्रकृतिपरायण प्राकृत-मानवों का चरित्र-चित्रण, एवं तदभ्युदयपथ-संस्मरण—

कुछ एक बुद्धिवादी ऐसे भी हैं, जिनकी दृष्टि में अवतारपुरुषों का महापुरुषत्व, एवं उन का आदर्श केवल सामयिक है। कितने एक पश्चिमी, एवं तदनुयायी भारतीय तो इन के चरित्रों में दोष निकालने में भी लज्जा का अनुभव नहीं करते। इन की यह कुत्सित-विचारधारा भी आज विद्वत्ता ? ही मानी जारही है। प्रत्येक बात में "नेचर" का समावेश करना ही इन का परम पुरुषार्थ है। कारुणिक भगवान् कहते हैं, कोई हानि नहीं। तुम ईश्वरसत्ता पर भी विश्वास मत करो, अवतारों को महापुरुष भी मत समझो, उनके आदर्श का भी अनुगमन मत करो, केवल प्रकृति के ही अनुगामी बने रहो।

२५९ -प्रकृतिसिद्ध-लोकसंग्राहक-कर्त्तव्यानुष्ठानानुगत सदाचरण, एवं तन्निबन्धन पारम्परिक-अभ्युदय–

सूर्य्य-चन्द्रमा-वायु-अग्नि आदि प्रकृति के ही तो अवयव हैं। तुम्हें मानना पड़ेगा कि, ये सभी प्राकृतिक जड़पदार्थ बड़े संयम से नियमपूर्वक लोकसत्ता के पालक बने हुए हैं। किसी से राग द्वेष न रखते हुए, अपने किसी वैय्यक्तिक स्वार्थ को सिद्ध न करते हुए उपकार-अपकार-प्रेम-द्वेष, आदि द्वन्द्वभावों से वियुक्त रहते हुए अपने कर्त्तव्य पर अनन्यनिष्ठा से प्रतिष्ठित हैं। इनके इसी 'आधिकारिक कर्त्तव्य' से हमारी, किंवा विश्व की स्वरूप–रक्षा होरही है। तुम इन्हीं के आदर्श को लक्ष्य में रखकर अपने उन कर्त्तव्य-कर्म्मों पर निष्कामभाव से, रागद्वेष-परित्याग-पूर्वक आरुढ रहो, जिनसे कि लोकाभ्युदय होता रहे, विश्व के मानवसमाज में शान्ति-प्रेम, तथा सौहार्द्द बना रहे। ऐसा करने से प्रकृति का तुम पर अनुग्रह होगा। परोक्षरूप से तुम्हारा भूतात्मा यज्ञप्रजापति का भक्त (भाग) बन जायगा। यज्ञ के द्वारा ईश्वरनिष्ठा प्राप्त होजायगी। तद्द्वारा वही सिद्धि तुम्हें भी मिल जायगी, जोकि रजोयुक्त महापुरुषोपासकों को, सत्त्वयुक्त अवतारपुरुषोपासकों को, त्रीगुणातीत यज्ञकर्म्मोपासकों को, एवं सर्वातीत ईश्वरोपासकों को परम्परया प्राप्त होजाती है।

२६०-प्रचलित कर्म्म-ज्ञान-योग-निष्ठाओं का भगवान् के द्वारा संशोधन—

उक्त तीन कर्म्ममार्गों के अतिरिक्त एक चौथा कर्म्ममार्ग और बच रहता है, जिसे कि प्रचलित निष्ठाओं की परीभाषा में "ज्ञानयोग" कहा जासकता है। गीता के शब्दों में 'सिद्धविद्या'-नुगत यही "ज्ञानबुद्धियोग" है। प्राचीनोंने (कपिलादिने) कर्म्मत्याग ही इस योग का मुख्य धरातल माना था। परन्तु भगवान् ने इसका विरोध किया, और निवृत्तिभाग को आगे करते हुए इस में आत्मोपयिक अव्यक्त कर्म्मों का समावेश किया।

२६१-ज्ञान-कर्म्म-योग निष्ठाओं का संशोधित-समन्वयात्मक-स्वरूप—

जैसा कि पूर्व के निर्गुणोपासना-प्रकरण में विस्तार से बतलाया गया है, वेदोक्त प्रवृत्तिकर्म्म ही कर्म्मयोग है, एवं वेदोक्त निवृत्तिकर्म्म ही ज्ञानयोग है। दोनों का धरातल एक ही है। प्रवृत्तिकर्म्मात्मक कर्म्मयोग, एवं निवृत्तिकर्म्मात्मक ज्ञानयोग, दोनों में निष्कामभावमूलक निवृत्तिकर्म्म है। इसीलिए निवृत्तिकर्म्म-लक्षण ज्ञानयोग [सांख्य] कर्म्मयोग बन रहा है, एवं निष्कामभावमूलक प्रवृत्तिकर्म्म योग [योग] ज्ञानयोग [सांख्य] बन रहा है—"एकं सांख्यं च योगञ्च"। दोनों में कर्म्म है, इस दृष्टि से दोनों कर्म्मयोग है। कर्म्मयोगात्मक कर्म्म में यज्ञादि कर्म्मों का लोकसंग्रह-दृष्टि से संग्रह है, इसलिए यह धर्म्मलक्षण बुद्धियोग बन रहा है।। ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोग में तपोमूलक आत्मोपयिक कर्म्मों का संग्रह है, इसलिए [ज्ञानात्मक आत्मा का अनुगामी बनता हुआ] यह ज्ञानयोग बन रहा है।

२६२-चतुर्थ-बुद्धियोग' के सम्बन्ध में लोकनेष्ठिकों का व्यामोहन, एवं तन्निराकरण-प्रयास—

इसप्रकार इस वेदोक्ता कर्म्मात्मिका भक्ति में ही धर्म्मबुद्धियोगलक्षणा कर्म्मभक्ति एवं ज्ञान-बुद्धियोगलक्षणा ज्ञानभक्ति, इन दोनों का समावेश होरहा है। विद्वान् कहा करते हैं कि, गीता में ही क्या, सभी शास्त्रों में ज्ञान-भक्ति-कर्म्म के अतिरिक्त कोई चौथा काण्ड हो ही नहीं सकता। कहना पड़ेगा कि-अभी वे "दृभ्रमेव त्वं ब्रह्मणो वेत्थ रूपम्" के ही उपासक बने हुए हैं। यदि वे अवधानपूर्वक गीता के अक्षरों पर दृष्टि डालते, तो स्वयं गीता ही उन्हें इन तीनों से पृथक् उस चौथे "बुद्धियोग" का दर्शन करा-देती, जोकि गीता का मुख्य उद्देश्य है।

२६३--उभयात्मिका उपासना का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अव्ययोपासना ही बुद्धियोगात्मिका, किंवा ज्ञानात्मिका उपासना है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा-चुका है। 'ज्ञानात्मिका उपासना' का तात्पर्य्य है—अव्ययज्ञानकर्म्मात्मिका बुद्धियोगोपासना। अव्यय का कर्म्म असङ्गभाव के कारण ज्ञानात्मक है, अतएव वहाँ ज्ञान-कर्म्म का द्वैत नहीं रहने पाता—"निर्द्वन्द्वो-नित्यसत्त्वस्थः"। केवल यही सूचित करने के लिए हमने इस प्रथमोपासना को ज्ञानात्मिका उपासना कहा है। वस्तुतः यह तो उभयात्मिका उपासना है।

२६४--ज्ञानसजातीयता से अनुप्राणित कर्म्म, और उस का ज्ञानमयत्व—

इसे ज्ञानात्मिका उपासना कहने का एक रहस्य और भी है। आगे की तीनों भक्तियों में जिस कर्म्म का अनुष्ठान होता है, उनसे संस्कार उत्पन्न होता है। निष्कामभाव से संस्कारलेप का बन्धन अवश्य ही नहीं

होता, परन्तु अक्षर-क्षर-सम्बन्धी कर्म्म संस्कार उत्पन्न किए बिना नहीं रहते। इधर अव्ययानुगत कर्म्म संस्कार का भी जनक नहीं बनता। जैसे अव्ययात्मक ज्ञान स्वरूप से असङ्ग रहता है, तथैव अव्ययात्मक कर्म्म भी "न सज्जते, न व्यथते, न रिष्यति" के अनुसार संस्कारलेपासक्ति से असंसृष्ट रहता हुआ असङ्ग ही बना रहता है। इसी ज्ञानसजातीयता से अव्ययात्मक कर्म्म ने ज्ञान का आसन ग्रहण कर रक्खा है।

२६५--बुद्धियोगात्मिका उपासना, और तन्निबन्धन पारिभाषिक-'योग' शब्द—

इसीलिए हमने बुद्धियोगलक्षणा निर्गुणाव्ययोपासना को उभयात्मिका होने पर भी ज्ञानात्मिका कहा है। एवं यह योगात्मक बुद्धियोग अक्षरानुगत भक्तिमार्ग, आत्मक्षरानुगत कर्म्म, एवं ज्ञानमार्ग, तीनों से पृथक् रहता हुआ सर्वथा ही विलक्षण है। इसी बुद्धियोगात्मिका उपासना को भगवान् ने केवल "योग" शब्द से, एवं तदनुयायी निर्गुणोपासक को "योगी" शब्द से व्यवहृत किया है।

२६६--बुद्धियोगनिबन्धन योग, और युक्त-भाव—

और आगे चलिए। इस वैराग्यबुद्धियोगात्मिका उपासना के, योग के, किंवा तदनुयायी योगी के भी दो विवर्त हैं। दो प्रकार की निर्गुण-अव्ययोपासना [योग] है, एवं दो ही प्रकार के निर्गुणोपासक [योगी] हैं। योगी को गीता-परिभाषा में "युक्त" कहा गया है। इस दृष्टि से वे दोनों योग क्रमशः योग-योगतम कहलाएँगे, एवं दोनों योगी क्रमशः युक्त-युक्ततम कहलाएँगे।

२६७--द्विविध योगी, एवं उन का तात्त्विक-स्वरूप--समन्वय-प्रयास—

वह उपासक 'युक्तयोगी' कहलाएगा, जो "उदासीनवदासीनम्" इस वृत्ति में प्रतिष्ठित रहता हुआ लोकसंग्रह में प्रवृत्त रहेगा। बड़े से बड़ा हर्ष इसे किसी भी अवस्था में "अहा-हा" का अनुगामी नहीं बना सकेगा, एवं न बड़े से बड़ा शोक इसे "हाय-हाय" का अनुगामी बना सकेगा। सब में सहयोग रक्खेगा। ऐसा 'लौकिक' बना रहेगा, मानो यह सर्वात्मना संसारी ही हो। परन्तु सदा शान्तभाव से युक्त रहेगा। ऐसा योग 'योग' कहलाएगा, एवं ऐसा योगी 'युक्त' कहलाएगा।

२६८-उदासीनवदासीन-युक्त-योगियों के द्वारा सामाजिक अनुकरण-प्रिय समाज का शैथिल्य, एवं बाह्याचरणानुगत-संस्कार—

भगवान् कहते हैं—अभी थोड़ी सी त्रुटि रह गई। थोड़ा और आगे बढ़ो। मानलीजिए-यदि समाज में अधिक संख्या इन उदासीन-योगियों की ही होजाय, तो लोकसंग्रह अवश्यमेव सङ्कट में पड़ सकता है। समाज के साधारण व्यक्ति तो इस वृत्ति के अनुगमन में असमर्थ रहेंगे, नेतृत्व उत्कलक्षण उदासीन योगियों के हाथ में रहेगा। परिणामतः समाज का स्वाभाविक हास्य-विनोद जाता रहेगा, उदासीनता का वातावरण व्याप्त होजायगा, परिणामतः कालान्तर में समाज में शिथिलता आजायगी। यह कौन जानेगा कि, इस विरक्तयोगी का अन्तर्जगत् घनानन्द से परिपूर्ण है? तदनुयायीवर्ग तो-"यद्यदाचरति श्रेष्ठः" के अनुसार इसकी बाह्यवृत्तियों का ही अनुसरण करने लग पड़ेगा। परिणामतः ऐसे समाज का स्वभाविक विकास उसी-प्रकार अभिभूत होजायगा, जैसेकि उदासीन-दम्पती की सन्तति यावज्जन्म मुकुलिता ही बनी रहती है

(मुंह लटकाए रहती है)। हम देखते हैं कि, कुटुम्बियों को हँसते देख कर नहीं नहीं बालक भी हँसने लगते हैं, एवं रोते देख कर उदास होजाते हैं। और इस बाह्याचरण की बालक के अन्तर्जगत् में अमिट छाप लग जाती है, अन्तर्जगत् तथात्मक ही नहीं बनता रहता है।

२६९–लोकसंग्रहनिष्ठ भगवान् के द्वारा उदासीनयोगी के युक्त-योग में यत्किञ्चित् संशोधन—

उक्त लक्षण बुद्धियोगी लोकसंग्रह में सर्वात्मना सफल नहीं होसकेगा। उसका विशुद्ध बुद्धियोग मनोयोग की ओर झुके हुए संसारियों की प्रथम तो उदासी का कारण ही बन बैठेगा। अथवा तो विरोधवृत्ति का अनुसरण करते हुए वे इसे बहिष्कृत ही करदेंगे। उदासीनता में उन का विकास रुकेगा, बहिष्कार में समाज का सन्मार्ग–प्रदर्शक कोई न रहेगा। लोकसंग्रह के अनन्य पक्षपाती भगवान् यही देखकर इस 'युक्तपद्धति' में थोड़ा सा संशोधन और चाहते हैं।

२७०–युक्त-योगी के बौद्धिक-उदासीनक्षेत्र में मानस-श्रद्धाभाव-का समावेश, एवं तद्द्वारा युक्त-योगी की रूक्षता का निराकरण—

वे कहते हैं कि, बुद्धि के साथ मानसी–श्रद्धा का योग और करलो। हम मानते हैं कि, तुम में पूरी श्रद्धा है, मन का भी पूर्णयोग है। परन्तु तुम्हारा यह मानसभाव (श्रद्धा) अभी विशुद्ध अव्ययानुगत (आत्मानुगत) बनता हुआ एकाङ्गी ही बन रहा है। तुम सांसारिक कर्म्मों में भी पूर्ण योग दे रहे हो। परन्तु तुम्हारा मानस जगत् इस योग से हटा हुआ है। **अमनस्करूप ही तुम्हारा सहयोग है**। तुम अपने मानस-भाव को थोड़ा इधर भी झुकाते रहो। लोकसंग्रह के साथ साथ लोकी मनुष्यों के कर्म्मों में श्रद्धा भी प्रकट करते जाओ। ऐसा न करने से उक्त दोषों के अतिरिक्त उनमें बुद्धिभेद की भी आशङ्का से पीछा न छूटेगा। करो क्या ?, सुनो !

२७१–श्रद्धारस से समन्वित 'योगी' का युक्ततमत्व, एवं तन्निबन्धन-लोकसंग्रह —

यदि किसी को दुःखी देखो, तो उस में भी श्रद्धा प्रकट करो। स्वयं दुःख का अभिनय करते हुए [जबकि तत्त्वतः तुम दुःख से दूर हो] उसे सान्त्वना प्रदान करो। यदि किसी को हर्ष होरहा है, तो तुम भी उस के हास्य–सरोवर में स्नान करो। **हास्य–विनोद–गल्प-गोष्ठी–आदि में ऐसे बने रहो, ऐसे घुलमिल जाओ, जैसे एक सामान्य संसारी। तभी तुम उन संसारियों के अतिसन्निकट पहुँचते हुए उनका आत्मविशोधन करसकोगे। और इस अवस्था में—श्रद्धायुक्त तुम्हारा यह योग योगतम बन जायगा**, दूसरे शब्दों में युक्तभाव युक्ततमरूप में परिणत हो जायगा।

२७२–'युक्त', और 'युक्ततम' शब्दों का स्वरूप-समन्वय, एवं तत्र भगवान् के द्वारा श्रेणिविभाग का संस्थापन—

उक्त दोनों मार्गों में से भगवान् का अधिक झुकाव किस ओर है ?, वे उदासीनलक्षण, विश्वानुगत श्रद्धाभावविरहित योग, एवं युक्तयोगी को अभीप्सित मानते हैं, अथवा विकासलक्षण विश्वानुगत श्रद्धायुक्त

योगतम, एवं युक्ततमयोगी को ?। उत्तर भगवान् के जीवन से ही मिल जाता है। हर्ष, एवं शोक से परे रहने वाले बुद्धियोगी भगवान् ने अपना जीवन कैसा हास्यपूर्ण बनाए रक्खा, इस सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। बाललीला-सम्बन्धी भगवान् का नन्दनन्दन रूप तो इस युक्तनमयोग से अथ से इति पर्य्यन्त युक्ततम है ही, परन्तु हम देखते हैं कि ईश्वरीय लीला-सम्बन्धी भगवान् का वासुदेवरूप भी इस युक्ततमभाव से शून्य नहीं है।

२७३-सर्वमूर्त्ति आप्तकाम भगवान् वासुदेव कृष्ण के 'युक्ततमत्व' का स्वरूप-संस्मरण, एवं तन्निबन्धन गीता का-'रहस्ययोग'—

जयद्रथ के वधावसर में पूर्व अर्जुन के विलाप पर भगवान् रोपड़ते हैं। द्रौपदी के रुदन पर उदासीनवृत्ति से उसे धैर्य्यप्रदान कर रहे हैं। भक्त के विलाप पर उनका अन्तर्जगत् व्याकुलसा दिखाई देता है। कर्ण के द्वारा फैंकी गई-'एकपुरुषघातिनीशक्ति' से जब एक अक्षौहिणी सेना का चूर्ण करता हुआ हिडिम्बापुत्र घटोत्कच धराशायी होजाता है, तो भगवान् शँखनाद के साथ अर्जुन को गले लगाकर रथ पर ही नृत्य करने लग पड़ते हैं। क्रोध को बुद्धियोगी का विरुद्ध धर्म्म मानते हुए भी स्वयं भगवान् रुद्ररूप धारण कर पितामह पर चक्र प्रहार के लिए दौड़ पड़ते हैं। क्या कोई भक्त यह स्वीकार करेगा ?। असम्भव। यह तो भगवान् का लोकसंग्रहात्मक प्रदर्शनमात्र ही था। और यही भगवान् का योगतम योग था, एवं इसीलिए भगवान् युक्ततम योगी थे। यही गीता का रहस्ययोग है।

२७४-गीतायोग के दो विभिन्न 'महिमाविवर्त्त', उभयविवर्त्तात्मिका सुप्रसिद्धा-'बुद्धियोगनिष्ठा', एवं तन्निबन्धना निर्गुणाव्ययोपासना का स्वरूप-समन्वय—

इसप्रकार निर्गुणाव्ययोपासनारूप इस योग के विशुद्ध बुध्दयनुगत योगरूप योग, एवं बाह्य-श्रद्धाभिनयरूप श्रद्धानुगत योगतमरूप योग, ये दो विवर्त्त होजाते हैं। दोनों को हम "बुद्धियोग" इस एक नाम से ही व्यवहृत करेंगे। एवं यही प्रचलित ज्ञान-कर्म्म-भक्ति, इन तीनों निष्ठाओं से सर्वथा स्वतन्त्र उभयात्मिका, किंवा ज्ञानात्मिका अव्ययोपासना कहलाएगी। साथ ही यह तो सिद्ध ही है कि, इस उपासना में मनोमय आनन्द, मनोमय विज्ञान, एवं मनोमय मनोरूप निर्गुण अव्यय ही उपास्य है।

२७५-ईश्वरोपासना-लक्षण-'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' की 'भक्ति' रूपता, तदनुवर्त्मा नृपति-श्रेष्ठ, एवं गीता से अनुप्राणित 'तपः' शब्द का स्वरूप-समन्वय, और गीता का पारिभाषिक-'तपस्वी'—

इसके अनन्तर दूसरी षोडशीपुरुषोपासना बतलाई गई है। इसे ही हमने ईश्वरोपासनालक्षण ऐश्वर्य्यबुद्धियोग कहा है, एवं केकय-प्रतर्दनादि भारतीय राजाओं में हीं इसका विशेष प्रचार बतलाया है। साथ ही पूर्व में इसके सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, त्रिवृत् आत्मप्राण ही इस उपासना का मुख्य धरातल है। षोडशीप्रजापति अक्षरप्रधान बनता हुआ प्राणप्रधान ही सिद्ध किया गया है।

उधर–"एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति" के अनुसार ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण कर देना ही वास्तविक "तप" है। श्रुति ने "स तपोऽतप्यत" के अनुसार प्राणव्यापार को ही तप माना है। इसी आधार पर इस दूसरी उपासना को हम "तप" कह सकते हैं, एवं इसके अनुयायी भक्तों को "तपस्वी" कह सकते हैं। गीता का आदरणीय "तपस्वी" योगप्रक्रियाओं का अनुगामी कायक्लेश में रत तपस्वी नहीं है, अपितु आत्मसमर्पणलक्षणा भक्ति का अनुयायी ही गीतानुमोदित तपस्वी है।

२७६–गीताशास्त्रनिबन्धन--'योगी'--'तपस्वी'--'कर्म्मी'--'ज्ञानी'--विभागों का स्वरूप-समन्वय—

तीसरा स्थान यज्ञप्रजापत्युपासना का बतलाया गया है। इसका वाङ्मय क्षर (आत्मक्षर) से सम्बन्ध बतलाया गया है। एवं इसी के निवृत्तिकर्म्मलक्षण ज्ञानयोग, प्रवृत्तिकर्म्मलक्षण कर्म्मयोग, ये दो भेद बतलाए गए हैं। यही गीता की सांख्य, एवं योग–निष्ठाएँ हैं। योगनिष्ठानुयायी 'कर्म्मी' कहलाता है, एवं ज्ञानी ज्ञानबुद्धियोग का अनुयायी है। इसप्रकार गीता में अव्यय-षोडशी-यज्ञप्रजापति, इन तीन उपास्यों के आधार पर क्रमशः वैराग्यबुद्धियोग, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, धर्म्मबुद्धियोग–ज्ञानबुद्धियोग ये चार विभाग किए हैं, एवं इन चारों के अनुयायियों को क्रमशः योगी, तपस्वी, कर्म्मी, ज्ञानी, इन नामों से व्यहृत किया है।

२७७–राजर्षि, पुण्यकर्म्मा ब्राह्मण, तथा ऐश्वर्य्यशाली राजाओं के द्वारा गीता के चतुर्विध-बुद्धियोगों का अनुगमन—

गीताने इन चारों श्रेणियों को राजर्षि-भक्त–ब्राह्मण इन तीन वर्गों में विभक्त माना है। वैराग्यबुद्धियोगात्मिका उपासना के अनुयायी राजर्षि हैं। ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मिका भक्ति के अनुयायी राजा "भक्त" हैं। एवं धर्म्मबुद्धियोगात्मिका कर्म्ममयी, ज्ञानबुद्धियोगात्मिका ज्ञानमयी उपासना के अनुयायी भारतीय पुण्यकर्म्मा ब्राह्मण हैं। दो निष्ठाओं का अनुगमन विशेषतः ब्राह्मणवर्ग ने किया है, भक्तिनिष्ठा का अनुगमन राजा लोगों ने, एवं बुद्धियोगनिष्ठा का अनुगमन जनकादि राजर्षियों ने हीं किया है। [गी० ६।२३]।

२७८–वैराग्यबुद्धियोगात्मक-'योग' की सर्वश्रेष्ठता का स्वरूप-समन्वय—

उक्त चारों मार्गों में से वैराग्यबुद्धियोगात्मक योग, इन में भी पूर्वकथनानुसार मानसश्रद्धाभाव से युक्त योग ही सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वज्येष्ठ, है। इसी वर्गीकरण का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी।
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः॥
कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी।
तस्माद्योगी भवार्जुन!॥ (६।४६)।
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः। (६।४७)।

१–राजर्षिविद्यानुगतः–वैराग्यबुद्धियोगः–ज्ञानात्मिका उपासना–मनोमयी

२–राजविद्यानुगतः–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः–क्रियात्मिका भक्तिः—प्राणमयी

३–सिद्धविद्यानुगतः–ज्ञानबुद्धियोगयः——निवृत्तिकर्म्मात्मिका भक्तिः-वाङ्मयी

४–आर्षविद्यानुगतः–धर्म्मबुद्धियोगः—प्रवृत्तिकर्म्मात्मिका भक्तिः-वाङ्मयी

१–बुद्धियोगः (मनोमयः)—योगः—तदनुयायी–"योगी" } –"राजर्षयः"

२–भक्तियोगः (प्राणमयः)—तपः—तदनुयायी–"तपस्वी" } —"भक्ताः"

३–कर्म्मयोगः (वाङ्मयः)—कर्म्म—तदनुयायी–"कर्म्मी" }

४–ज्ञानयोगः (वाङ्मयः)—ज्ञानम्-तदनुयायी–"ज्ञानी" } –"ब्राह्मणाः"

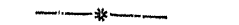

१–अव्ययः	बुद्धियोगाधिष्ठता	—अव्ययोपासना
२–षोडशी-ईश्वरः	भक्तियोगाधिष्ठाता	—अक्षरोपासना
३–यज्ञोपेश्वरः-कर्म्ममूर्त्तिः	कर्म्मयोगाधिष्ठाता	–आत्मक्षरोपासना
४–यज्ञोपेश्वरः-ज्ञानमूर्त्तिः	ज्ञानयोगाधिष्ठाता	

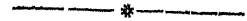

२७६–कर्म्मनिबन्धना-शुक्रात्मिका-वाङ्मयी-भक्ति के विभिन्न चार महिमा-विवर्त्त, एवं तन्निबन्धन सर्वोत्तम, उत्तम, मध्यम, प्रथम-भावानुबन्धी श्रेणिविभाग—

आत्मक्षरप्रपञ्चमूर्त्ति–यज्ञप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली कर्म्मात्मिका वाङ्मयी भक्ति के पूर्व कथनानुसार चार विवर्त्त होजाते हैं। **यज्ञादिकर्म्म** पहिला विवर्त्त, आत्मोपयिक **धारणाध्यानादिलक्षण ज्ञान** दूसरा विवर्त्त, आधिकारिक चेतनजीव-लक्षण **अवतारोपासना** तीसरा विवर्त्त, एवं आधिकारिक अचेतनजीव लक्षण **सूर्य्य–चन्द्रादि की उपासना** चौथा विवर्त्त। चारों में निष्कामकर्म्मलक्षणा–यज्ञकर्म्मात्मिका उपासना (कर्म्मयोग) सर्वोत्तम, निष्कामकर्म्मलक्षणा–आत्मोपयिक-कर्म्मात्मिका उपासना (ज्ञानयोग) उत्तम, अवतारोपासना मध्यम, एवं सूर्य्यचन्द्राद्युपासना प्रथम, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

१–यज्ञकर्म्मात्मिका–उपासना	ह्रासोपासनासु–सर्वोत्तमा	
२–आत्मोपयिककर्म्मात्मिका–उपासना	,,	उत्तमा
३–अवतारोपासना	,,	मध्यमा
४–प्रकृतिपर्वोपासना	,,	प्रथमा

अब इस सम्बन्ध में गीताप्रमाण उद्धृत कर प्रकान्त तीसरे विवर्त्त को उपस्थित किया जारहा है। उक्त चारों ही प्रकार लोकसंग्राहक भगवान्‌ने अधिकारी–भेद से उपादेय माने हैं, जैसाकि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है।

२८०–[१]–यज्ञकर्म्मात्मिका उपासना सर्वोत्तमा–(कर्म्मयोगो–योगिनाम्)–भगवत्–सम्मतः—

१—यज्ञदानतपः कर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेवतत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ (१८।५।)

२—एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्या फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ! निश्चितं मतमुत्तमम्॥ (१८।६।)

३—सहजं कर्म्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ (१८।४८)।

४—त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ (२।४५।)।

५—संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते॥ (५।२)।

१

२८१–[२]–आत्मकर्म्मात्मिका उपासना उत्तमा (ज्ञानयोगो सांख्यानाम्) भगवत्–सम्मतः (किन्तु अरुचिकरः)

१—ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ (९।१५।)।

२—ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ (१२।३।) ।
३—संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ (१२।४) ।
४—क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ (१२।५।) ।
५—अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ (१३।११।)

२

———**———

२८२–[३]–अवतारपुरुषोपासना (कर्म्मयोगः) भगवत्–सम्मतः, किन्तु-अरुचिकरः—

१—कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ (७।२०) ।
२—यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ (७।२१) ।
३—स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान् ॥ (७।२२) ।
४—अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो * यान्ति····· ·····॥ (७।२३) ।
५—अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तम् ॥ (७।२४) ।

३

———**———

*—अवतारदेवयजः

२८३–[४]–प्रकृत्यवयवोपासना [कर्म्मयोगः]—

१—ये ऽप्यन्य देवता ÷ भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ (९।२३।) ।

२—न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ (९।२४।)

३—यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ (१५।१२।)

४—गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ (१५।१३)

५—एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ (१६।२२।)

४

——**——

४–साञ्जनविराट्प्रजापत्युपासनासमर्थक–गीतावचन—

२८४–अञ्जनपरिग्रहात्मिका विराट्पुरुषोपासना, आवरणपरिग्रहात्मिका विश्वरूपोपासना से अनुप्राणित पूर्वापर-विरोध, एवं तन्निराकरण-प्रयास—

अब चौथा उपास्य-विवर्त्त हमारे सामने आया । यही 'देवमर्त्योपासना' कहलाती है । पूर्व में हमने साञ्जना विराडुपासना को, एवं सावरणा विश्वोपासना को, दोनों को विश्वोपासना कहा है । जिन ६ प्रकार के जीवों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उनमें से प्रथम आधिकारिक चेतनजीवों (अवतारपुरुषों) का तीसरे यज्ञप्रजापति-विवर्त्त से सम्बन्ध माना है । एवं दूसरे आधिकारिक सूर्य्य–चन्द्रादि अचेतनजीवों का विराट्संस्था से सम्बन्ध बतलाया है । इधर पूर्वप्रतिपादिता यज्ञोपासना में अवतारोपासना के साथ साथ सूर्य्य–चन्द्रादि–लक्षण अचेतनजीवों का भी समावेश सिद्ध किया है । इससे पूर्वापरविरोध प्रतीत होता है । तत्र विराडुपासना को अचेतनजीवोपासना सिद्ध करना, पूर्व की यज्ञोपासना में भी अचेतनजीवोपासना का समन्वय करना अवश्य ही पूर्वापरविरोध है । परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर इस विरोध का कोई मूल्य नहीं रह जाता ।

——————

÷–प्राणदेवताः

२८५ अमृतशुक्रानुबन्धी विराट्प्रजापति के साथ मर्त्यशुक्रानुबन्धी विश्वमूर्त्ति का सह समन्वय, एवं पूर्वापरविरोध-निराकरण—

पाठकों को स्मरण होगा कि, वाक्-(वाङ्मय स्वयम्भू), आपः (आपोमय-परमेष्ठी), एवं अग्निः (अग्निमय सूर्य्य), इन तीनों के समुच्चय को हमने यज्ञप्रजापति कहा था, एवं अग्निः (सूर्य्य)--वाक् (पृथिवी) की समष्टि को विराट्प्रजापति कहा था। मध्यस्थ अमृत सूर्य्य को यज्ञप्रजापति का अन्तिमपर्व बतलाया था, एवं मध्यस्थ उसी सूर्य्य को (मर्त्याग्निशुक्रदृष्टि से) विराट्प्रजापति का पहिला पर्व माना था। क्योंकि सूर्य्यसंस्था का दोनों ओर सम्बन्ध है, अतएव इसी से सम्बन्ध रखने वाली अचेतनजीवोपासना का हमने यज्ञप्रजापति के साथ भी सम्बन्ध बतलाया है, एवं आज इस विराट्प्रजापति के साथ भी सम्बन्ध बतला रहे हैं।

२८६—यज्ञप्रजापति-निबन्धना निष्कामोपासना, एवं विराट्प्रजापति-निबन्धना-सकामोपासना का संस्मरण—

दोनों में यह विवेक अवश्य कर लेना चाहिए कि, यज्ञप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली अचेतनजीवोपासना, किंवा प्राणदेवोपासना का निष्कामभाव से सम्बन्ध है, एवं विराट्प्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली अचेतनजीवोपासना का कामभाव से सम्बन्ध है।

२८७—यज्ञियदेवतामयी, काम्यकर्म्ममयी, त्रिगुणभावात्मिका, विराडुपासना का गीता के द्वारा संग्रह, एवं तत्र संशोधन—

वहाँ की देवोपासना लोकसंग्रह को मूल बनाती हुई स्वार्थयुक्त परमार्थभाव पर प्रतिष्ठित है, एवं यहाँ की उपासना लोकसंग्रह की उपेक्षा करती हुई स्वार्थभाव पर ही प्रतिष्ठित है। विराडुपासना ३३ यज्ञिय-देवताओं की उपासना है, विकाररूप देवताओं की उपासना है। एवं यज्ञसम्बन्धिनी देवोपासना विश्वेदेवों की उपासना है, प्रकृतिपर्वों की उपासना है। यज्ञप्रक्रिया के द्वारा विराट् के सर्वज्ञात्मक इन्द्ररूप आहवनीय, हिरण्यगर्भात्मक वायुरूप दक्षिणाग्नि, एवं वैश्वानरात्मक अग्निरूप गार्हपत्याग्नि से सम्बन्ध रखने वाले १२ आदित्य, ११ रुद्र, ८ वसु, प्रजापति, वषट्कार, इन ३३ यज्ञिय-देवताओं का वैध-काम्य यज्ञ के द्वारा अपने मानुष भूतात्मा में आधान करते हुए इस यज्ञिय-दैवसंस्काराकर्षण से (जो कि दिव्यसंस्कार-"दैवात्मा" नाम से प्रसिद्ध है) शरीरत्यागानन्तर--नाचिकेतस्वर्ग में प्रतिष्ठित होजाना हीं इस प्राणदेवोपासना का मुख्य फल है। यही, यज्ञियदेवतामयी, काम्यकर्म्ममयी, त्रिगुणभावात्मिका वैधयज्ञमयी उपासना विराडुपासना है। गीताने इसका जहाँ संग्रह किया है, वहाँ निन्दा भी पर्य्याप्त की है। इस उपासना की क्या इतिकर्त्तव्यता है, क्या फल है ?, यह निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

[संग्रह]–१–त्रैविद्या मां सोममाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥
–गीता ९।२०।

२–ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्म्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥
–गीता ९।२१

३–अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ॥
–गीता ९।२४

——*——

[विरोध]–१–नतु माममिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥
–गीता ९।२४

२–यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥ (२।४२।)।

३–कामात्मनः स्वर्गपरा जन्मकर्म्म-फलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भौगैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥ (२।४३।)।

४–भौगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ (२।४४)।

५–यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वस्य वेदस्य ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ (२।४६।)

५–त्रैगुण्यविषया वेदा * निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! ॥ (२।४५)।

४

——*——

* यज्ञकर्म्म की मीमांसा करते हुए पाठकों को यह व्यवच्छेद कर ही लेना चाहिए कि, देवोपासना के भगवान् ने तीन प्रकार बतलाए हैं। पहिला प्रकार है–ब्राह्मणोक्तपद्धति के अनुसार निष्कामभाव से लोक-

५–सावरणविश्वप्रजापत्युपासनासमर्थक गीतावचन—

२८८–आधिकारिक, तथा आश्वत्थिक-जीववर्गानुबन्धी विविध-उपासना-मार्ग, एवं तत्समष्टिरूपा 'विश्वोपासना' का संस्मरण—

(१) आधिकारिक अर्द्धचेतनजीव [अश्वत्थ वट–तुलसी आदि कतिपय भौतिक ओषधि वनस्पति वर्ग], (२)–आश्वत्थिक चेतनजीव [अष्टविध देवयोनियाँ, आचार्य्य-सन्त-ज्ञानी-भक्त आदि महापुरुष–लक्षणात्मक मनुष्य, गौ आदि पवित्र पशु, नीलकण्ठादि पवित्र पक्षी, सर्पादि दिव्य कृमिकीट], (३) आश्वत्थिक अर्द्धचेतनजीव (ओषधि-वनस्पति वर्ग), (४) एवं आश्वत्थिक अचेतनजीव [शालग्रामशिला, अन्य भगवत-प्रतिमाएँ], इन चारों की उपासना ही विश्वोपासना है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। यही उपासना भूतोपासना है। कामभाव में यह शाश्वत अभ्युदय से वञ्चित है, एवं निष्कामभाव में यही विराट् के द्वारा यज्ञोपासना बनती हुई परम्परया आत्मा की अभ्युदय-निःश्रेयस्–संसाधिका बन जाती है। आगे के गीतावचन इसी 'विश्वोपासना' का समर्थन कर रहे हैं।

संग्रहदृष्टि से बिना किसी फलाकांक्षा के यज्ञ-दान-तपोरूपा यज्ञोपासना। "न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्" कहते हुए भगवान्ने न केवल इसमें अपनी सम्मति ही प्रकट की है, अपितु इस प्रथम-देवोपासनात्मक यज्ञकर्म्म को आवश्यक भी माना है, जैसाकि–"सहयज्ञाः" इत्यादि श्लोकभाष्यमें स्पष्ट होने वाला है।

दूसरी देवोपासना आदर्शमूला है। सूर्य्य–चन्द्रादि प्रकृति के प्राणदेवताओं के कर्त्तव्याधिकारों को लक्ष्य में रखकर लोकशान्तिमूलक कर्म्म करते रहना ही दूसरी देवोपासना है। प्रथमोपासना गीता की सुप्रसिद्ध योगनिष्ठा(कर्म्मनिष्ठा)है, दूसरी देवोपासना आधिकारिक-अचेतन-जीवलक्षणा है। दोनों का निष्कामभाव के सम्बन्ध से तीसरी यज्ञप्रजापत्युपासना में ही अन्तर्भाव है। तीसरी देवोपासना कामनामय यज्ञकर्म्म से समन्विता है। इसका भी आधिकारिक अचेतन जीवलक्षण विकारात्मक ३३ यज्ञिय देवताओं से ही सम्बन्ध है। गीताने इसी की निन्दा की है। कामना का सम्बन्ध ही इस निन्दा का मूल है। यदि कामना का परित्याग कर दिया जाता है, तो यह विराडुपासना भी यज्ञप्रजापत्युपासनारूप में परिणित होती हुई शाश्वत अभ्युदय का (परम्परया) ही कारण बन जाती है।

२८६–(१)–आश्वत्थिक-चेतनजीवोपासना (अष्टविध-देवसर्गात्मिका) लोकसिद्धिरूपा—

१—सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ! ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥
२—यजन्ते सात्त्विका देवान्, यक्ष-रक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्, भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥
३—अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः काम-राग-बलान्विताः ॥
४—कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
'मां' चैवान्तःशरीरस्थं तान्-विद्धि-आसुरनिश्चयान् ॥
—गीता १७।२ से ६ पर्य्यन्त
५—यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
तानि यान्ति भूतेज्याः..... ॥
—गीता ६।२५।
६—आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन ! ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते ॥
—गीता ८।१६।

२९०–कामोपभोगपरम-कामकामी-मानववर्ग से अनुप्राणिता चतुर्दशविध-भूतसर्गनिबन्धना-सिद्धि-चमत्कार-व्यामोहनान्विता-विश्वोपासना का दुःखपूर्ण-इतिवृत्त—

अथमत्र विशेषः । पूर्व के जीवप्रकरण में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, 'विश्व' नामक सावरण-अन्तिम-प्राजापत्य-विवर्त्त से प्रक्रान्त भक्तिसन्दर्भ में प्राधानिक-शास्त्रोक्त [सांख्योक्त] ब्रह्मादि स्तम्ब पर्य्यन्त अभिव्याप्त चतुर्दश-विध भूतसर्ग ही अभिप्रेत है, जैसाकि पूर्व के 'विश्व' शब्द-समन्वय-प्रसङ्ग में-'लोकस्तु भुवने जने' के माध्यम से स्पष्ट किया जाचुका है । गीतोक्त-'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः' । से चतुर्दशविधा यह भूतसृष्टि (चान्द्री, तथा पार्थिवी जीवसृष्टि) ही अभिप्रेत है । लोकसिद्धिकामुक-लौकिक-चमत्कारव्यामोहनपरायण-लौकैषणासक्तव्यासक्त-अतएव सर्वात्मना प्रदर्शनप्रिय 'कामकामी' लौकिक-मानव ही इस चतुर्दशविधा भूतोपासना का अनुगामी बना रहता है, जिस के व्यक्तित्व-स्वरूप-विमोहक अन्यान्य भीषणतम दुष्परिणामों के साथ साथ ऐसे उपासक को सदैव 'संसृति' रूप जन्म-मृत्यु-

प्रवाह में हीं प्रवाहित रहना पड़ता है, जैसाकि—'पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन !' से स्पष्ट है। और लोक-सिद्धि-चमत्कार---लक्षणा---आश्वत्थिक---चेतनजीवोपासनात्मिका---चतुर्दशविधा---भूतोपासना का यही विशेषधर्म्म है, जिसका एवंरूपेण वर्गीकरणात्मक समन्वय भी सम्भव है-उसी गीताशास्त्र के आधार पर।

२९१-अष्टविध देवयोनिवर्गानुगता लौकिक-उपासना के सम्बन्ध में गीताशास्त्र का स्पष्टीकरण—

चौदह-प्रकार के भूतसर्गों में ब्रह्म, प्रजापति, इन्द्र, पितर, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, नामक अष्टविध सत्त्वविशाल-अपाद्धर्म्मा-२८-'अठाईस) इन्द्रियसमन्वित-देवयोगिसर्ग माना गया है। भगवान्ने इन आठों का ही व्यवस्थान्तर से संग्रह कर लिया है। ब्रह्म, और प्रजापति, दोनों का एक ही-'ब्रह्मवर्ग' है। 'इन्द्रः सर्वा देवताः' के अनुसार इन्द्रवर्ग ही देववर्ग है। पितृवर्ग स्वतन्त्र है ही। यक्ष, और राक्षस, ये दोनों भी स्वतन्त्र हैं। परकायप्रवेशधर्म्मा गन्धर्व ही-'प्रेत' है। 'पिशाच' ही-'भूतगण' है। इसप्रकार निम्नलिखित-रूपेण आठों की ही उपासना गीता के द्वारा संगृहीत है—

१—ब्रह्म
२—प्रजापतिः } "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः" (निष्कैवल्य-सात्त्विकाः)

३—इन्द्रः } "यजन्ते सात्त्विका देवान्, यान्ति देवव्रता देवान्" (सत्त्वरजोमयाः)

४—पितरः } "पितॄन्-यान्ति-पितृव्रताः" (सत्त्वरजोमयाः)

५—गन्धर्वाः } "प्रेतान्" (रजस्तमोमयाः)

६—पिशाचाः } "भूतगणांश्चान्ये-भूतानि यान्ति भूतेज्याः" (तमोमयाः)

७—यक्षाः
८—राक्षसाः } "यक्षरक्षांसि-राजसाः" (रजस्तमोमयाः)

२९२—[२]—आश्वत्थिक—चेतन—मानवजीवोपासना—प्रणिपात-परिप्रश्न—सेवात्मिका—❀

(कर्म्मभोगबद्धमानवस्यास्मच्छ्रद्दशस्य-तत्त्वनिष्ठ--आचारपरायण--मानवश्रेष्ठं--प्रत्यात्मसमर्पणम्)

१—तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन, सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
—गीता ४।३४।

२—यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते, लोकस्तदनुवर्त्तते ॥
—गीता ३।२१।

——*——

२९३—[३]—आश्वत्थिक-पशु-पक्षि-कृम्यादि-लक्ष्याणां—चेतन-जीवानामुपासना-विभूतिरूपा—

१-उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धिमामृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां,मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहम् ॥
२--झषाणां मकरश्चामि, धेनूनामस्मि कामधुक् ।
वैनेतयश्च पक्षिणां, सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥
(अश्वः, गजः, सिंह, मकरः, गरुडः, सर्पः)--
—गीता १० अध्याय

---

*--बुद्ध्यनुगतः--प्रणिपातधर्म्मः

मनोऽनुगतः--परिप्रश्नधर्म्मः (कुतर्कमूलः प्रश्नः प्रश्नः, सुतर्कमूलो जिज्ञासात्मकः-प्रश्न एव--परिप्रश्नः--ऋषिभाषायां 'सम्प्रश्नः'

शरीरानुगतः--सेवाधर्म्मः

मानवानुगता-उपासना त्रिविधैव । नान्यः पन्था विद्यते ।

२६४—[४]—आश्वत्थिक-अर्द्ध चेतनजीवोपासना-

["अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्" (गीता १० अध्याय)]

—**—

२६५-[५]-आश्वत्थिक-अचेतनजीवोपासना-[योगरूपा-प्रतिमोपासना]

१—पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः
—गीता ६।२६।

२—यत्करोषि, यदश्नासि, यज्जुहोषि, ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
—गीता ६।२७।

३ यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ! ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया 'भूत' चराचरम् ॥
—गीता १०।३६।

२६६—मर्त्यवाक्शुक्रमय 'विराट्', एवं मर्त्यभूतशुक्रमय-'विश्व' का स्वरूप-संस्मरण, तथा तन्निबन्धना उपासनाओं के उच्चावच तारतम्य, और प्रासङ्गिक 'राजर्षयः', 'पुण्याः', भक्ताः, शब्दों का समन्वय—

अब इस सम्बन्ध में कतिपय तथ्यों का स्पष्टीकरण कर इस प्रमाण-प्रकरण को उपरत किया जारहा है। उक्त-प्रकरण पाँच उपास्यों के आधार पर पाँच मार्ग हमारे सामने रखता है, यह सर्वथा प्रमाणित कर देता है। इन पाँच वर्गों में से प्रथमवर्ग का राजर्षियों के साथ, दूसरे वर्ग का भक्तों के साथ, एवं तीसरे वर्ग की यज्ञकर्म्मात्मिका उपासना का ब्राह्मणवर्ग के साथ सम्बन्ध बतलाया है, एवं इसी में ज्ञान-कर्म्म-निष्ठाओं का समन्वय किया गया है। विराडुपासनात्मक (काम्ययज्ञकर्म्मोपासनात्मक) चौथे वर्ग को, एवं विश्वोपासनात्मक पाँचवें वर्ग को गीता किस नाम से व्यपदिष्ट करती है?, यह प्रश्न अभी शेष रह जाता है। इस प्रश्न का उत्तर है "पुण्य" शब्द। आरम्भ के तीनों वर्ग पुण्य-पापादि द्वन्द्वों से (निष्कामभाव के कारण) बहिर्भूत हैं। पुण्य-पाप-द्वन्द्व मृत्युभाव है, इधर मर्त्यवाक् शुक्रमय विराट्, एवं मर्त्यभूतशुक्रमय विश्व, दोनों में द्वन्द्वभाव का सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में—सत्-असत् का, पाप-पुण्य का मीमांसन इन्हीं अन्त की दोनों संस्थाओं में सम्भव है, और इसी दृष्टि से इन दोनों उपासकों को "पुण्याः" (पुण्य-संस्कारयुक्त) कहा जासकता है। यज्ञोपासकों को [निष्काम्ययज्ञकर्म्मात्मक कर्म्मयोगोपासकों को, एवं निष्काम-आत्मकर्म्मात्मक-ज्ञानयोगोपासकों को] "ब्राह्मणाः" कहा जासकता है, ईश्वरोपासकों को "भक्ताः" कहा जासकता है, एवं अव्ययोपासकों को "राजर्षयः" कहा जासकता है।

२६७–द्वन्द्वातीता उपासना, एवं द्वन्द्वात्मिका उपासना का तारतम्य-प्रदर्शन, तथा तामसी-उपासना के भीषण परिणामों का दिग्दर्शन—

'पुण्याः' वे ही कहलाएँगे, जो विराट्, एवं विश्व के उपासक होंगे। अत्रापि यह विवेक तो कर ही लेना पड़ेगा कि, आधिकारिक अचेतन जीव (विराट्यज्ञ) के सात्त्विक उपासक, आश्व--त्थिक चेतन ब्रह्म--प्रजापति--इन्द्र, इन तीन देवयोनियों के सात्त्विक उपासक, महापुरुषलक्षण आश्वत्थिक चेतन जीवों के सात्त्विक उपासक, गौ आदि पवित्र पशुरूप आश्वत्थिक चेतन जीवों के सात्त्विक उपासक, अश्वत्थ-तुलसी-वटादिरूप आश्वत्थिक अर्द्धचेतन जीवों के सात्त्विक उपासक, एवं प्रतिमालक्षण आश्वत्थिक अचेतन जीवों के सात्त्विक उपासक तो "पुण्या" कहलाएँगे। एवं भूत--प्रेतादि आश्वत्थिक चेतन जीवों के राजसतामस, किंवा तामस उपासक 'पाप' कोटि में माने जायँगे। कारण, इस 'आसुरी-उपासना' से आत्माभ्युदय की सम्भावना भी नहीं है। तामसी उपासना अन्ततोगत्त्वा आत्मपतन का ही कारण बनती है, जैसाकि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है–

१–मोघाशा मोघकर्म्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥
२–न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
३–घद्यन्यगुणवृत्तिस्था ओधगच्छानी तामसाः॥

२६८–अव्ययोपासक-ईश्वरोपासक-यज्ञोपासक-विराडुपासक, एवं विश्वोपासक-भेदेन उपासकों के श्रेणिविभागों का तालिका-माध्यम से स्वरूप-समन्वय—

इसप्रकार "यक्ष--राक्षस--गन्धर्व--पिशाच" इन चारों आश्वत्थिक चेतन-जीवों की उपासना को छोड़कर विश्वोपासना के शेष--वर्गों का उपासक वर्ग ही "पुण्याः" का अधिकारी सिद्ध होता है। तीसरे विराडुपासक की पुण्यता में तो कोई सन्देह ही नहीं है। स्वयं भगवान्ने ही–"ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्र-लोकान्" कहते हुए इन्हें "पुण्याः" (पुण्यात्मानः) माना है। इन्हीं उक्त चारों नाम-व्यवहारों का पाँच-वर्गों में अन्तर्भाव करते हुए भगवान् कहते हैं—

किं पुनर्ब्राह्मणाः, पुण्याः, भक्ताः, राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

—गीता ६।३३।

अव्ययोपासकाः—बुद्धियोगिनो युक्ता—योगिनः]————————राजर्षयः

ईश्वरोपासकाः—भक्तियोगिनो युञ्जानाः—]————————भक्ताः

यज्ञोपासकाः——ज्ञान-कर्म्मयोगिनो-आरुरुक्षवः-कर्म्मिणो ज्ञानिनश्च]—ब्राह्मणाः

विराड्उपासकाः—काम्यकर्म्मयोगिनः कामपरायणाः]
विश्वोपासकाः—काम्यकर्मोपासकाः—कामोपभोगपरमाः] ————पुण्याः

———*———

२६६—'ज्ञानी', 'जिज्ञासु', 'अर्थार्थी', 'आर्त्त', मानवों से अनुप्राणित भक्तिमार्ग के चार प्रसिद्ध विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय—

गीता ने उपासकवर्ग को **आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी**, इन चार भागों में विभक्त किया है। प्रसङ्गोपात्त यह भी विचार कर लेना चाहिए कि, उक्त पाँचों वर्गों में किस का किस उपासक श्रेणि में अन्तर्भाव है ?। विचारकक्षा के अन्तिम धरातल पर पहुँचने से यह मान लेना पड़ेगा कि-"ज्ञानी" उपासक 'बुद्धियोगी' (युक्तयोगी, किंवा युक्ततमयोगी) होगा। ईश्वरोपासक, एवं यज्ञप्रजापत्युपासक (ऐश्वर्य्यबुद्धियोगी, धर्म्म-बुद्धियोगी, ज्ञानबुद्धियोगी तीनों) **जिज्ञासु** श्रेणि में माना जायगा। विराड्उपासक (भौगैश्वर्य्य की इच्छा से काम्ययज्ञ-कर्म्मों में प्रवृत्त रहने वाला कामुक) **अर्थार्थी** उपासक माना जायगा। एवं विश्वोपासक को **आर्त्त** उपासक कहा जायगा। दुःखी मनुष्य ही भूतप्रेतादि को मनाता फिरता है, वही कातरभाव से "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" यह कहता है। यही देवप्रतिमाओं के सम्मुख करुणामयी प्रार्थना किया करता है। चारों में कौन सर्वश्रेष्ठ ?, पाठक कह उठेंगे—**ज्ञानी, बुद्धियोगी, युक्तयोगी**। इसप्रकार गीतासिद्धान्त अपने आप स्फुट होजाता है। देखिए—

१—चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !।
आर्त्तो, जिज्ञासु, रर्थार्थी, ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥
२—तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।
३—उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

——गीता ७।१६।१७।१८

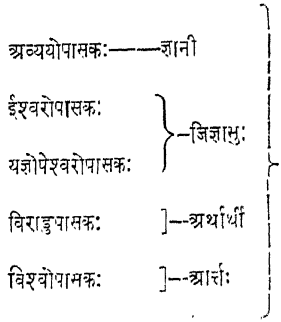

——— * ———

३००-युगधर्म्मभेदनिबन्धन-उपासना-पथों का संस्मरण—

उपास्य तत्त्व के सम्बन्ध में प्रवृत्त भक्तिप्रकरण के अनुरोध से जो कुछ वक्तव्य था, वह परिसमाप्त है। अब इस सम्बन्ध में केवल यही कर्त्तव्य शेष रह जाता है कि, इन पाँचों उपास्यों की पाँचों उपासनाओं का क्रमशः देवयुग-वेदयुग-पुराणयुग-दर्शनयुग-वर्त्तमानयुग, इन युगों के साथ समन्वय कर दिया जाय। और सर्वान्त में इसप्रकरण के मुख्य विषय 'वेदयुगानुगत भक्तिमार्ग" का दो शब्दों में उपसंहार कर इस सन्दर्भ को समाप्त किया जाय।

३०१-देवयुगानुगता 'उपासना' लक्षणा 'भक्ति' का संस्मरण—

अब यह स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई है कि, देवयुगारम्भकाल में ही-भगवान् कृष्ण के द्वारा (अन्यशरीर से) विवस्वान् के प्रति सर्वप्रथम इस निर्गुण अव्ययमूला, राजर्षिविद्यानुगता वैराग्य-बुद्धिबीजलक्षणा मनोमयी, किंवा ज्ञानमयी (अव्ययज्ञानकर्म्ममयी) 'उपासना' नाम की 'भक्ति' का उपदेश होचुका था। इसीलिए यह भी निर्विवाद है कि, देवयुगानुगता उपासना 'निर्गुणाव्यय-उपासना' ही थी।

३०२-वेदान्तोपनिषन्मूला देवयुगानुगता-उपासना का स्वरूप-समन्वय—

प्रकरण के आरम्भ में इस उपासना के सम्बन्ध में यह विप्रतिपत्ति उठाई गई थी कि, उपासना का द्वैतभाव से सम्बन्ध है, सीमित उपास्य से सम्बन्ध है। इधर निर्गुण आत्मा असीम है। फलतः उस की उपासना असम्भव है। कहना न होगा कि, उक्त निर्गुण अव्यय-स्वरूप-परिज्ञान के अनन्तर इस विप्रतिपत्ति का कोई महत्त्व शेष नहीं रहजाता। अव्यय द्वन्द्वातीत भी है, निर्गुण भी है, परन्तु मायापरिग्रह से युक्त होता हुआ विश्वसीमा के भीतर भी है। मायातीत निराकार परात्परब्रह्म अवश्य ही अपरिच्छिन्न बनता हुआ अनुपास्य है। परन्तु मायी अव्यय के सम्बन्ध में समानप्रत्ययप्रवाहमूला, अद्वैतलक्षणा उपासना अवश्य ही बन सकती है, और यही उपासना सर्वोत्कृष्ट उपासना है। वेदका उपनिषत् भाग ही इसकी-प्रतिष्ठा है।

३०३-आरण्यकग्रन्थमूला वेदयुगानुगता-उपासना का स्वरूप-समन्वय—

कुछ समय पीछे ही विश्वयुक्त प्रजापति की उपासना का विकास हुआ। यही उपासना वेदयुग-कालीन-उपासना कहलाई। अक्षरमूर्त्ति प्राणमय, किंवा क्रियामय षोडशीप्रजापति ही इस उपासना

का उपास्य देवता बना। यहाँ आंशिकरूप से द्वैतभाव का विकास हुआ। 'अहं, और ओम्' का पार्थक्य समझते हुए ही अनन्यता स्थापित हुई। यही भक्तिरूपा उपासना 'वेदयुगानुगत भक्तिमार्ग' कहलाया, गीताने इसे ही 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत किया। वेदका आरण्यकभाग ही इसकी मूलप्रतिष्ठा बना।

३७४-ब्राह्मणग्रन्थमूला पुराणयुगानुगता-उपासना का स्वरूप-समन्वय—

आगे जाकर पुराणयुग का समन्वय हुआ। इस युगमें अवतारोपासना के साथ-साथ निष्काम-यज्ञकर्म्म, एवं निष्काम-आत्मोपयिक आत्मीयकर्म्म, इन तीन भावों का विकास हुआ। यज्ञकर्म्म योग-निष्ठा (कर्म्मनिष्ठा) कहलाई, आत्मीयकर्म्म सांख्यनिष्ठा (ज्ञाननिष्ठा) कहलाई। लोकरुचि के भेद से ही इन प्रवृत्ति-निवृत्तिरूपा दो-विभिन्न निष्ठाओं का विकास हुआ। यही गीता का संशोधन प्राप्त कर आगे जाकर (क्रमशः) 'धर्म्मबुद्धियोग,-ज्ञानबुद्धियोग' इन नामों से व्यवहृत हुई। इस उपासना का उपास्यदेवता माना गया सविकार, अमृतवाक्शुक्रमय-यज्ञप्रजापति। एवं वेद का (प्रवृत्ति-निवृत्ति-कर्म्मप्रतिपादक-कर्म्म-ज्ञाननिष्ठा-प्रतिपादक) ब्राह्मणभाग ही इसकी मूलप्रतिष्ठा बना।

३७५-तत्त्वदर्शनविजृम्भणमूला-दर्शनयुगानुगता-उपासना का स्वरूप-समन्वय—

आगे जाकर दर्शनकाल का आगमन हुआ। समाज दार्शनिक दृष्टि से तत्त्वान्वेषण में प्रवृत्त हुआ। विज्ञानसिद्ध वैदिकतत्त्व विलुप्त होगए, एवं इन का स्थान मतवादमूलक, अतएव कलहमूलक दर्शनवाद ने छीन लिया। परिणामतः—पूर्वप्रचलित भक्तिमार्गों का वास्तविक स्वरूप विलुप्त होगया, और उसके स्थान तत्त्ववादमूला विराट्-उपासना का आविर्भाव हुआ। विराट् के ज्ञानप्रधान सर्वज्ञतत्त्व के आधार पर प्रचलित वेदान्तनिष्ठाने जन्म लिया, विराट् के क्रियाप्रधान हिरण्यगर्भतत्त्व के आधार पर प्रचलित सांख्यनिष्ठा का आविर्भाव हुआ, एवं विराट् के अर्थप्रधान वैश्वानरतत्त्व के आधार पर कणाद के द्वारा प्रचलित कर्म्म निष्ठा का आविष्कार हुआ।

३७६-कर्म्मासक्तिमूला दार्शनिक-भक्ति, दर्शनभक्तिनिबन्धना लोकनिष्ठाएँ, एवं भगवान् के द्वारा उन का संशोधनात्मक-समन्वय—

दर्शनग्रन्थ ही इस कर्म्मात्मिका भक्ति की मूलप्रतिष्ठा बने। महाभारतकाल में तो यह मार्ग चरम-सीमा पर ही पहुँच चुका था। देवयुगारम्भ में भगवदुपदिष्टा बुद्धियोगनिष्ठा विलुप्त होचुकी थी, ईश्वरानन्यता-लक्षणा अक्षरोपासना भी अस्तप्राय बन चुकी थी, यज्ञकेर्म्मात्मिका कर्म्मनिष्ठा से, एवं आत्मकर्म्मात्मिका सांख्यनिष्ठा से सम्बन्ध रखने वाली यज्ञेश्वरोपासना के प्रवृत्तिकर्म्ममार्गने काम-फलासक्ति का आसन ग्रहण कर लिया था, निवृत्तिकर्म्ममार्ग पर अवैध, कायक्लेशात्मक कर्म्मत्यागलक्षण संन्यास ने अधिकार स्थापित कर लिया था। इसी भीषणता का दमन करने को लिए महाभारतयुग में उसी प्रथमोपदेष्टा को पुनः वासुदेवशरीर से अवतार धारण करना पड़ा। और उसने अर्जुन को निमित्त बना कर पुनः विकृतिभाव में परिणता चारों निष्ठाओं का संशोधन कर सर्वोपरि बुद्धियोगनिष्ठा स्थापित की।

३०७–कालदोषानुगता योगविलुप्ति, एवं व्याख्याताओं के द्वारा योगचतुष्टयी के मौलिक-स्वरूपों का अभिभव—

अवश्य ही कुछ शताब्दियों पर्य्यन्त 'गीता का बुद्धियोग, एवं तदनुप्राणित बुद्धियोगात्मक इतर तीनों योग व्यवस्थित ही रहे होंगे। परन्तु कालदोष से आगे जाकर पुनः इन चारों का ही स्वरूप विकृत होगया, और विश्वोपासना ने इनका स्थान छीन लिया। यही प्रचलित भक्तिमार्ग कहलाया, व्याख्याताओं के व्याख्याग्रन्थ ही इसकी मूलप्रतिष्ठा बनें, जैसाकि तत्प्रकरण में हीं स्पष्ट होने वाला है।

३०८–सर्वयुगानुगता सर्वोपासना का स्वरूप–समन्वय, एवं भूतोपासनात्मक 'प्रतिमा-पूजन' का अनादित्व—

उक्त कथन का यह तात्पर्य्य नहीं है कि, पाँचों युगों में [प्रत्येक में] केवल तत्तदुपासनाओं का ही प्रचार था। तारतम्य से देवयुग में हीं पाँचों का विकास होचुका था। और तो और, जिस प्रतिमापूजन को हमने वर्त्तमान युग का भक्तिमार्ग माना है, उसका विकास भी उसी युग में होचुका था, जिसेकि हम देवयुग कहते हैं, एवं जो विज्ञान दृष्टि से "उपनिषत्" युग भी माना जासकता है। हम देखते हैं कि, आज "प्रतिमापूजन"(जो कि उपासनासिद्धि * का एक सरलतम मार्ग है] पर अनेक प्रकार के आक्षेप होरहे हैं। जो भारतीय वेदभक्ति की अनन्यता घोषित करते हुए भी अज्ञानवश वेदसिद्धा प्रतिमापोसना पर आक्षेप करते हैं, उससे तो हमारी कोई क्षति नहीं है। कारण वे हमारे बन्धु हैं, भ्रान्तिवश उन्होंने यह भूल कर रक्खी है। और हमारा विश्वास है कि, बान्धव-सम्बन्धाकर्षण से हम किसी भी समय उनकी भ्रान्ति का परिमार्ज्जन कर सकेंगे, निश्चयेन कर ही देंगे। परन्तु विज्ञानगर्विष्ठ पश्चिमी विद्वान् भी इस सम्बन्ध में भ्रान्ति कर रहे हैं। उनकी इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए ही हमनें विश्वोपासनात्मक प्रचलित भक्तिमार्ग नाम के पाँचवें प्रकरण में "प्रतिमापूजन, और उपासना" नाम के वैज्ञानिक प्रकरण का समावेश करना आवश्यक समझा है, जैसाकि पाठक तत् प्रकरण में देखेंगे। यहाँ इस सम्बन्ध में केवल यही वक्तव्य है कि, सभी युगों में सभी उपासनामार्ग प्रचलित रहे हैं, परन्तु तत्तन्मार्गों की प्रधानता से हमनें तत्तद्युगों को तत्तदुपासनाओं से ही युक्त मान लिया है।

३०९–लोक–धर्म्म–वेद–प्रजा–चतुष्टयी के आदिव्यवस्थापक भगवान् भौम–मानुष–ब्रह्मा के द्वारा चतुर्युगव्यवस्था, एवं तद्युगानुगता उपासनाचतुष्टयी का स्वरूप-समन्वय–

एक बात और। देवयुगकालीन ब्रह्मा के द्वारा लोक--धर्म्म--वेद-- प्रजा--की व्यवस्था के साथ-साथ चतुर्युगों की भी व्यवस्था हुई थी। देवयुग के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं अपनी स्थिति रखने वाले वेदयुग को 'सत्ययुग' माना जासकता है, पुराणयुग को 'त्रेतायुग' कहा जासकता है। दर्शनयुग को "द्वापर" माना जासकता है, एवं वर्त्तमान कलहमूलक युग को 'कलियुग' कहा जासकता है। देवयुग बुद्धियोगात्मिका

---

* अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

निर्गुण-अव्ययोपासनाकाल है, वेदयुगात्मक सत्ययुग अक्षरमूर्ति, अतएव हृदयमूर्ति, अतएव सत्यमूर्ति षोडशी-प्रजापत्युपासनाकाल है, पुराणयुगात्मक त्रेतायुग * यज्ञप्रजापत्युपासनाकाल है, दर्शनयुगात्मक द्वापरयुग विराट्प्रजापत्युपासनाकाल है, एवं वर्त्तमानयुगात्मक कलियुग विश्व-प्रजापत्युपासनाकाल है। इसी विज्ञानमिति के आधार पर हमनें इस तीसरे प्रक्रान्त प्रकरण के पाँच अवान्तर प्रकरण मान लिए है, जिनकी कि मौलिकता सिद्ध करने के लिए 'षट्परिग्रहयुक्त पञ्चोपास्य-विवर्त्त' का गाथागान करना आवश्यक हुआ।

अन्यत्र धर्म्मात्—	१-देवयुगः—आदियुगः	(संहितोपनिषत्कालः)—निर्गुणाव्ययोपासना-विवर्त्तम्
	२-सत्ययुगः-वेदयुगः	(आरण्यककालः)—सगुणप्रजापत्युपासना-विवर्त्तम्
श्रौतधर्म्मः	३-त्रेतायुगः-पुराणयुगः	(पुराण-ब्राह्मणकालः)-सविकारयज्ञेश्वरप्रजापत्युपासना-विवर्त्तम्
सांख्यः	४-द्वापरयुगः-दर्शनयुगः	(सूत्रकालः) —साञ्जनविराट्प्रजापत्युपासना-विवर्त्तम्
स्मार्त्तधर्म्मः	५-कलियुगः-वर्त्तमानयुगः	(संघर्षकालः स्मार्त्तकालोवा)-सविकारविश्वप्रजापत्युपासना-विवर्त्तम्

—*—

प्रकारान्तरेण—

देवयुगोपासना—ज्ञानमयी-मनोमयी———"अमृतोपासना"————**अमृतम्**

सत्ययुगोपासना—क्रियामयी-प्राणमयी——"ब्रह्मोपासना"————**ब्रह्म**

त्रेतायुगोपासना—अर्थमयी-अमृतवाक्—शुक्रमयी-"शुक्रोपासना"

द्वापरयुगोपासना-अर्थमयी-मर्त्यवाक्-"शुक्रमयी-देवोपासना(शुक्रम्)" **शुक्रम्**

कलियुगोपासना—अर्थमयी-भूतवाङ्मयी—"भूतोपासना (शुक्रम्)"

* "त्रेतायां बहुधा सन्ततानि" (त्रेताग्नियज्ञात्मक विलानयज्ञकाल)।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ! ।
आर्त्तो, जिज्ञासु, रर्थार्थी, ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥
तेषां 'ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ (गी ७।१६,१७)।

सर्वसंग्रहः—

१–अव्ययः–अव्ययः (मनः)–अमृतम्–आत्मा (मायामयः)–उपास्यः–वैराग्यबुद्धियोगात्मिका–"उपासना" * योगिनः (राजर्षयः–ज्ञानी

२–अक्षरः–षोडशी (प्राणः)–ब्रह्म–ईश्वरः (सकलः–सगुणः)–उपास्यः–ऐश्वर्यबुद्धियोगात्मिका–"उपासना" * तपस्विनः (भक्ताः) } –जिज्ञासुः

३–आत्मेश्वरः–यज्ञः (वाक्) म–उपेश्वरः (सविकारः)–उपास्यः–धर्म्म-ज्ञान-बुद्धियोगात्मिके–"उपासने" * कर्म्मिणो,ज्ञानिनश्च (ब्राह्मणाः) }

४–विकारेश्वरः–विराट् (वाक्) ब–देवाः (साधनम्)–उपास्यः–भोगैश्वर्य्यानुगता–– "उपासना" } ——————–अर्थार्थी

५–वैकारिकेश्वरः–विश्वम् (वाक्) भ–भूतानि (सावरणम्)–उपास्यः–कामकामयी–––– "उपासना" } पुण्यात्मानः (पुण्याः) ——————–आर्त्तः

———*———

३१०–परावरब्रह्ममूलक–'उद्गीथोङ्कार' का पावन–संस्मरण—

वेदयुगानुगता आरण्यकभागमूला उपासना का मूलाधार है—'उद्गीथोङ्कार', जो कि उपनिषदों में 'परावरब्रह्म' नाम से भी प्रसिद्ध है। जिस षोडशी–प्रजापति का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उसे ही 'उद्गीथोङ्कार' भी कहा जासकता है, एवं उसी को 'ईश्वर' भी माना जासकता है। फलतः उसी की उपासना 'ईश्वरोपासना' कहला सकती है। इस विषय का माण्डूक्योपनिषत् में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाचुका है, अतएवात्र पिष्टपेषण निरर्थक है। उपासना के समन्वय के लिए यहाँ दो शब्दों में तत्संस्मरणमात्र ही कर लिया जाता है।

३११–आत्मप्रजापति के तीन संस्थाविवर्त्त, तदनुप्राणित विश्व, एवं 'आत्मा', तथा 'विश्व' की समष्टिरूप 'आत्मन्वी' का संस्मरण—

निर्गुण–अव्ययात्मा, सगुण–षोडशी–प्रजापति, एवं सविकार–यज्ञप्रजापति, इन तीनों आत्मसंस्थाओं को मनः–प्राण–वाङ्मयी मानते हुए क्रमशः अव्यय, अक्षर, क्षर–प्रधान बतलाया गया है। एवं अन्त की साञ्जनविराट्प्रजापति, एवं सावरणविश्वप्रजापति, इन दो संस्थाओं का क्रमशः मर्त्यवाक्शुक्रमयी, तथा भूतवाङ्मयी बतलाते हुए विकारक्षर, तथा वैकारिकक्षर–रूप माना गया है। इसी दृष्टि से इन पाँच संस्थाओं की आगे जाकर तीन ही संस्थाएँ शेष रह जाती है। क्षर–विकारक्षर–वैकारिकक्षर, तीनों क्षरविवर्त्त हैं, यज्ञप्रजापति विवर्त्त हैं। पाठकों को यह भी स्मरण होगा ही कि, इसी आधार पर हमने अव्यय–अक्षर, इन दो को तो–'आत्मा' कहा है, एवं क्षर–विकार–वैकारिक, इन तीनों को 'विश्व' कहा है– [देखिए पृष्ठ सं० १६६]।

३१२–अतीतलक्षण अव्ययात्मा, वर्त्तमानलक्षण अक्षरात्मा, भविष्यल्लक्षण क्षरात्मा, कालातीत परात्पर, एवं चारों की समष्टिरूप–'षोडशी–प्रजापति' का संस्मरण—

क्षरप्रधान विश्व क्षणिक बनता हुआ 'नास्तिसार' है। 'अस्ति' शब्द का प्रयोग इस क्षणिक क्षरविश्व के लिए नहीं किया जासकता। यह सदा भविष्यत् की मर्य्यादा से ही आक्रान्त रहता है। अतीत–लक्षण अव्ययात्मा, वर्त्तमानलक्षण अक्षर, दोनों से पृथक् भविष्यल्लक्षण क्षर ही विश्व है। अतीत, किंवा भूत–मर्य्यादा से आक्रान्त अव्यय, वर्त्तमान मर्य्यादा से आक्रान्त अक्षर, एवं भविष्यत्–मर्य्यादा से युक्त क्षर, तीनों की समष्टि ही षोडशी–प्रजापति है।

३१३–'प्रणवोङ्कार'–लक्षणा प्रथमा ओङ्कारसंस्था का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

इस षोडशी–प्रजापति का क्षरलक्षण भविष्यदर्थ ही आगे जाकर यज्ञ–विराट्–विश्व–रूप में परिणत होता है। इन तीनों में भी अपेक्षया हम यज्ञ को भूत, विराट् को वर्त्तमान, एवं विश्व को भविष्यत् कह सकते हैं। एवं षोडशी को त्रिकालातीत कहा जासकता है। और इसी दृष्टि से केवल भविष्यदर्थरूप क्षरप्रजापति भी त्रिकालमर्य्यादा से युक्त होता हुआ 'ओङ्कार' बन जाता है। यही पहिली 'ओङ्कारसंस्था' है। इसी को हम 'प्राणोङ्कार' कह सकते हैं। प्रस्ताव को ही स्तुति कहते हैं। उपक्रम ही प्रस्ताव है। भौतिक विश्व ही आत्मा की प्रस्तावभूमि है। अतएव प्रस्तावात्मक इस क्षररूप ओङ्कार को अवश्य ही 'प्रणव' कहा जासकता है।

३१४–'उद्गीथोङ्कार' लक्षणा द्वितीया ओङ्कारसंस्था का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

भविष्यदर्थ के अनन्तर वर्त्तमानलक्षण प्राणमय अक्षर आता है। निष्कल अव्यय–गर्भित पञ्चकल अव्ययमूर्त्ति अक्षर ही भूत है, पञ्चकल अक्षरमूर्त्ति अक्षर ही वर्त्तमान है, एवं यज्ञ–विराट्–विश्वगर्भित पञ्चकल आत्मक्षरमूर्त्ति अक्षर ही भविष्यत् है। इस दृष्टि से वर्त्तमानलक्षण षोडशी-प्रजापति भी त्रिकालमर्य्यादा से युक्त होता हुआ 'ओङ्कार' बन जाता है। यही दूसरी ओङ्कार-संस्था है। इसी को 'उद्गीथोङ्कार' कहा जाता है।

३१५–'उद्गीथोङ्कारा' नुगत- 'उत्–गी–थम्' पर्वों का आत्मनिबन्धन स्वरूप समन्वय—

'उत्–गी–थम्' की समष्टि ही 'उद्गीथम्' है। 'उत्' 'अमृतभाव' का सूचक है, 'थम्' 'मृत्युभाव' का सूचक है, 'गी' दोनों का 'संधाता' है। निर्गुण अव्यय अमृतप्रधान बनाता हुआ 'उत्' है, यज्ञ–विराट्–विश्वरूप क्षर–मृत्युप्रधान बनता हुआ 'थम्' है। मध्यस्थ षोडशी दोनों से युक्त होकर षोडशी बनता हुआ 'गी' बन कर उद्गीथम् है। षोडशी अव्ययदृष्ट्या 'उत्' बना हुआ है, अक्षर–दृष्ट्या 'गी' बना हुआ है, एवं क्षर की दृष्टि से 'थम्' बना हुआ है। अतएव इसे अवश्य ही 'उद्गीथ' कहा जासकता है।

३१६–छान्दोग्य–सम्मत 'उद्गीथोङ्कार', एवं तदनुप्राणित 'परावरब्रह्म' का संस्मरण—

छान्दोग्यने अक्षर को ही प्रधानरूप से उद्गीथ माना है। और ऐसा मानना विज्ञानसिद्ध भी है। कारण, मध्यस्थ अक्षर ही उस ओर के 'उत्'–लक्षण अव्यय से, एवं इस ओर के 'थम्' लक्षण क्षर से युक्त होता हुआ 'उद्गीथम्' बन जाता है। 'उत्' लक्षण अव्यय 'पर' है। 'थम्' लक्षण क्षर 'अवर' है। एवं दोनों से युक्त 'गी' लक्षण मध्यस्थ बनता हुआ अक्षर 'परावर' है। यही 'परावरोङ्कार' त्रैकालिक उद्गीथ अक्षर है।

३१७–'सर्वोङ्कार' लक्षणा तृतीया ओङ्कारसंस्था का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

अब वह तीसरी निर्गुण–अव्यय–संस्था बच रहती है, जोकि त्रिकालातीता है, एवं जिस के हमने आनन्द–विज्ञान–मन, ये विवर्त्तभाव बतलाए हैं। यही 'तत्' 'सर्व' बना हुआ है। इस के आनन्दभाग को 'अकार' माना जासकता है, विज्ञानभाग को 'उकार' कहा जासकता है, 'सर्वगर्भित' मनोभाग को 'मकार' कहा जासकता है, एवं व्यापक परात्पर को 'अर्द्धमात्रा' माना जासकता है। यही तीसरी 'ओङ्कारसंस्था' है। इसे ही 'सर्वोङ्कार' भी कहा जासकता है। यही मूलोङ्कार सर्वरूप में परिणत हुआ है—'तदु नात्येति किञ्चन''।

३१८–ओङ्कारानुगता अर्द्धमात्रा, एवं तत्र प्रतिष्ठिता अकार, उकार, मकार–त्रयी—

ओङ्कार में 'अर्द्धमात्रा, अकार, उकार, मकार' ये चार मात्राएँ होती हैं। इन मात्राओं के सादृश्य से ही उक्त तीनों आत्मसंस्थाओं को क्रमशः सर्वोङ्कार-उद्गीथोङ्कार प्रणवोङ्कार, अभिधाओं से समन्वित मान लिया गया है। अब देखना यही है कि, इन तीनों संस्थाओं में किस रूप से चारों पर्वों का भोग हो रहा है?।

३१९-सर्वोङ्कारानुगत चार पर्वों का स्वरूप-समन्वय—

पहिले क्रमप्राप्त निर्गुणाव्ययलक्षण त्रिकालातीत, सर्वकालरूप सर्वोङ्कार को ही लीजिए। परात्पर इस की अर्द्धमात्रा है, आनन्दभाग अकारमात्रा है, विज्ञानभाग उकार मात्रा है, एवं षोडशी-यज्ञ-विकार-विश्व, इन चारों को अपने गर्भ में रखने वाला काममय मनोभाग मकारमात्र है तथा समष्टि सर्वोङ्कार है।

३२०-उद्गीथोङ्कारानुगत चार पर्वों का स्वरूप-समन्वय—

दूसरा अक्षरमूर्त्ति सगुण षोडशी-प्रजापति है। त्रिकालातीत सोलहवाँ निर्गुण अव्यय-अर्द्धमात्रा है, पञ्चकल भूतलक्षण अक्षरमूर्त्ति-अव्यय अकार है, पञ्चकल वर्त्तमानलक्षण अक्षर-मूर्त्ति अक्षर उकार है। यज्ञ-विराट्-विश्वगर्भित भविष्यल्लक्षण अक्षरमूर्त्ति क्षर मकार है। एवं समष्टि उद्गीथोङ्कार है।

३२१-प्रणवोङ्कारानुगत चार पर्वों का स्वरूप समन्वय—

तीसरा क्षरमूर्त्ति सविकार यज्ञप्रजापति है। त्रैकालिक षोडशी अर्द्धमात्रा है, यज्ञेश्वर विष्णु अकार है, विकारमूर्त्ति विकार उकार है, आवरणमूर्त्ति विश्व मकार है, एवं समष्टि प्रणवोङ्कार है। यह तो हुआ ओङ्कार का स्थूल विस्तार। यदि इस के अवान्तर प्रस्तारों का विचार किया जाता है, तो अणु अणु में चतुष्पर्वा ओङ्कार की सत्ता सिद्ध होजाती है, जिसके कि कुछ एक उदाहरण कठविज्ञानभाष्य में उद्धृत हुए हैं।

३२२-ज्ञानयोगानुगत सर्वोङ्कार, भक्तियोगानुगत उद्गीथोङ्कार, तथा कर्म्मयोगानुगत प्रणवोङ्कार का स्थितभेदमूलक समन्वय—

निष्कर्ष यही हुआ कि, व्यवहारमात्र के लिए भूतकालिक, वस्तुतः कालातीत-निर्गुण अव्यय सर्वोङ्कार कहलाया। वर्त्तमानलक्षण अक्षरमूर्त्ति षोडशी उद्गीथोङ्कार कहलाया, एवं भविष्य-ल्लक्षण क्षरमूर्त्ति यज्ञप्रजापति प्रणवोङ्कार कहलाया। सर्वोङ्कार विज्ञेयकोटि में आता हुआ ज्ञाना-त्मिका बुद्धियोगलक्षणा उपासना का प्रतिष्ठा बना। उद्गीथोङ्कार उपास्यकोटि में आता हुआ क्रिया-त्मिका भक्तियोगलक्षणा उपासना की मूलप्रतिष्ठा बना। एवं प्रणवोङ्कार व्यवहारकोटि में आता हुआ अर्थात्मिका कर्म्मयोगलक्षणा उपासना का आधार बना।

३२३-ज्ञानात्मिका उपासना, भक्त्यात्मिका उपासना, एवं कर्म्मात्मिका उपासना-भेदभिन्ना उपासनात्रयी का स्वरूप समन्वय—

इस से यह भी सिद्ध होगया कि, ज्ञानात्मिका उपासना, भक्त्यात्मिका उपासना, कर्म्मात्मिका उपासना, तीनों का आरम्भ, किंवा मूल लक्ष्य "ओङ्कार" ही होना चाहिए। इन तीनों में से गीता ने दो ओङ्कारों का ही प्रधानरूप से विश्लेषण करना आवश्यक समझा है। कारण स्पष्ट है। अव्ययात्मलक्षण सर्वो-

ङ्कार तो गीता को प्रतिपाद्य विषय ही है। इस के लिए तो भगवान्ने पद पद पर "माम्" "मम" "अहम्"—"मत्तः" यही कहना पर्य्याप्त समझा है। शेष षोडशी-प्रजापति-लक्षण अक्षरमूर्त्ति उद्गीथ को भक्तिरूप उपासना का, एवं यज्ञप्रजापति—लक्षण क्षरमूर्त्ति प्रणव को कर्म्मरूप उपासना का स्पष्ट शब्दों में उपक्रम माना है, जैसाकि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

उद्गीथोङ्कारः—१—ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥ —षोडशीः

—गीता ८।१३।

प्रणवोङ्कारः—२—तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञ-दान-तपः- क्रियाः। प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ —यज्ञः

—गीता १७।२४

३२४—विज्ञेय अव्ययात्मा, उपास्य अक्षरात्मा, एवं व्यवहार्य्य क्षरात्मा—निबन्धनी मार्गत्रयी का स्वरूप-समन्वय, तथा तालिका-माध्यमेन तत्स्पष्टीकरण—प्रयास—

अब यह स्पष्ट करने की भी आवश्यकता नहीं रह गई है कि, अव्ययोपासना वास्तव में उपासना नहीं है, अपितु एकप्रकार का ज्ञानयोग ही है। क्षरोपासना भी उपासना न होकर एकप्रकार की कर्म्मयोग ही है। 'उपासना', जिसे कि हम "भक्ति" कह सकते हैं, वह तो अक्षरोपासना ही है। यही कारण है कि, उपासनाकाण्ड के सम्बन्ध में यत्रतत्र श्रुतियों में 'अक्षर' को ही मूल लक्ष्य माना गया है। अव्यय को 'विज्ञेय' * माना है, क्षर को 'व्यवहार्य्य' माना है। इसप्रकार भक्तिमर्य्यादा की दृष्टि से आरण्यक-कैमूला, वेदयुगागतुता अक्षरोपासना ही प्रधान बनी रह जाती है।

*—"स आत्मा—अव्ययः—विज्ञेयः" (माण्डूक्योपनिषत् ८)।

१–सर्वोङ्कारः–(परब्रह्मोपासना–परोऽव्ययः) (भूतं–कालातीतम्)

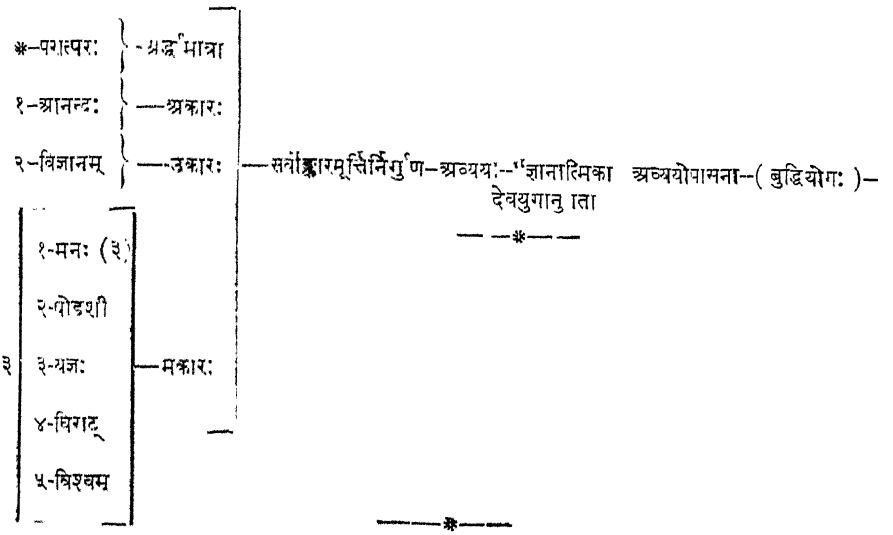

२–उद्गीथोङ्कारः–(परावरब्रह्मोपासना–परावरोऽक्षरः) (भवत्)

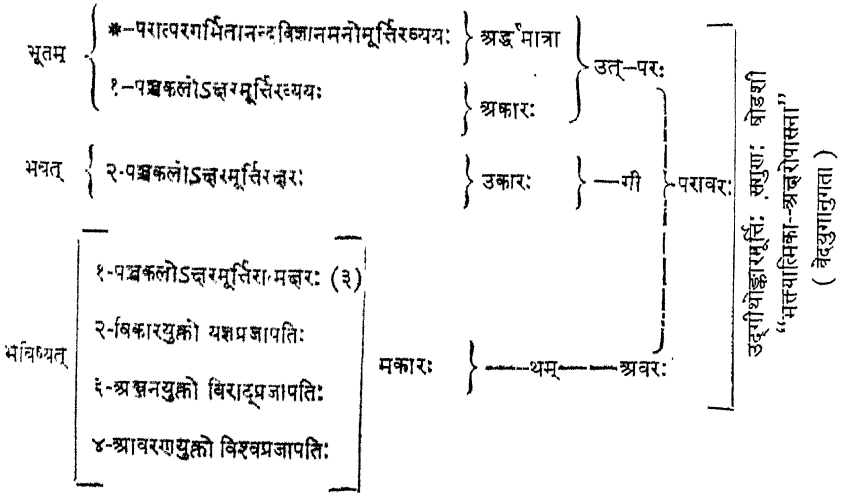

३--प्राणवोङ्कारः-(अवरब्रह्मोपासना-अवरः क्षरः) (भविष्यत्)

भूतम्	*--षोडशीप्रजापतिः	अर्द्धमात्रा	—प्रणवोङ्कारमूर्त्तिः सविकारो यज्ञप्रजापतिः कर्म्मात्मिका-उपासना (सर्वयोगः)--सर्व्वयु गानुगता''
भवत्	१--यज्ञप्रजापतिः	अकारः	
	२--विराट्प्रजापतिः	उकारः	
भविष्यत्	३--विश्वप्रजापतिः	मकारः	

*

३२५-ओङ्कारस्वरूप-विश्लेषक-श्रुतिसन्दर्भ—

इसी ओङ्कार--प्रपञ्च का रहस्य बतलाती श्रुति कहती है—

''ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं, तस्योपव्याख्यानं-भूतं, भवद्, भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव। सर्वं ह्येतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्'' (माण्डूक्योपनिषत्० २)।

१--''बुद्धियोगात्मिका उपासना का तात्पर्य्य है-अपने आपको अव्ययरूप मानते हुए आत्मकामभाव से शास्त्रीय ज्ञान-कर्म्म-अर्थ-मार्गों में लोकसंग्रहपूर्वक प्रवृत्त रहना। यहाँ न ईश्वर का स्मरण है×, न भजन है, न पूजन है, न आस्तिक्य है, न नास्तिक्य है, न अहिंसा है, न हिंसा है, न पाप है, न पुण्य है, न सत् है, न असत् है। कुछ नहीं है, सब कुछ है। द्वन्द्वातीता यही उपासना भगवत्-सम्मता है। यही ''निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!'' वाली निर्गुणोपासना है, इसी सर्वोच्च उपासना का रहस्य बतलाती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है--

''तद्वा अस्यैतत्-आत्मकामं, आप्तकामं, अकामं रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरं, एवमेवायं शारीर आत्मा (भूतात्मा) प्राज्ञे-

---

×[१] सो जाने जेहि देहि जनाई।
जानत तुम्हें तुमहि होइ जाई (तुलसी)॥
[२] जब मैं था-तब हरि नहीं, अब हरि-मैं नाहिं।
प्रेमगली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं॥
[३] वह अग़र ग़ैर कोई हो तो मुझे याद रहे।
मैं अग़र ग़ैर कोई हूँ तो वो मुझे भूले॥

नात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरम्। तद्वा अस्यैतत्–अतिच्छन्दः (असीमम्), अपहतपाप्मा (परिग्रहशून्यम्), अभयं (परात्परमयम्) रूपमशोकान्तरम्। अत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः, वेदा अवेदाः, यज्ञा अयज्ञाः। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति, भ्रूणहा अभ्रूणहा, पौल्कसोऽपौल्कस, श्चाण्डालोऽचाण्डालः, श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसो,ऽनन्वागतः पुण्येन, अन्वागतः पापेन तीर्णो भवति, ह्यि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति।

यद्वै तन्न पश्यति, न जिघ्रति, न रसयति, न वदति, न शृणोति, न मनुते, न स्पृशति, न विजानाति, पश्यन्--जिघ्रन्--विजानन्--वदन्--शृण्वन्--मन्वानो--विजानन्--द्रष्टव्यं- घ्रातव्यं--रसं--वक्तव्यं -श्रोतव्यं--मन्तव्यं--स्प्रष्टव्यं--विज्ञेयं न पश्यति, न जिघ्रति, न रसयति०। न हि द्रष्टुः, घ्राणस्य० विपरिलोपः। न तु तद्द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्, यज्जिघ्रेत्०। सलिल एको द्रष्टा अद्वैतो भवति। एष ब्रह्मलोकः सम्राट्! इति हैनं (विदेहजनकं) उवाच (याज्ञवल्क्यः)। **एषास्य परमा सम्पत्। एषोऽस्य परमो लोकः। एषोऽस्य परम आनन्दः। एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति**" ××××××। अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः, स एको ब्रह्मलोक आनन्दः। यश्च **श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहत, एष ब्रह्मलोकः सम्राट्! इति हैनमनुशशास**। **एतदमृतम**"।

३२६–श्रोत्रिय, अवृजिन, एवं अकाम पुरुषानुबन्धिनी उपासना का स्वरूप--समन्वय—

निर्गुण उपासना का क्या स्वरूप है?, उपास्य कौन है?, इसका अधिकारी कौन है?, एवं इसका परिणाम क्या है?, उक्त श्रुति से इन सब प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है। अमृतलक्षण अव्ययब्रह्म ही यहाँ उपास्य है। सर्वत्र समबुद्धि रखते हुए, द्वैतभावना का सर्वथा परित्याग करते हुए कर्त्तव्य कर्म्मों में अनन्यभाव से प्रवृत्त रहना ही उपासना का प्रकार है। श्रोत्रिय, अवृजिन, एवं अकाम व्यक्ति ही इस उपासना का अधिकारी है।

३२७ कर्म्मत्यागानुगामी व्याख्याताओं की भ्रान्ति का निराकरण—

यह बड़े ही खेद का विषय है कि, व्याख्याताओंने इस उपासना को कर्म्मत्याग-लक्षणा मानते हुए वस्तुतत्त्व का सर्वनाश ही कर डाला है। कहना न होगा कि, ऐसे व्याख्याता, एवं उनके ऐसे व्याख्यान सर्वथा कल्पित, अतएव दूर से ही प्रणम्य हैं। श्रुतिने–"अवृजिनः" कहा है। प्रवृज्या का नाम कर्म्मसन्यास माना गया है। श्रुति कहती है—जो कर्म्मसन्यास न कर कर्म्म में अकामभाव से प्रवृत्त

रहता है, वही इसका अधिकारी है, ।' इससे अधिक कर्म्म का समर्थन और क्या होसकता है ? । "सर्व-कर्म्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः" का भी यही रहस्य है ।

३२८-समदर्शनानुगत विषमवर्त्तन का मौलिक रहस्य, एवं भेदसहिष्णु-अभेदमूलक तात्त्विक अद्वैत-सिद्धान्त का स्वरूप-समन्वय—

कुछ एक महानुभाव यह भी अनुमान करते होंगे कि, "श्रुतिने जिस अद्वैतमार्ग का उपदेश दिया है, उस मार्ग का अनुगामी आत्मोपासक संसार के उपयोग की वस्तु नहीं रहती ।" कुछ एक कल्पना-रसिक यह भी कल्पना करते होंगे कि, इस योग के अनुयायी के लिए वर्णाश्रमधर्म्म का, तन्मूलक ब्राह्मणादि भेदों का कोई महत्त्व नहीं है ।" परन्तु श्रुतिस्वारस्य को देखते हुए ये सभी अनुमान सर्वात्मना ही असत्य हैं। श्रुतिने अद्वैतभावना का उपदेश देते हुए साथ साथ ही व्यवहारभेद की रक्षा भी सर्वात्मन ही की है । इसीलिए इस अधिकारी को "श्रोत्रिय" कहा है । 'श्रुति' से 'शास्त्र' अभिप्रेत है । शास्त्रीय-मर्य्यादा का पूर्णरूप से पालन करता हुआ यथाधिकारसिद्ध कर्म्म करता हुआ उपासक ही इस मार्ग का अधिकारी है, चाहे वह किसी वर्ग का हो ! सर्वत्र समदर्शन करते हुए, अपने अधिकारसिद्ध यजादि, युद्धादि, वाणिज्यादि, सेवादि वृत्तियों में प्रवृत्त रहने वाले ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र , सभी इस मार्ग से अभ्युदय-निःश्रेयसभाक् बन सकते हैं ।

३२९-आत्मपुरुषानुबन्धी-समदर्शन, तथा विश्वप्रकृत्यनुबन्धी 'विषमवर्त्तन' का लोकानुगत स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धना अद्वैतमूला-निर्गुणोपासना का संस्मरण—

'समदर्शन को 'समवर्त्तन' का स्थान देते हुए इसी को 'बुद्धियोग' मान लेना तो किसी भी दृष्टि से सुसङ्गत नहीं बन सकता । समवर्त्तन जहाँ सहजसिद्ध [प्रकृतिसिद्ध] है, वहाँ समदर्शन प्रयास साध्य है । शूद्र-ब्राह्मण-क्षत्रिय, सबका वर्त्ताव [व्यवहार-कर्त्तव्य-आचरण] समान होजाय, और इसीका नाम तात्त्विक ज्ञान हो, तो समवर्त्तन के अनुगामी पशुओं को भी तत्त्वज्ञानी ही मान लेना चाहिए । भेदरहित आचरण ही तो पशुओं का स्वाभाविक धर्म्म है । ऐसी जीवन्मुक्ति तो बिना प्रयास के ही प्राप्त है, और होसकती है । मानना पड़ेगा कि, गीता का बुद्धियोगात्मक ज्ञान, किंवा उक्त श्रुति का अभेदज्ञान दृष्टिमूलक ही है, व्यवहारमूलक नहीं । समझो अभेद, देखो अभेद, किन्तु व्यवहार में भेदमर्य्यादा का अनुगमन करो, यही वास्तविक अद्वैतमार्ग है । भेदसहिष्णु अभेद ही सच्चा अद्वैतमार्ग है, और यही सच्ची बुद्धियोग-निष्ठा, किंवा निर्गुण-उपासना है ।

३३०-आत्मानन्द पर नास्तिकों का आक्षेप, एवं तन्निराकरण—

"न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरं वेद" का तात्पर्य्य भी यह नहीं है कि, जैसा नास्तिक लोग कहा करते हैं । शाश्वत अद्वैतानन्द लक्षण-विदेहभाव का परिहास करते हुए श्रमणक कहा करते हैं कि, "उस आत्मनन्द को लेकर हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध होसकता है, जिसमें न भीतर का कुछ बोध है, न बाहिर का । संज्ञाशून्य, जडवत् बन जाना कौनसा पुरुषार्थ है" । कहना न होगा कि, ये मन्द-बुद्धि भी श्रुति के वास्तविक तात्पर्य्य से वञ्चित ही रह गए हैं ।

३३१-'संज्ञान' को प्रतिमूर्त्ति अद्वैतानन्दनिष्ठ महामानव, एवं 'न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' का समन्वय—

"न बाहिर का ज्ञान रहता, न भीतर का ज्ञान रहता" इसका तात्पर्य्य है-'बाहिर-भीतर का भेद हट जाता है', भेद ज्ञान, एवं तन्मूलक भेदानन्द (समृद्धानन्द-विषयानन्द) नहीं रहता। सर्वत्र आत्मज्ञान का प्रसार होजाता है। हृदयस्थ आत्मा, एवं बहिःस्थित विश्व, दोनों आत्मसम्पत् बन जाते हैं। इस आत्मसम्पत् के अनुगामी बुद्धियोगी ही तो "ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" कहलाते हैं। सच पूछा जाय, तो ये ही बाहिर-भीतर के मौलिक रहस्य को समझते भी हैं। हम सामान्य मनुष्य क्या जाने कि, बाहिर क्या है ?, और भीतर क्या है ?। उनमें संज्ञाभेद नहीं है, अपितु वे तो संज्ञा की प्रतिमूर्त्ति हैं।

३३२- विषयलोलुओं के विषयसुख का अनुभवक्षेत्र, एवं स्वानुभवैकगम्य अद्वैतात्मानन्द—

यह ठीक है कि, अस्मादादि विषयलोलुपों की भाँति उन्हें 'आनन्द' का अनुभव नहीं होता। और होना भी नहीं चाहिए। अनुभव का तो आगन्तुक आनन्द से ही सम्बन्ध है। 'हमें आनन्द का अनुभव होता है', इसका सीधा सा अर्थ है-'अभी हम दुःखी हैं। दुःखी को ही तो सुख का अनुभव होता है। भूखे मनुष्य को ही भोजन से तृप्ति का अनुभव होता है। जिसने बुद्धियोग के द्वारा तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करते हुए, बाहिर भीतर का भेद समझते हुए भेदवाद का परित्याग कर शाश्वत आनन्द प्राप्त कर लिया है, दूसरे शब्दों में जो स्वयं आनन्दमूर्त्ति बन गया है, उसे अनुभव क्यों होने लगा ?। क्यों उसकी शान्तवृत्ति उत्तेजित होने लगी ?। और क्यों नास्तिक लोग उसकी इस चरमा स्थिति का रहस्य समझने लगे ?। इति सर्वमेव समन्वितम्।

३३३-अद्वैतानन्दप्रवर्त्तिका 'सर्वोङ्कारोपासना' का संस्मरण—

तात्पर्य्य यही हुआ कि, आत्मकाममूलक, किंवा अकाममूलक, अद्वैतदर्शनानुगत, द्वैतवर्त्तनानुगत, अधिकारसिद्ध कर्त्तव्यकर्म्मानन्यतालक्षण बुद्धियोगात्मक मार्ग ही निर्गुण—अव्ययोपासना कहलाती है। एवं इसे ही हमने "सर्वोङ्कारोपासना" कहा है।

३३४-'समदर्शिनः', और-'विषमवर्त्तिनः' का स्वरूप-समन्वय—

"उस स्थिति पर पहुँचने के अनन्तर ब्राह्मण अब्राह्मण होजाता है" इसका तात्पर्य्य यही है कि,—ब्राह्मणत्व का अभिमान नहीं रहता। आत्मदृष्ट्या सब एक धरातल पर आजाते हैं। यही कारण है कि, जहाँ जहाँ भगवान् ने द्वन्द्वातीत इस योग का उपदेश दिया है, वहाँ वहाँ—"पण्डिताः समदर्शिनः (न तु समंवर्त्तिनः)"—"समं पश्यन् हि सर्वत्र" (न तु वर्त्तयन्)-"तत्त्वदर्शिनः" इत्यादि रूप से समदर्शनभाव के अभेद का ही स्पष्टीकरण किया है।

३३५-व्यावहारिक, प्रकृतिसिद्ध भेदवाद का स्वरूप-समन्वय—

परमार्थकोटि को जाने दीजिए। व्यवहार में भी सर्वत्र एक आत्मा समझते हुए भी हमें पिता-पुत्र-भ्राता-स्त्री-कन्या-माता-सेवक-आदि का भेद मानना ही पड़ता है। एवं सब के साथ भिन्न भिन्न ही व्यवहार

किए जाते हैं। प्रकृति के रहस्यपूर्ण सिद्धान्तों से सर्वथैव पराङ्मुख, अतएव वर्णभेदमूलक वर्त्तनभेद के अन्यतम शत्रुओं से हम पूँछते हैं कि, क्या आप इस भेदव्यवहार को हटा सकेंगे ?। यदि हाँ, तो कोई नेता, कोई सामान्य सभ्य, यह भेद क्यों ?। दीजिए न सबको समान आसन ?।

३३६-ऐन्द्रियक-व्यापार भेदनिबन्धन व्यावहारिक-भेद का समन्वय—

हम देखते हैं कि, आँख--कान--नाक--मुख सब में वह एक ही आत्मप्रत्यय काम कर रहा है। परन्तु क्या आँख का काम कान से, कान का नाक से, नाक का मुख से लिया जासकता है ?। आपको मानना पड़ेगा कि, समदर्शनमूलक भेदवर्त्तन ही प्रकृति का स्वाभाविक नियम है। और यही वास्तविकी बुद्धियोग-निष्ठा है।

३३७-अद्वैतनिष्ठ भगवान् वासुदेव कृष्ण के द्वारा प्रकृतिभेदनिबन्धन भेदव्यवहारों का अनुगमन—

रही बात उन अद्वैतवादियों की, जो इस मार्ग को कर्म्मत्यागपरक मानने का दुःसाहस करते हैं, उनके समाधान के लिए 'कृष्णवर्त्तन' ही पर्य्याप्त है। भगवान् कृष्ण अद्वैततत्त्व के अन्यतम उपासक थे। साक्षात् अद्वैत की प्रतिमा थे। आत्मकाम थे, आप्तकाम थे। परन्तु—"नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि" यही उनका लक्ष्य था। अद्वैत के इस महान् शिक्षकने किसप्रकार अधिकारसिद्ध कर्म्म का स्वयं भी पालन किया, एवं दूसरों को भी उस ओर प्रेरित किया, इस सम्बन्ध में कुछ भी वक्तव्य शेष नहीं है।

३३८-क्रियायोगात्मिका भक्ति का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

"क्रियायोगात्मिका भक्ति" का तात्पर्य्य है-अपने आप को अक्षरमूर्ति षोडशी ईश्वर का अंश मानते हुए, दोनों को अभेद समझते हुए, "योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्" यह भावना रखते हुए अपनी (अंशरूप जीवात्मा की, शारीरक-आत्मा की) कामना को ईश्वरकामना के साथ समन्वित करते हुए, निष्कामभाव से अधिकारसिद्ध कर्म्म में प्रवृत्त रहना"।

३३९-कर्त्तव्यनिष्ठात्मिका वास्तविक-भक्ति, एवं नामसंस्मरणपथ की आपातरमणीयता—

इस भक्तिरूपा सगुणोपासना में अश्वत्थमूर्ति ईश्वर का अक्षरधिया नित्य स्मरण (नित्यलक्ष्य) अपेक्षित है। भक्त का यह कर्त्तव्य होगा कि, अपने प्रत्येक कर्म्म के उपक्रम में वह उस ईशसत्ता का, ईशकामना का, ईशप्रेरणा का ही अनुभव करे। यहाँ स्मरण से "हरे राम हरे कृष्ण" यह नाम स्मरण अपेक्षित नहीं है। कर्त्तव्यनिष्ठ के लिए तो कर्म्म ही साक्षात् ईश्वर है। वह ईश्वरानुभूति के द्वारा अक्षर को लक्ष्य बनाता हुआ सदा अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा पर ही आस्था--श्रद्धा-पूर्वक प्रतिष्ठित रहेगा।

३४०-'योगात्मिका' भक्ति का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

उस 'ईश्वरानुभूति' के दो मार्ग है। एक मार्ग लोकसंग्रह का विरोधी है, एवं दूसरा मार्ग लोकसंग्रह का अनुगामी है। अधिकारी-भेद से भगवान् ने दोनों का ही समर्थन किया है। योग-

प्रक्रिया के द्वारा कायशुद्धि-पूर्वक धारणा--ध्यान समाधि, तीनों का एकत्र संयम करते हुए अपने मन को अन्तर्मुख बनाकर प्रत्यगात्मलक्षण ईश्वर में लीन कर देना एक प्रकार की योगात्मिका भक्ति है। मन्त्र--हठ-लय, योग के ये तीन अङ्ग इसी भक्ति में अन्तर्भूत हैं।

३४१-'राजयोगात्मिका' भक्ति का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

दूसरा मार्ग है-'कायक्लेशात्मक किसी योगमार्ग का अनुगमन न करते हुए अपनी बुद्धि, मन, इन्द्रियवर्ग, सबको अपने जीवात्मा की कामना से पृथक् समझते हुए ईश्वरकामना से इनका सञ्चालन मानते हुए कर्त्तव्यकर्म्मों में प्रवृत रहना'। यही राजयोगात्मक राजपथ (सरलमार्ग) है। यहाँ का ईश्वर उद्गीथोङ्कारानुभूति-लक्षण है। निम्न लिखित गीतावचनों से दोनों मार्गों का समर्थन गतार्थ बन जाता है —

३४२—(१)—मन्त्र-हठ-लय योगात्मक भक्तिमार्ग (योगमार्ग)—

१-योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥
-गीता ६।१०।

२-तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्जाद्योगमात्मविशुद्धये॥
-गीता ६।११।

३—समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥

४ प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्परः॥

५— युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥
—गीता० ६।१३,१४,१५।

१

३४३-(२)-राजयोगात्मक भक्तिमार्ग (भक्तिमार्ग)—

१—मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्-परायणः ॥
—गीता १८।६५।

२—अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
—गीता १०।८।

३—तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
—गीता १०।१०।

४—संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पित-मनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥
—गीता १२।१४।

५—य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥
—गीता १३।१३।

२

३४४—बृहदारण्यकोपनिषन्मूला उपासना का स्वरूप-दिग्दर्शन-

१—"स वा अयमात्मा (षोडशी) सर्वेषां भूतानामधिपतिः, सर्वेषां भूतानां राजा । तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिताः, एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वे प्राणाः, सर्वे लोकाः, सर्वे देवाः, सर्वाणि भूतानि, सर्वऽएतऽआत्मनः समर्पिताः" ।

२—"पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः ऽपुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्-इति । स वाऽअयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः । नैनेन किं चनानावृतम्, नैनेन किं चनानावृतम्" ।

३—स वा अयमात्मा ब्रह्म *। विज्ञानमयो मनोमयो वाङ्मयः—प्राणमयश्चक्षुर्म्मयः श्रोत्रमय आकाशमयो वायुमयस्तेजोमय आपोमयः पृथिवीमयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो हर्षमयोऽहर्षमयो धर्म्ममयोऽधर्म्ममयः सर्वमयः। तद्यदेदंमयोऽदोमय इति यथाकारी, यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो-भवति। पुण्यः पुण्येन कर्म्मणा भवति, पापः पापेन। अथो खल्वाहुः-काममय एवायं पुरुष इति; तदेष श्लोको भवति—

४—यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते॥
यदैतदनु पश्यति आत्मानं देवमञ्जसा।
"ईशानं" भूतभव्यस्य न तदा विचिकित्सति॥
यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्यऽआत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥
विरजः पर आकाशादज आत्मा महा ध्रुवः।
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः॥

५—तस्मादेवंवित् शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितो भूत्वात्मान्येवात्मानं पश्येत्। सर्वमेनं पश्यति। सर्वोऽस्यात्मा भवति, सर्वस्यात्मा भवति, सर्वं पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तरति, सर्वं पाप्मानं तपति, नैनं पाप्मा तपति। विपापो विजरो विजिघत्सोऽपिपासो ब्राह्मणो भवति, ए एवं वेद"। ÷

इति-"युगधर्म्मानुगता-विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे

"वेदयुगानुगता-सगुणोपासना"

नामक

द्वितीय अवान्तर-प्रकरण उपरत

?

———**———

* अव्ययस्तु—"एतदमृतम्" (बृ. आ. उप.) अनया श्रुत्या अमृतम्। षोडशीपुरुषस्तु "ब्रह्म"।

÷ प्रस्तुत-प्रकरण में प्रतिपादित उपासनाओं का प्रतिरूपविधा से भी सम्बन्ध माना जासकता है, जिस प्रतिरूप विधा का भक्तियोगपरिचा—उत्तरखण्डान्तर्गत "उपासनाभेदनिर्वचन" नामक प्रकरण के 'प्रतिरूपविधा' नामक परिच्छेद में प्रतिपादन हुआ है।

श्रीः

(३) पुराणायुगानुगता–सविकारोपासना से अनुप्राणित–पारिभाषिक परिलेख—

"विकारक्षरोपासना"-(यज्ञप्रजापतिः--उपेश्वरः)

कर्म्मानुगतं–कर्म्म–एव–उपासना–क्रियात्मिका (शुक्रम्)
सविकारोपासना–उपेश्वरोपासना–अर्थात्मिका
वाङ्मयी–उपासना अर्थात्मिका

—*—

सोऽयं विकारः–क्षरः { १–वाक्–सत्यः ; २–आषः– ; ३–अग्निः } यज्ञः } 'आत्मक्षरः'-तदिदं-क्षरविवर्त्तम्–वाग्विवर्त्तमेव

स एव-अर्थात्मकेन-कर्म्मणा-अन्वेष्टव्यः

—*—

'अन्वेषणं'-नाम-शुक्रस्वरूपमीमांसनम्
तत्पर्य्यालोचनं वा
सैषा-अर्थात्मिका-उपासना-कर्म्मैव
तृतीया
३

—★—

(सोऽयं--पुराणायुगः--तृतीयः--त्रेतायुगात्मकः)

१–शुक्रम्
२–आत्मक्षरः
३–अर्थः
४–वाक्(अमृतशुक्रमयी } –तदेतत्सर्वं–वागेव, आत्मक्षर–एव सविकारः "विकारांश्च विद्धि प्रकृतिसम्भवान्" (विकृतिर्हि-आत्मक्षरः)

———*———

श्रीः

पुराणयुगानुगत-सविकारोपासनामार्ग

चतुर्थ-प्रकारणान्तर्गत-तृतीय-अवान्तर-प्रकरण

३

———**———

३४५-'नर्म्मदाकङ्करात्मक-शङ्कर' -न्यायानुबन्धी भक्तिपथ की सर्वव्यापकता, एवं उपासनात्मिका भक्ति के चार-विवर्त्तों का संस्मरण—

"नर्म्मदा के सभी कङ्कर शङ्कर" इस लोकोक्ति के अनुसार षोडशी-प्रजापति के सभी पर्व तद्रूप, अतएव उपास्य, इस सिद्धान्त में कोई विप्रतिपत्ति नहीं की जासकती । पूर्वप्रकरण में पुराणयुगानुगता उपासना के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, आत्मेश्वर से सम्बन्ध रखने वाली यह उपासना कर्म्म-रूपा, किंवा धर्म्मयोगात्मिका ही है । एवं वहीं यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, इस उपासनाकाण्ड के निष्कामयज्ञकर्म्मोपासना, नैष्कर्म्यकर्म्मोपासना, आधिकारिक-चेतनजीवोपासना (अवतारोपासना), आधिकारिक-अचेतनजीवोपासना (सूर्य्य-चन्द्रादि-प्रकृतिपर्वोपासना), ये चार विवर्त्त हैं । दूसरे शब्दों में-कर्म्मप्रधान आत्मेश्वरमूर्त्ति विक्रम-परिग्रह-युक्त यज्ञप्रजापति की उपासना चार प्रकार से होसकती है ।

३४६-परमप्रजापत्युपासनात्मिका प्रणवोङ्कारमूला उपासना, एवं प्रजापति के बल्शात्मक स्वरूप का संस्मरण—

इस उपासना का मूल धरातल 'प्रणवोङ्कार' है, जैसाकि पूर्वप्रकरण के उपसंहार में स्पष्ट किया जाचुका है । विज्ञानदृष्टि के अनुसार इस उपासना को "परमप्रजापत्युपासना" भी कहा जासकता है । षोडशीपुरुष को हमनें 'अश्वत्थ' कहा है । इस अश्वत्थपुरुष को ही 'मायी ईश्वर' कहा जाता है । इस की एकसहस्र बल्शा मानीं गई हैं । वही प्राजापत्यबल्शा "पञ्चपुण्डीरा" कहलाती है । इसकी एक एक बल्शा में स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-पृथिवी-चन्द्रमा, ये पाँच पाँच पुण्डीर (पर्व) हैं । इस दृष्टि से उस से उद्गीथोङ्कारमूर्त्ति ईश्वर प्रजापति के शरीर में ऐसी पञ्चपुण्डीरात्मिका सहस्र संस्थाएँ होजातीं हैं ।

३४७-सहस्रबल्शेश्वरानुगता षोडशीपुरुषोपासना, एवं एकबल्शेश्वरानुगता यज्ञपुरुषोपासना—

सहस्र-बल्शात्मक अश्वत्थेश्वर की उपासना षोडशी प्रजापति की उपासना कहलाएगी, एवं पञ्चपुण्डीरात्मक बल्शाप्रजापति की उपासना यज्ञप्रजापति की उपासना कहलाएगी । सम्पूर्ण अश्वत्थ,

एवं अश्वत्थ की एक शाखा, यही भेद इन दोनों उपासनाओं का मौलिक भेद। इस दृष्टि से महामायामय अश्वत्थेश्वर महेश्वर कहलाएगा, योगमायामय बल्वेश्वर उपेश्वर कहलाएगा, एवं उपेश्वरोपासना ही यज्ञोपासना कहलाएगी।

३४८–सप्तवितस्तिकायात्मक–एकबल्वेश्वरात्मक–उपेश्वरप्रजापति से अनुप्राणिता पौराणिकी उपासना—

यही उपेश्वर पुराणों में 'सप्तवितस्तिकाय' नाम से प्रसिद्ध है। यही एक ब्रह्माण्ड है। अश्वत्थेश्वर में ऐसे ऐसे सहस्र ब्रह्माण्ड, किंवा सहस्र उपेश्वर हैं—(जा के रोम कोटि ब्रह्मण्डा)। श्रुति में जिन इन ब्रह्माण्डों का सूत्ररूप से निरूपण हुआ है, पुराणने बड़े विस्तार के साथ इन का स्वरूप–विश्लेषण किया है। पुराण का सृष्टिक्रम प्रधानरूप से अव्यक्त स्वयम्भू से ही आरम्भ होता है। इसीलिए इस उपासना को हमने पौराणिक उपासना कहा है।

३४९–यज्ञकर्म्मोपासना, आत्मकर्म्मोपासना, अवतारोपासना, प्रकृतिपर्वोपासना–चतुष्टयी का संस्मरण—

इस का यह तात्पर्य्य नहीं है कि, श्रुति में यज्ञप्रजापति की उपासना का विधान न हीं है। है, और और अवश्य है, जैसाकि पूर्व प्रकरण में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है। वेद का ब्राह्मणभाग ही इस यज्ञोपासना का समर्थक है। साथ ही स्वयं वेद ने भी यज्ञोपासना के उक्त चारों विवर्त्तों का भलीभाँति स्पष्टीकरण कर दिया है। यज्ञकर्म्म–आत्मकर्म्म–अवतारोपासना-प्रकृतिपर्वोपासना, चारों का ही वहाँ विशदरूप से निरूपण हुआ है। इन चारों में अवतारोपासना में थोड़ी विशेषता है।

३५०–प्राकृतिक, मानुष, एवं उभय-विध अवतारों का नाम–स्मरण—

अवतार प्राकृतिक, एवं मानव, भेद से दो भागों में विभक्त हैं। एवं कुछ अवतार ऐसे भी हैं, जो प्राकृतिक भी है, तथा मानुष भी हैं। कूर्म्म–वराह–वामनादि अवतारों का स्वयं वेद में बड़े विस्तार के साथ निरूपण हुआ है। एवं इन के मानुषभावों का, तथा रामकृष्णादि विशुद्ध मानुष अवतारों का पुराण में उपबृंहण हुआ है। हाँ, तो पहिले हमें यह देखना है। कि, वेदने इन चारों उपासनापर्वों का किन शब्दो में अभिनय किया है?।

३५१-पुराणानुगत आक्षेप, और तन्निराकरण–प्रयास—

पौराणिक चारों पर्व सुप्रसिद्ध हैं। एवं तत्तत् पुराण हीं इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए पर्य्याप्त हैं। आक्षेप है पुराण की प्रामाणिकता पर। इसीलिए इस प्रकरण में प्रधानरूप से उन आक्षेपों का निराकरण कर पुराण की प्रामाणिकता सिद्ध कर देना हीं मुख्य निरूपणार्थ माना जायगा।

३५२–विश्व की अव्यक्तावस्था, तदनुप्राणिता प्रथमा स्थिति, एवं अव्यक्त-स्वयम्भू-प्रजापति के काम–तपः–श्रम से 'सुवेदात्मक' 'स्वेद–वेद' का आविर्भाव—

जब संसार में कुछ न था, अथवा संसार कुछ न था, तो उस समय केवल अव्यक्त स्वयम्भू ही विद्यमान थे। उन्होंने देखा कि, अपन एकाकी रमण नहीं कर सकते। इस रमणभाव के लिए अपन अपने जैसा

ही कोई दूसरा और उत्पन्न करें। इसी कामना से प्रेरित होकर स्वयम्भू ने तप, एवं श्रम किया। इस परिश्रम और श्रम से प्रजापति के ललाट पर पसीने निकल आए। यही पसीना आगे जाकर स्वेदवेद कहलाता हुआ 'ऋग्वेदवेद' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही भृग्वङ्गिरोमय आपोलोक कहलाया।

३५३–आपोमय परमेष्ठी से अनुप्राणित जाया–धारा–आपः–बलत्रयी की अभिव्यक्ति—

आगे जाकर प्रजापति की कामना से इस द्वितीयरूप आपोमय परमेष्ठी में **जाया–धारा–आपः**, इन तीन बलों का विकास हुआ। 'जायाबल' से परमेष्ठी प्रजापति सब के 'जनक' बने। 'धारा-बल' से सब को 'धारण करने वाले' बने। एवं 'आपोबल' से सर्वत्र 'आप्त (व्याप्त)' होगए। (गोपथ० ब्रा० पू० १।१।)।

३५४–स्वयम्भू की द्वितीया प्रतिमा, इरामय 'सरिर' तत्त्व की सलिलता, एवं श्वेतवराह के द्वारा हिरण्मयाण्ड का आविर्भाव—

परमेष्ठी के अङ्गिराभाग से आगे जाकर 'हिरण्मयाण्ड' का विकास हुआ। यही हिरण्मयाण्ड पुञ्जीभूत अवस्था में आकर कालान्तर में 'सूर्य्य' रूपसे प्रकट हिरण्मयाण्ड हुआ, यही उस स्वयम्भू-प्रजापति की दूसरी 'प्रतिमा' कहलाई। यही सूर्य्य विश्वान्धकार को निवृत्त करने वाला प्रमाणित हुआ—"प्रादुरासीत्तमोनुदः"। आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में बुद्बुद्रूप से उत्पन्न सूर्य्य का अङ्गिरोऽग्नि आरम्भ में ऋतरूप होने से 'इरामय' बनता हुआ 'सरिर', किंवा 'सलिल' रूप ही था। परन्तु श्वेतवराहवायु के संवरण से क्रमशः घन भाव को प्राप्त होते हुए ये ऋताग्निकण अण्डरूप में परिणत होगए। यही **हिरण्मयाण्डलक्षण, सौरब्रह्माण्ड**, किंवा **सौर जगत्** कहलाया। विज्ञानभाषा में इसे ही-'**सम्वत्सर**' कहा गया। सर्वत्सरभाव के कारण ही यह सम्वत्सर कहलाया।

३५५–वसुधानकोशात्मक दहरोत्तरसम्बन्ध से समन्वित पञ्चोपेश्वरमूर्त्ति एकबल्शेश्वर-प्रजापति का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय—

इस **सम्वत्सरात्मक सौर प्रजापति** के काम–तपः–श्रम से आगे जाकर **अस्त्वण्डलक्षण पृथिवी का विकास हुआ**। गायत्राग्निमयी यही पृथिवी उस स्वयम्भू प्रजापति की **तीसरी प्रतिमा** कहलाई। आगे जाकर पार्थिव सम्वत्सर के प्रवर्ग्यरूप **आत्रेयभाग से यशोऽण्डरूप चान्द्रमण्डल** का विकास हुआ। यही उस की **चौथी प्रतिमा** कहलाई। इसप्रकार प्राणत्रयात्मक स्वयम्भू प्रजापति के ही मौलिक काम तपः श्रम से क्रमशः **आपोमय परमेष्ठी, वाङ्मय सूर्य्य, अन्नादमयी पृथिवी, अन्नमय चन्द्रमा**, दूसरे शब्दों में **परमेष्ठी-इन्द्र–अग्नि–सोम**, ये चार प्रतिमाप्रजापति उत्पन्न होगए। इन पाँचों प्रजापतियों का परस्पर **वसुधानकोशात्मक दहरोत्तरसम्बन्ध स्थापित हुआ। अर्थात् स्वयम्भू की महिमा में परमेष्ठी, इस की महिमा में सूर्य्य, इस की महिमा में पृथिवी, एवं पार्थिव महिमामण्डल में समहिम चन्द्रमा प्रतिष्ठित हुआ।** इन पाँचों के ये महिमामण्डल विज्ञानभाषा में क्रमशः–**परमाकाश (स्वायम्भुव), महासमुद्र (पारमेष्ठ्य), सम्वत्सर (सौर), आन्द (पार्थिव), नक्षत्रं (चान्द्र)**, इन नामों से सिद्ध हुए।

३५६–स्वयम्भूप्रजापति की चार प्रतिमाएँ, तदनुगत विश्वसम्पत्तिसंग्राहक–'सर्वहुतयज्ञ', एवं स्वयम्भू–प्रजापति की निर्लेपता—

स्वयम्भूने चार 'प्रतिमाएँ' उत्पन्न तो करलीं। परन्तु अभी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। अभी वे पूर्णभाव को प्राप्त नहीं होसके। इस पूर्णभाव की प्राप्ति के लिए उन्होंने "सर्वमेध" नामक "विश्वजित्" यज्ञ आवश्यक समझा, जो कि यज्ञ आगे जाकर 'सर्वहुत' नाम से प्रसिद्ध हुआ। उन्होंने पहिले अपने आप को इन चारों पर्वों में आहुत कर दिया। इस आत्माहुति का परिणाम यह हुआ कि, ये चारों इस में आहुत होगए। इस पारस्परिकी सर्वाहुति से जो एक सर्वरूप अपूर्व 'विश्वयज्ञ' प्रकट हुआ, वही "सर्वमेध"–'विश्वजित'–'सर्वहुत' यज्ञ कहलाया। एवं इसी यज्ञ के प्रभाव से स्वयम्भू सब का आत्मा बन गया, एवं सब इस के आत्मा बन गए। इसी पारस्परिक सद्भाव से पञ्चमूर्त्ति बने हुए स्वयम्भूने यह विश्ववैभव प्राप्त कर लिया। क्योंकि स्वयम्भूने आत्मसमर्पण–पूर्वक ही यह विश्वविभूति प्राप्त की है, इस में उन का वैय्यक्तिक स्वार्थ नही है, अतएव इसके भोक्ता बनते हुए भी स्वयम्भू निर्लेप है।

३५७–निष्कामभावमूला आत्मसमर्पणात्मिका यज्ञप्रक्रिया, तन्निबन्धन अबन्धन–कर्म्म, एवं यज्ञोपासना का इष्टकामधुक्त्व—

उन्हीं आदिप्रजापति की ओर से तदंशभूत हमें यह आदेश प्राप्त हुआ कि 'यदि तुम विश्ववैभव प्राप्त करना चाहते हो, साथही निर्लेप भी रहना चाहते, तो अपने वैय्यक्तिक स्वार्थ को छोड़ते हुए 'लोकयज्ञ' की सिद्धि के लिए (सर्वभूतहितरति को प्रधान लक्ष्य बनाते हुए) निष्कामभाव से ही अपने आपको लोकाग्नि में आहुत करदो। तुम्हारी इस आत्माहुति से लोक तुममें आहुत होजायँगे। विश्ववैभव प्राप्त होजायगा। इसप्रकार निष्कामभावमूला–आत्मसर्पणलक्षणा मेरी यह यज्ञप्रक्रिया तुम्हारे लिए "इष्टकामधुक्" बन जायगी। और यही उपासना यज्ञेश्वर की सच्ची उपासना कहलाएगी। तुम्हें चाहिए कि, वेदोक्त यज्ञकर्म्म का इसी समर्पणभाव से अनुष्ठान करो। इसी श्रौत आदेश का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

—गीता

३५८–सर्वहुतयज्ञमूर्त्ति परमप्रजापति से अनुप्राणिता यज्ञोपासना, एवं यज्ञकर्म्मों का प्रधानत्व—

पाठकों को स्मरण होगा कि, यज्ञप्रापति से सम्बन्ध रखने वाली इन चार उपासनाओं में से हमनें 'यज्ञोपासना' को ही सर्वोत्तम बतलाया था। कारण इस का यही है कि, इस उपासना का प्रधान लक्ष्य सर्वहुतयज्ञमूर्त्ति वह परमप्रजापति है, जिसके कि परमाकाशात्मक महिमामण्डल परमेष्ठी आदि–चारों प्रतिमाप्रजापति प्रतिष्ठित हैं। परमभावोपासना ही इस का लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में विश्वाभ्युदय ही

इस उपासना का मूल धरातल है, और यही इसकी सर्वोत्तमता है। इस उपासना में, और पूर्व की ईश्वरोपासना में थोड़ा ही अन्तर रह जाता है। वहाँ यज्ञकर्म्म में अभिनिवेश नहीं है, वहाँ सभी कर्म्म यज्ञात्मक है। परन्तु इस उपासना में वेदोक्त (ब्राह्मणोक्त) यज्ञकर्म्म ही प्रधान लक्ष्य है।

३५९—भक्त नृपतियों की यज्ञेश्वरोपासना, एवं कर्म्मठ-ब्राह्मणों यज्ञकर्म्मानुगति का समतुलन, एवं तन्निबन्धना विभिन्ना उपासना—

इसीलिए उसके प्रधान अनुयायी **भक्त नृपतिगण** बनते हैं, एवं इसके प्रधान-अनुयायी **कर्म्मठ ब्राह्मण** बनते हैं। सन्ध्योपासना, बलिवैश्वदेव, तर्पण, स्वाध्याय, आदि अवान्तर जितनें भी यज्ञ हैं, वे सब इसी यज्ञोपासना में अन्तर्भूत हैं। इन सब अवान्तर यज्ञों की उपासना का मौलिक रहस्य गीताभाष्य में स्पष्ट होने वाला है। इस उपासना के सम्बन्ध में यह तो सदा लक्ष्य में रखना ही चाहिए कि, यदि **निष्कामभाव है**, तो **यज्ञोपासना है**, तभी **सर्वहुतयज्ञ की सिद्धि है**। यदि सकामभाव है, तो यह उपासना यज्ञोपासना न रह कर **भूतोपासना** बन जाती है, और वह काममयी यज्ञोपासना त्रिगुणात्मिका बनती हुई द्वन्द्वमूलक शोक का ही कारण बन जाती है। साथ ही भगवान् भी इसे निकृष्ट ही समझते हैं—"**निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !**"।

३६०—कामजनिता त्रुटि का सन्धाता प्रणवोङ्कार, एवं ओङ्कारमूला—उपासना का स्वरूप-समन्वय—

निष्कामभाव भी यद्यपि **निस्त्रैगुण्य** की प्राप्ति के लिए एक साधन है। परन्तु केवल इसी साधन से काम नहीं चलसकता। निर्बल भूतात्मा में कामभाव का समावेश सर्वथा रोक दिया जाय, यह असम्भव-प्राय ही है। इसके लिए हमें अवश्य ही किसी अन्य '**भक्तिबल**' का ही आश्रय लेना पड़ेगा, और वह आश्रयभूमि बनेगा वही **प्रणवोङ्कार**। प्रणवोङ्कार को मूलमें रखते हुए निष्कामभाव से यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त रहने वाला यदि स्वाभाविक कामाकर्षण से कभी कामभाव का अनुगामी बन भी जायगा, तो पूर्ण ओङ्कार इस त्रुटि को सँभाल लेगा, जैसाकि पूर्वमें स्पष्ट किया जाचुका है। (देखिए कर्म्मयोगपरीक्षाखण्ड पृष्ठ सं० २९८ से ३०४ पर्य्यन्त)।

३६१ अविच्छिन्न—प्रणवधरातल के द्वारा यज्ञविच्छेद का सन्धान, एवं विरिष्टसन्धाता प्रणवोङ्कारप्रजापति—

अविच्छिन्न प्रणवधरातल पर प्रतिष्ठित कर्म्म कामसमावेश से छिन्न बना हुआ भी अवश्य ही अविच्छिन्न बन जाता है। इसलिए **ओङ्काररूप परमप्रजापति** का सतत अनुध्यान करते हुए, उपक्रमोपसंहार में प्रणवोच्चारण करके ही यजादि कर्म्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए। यही तीसरी **प्रणवोङ्कारोपासना यज्ञेश्वरोपासना**, किंवा **उपेश्वरोपासना** कहलाएगी। **प्रणवेश्वर** ही शोकभावविमुक्ति के कारण बनेंगे, जैसाकि निम्नलिखित गोपथश्रुति से स्पष्ट है—

"चतुर्णां वेदानामानुपूर्वेण—"ओं-भूर्भुवः स्वः" इति व्याहृतयः। असमीक्षप्रवहितानि श्रूयन्ते + + +। तस्मादृग्यजुः सामान्यपक्रान्ततेजांस्यासन्। तत्र महर्षय-

परिदेवयाञ्चक्रिरे–महच्छोकभयं प्राप्ताम्मः । न चैतत् सर्वैः समभिहितम् । ते वयं भगवन्तमेवोषधावामः । सर्वेषामेव शर्म्म भवान् ! इति । ते तपस्युक्त्वा तूष्णीमतिष्ठन् । + + + । स एभ्य उमनीय प्रोवाच–मामिकामेव व्याहृतिमादितः, आदितः, कृणुध्वम् । × × × । तथाह तथाह भगवन्निति प्रपेदिरे । आप्याययंस्ते, तथा वीतशोकभया बभूवुः । **तस्माद् ब्रह्मवादिन ओङ्कारमादितः कुर्वन्ति**" * ।

—गोपथब्राह्मण पूर्व० १।२८।

३६२–प्रणवोङ्कारप्रजापति की तीन महाव्याहृतियों का संस्मरण, एवं प्रणव की प्रणवता–

अब इस सम्बन्ध में प्रश्न यह शेष रह जाता है कि, जिसप्रकार सर्वमूलक आनन्द–विज्ञान–मनोमय अव्ययोङ्कार को सर्वोङ्कार कहा जाता है, उत्–गी–थम्–रूप अक्षरात्मक षोडशीप्रजापति को उद्गीथोङ्कार कहा जाता है, वैसे आत्मक्षरमूर्त्ति यज्ञप्रजापति को (उपेश्वर को–प्रतिमाप्रजापति गर्भित सर्वहुत यज्ञमूर्त्ति परमप्रजापतिलक्षण स्वयम्भूप्रजापति को) किस हेतु से 'प्रणवोङ्कार' कहा जाता है ? । उत्तर–पूर्वोक्त व्याहृति से ही स्पष्ट है । व्याहृति का स्वरूप है—ओं भूः भुवः स्वः ।

३६३–महाव्याहृतित्रयीमूलक त्रिवृद्भावापन्न–नवलोकात्मक त्रैलोक्य का स्वरूप–समन्वय—

सन्ध्या से परिचित द्विजाति पाठक यह जानते हैं कि, "भूः–भुवः–स्वः–महः–जनत्–तपः सत्यम्" इन सात लोकों को प्रजापति की सप्त व्याहृति (नाम) माना जाता है, एवं स्वयं प्रजापति इस सप्तक के ऋषि (मूलाधार प्राण) माने गए हैं–(सप्तव्याहृतीनां-प्रजापतिर्ऋषिः) । 'त्रैलोक्य-त्रिलोकी-विज्ञान' के अनुसार ये सातों लोक भूः–भुवः–स्वः इन तीन महाव्याहृतियों में ही अन्तर्भूत हैं । "त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः" इस ब्राह्मणश्रुति के अनुसार ये तीनों ही लोक त्रिवृद्भाव के कारण तीन तीन भावोंमें विभक्त हैं । इसी दृष्टि से तीन माता (पृथिवी–भूः) तीन पिता (द्यौ–स्वः) होजाते हैं, जैसाकि 'तिस्रो मात्तॄस्त्रीन् पितॄन्०" इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है । एवं "द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुग्ने भ्रातर्वसवो मृडतानः" ÷ के अनुसार पृथिवी को माता कहा जाता है, एवं द्यु पिता नाम से प्रसिद्ध है ।

---

* तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥

—गीता ७।२४।

÷ द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुग्ने भ्रातर्वसवो मृडता नः ।
विश्व अदित्या आदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म्म बहुलं वि यन्त ॥

—ऋक्सं० ६।५१।५।

३६४-त्रैलोक्य-त्रिलोकी-रूपा संयती, क्रन्द्रसी, रोदसी-नाम की महात्रिलोकी का संस्मरण—

जिस पर हम प्रतिष्ठित हैं, वह 'भू' है, सूर्य्य स्व, है, मध्यप्रदेश भुवः है, ये ही क्रमशः पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः हैं। यही पहिली रोदसी त्रिलोकी है। पृथिवी-चान्द्र-अन्तरिक्षगर्भित सौर मण्डल भू है, परमेष्ठी स्वः है, मध्यप्रदेश भुवः है, यही दूसरी क्रन्दसी त्रिलोकी है। पृथिवी-चन्द्र-सूर्य्य-अन्तरिक्ष गर्भित परमेष्ठी भूः है, स्वयम्भू स्वः है, मध्यप्रदेश भुवः है। यही तीसरी संयती-त्रिलोकी है।

३६५-नवलोकानुगता सप्तलोकविभूति का तालिका-माध्यम से स्वरूप-समन्वय—

इस दृष्टि से यद्यपि तीनों त्रिलोकियों के ९ लोक होने चाहिएँ थे। परन्तु क्रन्दसी का भूलोक रोदसी बन जाता है, संयती का भूलोक क्रन्दसी बन जाता है। अतः ९ के स्थान में सात ही लोक रहजाते है। यही सप्तवितस्तिकायात्मक स्वयम्भू प्रजापति, किंवा यज्ञेश्वरप्रजापति, किंवा उपेश्वरप्रजापति है। परिलेख से इस लोकविभूति का भलीभाँति स्पष्टीकरण होजाता है।

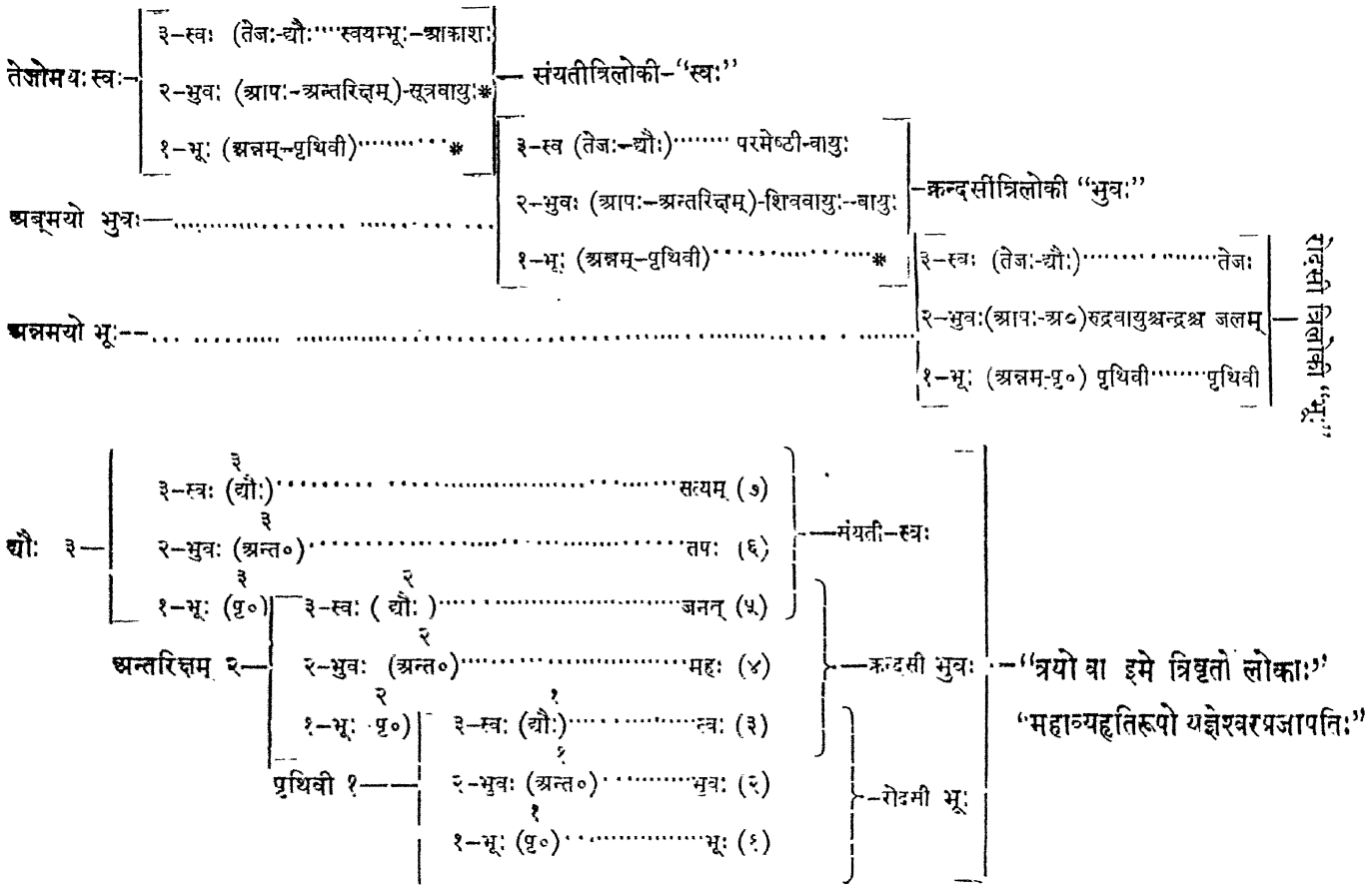
तेजोमयः स्वः—
३–स्वः (तेजः-द्यौः·····स्वयम्भूः–आकाशः
२–भुवः (आपः-अन्तरिक्षम्)-सूत्रवायुः*
१–भूः (अन्नम्–पृथिवी)·····*
— संयतीत्रिलोकी–"स्वः"
अब्मयो भुवः—
३–स्व (तेजः–द्यौः)····· परमेष्ठी-वायुः
२–भुवः (आपः–अन्तरिक्षम्)-शिववायुः–वायुः
१–भूः (अन्नम्–पृथिवी)·····*
–क्रन्दसीत्रिलोकी "भुवः"
अन्नमयो भूः—
३–स्वः (तेजः-द्यौः)·····तेजः
२–भुवः(आपः-अ०)रुद्रवायुश्चन्द्रश्च जलम्
१–भूः (अन्नम्-पृ०) पृथिवी·····पृथिवी
रोदसी त्रिलोकी "भूः"
द्यौः ३—
३–स्वः (द्यौः)·····सत्यम् (७)
२–भुवः (अन्त०)·····तपः (६)
१–भूः (पृ०)
—संयती–स्वः
अन्तरिक्षम् २—
३–स्वः (द्यौः)·····जनत् (५)
२–भुवः (अन्त०)·····महः (४)
१–भूः पृ०)
—क्रन्दसी भुवः
पृथिवी १—
३–स्वः (द्यौः)·····स्वः (३)
२–भुवः (अन्त०)·····भुवः (२)
१–भूः (पृ०)·····भूः (१)
–रोदसी भूः
–"त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः"
"महाव्यहृतिरूपो यज्ञेश्वरप्रजापतिः"

३६६—सप्तवितस्तिकायात्मक-पञ्चोपेश्वरमूर्त्ति-एकबल्शेश्वर सर्वाहुतियज्ञात्मक परम-प्रजापति के त्रेताग्नि का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं महर्षि दीर्घतमा के द्वारा तत्संस्तुति—

सप्तवितस्तिकायात्मक स्वयं प्रजापति इस सर्वहुत यज्ञ के यजमान हैं, स्वयं ही वे आहुतिद्रव्य हैं, स्वयं ही यज्ञवेदि हैं, स्वयं ही भूः-भुवः-स्वः रूप से यज्ञिय त्रेताग्नि हैं। उन्हीं का द्यौदसी-त्रिलोकीरूप "भूः" पर्व **गार्हपत्याग्नि** है, अन्तरिक्षी-त्रिलोकीरूप "भुवः" पर्व **धिष्ण्याग्नि**, किंवा **अपणाग्नि** है, एवं संयती-त्रिलोकीरूप "स्वः" पर्व **आहवनीयाग्नि** है। त्रेताग्नियज्ञ के विरिष्ट का संधान त्रयीमूर्त्ति उसी परमप्रजापति-धरातल (प्रणवधरातल) से होता रहता है। इसी संधान को यज्ञपरिभाषा में **"यज्ञविरिष्ट-संधान"** कहा जाता है। सप्तलोकात्मक यह विश्वयज्ञ उसी परमप्रजापति में अर्पित है, और वह इस में अर्पित है। इन का भार उस में, उस का भार इस में, इस समतुलन प्रक्रिया से वह नित्य श्रम करता हुआ भी, इस सप्तलोकात्मक विश्व का वहन करता हुआ भी (विश्वम्भर बनता हुआ भी) क्लान्त नहीं होता। महर्षि दीर्घतमाने इसी स्थिति का इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—

१—त्रिंशो मात्रू स्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तथौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम् ॥

२—पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्य्यते सनाभिः ॥

३—अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण।
कवीयमानः क इह प्रवोचदेवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ॥

४—ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्येपराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥

५—इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥

—ऋक्संहिता १।१६४।१०,१३,१८,१६,३५ वाँ मन्त्र,

३६७ दृष्टिभावनिबन्धना पृथिवी-मूला-सृष्टिविद्या से अनुप्राणित प्रणवोङ्कार का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

दृष्टिमूलप्रधाना **'पृथिवीमूला सृष्टिविद्या'** के अनुसार भूः उपक्रम में है, स्वः उपसंहार में है। (देखिए शत० ६।१।१।६।)। 'भूः' **ओंकार का प्रस्ताव-स्थानीय पहिला 'म'-कार पर्व है**। 'भुवः' 'उकार' स्थानीय दूसरा पर्व है। 'स्वः' 'अकार' स्थानीय तीसरा पर्व है। तीनों मृत्युमय पर्व उसी **अर्द्धमात्रारूप अवारपारीण स्वयम्भू प्रजापति पर प्रतिष्ठित हैं**। क्योंकि इस ओङ्कार का

प्रस्ताव-स्थानीय 'भू' से उत्थान है, अतएव इसे "प्रणवोङ्कार" कहा जाता है। इसे लक्ष्य में रख कर निष्कामभाव से यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त रहना ही गीता का निष्काम-कर्म्मयोग है। और यही यज्ञ स्वरोपासना का पहिला पर्व है।

३६८-प्रणवोङ्कार से समन्वित-'आत्मभैषज्ययज्ञ' का स्वरूप-दिग्दर्शन—

ओङ्कार के सम्बन्ध से क्रियमाण यह आधिभौतिक यज्ञ 'आत्मभैषज्य' यज्ञ बनता हुआ आध्यात्मिक यज्ञ बन जाता है। यही यज्ञार्थकर्म्म कहलाया है, इसी को भगवान् ने 'अबन्धनकर्म्म' कहा है। एवं श्रुति ने भी इसी पक्ष का समर्थन किया है—

"अध्यात्ममात्मभैषज्यमात्मकैवल्यमोङ्कारः। आत्मानं निरुध्य सङ्गममात्रीं भूतार्थ-चिन्तां चिन्तयेत्। अतिक्रम्य वेदेभ्यः सर्वपरमाध्यात्मफलं प्राप्नोतीत्यर्थः। सवितर्क-ज्ञानमयम्। इत्येतैः प्रश्नैः प्रतिवचनैश्च यथार्थं पदमनविचिन्त्य प्रकरणज्ञो हि प्रबलो विषयी स्यात्"।

—गोपथब्राह्मण पू० १।३०।

३६९ गोपथ के द्वारा प्रणव की प्रणवता का समन्वय—

अन्त में उक्त सर्वमेध यज्ञ की प्रणवपूर्वता का स्पष्टीकरण करते हुए वेदभगवान् कहते हैं—

"स यदोंपूर्वान् मन्त्रान् प्रयुङ्क्ते, आसर्वमेधादेते क्रतव एत एवास्य सर्वेषु लोकेषु, सर्वेषु देवेषु, सर्वेषु वेदेषु, सर्वेषु भूतेषु, सर्वेषु सत्त्वेषु कामचारः कामविमोचनं भवति, अर्द्धे च न प्रमीयते-य एवं वेद"।

—गोपथब्राह्मण पू० १।३६।

ॐ

———**———

२-वैदिक-आध्यात्मिक यज्ञ-कर्म्मोपासना (परमप्रजापत्यनुपासना) (ज्ञानयोगात्मिका-आत्मनिःश्रेयसप्रवर्त्तिका)

३७०-वस्तुतत्त्वानुगता 'आहिति' की 'आहुति'-रूपता का समन्वय, एवं यज्ञप्रक्रिया-नुबन्धी समष्टि-व्यष्ट्यात्मक दो विभिन्न दृष्टिकोण—

"किसी एक वस्तु को अन्य वस्तु के उदर में 'आहित' कर देना, अथवा किसी वस्तु का अन्य वस्तु में 'आहित' होजाना ही "आहुति" है, एवं इस आहुति का ही नाम यज्ञ है। इसी आहिति-(आधान)-

लक्षण यज्ञकर्म्म के दो स्वतन्त्र दृष्टिकोण हैं। समष्टि को व्यक्ति समझ कर उस समष्टिरूपा व्यक्ति की परम-प्रजापति में आहुति दे डालना। आत्मसमर्पण कर डालना) यज्ञ की एक प्रक्रिया है। एवं केवल अपने व्यक्तित्व की (उसे समष्टि से पृथक् मानते हुए) उस परमप्रजापति में आहुति दे डालना एक विभिन्न मार्ग है।

३७१-आध्यात्मिक-वैयक्तिक-राष्ट्र के स्वरूप-सञ्चालकों का पारस्परिक-समन्वयात्मक सहयोग, एवं तन्निबन्धना आध्यात्मिक यज्ञ की स्वरूपस्थिति—

हम एक व्यक्ति हैं। इस हमारे व्यक्तिगत राष्ट्र का (अध्यात्मजगत् का) सञ्चालन हमारा शारीरक-आत्मा (आध्यात्मिक परमप्रजापति) है। चक्षुः-श्रोत्र-नासा-घ्राण-हस्त-पाद-उदर-हृदय-नाभि-आदि सभी अवयव नाम-रूप कर्म्म में परस्पर सर्वथा स्वतन्त्र हैं। इन अवयवरूप अनेक व्यक्तियों के समुदाय से "अहमस्मि" यह एक व्यक्तित्व सम्पन्न हुआ है। ये सभी अवयव परस्पर स्वतन्त्र रहते हुए भी, स्वतन्त्र कर्म्म करते हुए भी उस व्यक्त्यधिष्ठाता भूतात्मा की स्वरूपरक्षा में ही प्रवृत्त रहते हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियकर्म्म इस भूतात्मयज्ञ की रक्षा में ही संलग्न है। किसी भी इन्द्रिय को यह अभिमान नहीं है कि—"मैं अमुक काम करती हूँ"। देखती आँख है, परन्तु "मैं"-(भूतात्मा) देखता हूँ" यही अभिनय होता है। इस-प्रकार व्यक्तिस्थानीय सभी इन्द्रियाँ उस एक की सिद्धि के लिए अभिन्न बनती हुई भूतात्मयज्ञ की व्यवस्था का कारण बनती हुई ही अपनी स्वरूपरक्षा का भी कारण बन रही हैं।

३७२-विश्वयज्ञानुबन्धी पारस्परिक समन्वयात्मक सहयोग, तन्निबन्धन आधिभौतिक यज्ञ की स्वरूप-स्थिति, एवं 'भूमोदर्क' का स्वरूप-समन्वय—

संसार में जितने भी मनुष्य हैं, वे सब उस पञ्चपर्वा परमप्रजापति के अवयव हैं। अधिकारभेद से प्रत्येक के नाम-रूप-कर्म्म नियत हैं। सब परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। सबका कर्म्म भी परस्पर भिन्न है। समझने के लिए यों भी कहा जासकता है कि, कोई मनुष्य उसकी आँख है, कोई नाक, तो कोई कान। इन्द्रिय-स्थानीय इन व्यक्तियों का कर्त्तव्य यही होना चाहिए कि, ये अपने अपने प्रातिस्विक आत्मस्वातन्त्र्य को छोड़ते हुए, अपने आपको उस प्रजापति की इन्द्रियाँ समझते हुए अपनी सम्पूर्ण समष्टि का एक उसी को आत्मा समझकर, उसी की स्वरूपव्यवस्था के लिए (विश्वयज्ञ की व्यवस्था के लिए) अधिकारसिद्ध नियत कर्म्मों में ही प्रवृत्त रहें। सम्पूर्ण मानवसमाज अपने आपको एक व्यक्ति मानता हुआ उसमें अपनी आहुति देदे। यही यज्ञ की सर्वोच्च पद्धति है। 'स्व' की 'सर्वरूप' में परिणति ही इस यज्ञकर्म्म का मौलिक-रहस्य है, और इस मौलिक रहस्य का फल है—"भूमोदर्क"।

३७३-अद्वैतनिष्ठा-संसाधिका सर्वहुतयज्ञप्रक्रिया—

सर्वत्र, सब अवस्थाओं में व्यापक प्रजापति की भावना करते हुए विश्वयज्ञ की दृष्टि से कर्म्म में प्रवृत्त रहने वाले कर्म्मोपासक का आत्मा सीमाभाव से निकलता हुआ शनैः शनैः भूमाभाव को प्राप्त होजायगा। कालान्तर में "मैं तू-यह-वह" का भेद जाता रहेगा, सर्वत्र सब आत्मरूप में परिणत होजायँगे—"यत्र-त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" लक्षणा अद्वैतनिष्ठा प्राप्त होजायगी।

३७४ अबन्धना यज्ञोपासना से अनुप्राणित–उपास्य, उपासक, उपासनासाधन–त्रयी का स्वरूप समन्वय, एवं आधिदैविकपरमप्रजापति–उपासना का तात्त्विक स्वरूप समन्वय—

इस यज्ञकर्म्म में कर्म्ममय किसी भौतिक परिग्रह का न्यास न होगा, अपितु सबका संग्रह ही होगा। कर्म्म का आत्यन्तिक संग्रह, परन्तु यज्ञेश्वर के लक्ष्य से। कर्म्म में आत्यन्तिक प्रवृत्ति, परन्तु निष्कामभाव से। इसमें आधिदैविकपरमप्रजापति उपास्य बनेगा, आध्यात्मिक भूतात्मा उपासक बनेगा, सम्पूर्ण विश्वकर्म्म उपासना के साधक बनेंगे। फल मिलेगा समवलयलक्षणा "परामुक्ति", जिसका कि–"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते" इन शब्दों में अभिनय किया गया है। यही पहिली "आधिदैविकपरमप्रजापत्युपासना" कहलाएगी। वेदशास्त्रसिद्ध आधिभौतिक–यज्ञ ही इसका साधक होगा। और यही गीताशास्त्र की कर्म्मयोगनिष्ठा कहलाएगी। इसमें अपनापन कुछ न रहेगा। लोकसंग्रह ही प्रधान रहेगा। प्रधान क्या रहेगा, विशुद्ध लोकसंग्रह ही प्रधान रहेगा। कारण, लोक का आत्मा,–और उसका वैय्यक्तिक आत्मा, इन दो भावों के पार्थक्य का यहाँ अवसर ही नहीं है। वर्णाश्रमधर्म्म इसी यज्ञकर्म्म की प्रतिष्ठाभूमि माना जायगा।

३७५–आधिदैविक–भौतिक–आत्मिक–यज्ञत्रयी से अनुप्राणिता यज्ञोपासना का स्वरूप तारतम्य–समन्वय एवं, दृष्टिकोणभेदनिबन्धन समष्टि–व्यष्टिरूप–भूमोदर्क, तथा क्षीणोदर्क का स्वरूप–दिग्दर्शन—

यद्यपि प्रणावाधारिणा इस यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त होने वाला कामभाव का अनुगामी नहीं बनेगा। तथापि मार्ग साधारण नहीं है। कामना का आत्यन्तिक विमोक कर देना चिरकालिक अभ्यास–सापेक्ष ही है। इसी लिए ऐसे अधिकारियों के (जोकि आधिभौतिक यज्ञकर्म्मों से कामभय से–दूर भागते हैं,) हित के लिए ही यह दूसरी यज्ञप्रक्रिया है। यह आधिभौतिक यज्ञकर्म्मों का तो न्यास करेंगे, एवं आध्यात्मिक यज्ञकर्म्मों का निष्कामभाव से परिग्रह करेंगे। यहाँ का यज्ञ व्यक्तिस्वतन्त्रता को ही अपना मूल बनावेगा। अपने शारीरक आत्मा को आधिदैविक यज्ञ में आधिभौतिक यज्ञ के द्वारा समर्पित करना पहिला यज्ञ था। एवं अपने शारीरक आत्मा को आध्यात्मिक यज्ञ के द्वारा आध्यात्मिक परमप्रजापति में [शान्तात्मा में] समर्पित करना, वह दूसरा यज्ञ कर्म्म कहलावेगा। वहाँ सम्पूर्ण बाह्यपरिग्रहों का संग्रह था, वहाँ सम्पूर्ण बाह्यपरिग्रहों का त्याग है। विश्व से तटस्थता ग्रहण की, लोक से दृष्टि हटाई, वित्त-लोक-पुत्रैषणा का परित्याग किया, इन्द्रियों का मन में, मन का बुद्धि में बुद्धिका महान् में, महान् का आध्यात्मिक परप्रजापतिरूप अव्यक्तात्मा में [शान्तात्मा में] संमय करते हुए विशुद्ध आत्मरूप में परिणत होकर अन्ततः समवलयभाव प्राप्त कर लिया, यही इस यज्ञकर्म्म का स्वरूपलक्षण होगा। क्षीणोदर्क ही यहाँ प्रधान उदर्क है। वहाँ 'भूमोदर्क' था, यहाँ क्षीणोदर्क है। वहाँ विशुद्ध लोकाभ्युदय था, यहाँ आत्मानिःश्रेयस् है।

३७६–भक्तिमार्गानुबन्धी लय-हठ-मन्त्रादि विभिन्न योग, तन्निबन्धना हिरण्यगर्भ-निष्ठा, तथा कपिलनिष्ठा, एवं 'क्लेशवद्भिरवाप्यते' का समन्वय—

पाठकों को स्मरण होगा कि, पूर्वप्रकरणोपसंहार में भक्तियोग को उपरत करते हुए हमनें भक्ति के भी लय-हठ-मन्त्र-योगात्मक योगमार्ग, राजयोगात्मक योगमार्ग, ये दो विभाग बतलाए थे। इनमें योगात्मक योगमार्ग हिरण्यगर्भनिष्ठा है, पातञ्जलयोग इसी का रूपान्तर है। एवं यज्ञकर्म्म का यह क्षीणोदर्कात्मक यज्ञयोगमार्ग उसी योग से मिलता जुलता है। इस निष्ठा के आदि प्रवर्त्तक महर्षि कपिल हैं, यही सांख्यनिष्ठा, किंवा ज्ञाननिष्ठा है। योगात्मक भक्तिमार्ग, तथा यज्ञात्मक ज्ञानमार्ग, दोनों का भगवान् ने संग्रह अवश्य किया है। परन्तु है भगवान् की इन के सम्बन्ध में अरुचि ही, जैसाकि पूर्व में यत्र तत्र स्पष्ट किया जाचुका है। इस अरुचि का एकमात्र कारण है–लोकसंग्रह का अभाव। न तो वैसे भक्तिमार्ग में ही लोकसंग्रह, एवं न ऐसे ज्ञानमार्ग में हीं लोकसंग्रह का समावेश। केवल वैय्यक्तिक अभ्युदय, निःश्रेयस् ही प्रधान बना रहता है, सो भी बड़ी कठिनता से ही–"क्लेशवद्भिरवाप्यते"।

३७७–अपेक्षाभेद-निबन्धन 'सर्वोत्तम' एवं 'उत्तम' भक्तिपथ का संस्मरण—

यद्यपि "एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्" इस भगवदुक्ति के अनुसार–भूमोदर्कलक्षण लोकाभ्युदयात्मक यज्ञकर्म्म, एवं क्षीणोदर्कलक्षण आत्मनिःश्रेयस् संसाधक यज्ञकर्म्म, इन दोनों का 'परामुक्तिरूप' फल समान है। परन्तु "तयोऽस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते" के अनुसार बहिःकर्म्मन्यासलक्षण यज्ञकर्म्म (सांख्यनिष्ठा) की अपेक्षा बहिःकर्म्मपरिग्रहलक्षण यज्ञ-कर्म्म ही श्रेष्ठ माना गया है, और यही कारण है कि, इसे हमनें 'सर्वोत्तम' कहा है, एवं उसे 'उत्तम' कहा है।

३७८–'उपासना' निबन्धना गीता की योगचतुष्टयी का स्वरूप–दिग्दर्शन, एवं सर्वश्रेष्ठ 'वैरा यबुद्धियोग—

आधिदैविक–यज्ञलक्षणा यज्ञोपासना जैसे गीता का निष्कामकर्म्मयोग है, एवमेव आध्यात्मिक–यज्ञ-लक्षणा यह उपासना गीता का नैष्कर्म्य ज्ञानयोग है। दोनों के स्वरूप का यदि विचार किया जाता है, तो कर्म्मयोग का आसन नीचा मानना पड़ता है, एवं ज्ञानयोग का ऊँचा। क्योंकि कर्म्मयोग क्षरप्रधान है, एवं ज्ञानयोग अव्यक्त अक्षर की प्रतिष्ठाया से युक्त है। परन्तु फलदृष्टि से कर्म्मयोग ज्ञानयोग की अपेक्षा कहीं उच्चभूमिका में प्रतिष्ठित, राजयोगात्मक भक्तियोग स्वरूपतः फलतः कर्म्मयोग से भी श्रेष्ठ है। एवं सर्वान्त के बुद्धियोग का तो कहना ही क्या है।

३७९–चतुर्विधा-योगात्मिका उपासना के लोकानुबन्धी–लोकसूत्र, एवं उपासना–चतुष्टयी का वर्गीकरणात्मक-समन्वय—

बुद्धियोगात्मिका देवयुगानुगता उपनिषन्मूला अव्ययोपासना, भक्तियोगात्मिका आरण्यकमूल वेदयुगानुगता सर्वेश्वरोपासना (षोडशीप्रजापति-उपासना), कर्म्मयोगात्मिका ब्राह्मणमूला, एवं ज्ञानयोगात्मिक ब्राह्मणमूला पुराणयुगानुगता यज्ञेश्वरोपासना, ये चार ही उपासना के प्रधान काण्ड हैं। चारों हीं जटिल मस्या हैं। आगे का वाक्य–सन्दर्भ आंशिकरूप से इस जटिलता को दूर कर देता है—

(१) १--'न हम हम हैं, न वह वह है, जो है सो है'—'बुद्धियोग'
('तू तू न रहै, मैं मैं न रहूँ, हम तुम दोनों मिलजाएँ')
२--'मैं नहीं, तू ही तू' 'भक्तियोग'
३--'हम सब तुझ में, तू हम सब में' 'कर्म्मयोग'
४--'तू मेरा, मैं तेरा', 'ज्ञानयोग'

—— ** ——

२—१-कर्त्तव्यानन्यता (बुद्धियोगः)—अव्ययोपास्यः
२--ईश्वरानन्यता (भक्तियोगः)—अश्वत्थेश्वरोपास्यः
३--कर्म्मानन्यता (कर्म्मयोगः)—वन्शेश्वरोपास्यः
४--आत्मानन्यता (ज्ञानयोगः)—प्रत्यगात्मोपास्यः

——*——

३—१--नोदर्कभावः (बुद्धियोगे)—न मुक्तिर्न बन्धनम्
२--अपरोदर्कः (भक्तयोगे)—अपरामुक्तिः
३--भूमोदर्कः (कर्म्मयोगे)—परामुक्तिः
४-क्षीणोदर्कः (ज्ञानयोगे)—परामुक्तिः

——*——

४—१-सर्वसंग्रहः, असंग्रहो वा (बुद्धियोगे)—सहजस्वरूपसंसिद्धिः
२-आत्मसंग्रहपूर्वको लोकसंग्रहः (भक्तियोगे)—आत्म-लोकस्वरूपव्यवस्थितिः
३-विशुद्धो लोकसंग्रह (कर्म्मयोगे)—लोकाभ्युदयसिद्धिः (परमार्थमार्गः)
४-विशुद्धः-आत्मसंग्रहः (ज्ञानयोगे)—आत्मनिःश्रयससिद्धिः स्वार्थमार्गः)

——*——

३८०-अर्च्चन-पूजनादि, नामसंकीर्त्तनादि जड़भावों से असंस्पृष्टा वेदसिद्धा तत्त्वोपासना का संस्मरण—

यह भी स्मरण रखने की बात है कि, तथोक्ता चारों ही उपसनाओं में अर्च्चन, पूजन, आरार्त्तिक, धूप, दीप, नैवेद्यादि बहिरङ्गसाधन अंशतः भी अपेक्षित नहीं हैं। संकीर्त्तन नामस्मरण आदि भी यहाँ दूर से

से ही प्रगण्भ्य हैं। चारों ही मौलिक वेदसिद्ध उपासनामार्ग हैं। यह स्पष्ट करने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है कि, आज का भारतवर्ष इन चारों मार्गों में से किसी एक का भी अनुयायी नहीं है। प्रचलित भक्ति-मार्ग का केवल वैकारिक-चरोपासना में यथाकथञ्चित् अन्तर्भाव करते हुए लोकसंग्रह की रक्षा की जासकती है, जैसाकि तत्प्रकरण में ही स्पष्ट होजायगा।

३८१-यज्ञेश्वरोपासनात्मिका आध्यात्मिक-यज्ञोपासना, एवं तत्समर्थक उपनिषद्वचन—

प्रकृत में कहना केवल यही है कि, यज्ञेश्वर की उपासना का दूसरा प्रकार आध्यात्मिक यज्ञलक्षण नैष्कर्म्य-ज्ञानयोग ही है। इसी में 'प्रवृज्या' की प्रधानता है, जैसाकि निम्न लिखित उपनिषद्वचनों से स्पष्ट है—

१—स वाऽअयमात्मा सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः, सर्वस्याधिपतिः, सर्वमिदं प्रशास्ति-यदिदं किञ्च। (बृ० आ० उ० ५।६।१।)। तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति, यज्ञेन, दानेन, तपसा-अनाशकेन। एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रवाजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति *।

२—एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते-किं प्रजया करिष्यामः, येषां नाऽय-मात्मा, अयं लोक इति। ते हस्म पुत्रैषणायाश्च, वित्तैषणायाश्च, लोकैषणायाश्च व्युत्थाय, अथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति ÷।

३-कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।
यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम!।
तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥
यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥
यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥

---

* आधिदैविकयज्ञानुयायिनः---कर्म्मयोगिनस्तु---अवृजिनः---अत्यागिनः---नैष्ठिका मानवश्रेष्ठाः, इत्यवधेयम्।
—बृ० आ० उप० ४।५।२२।
÷ अर्जुनसम्मतमार्गः

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥
धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं विद्धि ॥
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति"

— उपनिषद्

—२—

३-वैदिक-आधिकारिक-अचेतन-जीवोपासना-[प्रतिमाप्रजापत्युपासना]—

३८२-यज्ञेश्वरविवर्त्तानुगता वेदसम्मता-तात्त्विक-उपासना के पञ्चविध प्रकारों का समन्वय-

इस तीसरे यज्ञेश्वरविवर्त्त में हीं आधिकारिक-अचेतन-जीवों की उपासना का अन्तर्भाव है । निर्गुण अव्यय पर दृष्टि रखना पहिला प्रकार है । सहस्रबल्शात्मक सर्वेश्वर पर दृष्टि रखना दूसरा प्रकार है, सर्वेश्वर से नित्ययुक्त योगमायावच्छिन्न पञ्चपुरुषात्मक आधिदैविक बल्शेश्वर पर दृष्टि रखना तीसरा प्रकार है, आध्यात्मिक बल्शेश्वर पर दृष्टि रखना चौथा प्रकार है । एवं आधिदैविक परमप्रजापति-लक्षण स्वयम्भू प्रजापति (जिसे कि आभूप्रजापति, परोरजा आदि नामों से भी व्यवहृत किया जाता है) के गर्भ में रहने वाले परमेष्ठी-सूर्य-पृथिवी-चन्द्रमा आदि प्रतिमाप्रजापतियों में से किसी एक पर दृष्टि रखना पाँचवाँ प्रकार है ।

३८३-सहस्रबल्शेश्वरानुगता, एवं प्रतिमेश्वरानुगता (एकबल्शेश्वरानुगता) तात्त्विक-उपासना का स्वरूप-समन्वय—

उक्त पाँचों प्रकारों में से पाँचवाँ प्रकार ही **आधिकारिक अचेतन जीवोपासना** कहलाएगी । जो व्यक्ति निर्गुण-अव्यय पर दृष्टि नहीं रख सकते, वे **सगुण सहस्रबल्शामूर्त्ति सर्वेश्वर पर (षोडशीप्रजापति पर)** दृष्टि रक्खें । जो इस पर भी दृष्टि न रख सकें, वे बल्शेश्वर परमप्रजापति पर दृष्टि रक्खें । जो इस में भी असमर्थ हों, वे बल्शा के एक एक पर्व पर दृष्टि रक्खें । सूर्य-चन्द्र-पृथिवी आदि में से किसी एक प्रकृति के अवयव को लक्ष्य बना कर आधिकारिकभाव से कर्त्तव्यकर्म में प्रवृत्त रहना ही तीसरी यज्ञेश्वरोपासना कहलाएगी ।

३८४-उपासनातत्त्वनिबन्धन-पूर्वापरविरोध—

पूर्व प्रकरण में हमने इस आधिकारिक अचेतन जीवोपासना को चौथी उपासना मानते हुए इसे प्रथमा कहा है, एवं आधिकारिक चेतनजीवोपासना (अवतारोपासना) को तीसरी उपासना मानते हुए इसे मध्यमा कहा है । परन्तु यहाँ अचेतनोपासना को तीसरी उपासना बतलाया जारहा है । यह पूर्वापरविरोध क्यों ? ।

३८५—पूर्वापरविरोध—निराकरणप्रयास, एवं षडङ्ग—वैश्वानरोपासना, प्रजापतिसंहितोपासना, आदित्योद्गीथोपासना, गायत्रब्रह्मोपासना, आदि विविध उपासना-प्रकारों का संस्मरण—

समाधान यही है कि, जिसप्रकार सर्वेश्वरोपासना-लक्षणा भक्तिरूपा उपासना के मन्त्र-लय-हठ योगात्मक अव्यक्तभावात्मक योगमार्ग, राजयोगात्मक योगमार्ग, ये दो भेद हैं, यज्ञेश्वरोपासना के आधिदैविक यज्ञात्मक यज्ञमार्ग (कर्म्मयोग), आध्यात्मिक यज्ञात्मक यज्ञमार्ग (ज्ञानयोग) ये दो मार्ग हैं, एवमेव अचेतन जीवोपासना के भी अधिकारीभेद से दो मार्ग होजाते हैं। प्रकृतिपर्वों में उसी उद्गीथोङ्कारमूर्ति सर्वेश्वर की भावना करते हुए कर्त्तव्यकर्म्म पर दृष्टि रखना एक प्रकार है। यह उपासना समष्टिरूपात्मक ओङ्कार की उपासना तो नहीं है, परन्तु व्यष्टिरूप से अवश्य ही ओङ्कारोपासना है। अतएव इस उपासना का अधिकारी ईश्वरसत्ता में विश्वास रखने वाला एक आस्तिक ही बन सकता है। वह आदित्य (सूर्य्य) को लक्ष्य में रक्खेगा, परन्तु उद्गीथोङ्काररूप से, पृथिवी को लक्ष्य में रक्खेगा, परन्तु उद्गीथदृष्टि से। यही उपासनामार्ग षडङ्गवैश्वानरोपासना, प्रजापतिसंहितोपासना, आदित्योद्गीथोपासना, गायत्रब्रह्मोपासना, इत्यादिरूप से अनेक भागों में विभक्त है।

३८६—उद्गीथभावनिबन्धना आधिदैविक—उपासना, एवं आध्यात्मिक—उपासना का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धन भूमोदर्क—क्षीणोदर्क-भाव—

इस उद्गीथभावोपेता उपासना के भी आधिदैविक—आध्यात्मिक भेद से आगे जाकर दो भेद होजाते हैं। प्राकृतिक आदित्यादि को लक्ष्य में रखते हुए आधिभौतिक यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त रहना पहिला प्रकार है, और इसकी पूर्वोक्त आधिदैविक यज्ञकर्मात्मक यज्ञकर्म्म (कर्म्मयोग) के साथ तुलना की जासकती है। अपने अध्यात्मजगत् में प्रतिष्ठित मुख्यप्राणरूप व्यानात्मक उद्गीथ को लक्ष्य में रखते हुए, किंवा आध्यात्मिक षडङ्ग वैश्वानर को लक्ष्य में रखते हुए आध्यात्मिक यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त रहना दूसरा प्रकार है, और इस की पूर्वोक्त आध्यात्मिक यज्ञकर्म्म (ज्ञानयोग) के साथ तुलना की जासकती है। पूर्ववत् यहाँ भी पहिले मार्ग में लोकसंग्रह के द्वारा आत्मनिःश्रेयस् है, दूसरे मार्ग में विशुद्ध आत्मनिःश्रेस् है। दूसरे शब्दों में—पहिला मार्ग भूमोदर्क है, एवं दूसरा मार्ग क्षीणोदर्क है। निम्नलिखित श्रौतवचन इन्हीं दोनों मार्गों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

१—आधिदैविक—उपासना—

१—"अथाधिदैवतम्—य एवासौ तपति, तमुद्गीथमुपासीत। उद्यन् वा एष प्रजाभ्य उद्गायति। उद्यंस्तमोभयमपहन्ति। अपहन्ता वै भयस्य तमसो य एवं वेद"।

२—"आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः"।

३—"एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरः, यं त्वमात्मानमुपास्से"।

२—आध्यात्मिक-उपासना—

१—"अथ खलु व्यानमेवोद्ग थ मुपासीत। यद्वै प्राणिति स प्राणः, यदपानिति सोऽ-यानः। अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः।

२—"तस्य वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाः, चक्षुर्विश्वरूपः, प्राणः पृथग्-वर्त्मा, आत्मा सन्देहो--बहुलः, बस्तिरेव रयिः, पृथिव्येव-पादौ, उर एव वेदिः, लोमानि बर्हिः, हृदयं गार्हपत्यः, मनोऽन्वाहार्य्यवचनः, आस्यमाहवनीयः'।

३८७-आध्यात्मिक आधिदैविक-अचेतनजीवोपासनानिबन्धन-उपासनातत्त्व का स्वरूप-समन्वय—

इसके अतिरिक्त त्रिविध, पञ्चविध, सप्तविध सामोपासना, स्वरोपासना, आदि भेद से एक एक पर्वों की उपासनाओं के जितनें भी आधिदैविक प्रकार छान्दोग्यादि में उपवर्णित हैं, वे सब आधिदैविक आधिकारिक अचेतन-जीवोपासना में हीं अन्तर्भूत हैं। एवमेव भूतात्मोपासना, प्रज्ञानोपासना, विज्ञानोपासना, सत्त्वोपासना आदि भेद से उपवर्णित आध्यात्मिक उपासना-प्रकार आधिकारिक आध्यात्मिक अचेतनजीवोपासना में अन्तर्भूत हैं।

३८८-वैदिक-उपासनाकाण्ड के स्थूल पर्व, तन्निबन्धना वैदिक-प्रतिमोपासना, एवं प्रचलित-प्रतिमोपासना, एवं प्रचलित-प्रतिमोपासना का वेदासंस्पृष्टत्व—

जिसप्रकार सामान्य उपासना-सिद्धि के लिए आरम्भ में स्थूल को लक्ष्य बनाया जाता है, एवमेव इस वैदिक उपासनाकाण्ड में भी सूर्य-वैश्वानर, आदि आधिदैविक स्थूल पर्वों को, प्रज्ञान-विज्ञानादि आध्यात्मिक स्थूलपर्वों को लक्ष्य बनाते हुए अन्त में-"तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते' यह आदेश मिलता है। यदि हम से कोई सनातनधर्मी यह प्रश्न करे कि, वेद में-प्रतिमोपासना का विधान है, अथवा नहीं, तो उत्तर में हम उसके सामने परमप्रजापति की प्रतिमारूप आदित्यादि की उपासना ही रक्खेंगे। वैदिक प्रतिमोपासना प्राकृतिक पर्वोपासना ही है। प्रतिमोपासना का वर्त्तमानरूप मूलरूप से भले ही वेद में उपलब्ध हो, परन्तु वहाँ इसके तूलरूप का तो अभाव ही है। अर्चन-धूप-दीपादि-लक्षणा जड़ोपासना का तो वेद शास्त्र में अभाव ही मानना पड़ेगा।

३८९-उपासनोपनिषत्-अनुगत-'आत्मभाव', तन्नियन्धन त्रिविध 'ओङ्कार', एवं ओङ्कार-निबन्धना उपासनात्रयी का स्वरूप-समन्वय—

उपासनातत्व का मौलिक रहस्य है—"आत्मा"। कोई सी भी उपासना हो, सब में किसी न किसी रूप से आत्मभावना को ही मुख्य बनाना पड़ेगा। इस भावना की प्राप्ति के लिए ओङ्कार का आश्रय लेना आवश्यक होगा-"ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्"। कर्त्तव्यकर्म्मात्मिका अव्ययोपासना में सर्वोङ्कार के द्वारा आत्मसंग्रह है। ईश्वरानन्यतात्मिका सर्वेश्वरोपासना में सद्गीथोङ्कार के द्वारा आत्मा

का परिग्रहण है, कर्म्मानन्यतात्मिका आधिदैविकयज्ञेश्वरोपासना में, एवं आत्मानन्यतात्मिका आध्यात्मिक यज्ञेश्वरोपासना में प्रणवोङ्कार के द्वारा आत्मग्रहण है।

३६०—सर्व-उद्गीथ-प्रणव-ओङ्कारनिबन्धना त्रिविधा उपासना से अनुप्राणित अधिकारी भेद-भिन्न त्रिविध मार्गों का स्वरूप समन्वय—

कर्म्मानन्यात्मिका (आधिदैविकपर्वात्मिका) प्रतिमोपासना में प्राणवोङ्कार के पर्वरूप उद्गीथात्मक–आदित्य, प्रणवात्मक वैश्वानरादि के द्वारा आत्मसमावेश है। एवं आत्मानन्यात्मिका (आध्यात्मिकपर्वात्मिका) प्रतिमोपासना में प्रणवोङ्कारपर्वरूप उद्गीथ व्यान, षडङ्ग वैश्वानरादि के द्वारा आत्मसमावेश है। इसप्रकार इन सभी उपासना-प्रकारों में समष्ट्यात्मक–सर्व–उद्गीथ–प्रणवोङ्कारों के द्वारा, एवं व्यष्ट्यात्मक प्रणवोङ्कार के द्वारा आत्मा का समावेश होरहा है। परम्परया, एवं साक्षात्, आत्मा की ही उपासना होरही है, और ओङ्कारमूला यही उपासना, किंवा उपासना के ये ही प्रकार वेदशास्त्र–सम्मत हैं। जिस उपासना में (काम्य–कर्म्म–कामनामयी-भक्ति-आदि में) आत्मलक्षण ओङ्कार का अभाव है, वेदशास्त्र की दृष्टि से वह कभी उपासना नहीं है, जैसाकि निम्नलिखित श्रौतसन्दर्भ से स्पष्ट है—

१—"अथात आत्मादेश एव–आत्मैवाधस्तात्, आत्मोपरिष्टात्, आत्मा पश्चात्, आत्मा पुरस्तात्, आत्मा दक्षिणतः, आत्मोत्तरतः, आत्मैवेदं सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्, एवं मन्वानः, एवं विजानन्–आत्मरतिरात्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति। तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथाऽतो विदुः–अन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति"।

—छान्दोग्योपनिषत् ७ अ०।२५ खण्ड।

२—'य एते ब्रह्मलोके। तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते। तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ताः, सर्वे च कामाः। सर्वांश्च लोकानाप्नोति, सर्वांश्च कामान्-यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति, इति ह प्रजापतिरुवाच, प्रजापतिरुवाच।

—छां० उप० ८।१२।६

वेदसम्मता-उपासना-आत्ममयी-ओङ्कारमयी वा—

देवयुगानुगता (उपनिषन्मूला) { १-निर्गुण-अव्ययोपासना (योगात्मकः-बुद्धियोगमार्गः) वैदिक-सर्वान्यता-अन्यतात्मिका-उपासना—सर्वोङ्कारमूला } तत् } अव्ययः

———*———

वेदयुगानुगता (आरण्यकमूला) { १-(क) सगुण-सर्वेश्वरोपासना (राजयोगात्मकः-भक्तिमार्गः) वैदिक-आधिदैविकेश्वरानन्यात्मिका—उपासना-आधिदैविक-उद्गीथोङ्कारमूला } अश्वत्थेश्वरः } षोडशीप्रजापतिः २
२-(ख) सगुण-सर्वेश्वरोपासना (मंत्र-हठ-लययोगात्मकः-योगमार्गः) वैदिक-आध्यात्मिकेश्वरानन्यात्मिका-उपासना-आध्यात्मिक-उद्गीथोङ्कारमूला }

———*———

पुराणयुगानुगता (ब्राह्मणमूला) {
३-(क) सविकार-यज्ञेश्वरोपासना (यज्ञकर्म्मात्मकः-कर्म्ममार्गः) वैदिक-आधिदैविकयज्ञकर्म्मानन्यतात्मिका-उपा०-आधिदैविक-प्रणवोङ्कारमूला } बल्वेश्वरः } यज्ञप्रजापतिः ३
४-(ख) सविकार-यज्ञेश्वरोपासना (आत्मकर्म्मात्मकः-कर्म्ममार्गः) वैदिक-आध्यात्मिकयज्ञकर्म्मानन्यतात्मिका-उपा०-आध्यात्मिक-प्रणवोङ्कारमूला }

———*———

५-(क) सविकार-प्रतिमेश्वरोपासना (यज्ञकर्म्मात्मकः-कर्म्ममार्गः) वैदिक-आधिदैविकपर्वानन्यतात्मिका—उपासना-आधिदैविक—प्रणपर्वमूला } प्रतिमेश्वरः }
६-(ख) सविकार-प्रतिमेश्वरोपासना (आत्मकर्म्मात्मकः-कर्म्ममार्गः) वैदिक-आध्यात्मिकपर्वानन्यतात्मिका-उपासना-आध्यात्मिक—प्रणवपर्वमूला }
}

———*———

———*———

सर्वात्मकः- सर्वेश्वरः

१-सर्वोङ्कारः

१-निर्गुण-अव्ययः
(युक्तमार्गाधिष्ठाता)

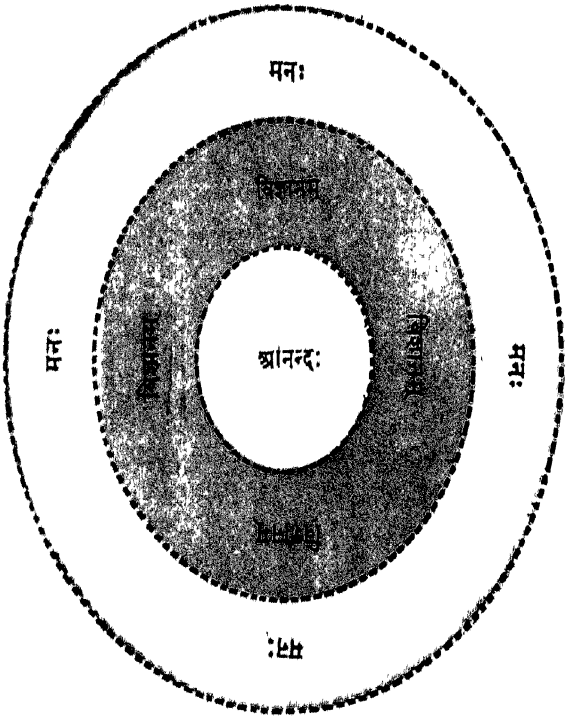

१-उद्गीथोद्धारः **आधिदैविकः– सर्वेश्वरः** १-सगुणः षोडशीप्रजापतिः परमात्मा
सहस्रबल्शेश्वरः (अक्षरः)
(भक्तिमार्गाधिष्ठाता)

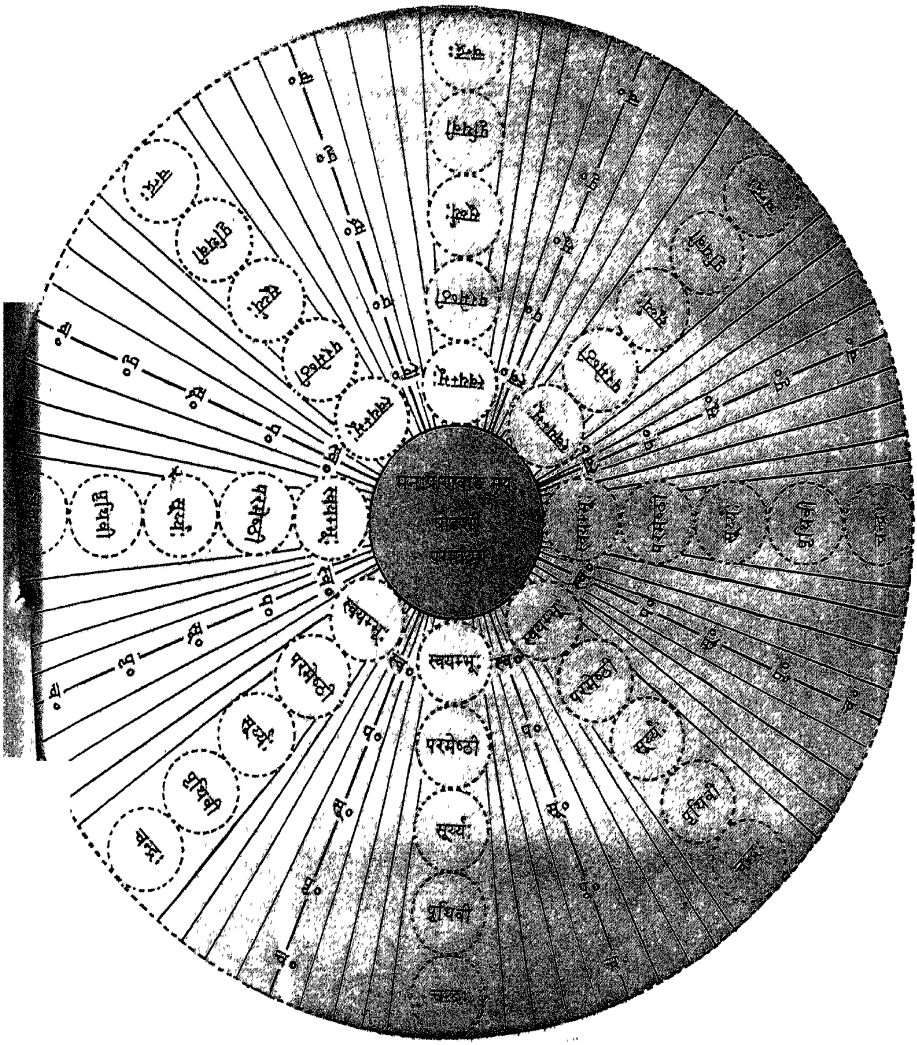

२-उद्गीथोद्धारः **आध्यात्मिकः– सर्वेश्वरः** १-सगुणः षोडशीप्रजापतिः प्रत्यगात्मा
सहस्रभावात्मकः (अक्षरः)
(योगमार्गाधिष्ठाता)

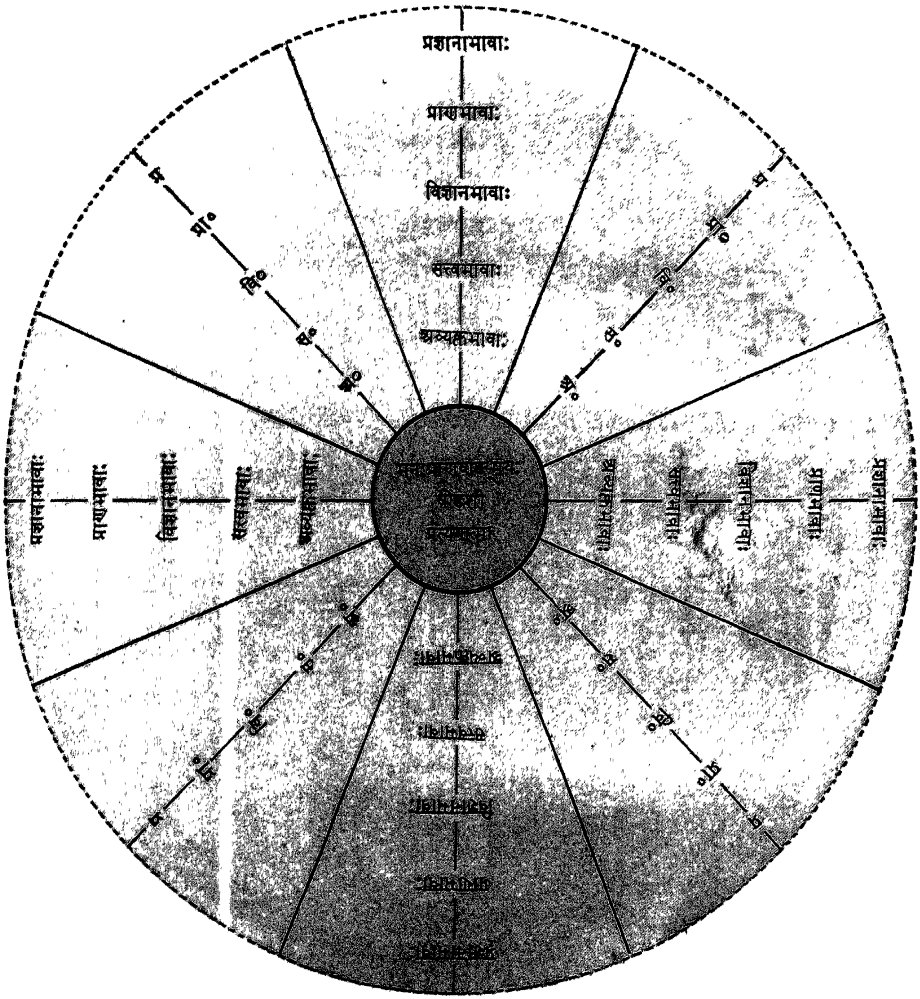

१-प्रणवोङ्कारः
पूर्णेन्द्रः-

आधिदैविक- बल्शेश्वरः

१-सविकारो यज्ञमूर्तिः परमप्रजापतिः
पञ्चपुण्डीरात्मकः (आत्मक्षरः)
(कर्म्मयोगाधिष्ठाता)

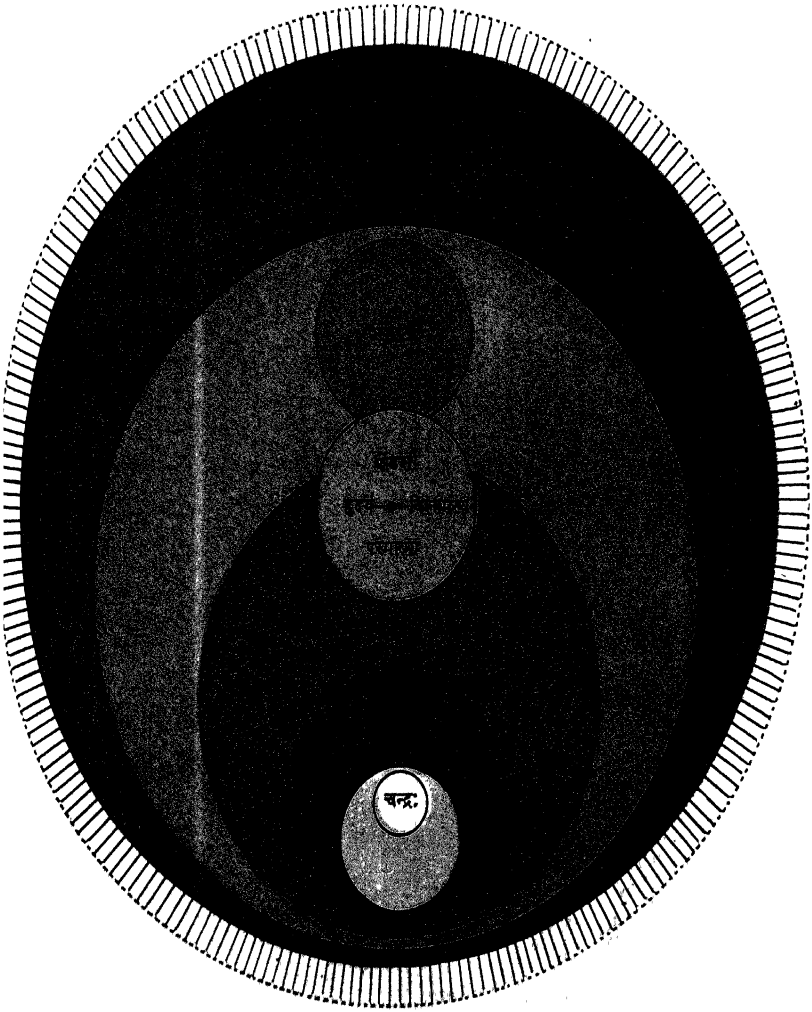

२-प्रणवोङ्कारः आध्यात्मिकः-बल्शेश्वरः २-सविकारो यज्ञमूर्तिः परमप्रजापतिः
अर्द्धेन्द्रः-- पञ्चात्मकः (आत्मक्षरः)
(ज्ञानयोगाधिष्ठाता)

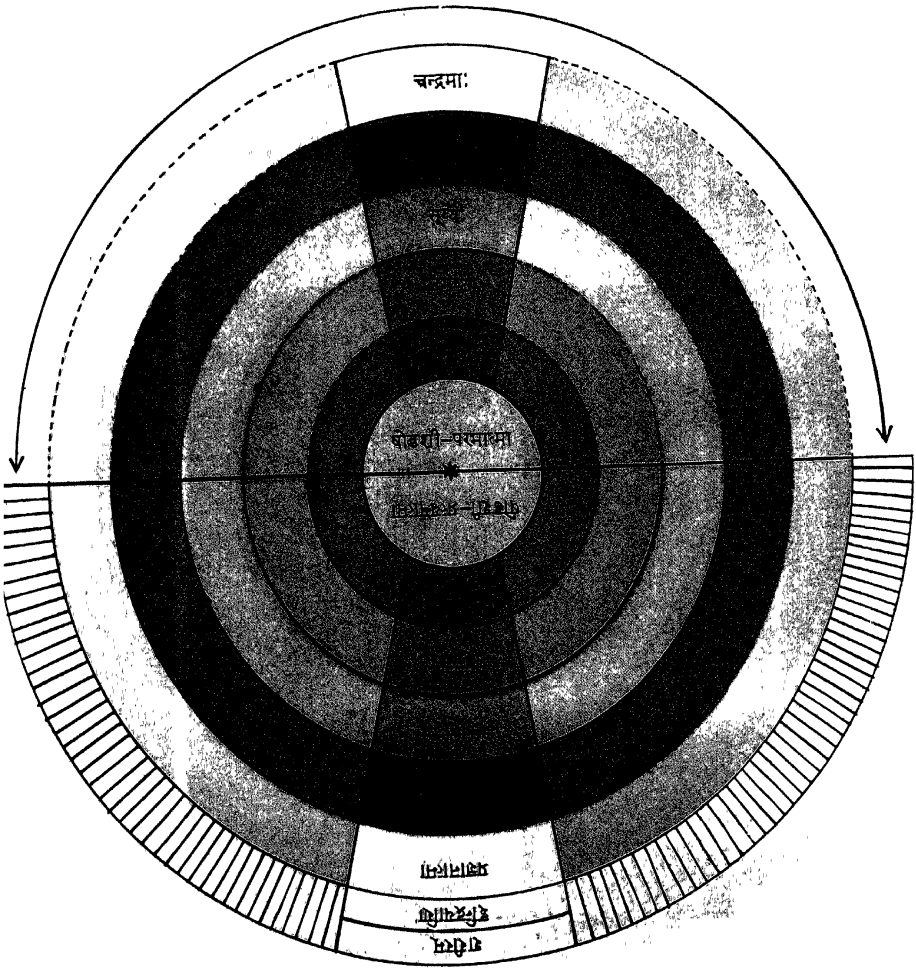

२-प्रणवोङ्कारः आध्यात्मिकः-बल्शेश्वरः २-सविकारो यज्ञमूर्तिः परमप्रजापतिः
अर्द्धेन्द्रः-- पञ्चात्मकः (आत्मक्षरः)
(ज्ञानयोगाधिष्ठाता)

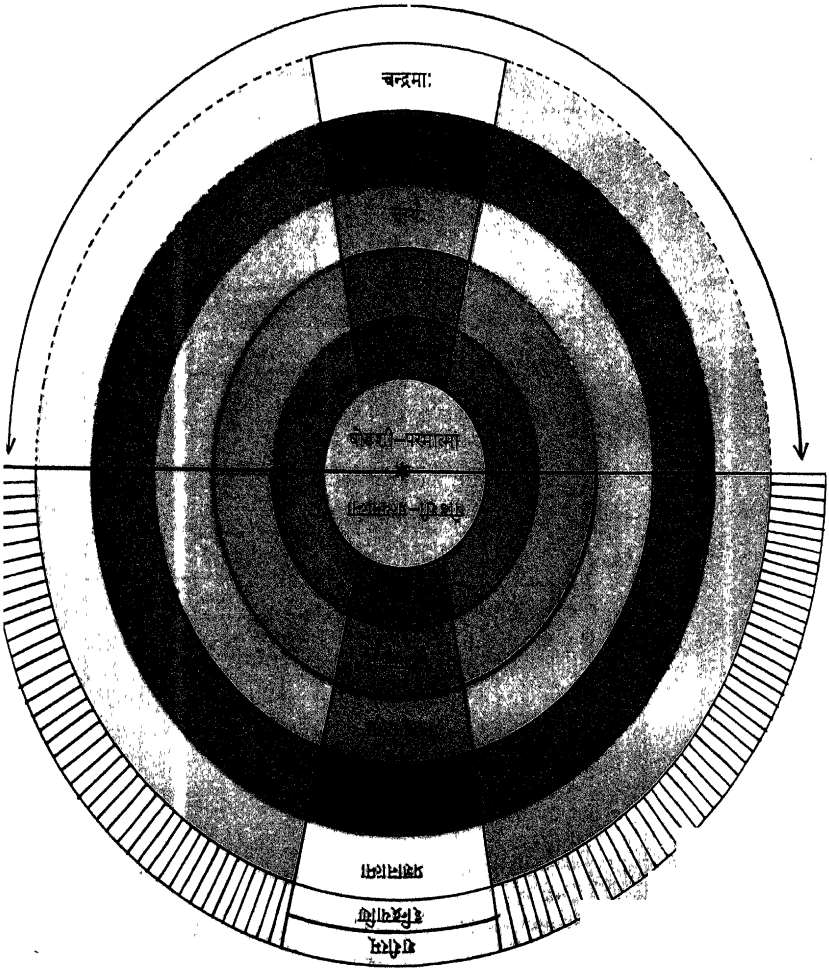

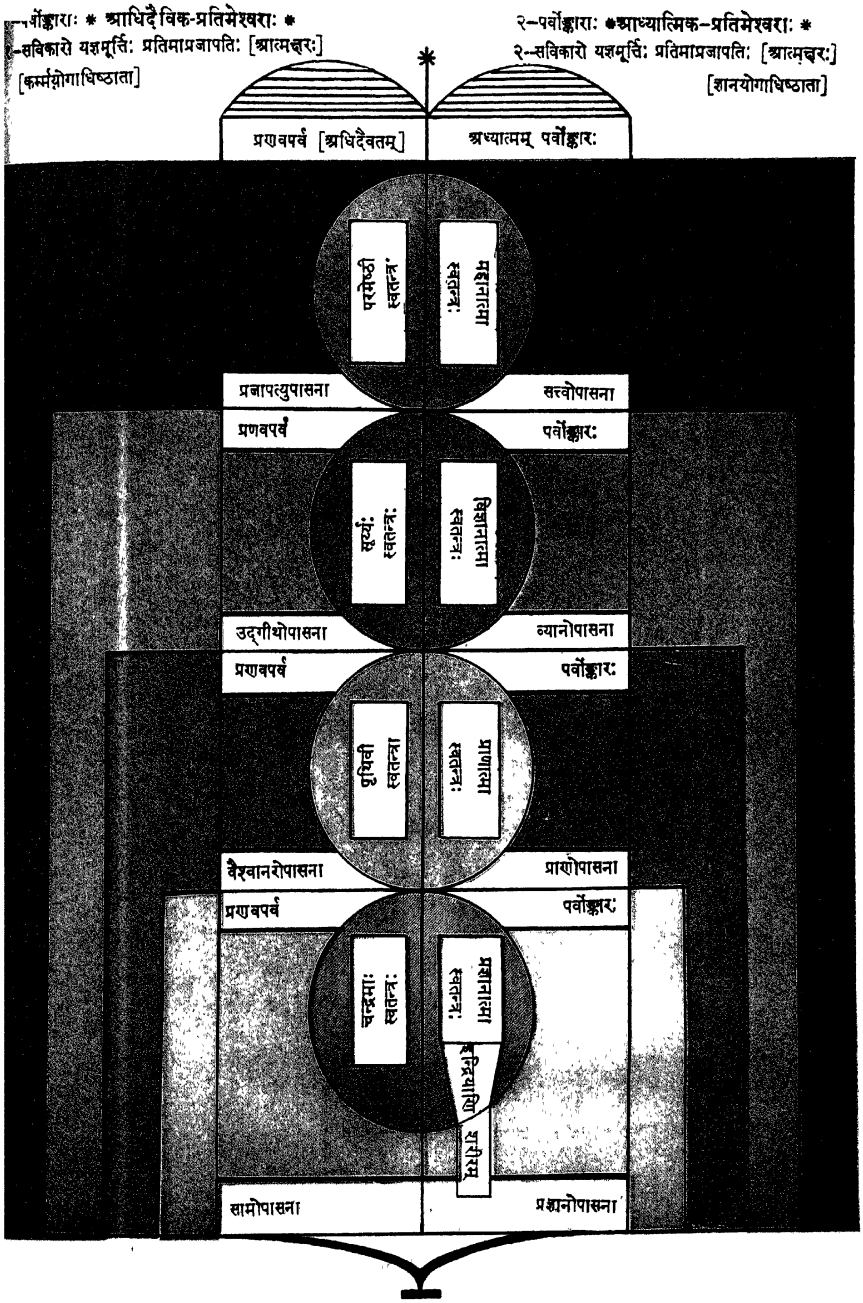
१–ओङ्कारः * आधिदैविक-प्रतिमेश्वरः *
१–सवितकारो यज्ञमूर्त्तिः प्रतिमाप्रजापतिः [आत्मेश्वरः]
[कर्म्मयोगाधिष्ठाता]
२–पर्वोङ्कारः *आध्यात्मिक–प्रतिमेश्वरः *
२–सवितकारो यज्ञमूर्त्तिः प्रतिमाप्रजापतिः [आत्मेश्वरः]
[ज्ञानयोगाधिष्ठाता]
प्रणवपर्व [अधिदैवतम्]
अध्यात्मम् पर्वोङ्कारः
परमेष्ठी स्वतन्त्रः
ब्रह्मनात्मा स्वतन्त्रः
प्रजापत्युपासना
सत्त्वोपासना
प्रणवपर्व
पर्वोङ्कारः
सूर्य्यः स्वतन्त्रः
विज्ञानात्मा स्वतन्त्रः
उद्गीथोपासना
व्यानोपासना
प्रणवपर्व
पर्वोङ्कारः
पृथिवी स्वतन्त्रा
प्राणात्मा स्वतन्त्रः
वैश्वानरोपासना
प्राणोपासना
प्रणवपर्व
पर्वोङ्कारः
चन्द्रमाः स्वतन्त्रः
प्रज्ञानात्मा स्वतन्त्रः
इन्द्रियाणि
शरीरम्
सामोपासना
प्रज्ञानोपासना

प्रकारान्तरेण—

उपनिषत् { १–युक्तमार्गः—सर्वात्मकोऽसर्वात्मकः–सर्वसंग्रहात्मकोऽसंग्रहात्मकः (सर्वात्मिका–अव्ययानन्यता) —— सर्वोङ्कारः (बुद्धियोगः) } अव्ययः

आरण्यक { १–भक्तिमार्गः–आधिदैविकः——विशुद्धलोकसंग्रहात्मकः (आधिदैविकसहस्रवल्शात्मकसर्वेश्वरानन्यता)-उद्गीथोङ्कारः } (भक्तियोगः) } षोडशी प्रजापतिः
आरण्यक { २–योगमार्गः—आध्यात्मिकः——विशुद्धआत्मसंग्रहात्मकः (आध्यात्मिकसहस्रवल्शात्मकसर्वेश्वरानन्यता)-उद्गीथोङ्कारः } (भक्तियोगः) } षोडशी प्रजापतिः

ब्राह्मण { १–कर्म्ममार्गः–आधिदैविकः———विशुद्धलोकसंग्रहात्मकः (आधिदैविकवल्शेश्वरानन्यता) —— प्रणवोङ्कारः (कर्म्मयोगः)
ब्राह्मण { २–ज्ञानमार्गः–आध्यात्मिकः———विशुद्धआत्मसंग्रहात्मकः (आध्यात्मिकवल्शेश्वरानन्यता) —— प्रणवोङ्कारः (ज्ञानयोगः)
ब्राह्मण { १–कर्म्ममार्गः–आधिदैविकः———विशुद्धलोकसंग्रहात्मकः (आधिदैविकप्रतिमेश्वरानन्यता)—— पर्वोङ्कारः (कर्म्मयोगः)
ब्राह्मण { २–ज्ञानमार्गः–आध्यात्मिकः———विशुद्धआत्मसंग्रहात्मकः (आध्यात्मिकप्रतिमेश्वरानन्यता) —— पर्वोङ्कारः (ज्ञानयोगः) } यज्ञप्रजापतिः

३६१–'बुद्धि-भक्ति-कर्म्म-ज्ञान'-चतुष्टयी से अनुप्राणित उपासनाप्रकार, एवं तदनुगत उपासनास्वरूप-समन्वय—

बुद्धि–भक्ति–कर्म्म-ज्ञान, प्रधानरूप से ये चार ही विवर्त्त हैं। इन चारों का क्रमशः अव्यय, षोडशी, यज्ञप्रजापति इन तीन आत्मसंस्थाओं से सम्बन्ध है। अव्ययमूलक बुद्धियोग का यद्यपि पूर्व में एक ही प्रकार बतलाया गया है। तदपि जैसाकि पूर्व परीक्षा–प्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है, इसके भी युक्त–युक्ततम भेद से दो मार्ग होजाते हैं।

३६२–ज्ञान-कर्म्म-मय 'उपास्य' के तात्त्विक-स्वरूप का संस्मरण—

उलझन में पड़ने की कोई बात नहीं है। विषय थोड़ा दुरूह अवश्य है। किन्तु थोड़े से अवधान से सभी का समन्वय होजाता है। इन तीनों उपास्यों के आधार पर ही चतुर्विध उपासनामार्गों के आगे जाकर आठ विवर्त्त होजाते हैं। सात विवर्त्तों का तो पूर्व के परिलेखों से स्पष्टीकरण हो ही चुका है। अब इसीमें अव्ययात्मानुगत युक्ततम बुद्धियोग का समावेश और कर दीजिए। आठ मार्ग होजाँयगे। इन आठों मार्गों की उपनिषत् (मूलप्रतिष्ठा) है—"ज्ञानकर्म्ममय–आत्मा"। क्योंकि परिग्रहों के सम्बन्ध–तारतम्य से ज्ञानकर्म्ममय उपास्य के आठ विवर्त्त होजाते हैं, अतः उपासना के भी आठ मार्ग होजाते हैं।

३६३–विद्यासापेक्ष, विद्यानिरपेक्ष, लोकसापेक्ष-सत्कर्म्मों से अनुप्राणित 'कर्म्ममार्ग' का स्वरूप-दिग्दर्शन—

इन आठों ही उपासनाओं के ज्ञान, एवं कर्म्म का परमार्थतः स्वरूप एक ही है। केवल लक्षीभूत उपास्य के स्वरूपों में भेद है। अतएव उपासना के फल विभिन्न होजाते हैं। शास्त्रसिद्ध यज्ञ–तपो–दान-लक्षण विद्यासमुचित कर्म्म, इष्ट–आपूर्त्त–दत्त–लक्षण—विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म्म, शिष्टजनसम्मत लोकसंग्राहक कर्म्म, कुलदेवतानुबन्धी कुलकर्म्म, लोकाचार, देशाचार, जात्याचारमूलक लोक–देश-जाति-कर्म्म, इन सब सत् कर्म्मों की सृष्टि ही कर्म्ममार्ग है।

३६४–बहिर्मुखप्रवृत्यनुगत कर्म्ममार्ग, एवं अन्तर्म्मुखप्रवृत्यनुगत ज्ञानमार्ग—

शास्त्रसिद्ध योगधारण, नैष्कर्म्यलक्षण आत्मचिन्तन ही ज्ञानमार्ग है। बहिर्मुख–प्रवृत्ति कर्म्ममार्ग है, एवं अन्तर्मुखप्रवृत्ति ज्ञानमार्ग है। दोनों ही मार्ग अभ्युदय-निःश्रेयस् के साधक हैं।

३६५–बुद्धियोगात्मिका उपासना के अभ्युदय-निःश्रेयस्-संसाधक सर्वथा विभक्त दो पथ–

यदि आत्मकाम, किंवा अकामभाव से उक्त ज्ञानकर्म्मों में मनुष्य (केवल कर्त्तव्यबुद्धया) प्रवृत्त रहता है, तो यह उपासना "बुद्धियोगोपासना" कहलाती है। इस मार्ग में यदि उदासीनवदासीनलक्षण सहयोग है, तब तो इसे युक्तमार्ग, किंवा युक्तोपासना (युक्तबुद्धियोग) कहा जायगा, और यही मार्ग बुद्धियोगानुबन्धी ज्ञानमार्ग कहलाएगा। यदि मानस–श्रद्धापूर्वक सहयोग है, तो इसे युक्ततममार्ग, किंवा युक्ततमोपासना (युक्ततम बुद्धियोग) कहा जायगा, और बुद्धियोगानुबन्धी यही दूसरा मार्ग "कर्म्ममार्ग"

कहलाएगा। इसप्रकार केवल वृत्तिभेद से बुद्धियोगात्मिका निर्गुण-उपासना के **ज्ञानात्मक युक्तमार्ग**, एवं **कर्म्मात्मक युक्ततममार्ग**, ये दो भेद होजायँगे।

३६६–भक्तिपथानुबन्धी कर्म्ममार्ग, एवं योगपथानुबन्धी ज्ञानमार्ग का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं तदनुप्राणित निष्कामभाव—

दूसरा आत्मविवर्त्त षोडशीप्रजापति (ईश्वर-सहस्र ल्शेश्वर) है। कर्म्म–ज्ञान वे ही हैं, जो पूर्व में बतलाए गए हैं। यदि आधिदैविक ईश्वरानन्यता-पूर्वक कर्म्ममार्ग का परिग्रहण है, तब तो यह कर्म्मयोग **ईश्वरोपासनात्मक भक्तियोग** है। यदि आध्यात्मिक ईश्वरानन्यता-पूर्वक ज्ञानमार्ग का परिग्रहण है, तो मन्त्र–लय–हठ–योगात्मक यह योग **आत्मोपासनात्मक योग** है, और यही इस भक्तिपथ का ज्ञानयोग है। भक्तिमार्ग कर्म्ममार्ग है, योगमार्ग ज्ञानमार्ग है। यहाँ दोनों हीं में निष्कामभाव नितान्त अपेक्षित है।

३६७–यज्ञोपासनारूप ज्ञानमार्ग का स्वरूप-समन्वय—

तीसरा आत्मविवर्त्त यज्ञप्रजापति (उपेश्वर–एकबल्शेश्वर) है। कर्म्मज्ञान वे के वे ही हैं। यदि आधिदैविक बल्शेश्वरानन्यता–पूर्वक कर्म्ममार्ग का परिग्रहण है, तो यह **यज्ञेश्वरोपासनारूप कर्म्ममार्ग** है। यदि आध्यात्मिक बल्शेश्वरानन्यतापूर्वक ज्ञानमार्ग का परिग्रहण है, तो यह **यज्ञात्मोपासनारूप ज्ञान-मार्ग** है।

३६८–यज्ञप्रतिमोपासनारूप कर्म्ममार्ग का स्वरूप-समन्वय—

इसी **यज्ञप्रजापति** के गर्भ में (तद्रूप ही) चार **प्रतिमाप्रजापति** और प्रतिष्ठित हैं। इन चारों के भी आधिदैविक–आध्यात्मिक भेद से दो दो रूप हैं, जैसाकि पूर्वपरिलेखों में से सर्वान्त के परिलेख से स्पष्ट है। कर्म्म–ज्ञान–वे के वे ही रहेंगे। यदि आधिदैविक प्रतिमेश्वरों में से किसी एक की (उद्गीथ की, साम की, **वैश्वानर की**, गायत्र की, किसी भी एक की) अनन्यता से युक्त होकर उपासक कर्म्म में प्रवृत्त रहता है, तो **यज्ञप्रतिमेश्वरोपासनारूप यह मार्ग कर्म्ममार्ग कहलाएगा**, एवं यही आधिकारिक आधि-दैविक अचेतन-जीवोपासना (सूर्य–चन्द्रादि प्रकृतिपर्वोपासना) कहलाएगी।

३६९–अष्टविध उपास्यदेवता, अष्टविध–उपासनामाध्यम, एवं तन्निबन्धन अष्टविध उपासकवर्ग का तालिका माध्यम से तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

यदि आध्यात्मिक प्रतिमेश्वरों में से किसी एक की (व्यान की, स्वर की, षडङ्गवैश्वानर की, प्रज्ञान की, **विज्ञान की, महान् की** किसी भी एक की) अनन्यता से युक्त होकर उपासक ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त रहता है, तो स्वयंआत्मप्रतिमेश्वरोपासनारूप यह मार्ग **ज्ञानमार्ग** कहलाएगा, एवं यही आधिकारिक आध्यात्मिक अचेतन जीवोपासना (व्यान–स्वर–वैश्वानर–प्रज्ञान आदि पर्वोपासना) कहलाएगी। इस प्रकार केवल [1]**उदासीन अव्यय**, [2]**श्रद्धायुक्त अव्यय**, [3]**आधिदैविक सहस्रबल्शेश्वर**, [4]**आध्यात्मिक सहस्रबल्शेश्वर**, [5]**आधिदैविक बल्शेश्वर**, [6]**आध्यात्मिक बल्शेश्वर**, [7]**आधिदैविक प्रतिमेश्वर**,

[८]आध्यात्मिक प्रतिमेश्वर इन आठ उपास्यों को लक्ष्य में रखने वाले, [१]आत्मकाम, [२]अकाम, [३]निष्काम, [४]ईश्वरकाम, [५]प्रवृत्तिकाम, [६]निवृत्तिकाम, [७]कर्म्मकाम, [८]ज्ञानकाम इन भावों से युक्त उपासनामार्ग ८ भागों में विभक्त होजाते हैं।

४००–अष्टविध उपासनामार्गों से अनुप्राणित ज्ञान–कर्म्म-भावों का समानानुबन्धत्व, एवं 'उपासना' का स्वरूप–समन्वय—

इन आठों में कर्म्ममार्ग विशेष है, ज्ञानमार्ग सामान्य है। कारण–सभी कर्म्ममार्गों में लोकसंग्रह है, एवं सभी ज्ञानमार्गों में लोकसंग्रह का अभाव है। तत्तत्–ज्ञान–कर्म्म–मार्गों से तत्तत्-आत्मभावों की सम्पत्ति स्वतः एव प्राप्त होजाती है। इस आत्मभाव–प्राप्ति का ही नाम उपासना है। और उपासना के पारमार्थिक ये ही आठ मार्ग बनसकते हैं।

वेदसिद्धाः–उपासनामार्गाः—

अव्ययः (ज्ञानम्) (अव्ययः)
- १–१ श्रद्धायुक्तः–अव्ययः—अकामः—युक्ततममार्गः— विशेषः (युक्ततमः)
- २–२ उदासीनः–अव्ययः—आत्मकामः–युक्तमार्गः— –सामान्यः (योगी)

→ [१]बुद्धियोगः (उपनिषदि)

———*———

षोडशी (भक्तिः) (अक्षरः)
- १–३ आधिदैविक—सहस्रबल्शेश्वरः—निष्कामः–भक्तिमार्गः-विशेषः (भक्तः)
- २–४ आध्यात्मिक–सहस्रबल्शेश्वरः-ईश्वरकामः–योगमार्गः-सामान्यः (भक्तः)

→ [२]भक्तियोगः (आरण्यके)

——— * ———

यज्ञः (कर्म्म) आत्मक्षरः)
- १–५ आधिदैविक–बल्शेश्वरः–प्रवृत्तिकामः–कर्म्ममार्गः—विशेषः (तपस्वी)
- २–६ आध्यात्मिक–बल्शेश्वरः-निवृत्तिकामः-ज्ञानमार्गः—सामान्यः (ज्ञानी)

———* ———

- १–७ आधिदैविक–प्रतिमेश्वरः–कर्म्मकामः–कर्म्ममार्गः–विशेषः (तपस्वी)
- २–८ आध्यात्मिक–प्रतिमेश्वरः—ज्ञानकामः–ज्ञानमार्गः-सामान्यः (ज्ञानी)

→ [३][४]ज्ञानकर्म्मयोगः (ब्राह्मणे)

———* ———

४०१--परमप्रजापति से अनुप्राणित 'ब्रह्मसत्य' तत्त्व, एवं तन्निबन्धना 'ब्रह्मसत्योपासना' का तात्त्विक--स्वरूप--समन्वय—

उक्त आठों विवर्त्तों में से प्रकृत में अन्त के चार विवर्तों का यज्ञेश्वरप्रजापति से ही, विज्ञानभाषा के अनुसार **ब्रह्मसत्येश्वर** से ही सम्बन्ध है। इस यज्ञप्रजापति के ही **ब्रह्मसत्य देवसत्य,** ये दो रूप हैं, जैसा कि "यदस्य त्वं यदस्य च देवेषु" (केनोपनिषत्) इत्यादि से स्पष्ट है। **प्राणमय स्वयम्भू, आपोमय परमेष्ठी, वाङ्मय सूर्य्य, अन्नमय चन्द्रमा, अन्नादमयी पृथिवी,** पाँचों की समष्टि ही "ब्रह्मसत्य" है। परमप्रजापतिरूप, सप्तवितस्तिकायात्मक पञ्चपर्वा यज्ञप्रजापति ही ब्रह्मसत्य है।

४०२--प्रतिमाप्रजापति से अनुप्राणित 'देवसत्य', एवं तन्निबन्धना--'देवसत्योपासना' का संस्मरण—

इस ब्रह्मसत्य के पार्थिव पर्व से **सर्वज्ञमूर्त्ति इन्द्र, हिरण्यगर्भमूर्त्ति वायु, वैश्वानरमूर्त्ति अग्नि,** इन तीनों देवताओं की समष्टिरूप **विराट्प्रजापति** ही देवसत्य है, जिस की कि उपासना का आगे के "दर्शनयुगानुगत--उपासनामार्ग" प्रकरण में स्पष्टीकरण होने वाला है।

४०३--आधिदैविक--आध्यात्मिक--परमप्रजापति, एवं प्रतिमाप्रजापति--निबन्धना उपासना-चतुष्टयी का तात्त्विक स्वरूप--समन्वय—

आधिदैविक पञ्चपर्वा परमप्रजापति तो ब्रह्मसत्य है ही, साथ ही इसी के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाला आध्यात्मिक पञ्चपर्वा परमप्रजापति भी ब्रह्मसत्य ही है। एवमेव आधिदैविक प्रतिमाप्रजापति तो ब्रह्मसत्य का पर्व होने से ब्रह्मसत्य है ही, साथ ही आध्यात्मिक प्रतिमाप्रजापति भी तद्रूप ही माने जायँगे। इसप्रकार--**आधिदैविक परमप्रजापति, आधिदैविक प्रतिमाप्रजापति, आध्यात्मिक परमप्रजापति, आध्यात्मिक प्रतिमाप्रजापति** भेद से **ब्रह्मसत्यात्मक परमप्रजापति** के चार विवर्त्त होजाते हैं।

४०४--पर्वोङ्कारात्मिका--आधिकारिक--अचेतनजीवोपासना-द्वयी का स्वरूप-समन्वय—

इन चारों में आधिदैविक परमप्रजापति की, एवं आध्यात्मिक परमप्रजापति की उपासना तो **यज्ञप्रजापत्युपासना** कहलाएगी, एवं आध्यात्मिक प्रतिमाप्रजापति की, तथा आधिदैविक प्रतिमाप्रजापति की उपासना आधिकारिक अचेतनजीवोपासना कहलाएगी। आदि की दोनों उपासनाओं की मूलप्रतिष्ठा प्रणवोङ्कार बनेगा। और यह पर्वोङ्कारात्मिका आधिकारिक--अचेतनोपासनाद्वयी प्रणवसञ्जिता आधिकारिक--चेतनजीवोपासना (अवतारोपासना) की अपेक्षा श्रेष्ठ कहलाएगी।

४०५--अवतारोपासना, तथा पर्वोपासना के पौर्वापर्य्यनिबन्धन--स्थानभेदों का प्रासङ्गिक-समन्वय—

पाठकों को स्मरण होगा कि, पूर्व में हमनें यह विप्रतिपत्ति उठाई थी कि--"भक्तियोगात्मक उपासना-प्रकरण का उपसंहार करते हुए अवतारोपासना को तीसरा स्थान दिया गया था, एवं अचेतनजीवोपासना को चौथा।

परन्तु यहाँ अचेतनोपासना को तीसरा, एवं अवतारोपासना को चौथा स्थान दिया गया, ऐसा क्यों ? । इसी विप्रतिपत्ति के निराकरण के सम्बन्ध में प्रसङ्गवश उपासना के ८ विवर्त्त पाठकों के सम्मुख उपस्थित किए गए । इस निरूपण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि, **पर्वोङ्कारात्मिका अचेतनजीवोपासना** अवतारोपासना की अपेक्षा श्रेष्ठ बनती हुई अवश्य ही तीसरा स्थान पाने का अधिकार रखती है, एवं अवतारोपासना चौथा स्थान ।

४०६--प्रणवोङ्कारशून्या, प्रकृतिभावनिबन्धना-लौकिकी--प्राकृतिकी-आदर्शात्मिका उपासना का स्वरूप-समन्वय—

अचेतनजीवोपासना का दूसरा प्रकार है--ओङ्काररहित । न इस उपासना का ज्ञान--कर्म्म शास्त्रीय है, न ईश्वरभाव है । अपितु यह उपासना केवल आदर्शमूला है । जो नास्तिक ईश्वरसत्ता पर विश्वास न कर केवल प्रकृति को ही सर्वेसर्वा मानते हैं, उन्हें चाहिए कि, वे प्रकृति के पर्वरूप आधिकारिक सूर्य्य--चन्द्रादि अचेतन जीवों के आदर्श को सामने रखते हुए ऐसे लौकिक कर्म्मों में प्रवृत्त रहें, जिन में प्रकृतिपर्ववत् अपना वैय्यक्तिक स्वार्थ न हो, केवल लोकाभ्युदय (विश्वशान्ति) ही लक्ष्य हो । आदर्शमूला लौकिक-ज्ञानकर्म्ममयी यही उपासना--अचेतन जीवोपासना का दूसरा प्रकार कहलाएगा, और इसी को हमनें अवतारोपासना की अपेक्षा चौथा स्थान दिया है ।

४०७--आदर्शमूला लौकिक उपासना के लोकभावों का लोकनिबन्धन उपयोगी--अनुपयोगी-दृष्टिकोण—

इस आदर्शमूला उपासना के भी ज्ञान, कर्म्म, भेद से दो ही विवर्त्त होजाते हैं । जो लौकिक मनुष्य मानवसमाज के अभ्युदय को लक्ष्य में रखते हुए मनोयोगपूर्वक वैज्ञानिक आविष्कारों के चिन्तन में संलग्न रहते हैं, वे **ज्ञानयोगी** कहलाएगें । एवं इन ज्ञानियों के (वैज्ञानिकों के) द्वारा आविष्कृत आविष्कारों का लोकाभ्युदय की दृष्टि से संसार में प्रचार--उपयोग करने वाले कर्म्मयोगी कहलाएँगे । इन **आविष्कारक ज्ञानियों**, एवं **प्रचारक कर्म्मठों** को प्रत्येक दशा में यह ध्यान रखना पड़ेगा कि, हमारा यह आविष्कार, और प्रचार लोकाभ्युदय (विश्वशान्ति) के स्थान में कहीं विश्वसंहारक तो नहीं बन रहा । हमारे आविष्कार दुष्टों का दमन करें, अन्याय पर प्रतिबन्ध लगावें, विश्वशान्ति में उपयुक्त बनें, यही लौकिक ज्ञानकर्म्ममयी आधिकारिक--अचेतनजीवोपासना कहलाएगी । और इसी परमार्थभाव से ऐसे लौकिक ज्ञानी (वैज्ञानिक), एवं कर्म्मठ भी परम्परया लोकयज्ञ के द्वारा **विश्वयज्ञ** के, एवं तद्द्वारा **यज्ञेश्वर** के उपासक बनते हुए बन्धन से मुक्त हो जायँगे--"**लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि**" ।

४०८--प्रकृतिविमूढ प्राकृत नष्टचेता मानवों का स्वरूपेतिवृत्त—

ठीक इसके विपरीत जो मूढधी अहर्निश प्रकृति का यशोज्ञान करते हुए, ईश्वरसत्ता पर अणुमात्र भी विश्वास न रखते हुए अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए, निर्बलों के ईश्वरप्रदत्त, किंवा प्रकृतिप्रदत्त प्रातिस्विक भागधेयों को हड़पने के लिए नित्य नवीन नवीन सांघातिक आविष्कार करते रहते हैं, अहोरात्र हड्डी के प्रयोग का अवसर ढूँढते हुए अपनी पैशाचिकी--उद्दाम--वासना को शान्त करने का जघन्य प्रयास करते रहते हैं, वे

लोकशत्रु बनते हुए अवश्य ही प्रकृति के भी शत्रु हैं। प्रकृति का नाममात्र लेने वाले, किन्तु प्रकृति के विश्वशान्तिमूलक आदर्श से सर्वथा ही वञ्चित ये कामकामी अपना क्षणिक परितोष करते हुए अन्त में अपना समूल नाश ही करा बैठते हैं-"विद्धि **नष्टान्चेतसः**"। प्रकरण-सम्बन्ध की दृष्टि से यहाँ इसे उद्धृतमात्र कर दिया है। वस्तुतः इस का स्थान चौथी अवतारोपासना के अनन्तर ही समझना चाहिए।

४०९-"वैदिक-प्रतिमोपासना" का स्वरूप-संस्मरण—

प्रकृत प्रकरण से वक्तव्य केवल यही था कि-आधिदैविक पर्वोङ्कारमूलक कर्मात्मक (आधिभौतिक यज्ञकर्म्मात्मक) उपासनामार्ग, आध्यात्मिक पर्वोङ्कारमूलक ज्ञानात्मक (आध्यात्मिक यज्ञकर्म्मरूप) योगमार्ग, इन दो विधाओं को अपने गर्भ में रखने वाली उपासना ही "**वैदिक आधिकारिक अचेतनजीवोपासना**" (जिसे कि विज्ञानभाषा में हम "**वैदिक-प्रतिमोपासना**" कहेंगे) है। यही यज्ञेश्वरप्रजापति की उपासना का प्रकारद्वयात्मक तीसरा प्रकार है।

—३—

४-आधिकारिक चेतनजीवोपासना [अवतारोपासना]— [विशुद्ध-पौराणिकी]

४१०-सर्वोच्चधरातलात्मिका बुद्धियोगात्मिका उपासना का स्वरूप-संस्मरण—

विशुद्ध अव्ययनिष्ठा से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धियोगात्मिका उपासना का धरातल सब से ऊँचा है। इसका अनुगमन करते हुए तो शास्त्रीय-अशास्त्रीय, सब प्रकार के ज्ञान-कर्म्मों का अनुगमन करता हुआ उपासक विदेहमुक्त है। इस उपासना में शास्त्रमर्य्यादा पर विशेष लक्ष्य नहीं है। यहाँ तो केवल अव्ययानन्यता ही अपेक्षित है। यदि वह है, तो-"**निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः, को निषेधः**"। और भगवान् ने अर्जुन के प्रति "**निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !**" "**योगः कर्म्मसु कौशलम्**"-"**स मे युक्ततमो-मतः**"-**तस्माद्योगाय युज्यस्व**"-"**तस्माद्योगी भवार्जुन !**" इत्यादिरूप से इसी सिद्धान्त को सामने रक्खा।

४११-बुद्धियोगनिष्ठ योगी की 'शास्त्ररूपता' का समन्वय, एवं तदाचरण की स्वयं-शास्त्रीयता, तथा तदनुबन्धी रहस्यात्मक गुप्त-लोकशिक्षण—

गीता के उक्त सर्वोच्च सिद्धान्त पर यदि कोई यह आक्षेप करे कि, जब शास्त्रविरुद्ध ज्ञान-कर्म्म प्रकृति के विरुद्ध हैं, एवं प्रकृति के विरुद्ध जाना कभी अभ्युदय का कारण नहीं बन सकता, तो इस सम्बन्ध में हमें कहना पड़ेगा कि अभी उन्होंने भगवन्निष्ठा का मर्म्म नहीं समझा। "**बुद्धियोगी के लिए शास्त्रीय-अशास्त्रीय सब ज्ञान कर्म्म एक धरातल पर प्रतिष्ठित हैं**" इसका तात्पर्य्य यही है कि, **ऐसा योगी स्वयं ही शास्त्र बन जाता है, स्वयं ही प्रकृति बन जाता है**। शब्दसंग्रहात्मिका परिच्छिन्ना शास्त्रमर्य्यादा से विमुक्त जगदीश्वर का प्रत्येक ज्ञान-कर्म्म जिसप्रकार लोकाभ्युदयकर ही सिद्ध होता है, एवमेव बुद्धियोगी

की प्रत्येक चर्य्या से भूतमात्र का अभ्युदय ही होता है। यदि वह मद्यपान करता है, तो इसमें भी कोई गुप्त लोक-शिक्षण छिपा हुआ है। यदि वह कोई और दुराचार करता है, तो उसमें भी कोई आदेश ही प्रतिष्ठित है। दूर जाने की क्या आवश्यकता है। स्वयं बुद्धियोगाचार्य्य श्रीकृष्ण की लीलाओं से ही सब कुछ स्पष्ट होजाता है।

४१२--भगवान् कृष्ण की रहस्यपूर्ण लीलाएँ—

कृष्णलीलाओं में सुप्रसिद्ध "चीरहरणलीला"--"रासलीला" इन दो लीलाओं पर आज का सभ्यताभिमानी पश्चिमोच्छिष्टभोगी भारतीय समाज नाक-भौं-सिकोड़ा करता है, और बड़े अभिमान के साथ कहा करता है कि, "कृष्णने कभी उक्त लीलाएँ नहीं कीं। भला जिस योगेश्वर ने गीता जैसे अपूर्व ज्ञान से विश्व को धन्य बना दिया, वह स्त्रियों को नग्न करेगा, एवं स्त्रियों के साथ नाचेगा, यह कौन बुद्धिमान् स्वीकार करेगा ?। अवश्य ही यह पुराण की पोपलीलामात्र है।"

४१३--भगवान् की मानुषी तनु, और तद्द्वारा स्त्री--शूद्र-वैश्यादि का अभ्युदय—

अस्तु, इन सभी लीलारहस्यों का विवेचन 'श्रीकृष्णतत्त्वविवेचन' नामक द्वितीय काण्ड में पाठक देखेंगे ही। यहाँ इस सम्बन्ध में यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, भगवान् का अवतार केवल मानव-समाज के बुद्धिजीवी वर्ग के अभ्युदय के लिए ही नहीं होता। सम्भव है, वे गीता के आदेश पर चलते हुए अपना अभ्युदय कर सकें। परन्तु बालक, स्त्री, शूद्र, वैश्य आदि जिन जीवों में शास्त्रनिष्ठा की योग्यता नहीं है, उन सबका भी अभ्युदय अभीष्ट है भगवान् को। **"अनुग्रहाय भूतानां मानुषीं देहमाश्रितः"** ही अवतार का मुख्य लक्ष्य है। और इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए भगवान् को जहाँ सर्वोच्च गीतायोग बतलाना आवश्यक हुआ है, वहाँ तदनधिकारी वर्ग के अभ्युदय के लिए सामान्य लीलाओं में भी प्रवृत्त होना पड़ा है—**"भजते तादृशीः क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्"**।

४१४-चीरहरण, रासविहार, आदि का स्वरूप--सङ्केत—

यमुनाप्रान्त के निवासी स्त्रीपुरुषवर्ग प्रायः नग्न होकर यमुना स्नान करते थे। यह असभ्यपद्धति स्त्रीवर्ग में विशेषरूप से प्रचलित थी। इस दूषित पद्धति के संशोधन के लिए ही चीरहरणलीला हुई है। इस एक ही शिक्षा का समाज पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि, आगे के लिए यह बुरी प्रथा सर्वथा ही हट गई। इसीप्रकार रासलीला **"कामनिग्रहशिक्षण"** के लिए प्रवृत्त हुई है—**"आत्मन्यवरुद्धसौरतः"**।

४१५--परमहंस--वीतराग--योगियों के उन्मत्ताचारों का समन्वय—

तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि, पहिले तो बुद्धियोगी से कोई अशास्त्रीय-लोकविरोधी कार्य्य होता ही नहीं। यदि उसमें ऐसे कार्य्य देखे जाते हैं, तो हमें मानना चाहिए कि, अवश्य ही इसमें भी कोई गुप्त रहस्य है, गुप्त आदेश है। स्वयं वेद ने ऐसे परमहंसयोगियों के उन्मत्ताचार को लोकाभ्युदय-मूलक मानते हुए उनका समर्थन ही किया है। देखिए—

(१)-"अथ परमहंसा नाम संवर्त्तक-आरुणि-श्वेतकेतु-जडभरत-दत्तात्रेय-शुक्र-वामदेव-हारीतक-प्रभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे (बुद्धियोगे) मोक्षमेव प्रार्थयन्ते।

वृक्षमूले, शून्यगृहे, श्मशानवासिनो वा, साम्बरा वा दिगम्बरा वा न तेषां धर्म्माधर्म्मौ, लाभालाभौ, शुद्धाशुद्धौ, द्वैतवर्जिताः, समलोष्टाश्मकाञ्चनाः, सर्वत्रात्मैवेति पश्यन्ति''

—भिक्षुकोपनिषत्

(२)–तत्र परमहंसा नाम संवर्त्तक–आरुणि–श्वेतकेतु–दुर्वास–ऋभु–निदाघ–जडभरत–दत्तात्रेय–रैवतक–प्रभृतयः–अव्यक्तलिङ्गाः, अव्यक्ताचाराः, अनुन्मत्ताः, उन्मत्तवदाचरन्तः, त्रिदण्डं, कमण्डलुं, शिक्यं पात्रं, जलपवित्रं, शिखां, यज्ञोपवीतं च–इत्येतत्सर्वं 'भूस्वाहा' इत्यप्सु परित्यज्य-आत्मानमन्विच्छेत्।

—जाबालोपनिषत्

४१६–ज्ञान–कर्म्म–भक्ति-योगात्मिका शास्त्रीय-योगत्रयी से अनुप्राणित 'अधिकारीवर्गों' का स्वरूप–समन्वय, एवं समानाधिकार–मूला गीता की 'बुद्धियोगनिष्ठा' का संस्मरण—

शास्त्रीयमार्ग (शास्त्रीय अक्षरोपासनात्मक, राजयोगात्मक–भक्तिमार्ग, मन्त्र–लय-हठयोगात्मक भक्तिमार्ग, यज्ञदानतपोलक्षण कर्म्ममार्ग, नैष्कर्म्यलक्षण कर्म्ममार्ग) अधिकारमर्य्यादा की अपेक्षा रखते हैं। वर्णाश्रमधर्म्मानुयायी द्विजातिवर्ग ही शास्त्रीय-योगत्रयी (भक्ति–कर्म्म–ज्ञान-योगत्रयी) का अधिकारी है। स्त्री–शूद्र–म्लेच्छादि को इन मार्गों में प्रवृत्त होने का अधिकार नहीं है, जैसाकि "कर्म्मयोगपरीक्षा" प्रकरणान्तर्गत वर्णव्यवस्थाविज्ञान में विस्तार से बतलाया जाचुका है। परन्तु अव्ययमूला बुद्धियोगनिष्ठा का ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–स्त्री–म्लेच्छादि इतर पापयोनियों को, सभी को समानाधिकार है। इस सम्बन्ध में भी शास्त्रनिष्ठ भगवान् की दृष्टि से यह संशोधन कर ही लेना चाहिए कि अव्ययनिष्ठामूलक शास्त्रीय ज्ञान–भक्ति–कर्म्म-योगों का तो एकमात्र द्विजातिवर्ग को ही अधिकार है। अतएव इन्हें अव्ययनिष्ठा का अनुगमन करते हुए भी वर्णोचित शास्त्रीय-निष्ठाओं पर ही यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहना चाहिए।

४१७–स्त्री–शूद्र–वैश्यादि–अनुगता प्रकृतिसिद्धा कर्म्मविभूति, एवं तद्द्वारा तद्वर्गों की अभ्युदय–निःश्रेयस–संसिद्धि—

इतर–शूद्र-स्त्री–पापयोनि, आदि के जो प्रकृतिसिद्ध सेवा, गृहस्थपरिपालन, देशानुकूलकर्म्म, इत्यादि नियत कर्म्म हैं, उनके अनुगमन से अव्ययानन्यता के द्वारा उद्धार सुलभ है। इन्हें इसी अव्ययानन्यता से वही फल मिल जाता है, जो कि फल शास्त्रनिष्ठ द्विजाति बुद्धियोगी को मिलता है। दोनों समानरूप से "परागतिं" (अव्ययगति) के अधिकारी हैं। और इसी दृष्टि से सर्वमूर्द्धन्या यह अव्ययनिष्ठा, किंवा बुद्धियोगनिष्ठा सब के लिए उपकार-प्रवर्त्तिका बन रही है। इसी भाव का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

"मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा" ॥

४१८–बुद्धियोगनिष्ठ धर्म्मव्याधादि की प्रकृतिसिद्धा नियता कर्म्मानुगति, एवं तन्मूला महती संसिद्धि का संस्मरण—

धर्म्मव्याधादि शूद्रमहाभाग स्वकर्म्म में निरत रहते हुए इसी बुद्धियोग के अनुग्रह से मुक्त हुए हैं। अनन्यनिष्ठ निषाद, भीलनी, कुब्जा, मीरा, कबीर, सन्त तुकोबा, भक्तप्रवर चेता आदि की बुद्धियोगानन्यता सुप्रसिद्ध ही है। देवी भारती, गार्गी आदि श्रद्धेया–स्त्रियों के नाम स्मरण से भी कौन अपने को धन्य नहीं मानता ? । इसप्रकार शास्त्रीय दुस्तर, बहुकष्टसाध्य, अधिकार–मर्य्यादा से सर्वथा नियन्त्रित–ज्ञान–कर्म्म–भक्ति-योगों से सर्वथा स्वतन्त्र इस बुद्धियोग का अनुगमन आपामर–आविद्वज्जन सभी को विदेह बना सकता है। और इस सर्वोपकारक मार्ग के आविर्भाव–उपदेश का एकमात्र श्रेय गीताचार्य्य भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के गीताशास्त्र को ही मिला है। परन्तु..... ।

४१९–यज्ञप्रजापत्यनुगता अवतारोपासना का समर्थन, एवं युगधर्म्मनिबन्धन–औपासनिक–मार्गों की लक्ष्यच्युति का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यही 'परन्तु' यज्ञप्रजापति से सम्बन्ध से रखने वाली चौथी "अवतारोपासना" का समर्थक है। जिस बुद्धियोग में न कामभाव हो, न निष्कामभाव हो, हो तो केवल अकामभाव, अधिक से अधिक आत्म–कामभाव, जिसके सम्यगनुष्ठान के लिए सर्वमूलभूत निर्गुण अव्ययात्मा का परिज्ञान अपेक्षित हो, सामान्य स्त्री–शूद्र–वैश्यों की कौन कहे, ज्ञानाधिष्ठाता ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्ग के लिए भी यह योग एक जटिल समस्या बन जाता है। इसकी जटिलता का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, देवयुग से आरम्भ कर आज पर्य्यन्त परिगणित [इने गिने] महापुरुष ही इस में सफलता प्राप्त कर सके हैं। दूसरा प्रमाण यही है कि, जनसाधारण में इस योग का प्रचार बहुत ही कम रहा है। महाभारत जैसे विद्यावैभवकाल में भी यह योग विलुप्त था। फिर आज के उस युग की तो कथा ही छोड़िए, जहाँ शास्त्रानभिज्ञ, मन्दमति स्वार्थपरायण वे व्यक्ति भी, जिन्हें वैदिक–आत्मा-परमात्म-तत्त्वों का लेश भी परिज्ञान नहीं है, निर्गुण उपासना का डिण्डिमघोष करते हुए लज्जा का अनुभव नहीं कर रहे।

४२०–बुद्धियोग की जटिलता का स्वरूपोद्घाटन, सुगमतम भी बुद्धियोग की युगधर्म्म–व्यामोहनानुगता महती जटिलता, एवं अवतारोपासना के माध्यम से तन्निराकरण-प्रयास—

इसका यह तात्पर्य्य तो नहीं है कि, बुद्धियोग एक महाजटिल मार्ग है। जटिल-समस्या अवश्य है, परन्तु मार्ग तो अतिशय सुगम ही है। थोड़े अभ्यासमात्र की अपेक्षा है। यदि यह दुस्तरमार्ग होता, तो

इसके लिए अमंदिग्धरूप से भगवान् के मुख से–"येऽपि युः पापयोनयः"--"अपि चेत् सुदुराचारः" ये अक्षर नहीं निकलते। बुद्धियोग जटिल पथ है, अथवा सुगम ?, इस प्रश्न की मीमांसा आगे आने वाले "बुद्धियोगपरीक्षा" प्रकरण में की जाने वाली है। अतः यहाँ विस्तार की अपेक्षा नहीं है। यहाँ तो हमें यही निवेदन करना है कि, स्वस्वरूप से सुगमतम रहता हुआ भी बुद्धियोग सामयिक प्रवाह के द्वारा, एवं सहजसिद्ध त्रिगुण--विस्तार के द्वार क्लिष्टतम बना दिया जाता है। वैसे बिना आत्मस्वरूप के (उस सुसूक्ष्म तत्त्व के परिज्ञान के भी) बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त की जासकती है, और अवश्य भी जासकती है। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि, मानवसमाज के बुद्धिदोष से एक रहस्यमय जटिल समस्या बनता हुआ ही बुद्धियोग स्त्री--शूद्र-पापयोनियों को वञ्चित रख देता है। द्विजातिवर्ग बिना भी बुद्धियोग के शास्त्रनिष्ठ भक्ति--ज्ञान-कर्म्म-योग में निष्कामभाव से प्रवृत्त रहता हुआ परम्परया बुद्धियोग प्राप्त करता हुआ (ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते) मुक्त होसकता है। परन्तु जिन स्त्री--शूद्र--पापयोनियों को न तो सामयिक परिस्थितिदोष से बुद्धियोग का परिज्ञान है, एवं न इन्हें शास्त्रसिद्धा योगत्रयी के आचरण का ही अधिकार है, इन के अभ्युदय का कौन सा उपाय ?, बस इसी प्रश्न का समाधान है—"अवतारोपासना",—"पौराणिक मार्ग"।

४२१–'द्विजबन्धु' स्वरूप दिग्दर्शन, श्रुतिपथ में अनधिकृत द्विजबन्धु--आदि वर्ग, एवं तदभ्युदयानुगत पौराणिक--अवतारोपासना-पथ का संस्मरण—

ऐसे क्षत्रिय–जो जन्म से मूर्ख रहे हैं, ऐसे ब्राह्मण–जो विद्याशून्य हैं, ऐसे वैश्य-जो अर्थकुचक्र में चक्रायित बन कर आत्म-परमात्म-विवेक से वञ्चित हैं, "द्विजबन्धु" कहलाए हैं। ये द्विज नहीं हैं, अपितु द्विजाति के भाई बन्धु हैं, अर्थात् नाममात्र के द्विजाति हैं। द्विजबन्धुलक्षण ऐसा द्विजातिवर्ग अविद्यावश, एवं स्त्री–शूद्र–पापयोनिवर्ग अनधिकारवश शास्त्रीय योग का अनुष्ठान करने में असमर्थ है। दूसरे शब्दों में–त्रयीसम्मत पूर्वोक्त आठों शास्त्रीय उपासनामार्गों से अपरिचित है। इसी के अभ्युदय के लिए भगवान् व्यासदेव की अनुकम्पा से पुराण, एवं तत्प्रतिपाद्य अवतारोपासना का जन्म हुआ है, जिसके कि सम्बन्ध में निम्न लिखित सूक्ति सुप्रसिद्ध है—

"स्त्री–शूद्र–द्विज–बन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा"।

४२२–'त्रयी न श्रुतिगोचरा' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं श्रुतिप्रमाणाधारेण प्रतिष्ठित पुराणशास्त्र के प्रामाणिक पथ का संस्मरण—

सचमुच यह बड़े ही खेद का विषय है कि, हम अपनी मूर्खता से महर्षियों के उपकार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के स्थान में कृतघ्नता प्रकट करते हुए आज अपना सर्वनाश ही करा रहे हैं। मनोवशवर्त्ती भावुक मानव कहा करते है कि, जब वेद ईश्वरीय ज्ञान है, तो मनुष्यमात्र को उसका अधिकार क्यों नहीं ?। क्यों स्त्री-शूद्रों को वेदमार्ग से वञ्चित रक्खा जाय ?। इस सम्बन्ध में यही प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण पर्य्याप्त होगा कि, अधिकारी-भेद की मर्य्यादा के आधार पर ही प्रकृतिभेद प्रतिष्ठित है। ईश्वरी-यज्ञानरूप वेदशास्त्र में कैसी योगत्रयी का विधान हुआ है, यदि इसका उन्हें थोड़ासा भी आभास होजाता, तो सम्भवतः वे "स्त्रीशूद्रौ ना–

धीयाताम्" इस श्रुतिमूलक "त्रयी न श्रुतिगोचरा" इस आदेश की कुत्सित समालोचना नहीं करते। वेद की बात तो बहुत दूर है, आज तो हमें यह कहने में भी सङ्कोच नहीं होरहा कि, आजका स्त्री-शूद्रवर्ग तो क्या, द्विजातिवर्ग भी पुराण के मर्म्मज्ञान से भी सर्वथा वञ्चित है। पौराणिक पथ कोई स्वतन्त्र पथ, किंवा काल्पनिक पथ नहीं हैं। अपितु यह तो उस जटिलमार्ग का ही एक रूपान्तर-सरल मार्ग-है।

४२३-त्रिदेवतानुगता पौराणिकी अवतारोपासना के ज्ञान--कर्म्म-निबन्धन दो प्रधान--विवर्त्त—

अस्तु, किसे किस मार्ग का अधिकार है, ? यह विवेचन अप्रस्तुत है। वक्तव्यांश इतना ही है कि, अवतारोपासना का विकास पुराणों में हीं हुआ है, एवं इस पौराणिकी अवतारोपासना के ब्रह्मा-विष्णु-महेश, प्रधानरूप से ये तीन ही विवर्त्त हैं। यहाँ भी समन्वय ज्ञान-कर्म्म का ही है। और इसी दृष्टि से इस अवतारोपासना के भी पूर्वोपासना की भाँति दो ही भेद हो जाते हैं, जैसाकि अनुपद में हीं स्पष्ट होने वाला है।

४२४-वैदिक--पञ्चदेवतावाद के आधार पर प्रतिष्ठित पौराणिक त्रिदेवतावाद का स्वरूप-समन्वय—

वेदिक देवोपासना, और पौराणिक देवोपासना का मार्ग यद्यपि भिन्न है, परन्तु लक्ष्य एक ही है। जिस ब्रह्मसत्य का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उसके स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी, ये पाँच पर्व हैं। स्वयम्भू ब्रह्मा है, सूर्य्य इन्द्र है, चन्द्रमा सोम है, पृथिवी अग्नि है। ये पाँच देवता ही पञ्चपर्वा ब्रह्मसत्य के स्वरूप-समर्पक हैं। एवं यही वैदिक पञ्चदेवतावाद है। इन्हीं की उपासना आधिकारिक अचेतन जीवोपासना (पर्वोङ्काररूपा वैदिक उपासना) है, जैसाकि पूर्व के तृतीय प्रकरण में स्पष्टीकरण किया जाचुका है।

४२५-रोदसी--क्रन्द्रसी-संयती--त्रैलोक्यों के अधिष्ठाता ब्रह्मा-विष्णु--महेश--तत्त्वों का संस्मरण—

यही वैदिक पञ्चदेवतावाद पुराण में त्रिदेवतावादरूप में परिणत होगया है। पाठकों को स्मरण होगा कि-प्रकरणारम्भ में प्रणवोङ्कार का स्वरूप बतलाते हुए हमनें भूः-भुवः-स्वः, इन तीन महाव्याहृतियों के आधार पर क्रमशः रोदसी क्रन्द्रसी-संयती, इन तीन त्रिलोकियों का आविर्भाव बतलाया था। ये ही-तीनों त्रैलोक्य क्रमशः महेश, विष्णु, ब्रह्मा, इन तीन देवताओं से युक्त हैं। महेश भूरूप रोदसी-त्रैलोक्य के, विष्णु भुवः स्वरूप क्रन्दसी-त्रैलोक्य के, एवं ब्रह्मा स्वः-स्वरूप संयती-त्रैलोक्य के अधिष्ठाता-माने गए हैं।

४२६-रोदसी--क्रन्दमी-संयती--त्रैलोक्यों का स्वरूप--दिग्दर्शन, एवं तदधिष्ठात्री देवतात्रयी--

सत्यलोकात्मक स्वयम्भू, ऋतलोकात्मक तपोलोक, जनल्लोकात्मक परमेष्ठी, इन तीनों की समष्टि ही संयती-त्रैलोक्य है, एवं इसके अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं। जनल्लोकात्मक परमेष्ठी, ऋतलो-

का त्मक महर्लोक, अमृत सूर्य्य, इन तीनों की समष्टि ही क्रन्दसी-त्रैलोक्य है, एवं इस के अधिष्ठाता विष्णु हैं। मर्त्यसूर्य्यरूप स्वर्लोक, चन्द्रात्मक भुवर्लोक, पृथिव्यात्मक भूलोक, तीनों की समष्टि ही रोदसी-त्रैलोक्य है, एवं इस के अधिष्ठाता महेश, किंवा महादेव हैं।

४२७–प्रकृतिदृष्टि, एवं शुक्रदृष्टि--से अनुप्राणिता दृष्टित्रयी, और तदनुगत उभय--दृष्टि-समन्वित-त्रैलोक्य--त्रिलोकी के त्रिविध देवता, एवं त्रिनेत्र 'महोदेव' रूप 'महादेव' का संस्मरण—

ब्रह्मा प्रकृतिदृष्टि से प्राणमय हैं, शुक्रदृष्टि से वाङ्मय हैं। विष्णु प्रकृतिदृष्टि से आपोमय हैं, शुक्र-दृष्टि से वाक्–आपोमय हैं। इधर महेशतत्त्व प्रकृतिदृष्टि से वाक्-अन्न-अन्नादमय हैं, एव शुक्रदृष्टि से वाक्-आपः–अग्निमय है। इसी दृष्टि से ब्रह्मा-विष्णु में जहाँ एक और दो कलाएँ हैं, वहाँ महेश मे तीन कलाएँ हैं। इसी महत्त्व से ये तीनों में "महादेव" कहलाते हैं। "महोदेवो मर्त्यां आविवेश" के अनुसार वृषभ-मूर्त्ति सौर इन्द्रप्रधान महेशतत्त्व ही महादेव है। ब्रह्मा-चितृपति हैं, विष्णु देवपति हैं, महादेव भूतपति हैं। ब्रह्मा-विष्णु, दोनों अव्यक्त है। इन दोनों अव्यक्तों का लिङ्ग (परिचायक) व्यक्त महेशतत्त्व ही है। व्यक्त ही तो अव्यक्त का लिङ्ग बनता है। इसी आधार पर महादेव की उपासना लिङ्गरूप से ही की जाती है। मर्त्यसूर्य्य महादेव का एक नेत्र, चन्द्रमा दूसरा नेत्र, एवं अग्नि तीसरा नेत्र। यही त्रिनेत्र महादेव हैं।

४२८–उत्पादन--पालन--संहाराधिष्ठात्री देवतात्रयी, त्रिगुणात्मिका देवतात्रयी, एवं महालक्ष्मी--महाकाली--महासरस्वती--रूपा शक्तित्रयी का पावन--संस्मरण—

तात्पर्य्य यही हुआ कि, ब्रह्मा एक स्वतन्त्र देवता हैं। विष्णु-इन्द्र की समष्टि विष्णु है, एवं इन्द्र–अग्नि-सोम की समष्टि महेश है। इसप्रकार वैदिक-पञ्चदेवता के आधार पर ही (उपासना की सिद्धि के लिए) पुराण का त्रिदेववाद स्थापित हुआ है। पुराणके अनुसार ब्रह्मा विश्व के उत्पादक हैं, विष्णु--पालक हैं, महादेव संहारक हैं। "त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः"। ब्रह्मा सत्त्वगुणप्रधान हैं, विष्णु रजोमूर्त्ति हैं, शिव तमोमूर्त्ति हैं। तीनों की महासरस्वती, महालक्ष्मी, महाकाली, ये तीनों शक्तियाँ ही ज्ञान–अर्थ–काल-चक्रों का संञ्चालन कर रहीं हैं। अहःकाल में वैष्णवी महालक्ष्मी का साम्राज्य है। रात्रि में शैवी महाकाली की सत्ता–है। एवं सन्धि में ब्राह्मणी महासरस्वती व्याप्त है।

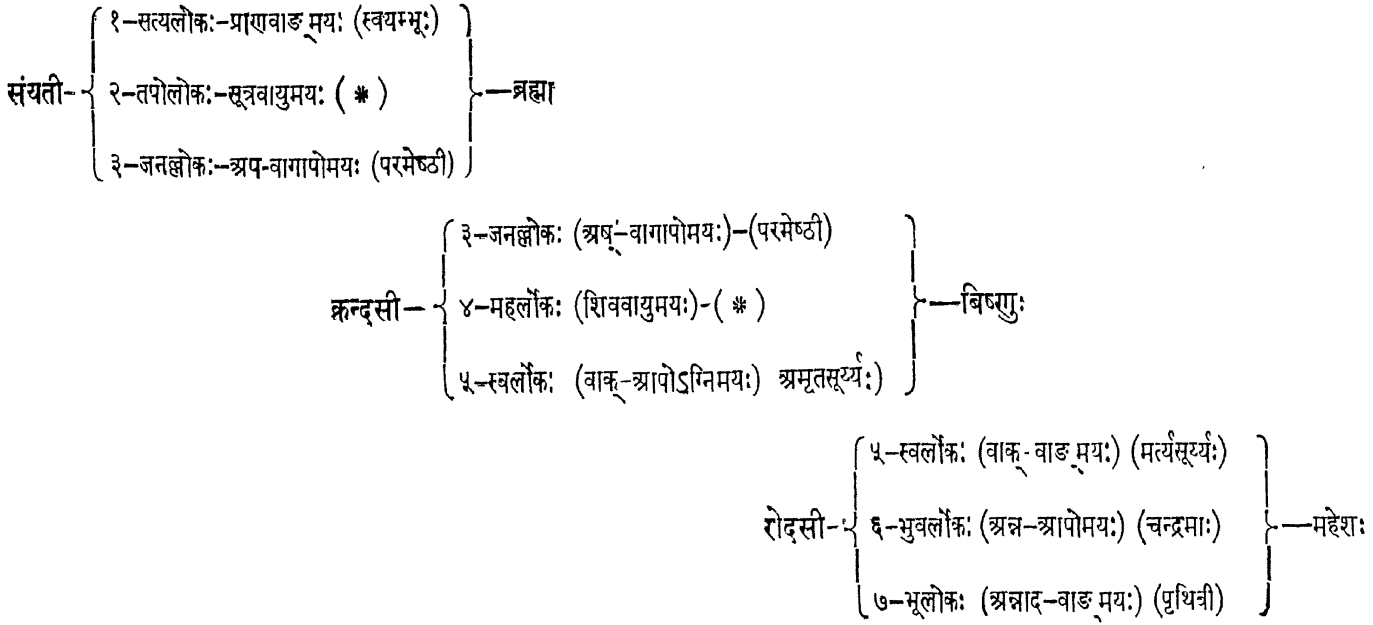
संयती-
१-सत्यलोकः-प्राणवाङ्मयः (स्वयम्भूः)
२-तपोलोकः-सूत्रवायुमयः (*)
३-जनलोकः-अप-वागापोमयः (परमेष्ठी)
-ब्रह्मा
क्रन्दसी-
३-जनलोकः (अप्-वागापोमयः)-(परमेष्ठी)
४-महर्लोकः (शिववायुमयः)-(*)
५-स्वर्लोकः (वाक्-आपोऽग्निमयः) अमृतसूर्य्यः)
-विष्णुः
रोदसी-
५-स्वर्लोकः (वाक्-वाङ्मयः) (मर्त्यसूर्य्यः)
६-भुवर्लोकः (अन्न-आपोमयः) (चन्द्रमाः)
७-भूलोकः (अन्नाद-वाङ्मयः) (पृथिवी)
-महेशः
१-संयतीत्रैलोक्यं-स्वः-अधिष्ठाता ब्रह्मा चित्पतिः-अव्यक्तः (द्युद्रुमोर्ध्वः)
२-क्रन्द्रसीत्रैलोक्यं-भुवः-अधिष्ठाता विष्णुः-देवपतिः-अव्यक्तः (द्युद्रुममध्यः)
३-रोदसीत्रैलोक्यं-भूः-अधिष्ठाता-महेशः-भूतपतिः-व्यक्तोऽव्यक्तानाम् (द्युद्रुमाधः)
-पौराणिकदेवत्रयी

४२९–'अवतार' शब्द की त्रिधा व्याप्ति, एवं तन्निबन्धन–त्रिविध अवतारवर्गों का पावन-संस्मरण, तथा तन्निबन्धना उपासना–त्रयी का स्वरूप–दिग्दर्शन—

अवतारविज्ञान के अनुसार हम अवतारों को **नित्यप्राकृतिक अवतार, सामयिक मनुष्यविध अवतार, उभयविध अवतार**, इन तीन भागों मे विभक्त कर सकते हैं। उक्त प्राकृतिक-तीनों देवताओं(ब्रह्मा–विष्णु–महेश) को,एवं **कूर्म्म, वराह, गणपति, शक्ति,** आदि अवतारों को नित्यप्राकृतिक अवतार कहा जायगा। वामन–कूर्म्म–वराह–शक्ति आदि अवतारों को उभयविध अवतार कहा जायगा। **नृसिंह–राम-कृष्ण–परशुराम–हलधर** आदि अवतारो को सामयिक मनुष्यविध अवतार कहा जायगा, एवं इन तीनों हीं अवतारो को **आधिकारिक चेतनजीव** माना जायगा, और इन **तीनों की ही उपासना पौराणिक उपासना** कहलाएगी। तीनों में से नित्यप्राकृतिक अवतारों की, तथा उभयविध अवतारों कीं उपासना का प्रकार तो स्वयं वेद में भी यत्रतत्र यज्ञकर्म्म के व्याज से निरूपित है। एवं तीसरी मनुष्यविध अवतारों की उपासना का एक-मात्र प्रतिपादक **पुराणशास्त्र**, एवं तदनुगामी **नारदपञ्चरात्र, भक्तिसूत्र**, आदि ही हैं। इन अवतारोपासनाओं का क्या प्रकार है ?, यह तत्तत् शास्त्रों से ही जानना चाहिए।

४३०–द्विजातिवर्गानुबन्धिनी–अवतारोपासना, एवं स्त्री-शूद्र-वैश्य-वर्गानुबन्धिनी–अवतारोपासना का स्वरूप-समन्वय —

हाँ, इस सम्बन्ध में एक विवेक अवश्य ही कर लेना चाहिए। **द्विजबन्धुलक्षण द्विजातिवर्ग, स्त्री, शूद्र**, प्रमुखरूपेण इन तीन के अभ्युदय के लिए ही अवतारोपासना का विधान हुआ है। इनमें नित्य-प्राकृतिक अवतारों की उपासना द्विजातिवर्ग से सम्बन्ध रखती है। आगमशास्त्रोक्ता उपासना के जितने मार्ग हैं, **शैव–शाक्त–कापालिक–मान्त्रिक–तान्त्रिक–यान्त्रिक**-आदि जितने भी प्रकार हैं, उन सबका नित्य प्राकृतिक अवतारोपासना में हीं अन्तर्भाव है। और इसका विशेष अधिकार द्विजबन्धुओं को ही है। यदि निष्काम-भाव से वे इस उपासना में प्रवृत्त होते हैं, तो तत्तद्देवताशक्तिलाभ के द्वारा तत्तद्देवतालोकफल उन्हें मिल जाता है, अन्ततः पुनरावर्त्तन भी नहीं होता। सकामभाव में सिद्धिमात्र के कारण बनते हुए ये ही उपासनामार्ग अशाश्वत फल के ही कारण बने रह जाते हैं।

४३१–मनुष्यविधा अवतारोपासना का अधिकारी वर्ग, एवं इत्थंभूता सर्वसामान्यानुगता अवतारोपासना के नियन्त्रणासंस्पृष्ट सामान्य-पथों का स्वरूप–दिग्दर्शन—

स्त्री और शूद्रवर्ग, उभयविध अवतारोपासना के, विशेषतः सामयिक मनुष्यविध अवतारोपासना के अधिकारी हैं। इस उपासना में निगमागमपद्धतियों का कोई नियन्त्रण नही है। पूर्वोक्ता अवतारोपासना में तो आगमोक्ता पद्धति का यथावत् अनुगमन करने से ही सफलता मिल सकती है। परन्तु इस दूसरे प्रकार में कोई नियतविधि नही है। केवल अवतारपुरुषों की लीलाओं का अभिनय (**रामलीला–कृष्णलीला–नृसिंह-लीला–वराहलीला–वामनलीला–सत्यनारायणकथा–श्रवण–नामसंकीर्त्तन–एकादशीव्रत–पञ्चभीष्मव्रत-कार्त्तिकस्नान–तीर्थगमन–देवदर्शन–आदि रूप से**), एवं अनुगमन ही इस उपासना का मुख्य प्रकार है। सकामभाव में आत्मतुष्टि है, निष्कामभाव में आत्मतृप्ति है। इसी मार्ग का–"भजते तादृशीः क्रीड़ा

या: श्रुत्वा तत्परो भवेत्" इन शब्दों में अभिनय हुआ है। कहना न होगा कि, अवतारोपासना का यह सरलतम मार्ग भी हमारे दोष से आज सर्वथा ही विकृत बन चुका है। इसी विकृता, दोषपूर्णा पौराणिकी उपासना से क्षुब्ध बने हुए एक * महानात्मा के एवंविध सहज उद्गार हैं कि—

चित्रभक्ति में जब तलक उपासना दुख पाती।
तब तक बारी हाय कहाँ संयम की आती॥
छैलों की हा छबी रामलीलाएँ छातीं।
साधुरीति का नाम नसाती जीव कुढाती॥
—चातुर्वर्ण्यशिक्षा

४३२—लौकिक अवतारोपासना से अनुप्राणित तीर्थ—देवमन्दिरादि के अनाचार, और दुराचार, तथा तत्संशोधकों के द्वारा मूलनाश का प्रयास—

तीर्थों के अनाचार, देवमन्दिरों के दुराचार, एवं कर्त्तव्य से वञ्चित करने वाला, लोकयशःख्यातिमूलक नामसंकीर्त्तन, आदि विभीषिकाओंने इस पौराणिक उपासनामार्ग की जैसी दुर्दशा कर डाली है, उससे कौन भारतीय दुःखी न होगा?। साथ ही अनाचार का नाश करने के लिए उद्यत उन सुधारकों की कुबुद्धि भी किस के हृदय में शूल उत्पन्न नहीं कर देगी, करेगी, जो रोग के साथ रोगी के ही सर्वनाश के लिए भी कटिबद्ध होरहे हैं। संशोधन अवश्य अपेक्षित है, परन्तु मूल की रक्षा करते हुए ही।

४३३ मूलसंरक्षणात्मिका-दोषनिवृत्ति-पद्धति की ही समादरणीयता,—एवं तथाविध सुधारवाद का समर्थन—

देवमन्दिरों के दुराचार बँद करने हैं, परन्तु देवप्रतिमाओं को कलङ्कित नहीं करना है। लीलाचरित्रों की रक्षा करते हुए, इस रक्षा के द्वारा लोकसंग्रह को सुरक्षित रखते हुए ही हमें विकृत पौराणिक उपासनामार्ग का संशोधन करना है। और ऐसा मूलरक्षक संशोधन ही भारतगौरव का रक्षक है।

४३४—लोकसंग्रहात्मक--परार्थसाधनासमन्वित पौराणिक—उपासनापथ, तथा लोकसंग्रह-शून्य--केवल स्वार्थसंसाधक--पौराणिक भक्तिमार्ग—

उक्त तीनों अवतारोपासना-प्रकारों में से निष्कामभावयुक्त द्विजातिवर्ग-सम्बन्धी, आगमशास्त्रोक्त नित्य प्राकृतिक अवतारोपासनात्मक, निष्कामभावयुक्त वैध पहिला प्रकार लोकसंग्राहक बनता हुआ निष्कामकर्म्मयोग है, एवं उभयविध अवतारोपासनात्मक, एवं मनुष्यविध अवतरोपासनात्मक स्त्री-शूद्रवर्गानुबन्धी उपासनामार्ग लोकसंग्रहसे वञ्चित होता हुआ, अतएव केवल स्वार्थमूलक बनता

---

* दिवंगत महामहोपाध्याय ऋषिकल्प श्रद्धेय श्रीदुर्गाप्रसादद्विवेदी--महाभागाः।

हुआ ज्ञानयोग माना जायगा। इस दृष्टि से इतर वैदिक उपासनामार्गों की भाँति यह चौथा अवतारोपासना-विवर्त्त भी दो भागों में विभक्त होजाता है।

४३५–पुराणयुगानुगत--उपासनामार्ग के दृष्टिकोण–भेदनिबन्धन विविध--विवर्त्त—

इस प्रकरण की सभी उपासनाओं को हमने "पुराणयुगानुगत उपासनामार्ग" कहा है। इस सम्बन्ध में पाठकों को यह विवेक कर ही लेना चाहिए कि, वेद के ब्राह्मणभाग से सम्बन्ध रखने वाली आधिदैविक-बल्शेश्वरोपासना (कर्म्मयोग–यज्ञादिरूप), आध्यात्मिक बल्शेश्वरोपासना (आत्मचिन्तनरूप ज्ञानयोग), आधिदैविक प्रतिमेश्वरलक्षण अचेतनजीवोपासना (यज्ञादिरूप कर्म्मयोग), आध्यात्मिक प्रतिमेश्वर--लक्षण अचेतन जीवोपासना (आत्मचिन्तनरूप ज्ञानयोग), इन प्रकारों से सम्बन्ध रखने वाली वाक्शुक्रमयी यज्ञ--प्रजापत्युपासना तो पुराणकाल में प्रचलिता **नैगमिक-उपासना ही है**।

४३६–पुराणयुगानुगत–उपासनामार्ग का संग्रहात्मक स्वरूप--समन्वय, एवं तृतीय अवान्तर प्रकरण--विराम—

आगमशास्त्रमूलक नित्य अवतारोपासना–लक्षणा द्विजातिवर्गानुबन्धिनी लोकसग्रहानुगामिनी उपासना पुराणकाल में प्रचलित **आगमिक वैध** उपासना है। एवं अशास्त्रीय, अवैध, पुराणसम्मत मनुष्यविध अवतारोपासना--लक्षणा स्त्री–शूद्र वर्गानुबन्धिनी लोकसग्रहशून्या उपासना पुराणकाल की विशुद्धा **पौराणिक--उपासना** है। इसप्रकार **निगम–आगम–पुराण** इन तीन तन्त्रों में प्रतिष्ठित उक्त सभी प्रकार पुराणयुग से सम्बन्ध रखते हुए "**पुराणयुगानुगत–उपासनामार्ग**" इस शीर्षक के अधिकारी बन जाते है। यज्ञेश्वर प्रजापति की उपासना का, किंवा पुराणयुगानुगत–उपासनामार्ग का यही संक्षिप्त निदर्शन है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

सर्वसंग्रहः—

१–उपनिषत्सिद्ध उपासनामार्ग (बुद्धियोग)—(अव्ययोपासना–निर्गुणा)

१–श्रद्धायुक्तोऽव्ययः–अकामः–युक्ततममार्गः–विशेषः (कर्म्मयोगः) } देवयुगानुगता–उपासना
१–उदासीनोऽव्ययः–निष्कामः–युक्तमार्गः——सामान्यः (ज्ञानयोगः) }

——*——

२–आरण्यकसिद्ध–उपासनामार्ग (भक्तियोग-अक्षरोपासना-सगुणा— षोडशीप्रजापतिः)

१-आधिदैविक–सहस्रबल्शेश्वरः-निष्कामः-भक्तिमार्गः-विशेषः (कर्म्मयोगः) }
२-आध्यात्मिक-सहस्रभावेश्वरः-ईश्वरकामः-योगमार्गः-सामान्यः (ज्ञानयोगः) } —देवयुगानुगता–उपासना

——*——

३–ब्राह्मणभागसिद्ध–उपासनामार्ग (कर्म्म-ज्ञाननिष्ठा–आत्मक्षरोपासना— सविकारा- यज्ञप्रजापतिः)

यज्ञेश्वरोपासना—
- १–आधि० बल्शेश्वरः–प्रवृत्तिकामः–योगनिष्ठा—विशेषः (कर्म्मयोगः) } नैगमिक उपासनामार्ग
- २–आध्या० बल्शेश्वरः–निवृत्तिकामः–सांख्यनिष्ठा-सामान्यः (ज्ञानयोगः) }

आधि०अचे०जी०
- १–आधि० प्रतिमेश्वरः–कर्म्मकामः-कर्म्मनिष्ठा–विशेषः (कर्म्मयोगः) } नैगमिक उपासनामार्ग
- २–आध्या० प्रतिमेश्वरः–ज्ञानकामः–ज्ञाननिष्ठा–सामान्यः (ज्ञानयोगः) }

आधि० चेतनजीवो—
- १–नित्यावताराः-सिद्धिकामः— देवनिष्ठा–विशेषः (कर्म्मयोगः) } आगमिक–उपासना
- २–मानुषावताराः-अभ्युदयकामः-भूतनिष्ठा-सामान्यः (ज्ञानयोगः) } –पौराणिक–उपासना

पुराणयुगोपासना—
- १–नैगमिक–उपासनामार्गः-ज्ञाननिष्ठद्विजातीनां, विशेषतो ब्राह्मणानाम्
- २–आगमिक-उपासनामार्गः-अज्ञ–द्विजातिबन्धूनाम्
- ३–पौराणिक–उपासनामार्गः–स्त्री–शूद्राणां-वैश्यानां च ।

——*——

इति–"युगधर्म्मानुगता–विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे

"पुराणयुगानुगता–विकारोपासना"

नामक

तृतीय–अवान्तर–प्रकरण–उपरत

श्रीः

इति-"युगधर्म्मानुगता-विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे

"पुराणायुगानुगता--विकारोपासना"

नामक

तृतीय-अवान्तर-प्रकरण-उपरत

३

श्रीः

(४)-दर्शनयुगानुगता-वैकारिकोपासना से अनुप्राणित-पारिभाषिक-परिलेख—

"वैकारिकक्षरोपाना"-(विराट्प्रजापतिः-प्रतिमेश्वरः)

अर्थानुगतं-आराधनात्मकं कर्म्म-एव-उपासना

अर्थात्मिका-मर्त्यशुक्रमयी

वैकारिकी-देवोपासना-प्रतिमेश्वरोपासना-स्वार्थात्मिका

मर्त्यवाङ्मयी-उपासना-आत्मपचनात्मिका

———*:*———

१-मर्त्यावाक्-विश्वम्

२-मर्त्यापः } विश्वेदेवाः

३-मर्त्याग्निः }

} 'विकारक्षरः'-तद्दिदं विकारविवर्त्तम्-मर्त्यवाग्विवर्त्तमेव

(सैषा अन्नोपासना-देवोपासना वा-अर्थात्मिका)

स एष--आराधनात्मकेन कर्म्मणा--अनुगमनीयः

———*———

'अनुगमनं' नाम-प्रणतभावेनात्मसमर्पणम्

तत्पथानुसरणं वा

सैषा-स्वार्थात्मिका-उपासना-कर्म्मैव

चतुर्थी

— ४ —

———*———

(सोऽयं-दर्शनयुगः-चतुर्थः-द्वापरयुगात्मकः)

१-मर्त्यशुक्रात्मिका वाक्

२-विकारक्षरः

३-अर्थः

४-वाक् (मर्त्यशुक्रमयी) } तदेतत्-सर्वं वागेव-विकारक्षर एव-वैकारिकः

(विकारो हि-विकारक्षरः)

———**———

श्रीः

दर्शनयुगानुगत--वैकारिकोपासनामार्ग

चतुर्थ-प्रकरणान्तर्गत-चतुर्थ-अवान्तर-प्रकरण

४

४३७-अज्ञान, विरुद्धज्ञान, तथा अर्द्धज्ञानमूलक विवाद-पाखण्ड से सच्छास्त्रों का अभिभव, एवं सन्देहनिवारक शास्त्रों की सन्देह-शीलता का दिग्दर्शन—

"हरित भूमि तृण संकुल समुझि परे नहिं पन्थ, जिमि विवाद पाखण्डतें लुप्त भये सद्ग्रन्थ" इस तुलसी-सूक्ति के अनुसार अज्ञान, विरुद्धज्ञान, अर्द्धज्ञानमूलक हमारे विवाद, और पाखण्ड-दोष से आज सद्ग्रन्थ विलुप्त होगए हैं, किंवा सद्ग्रन्थ, असद्ग्रन्थ बन गए हैं। "इदमित्थमेव"-"य एवेदमिति ब्रवन्" इस निश्चित मर्य्यादा से वञ्चित होते हुए ये सद्ग्रन्थ संशयनिवृत्ति के स्थान में संशय के ही कारण बन रहे हैं। "वा" "वा" [इदं वा इदं वा] भावात्मक इसी संशय ने महर्षियों की वाचाशून्या योगत्रयी का स्वरूप आज विकृत कर दिया है। और इस का एकमात्र दोषी है आज का विद्वत्-समाज। और इस के इस दोष का मूल कारण है-वैदिक साहित्य का तिरस्कार।

४३८-असंदिग्ध-निर्णायक वेदशास्त्र की उपेक्षा के दुष्परिणाम, एवं व्यवच्छेद-दृष्टि का अभिभव—

वेदशास्त्र ही एक ऐसा शास्त्र है जो हमें व्यवच्छेद के द्वारा निश्चित असंदिग्ध निर्णय पर पहुँचाने की क्षमता रखता है। यदि हम वैदिक विज्ञान को मूल में रख कर योगत्रयी का विचार करते हैं, तो हमारे सभी सन्देह शरदभ्रवत् विलीन होजाते हैं। व्यवच्छेददृष्टि हमें एकमात्र वेद से ही मिल सकती है। और इस दृष्टि को आगे करते हुए ही क्रमप्राप्त साञ्जनविराट्प्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली विकाराक्षरोपासना का संक्षिप्त स्वरूप उपासकों के सम्मुख रक्खा जारहा है।

४३९-आत्मक्षरनिबन्धना उपासना के साथ विकारक्षर-निबन्धना उपासना का समतुलन, एवं पौराणिक-उपासना-पथ से समतुलिता दार्शनिक-उपासनानुगता विराडुपासना का संस्मरण—

जो स्वरूप आत्मक्षरात्मक सविकारयज्ञप्रजापति की उपासना का है, प्रायः वही स्वरूप इस विकाराक्षरोपासना, किंवा विराडुपासना का है। केवल कामभाव में अन्तर है। यज्ञप्रजापत्युपासना का

निष्कामभाव से सम्बन्ध है, एवं इस विराट्प्रजापत्युपासना का "**सकामभाव**" से सम्बन्ध है। यह उपासना पौराणिक उपासना का ही रूपान्तर है। ऐसी दशा में यद्यपि इसे भी "**पुराणयुगानुगत-उपासनामार्ग**" ही कहना चाहिए था। परन्तु इस मार्ग में आगे जाकर '**तत्त्वभक्ति**' का भी समावेश होगया है, एवं इस तत्त्वभक्ति का दर्शनयुग से ही सम्बन्ध है, अतएव इसे "**दर्शनयुगानुगत-उपासनामार्ग**"—इस अभिधा से समन्वित मान लिया गया है।

४४०—विराट्प्रजापति के तात्त्विक चिरन्तन-स्वरूप से अनुप्राणित विराट् के पारिभाषिक स्वरूप का पावन-संस्मरण—

यह विराट्प्रजापति वही विराट् है, जिस का गीता में भगवान् के द्वारा साक्षाद्रूप से प्रदर्शन हुआ है। यह विराट् वह विराट् है, जिस का त्रिगुणभावमयी विश्वात्मिका प्रजा से घनिष्ट सम्बन्ध है। यह विराट् वह विराट् है, जो सहस्रीर्ष, सहस्राक्ष, सहस्रपात् रूप से भूमि पर प्रतिष्ठित होरहा है। यह विराट् वह विराट् है, जिस के **अग्नि**[1]**-वायु**[2]**-इन्द्र**[3] **गार्हपत्य**[1], **धिष्ण्य**[2], **आहवनीय**, इस रूप से १-३-१० ये त्रिविध रूप हैं। यह विराट् वह विराट् है, जिस का महासुपर्णरूप से सम्वत्सरात्मक त्रैलोक्य में विस्तार हुआ है। यह विराट् वह विराट् है, जिस का स्वरूप "**चत्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छमेकं प्रतिष्ठा**" रूप से सप्तपुरुष-पुरुषात्मक प्रजापति से सम्पन्न हुआ है। यह विराट् वह विराट् है, जिस की मूलप्रतिष्ठा पूर्वोक्त ब्रह्मसत्यों का अन्तिम पर्वरूप पृथिवीलक्षण अन्नाद नामक ब्रह्मसत्यपर्व है।

४४१—विराट्प्रजापति के विविध महिमाभावों का पारिभाषिक संस्मरण, एवं तन्निबन्धन विराट्-प्रजापति के नैगमिक-स्वरूप का दिग्दर्शनोपक्रम—

यह विराट् वह विराट् है, जो भोक्ता सुपर्ण का निराशी साक्षी बना रहता है। यह विराट् वह विराट् है, जो कर्म्मानुसार विश्वप्रजा के जाति-आयु-भोग-विवर्त्तों की व्यवस्था किया करता है। यह विराट् वह विराट् है, जो हमारे शुभाशुभ-पाप-पुण्य-कर्म्मों का दर्शक (साक्षी) बना रहता है। यह विराट् वह विराट् है, जो वैराजतेज से उरुत्रैलोक्य (सम्वत्सरत्रैलोक्य) में विराजित है। यह विराट् वह विराट् है, जो पार्थिव-प्रजा की कामनाएँ पूरी किया करता है। यह विराट् वह विराट् है, जो पापात्मा-पुण्यात्मा, दोनों पर समान अनुग्रह रखता हुआ पुण्यात्मा को पुण्यकर्म्मों के लिए, एवं पापात्मा को पापकर्म्मों के लिए प्रोत्साहित करता रहता है। यह विराट् वह विराट् है, जोकि देवभाव के कारण आगम-निगम शास्त्रों में-"**देवसत्य**" नाम से प्रसिद्ध है। **साञ्जन, देवसत्यमूर्त्ति, कामपूरक, कामाधिष्ठाता इसी विराट् प्रजापति की उपासना विकारत्वरोपासना है**, और प्रकृत प्रकरण इसी के दिग्दर्शन कराने के लिए प्रवृत्त होरहा है।

४४२-सिंहावलोकनदृष्टि-निबन्धन विराट्-स्वरूप-संस्मरण—

यद्यपि पूर्व के **वेदयुगानुगत-उपासना**-प्रकरण में यत्र यत्र विराट् प्रजापति का दिग्दर्शन करा दिया गया है, तथापि इस प्रधान प्रकरण में प्रकरण-सङ्गति के लिए संक्षेप से पुनः तद्विषय का सिंहावलोकनदृष्टि से दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

४४३–'आत्मसत्य' के–'निर्गुणसत्य–अमृतसत्य–ब्रह्मसत्य–देवसत्य–भूतसत्य' नामक पाँच महिमा–विवर्त्त, तन्निबन्धन–'अव्ययात्मा–ईश्वरात्मा–यज्ञात्मा–सर्वभूतान्तरात्मा–भूतात्मा' नामक पाँच आत्मविवर्त्त, एवं तदनुप्राणित 'देव–वेद–पुराण–दर्शन–वर्त्तमान–युगनिबन्धन पञ्चविध उपासना–पथ—

आत्मा 'सत्य' स्वरूप है। इस एक ही 'सत्यात्मा' के परिग्रह–सम्बन्ध से निर्गुणसत्य, अमृत–सत्य, ब्रह्मसत्य, देवसत्य, भूतसत्य, ये पाँच विवर्त्त होजाते हैं। ये पाँचों सत्यात्मा क्रमशः अव्ययात्मा, ईश्वरात्मा, यज्ञात्मा, सर्वभूतान्तरात्मा, भूतात्मा, इन नामों से व्यवहृत किए जासकते हैं। अव्ययात्मा निर्गुण अव्यय है, ईश्वरात्मा षोडशीप्रजापति है, यज्ञात्मा यज्ञप्रजापति है, सर्वभूतान्तरात्मा विराट्प्रजापति है, एवं भूतात्मा विश्वप्रजापति (प्रजासर्ग) है। ये पाँच सत्यात्मविवर्त्त ही क्रमशः देवयुग–वेदयुग–पुराणयुग–दर्शनयुग, और वर्त्तमानयुग, इन पाँच युगों के पाँच उपासना–मार्गों के मूलधरातल बने हुए हैं।

४४४–पञ्चविध आत्मविवर्त्तों के आधार पर राजर्षि मनु के द्वारा तीन आत्मविवर्त्तों का स्वरूप–समन्वय—

राजर्षि भगवान् मनु की तात्त्विकी दृष्टि से इन पाँच आत्मविवर्त्तों का परमात्मा[1]–अन्तरात्मा[2]–भूतात्मा[3] इन तीन आत्मविवर्त्तों में अन्तर्भाव किया जासकता है। अव्यय–षोडशी–यज्ञात्मा, इन तीनों की समष्टि परमात्मा है, तथा सर्वभूतान्तरात्मा अन्तरात्मा है, एवं भूतात्मा भूतात्मा है। भूतात्मा कर्म्मकर्त्ता है, परमात्मा क्षेत्रज्ञ–कारयिता है, एवं अन्तरात्मा जीवात्मा है, जैसाकि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

१—योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते।
यः करोति तु कर्म्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः॥

२—जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु॥

—मनुः १२।१२–१३।

४४५–सर्वभूतान्तरात्म–लक्षण विराट्प्रजापति, तद्रूपा–विराडुपासना, तदनुबन्धी 'देवसत्य', एवं तालिकामाध्यम से औपासनिक पञ्च महिमाभावों का स्वरूप–समन्वय—

इन पाँचों आत्म–विवर्त्तों में से सर्वभूतान्तरात्मा–लक्षण अन्तरात्मा ही प्रकृत प्रकरण का विराट् प्रजापति है, यही देवसत्यात्मा है, एवं यही कामभाव की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव इस की उपासना

'काममयी उपासना' कहलाती है। इसी उपासना के सम्बन्ध में 'तं यथा यथोपासते तथैव भवति'–'तां तामेव विदधाम्यहम्'–'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'–'यं यं कामयते-तं तमाप्नोति' इत्यादि वचनों प्रसिद्ध हैं।

आत्मत्रयी–विवर्त्त-परिलेखः—

१-निर्गुणसत्यः	(अव्ययात्मा)	अव्ययः——अव्ययः		
२-अमृतसत्यः	(ईश्वरात्मा)	षोडशीप्रजापतिः-अक्षरः	}	परमात्मा
३-ब्रह्मसत्यः	(यज्ञात्मा)	यज्ञप्रजापतिः—आत्मक्षरः		
४-देवसत्यः	(सर्वभूतान्तरात्मा)	विराट्प्रजापतिः-विकारक्षरः	}	अन्तरात्मा
५-भूतसत्यः	(भूतात्मा)	विश्वप्रजापतिः–वैकारिकक्षरः	}	भूतात्मा

४४६–निगमानुता निष्कामोपासना के आधार पर उपबृंहिता काममयी विराडुपासना की अभिव्यक्ति—

वेदयुगानुगत-उपासनाप्रकरण में उपासना के अकाम–निष्काम--काम भेद से तीन विवर्त्त बतलाए गए थे, एवं वहीं यह भी स्पष्ट किया गया था कि, इन तीनों का ईश्वर--जीव--जगत्, इन तीन विवर्त्तों के साथ क्रमिक सम्बन्ध है। अव्यय, और षोडशी, इन दो की समष्टि ही 'ईश्वरभाव' है, एवं इस के साथ 'अकामभाव' का समन्वय है। यज्ञप्रजापति ही जीवभाव है, एवं इस का निष्कामभाव से सम्बन्ध है। विराट्, एवं विश्व की समष्टि ही जगद्भाव है, और इसका कामभावसे सम्बन्ध है। इसी आधार पर इस विराडुपासना को हम काममयी उपासना ही कहेंगे।

४४७–वल्शेश्वर-ब्रह्मसत्य-प्रजापति की अन्तिम-शाखारूपा अन्नादमयी पृथिवी, एवं तद्विभूति से अनुप्राणित विराट्प्रजापति—

अश्वत्थवृक्ष की एक वल्शा (टहनी) के अन्तिम छोर पर सर्वभूतान्तरात्मलक्षण, देवसत्यमूर्त्ति विराट्प्रजापति प्रतिष्ठित है, जोकि 'ईशानो भूतभव्यस्य'–'साक्षी' 'महासुपर्ण' आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। निर्गुण अव्यय को अपना प्रतिष्ठा–धरातल बनाने वाला सहस्रवल्शेश्वर षोडशी–प्रजापति ही 'अश्वत्थवृक्ष' है, यही 'अमृतसत्य' है। इस अश्वत्थमूर्त्ति अमृतसत्येश्वर की एक टहनी में स्वयम्भू--परमेष्ठी--सूर्य्य--चन्द्रमा--पृथिवी, ये पाँच पुण्डीर (पर्व) हैं। यही 'पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा' है। ये पाँचों पर्व ब्रह्मसत्यरूप हैं। पाँचों की समष्टि ही 'यज्ञप्रजापतिरूप ब्रह्मसत्यात्मा है'। इस ब्रह्मसत्यलक्षणा एक टहनी

का अन्तिम पर्व अन्नादमयी, किंवा अग्निमयी पृथिवी है। और इसी पृथिवी पर देवसत्यरूप विराट् सुपर्ण (महापक्षी *) प्रतिष्ठित है।

४४८ अन्नादमयी पृथिवी के मर्त्य-भौतिक, तथा अमृत-प्राणात्मक-स्वरूप का संस्मरण, पार्थिव-अग्निरसात्मक रथन्तरसाम का, एवं आदित्यात्मक देवरथात्मक रथन्तर-साम का स्वरूप-समन्वय—

पृथिवी के **अमृत-मर्त्य**, ये दो रूप माने गए हैं। मर्त्या पृथिवी का स्वरूप तो सर्वविदित है ही। जिस भूपिण्ड पर हम पार्थिव चर-अचर प्राणी प्रतिष्ठित हैं, "**भूमि**" नाम से प्रसिद्ध यही **गायत्री पृथिवी** मर्त्या पृथिवी है [देखिए शत० ६।६।१।१] । इस मर्त्य भूपिण्ड के केन्द्र से बद्ध भूपिण्ड से बड़ी दूर पर्य्यन्त [सूर्य्य से भी कुछ ऊपर पर्य्यन्त] एक प्राणमय महिमामण्डल प्रतिष्ठित रहता है। इसी महिमा-पृथिवी को "**अमृतापृथिवी**" कहा जाता है। इस अमृता-पृथिवी में भूकेन्द्र से आरम्भ कर महिमा-पृथिवी की परिधि पर्य्यन्त एकरूप से '**रसतम प्राणाग्नि**' भरा हुआ है। इसी रसतम प्राणाग्नि की व्याप्ति से पार्थिव साम "**रथन्तर**" कहलाता है। "**रसतमं ह वै रथन्तरमित्याचक्षते**" के अनुसार '**रसतम**' का ही रूपान्तर '**रथन्तर**' है। अथवा "**आदित्यो वै देवरथः**" के अनुसार सूर्य्य "**रथ**" नाम से प्रसिद्ध है। पूर्वकथनानुसार पार्थिव प्राणाग्निसाम इस रथात्मक सूर्य्य से भी कुछ ऊपर पर्य्यन्त चला जाता है, इस रथतरण के कारण भी पार्थिव साम रथन्तर कहलाया है।

४४९—राथन्तरी-अन्नादमयी-महापृथिवी का अधिष्ठाता प्रजापति--अग्नि, एवं तद्--विभूतिरूप अग्न--वायु--आदित्य, तथा तदनुप्राणित वसु--रुद्र--आदित्य--आदि ३३ देवविभूतियाँ, और--'अग्निः-सर्वा देवताः' निगम का समन्वय—

यही राथन्तरी पृथिवी विराट्पुरुष की जननी मानी गई है। इस एकाग्नि के आधार पर, जोकि अग्नि **प्रजापति** नाम से प्रसिद्ध है, इसी के अवयवरूप अग्नि-वायु-आदित्य, ये तीन प्रजापत्य देवता प्रतिष्ठित रहते हैं। **अग्नि का घन अवयव अग्नि है, तरल अवयव वायु है**, एवं **बाष्प अवयव आदित्य है**। एक ही अग्निदेव के तीन विवर्त्त हैं। आगे जाकर **घनता--तरलता--बाष्पता**--के क्रमिक तारतम्य से, **अष्टाक्षर गायत्रीछन्द, एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द, द्वादशाक्षर जगतीछन्द**, इन तीनों छन्दों के क्रमिक छन्दन से घनाग्नि-लक्षण गायत्र-अग्नि के ८ अवयव होजाते हैं, ये ही आठ '**वसु**' हैं। तरलाग्नि-लक्षण त्रैष्टुभ-वायु के ११ अवयव होजाते हैं, ये ही ग्यारह **रुद्र** हैं। विरलाग्निलक्षण जागत आदित्य के १२ अवयव होजाते हैं, ये ही बारह '**आदित्य**' हैं। दो सान्ध्यप्राण **अश्विनी** [नासत्य-दस्र] नाम-से और प्रकट होजाते

---

* पाठकों को स्मरण होगा कि, उपासनाप्रकरण के आरम्भ में हमने यह स्पष्ट कर दिया था कि, **उपासना का द्वैतभाव से ही सम्बन्ध है। और द्वैतमूला इस उपासना का मुख्य धरातल देवसत्य ही है। उपासना न तो ईश्वर की होसकती, न आत्मा की ही**। उपासना होती है एकमात्र प्राणरूप देवता की, किंवा देवसत्य की (देखिए पृष्ठ संख्या १७८)। वहाँ का यह उपास्य देवता यही देवसत्यमूर्त्ति विराट् प्रजापति है, जिसका कि केवल पार्थिव सम्वत्सर से ही सम्बन्ध है।

हैं। इसप्रकार वह एक ही अमृतपृथिवीमण्डलस्थ प्रजापतिमूर्त्ति प्राणाग्नि **अग्नि-वायु-आदित्य-रूप से वसु-रुद्र-आदित्य-अश्विनी**-रूप में परिणत होता हुआ ३३ रूप-धारण कर लेता है। सब की मूल प्रतिष्ठा "**अग्नि**" ही है— "**अग्निः सर्वा देवताः**"।

४५०—त्रयस्त्रिंशद्देवदेवताओं के उपक्रम-उपसंहार-रूप अग्नि, और विष्णु, तन्निबन्धना आग्नाविष्णवेष्टि, एवं महर्षि ऐतरेय के द्वारा दीक्षणीयेष्टि का स्वरूप-समन्वय—

आठ वसुओं में पहिला वसु "**अग्नि**" नाम से प्रसिद्ध है। १२ आदित्यों में से सर्वान्त का आदित्य "**विष्णु**" नाम से प्रसिद्ध है। ३३ सौं यज्ञिय-देवताओं के उपक्रम में वसुमूर्त्ति अग्नि प्रतिष्ठित है, देववर्ग के अन्त में आदित्यमूर्त्ति विष्णु प्रतिष्ठित है, एवं इतर सम्पूर्ण (३१)देवता दोनों के मध्य में हैं। इसी मौलिक रहस्य के आधार पर ग्रहयाग में दीक्षित होने वाले यजमान को सर्वप्रथम **दीक्षणीयेष्टि** करनी पड़ती है। और उस में **आग्नाविष्णव एकादशकपालपुरोडाश** करना पड़ता है। **अग्नि** और **विष्णु** के परिग्रह से ३३ सौं प्राणदेवता इस के भूतात्मा में अनुशयरूप से प्रतिष्ठित होजाते हैं। इस-यज्ञिय सर्वदेव-संस्कारोपयिक दीक्षाकर्म्म से इसे यज्ञाधिकार प्राप्त होजाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर महर्षि ऐतरेय ने कहा है—

"**अग्निर्वै देवानामवमः, विष्णुः परमः, तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः**"।

—ऐ० ब्र० १।१.१।

४५१—अग्नि-वायु-आदित्य-देवताओं की स्तोमानुगता पार्थिव-त्रैलोक्य-व्याप्ति, तत्रगर्भिता त्रिविधा प्रजा-महिमाएँ, एवँ ब्रह्मविजय के आधार पर त्रिदेवताओं का त्रैलोक्य-विजय—

अष्टवसुमूर्त्ति घनाग्निलक्षण **अग्नि** महापृथिवी के त्रिवृत्स्तोम-मण्डल में व्याप्त है। एकादशरुद्रमूर्त्ति तरलाग्निलक्षण **वायु** महापृथिवी के पञ्चदशस्तोम-मण्डल में व्याप्त है। एवं द्वादशादित्यमूर्त्ति विरलाग्निलक्षण **आदित्य** महापृथिवी के एकविंशस्तोम-मण्डल में व्याप्त है। त्रिवृदग्नि **अर्थशक्ति** का संचालक है, पञ्चदशवायु **क्रियाशक्ति** का उत्तेजक है,एवं एकविंश आदित्य [इन्द्र] **ज्ञानशक्ति** का प्रवर्त्तक है। महापृथिवीलोक में प्रतिष्ठित प्रजावर्ग की [त्रिवृत्स्तोमरूप महापृथिवी के पृथिवीलोक में प्रतिष्ठित **ओषधि, वनस्पति, कृमि, कीट, पशु, पक्षी, मनुष्यविध पार्थिव प्रजा,**---पञ्चदशस्तोमरूप महापृथिवी के अन्तरिक्षलोक में प्रतिष्ठित **गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच-विध** आन्तरिक्ष्य प्रजा', एकविंशस्तोमरूप महापृथिवी के द्युलोक में प्रतिष्ठित **पितर-ऐन्द्र-प्राजापत्य-ब्राह्म-विध** दिव्यप्रजा की, **ज्ञान-क्रिया-अर्थ**-शक्तियों के संचालक बनते हुए, इस * **स्तौम्यत्रिलोकीरूप** पार्थिव त्रैलोक्य के भाग्यविधाता-**इन्द्र-वायु-अग्नि** ही सर्वे-

---

* अष्टविध त्रैलोक्य-विज्ञान के अनुसार यह पार्थिव स्तौम्यत्रिलोकी **संयती-क्रन्दसी-रोदसी** तीनों से भिन्न हैं। रोदसी-त्रिलोकी का जो पृथिवीरूप भूलोक है, उस में रहने वाले प्राणाग्नि के वितान से ही इस सर्वथा स्वतन्त्रा स्तौम्यत्रिलोकी का आविर्भाव होता है। इसे ही "**अदितिर्द्यौ०**" इत्यादिरूप से **अदिति-त्रिलोकी** भी कहा गया है।

सर्वा बन रहे हैं। इस त्रैलोक्य में प्रजावर्ग इन्हीं तीनों का विजय महोत्सव मनाता हुआ उस **ब्रह्मविजय** को भूल रहा है, जिस के कि ये तीनों त्रैलोक्य-विजयी देवता प्रत्यंशमात्र हैं। **केनोपनिषत् ने** बडी ही आकर्षक-पद्धति से इस **देवविजय को ब्रह्मविजय**-परक बतलाते हुए **उमाशक्ति की उपासना के द्वारा प्रज्ञान-ब्रह्मलक्षणा पर्वोङ्कारोपासना** का आदेश दिया है, जैसा कि **केनोपनिषत्-विज्ञानभाष्य** में विस्तार से उपबृंहित है।

४५२–देवतात्रयी के द्वारा पिता यज्ञप्रजापति के आदेश से तानूनप्त्रकर्म्म का अनुष्ठान, एवं तानूनप्त्र के द्वारा देवतात्रयी की-'विराट्' स्वरूप में परिणति—

अर्थशक्ति के संञ्चालक त्रिवृत्–**पार्थिव–अग्नि**, क्रियाशक्ति के उत्तेजक पञ्चदश–**आन्तरिक्ष्य वायु**, एवं ज्ञानशक्ति के प्रवर्त्तक **एकविंश–आदित्य**, इन तीनों देवताओंनें उत्पत्त्यनन्तर क्रिया क्या ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रश्न का उत्तर है—"**अनेन प्रसविष्यध्वम्**"। इन के पिता **यज्ञप्रजापति [ब्रह्म-सत्य]** ने अपने पार्थिव भाग से इन्हें उत्पन्न कर कर्त्तव्यरूप यही आदेश दिया कि- जिस "**यज्ञ**" के बल से मैं आज बलेश्वर बना हुआ हूँ, यदि तुम त्रैलोक्य–में [पार्थिव स्तौम्यत्रैलोक्य में] अपना सम्मिलित एक–च्छत्र साम्राज्य स्थापित करना चाहते हो, तो उसी देवसंगमनरूप यज्ञमार्ग का अनुगमन करो। तीनों परस्पर मिल जाओ। अभी तुम्हारी शक्तियाँ पृथक्–पृथक् बटीं हुईं–हैं। जिस दिन तुम परस्पर मिल जाओगे, तीनों शक्तियाँ मिलकर तुम्हें–इस स्वस्वरूप से **विराट्रूप** में परिणत कर देगीं। उस अवस्था में तुम तीन न रह कर एक विराट् बन जाओगे। ध्यान रक्खो, पृथक् पृथक् रहते हुए अभीतक तुम मेरी [यज्ञप्रजापति लक्षण ब्रह्मसत्य की] प्रजा ही बने हुएहो। अभीतक तुम अपनी पैत्रिक सम्पत्तिरूप "**प्रजापति**" सम्पत्ति-से वञ्चित हो। मेरी पूर्वोक्ता यज्ञप्रणाली का अनुगमन करते हुए तुम तीनों–एक रूप में परिणत होजाओगे। और उस समय तुम्हारा मर्त्य प्रजाभाव विच्छिन्न हो जायगा, और बन आओगे मत्समकक्ष ही "**विराट् प्रजापति**"।

४५३–संघठनात्मिका तानूनप्त्रप्रक्रिया का संस्मरण—

पिता यज्ञप्रजापति के उक्त आदेश को शिरोधार्य्य कर उक्त तीनों पुत्रोंने उसी सुप्रसिद्धा यज्ञप्रक्रिया का आश्रय लिया, जो कि प्रक्रिया यज्ञरहस्य–प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों में–"**तानूनप्त्र**" नाम से प्रसिद्ध हुई है। संघठनात्मिका प्रक्रिया ही तानूनप्त्र है। इसी से तनु की रक्षा होती है, शरीर गिरने नहीं-पाते, अतएव इसे '**तानूनप्त्र**' कहा जाता है। [देखिए–शतपथब्राह्मण-३ काण्ड-४ अ०। ३ ब्राह्मण]।

४५४–पार्थिव अग्नि का तानूनप्त्र, तदनुगता त्रिवृद्रूपता, एवं अग्नि के 'पवमान, पावक, शुचि, विवर्त्त-भावों का संस्मरण—

सब से पहिला अर्थप्रधान **पार्थिव त्रिवृदग्नि** तो आहवनीय बना, और इस में क्रियाप्रधान आन्त-रिक्ष्य **पञ्चदश वायु**, एवं ज्ञानप्रधान दिव्य **एकविंश आदित्य**, दोनो देवता आहुतिद्रव्य रूप से आहुत होगए। परिणाम इस का यह हुआ कि, यह पार्थिव अग्नि-अग्नि-वायु-आदित्यमूर्त्ति [**किन्तु अग्निप्रधान, अतएव अर्थप्रधान**] बन कर पृथिवी से द्युलोक पर्य्यन्त व्याप्त होता हुआ "**वैश्वानर**" नाम से प्रसिद्ध होगया। तीनों विश्वों–के नरों [नायकों] के समन्वय से ही यह वैश्वानर कहलाया, एवं त्रैलोक्य में इस–की व्याप्ति होगई—**वैश्वानरो यतते सूर्य्येण, आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्**"] वैश्वानर अग्नि के ये ही तीनों पर्व यज्ञभाषा में **पवमान, पावक, शुचि**, इन नामों से व्यवहृत हुए।

४५५–आन्तरिक्ष्य वायु का तानूनप्त्र, तदनुगता–त्रिवृद्रूपता, एवं वायु के–'वात-मरुत्-पवन'–भावों का संस्मरण—

अनन्तर क्रियाप्रधान आन्तरिक्ष्य **पञ्चदश वायु** तो आहवनीय अग्नि बना, और इसमें अर्थप्रधान **पार्थिव त्रिवृद्दग्नि,** एवं ज्ञानप्रधान दिव्य एकविंश **आदित्य,** दोनों देवता आहुतिद्रव्यरूप से आहुत होगए। परिणाम इनका यह हुआ कि, यह आन्तरिक्ष्य–वायु-भी वायु-अग्नि-आदित्यमूर्त्ति (**किन्तु वायुप्रधान, अतएव अर्थप्रधान**) बन कर अन्तरिक्ष से इस ओर पृथिवी पर्य्यन्त, अन्तरिक्ष्य से उस ओर द्युलोक पर्य्यन्त व्याप्त होता हुआ "**हिरण्यगर्भ**" * नाम से प्रसिद्ध होगया। त्रैलोक्यमूर्त्ति पार्थिव सम्वत्सर ही हिरण्यमण्डल है। वह इसके गर्भ में आगया, अतएव इसे '**हिरण्यगर्भ**' कहा गया। त्रैलोक्य–व्यापक वायुमूर्त्ति इसी हिरण्यगर्भ के सम्बन्ध में–"वायुर्वै सर्वेषां देवानामात्मा" (शत० १४।३।२।७।)—"एष हीमांल्लोकाकाँस्तरति" (ऐ० ब्रा० ४।२०) इत्यादि वचन प्रसिद्ध हैं। इस हिरण्यगर्भ वायु के तीनों पर्व क्रमशः **वात-मरुत्–पवन,** इन नामों से प्रसिद्ध हुए।

४५६–दिव्य–आदित्य का तानूनप्त्र, तदनुगता त्रिवृद्रूपता, एवं आदित्य के 'वासव-मरुत्वान्–मघवा'–भावों का संस्मरण—

अनन्तर ज्ञानप्रधान दिव्य **एकविंश आदित्य** तो आहवनीय अग्नि बना, और इस में अर्थप्रधान **पार्थिव त्रिवृद्दग्नि,** एवं क्रियाप्रधान आन्तरिक्ष्य **पञ्चदश वायु,** ये दोनों देवता आहुतिद्रव्यरूप से हुत हुए। परिणाम इस आहुतियज्ञ का यह हुआ कि, यह दिव्य-आदित्य भी अग्नि-वायु-आदित्य-मूर्त्ति (**किन्तु आदित्य-प्रधान, अतएव ज्ञानप्रधान** बन कर द्युलोक से आरम्भ कर इस ओर के अन्तरिक्ष-पृथिवीलोक पर्य्यन्त व्याप्त होता हुआ "**सर्वज्ञ**" नाम से प्रसिद्ध होगया। त्रैलोक्य की ज्ञानराशि इस के गर्भ में आगई, अतएव इसे '**सर्वज्ञ**' कहा गया। त्रैलोक्य–व्यापक इन्द्रमूर्त्ति इसी सर्वज्ञ के लिए–"**नेन्द्राद्ऋते पवने धाम किञ्चन**" यह प्रसिद्ध है। इस सर्वज्ञ इन्द्र के तीनों पर्व क्रमशः **वासव–मरुत्वान्–मघवा** नाम से प्रसिद्ध हुए।

४५७–त्र्यात्मक अग्नि–वायु–आदित्य को गार्हपत्य-धिष्ण्य–आहवनीय-मूला वैश्वानर–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञात्मिका–दशकलोपेता विराट्रूपता का तात्त्विकस्वरूप–समन्वय—

त्रिवृत्कृत (अग्नि–वायु–आदित्यात्मक) उक्त तीनों तानूनप्त्रदेवताओं (वैश्वानर–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ देवताओं) में वैश्वानर देवता पार्थिव यज्ञ का **गार्हपत्याग्नि** कहलाया, हिरण्यगर्भदेवता **धिष्ण्याग्नि** कहलाया। अष्टविध नाक्षत्रिक सर्पाग्नि के समन्वय से इस मध्यस्थ अपरणाग्नि के आठ अवयव होगए, जो कि यज्ञसमय में **आग्नीध्रीय–अच्छावाकीय, मार्ज्जालीय** आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। धिष्ण्याग्नि के सम्बन्ध से ही हिरण्यगर्भ धिष्ण्याग्नि कहलाया भी। तीसरा सर्वज्ञ देवता पार्थिव यज्ञ का आहवनीय कहलाया। इसप्रकार १–८–१ इस रूप से तीन की १० कला होगईं, और एक-कल गार्हपत्याग्निमूर्त्ति वैश्वानर, अष्टकल धिष्ण्याग्निप्रतिमूर्त्ति हिरण्यगर्भ, एवं एककल आहवनीयाग्निमूर्त्ति सर्वज्ञ, इन तीनों की समष्टि ही दशकलमूर्त्ति "**विराट्-यज्ञप्रजापति**" कहलाया।

---

* सूर्य्य भी हिरण्यगर्भ कहलाता है। "**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे०**" से इसी का ग्रहण है। वायुप्रधान हिरण्यगर्भ को इस से पृथक् ही समझना चाहिए।

४५८–सम्वत्सरात्मक महासुपर्ण की विराट्रूपता का संस्मरण—

विष्वद्वृत्त इस का आत्मा बना, उत्तरायण उत्तरपक्ष बना, दक्षिणायन दक्षिणपक्ष बना, और यही सम्वत्सरात्मक विराट्-मूर्त्ति पक्षी-राज हम सब का आत्मा बना। इसी सुपर्ण का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

अथ ह वाऽएष महासुपर्ण एव सम्वत्सरः। तस्य यान् पुरस्ताद्विषुवतः षण्मासानुपयन्ति,-सोऽन्यतरः पक्षः। अथ यान् षडुपरिष्टात् सोऽन्यतरः। आत्मा विषुवान्"।

—शत० १२।२।३।७

४५९–विराट्प्रजापति के सहस्रशीर्ष--सहस्राक्ष--सहस्रपात्--भावों का तात्त्विक स्वरूप--समन्वय, एवं तन्मूला यजुःश्रुति—

सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ--वैश्वानर, इस देवत्रयी के कारण यह विराट् पुरुष 'त्रिकेन्द्र' बनता हुआ **सहस्रशीर्ष--सहस्राक्ष * सहस्रपात्** बन गया। सर्वज्ञमण्डल हृदयभाव के कारण चारों ओर सहस्र सहस्र ज्ञानरश्मियों का प्रसार करता हुआ **'सहस्रशीर्षः'** बन गया। हिरण्यगर्भमण्डल हृदयभाव के कारण चारों ओर सहस्र सहस्र क्रियारश्मियों का प्रसार करता हुआ 'सहस्राक्षः' बन गया। एवं वैश्वानरमण्डल इसी हृदयभाव के कारण चारों ओर सहस्र सहस्र अर्थरश्मियों का प्रसार करता हुआ **"सहस्रपात्"** बन गया। इस त्रिकेन्द्र की समष्टि के कारण ही त्रिभावोपेत विराट् (सम्वत्सर) वर्त्तुलवृत्त न रह कर **दीर्घवृत्तरूप** में (**अण्डरूप में**) परिणत होगया। त्रिकेन्द्रवृत्त ही दीर्घवृत्त कहलाता है। इसीलिए यह विराट्-व्याप्ति-मण्डल-निगमागमादि शास्त्रों में **"ब्रह्माण्ड"** (**ब्रह्म--यज्ञप्रजापति, उस का अण्ड--दीर्घवृत्तरूप विराट् प्रजापति**) कहलाया। ब्रह्मसत्य का अन्तिम पर्वरूप मर्त्य भूपिण्ड ही अमृता पृथिवी के प्राणाग्नि से कृतरूप इस विराट् की प्रतिष्ठा बना। इसी विराट् स्वरूप को लक्ष्य में रख कर मन्त्रश्रुति कहती है—

सहस्रशीर्षः पुरुषः, सहस्राक्षः, सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

—यजुःसंहितायाम्

विराट्—विभूतिः—

प्राणाग्निः—प्राणाग्निः	आदित्यः--आदित्याः--दिव्याः	(एकविंशस्तोमः)	—अमृता-पृथिवी
	वायुः ——रुद्राः——आन्तरिक्ष्याः	(पञ्चदशस्तोमः)	
	अग्निः——वसवः——पार्थिवाः	(त्रिवृत्स्तोमः)	

* यहाँ **'सहस्राक्षः'** से मध्यस्थ **'हृदयस्थान'** ही अभिप्रेत है।

अ—ग्निः———प्र———जा——प———तिः

१	२	३
वैश्वानरः	**हिरण्यगर्भः**	**सर्वज्ञः**
३–शुचिः (अग्निः)	३–पवनः (वायुः)	३–मघवा (इन्द्रः)–एकविंशस्तोमः–द्यौः
२–पावकः (अग्निः)	२–मरुत् (वायुः)	२–मरुत्वान् (इन्द्रः)–पञ्चदशस्तोमः–अन्तरिक्षम्
१–पवमानः (अग्निः)	१–प्राणः (वायुः)	१–वासवः (इन्द्रः)–त्रिवृत्स्तोमः पृथिवी
सहस्रपात्	**सहस्राक्षः**	**सहस्रशीर्षः**
अर्थप्रधानोऽग्निः	क्रियाप्रधानो वायुः	ज्ञानप्रधानः—आदित्यः
गार्हपत्यः	धिष्ण्यः	आहवनीयः
एककलः	अष्टकलः	एककलः
१	८	१

एककल—स्त्रिकलो—वा दशकलो वा विराट् प्रजापतिः
देवसत्यो महासुपर्णः

स वै विश्वसृजां गर्भो देवकर्म्मात्मशक्तिमान् ।
विबभाजात्मनात्मानमेकधा-दशधा-त्रिधा ॥
(श्रीमद्भागवते ३।६।७।)।

पद्भ्यां भूमिं प्रतिष्ठितः

४६०–नैगमिक विराट्पुरुष के प्रसङ्ग से गीताशास्त्र के विराट्पुरुष का संस्मरण, एवं दोनों के स्वरूप--सम्बन्ध में महती विप्रतिपत्ति का उत्थान—

विराट्पुरुष के उक्त संक्षिप्त निदर्शन से जहाँ हमारे अनेक सन्देह निवृत्त होजाते हैं, वहाँ अनेक और और सन्देह उत्पन्न भी होजाते है। गीताशास्त्र ने जिस विराट् स्वरूप का प्रतिपादन किया है, वह, और पूर्व--प्रतिपादित विराट्, दोनों में कुछ विषमता प्रतीत हो रही है। गीताने **ब्रह्मा, ऋषि, सूर्य्य, चन्द्रमा, द्यावा-पृथिवी** आदि सभी का विराट् पुरुष मे अन्तर्भाव मानते हुए इसे **विश्वरूप विश्वेश्वर** कहा है (११।१६) आगे जाकर—

"त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्म्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य्यमनन्तबाहुं शशिसूर्य्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ (गीता ११।१८,१९,)।

४६१–गीताशास्त्र का विराट्स्वरूप—

यह कहते हुए गीताने विराट् को **अक्षर–अव्यय–परात्परमूर्त्ति** भी सिद्ध किया है। गीता में "**शाश्वतधर्म्म**" शब्द परात्पर के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, जैसाकि पाठक "**शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुख-स्यैकान्तिकस्य च**" इत्यादि श्लोकभाष्य में देखेंगे।

४६२–गीतानुमोदित विराट्स्वरूप के द्वयात्मक स्वरूप का संस्मरण--प्रयास—

इधर अत्र प्रतिपादित विराट् को हमने केवल महापृथिवी में भुक्त मानते हुए इसे विकारक्षरमूर्त्ति ही कहा है। **अग्नि–वायु-इन्द्र**–समष्टि को ही विराट् मानते हुए **चन्द्रमा–सूर्य्य–परमेष्ठी–स्वयम्भू ब्रह्मा** तक को जब विराट् स्वरूप से पृथक् कर दिया है, तो इन पञ्चपर्वों से पृथक् **अक्षरमूर्त्ति षोडशी–प्रजापति, अव्यय-मूर्त्ति निर्गुण--आत्मा, शाश्वतधर्म्ममूर्त्ति--परात्पर** का तो कहना ही क्या है। ये ही कुछ एक ऐसे विरोधी भाव हैं, जिनके आधार पर यह कहा जासकता है कि, पूर्वप्रतिपादित विराट् स्वरूप गीताप्रतिपादित विराट्मर्य्यादा के विरोध में जाता हुआ अप्रामाणिक है। ऐसी दशा में आवश्यक होजाता है कि, गीतानिष्ठ भागवतों की श्रद्धा की रक्षा के लिए इन विरोधी भावों का परिहार कर लिया जाय।

४६३- उभयविध विराड्भावों के तात्त्विक समतुलन का समन्वय—

यदि हमारे गीताप्रेमी वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्वोक्त विराट्–स्वरूप का मनन करेंगे, तो उन्हें मान लेना पड़ेगा कि, उस में, और इस में कोई विरोध नहीं है। यह तो सर्वथा सत्य है कि, विराट् का स्वरूप पञ्चपुरुडीरा प्राजापत्यबल्शा के अन्तिम पर्वरूप केवल पृथिवी पर ही प्रतिष्ठित है। महापृथिवी ही उसका प्रतिस्विक शरीर है। **भूपिण्ड, चन्द्रमा, सूर्य्य, परमेष्ठी, स्वयम्भू, सहस्रबल्शेश्वर अक्षरमूर्त्ति शोडशी प्रजापति, शाश्वतधर्म्मगोप्ता अव्यय, शाश्वतधर्म्मरूप परात्पर** सभी विराट् स्वरूप से बहिर्भूत हैं। फिर गीता ने इन बहिर्भूतों का अन्तर्भाव विराट् के स्वरूप में किस आधार पर मान लिया ?, केवल यही विप्रतिपत्ति शेष रह जाती है। इसके समाधान के लिए निम्न लिखित पृथिवी--स्वरूप को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा।

४६४-'यथाण्डे तथा पिण्डे' मूलक सर्वतत्त्वव्याप्ति-समन्वय, तन्निबन्धन विरोध-परिहार, एवं विज्ञानदृष्टिनिबन्धन-विरोध-परिहार का दिग्दर्शनोपक्रम —

"यदेवेह तदमुत्र-यदमुत्र तदन्विह"-"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते"--"यथाण्डे-तथा पिण्डे" इत्यादि वचनो के अनुसार विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित एक एक कण विश्वरूप है, विश्वेश्वर है। जो तत्त्व उस महामहिम महतोमहीयान् विश्वेश्वर में हैं, वे सभी तत्त्व एक परमाणु में भी विद्यमान हैं। इसी आधार पर उस विश्वेश्वर के पर्वावयवरूप विराट् को भी यदि हम 'सर्वेश्वर' कहें, तो कोई आपत्ति न होगी। और सम्भव है--गीता ने विश्वेश्वर की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य में रखकर ही तत्पर्वावयवरूप विराट् को भी सर्वेश्वर कह दिया हो। यद्यपि एक श्रद्धालु आस्तिक के लिए यह समाधान पर्य्याप्त होसकता है। तथापि विज्ञानदृष्टि से समन्विता विश्वासमयी श्रद्धा का अनुगामी एक वैज्ञानिक इस उत्तर से सन्तुष्ट नही होसकेगा। उसे तो केवल पृथिवी में हीं सर्वप्रपञ्च का विज्ञानदृष्टि से भोग बतलाते हुए विरोध का परिहार करना पड़ेगा। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसके सम्मुख "यावती वै वेदिस्तावती पृथिवी"-- 'इयं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्याः" इत्यादि श्रुतियों का रहस्यार्थ उपस्थित करना पड़ेगा। और इसके लिए हमें सर्वप्रथम निम्नलिखित दो श्लोको की ओर ही उनका ध्यान आकर्षित करना पड़ेगा—

भूर्भूमिरचलानन्ता रसा विश्वम्भरा स्थिरा ॥
धरा-धरित्री-धरणी-क्ष्मोणी-ज्या-काश्यपी-क्षितिः ॥१॥
सर्वंसहा वसुमती वसुधोर्वी वसुन्धरा ॥
गोत्रा कुः पृथिवी क्ष्मावनिर्मेदिनी मही । २॥

—अमरकोश--द्वितीयकाण्ड भूमिवर्ग-२,३,।

४६५-षड्विंशति--पार्थिव शब्दों की विभिन्नता, तथा अविभिन्नता का समन्वय, एवं तत्त्वनिबन्धना पारिभाषिकी शब्दविभिन्नता का दिग्दर्शन, और पर्य्याय--शब्दानुगता भ्रान्ति का निराकरण —

इस में तो कोई सन्देह नहीं कि अमरकार की ओर से संग्रहीत पृथिवी-वाचक पूर्वोक्त २६ सौ नाम पार्थिव विवर्त्त से ही सम्बन्ध रखते है, और इसी दृष्टि से पार्थिव नामों में इन का संग्रह करना न्यायसङ्गत भी बन जाता है। यह सब कुछ ठीक ठीक मानते हुए भी निःसन्दिग्धरूपेणैव यह भी कह देने में कोई संकोच नहीं किया जायगा कि, २६ सौ शब्द एकमात्र पार्थिव विवर्त्त के वाचक बनते हुए भी परस्पर उसीप्रकार पर्य्याय नहीं बन सकते, जैसे कि **इन्द्र-अग्नि-वरुण-मातरिश्वा** आदि यच्चयावत् नाम उसी, एक ही, विश्वेश्वर के ही वाचक बनते हुए भी परस्पर पर्य्याय नहीं माने जासकते। ईश्वरत्त्वेन यद्यपि इन्द्रादि सभी शब्द अभिन्न हैं तथापि इन्द्रत्त्वेन-अग्नित्त्वेन-सभी परस्पर सर्वथा विभिन्न ही हैं। एवमेव पार्थिव-विवर्त्त की दृष्टि से **भू-भूमि-अचला** आदि सभी नाम यद्यपि अभिन्नार्थ के ही वाचक हैं, तथापि **भूत्त्व-भूमित्त्वादि** की दृष्टि से **भूः-भूमि** आदि शब्द भिन्न भिन्न अर्थों के ही वाचक है। विभिन्नभावनिबन्धना इस विभिन्ना वाचकता के तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय के लिए सर्वप्रथम हमें उस पार्थिव-विवर्त्त के ही प्रकृतिसिद्ध

मौलिक-स्वरूप को अत्यन्त अवधानपूर्वक अपना लक्ष्य बनाना पड़ेगा, जिसके यथावत् समन्वय से विभिन्नात्मिका इस भिन्नता का भलीभाँति समन्वय होजाता है ।

४६६-'अद्भ्यः पृथिवी' मूला आपोमयी पार्थिवी सृष्टि का तात्त्विक-स्वरूप--समन्वय, एवं अब्--वायु-तेजः-संयोगजनित आपः, और फेनसर्ग—

'अद्भ्यः पृथिवी' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पानी से ही पृथिवी का स्वरूप--निर्म्माण हुआ है। कल्पना कर लीजिए कि, किसी समय विश्वसाम्राज्य में पृथिवी की सत्ता नहीं थी। रोदसी के अर्णव समुद्र में सूर्य्यरश्मियों के संघर्ष से उत्पन्न 'मरीचि' पानी की मूर्च्छितावस्थारूप 'मर' नाम का पानी हीं सर्वत्र व्याप्त होरहा था। पानी में जब वायु का प्रवेश होता है, तो बुद्बुद् उत्पन्न होजाता है, यह नैसर्गिक अब्वायु-क्रीड़ा सर्वदृष्टा है। क्योंकि बुद्बुद् का ऊर्ध्व धरातल वर्त्तुल (गोलाकार) होता है, अतएव बुद्बुदावच्छिन्न पानी इधर उधर लुढक जाता है। फलतः गर्भीभूत वायु मार्ग मिलने से बाहिर निकल जाता है। यदि ऊर्ध्व धरातल की विच्युति से पहिले ही बुद्बुद् पर पानी का ओर आक्रमण होजाता है, तो इस आक्रमण की निश्चित अवधि में बुद्बुदावच्छिन्न पानी, और वायु, दोनों मूर्च्छित होजाते हैं। इन दोनों के सम्मिश्रण से ही एक अपूर्व भाव का उदय होजाता है। और वही अपूर्वभाव आंशिक घनता से युक्त होता हुआ 'फेन' (समुद्र-झाग) नाम से प्रसिद्ध होता है।

४६७-भूतसृष्टि के प्रवर्त्तक काम तपः--श्रम--मूर्त्ति-हृद्य-अन्तर्य्यामी का समन्वय, एवं तन्निबन्धन षोडशीप्रजापति का अक्षरप्रजापति-रूपेण-संस्मरण—

साथ ही इतना ओर स्पष्ट कर लीजिए कि, पानी में वायु का प्रवेश करना, उस वायु, और पानी, दोनों को प्रतिमूर्च्छित बना डालना, दोनों के मूर्च्छितरूप से फेन का आविर्भाव कर डालना, ये सब व्यापार बुद्बुद् के केन्द्र में प्रतिष्ठित अणोरणीयान् उसी हृदयरूप अन्तर्य्यामी ब्रह्मेन्द्रविष्णुअग्निसोममूर्त्ति अक्षरप्रजापति की कृपा के ही फल हैं, जिस का कि, 'प्राकृतिक-योगत्रयी' नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है। इसी अक्षरप्रजापति को हमने षोडशी प्रजापति कहा है। इसका आलम्बन निर्गुण अव्यय है। सर्वाधार-निराधार शाश्वतधर्म्म-लक्षण परात्पर है। परात्पर-अव्यय--गर्भित षोडशीप्रजापति--मूर्त्ति अक्षर ही हृदय (केन्द्र) रूप अन्तर्य्यामी है। इस की मौलिक प्रेरणा से ही अब्-वायु के संयोग से फेन उत्पन्न हुआ है।

४६८-प्रजापति का सृष्टि में प्रवेश, एवं 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' श्रुति का तात्त्विक समन्वय—

इस का दूसरा यह स्वभाव है कि, अपनी प्रेरणा से यह जो कुछ उत्पन्न करता है, उस में आत्म--प्रतिष्ठारूप से प्रविष्ट होजाता है—'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'। अतएव अबतक जो बुद्बुद् का आत्मा बना हुआ था, आज वही बुद्बुदावस्थान्तररूप इस फेन का हृदय (आत्मा) बन गया है। आगे जितने भी विकार बतलाए जायँगे, सब इसी हृद्य अक्षरप्रजापति की प्रेरणा से सम्बन्ध रक्खेंगे। एवं 'तत् सृष्ट्वा' इस सामान्य नियम के अनुसार वह इन उत्तर-उत्तर-रूपों में प्रविष्ट रहेगा, और इस आत्मव्याप्ति को लक्ष्य में रख कर ही हमें पार्थिव सृष्टिविवर्त्त का विचार करना होगा।

४६६–अष्टभावान्विता–पार्थिवी सृष्टि, और अष्टाक्षर–गायत्रीछन्द, एवं तदनुप्राणिता अष्टावया भूमि, और तत्समर्थक श्रौतसन्दर्भ––

पहिली अवस्था [1] आपः (बुद्बुद्) है, दूसरी [2] 'फेन' है। यही फेन उसी वायु के प्रत्याघात से सौरताप-सहयोगी बनता हुआ घनता के समावेश से आगे जाकर [3] 'मृत्' रूपमें परिणत होजाता है। क्षारभाग ही मृत् है। मृत् की दूसरी अवस्था [4] सिकता (चिकनी मिट्टी) है, इसकी उत्तरावस्था [5] शर्करा (बालूरेत) है, इसकी उत्तरावस्था [6] अश्मा (पत्थर) है, इस की उत्तरावस्था [7] अयः (कच्चालौह) है, एवं इस की उत्तरावस्था [8] हिरण्य (धातुमात्र) अवस्था पर उपरत होती है। 'आपः' से आरम्भ कर 'हिरण्य' पर्य्यन्त आठ भागों में विभक्त भूविवर्त्त ही पृथिवी का शरीर है, ओषधि–वनस्पतियाँ इसके केश--लोम हैं। अष्टावय होने से ही इसे 'गायत्री' कहा जाता है। आठवें अवयव पर ही प्रतिष्ठाभाव पूर्णरूपेण अभिव्यक्त होता है। अतएव इसे 'भूः' कहा जाता है। इसी भूपृष्ठ पर पार्थिव प्रजा उत्पन्न होती है, अतएव इसे 'भूमिः' कहा जाता है। इसी पार्थिव रचनाक्रम का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

"तदिदमेकमेव रूपं–[1]'आप' एव। सोऽकामयत-भूय एव स्यात्, प्रजायेय–इति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानः [2] फेनमसृजत, [3] मृदंशुष्कापमूष–[4] सिकतां–[5] शर्करा–[6]मश्मान–[7]मयो–[8]हिरण्यं–(ओषधिवनस्पत्य) सृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्। ता वा एता नव सृष्टयः। इयमसृज्यत। तस्मादाहुस्त्रिवृदग्निरिति। इयं ह्यग्निः, अस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयते। अभूद्वा इयं प्रतिष्ठेति–तद्भूमिरभवत्। तमप्रथयत्–सा पृथिव्यभवत्। सेयं सर्वा कृत्स्ना मन्यमानागायत्। यदगायत्–तस्मादियं गायत्री। अग्निर्गायत्रः।' (६।१।१)— 'या वै सा गायत्री आसीत्, इयं वै सा पृथिवी (भूमिः)। भूरिति–ऋग्भ्योऽक्षरत्, सोऽयं लोकोऽभवत्'। भूरिति वा अयं लोकः।' इयं वा भूमिः, अस्यां वै स भवति, यो भवति"।

—शत० ७।२।१।१।

४७०–अग्नि–आपः–वाग् रूपा शुक्रत्रयी से अनुप्राणिता ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–रूपा देवत्रयी, तदनुप्राणिता वेद–लोक–भूत–रूपा सृष्टित्रयी, एवं वषट्कारमण्डलात्मिका साहस्री का संस्मरण—

उक्त अष्टावयव, अतएव गायत्रमूर्त्ति भूपिण्ड, किंवा भूमिपिण्ड के सम्बन्ध में अभी कुछ और भी जानना शेष रह जाता है। श्रुति ने भौम अग्नि को 'त्रिवृत्' कहा है। पाठकों को स्मरण होगा कि, हमनें वेदयुगानुगत--उपासना--प्रकरण में शुक्रविभूति का निरूपण करते हुए पृथिवी के साथ मर्त्यशुक्रत्रयी का सम्बन्ध बतलाया था। **अग्निः–आपः–वाक्**–इन तीनों की समष्टि ही **मर्त्यशुक्रत्रयी** है। पूर्वोक्त हृद्यप्रजाति की ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र, इन तीन कलाओं के साथ इन तीनों शुक्रों का भोग होता है। अग्नि का ब्रह्मा के

के साथ, आपः का विष्णु के साथ, एवं वाक् का इन्द्र के साथ सम्बन्ध होता है। अग्निमय ब्रह्मा वेदसृष्टि के, आपोमय विष्णु लोकसृष्टि के, एवं वाङ्मय इन्द्र देवसृष्टि के द्वारा वषट्कार-मण्डलरूपा वाक् साहस्री के जनक बनते है, जिसकाकि अनुपद में ही स्पष्टीकरण होने वाला है।

४७१–भूकेन्द्र–भूमध्य–भू ऊर्ध्व–अनुगता ब्रह्मा–विष्णु–शिव–त्रयी का स्वरूप–समन्वय—

अग्निमय ब्रह्मा की वेदसृष्टि ऋक्-यजुः–साम–भेद से त्रिधा विभक्ता है। इन तीनों से क्रमशः भूः–भुवः–स्वः इन तीन लोकव्याहृतियों का प्रादुर्भाव होता है। भूकेन्द्रस्थान स्वर्लोक है, स्वयं भूपिण्ड भूलोक है, एवं मध्यप्रदेश भुवर्लोक है। स्वर्लोक में अग्निमूर्त्ति ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं—"ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा"—"मूलतो ब्रह्मरूपाय"। भुवर्लोक में अब्मूर्त्ति विष्णु प्रतिष्ठित है—"मध्यतो विष्णुरूपिणे"। एवं भूलोक में अग्निसोमान्तरगर्भित त्रिमूर्त्ति वाङ्मय इन्द्र (शिव) प्रतिष्ठित हैं—"अग्रतः शिवरूपाय"।

४७२–भूपिण्डानुगत भूः–भुवः -स्वः–रूप–त्रैलोक्य का स्वरूप–दिगदर्शन—

तात्पर्य्य इसका यही हुआ कि, हृद्या देवत्रयी की व्याहृतियों से उक्त अष्टपर्वा, किंवा नवपर्वा भूपिण्ड स्वः–भुवः–भूः–इन तीन भावों में परिणत होगया। भूकेन्द्र अग्निमय स्वर्लोक कहलाया, भूमध्य भाग (उदरभाग) आपोमय भुवर्लोक कहलाया, एवं उपरितन भूपिण्ड वाङ्मय भूलोक कहलाया। तीनों में क्रमशः ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र सहचारी अग्निः–आपः–वाक् इन तीन भर्त्य शुक्रों का भोग हुआ। भूः–इसका एकपर्व रहा, भूमि तीनों पर्वों की समष्टि का नाम रहा।

४७३–ब्रह्मानुगता वेदसाहस्री, विष्णवनुगता लोकसाहस्री, एवं इन्द्रानुगता वाक्साहस्री का तात्त्विक–संस्मरण—

सर्वसामान्य–लोकव्यवहार में भूरादि, पृथिव्यादि को भी परस्पर समानार्थक माना जारहा है। परन्तु उक्त विवेचन प्रमाणित रहा है कि, भूः–भुवः–स्वः–पृथक् तत्त्व हैं, एवं पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौः पृथक् वस्तुभाव हैं, जैसाकि पाठक आगे जाकर देखेंगे। अभी केवल भूपिण्ड को ही लक्ष्य मे रखिए, और लक्ष्य में रखिए उस ब्रह्माग्नि को, जो कि स्वर्लोक–स्थानीय भूपिण्ड के केन्द्र में सब की प्रतिष्ठा बनता हुआ प्रतिष्ठित होरहा है, एवं जिस प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित होकर वाङ्मय इन्द्र, तथा आपोमय विष्णु आगे जाकर वाक्साहस्री, वेदसाहस्री, लोकसाहस्री इन तीन साहस्रियों का वितान करने वाले हैं। और जो कि यह वितान हीं विराट्स्वरूप का निर्म्मापक बनने वाला है।

४७४–पृथिवी के अचला–अनन्ता–रसा विश्वम्भरा, तथा स्थिरा–विवर्त्तों का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय, एवं तन्मूलक हृद्य–प्रजापति—

भूपिण्ड का निर्म्माण सम्पन्न हुआ। प्रजापति की एक कामना पूरी हुई। अब उसने भूपिण्ड के आधार पर क्या नवीन इच्छा की ?, एव इच्छानुकूल तप और श्रम के द्वारा वह क्या से क्या बन गया ?, इस प्रश्न का समाधान पूर्वोक्त श्रुति का "अस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयते" यही वाक्य है। पूर्व में कहा जाचुका

हैं कि, भूगर्भ में "स्वर्लोकाधिष्ठाता वेदमूर्ति ब्रह्माग्नि प्रतिष्ठित है। यह अग्नितत्त्व प्राणात्मक प्रजापति है। भूपिण्ड इसी का सप्तपुरुषपुरुषात्मक चितिभाव, किंवा चिनाव है। इसी चिति से यह मर्त्यभूपिण्ड "चित्य" कहलाया है। इस चित्य, किंवा भूस्तरों के क्रमिक चिनाव की प्रतिष्ठा यही केन्द्रस्थ प्राणाग्नि मूर्त्ति प्रजापति है—"विश्वमूर्ति-विश्वम्भर-अचल-अनन्त-रसमूर्त्ति यही प्रजापति है; इसी पार्थिव-प्रजापति के अनुग्रह से पृथिवी अचला, अनन्ता, रसा, विश्वम्भरा, एवं स्थिरा कहलाई है।

४७५-चित्य--चितेनिधेयात्मक अग्नि की -'सर्व' रूपता का तात्त्विक--समन्वय—

आपः-फेन-मृत् शर्करादि भूपिण्ड के आठों पर्व चित्याग्निमय हैं। पञ्चीकृत होने से यह अष्टविध मर्त्य (चित्य) अग्नि "सर्व" कहलाता है। इस सर्वाग्नि की चिति (चयन--चेजा--चिनाव) उस मूलस्थ हृद्य प्रजापति-लक्षण अमृतधर्म्मा प्राणमूर्त्ति रसाग्नि के आधार पर ही हुई है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर-"अस्यै हि सर्वोऽग्निः (चित्योऽग्निरष्टविध)-श्रीयते" यह कहा गया है।

४७६--'पशु' शब्द का पारिभाषिक समन्वय, तन्निबन्धन--'पाशुकाग्नि', एवं उसकी अविकसितावस्था का समन्वय—

चित्यभाव मे विकास नही होता, क्योंकि वैदिक--परिभाषानुसार चित्यभाव 'पशु' है, 'अनात्म्य' है। पाषाण-लोष्टादि का स्वरूप एकरूप क्यों रहता है ?, पशुओं की ज्ञानमात्रा विकसित क्यों नहीं होती ?, इन प्रश्नों का भी यही उत्तर है। यद्यपि वैदिक आत्मवाद के अनुसार इनमें भी आत्मा अवश्य ही है। पशुओं में तो चैतन्यलक्षण आत्मा प्रत्यक्ष ही दृष्ट है। तथापि इनका आत्मा भूतभाग के आवरणाधिक्य से ज्योतिर्भाग से अभिभूत ही रहता है। अतएव इसे विकास का अवसर नहीं मिलता। फलतः जितना भी चित्यवर्ग है, उसके स्वरूप में आगे कोई विकास नहीं होता। यही कारण है कि, चित्याग्निरूप [पाशुकाग्निरूप] भूपिण्ड जैसे का तैसा ही रहा, इसमें कोई विकास नहीं हुआ।

४७७--'एकोऽहं बहु स्याम्' मूलक प्राणाग्नि-निबन्धन महिमात्मक विकासभाव, और अग्निनिबन्धन--'सर्व'--'कृत्स्न'--शब्द—

परन्तु इस चित्य भूपिण्ड का सर्वाधार, किन्तु स्वयं निराधार आत्मलक्षण रसाग्नि, (प्राणाग्नि) किंवा प्रजापति उस संकुचित सीमा में न रहकर बाहिर निकल पड़ा। "एकोऽहं बहु स्याम्" इस स्वाभाविकी कामना से रसाग्नि चित्यपिण्ड का भेदन करता हुआ (भूपिण्ड से बहिर निकलता हुआ) महिमारूप से भूपिण्ड के चारों ओर बड़ी दूर पर्य्यन्त मण्डलरूप में परिणत होगया, और मण्डल की अन्तिम सीमा पर पहुँच कर ही उसने अपने आप को 'सर्व', तथा 'कृत्स्न' माना।

४७८--प्रजापति के अनिरुक्त-उद्गीथ, एवं सर्व-रूपों का संस्मरण, तथा अनिरुक्त--प्रजापति से अनुप्राणिता अनिरुक्ता--'ककार' व्याहृति का तात्त्विक--स्वरूप--समन्वय—

प्रजापति के अनिरुक्त-उद्गीथ-सर्व-नामक तीन महिमामय स्वरूप माने गए हैं। हृद्यभाव सर्वथा अनिरुक्त रहता है। हृदय (केन्द्रबिन्दु) का शब्द के द्वारा कोई निर्वचन नहीं किया जासकता। इसी आधार

पर इस हृदयमूर्त्ति प्राणाग्नि-प्रजापति को "**अनिरुक्तप्रजापति**" कहा जाता है, एवं–"**प्रजापतिश्चरति-गर्भेऽन्तरजायमानः**" इत्यादि श्रुति इसी हृद्य प्रजापति का यशोवर्णन कर रही है। लोकव्यवहार में अनिरुक्त प्रजापति के लिए '**ककार** -- (क) का प्रयोग होता है। अज्ञातदशा में "**कौन**" का प्रयोग होता है। इसी रहस्य के आधार पर इस अनिरुक्त तत्त्व को "**कः**" नाम से व्यवहृत किया गया है, जैसाकि– "**कस्मै देवाय हविषा विधेम**"–"**स वै प्रजापतिरब्रवीत् कोऽहमिति। यदेवैतदवोच, इत्यब्रवीत्, ततो वै को नाम प्रजापतिरभवत्। को वै नाम प्रजापतिः**" (ऐ० ब्रा० ३।२१।) इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। इसी '**क**' **प्रजापति** के सम्बन्ध से पृथिवी अपने स्वरूप-प्रदर्शनरूप प्रजापति के यशोगान करने से '**कु**' नाम से भी प्रसिद्ध हुई है।

४७९–ककारात्मक अनिरुक्तप्रजापति की 'स'–कारात्मिका सर्वरूपता का समन्वय, एवं प्रजापति की सर्वव्याप्ति का दिग्दर्शन—

दूसरा **सर्व** रूप है। चित्यपिण्ड भी इसी प्रजापति का मर्त्यभाग है। महिमामण्डल भी इसी प्राणाग्नि का वितान है। सबकुछ अपने मर्त्य–अमृत भागों से यही बना हुआ है। सर्वात्मक सर्वमूर्त्ति इसी प्रजापति को "**सर्वप्रजापति**" कहा जाता है। अनिरुक्तभाव से जो '**अजायमान**' रहता है, इस निरुक्त सर्वभाव कि दृष्टि से उत्पन्न होने वाला सब कुछ भी वही है, जैसाकि— "**प्रजापते नत्वदेतान्यन्यः**"–"**सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः**" "**प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च**" इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। अनिरुक्त की व्याहृति '**ककार**' था, एवं इस निरुक्त–सर्व की व्याहृति '**सकार (स) है**–"**सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद**"।

४८०–ककार-सकार, एवं उद्गीथ–प्रजापति-त्रयी का माङ्गलिक–संस्मरण, एवं 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति'—

भूकेन्द्र में प्रजापति का ककारलक्षण अनिरुक्तरूप प्रतिष्ठित है, महिमामण्डल की परिधि में सकार–लक्षण सर्वरूप प्रतिष्ठित है। एवं महिमामण्डलान्तर्गत २१ विंशस्तोमावच्छिन्न वज्रियमण्डल के सप्तदशस्तोम–रूप केन्द्र में तीसरा **उद्गीथरूप** प्रतिष्ठित रहता है, जिसे "**सप्तदशप्रजापति**" भी कहा जाता है। प्रजापति के इन तीनों रूपों में से प्रकृत में सर्वप्रथम हृद्य अनिरुक्त प्राणाग्निमूर्त्ति प्रजापति की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं–"**प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जागर्त्ति**" (प्रश्नोपनिषत्)।

४८१–प्राणात्मक हृद्य प्रजापति के वितान का माध्यम भूत, एवं भूत की साधनरूपता का समन्वय—

हृद प्रजापति प्राणात्मा था, विकसित होना इसका स्वाभाविक धर्म्म था। परन्तु बिना भूतभाग का आश्रय लिए यह स्वस्वरूप का विकास भी कैसे कर सकता था। ज्ञानविकास के लिए हमें भी तो साधनरूप से ग्रन्थ–लिपि आदि भौतिक चित्य भागों का ही आश्रय लेना पड़ता है। अपने शरीरपरिच्छिन्न भूतात्मा को विश्वव्यापक ईश्वरात्मा में समर्पित करने के लिए भी तो हमे प्रतिमादि भौतिक पदार्थों को ही मध्यस्थ बनाना पड़ता है। प्रजापति के द्वारा विहित इस स्वाभाविक सत्य नियम का स्वयं प्रजापति कैसे उल्लँघन कर सकते थे।

४८२--भूतमाध्यम से हृद्यप्रजापति के द्वारा पार्थिव-सृष्टि का वितान--

इसी नियम-शिक्षण के लिए 'प्राणप्रजापति' ने सर्वप्रथम मृत्यु का मन्थन कर पानी उत्पन्न किया। वायु के प्रवेश से पानी को घन बना डाला। प्रजापति के अवतारूप एभूष नामक वराहवायु की कृपा से संघातरूप में परिणत होने वाला यह घन पानी हीं-"**अपांशर**" [**पानी की थर-मलाई-**] नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही **अपांशर**, किंवा **आपः** नाम का प्रथम पर्व पूर्वोक्त क्रमानुसार कालान्तर में और भी अधिक क्रमिक संघातभाव से अष्टपर्वात्मक भूपिण्डरूप में परिणत होगया। यही पाञ्चभौतिक, सर्वाग्निमय (चित्याग्निमय) मर्त्य भूपिण्ड उस हृद्य प्राणप्रजापति के ऊर्ध्व वितानलक्षण विकास का मध्यस्थ आलम्बन बना।

४८३-तेजोरसमूर्त्ति प्राणाग्निमय प्रजापति का अवस्थात्रय--निबन्धन ऊर्ध्व वितान, एवं तन्निबन्धना वेदत्रयी का स्वरूप--समन्वय--

उक्त चित्य पिण्ड को आधार बनाकर प्रजापतिने सृष्टि के **काम-तपः-श्रम** -- रूप सामान्य अनुबन्धों का आश्रय लिया। इस संघर्ष से स्वयं **प्रजापति** भूपिण्ड से बाहिर निकल पड़े। बाहिर निकले हुए अपने इस **तेजोरस** (प्राणाग्नि) को, जो कि प्रजापति का अपना आत्मा हीं था, **घन-तरल-विरल** भेद से **अग्नि--वायु--आदित्य**-रूप में परिणत कर डाला, जिस **आत्मत्रयी-लक्षण देवत्रयी** का पूर्व के विराट्स्वरूप-प्रकरण में स्पष्टीकरण किया जाचुका है। प्रजापति के रसात्मा के तीन ही रूप क्यों हुए ?, इसका उत्तर वेदत्रयी ही है। ब्रह्माग्नि को हमने वेदमूर्ति कहा है। वेद **ऋक्-यजुः-साम-भेद** से तीन भागों में विभक्त है। इसी वेदत्रयी के तीन पर्वों से **अग्नि-वायु-आदित्य**-ये तीन आत्मपर्व विकसित हुए। **ऋक् का अग्नि से, यजु का वायु से, एवं साम का आदित्य से सम्बन्ध रहा**। और यही वेदत्रयी वेदविज्ञान-परिभाषा में "**पार्थिव-यज्ञमात्रिक**" वेद नाम से प्रसिद्ध हुई।

४८४-'पुत्रत्रयी' रूपा 'आत्मत्रयी' का स्वरूप--समन्वय, एवं 'सम्वत्सरप्रजापति' रूप--पार्थिव--'विराट् प्रजापति'--

उक्त **आत्मत्रयी** को दूसरे शब्दों में हम 'पुत्रत्रयी' भी कह सकते हैं। और इसी दृष्टि से पूर्वप्रकरण में **अग्नि-वायु-आदित्य**, इन तीनों को हमने **प्रजापति के पुत्र** कहा है। "**आत्मा वै जायते पुत्रः**" के **अनुसार** यहाँ हम इन तीनों को प्रजापतिरूप भी कहते हुए संकोच नहीं कर रहे हैं। फिर क्या हुआ ?, उत्तर पूर्व से गतार्थ है। प्रजापति की इच्छा से तीनो तानूनप्त्र के द्वारा मिलकर 'विराट्प्रजापति'-रूप प्रजापति का दूसरा आत्मा बन गए, जो कि विराट् **सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-वैश्वानर**--रूप से पूर्व में उपवर्णित होचुका है। **यही विराट् पार्थिव सम्वत्सर-प्रजापति कहलाया**।

४८५-महासुपर्णात्मक पार्थिव--सम्वत्सर का जन्ममहोत्सव, एवं तदावास--निवासस्थान-रूप पार्थिव त्रैलोक्य--

इस तानूनप्त्र-प्रक्रिया से पहिले पहिले एक विराट्रूप सम्वत्सरप्रजापति का अभाव था। तीनों के पारस्परिक सर्वहुतयज्ञ से ही आगे जाकर इस **महासुपर्णरूप पार्थिव सम्वत्सर** का जन्म हुआ, जिसका कि

ऋग्वेदावच्छिन्न अग्निमय, किंवा वैश्वानर--पर्वमय पार्थिवभाग-त्रिवृत्पृथिवीलोक कहलाया। यजुर्वेदावच्छिन्न वायुमय, किंवा हिरण्यगर्भ--पर्वमय पार्थिवभाग पञ्चदश अन्तरिक्षलोक कहलाया। एवं सामवेदावच्छिन्न आदित्यमय, किंवा सर्वज्ञ-पर्वमय पार्थिवभाग एकविंश द्युलोक कहलाया।

४८६-विराट्प्रजापति का यज्ञसंस्थान, ऋत्विग्वर्ग, यजमान, और तदनुबन्धी--'अर्काश्वमेध' --

त्रैलोक्यरूपा अग्निमयी पृथिवी ही यज्ञमण्डल कहलाया। ऋग्वेदी अग्नि 'होता' बने, यजुर्वेदी वायु अध्वर्यु बने, सामवेदी आदित्य उद्गाता बने, स्वयं एकमूर्त्ति, समष्टिमूर्त्ति प्रजापति यजमान बने। यज्ञ हुआ, इसी यज्ञ से आगे जाकर सर्वोपादानभूत प्राणात्मक यशोवीर्य्यरूप "अर्काश्वमेध" उत्पन्न हुआ।

४८७-विराट् यज्ञप्रजापति के आधार पर अर्काश्वमेध की अभिव्यक्ति, तन्निबन्धना त्रैलोक्यव्यापिनी प्राणाग्निसृष्टि, एवं तत्समर्थक श्रौतसन्दर्भ--

उक्त ब्राह्माग्निवितान का निष्कर्ष यही निकला कि, आरम्भ में सर्वत्र पानी हीं पानी था। प्रजापति ने स्व-कामतपःश्रम से पानी को शर (घन) बनाया, शर पानी से भूपिण्ड बनाया, भूपिण्ड के संघर्ष से तेजोरस का विकास किया, तेजोरस को **अग्नि-वायु-आदित्य** भेद से तीन रूपों में परिणत किया। तीनों के मिथुनभाव से सम्वत्सररूप विराट् नाम की दूसरी प्रजापतिसंस्था का विकास किया। विराट्यज्ञ के आधार से **अर्काश्वमेध** उत्पन्न किया। एवं तद्द्वारा सब कुछ प्राप्त कर लिया। हृद्य अनिरुक्त अग्निमूर्त्ति ब्रह्मप्रजापति की इसी त्रिधा विभक्ता--त्रैलोक्यव्यापिनी प्राणाग्निसृष्टि का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

"नैवेह किञ्चनाग्रे-आसीत्, मृत्युनैवेदमावृतमासीत्-अशनायया। अशनाया हि मृत्युः। तन्मनोऽकुरुत-आत्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्। तस्यार्चत आपोऽजायन्त। तद्यदपां शर आसीत्-तत् ममहन्यत, सा पृथिव्यभवत्। तस्यामश्राम्यत्। तस्य श्रान्तस्य तेजो रसो निरवर्त्तत-अग्निः। स त्रेधात्मानं व्यकुरुत-आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयम्। स एष प्राणः (प्राणाग्निः) त्रेधा विहितः। द्यौः-पृष्ठं, अन्तरिक्षमुदरं, इयमुरः। स एष (त्रेधा विहितः प्राणाग्निः) अप्सु प्रतिष्ठितः। सोऽकामयत-द्वितीयो मे-आत्मा जायेत-इति। स मनसा वाचे मिथुनं समभवत्-अशनायां। मृत्युः। तद्रेतः आसीत्, स सम्वत्सरोऽभवत्। न ह पुरा ततः सम्वत्सर आस। सोऽकामयत-भूयसा यज्ञेन भूयो यजेय इति"।

—शतपथब्राह्मणे

४८८-विराट् प्रजापति से ऊर्ध्वस्थित विश्व-विवर्त्तों, तथा आत्मविवर्त्तों से अनुप्राणिता त्रैतालवृत्तिनिबन्धना महती समस्या--

यहाँतक तो बात ठीक ठीक बन गई। पूर्व में दूसरे ढँग से भूपिण्ड से विराट् की उत्पत्ति बतलाई थी, यहाँ उसी का प्रकारान्तर से स्पष्टीकरण होगया। अब आगे **वही चन्द्रमा, वही सूर्य्य, वही परमेष्ठी,**

वही वयम्भू, और षोडशी--अव्यय--परात्पर भी वे के वे ही। इन्हें विराट्गर्भ में कैसे लाया जाय ?, समस्या तो यही सम्मुख खड़ी हुई थी। सोचा था-त्रैलोक्यरूपा महापृथिवी का यह दूसरा प्रकार इस समस्या का निराकरणात्मक--समाधान कर देगा। परन्तु "तत्रैवावलम्बितो वेतालः"।

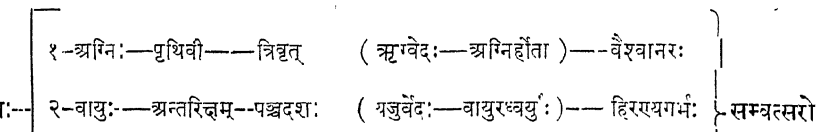

——*——

४८९-सिंहावलोकनदृष्ट्या पार्थिव विराट् का संकलनात्मक संस्मरण, एवं तन्निबन्धना स्तौम्यत्रैलोक्य--रूपा महिमा पृथिवी—

"भूपिण्ड से संलग्न अग्निमय त्रिवृत् पृथिवीलोक, वायुमय पञ्चदश अन्तरिक्षलोक, आदित्यमय एकविंश द्युलोक, तीनों की समष्टिरूप महापृथिवीलोक, इस में सर्वज्ञ--हिरण्यगर्भ--वैश्वानरमूर्त्ति विराट्-प्रजापति प्रतिष्ठित, २१ पर सब कुछ परि समाप्त, अब पृथिवी के सम्बन्ध शेष क्या रहा" अबतक के प्रकरण से हमनें यही समझा, और यही समझना न्यायप्राप्त था भी, जब कि अबतक पृथिवी को पिण्डपृथिवी, एवं महिमारूप त्रैलोक्यात्मिका स्तौम्यपृथिवी के अतिरिक्त और कुछ विशेष बतलाया ही नही गया।

४९०-भूलोकाधिष्ठाता ब्रह्मा से अनुप्राणित स्तौम्यत्रैलोक्य, एवं भुवर्लोकाधिष्ठाता विष्णु, भूलोकधिष्ठाता-इन्द्र-से अनुप्राणित समस्यात्मक पार्थिव-लोकों की स्वरूप-जिज्ञासा—

अतएव अब हमें अबतक के तथाकथित पार्थिवविवर्त्त को लक्ष्य में रखते हुए पुनः तत्त्वविमर्श में प्रवृत्त होजाना चाहिए। अभी दो पृथिवी, किंवा पृथिवी के दो विवर्त्तों का स्पष्टीकरण और करना है। स्मरण कीजिए--उस भूपिण्ड का, जिसमें भूः-भुवः--स्वः, नामक तीन स्तर बतलाते हुए उन में क्रमशः अग्निमय ब्रह्मा, आपोमय विष्णु, एवं वाङ्मय इन्द्र की प्रतिष्ठा बतलाई गई थी। साथ ही पाठक पूर्व के पार्थिव--विवर्त्त से यह भी मान गए होंगे कि, त्रैलोक्यरूप उक्त सम्वत्सरमण्डल केवल अग्निमय ब्रह्मा का ही विवर्त्त है। अभी भुवर्लोकाधिष्ठाता आपोमय विष्णु, एवं भूलोकाधिष्ठाता वाङ्मय इन्द्र, ये दो हव्य देवता ज्यों के त्यों बचे हुए हैं। प्राणाग्निमूर्त्ति ब्रह्माने तो अपने प्राणाग्नि का तेजोरूप से वितान कर वेदत्रयी के आधार पर विराट्रूपा सम्वत्सर-त्रिलोकी का निर्माण कर दिया। किन्तु विष्णु, और इन्द्र ने क्या किया ?, यह अभी अज्ञातगर्भ में ही विलीन है।

४६१-ब्रह्मानुगता यज्ञमात्रिकवेदावच्छिन्ना वेदसाहस्री, एवं विष्णु-इन्द्रानुगता लोक-वाक्-साहस्रियों का संस्मरण—

बिना इन को जाने पृथिवी का वास्तविक विस्तार विदित नहीं होसकता। यही नहीं, जिस त्रिलोकी का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, वह भी इन्द्राविष्णु के सहयोग की ही नित्य अपेक्षा रख रही है। वेदमूर्त्ति ब्रह्मा वेदविकास कर सकते है। परन्तु लोकविकास के लिए तो इन्हें लोकाधिष्ठाता आपोमय विष्णु का ही आश्रय लेना पड़ता है। यही क्यों, वेद का विकास भी ये केवल भूपिण्ड में हीं कर सकते है। भूतवेद को भौतिक भूपिण्ड में व्याप्त करदेना मात्र इन के हाथ में है। इसे बाहिर के त्रैलोक्य में विततं कर 'यज्ञमात्रिक' बना डालना भी वाङ्मय यज्ञश्रेष्ठ इन्द्रदेवता के सहयोग पर ही निर्भर है। इसप्रकार ब्रह्मा से सम्बन्ध रखने वाली यज्ञमात्रिकरूपा वेदसाहस्री, आपोमय विष्णु से सम्बन्ध रखने वाली लोकसाहस्री, एवं वाङ्मय इन्द्र से सम्बन्ध रखने वाली वाक्साहस्री, तीनों के प्रवर्त्तक ब्रह्माधार पर प्रतिष्ठित इन्द्राविष्णु की स्पर्द्धा ही है, जैसाकि निम्न लिखित श्रुति से स्पष्ट है—

उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥

—ऋक्सं० ६।६६।८।

किं तत् सहस्रमिति—

इमे लोकाः
इमे वेदाः
अथो वाक्-इति ब्रूयात्॥ (ऐतरेयारण्यके)

४६२-सरलप्रयास का उत्तरोत्तर काठिन्य, तदनुगता विवशता, एवं वाक्परिणामात्मक मिथुनभाव से अनुप्राणित 'भाण' स्वरूप--विश्लेषक श्रौतसन्दर्भ—

विषय को जितना हीं अधिक सरल बनाने का प्रयास किया जारहा है, वह उतना हीं अधिक क्लिष्ट बनता जारहा है। परन्तु विवशता के अतिरिक्त इसका और उत्तर हो भी क्या सकता है। ब्रह्माग्नि-विवर्त्त का प्रतिपादन करते हुए एक आवश्यक बात कहना हम भूल गए थे। प्रजापति सम्वत्सरयज्ञरूप में परिणत होगए, इस 'भूयोयज्ञ' से उन्होंनें अर्काश्वमेध का विकास किया। और इस के द्वारा वे सर्वरूप में परिणत होगए। वहीं हमें यह और कह देना चाहिए था कि, प्रजापति की इस सर्वरूपता का कारण बना "वाक्परिमाण"। वाक्परिमाण से मिथुनभाव करते हुए ही प्रजापति सबकुछ बनने में समर्थ हुए हैं, जैसा कि पूर्वश्रुति के ही अंशभूत निम्न लिखत वचन से स्पष्ट है—

"तमेतावन्तं कालमबिभः--यावान्त्संवत्सरः। तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत। तं जातमभिव्याददात्। स 'भाण' अकरोत्। सैव "वाक्"—अभवत्। स तया वाचा

तेन आत्मना इदं सर्वमसृजत । स यत्-यत्-एव-असृजत तत्तदत्तुमियत, सर्वं वा अत्तीति, *तददितेरदितित्वम् । सर्वस्यात्ता भवति, सर्वमस्यान्नं भवति, य एवमेवमदितेरदितित्वं वेद" ।

४९३–वाक्परिमाणात्मक–छन्द का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय, तदनुबन्धी 'छन्दोवेद', एवं तद्द्वारा यज्ञमात्रिक–वेद की स्वरूपाभिव्यक्ति—

'वाक्परिमाण' क्या है ?, इसका उत्तर है—"वाकपरिमाणं छन्दः" । वाक्तत्त्व को सीमित करने वाला आयतन ही 'छन्द' नाम से प्रसिद्ध है । यह छन्द भी स्वयं वाग्रूप ही है । छन्द स्वयं वस्तु नहीं है, अपितु वस्तु को सुरक्षित रखने वाला एक बहिरावरणमात्र है । इस वाङ्मय छन्द को भी एक स्वतन्त्र वेद माना जाता है, जो कि वेद "छन्दोवेद" नाम से प्रसिद्ध है । स्वयं वस्तुपिण्ड एक वस्तु है। इस वस्तुपिण्ड में हमनें वेदमूर्ति ब्रह्मा का साम्राज्य बतलाया है । भूपिण्ड में व्याप्त ब्रह्मा का यह वेद छन्दोवेद ही है । इसी के आधार पर आगे जाकर यज्ञमात्रिक वेद का विकास होता है ।

४९४–हृदय–विष्कम्भ–परिणाहात्मक–केन्द्र–व्यास–मण्डलात्मक छन्दोवेद का स्वरूप-समन्वय,–एवं तद्रूप भातिसिद्ध–भाव—

पिण्ड में हृदय (नाभि)--विष्कम्भ--परिणाह ये तीन भाव रहते हैं । केन्द्र–व्यास--घेरा, तीनों कोई सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं हैं । अपितु तीनों ही विशुद्ध भातिसिद्ध पदार्थ हैं । जिसका हृदय है, जिसका व्यास है, एवं जिसका परिणाह है, वही सत्तासिद्ध पदार्थ है, और वही भूपिण्ड है । इन तीनों छन्दों से भूपिण्ड छन्दित है, आवृत है, सुरक्षित है ।

४९५–पद्य–गद्य–गेय–भावानुबन्धी ऋक्-यजुः--साम–तत्त्वों का स्वरूप–समन्वय, एवं 'ऋच्यधूढं साम गीयते'–'ऋक्सामे यजुरपीतः'–'त्रिचं साम' का रहस्यात्मक समन्वय—

इनमें हृदयच्छन्द अनिरुक्त बनता हुआ, असीमकोटि में आता हुआ यजुर्वेद है । विष्कम्भ-छन्द–ऋग्वेद है । एवं परिणाहछन्द सामवेद है । शब्दात्मिका वेदत्रयी के परिज्ञाता विद्वान् यह तो जानते ही हैं कि, यजुर्वेद गद्यात्मक बनता हुआ सीमाभाव से बहिष्कृत है । पद्यात्मक-ऋग्वेद, गेयात्मक सामवेद, दोनों सीमिस है । वे यह भी जानते ही है कि, पद्यरूप ऋङ्मन्त्र ही गानसीमा में आकर साममन्त्र कहलाते हैं । दूसरे शब्दों में–ऋक को आधार बना कर ही, ऋक् को वाहन बनाकर ही सामगान होता है–"ऋच्यधूढं साम गीयते" । वे यह भी जानते ही हैं कि, तीन ऋङ्मन्त्रों से एक साममन्त्र का

---

* पूर्व के विराट्प्रकरण में त्रिवृत्–पञ्चदश--एकविंश–रूपा महापृथिवी को ही हमने "अदिति" पृथिवी कहा है । एवं इसी के गर्भ में एककल, त्रिकल, अथवा दशकल विराट् प्रजापति की सत्ता बतलाई है । प्रकृत श्रुति विराट्जननी इसी अदिति पृथिवी का स्पष्टीकरण कर रही है ।

स्वरूप सम्पन्न होजाता है। अर्थात् जितने समय में पद्यात्मक एक ऋङ्मन्त्र का उच्चारण होता हैं, उससे त्रिगुणित समय लगाकर यदि उसी ऋङ्मन्त्र का प्रयोग किया जायगा (बोला जायगा), तो वह ऋङ्मन्त्र ऋङ्मन्त्र न कहला कर साममन्त्र कहलाने लगेगा—"**त्रिचं साम**"। हाँ, सम्भवत वे यह नहीं × जानते होंगे कि, **ये ऋक्साम दोनों हीं यजु में अपीत रहते हैं (डूबे रहते हैं)**।

४९६–तत्त्वात्मक–अपौरुषेय–वेद, एवं तदनुबन्धिनी वेदत्रयी का स्वरूप–संस्मरण—

विद्वानों की इस 'शब्दवेदभक्ति' का आज हम भूपिण्ड–स्वरूप–समर्पक इस तत्त्वात्मक छन्दोवेद के साथ समन्वय करना चाहते हैं, जोकि तत्त्वात्मक वेद "**अपौरुषेयवेद**" नाम से प्रसिद्ध है। परिणाह को हमनें साम कहा है। भूपिण्ड का वर्त्तुल घेरा ही परिणाह है। यह पहिणाह भूव्यास के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। व्यास को मूलप्रतिष्ठा बनाकर ही परिणाह वितत हुआ है–"**ऋच्यधूढं साम गीयते**"। विष्कम्भ ऋक् है। त्रिगुणित विष्कम्भ ही परिणाह है। अर्थात् व्यास का जितना परिमाण है, परिणाह का परिमाण इस से त्रिगुणित होता है–"**त्रिचं साम**"। परिणाह, और विष्कम्भ, दोनों की प्रतिष्ठा हृदय-रूप यजु है-"**ऋक्सामे यजुरपीतः**"।

४९७-इन्द्रात्मक परिणाह, विष्णवात्मक विष्कम्भ, एवं ब्रह्मात्मक हृदय, तथा छन्दोवेद का त्रिदेवानुबन्धी समन्वय---

परिणाह अन्तिम सीमा है, यहीं वाङ्मय इन्द्रदेवता प्रतिष्ठित हैं। अतएव परिणाहरूप साम को हम इन्द्र–सम्बन्धी कह सकते हैं। व्यास मध्यसीमा है, यहीं आग्नेमय विष्णु प्रतिष्ठित हैं। अतएव विष्कम्भ-रूपा ऋक् को विष्णु–सम्बन्धिनी कहा जासकता है। हृदय मूलसीमा है, यहीं अग्निमय ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं। अतएव हृदयरूप यजु को ब्रह्मसम्बन्धी माना जासकता है। ऋक्-साम को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए, एवं पहिले केवल यजु ही का विचार कीजिए।

४९८–यजुर्वेद के अनेजत्–एजत्–स्थिति–गति–लक्षण–यत्–जूः–रूप–'यज्जूः' स्वरूप का तात्त्विक दिग्दर्शन–

यह वेद यजुर्वेद नहीं है, अपितु "**यज्जू**" वेद है। यत् और जू की समष्टि ही यज्जू है। 'यज्जू' को ही परोक्षभाषा में "**यजुः**" कहा जाता है। यज्जू का 'यत्' भाग 'प्राण' है, 'जू' भाग 'वाक् है। वाक 'आकाश' है, प्राण 'वायु' है। आकाश 'स्थितितत्त्व' है, वायु 'गतितत्त्व है। स्थिति 'अनेजत्' है,

× न जानने का कारण स्पष्ट है। "**ऋक् के आधार पर सामगान होता है, तीन ऋचाओं का एक साम होता है**" ये सिद्धान्त तो दर्शनशास्त्र में उपबृंहित होचुके हैं। परन्तु "**ऋक्सामे यजुरपीतः**" यह रहस्य श्रुति है। अतएव दर्शनभक्त आजके विद्वानोंनें उन दोनों दार्शनिक भावों को तो जान लिया। परन्तु इस वेदसिद्ध रहस्य को वे नहीं जानसके।

गति 'एजत्' है। अनेजत्--एजत् की समष्टि ही यज्जू है, यही ब्रह्मा है, यही मूलप्रतिष्ठा है। आपोमय विष्णु, और वाङ्मय इन्द्र, ये दोनों भी एक दृष्टि से इसी के विवर्त्त हैं। अतत्तत्त्व का विकास प्राणगर्भित वाङ्मूर्ति ब्रह्मा से ही हुआ है--"सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्"--"वागेव साऽसृज्यत"। वाक्तत्त्व का विकास भी इसी आपोमय मण्डल के गर्भ में [बीजरूप से) हुआ है।

४९९-वेदमूर्त्ति ब्रह्मा की आदि-मध्य-अन्त-रूप से ब्रह्मा--विष्णु--इन्द्र--स्वरूप में परिणति-

दूसरी दृष्टि से देखिए। यत्, और जू में 'जू' रूप स्थितिभाव तो साक्षात् ब्रह्मा है। 'यत्' गति है, आगतिगति दोनों 'गति' हैं। आगति विष्णुधर्म्म है, गति इन्द्रधर्म्म हैं। इसप्रकार यजुर्मूर्त्ति ब्रह्मा जूरूप से मूल में प्रतिष्ठित रहता है, आगतिरूप यद्भाग से विष्णुरूप में परिणत होता हुआ मध्य में प्रतिष्ठित रहता है, एवं गतिरूप 'यत्' भाग से इन्द्ररूप में परिणत होता हुआ अन्त में प्रतिष्ठित रहता है। और यही तो इस अनिरुक्त की सर्वता है।

५००--तत्त्वत्रयी का चामत्कारिक--समन्वय, एवं तन्निबन्धना--भाणात्मिका वाङ्मूला वेदत्रयी, शुक्रत्रयी, छन्दस्त्रयी, देवत्रयी, लोकत्रयी, और "नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने" का पावन--संस्मरण-

एक चमत्कार और देखिए। इन्द्र को हमने साम कहाथा, यह कथन तो मुख्यस्थित है। विष्णु का ऋक् से सम्बन्ध बतलाया था, एवं ब्रह्मा का यजुः से। अब स्थिति बदल गई है। यज्जू का जू रूप आकाश भाग केवल ब्रह्मा रह गया है, यद्रूप वायु विष्णु बन गया है। इसी दृष्टि से उक्थरूप 'जू' (ब्रह्मा) ऋग्वेद बन गया है, अर्करूप यत् (विष्णु) यजुर्वेद बन गया है—"तस्माद्वायुरेव यजुः", एवं इन्द्र साम रह गया है। इसप्रकार छन्दोवेद के इस उच्चावचभाव से—स्वर्लोकस्थानीय अग्निशुक्रमय ब्रह्मा ऋङ्मूर्त्ति, भुवर्लोकस्थानीय आपः शुक्रमय विष्णु यजुर्मूर्त्ति, एवं भूलोकस्थानीय वाक्शुक्रमय इन्द्र साममूर्त्ति बन गए हैं। तीनों वेद उस एक ही 'भाण' रूपा 'वाक्' के तीन विवर्त्त हैं। आरम्भ में वाक्-परिभाणरूप जो छन्द एकरूप था, वही देवभेद से ऋग्रूप उक्थ हृदयबिन्दु, यजुरूप अर्कविष्कम्भ, एवं सामरूप वितान-परिणाह-रूप से तीन भागों में विभक्त होगया है। एक छन्द तीन छन्द बन गए, एक वेद तीन वेद-बन गए, एक देवता तीन देवता बन गए, एक ही अग्निशुक्र तीन शुक्र बन गए, एवं एक ही भूलोक भु-भुवः-स्वः भेद से त्रिपर्वा बन गया--'नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक् सृष्टेः केवलात्मने'।

एकः प्रकारः-

१-हृदयम्---यजुः-यजुर्मूर्त्तिर्ब्रह्मा—अग्निमयो मूलस्थः—स्वर्लोकाधिष्ठाता
२-विष्कम्भः---ऋक्-ऋङ्मूर्त्तिर्विष्णुः-आपोमयो मध्यस्थः—भुवर्लोकाधिष्ठाता } ---भूपिण्डः
३-परिणाहः---साम-साममूर्त्तिरिन्द्रः—वाङ्मयो बहिःस्थः—भूलोकाधिष्ठाता

आपः-फेन-मृत्-सिकता-शर्करा-अश्मा-अयः-हिरण्यात्मकः-

भूपिण्डपरिलेखः-

(स्वभुं वभूं रात्मकोऽयमग्निगर्भो भूपिण्डः)

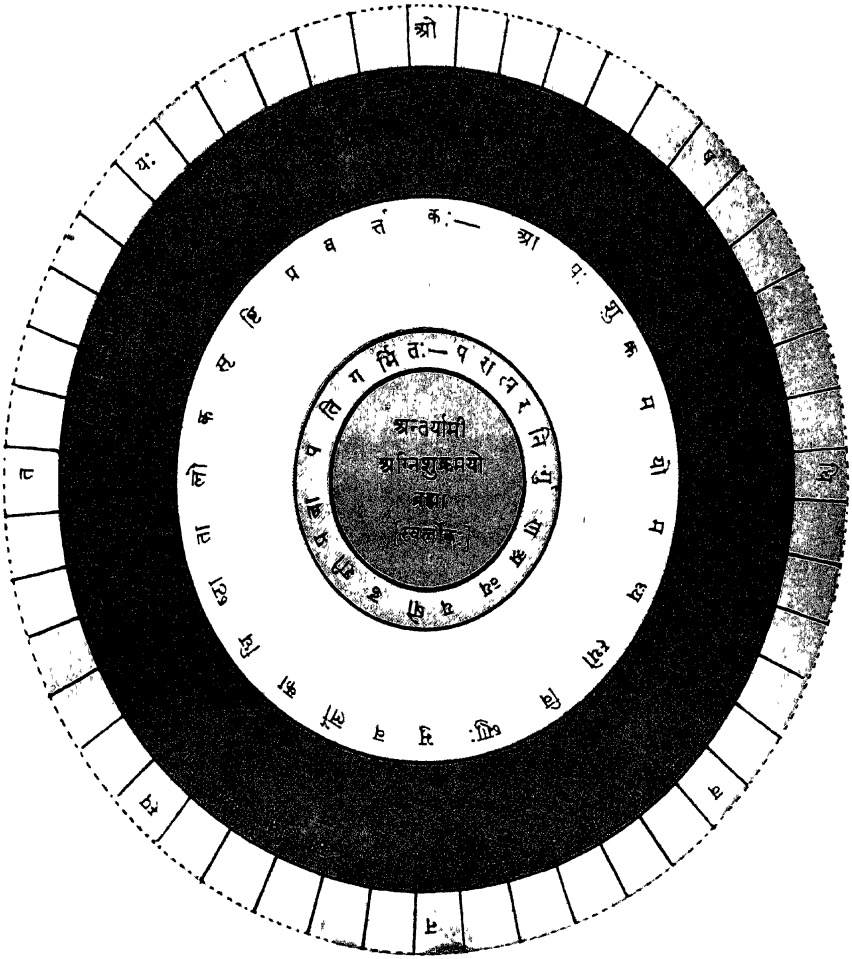

प्रमाणानि—

१–"एष प्रजापति (ब्रह्मा) यद्धृदयम्" (शत० १४।८।४।१।)।

२–"तस्माद्यजूंषि निरुक्तानि सन्त्यनिरुक्तानि" (शत० ४।६।७।१७)

३–"स प्रजापतिर्यजूंष्येव हिङ्कारमकरोत्" (जै० ब्रा० उ० १।२५।६।)।

———— * ————

अन्यः प्रकारः सैद्धान्तिकः—

ऋक्छन्दः--ब्रह्मा--अग्निमयः–हृदयम्—स्वः
यजुश्छन्दः-विष्णुः-आपोमयः–विष्कम्भः-भुवः } --भूपिण्डः
सामछन्दः–इन्द्रः—वाङ्मयः---परिणाहः-भूः

———————★———————

५०१- ऋक्--यजुः-साम--अनुगत-ब्रह्मा--विष्णु--इन्द्र–भावान्वित अग्नि--आपः--वाग्--भाव, एवं तन्निबन्धन वाक्-गौ-द्यौः--रूप-पार्थिवी--मनोतात्रयी का संस्मरण—

वाक्परिमाण को छन्द बतलाया गया, उस छन्द के **ऋक्--यजुः--साम**, ये तीन पर्व बतलाए गए, तीनों का क्रमशः **ब्रह्मा--विष्णु--इन्द्र** के साथ सम्बन्ध बतलाया गया, एवं तीनों देवताओं को क्रमशः **अग्नि--आपः--वाङ्मय** बतलाया गया। और यही भूपिण्डात्मिका त्रिलोकी बनी। स्वर्लोकरूप विष्कम्भावच्छिन्न ऋङ्मय अग्निमय ब्रह्मस्थान इस का पृथिवीलोक बना। भुवर्लोकरूप विष्कम्भावच्छिन्न यजुर्मय आपोमय विष्णुस्थान इस का अन्तरिक्षलोक बना। एवं भूलोकरूप पारिणाहावच्छिन्न साममय वाङ्मय इन्द्रस्थान इस भूपिण्ड का द्युलोक बना। इसी आधार पर **मनोताविज्ञान** के अनुसार भूपिण्ड के **वाक्--गौः--द्यौः**, इन तीन मनोताओं का उक्त तीनों देवताओं के साथ भोग माना जाता है। वाक् अग्निमयी है, इस का अग्निमय ब्रह्मा के साथ सम्बन्ध है। गौतत्त्व आपोमय है, इसका आपोमय विष्णु के साथ सम्बन्ध है, एवं द्यौतत्त्व वाङ्मय है, और इसका वाङ्मय इन्द्र के साथ सम्बन्ध है।

५०२--ब्राह्मी-गायत्री-पृथिवी, वैष्णवी त्रैष्टुभी-पृथिवी, ऐन्द्री जागतीपृ-थिवी, एवं त्रिपृथिव्यात्मिका महापृथिवीरूपा विश्वम्भरा का तात्त्विकस्वरूप-समन्वय, तथा तन्निबन्धना साहस्रीत्रयी का संस्मरण—

वाङ्मय अग्निमूर्त्ति ब्रह्मस्थानरूप पृथिवीलोक ऋक्छन्दा है, यही **गायत्रीछन्द** है। गौमय आपोमूर्त्ति विष्णुस्थानरूप अन्तरिक्षलोक यजुःछन्दा है, यही **त्रिष्टुप्छन्द** है। एवं वाङ्मय वाङ्मूर्त्ति इन्द्रस्थान

रूप द्युलोक सामच्छन्दा है, यही **जगतीछन्द** है। इस दृष्टि से तीनो सौम देवता क्रमशः **गायत्रपृथिवी-त्रैष्टुभ-पृथिवी, जागतपृथिवी**, इन तीन विवर्त्तों की विकासभूमि बनते हैं। गायत्र पृथिवी अग्निमयी कहलाती है, त्रैष्टुभ-पृथिवी आपोमयी कहलाती है, एवं जागत-पृथिवी वाङ्मयी कहलाती है। अग्निमयी पृथिवी से **वेदसाहस्री** का, आपोमयी पृथिवी से **लोकसाहस्री** का, एवं वाङ्मयी पृथिवी से **वाक्साहस्री** का विकास होता है।

५०३-केवल-गायत्री-पृथिवी से अनुप्राणिता गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-रूपा छन्दस्त्रयी, तन्निबन्धना गायत्ररूपा वेदत्रयी, एवं राजर्षि मनु के द्वारा तत्स्वरूप--समन्वय—

इतना और ध्यान रखिए कि, भूपिण्ड में यद्यपि गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-तीनों ही हैं, परन्तु प्रधानता गायत्रब्रह्म की ही है, अतएव भू को गायत्री ही कहा जायगा। इस गायत्री के गर्भ में **गायत्री--त्रिष्टुप्--जगती,** ये तीनों छन्द प्रतिष्ठित हैं। इनमें गायत्री का विकास स्तौम्यत्रिलोकीरूप महापृथिवीरूप से होता है। ब्रह्माग्निमूर्त्ति गायत्री ही तेजोरसरूप से बाहिर निकल कर अपनी घन-तरल-विरल इन तीन अवस्थाओं में परिणत होकर **त्रिवृत्--पञ्चदश--एकविंश,** इन तीन लोकों में प्रतिष्ठित होकर सम्वत्सररूप में परिणत होती है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त गायत्रछन्दा पार्थिव गायत्राग्नि (ब्रह्माग्नि) का ही वितान है। गायत्राग्नि के तीनों पर्वों से यज्ञसिद्धि के लिए क्रमशः अग्निपर्व से ऋग्वेद, वायुपर्व से यजुर्वेद, एवं आदित्यपर्व से सामवेद का विकास होता है, जैसाकि निम्नलिखित मनु-वचन से स्पष्ट है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसाम-लक्षणम्॥
—मनुः

५०४-छन्दस्त्रयीमयी गायत्री-पृथिवी से अनुप्राणिता वेदत्रयी के स्तोमत्रयानुबन्धी गायत्र-लोक, तन्निबन्धना वेदत्रयी के ऋक्--यजुः--साम--समुद्र, एवं अब्-मूला इन्द्राविष्णू की रहस्यपूर्णा प्रतिस्पर्द्धा का तात्त्विक स्वरूप--समन्वय—

यही पहिली वेदसाहस्री है। इस वेदसासस्री के ऋङ्मय त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न गायत्र घनाग्निरूप पार्थिव अग्नि का छन्द गायत्री है। यजुर्म्मय, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न-गायत्र तरलाग्निरूपर आन्तरिक्ष्य वायु का छन्द त्रिष्टुप् है। एवं सामय, एकविंशस्तोमावच्छिन्न गायत्र विरलाग्निरूप दिव्य आदित्य का छन्द जगती है। इस दृष्टि से त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-रूप पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-में प्रतिष्ठित अग्नि-वायु-आदित्य-मूर्त्ति गायत्रब्रह्माग्नि के इन तीनों गायत्रपर्वों में भी गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती, इन तीनों छन्दों का भोग सिद्ध होजाता है। इसके साथ ही यह और स्मरण रखना चाहिए कि, इस वेदसाहस्री का वितान हुआ उसी इन्द्राविष्णू की स्पर्द्धा से है। आगतिधर्म्मा विष्णु, एवं गतिधर्म्मा इन्द्र के आदान-विसर्ग से ही अग्नीषोमात्मक यज्ञके द्वारा यह ब्रह्माग्नि वितत होकर २१ पर पहुँच सका है, यहाँ पहुँच कर ही यह त्रिपर्वा बन सका है,

एवं त्रिपर्वा बन कर ही यह वेदत्रयीरूप वेदसाहस्री (ऋक्साहस्री-यजुःसाहस्री-सामसाहस्री, किंवा **ऋचां समुद्र, यजुषां समुद्र--साम्नां समुद्र** को विकसित करने में समर्थ होसका है। और इन्द्राविष्णू की इस स्पर्द्धा का मूल धरातल बना है--वही अप्तत्त्व, जिस के गर्भ में जिसी के अंश से अष्टपर्वों के द्वारा भूपिण्ड प्रतिष्ठित रहता है--**'समुद्रमभितः पिन्वमानम्'**। **'इन्द्रश्च विष्णो यदपः स्पृधेथाम्'** का यही रहस्य है। भूपिण्ड के चारों ओर अर्णव समुद्र भरा हुआ है। इन्द्राविष्णू की नोदना से पानी के धरातल पर ही ब्रह्मा की इस गायत्र पृथिवी, किंवा संवत्सरपृथिवी का वितान होता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर पूर्व श्रुति ने उत्पन्न सम्वत्सर को भी **'स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितः'** कहते हुए इस आपोमय अर्णव समुद्र में हीं। प्रतिष्ठित बतलाया है।

१-अग्निः--त्रिवृत्स्तो०--पृथिवी-ऋग्वेदः-गायत्रोऽग्निः-गायत्रीछन्दा
२-वायुः---पञ्चदशस्तो०-अन्त०-यजुर्वेदः-गायत्रो वायुः-त्रिष्टुप्छन्दा
३-आदित्यः-एकविंशस्तो०-द्यौः--सामवेदः-गायत्रआदित्य-जगतीछन्दा
} ---गायत्री (अग्निः)

---*---

१-गायत्री ६---अग्निर्गायत्रः--पृथिवी
२-त्रिष्टुप् १५---वायुर्गायत्रः---अन्त०
३-जगती २१---आदित्यः--गायत्रः-द्यौः
} -गायत्री पृथिवी (ब्रह्मा)--वेदसाहस्री

---*---

५०५--भुवर्लोकात्मक--आपोमय-त्रैष्टुभ-वैष्णवलोकानुबन्धी तीन लोकों का तात्त्विक स्वरूप--समन्वय--

इसके अनन्तर भूपिण्ड के भुवर्लोक में प्रतिष्ठित रहने वाले त्रिष्टुपछन्दा, यजुर्मूर्त्ति--आपोमय विष्णु का स्थान आया। इसी विष्णु से लोकसाहस्री का वितान हुआ। उसी भूकेन्द्र से आरम्भ कर ३३ वें अहर्गणपर्य्यन्त इस आपोमय विष्णु की व्याप्ति हुई। २१ पर्य्यन्त पानी का एक स्वतन्त्र मण्डल बना, यही तेजोमय (अग्निमय) "**वेन**" पानी कहलाया, जिस के कि समावेश से दर्भ पवित्र माने जाते हैं। २१ से २७ पर्य्यन्त पानी का एक स्वतन्त्र मण्डल बना, यही पवित्र पानी (पार्थिव आकर्षण से विमुक्त पानी) **भास्वरसोम** कहलाया। एवं २७ से ३३ पर्य्यन्त पानी का एक स्वतन्त्र मण्डल बना। यही पानी "**दिक्सोम**" कहलाया।

५०६--वैष्णव-त्रैष्टुभ-तीनों लोकों से अनुप्राणित त्रयस्त्रिंश-सप्तविंश-एकविंश-स्तोमानुगत गायत्र-त्रैष्टुभ-जागत-भाव, एवं वैष्णवी त्रिलोकी का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय--

२१ विंश स्तोमावच्छिन्न तेजोमय वैष्णव, अतएव त्रैष्टुभ पानी उस तेजोमय, एकविंशस्तोम--पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले त्रिमूर्त्ति गायत्र अग्नि के सम्बन्ध से "**गायत्री**" कहलाया। त्रिणव (२७) स्तोमावच्छिन्न

भास्वरसोममय वैष्णव त्रैष्टुभ पानी "त्रिष्टुप्" कहलाया, एवं त्रयस्त्रिंश स्तोमावच्छिन्न दिक्सोममय वैष्णव त्रैष्टुभ पानी "जगती" कहलाया। इसप्रकार त्रिष्टुप्छन्दा आपोमय इस वैष्णव मण्डल की भी २१-२७-३३-भेद से तीन संस्थाएँ बन गईं। एवं ये ही तीनों संस्थाएँ **आपोमय (वेनमय) पृथिवीलोक, आपोमय (भास्वरसोममय) अन्तरिक्षलोक, आपोमय (दिक्सोममय) द्युलोक**, इसप्रकार तीन लोक कहलाए। तीनों क्रमशः गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती छन्दों से युक्त बन गए। इसी दृष्टि से आपोमय केवल त्रैष्टुभलोक में ही तीनों छन्दों का उपभोग सिद्ध होगया। यही दूसरी **लोकसाहस्री** कहलाई।

१-वेनः———-एकविंशस्तोमः-पृथिवी-आपः (त्रिष्टुप्--विष्णुः --गायत्री)
२--भास्वरसोमः-त्रिणवस्तोमः—अन्त०--सोमः (,,)-त्रिष्टुप् } त्रिष्टुप्
३-दिक्सोमः—त्रयस्त्रिंशस्तोमः-द्यौः-—-दिक् (,,)--जगती (आपः)

:*:

१—गायत्री—२१--वेनस्त्रैटुभः———-पृथिवी
२—त्रिष्टुप्—२७--भा०सोमस्त्रैष्टुभः-अन्त० } त्रिष्टुप् पृथिवी ' विष्णुः)-लोकसाहस्री[२]
३—जगती—३३--दि०सोमस्त्रैष्टुभः-द्यौः

:*:

५०७--भूलोकात्मक-वाङ्मय-जागत-ऐन्द्र-लोकानुबन्धी तीन लोकों का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय, तदनुप्राणित वाङ्मय वषट्कार--मण्डल, एवं तत्र प्रतिष्ठिता स्वर-वर्ण-व्यञ्जन-त्रयी—

विष्णु के अनन्तर भूपिण्ड के भूलोक में प्रतिष्ठित रहने वाले जगतीछन्दा, साममूर्त्ति, अग्निसोम--गर्भित, साममूर्त्ति, वाङ्मय इन्द्र का स्थान आता है। इसी त्रिमूर्त्ति इन्द्र से वाक्साहस्री [वषट्कार] का जन्म होता है। अतएव इन्द्र के लिए "इन्द्राय-वौषट्" इत्यादि रूप से वषट्पूर्वक ही आहुति दी जाती है। उसी भूकेन्द्र से आरम्भ कर ४८ वें अहर्गण पर्य्यन्त इस वाङ्मय इन्द्र की व्याप्ति हुई। २४ पर्य्यन्त वाङ्मय इन्द्र का, किंवा वाक् का एक स्वतन्त्र मण्डल बना, यही जागतमण्डल कहलाया। जागत वाङ्मण्डल शब्द-ब्रह्मविज्ञान के अनुसार "स्वरमण्डल" कहलाया, त्रैष्टुभ वाङ्मण्डल "वर्णमण्डल" कहलाया, एवं गायत्र-वाङ्मण्डल "व्यञ्जनमण्डल" कहलाया।

५०८-इन्द्रानुगत-विविधाकारकरणात्मक 'व्याकरण' का स्वरूप-निर्वचन, एवं तदाधार-भूत अर्द्धमात्रात्मक स्फोटब्रह्म का माङ्गलिक स्वरूप-संस्मरण—

वाग्लक्षण शब्दब्रह्म के **व्यञ्जन, वर्ण, स्वर**, ये तीन विवर्त्त माने गए हैं, जैसाकि **कर्म्मयोग-परीक्षान्तर्गत वर्णनिरुक्तिप्रकरण** में विस्तार से बतलाया जाचुका है। इन्द्र ही वाग्देवता बनकर शब्दब्रह्म

को (स्फोटब्रह्म को) व्याकरण (एकस्य स्फोटब्रह्मणो विविधकारकरणमेव व्याकरणम्) रूप में परिणत करते हैं। यह ऐन्द्र व्याकरण चतुर्विंश--चतुश्चत्वारिंश--अष्टचत्वारिंश भेद से व्यञ्जन--वर्ण--स्वर भेद से तीन भागों में विभक्त होजाता है। तीनों की मूलप्रतिष्ठा वही अव्ययस्थानीय स्फोटतत्त्व है, जो कि 'अर्द्धमात्रा नाम से प्रसिद्ध है।

५०९–ऐन्द्र–जागत -तीनों लोकों से अनप्राणित–अष्टाचत्वारिंश–चतुश्चत्वारिंश-चतुर्विंश-स्तोमानुगत गायत्र–त्रैष्टुभ–जागत--भाव, एवं ऐन्द्री त्रिलोकी का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय —

चत्वारिंशस्तोमावच्छिन्न ऐन्द्र व्यञ्जनलक्षण जागत वाक्तत्त्व गायत्र अग्नि के सम्बन्ध से गायत्र कहलाया, चतुश्चत्वारिंश-स्तोमावच्छिन्न ऐन्द्र वर्णलक्षण जागत वाक्तत्त्व त्रैष्टुप अप् के सम्बन्ध से त्रैष्टुभ कहलाया, एवं अष्टाचत्वारिंश–स्तोमावच्छिन्न ऐन्द्र स्वरलक्षण–जागत वाक्तत्त्व अपने विशुद्ध जागतरूप से जागत कहलाया। इसप्रकार जागतछन्दा वाङ्मय इस ऐन्द्रमण्डल की भी २४–४४--४८ भेद से तीन संस्थाएँ बन गईं। एवं ये ही तीनों संस्थाएँ वाङ्मय (व्यञ्जन वाङ्मय) पृथिवीलोक, वाङ्मय (वर्ण-वाङ्मय) अन्तरिक्षलोक, वाङ्मय [स्वरवाङ्मय] द्युलोक, इसप्रकार तीन लोक कहलाए। तीनों पूर्व-परिभाषानुसार क्रमशः गायत्री--त्रिष्टुप्--जगती, इन तीन छन्दों से युक्त बन गए। इसी दृष्टि से वाङ्मय केवल जागत लोक में भी तीनों छन्दों का उपभोग सिद्ध होगया। यही तीसरी वाक्साहस्री कहलाई। आगे की तालिकाओं, एवं परिलेखों से उक्त विषय भलीभाँति स्पष्ट होजाता है।

१–व्यञ्जनमण्डलम्–चतुर्वि०––पृथिवी–(व्यञ्जनानि–जगती–इन्द्रः–गायत्री) ३
२–वर्णमण्डलम्–––चतुश्च०–––अन्त०–(वर्णाः)– ,, ,, –त्रिष्टुप्) ३ – जगती
३–स्वरमण्डलम्––अष्टाच०––द्यौः (स्वराः)– ,, ,, –जगती) ३ [वाक्]

——**——

१–गायत्री—२४—व्यञ्जनं जागतम्—पृथिवी
२–त्रिष्टुम्--४४—वर्णो जागतः——अन्त० } जगती पृथिवी [इन्द्रः] ३ वाक्साहस्री
३–जगती—४८—स्वरो जागतः——द्यौः

——*——

समष्टिः—

१–ब्रह्मा—स्वः—अग्निः–ऋक्——"गायत्री" ┐
२–विष्णुः–भुवः—आपः—यजुः——"त्रिष्टुप्" ├ भूपिण्डः
३–इन्द्रः—भूः——वाक्–साम-——"जगती" ┘

——*——

१—ब्राह्ममण्डलम्—(स्वर्लोकात्मिका गायत्री-पृथिवी)—

१–अग्निः——पृथिवी—ऋक्—गायत्री [६] ┐
२–वायुः——अन्त०—यजुः—त्रिष्टुप् [१५] ├ अग्निः–"गायत्री"
३–आदित्यः—द्यौः——साम—जगती [२१] ┘ 'वेदसाहस्री'

——— * ———

२—विष्णुमण्डलम्—(भुवर्लोकात्मिका त्रिष्टुप्–पृथिवी)

१–वेनः——पृथिवी—गायत्री [२१] ┐
२–भा०सोमः–अन्तरि०–त्रिष्टुप् [२७] ├ आपः "त्रिष्टुप्"
३–दिक्सोमः–द्यौः——जगती [३३] ┘ 'लोकसाहस्री'

——*——

३–इन्द्रमण्डलम्––(भूलोकात्मिका जगतीपृथिवी)––

१–व्यञ्जनम्–पृथिवी——गायत्री (२४) ┐
२–वर्णः——अन्तरिक्षम्–त्रिष्टुप् (४४) ├ वाक् "जगती"
३–स्वरः——द्यौः—–—जगती (४८) ┘ 'वाक्साहस्री'

———*———

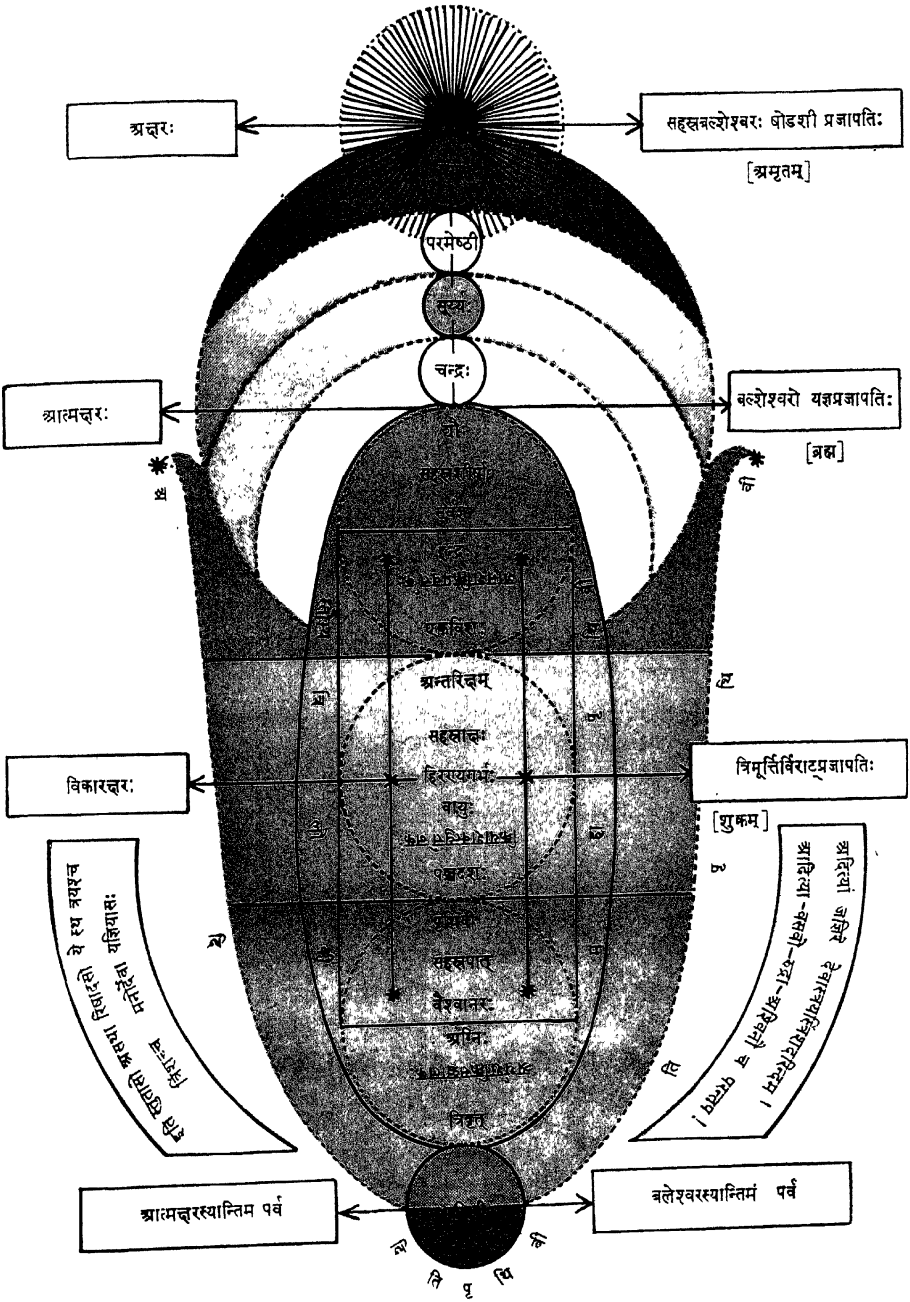
अक्षरः
सहस्रबल्शेश्वरः षोडशी प्रजापतिः
[अमृतम्]
परमेष्ठी
सूर्य
चन्द्रः
आत्मक्षरः
बल्शेश्वरो यज्ञप्रजापतिः
[ब्रह्म]
द्यौः
सहस्रशीर्षा
पुरुषः
एकर्षिः
अन्तरिक्षम्
सहस्राक्षः
हिरण्यगर्भः
वायुः
पञ्चऋषयः
पशवः
सहस्रपात्
वैश्वानरः
अग्निः
त्रिऋक्
पृथिवी
विकारक्षरः
त्रिमूर्त्तिर्विराट्प्रजापतिः
[शुक्रम्]
आत्मक्षरस्यान्तिम पर्व
बलेश्वरस्यान्तिमं पर्व

५१०–वेद-लोक-वाक्-साहस्री-त्रयीमूर्त्ति पार्थिव-विराट्प्रजापति का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय–

उक्त तालिका, एवं परिलेखों से पाठकों को विदित हुआ होगा कि, भूपिण्ड के ब्रह्मा-विष्णु--इन्द्र अक्षरों, किंवा त्र्यक्षरमूर्त्ति एकाक्षर अनिरुक्त प्रजापति से ही अग्निमयी वेदसाहस्री, आपोमयी लोकसाहस्री, वाङ्मयी वाक्साहस्री, इन तीन साहस्रियों में परिणत होता हुआ अग्निमयी पृथिवी, आपोमयी पृथिवी, वाङ्मयी पृथिवी इन तीन पृथिवियों को अपने गर्भ में रखता हुआ सर्वाक्षर सर्वप्रजापति बन गया है, और इसी सर्वप्रजापति का नाम 'विराट् प्रजापति' है।

५११–विराट्प्रजापति से अनुप्राणित अहर्गणात्मक स्तोमों के गायत्रीछन्दोनिबन्धन अष्टविध महिमाविवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय—

समष्टिरूप से यदि विराट् के स्तोमों की गणना की जाती है, तो त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश, चतुर्विंश, चतुश्चत्वारिंश, अष्टाचत्वारिंश, ये आठ स्तोम होजाते हैं। यही अष्टाक्षरा-गायत्री है। गायत्र अग्नि है, अग्नि ब्रह्मा है, गायत्र ब्रह्मा ही त्रैष्टुभ विष्णु, जागत–इन्द्ररूप में परिणत होता हुआ आठ स्तोमों में विभक्त होरहा है, दूसरे शब्दों में गायत्री ही त्रिष्टुप्–जगती रूप में परिणत होती हुई विराट्रूप में परिणत होरही है।

५१२–पार्थिवी-ब्रह्मगायत्री की 'सुपर्ण-पक्षी' रूप में परिणति, तद्रूप के द्वारा तीसरे द्युलोक से सोम का अपहरण, एवं 'चतुरक्षर-छन्दों' का तात्त्विक-स्वरूप-दिग्दर्शन–

यह सुप्रसिद्ध है कि, आरम्भ में सभी छन्द चतुरक्षर ही थे-"सर्वाणि व छन्दांसि चतुरक्षराण्यासन्" (ब्राह्मणश्रुतिः)। भूपिण्डस्थ आग्नेय देवताओं को अपने अन्नादभाव की रक्षा के लिए सोमाहुति की आवश्यकता हुई। सोम भूपिण्ड से बड़ी दूर तीसरे द्युलोक में था– "तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्"। उसके समीप जगतीछन्द पड़ता था। अतः सोमदेवताओंने परामर्श कर पहिले चतुरक्षरा जगती को ही सोम लाने के लिए भेजा। गन्धर्व सोम की रक्षा कर रहे थे। जब जगती वहाँ पहुँची, तो रक्षक गन्धर्वोंने उसे मार भगाया। यही नहीं, अपितु चतुष्पदा जगती के तीन पैर काट कर गन्धर्वोंने वहीं रख लिए, एक पैर से जगती वापस लौट आई। जगती के अनन्तर चतुरक्षरा त्रिष्टुप् का स्थान आया। इसमें कुछ विशेष बल था, अतएव सोम न मिलने पर भी यह अपना शरीर अधिक क्षत न करासकी। गन्धर्व इस का एक ही पैर काट सके, तीन पैरों से त्रिष्टुप् भी वापस लौट आई। अब पृथिवी में रहनेवाली, "एति-प्रेति" लक्षणा चतुष्पदा गायत्री का स्थान आया। देवताओंने इसे ही सोम लाने के लिए प्रेरित किया। गायत्री ब्रह्मबल से युक्त थी, ब्रह्मा की प्रतिष्ठा का इस में पूर्ण विकास था। इसी विशेष बल से बलतमा बनती हुई गायत्री सुपर्णरूप धारण कर बड़े वेग से झपाटे के साथ सोमपर आक्रमण करने चलपड़ी –"गायत्री वै सुपर्णो-भूत्वा सोममच्छापतत्"। परिणाम जो कुछ हुआ, सर्वविदित है।

५१३–त्रिष्टुप् के ३ पैर, जगती का एक पैर, गायत्री के चार पैर, और समष्ट्यात्मिका गायत्री की अष्टाक्षररूपता का समन्वय—

गन्धर्वों की आँखों में धूल झोंक कर गायत्री ने सोमापहरण तो किया ही, साथ ही वह जगती के उस एक पैर, एवं त्रिष्टुप् के उन तीन पैरों को भी अपने साथ लेती आई, जो कि गन्धर्वों के द्वारा काट लिए गए

थे। गायत्री स्वयं चतुरक्षरा पहिले से थी ही। जगती तथा त्रिष्टुप् के १-३ पैरों से आज सोमापहरण के साथ साथ गायत्री अष्टाक्षरा भी बन गई। तभी से गायत्री के सम्बन्ध में "अष्टाक्षरा वै गायत्री" यह निगम चल पड़ा।

५१४-अष्टाक्षरा गायत्री, एकादशाक्षरा त्रिष्टुप्, एवं द्वादशाक्षरा जगती के अक्षरसंख्या-निबन्धन तात्त्विक-स्वरूप का समन्वय, एवं गायत्री की सर्वरूपता—

जब त्रिष्टुप्, और जगती ने यह सुना कि गायत्री सफल होकर लौट आई है, साथ ही वह हमारे पैर भी ले आई है, तो वे दोनों अपने अपने पैर माँगने के लिए गायत्री के समीप आई। गायत्री ने कह दिया कि, पैर तुम्हें वापस नहीं मिल सकते। हाँ, यदि तुम चाहो तो मुझ में मिल सकती हो। ऐसा ही हुआ। त्र्यक्षरा त्रिष्टुप् अष्टाक्षरा गायत्री में मिल गई, फलतः अष्टाक्षरा गायत्री एकादशाक्षरा बन गई। इसी एकादशाक्षरा गायत्री को 'एकादशाक्षरा त्रिष्टुप्' कहा जाने लगा। एवमेव एकाक्षरा जगती भी गायत्री में मिल गई। इस से एकादशाक्षरा गायत्री द्वादशाक्षरा बन गयी। इसी द्वादशाक्षरा गायत्री को "द्वादशाक्षरा जगती" कहा जाने लगा। इसप्रकार सोमाहुति के प्रभाव से ब्रह्मसम्बन्धिनी गायत्री ही ८-११-१२ भावों में परिणत होकर गायत्री-त्रिष्टुप् जगती-रूप में परिणत होती हुई महासुपर्णरूप धारण कर विराट्रूप में परिणत होगई। यही वैज्ञानिक आख्यान ब्राह्मणग्रन्थों में-"एतद्ध सौपर्णकमाख्यानमाख्यानविद आचक्षते" इत्यादि रूप से "सौपर्ण--आख्यान" नाम से प्रसिद्ध हुआ।

५१५-छान्दोग्योपनिषत्सम्मता 'ब्रह्मगायत्री' की सर्वव्याप्ति का यशोगान—

इस आख्यान का मौलिक रहस्य क्या है ?, यह बतलाने का यहाँ अवसर नहीं है। इस से प्रकृत में हमें बतलाना केवल यही है कि, चतुरक्षरा, किंवा अष्टाक्षरा गायत्री ही, गायत्रछन्दा भूकेन्द्रस्थ ब्रह्मप्रजापति ही गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती मूर्त्ति बनता हुआ, ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र मूर्त्ति बनता हुआ, अग्नि-आपः-वाङ्मय बनता हुआ-उक्त तीन साहस्त्रियों में परिणत होकर सर्वेसर्वा बना है। ब्रह्मगायत्री की इसी सर्वव्याप्ति का स्पष्टीकरण करती हुई छान्दोग्यश्रुति कहती है—

"गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च। वाग्वै गायत्री। वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च। या वै सा गायत्री, इयं वाव सा ऽयेयं पृथिवी। अस्यां हीदं सर्वं भूतं प्रतिष्ठितम्। एतामेव नातिशीयते"

—छान्दोग्योपनिषत् ३।१२।१

५१६-गायत्र्यनुबन्धी पञ्चविध-अयुग्मस्तोम, एवं त्रिविध-युग्मस्तोमों का समन्वय, तथा आयुःस्वरूपरक्षक-ऐन्द्र--छन्दोमास्तोम--समन्वय—

गायत्रसम्बन्धी उक्त आठ स्तोमों में त्रि० पञ्च० एक० त्रि० त्रय० इन पाँच स्तोमों की समष्टि का एक स्वतन्त्र विभाग है, एवं चतु० चतुश्च० अष्टा० इन तीन स्तोमों का एक स्वतन्त्र विभाग है। उन पाँचों को

"अयुग्मस्तोम" कहा जाता है, इन तीनों को युग्मस्तोम कहा जाता है, एवं ये ही युग्मस्तोम छन्दोमास्तोम नाम से भी प्रसिद्ध हैं। चतुर्विंशत्यक्षर गायत्रछन्दोमा, चतुश्चत्वारिंशदक्षर त्रैष्टुप् छन्दोमा, अष्टाचत्वारिंशदक्षर जागत छन्दोमा, इन तीनों की (२४–४४–४८) अक्षरसंख्या का यदि सकलन किया जाता है, तो ११६ अक्षर होजाते हैं। इसी छन्दोमास्तोमविज्ञान के आधार पर भारतीय वैज्ञानिकों नें एक छन्दोमय यज्ञ का आविष्कार किया था। इस के अनुष्ठान से एक स्वल्पायु द्विजाति भी ११६ वर्ष पर्य्यन्त जीवित रह सकता था।

५१७–वाङ्मय छन्दोमास्तोम की इन्द्ररूपता, छन्दोमास्तोमों की अस्तोमरूपता, एवं स्तोमानुगत ३३ अहर्गणों का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

इन तीनों वाङ्मय छन्दोमा स्तोमों का इन्द्र से सम्बन्ध है, एवं "आयुर्वा इन्द्रः" के अनुसार बृहती-सहस्रात्मक इन्द्रप्राण ही आयु का अधिष्ठाता माना गया है। इसी आधार पर छन्दोमा को आयुर्वर्द्धक बतलाया गया है। इन तीन का स्वरूप क्योंकि वाक् से सम्बद्ध हुआ है, अतएव स्तोमरूप रहने पर भी इन्हें स्तोममर्य्यादा से बाहिर मान लिया गया है-"**अस्तोमा वा एते यच्छन्दोमाः**" (तां० ब्रा० ३।६।३)। त्रिवृदादि जितनें स्तोम हैं, वे सब इसी वाक् के वितान हैं। वाङ्मयी इन्द्रसाहस्री ही अयुग्मस्तोमों की प्रतिष्ठा बनती है। इन्द्रसाहस्री ही गौसाहस्री है। मनःप्राणगर्भित वाग्भाव ही गौ है। रश्मिरूप इन सहस्र गौ–भावों का ३०–३० गौ के अनुपात से पृथक् पृथक् संकलन होता है। ३० गौप्राण की समष्टि को विज्ञानभाषा में "**अहर्गण**" कहा जाता है। इस दृष्टि से ६६० गौप्राणों के ३३ अहर्गण होजाते हैं। १० अहर्गण शेष बच जाते हैं, यही हजारवीं कामगवी, किंवा कामधेनु कहलाती है।

५१८–वाङ्मय–ऐन्द्रस्तोमानुबन्धी षड्भावों से अनुप्राणित 'वाक्' के ६ महिमाविवर्त्त, तदनुबन्धी वाक्षट्कार, एवं तदनुप्राणित–'वाक्षट्कार' रूप–'वौषट्कार'–के 'वषट्कार' का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय—

इन ३३ अहर्गणों में से ३ अहर्गणों का भोग तो भूपिण्डस्थ हृद्य ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–इन तीन देवताओं के साथ होजाता है। शेष ३० अहर्गण रहते हैं। केन्द्रस्थ तीन (मूलप्रतिष्ठारूप) अहर्गणों में ६ के समावेश से त्रिवृत्स्तोम का (६ का), त्रिवृत् में ६ के समावेश से पञ्चदशस्तोम का (१५ का), पञ्चदश में ६ के समावेश से एकविंशस्तोम का (२१ का), एकविंश में ६ के समावेश से त्रिणवस्तोम का (२६ का), एवं त्रिणव में ६ के समावेश से त्रयस्त्रिंशस्तोम (३३) का स्वरूप निष्पन्न होता है। सम्भूय ५ स्तोम होजाते हैं। इन पाँचों स्तोमों का केन्द्र १७ वाँ अहर्गण पड़ता है। यही ६ ठा सत्रहवाँ अहर्गण उद्गीथप्रजापति–लक्षण सप्तदशस्तोम कहलाता है। इसप्रकार ३३ अहर्गणों के $\frac{६}{१}-\frac{१२}{२}-\frac{१८}{३}-\frac{२४}{४}-\frac{३०}{५}-\frac{३३}{६}$ भेद से ६ स्तोम (राशि–ढेर) होजाते हैं। ये ६ ओं उसी इन्द्रमयी वाक्सहस्री पर प्रतिष्ठित हैं। उस एक ही वाक् के ये ६ स्तोम है, वाक् के षट्कार का ही नाम "**वाक् षट्कार**" है। वाक्षट्कार ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा के अनुसार "**वषट्कार**", किंवा "**वौषट्**" है। वषट्कार-सम्बन्धी ये ६ स्तोम ६–१२–इत्यादि विषमयोग के कारण अयुग्मस्तोम कहलाए है। एवं विज्ञानभाषा में इन्हें ही–"**पृष्ठ्यस्तोम**" कहा जाता है। त्रिविध, युग्मरूप छन्दोमास्तोम "**अभिप्लव**" नाम से प्रसिद्ध है।

५१९-स्तोमानुगत-मण्डलात्मक पृष्ठ्यस्तोम, तथा रश्म्यात्मक अभिप्लवस्तोम, एवं तत्स्वरूप-संस्मरण—

भूपिण्ड को केन्द्र मान कर उस के चारो ओ वर्त्तुल एक सहस्र वृत्त बना दीजिए, एक एक वृत्त को एक एक गौ समझिए। ऐसे गोरूप वर्त्तुल वृत्तों से जो स्तोमों का स्वरूप निष्पन्न होगा, वही "**पृष्ठ्यस्तोम**", किंवा "**युग्मस्तोम**" कहलाएँगे। भूतविवर्त्त का इसी पृष्ठ्यस्तोम से सम्बन्ध रहेगा। भूकेन्द्र के चारो ओर रश्मियों का प्रसार कीजिए। ऐसी सहस्र रश्मियो को वाकसाहस्री समझिए। यही अभिप्लवस्तोम कहलाएगा, इसे ही **युग्मस्तोम**, किंवा **छन्दोमास्तोम** कहा जायगा, एवं यही आयुर्विवर्त्त की प्रतिष्ठा माना जायगा। इसी से यह भी सिद्ध होगया कि, ब्रह्मा-विष्णु का पृष्ठ्यस्तोम से सम्बन्ध है, एवं इन्द्र का अभिप्लवस्तोम से सम्बन्ध है। अतएव तीनों में केवल इन्द्र को ही आयुःसूत्र का प्रवर्त्तक माना गया है।

५२०-लोकत्रयी, अक्षरत्रयी, शुक्रत्रयी, छन्दस्त्रयी, मनोतात्रयी, एवं वेदत्रयी निबन्धन-विविधभावापन्न त्रिविवर्त्तभावों का स्वरूप-समन्वय—

उक्त निरूपण से अब यह भलिभाँति सिद्ध होचुका है कि, भूकेन्द्र में प्रतिष्ठिता ब्रह्मगायत्री ही ब्रह्म-सम्बन्धी यजुर्वेद के जू भाग से उक्थरूप ऋक्भाव में परिणत होती हुई "**गायत्री**" कहलाती है। यत् के आगतिभाव से यजुर्मूर्त्ति विष्णुरूप में परिणत होती हुई "**त्रिष्टुप्**" कहलाने लगती है, एवं यत् के गतिभाव से साममूर्त्ति इन्द्ररूप में परिणत होती हुई "**जगती**" कहलाने लगती है। स्वर्लोक का विकास ही "**स्वः-भुवः-भूः**" ये तीन लोक है। ब्रह्मा का विकास ही ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र ये तीन हृद्याक्षर हैं। अग्नि का विकास ही अग्नि-आपः-वाक् ये तीन शुक्र हैं। गायत्री का विकास ही गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-ये तीन छन्द हैं। वाक् का विकास ही वाक्-गौ-द्यौ-ये तीन मनोता हैं। यजु का विकास ही ऋक्-यजुः-साम--ये तीन वेद [छन्दोवेद] हैं। इस लोक-हृद्याक्षर-शुक्र--छन्द--मनोता-वेदत्रयी की समष्टि ही भूपिण्ड, किंवा प्रतिष्ठालक्षण "भूमि" [चित्यभूपिण्ड] है।

	लोकाः	अक्षराणि	शुक्राणि	छन्दांसि	मनोताः	वेदाः	
भूः	स्वर्लोकः	ब्रह्मा	अग्निः	गायत्री	वाक्	ऋक्	
	भुवर्लोकः	विष्णुः	आपः	त्रिष्टुप्	गौः	यजुः	
	भूलोकः	इन्द्रः	वाक्	जगती	द्यौः	साम	

५२१–अयुग्मस्तोममयी–आग्नेयी–ब्राह्मी-गायत्रीरूपा, वेदसाहस्री से समन्विता-स्वर्लोकात्मिका–'ब्राह्मीपृथिवी' का स्वरूप–संस्मरण—

भूपिण्ड के इसी त्रयीविवर्त्त से पूर्वकथनानुसार आगे जाकर स्वर्लोकमूर्त्ति, हृदययुक्त अग्निमय, वाङ्मय, ऋङ्मय, गायत्रीछन्दा ब्रह्मा के अमृतलक्षण अग्निरस [तेजोरस] के ऊर्ध्व वितान से अग्नि-वायु-आदित्यमयी, पृथिव्यन्तरिक्षद्यु लोकात्मिका, गायत्री–त्रिष्टुप्–जगती छन्दोमयी, ऋक्–यजुः–साममयी, गौ–द्यौ मनोतागर्भिता वाङ्मनोतामयी, यज्ञमयी, पृष्ठ्यस्तोमात्मक त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश–नामक–अयुग्म स्तोममयी आग्नेयी ब्राह्मी पृथिवी का [वेदसाहस्री का] विकास हुआ।

५२२–अयुग्मस्तोममयी, आपोमयी, वैष्णवी त्रिष्टुब्रूपा लोकसाहस्री से समन्विता भुवर्लोकात्मिका वैष्णवी पृथिवी का स्वरूप–संस्मरण—

भुवर्लोकमूर्त्ति विष्कम्भयुक्त, आपोमय, गौमय, यजुर्मय, त्रिष्टुपछन्दा विष्णु के अमृतलक्षण आपो-रस के ऊर्ध्व वितान से वेन–भास्वरसोम–दिक्सोममयी पृथिव्यन्तरिक्षद्यु लोकात्मिका, गायत्री–त्रिष्टुप्–जगती छन्दोमयी वाक् द्यौ मनोगर्भिता गौमनोतामयी, पृष्ठ्यस्तोमात्मक एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंश नामक अयुग्मस्तोममयी आपोमयी वैष्णवी पृथिवी का (लोकसाहस्री का) विकास हुआ।

५२३–युग्मस्तोममयी, वाङ्मयी, ऐन्द्री जगतीरूपा वाक्साहस्री से समन्विता भूलोकात्मिका ऐन्द्री पृथिवी का स्वरूप–संस्मरण—

भूलोकमूर्त्ति, परिणाहयुक्त, वाङ्मय, द्यौमय, साममय, जगतीछन्दा इन्द्र के अमृत–लक्षण वाग्रस के ऊर्ध्व वितान से व्यञ्जन–वर्ण–स्वरमयी, पृथिव्यन्तरिक्ष–द्यु लोकात्मिका, गायत्री–त्रिष्टुप् जगती-छन्दो-मयी, वाग्–गौ मनोता गर्भिता द्यौ मनोतामयी, अभिप्लवस्तोमात्मक चतुर्विंश, चतुश्चत्वारिंश अष्टाचत्वारिंश-युग्मस्तोममयी वाङ्मयी ऐन्द्रीपृथिवी का (वाक्साहस्री का) विकास हुआ।

५२४–अयुग्म-युग्मस्तोमानुगता त्रैलोक्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी का संकलनात्मक–स्वरूप–संस्मरण, एवं पृथिवी के परिमित अन्तर्वेदि, तथा अपरिमित बहिर्वेदि–स्वरूपोंका तात्त्विक स्वरूप–समन्वय—

इसप्रकार अग्नि–आपः–वाक् शुक्रमय हृद्य ब्रह्मा-विष्णु–इन्द्र के वितान से भूपिण्ड के आधार पर अमृताग्नि–आपः–वाक्–शुक्रों द्वारा अग्निमयी ब्राह्मी पृथिवी, आपोमयी वैष्णवी पृथिवी, वाङ्मयी ऐन्द्री पृथिवी, इन तीन पृथिवियों का वितान होगया। इसी दृष्टि से पार्थिवविवर्त्त भूः—पृथिवी–पृथिवी–पृथिवी इन चार विवर्त्तभावों में परिणत होगया। भूविवर्त्त "**अन्तर्वेदि**" कहलाया, शेष तीनों–"**बहिर्वेदि**" कहलाए। पहिला रूप परिमित कहलाया, आगे के तीनों रूप अपरिमित कहलाए–"तस्या एतत्

परिमितं रूपं यदन्तर्वेदि, अथैष भूमाऽपरिमितो यो बहिर्वेदि" (ऐ० ब्रा० ८।५।) । * "तिस्रो वा इमाः पृथिव्यः-इयमेवैका, द्वे अम्याः परे" (शत० ५।१।५।२१।) ।

१-ब्राह्मी पृथिवी—(पृष्ठ्यस्तोमात्मिका) (वेदसाहस्री)

१	१-अग्निः—पृथिवी—गायत्री-ऋक्-वाक्-त्रिवृत्	स्वर्लोकमूर्त्तिर्हृदययुक्तोऽग्निमयो वाङ्मयः-ऋङ्मयो गायत्रीछन्दा ब्रह्मामृताग्निरसेनोर्ध्वं गच्छन् तामिमां गायत्रीरूपां पृथिवी विदधाति "सैषा गायत्री पृथिवी"	
	२-वायुः—अन्तरिक्षम्-त्रिष्टुप्-यजुः-गौः--पञ्चदशः		
	३-आदित्यः-द्यौः-——जगती--साम-द्यौः-एकविंशः		

——*——

२-वैष्णवी पृथिवी—(पृष्ठ्यस्तोमात्मिका) (लोकसाहस्री)

२	१-वेनः—--पृथिवी-गायत्री-ऋक्-वाक् एकविंशः	भुवर्लोकमूर्त्तिर्विष्कम्भयुक्त आपोमयो गोमयो यजुर्मयस्त्रिष्टुपछन्दा विष्णुरमृतापोरसेनोर्ध्वं गच्छन् तामिमां त्रिष्टुबरूपां पृथिवीं विदधाति-सैषा-"त्रिष्टुप् पृथिवी"	
	२-भास्वरसोमः-अन्त०-त्रिष्टुप्-यजुः-गौः:-त्रिणवः		
	३-दिक्सोमः-द्यौः—-जगती--साम-द्यौः-त्रयस्त्रिंशः		

——*——

३-ऐन्द्री पृथिवी—(अभिप्लवस्तोमात्मिका)-वाक्साहस्री—

३	१-व्यञ्जनम्-पृथिवी-गायत्री-ऋक्-चतु०	भूलोकमूर्त्तिः परिणाहयुक्तो वाङ्मयो द्यौमयः साममयो जगतीछन्दा-इन्द्रो ऽमृतवाग्रसेनोर्ध्वं गच्छन् तामिमां जगतीरूपां पृथिवीं विदधाति—सैषा-"जगती पृथिवी"	
	२-वर्णः-अन्त०—त्रिष्टुप्-यजुः-चतुश्च०		
	३-स्वरः-द्यौः—--जगती-साम-अष्टाच०		

——*——

५२५-महिमापृथिव्यनुगतां सुवर्ण-रजत-लौह-धातुमयी तीन पुरियों का संस्मरण, एवं अथर्वश्रुति—

उपर्युक्त ये ही तीनों पृथिवियाँ उपसद्विज्ञान के अनुसार हिरण्मयीपुरी, राजतीपुरी, अयस्मयी-पुरी, इन नामों से व्यूहत हुई हैं। ऐन्द्री जागती सुवर्णपुरी है, यही पुराण का वैकुण्ठधाम है। वैष्णवी

---

*-इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा ।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ॥ (अथर्व)
—अथर्वसंहिता ।२१।१।

त्रैष्टुभी पृथिवी राजतपुरी है, यही पुराण का श्वेतद्वीप है। ब्राह्मी गायत्री पृथिवी लौहपुरी है, यही पुराण का भारतद्वीप है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र ये तीन शिल्पी हीं इस त्रिदेवपुरी के निर्म्माता हैं। अथर्वसंहितानें विस्पष्टशब्दों में 'त्रिपुरी' रूपा इस देवपुरी का निम्नालिखित शब्दों में यशोगान किया है—

१-दिवस्त्वा पातु हरितं, मध्यात् त्वा पात्वर्जुनम्।
भूम्या अयस्मयं पातु प्रागाद् देवपुरा अयम्॥
२-इमास्त्रिस्त्रो देवपुरास्तास्त्वा रक्षन्तु सर्वतः।
तास्त्वं बिभ्रद् वर्चस्व्युत्तरो दिषतां भव॥
३-पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आबेधे देवो अग्ने।
तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यन्तां त्रिवृदावधेमे॥

—*— —अथर्वसंहिता ५।२८।९,१०,११।

५२६-देवपुरत्रयी की रहस्यपूर्णा 'त्रिसुपर्णरूपता' का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं पार्थिव गायत्राग्नि की सोमापहरणमूला व्यात्मकता से अनुप्राणित त्रिवृद्भावापन्न तीन पार्थिव लोकों के तीन सुपर्णों की समष्टि का स्वरूप-समन्वय—

ये ही तीनों देवपुर अथर्वसंहिता में "त्रिसुपर्ण" नाम से भी व्यवहृत हुए हैं। जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है चतुरक्षा गायत्री ही सुपर्ण बनकर तृतीय द्युलोक से सोमापहरण करती हुई गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती, इन तीन रूपों में परिणत होती हुई उक्त तीनों पृथिवियों की स्वरूप-सम्पादिका बनती है। क्योंकि गायत्री सुपर्ण है, एवं इस सुपर्णगायत्री के ही ये तीन वितान हैं, अतएव इन तीनों पृथिवियों को हम "त्रिसुपर्ण" कह सकते हैं। भूपिण्डस्था गायत्री मृत्युशुक्रप्रधाना (अग्नि-आपः-वाङ्मयी-मृत्युशुक्रत्रयीरूपा या० त्रि० जगतीमयी गायत्री) है, एवं इन तीनो पृथिवियों की गायत्रीरूपा अग्निशुक्रमयी गायत्री, त्रिष्टुप्रूपा अमृत आपः शुक्रमयी गायत्री, जगतीरूपा अमृतवाक् शुक्रमयी गायत्री अमृतशुक्रप्रधाना है। तीनों सुपर्णों का वितान ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्रमूर्त्ति व्यक्षरगर्भित एकाक्षरमूर्त्ति ह्रस्व अनिरुक्त प्रजापति के आधार पर ही हुआ है—तीनों सुपर्णों में प्रत्येक सुपर्ण त्रिवृत् हैं, अतएव स्तोम भेद से प्रत्येक में तीन तीन लोक होजाते हैं। अथर्वश्रुति ने त्रिलोकात्मिका इसी त्रिसुपर्णरूपता का यों स्पष्टीकरण किया है—

१-त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत्।
अपामेकं वेधमा रेत आहुस्तत् ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे॥
२-त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसम्भूय शुक्राः।
प्रत्यौहन् मृत्यु-ममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा॥
—अथर्वसंहिता ५।२८।६।८।
३-त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा इषमूर्जं यजमानाय दुहाम्॥
—अथर्वसंहिता १८।४।४।

१ { ९–गायत्री–पृ० ब्रह्मा
१५–त्रिष्टुप्–अ० विष्णुः
२१–जगती–द्यौ० इन्द्रः } ——गायत्री ब्रह्मा—गायत्ररूपो गायत्रीसुपर्णस्त्रिवृतः

२ { २१–गायत्री–पृ० ब्र०
२७–त्रिष्टुप्–अ० वि०
३३–जमती द्यौ० इन्द्रः } ——त्रिष्टुप् विष्णुः—त्रिष्टुबरूपो गायत्रीसुपर्णस्त्रिवृतः

३ { २४–गायत्री–पृ० ब्र०
४४–त्रिष्टुप्–अ० वि०
४८–जगती–द्यौ० इन्द्रः } ——जगती इन्द्रः—जगतीरूपो गायत्रीसुपर्णस्त्रिवृतः

} त्रिसुपर्णा गायत्री

——**——

५२७–९-२१-२४–संख्याओं से मित तीन पृथिवीलोक, १५–२७-४४–संख्यानुगत तीन अन्तरिक्षलोक, एवं २१-३३–४८ संख्यानुगत तीन द्युलोक—

उक्त तीनों हीं सुपर्णों को त्रिवृत् बतलाया है। त्रिवृत् का अर्थ है-प्रत्येक सुपर्ण पृथिवी-अन्तरिक्ष–द्यौ–, इन तीन तीन लोकों से युक्त। इस दृष्टि से ९–२१–२४ ये तीन पृथिवीलोक होजाते हैं, १५–२७-४४ ये तीन अन्तरिक्षलोक होजाते हैं। एवं २१–३३-४८ ये तीन द्युलोक हो जाते हैं।

५२८–समुद्र, एवं मातरिश्वा नामक पारिभाषिक अन्तरिक्ष; तथा नाक, ब्रध्नस्य विष्टप्–सूर्य्य–नामक पारिभाषिक द्युलोक का स्वरूप–सयन्वय–

वैदिक परिभाषानुसार ऋतमूर्ति अन्तरिक्ष को समुद्र, एवं "मातरिश्वा" कहा जाता है, सत्यमूर्त्ति द्युलोक को "नाक "ब्रध्नस्य विष्टप् एवं "सूर्य्य" इन नामों से व्यवहृत किया जाता है। इस सामान्य परिभाषा के अनुसार १५–२७–४४ ये तीन अन्तरिक्ष समुद्र, मातारिश्वा इन नामों से, २१–३३-४८ ये तीन द्युलोक नाक–ब्रध्नस्य विष्टप् सूर्य्य इन नामों से भी व्यवहृत किए जाते हैं। महापृथिवी की इसी त्रिवृद्विभूति का विस्पष्ट शब्दों में दिग्प्रदर्शन कराती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

१—तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीस्त्रीण्यन्तरिक्षाणि चतुरः समुद्रान्।
त्रिवृतं स्तोम त्रिवृत आप आहुस्तास्त्वा त्रिवृतां त्रिवृद्भिः॥

२—त्रीन्नाकांस्त्रीन् समुद्रांस्त्रीन् ब्रध्नांस्त्रीन् वैष्टपान्।
त्रीन् मातरिश्वतस्त्रीन् त्सूर्य्यान् गोप्तॄन्कल्पयामि ते॥

(अथर्व सं० १०।२७।३,४,।)

१–त्रिवृद्विभूतिः—

१
- १–त्रिवृत्स्तोमः (९)—ब्राह्मः पृथिवीलोको गायत्रः–पृथिवी
- २–एकविंशरतोमः (२१)—वैष्णवः पृथिवीलोको गायत्रः–पृथिवी
- ३–चतुर्शिस्तोमः (२४)—ऐन्द्रः पृथिवीलोको गायत्रः पृथिवी

——*०*——

२
- १–पञ्चदशस्तोमः (१५)—ब्राह्मोऽन्तरिक्षलोकस्त्रैष्टुभः अन्तरिक्षम् (समुद्रः–मातरिश्वा)
- २–त्रिणवस्तोमः (२७)—वैष्णवोऽन्तरिक्षलोकस्त्रैष्टुभः–अन्तरिक्षम् (समुद्रः–मातरिश्वा)
- ३–चतुश्चत्वारिंशः(४४)—ऐन्द्रोऽन्तरिक्षलोकस्त्रैष्टुभः–अन्तरिक्षम् (समुद्रः मातरिश्वा)

——*——

३
- १–एकविंशस्तोमः (२१)—ब्राह्मो द्युलोको जागतः—द्यौः (नाकः–सूर्य्यः–ब्रध्नस्य०)
- २–त्रयस्त्रिंशस्तोमः (३३)—वैष्णवो द्युलोको जागतः–द्यौः (नाकः–सूर्य्य–ब्रध्न०)
- ३–अष्टाचत्वारिंश० (४८)—ऐन्द्रो द्युलोको जागतः–द्यौः (नाकः–सूर्य्यः–ब्रध्न०

——*——

५२९–विराट्प्रजापति की पूर्वसंस्था से अनुप्राणित प्राजापत्य विवर्त्तों का संस्मरण—

विराट् स्वरूप को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए, और विराट्संस्था से पूर्व में स्थित–**यज्ञप्रजापति** [बल्शेश्वर], **षोडषीप्रजापति** [सहस्रबल्शेश्वर], **निर्गुण अव्यय** [शाश्वतधर्म्मगोप्ता], एवं **परात्पर** (शाश्वतधर्म्म) इन चारों पर दृष्टि डालिए। परात्पर के सम्बन्ध में तो कुछ वक्तव्य नहीं है। तन्मूर्त्ति मायामय अव्यय प्रथम आत्मसंस्था है। इसके आधार पर अक्षरमूर्त्ति षोडशी प्रतिष्ठित है, इसके आधार पर आत्मक्षरमूर्त्ति यज्ञप्रजापति प्रतिष्ठित है। यज्ञप्रजापति उक्त दोनों, किंवा तीनों (षोडशी अक्षर, निर्गुण अव्यय, शा० रूप–परान्यर तीनों) से अविनाभूत है।

५३०–विराट् प्रजापति के जन्मदाता यज्ञप्रजापति के त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप महिमामय स्वरूप का समन्वय—

इस यज्ञप्रजापति के ही हमनें स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी (भूमि) ये पाँच पर्व बतलाए हैं। एवं इन पाँचों का आगे जाकर **संयती-क्रन्दसी रोदसी** इन तीन त्रैलोक्यों में विभाजन किया है। संयती द्यौ है, क्रन्दसी अन्तरिक्ष है, रोदसी पृथिवी है। प्रत्येक में तीन तीन लोकों का अन्तर्भाव है, जैसाकि पूर्व के

तीसरे प्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है। यज्ञेश्वर, किंवा जल्पेश्वर की तीसरी रोदसीत्रिलोकी में भूपिण्डको को पृथिवीलोक कहा है, चान्द्र अन्तरिक्ष को आन्तरिक्षलोक कहा है, एवं प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्य को द्युलोक कहा है। इसप्रकार केवल भूरूप रोदसीमण्डल में पृ० अन्त० द्यौ० इन तीन लोकों का भोग बतलाया गया है।

५३१–यज्ञप्रजापति के महिमात्मक स्वरूप का अन्तिम–स्वल्पतमपर्व–भूलोक, एवं तद्–द्वारा विराट्पुत्र की प्रसूति, तथा तन्निबन्धना विराट्प्रजापति की विकारक्षररूपता का समन्वय—

अब सर्वान्त में भूरूपा रोदसी त्रिलोकी का भूपिण्डरूप पृथिवीलोक हमारे सामने आता है, जोकि आत्म-क्षरमूर्ति बल्पेश्वर का अन्तिम पर्व कहा जासकता है। इसी अन्तिम पर्वरूप भूपिण्ड से पूर्वोक्त तीन पृथिवियों का विकास बतलाया गया हैं। तीनों पृथिवियाँ भूविकार हैं, अतएव इस पृथिवीत्रयी को हम "**विकारक्षर-मण्डल**" कर सकते हैं। यही विराट् सम्पत्ति है, अतएव विराट्प्रजापति को हमनें–"**विकारक्षरमूर्त्ति**" कहा है।

५३२–पितायज्ञप्रजापति के स्वल्यांश से समुत्पन्न विराट्प्रजापति की महिमा का महतो महीयान् विस्तार, तद्द्वारा पुत्र विराट् की 'पितुष्पितासत्' रूप में परिणति, तथा तन्निबन्धन विराट् का ही त्रैलोक्य में यशोगान—

क्योंकि विराट्प्रजापति उस यज्ञेश्वरप्रजापति के अवयवरूप भूपर्व का विकास है, अतएव उसे इस का पिता कह सकते हैं, इसे उसका पुत्र कहसकते हैं। "**गुरु गुड़ रहगए-चेले शक्कर बनगए**" किंवदन्ती लोक व्यवहार में प्रसिद्ध है। यहां भी ऐसा ही हुआ। पिता यज्ञप्रजापति तो पिता ही रहे, परन्तु तत्पुत्र विराट् पिता के भी पिता बन गए। पुत्र की महिमा पिता से भी बढ़ गई। तभी तो इन्हें "**विराट्**" (बहुत बड़े) कहा गया। क्यों महिमा बढ़ गई ?, इसका उत्तर तो पिता से ही पूछना चाहिए। कैसे बढ़ गई ?, इस का समाधान श्रुति कर देती है। पिता यज्ञप्रजापति यदि स्व० प० सू० चन्द्र० पृथिवी, पाँचों को लेकर महान् विराट् कहलावें, तो इस में कोई बड़प्पन नहीं है। जिस के कोश में अतुल सम्पत्ति पहले से ही विद्यमान है, उसकी महत्ता को विशेष महत्व नहीं दिया जासकता। महत्ता तो उसकी प्रशस्त मानी जायगी, जिसे पिता से मिला बहुत थोड़ा, परन्तु अपने तप श्रम से जिसने पितावत् सम्पति उत्पन्न करली। विराट् आरम्भ में क्या था, पिता यशेश्वर का एक छोटा सा भूपर्व। उसी ने आगे जाकर ४८ पर्य्यन्त वितत होते हुए न केवल यज्ञप्रजापति की महता प्राप्त की, किन्तु इस के साथ साथ हृदयाक्षर के वितान से षोडशी अक्षरप्रजापति (यज्ञप्रजापति का पिता, इस विराट् का पिता मह), निर्गुण अव्यय (षोडशी का पिता, यज्ञप्रजापति का पितामह, विराट् का प्रपितामह), एवं शा० ध० परात्पर (अव्यय का पिता, षो० का पितामह, यज्ञप्रजापति का प्रपितामह एवं विराट् का वृद्धप्रपितामह) इन की महिमासे युक्त हुआ, अतएव विराट् नाम से प्रसिद्ध होता हुआ यह "**पितुष्पितासत्**" (बाप का भी बाप) बन गया। आज परात्पर–अव्यय–षोडशी–यज्ञ को कोई नहीं जानता। सर्वत्र विराट् का ही यशोगान होरहा है। अन्य लोकों की प्रजा को जाने दीजिए। कम से कम विश्वात्मिका पार्थिव प्रजा। (चतुर्दशविध भूतसर्ग) के तो सर्वेसर्वा विराट् प्रजापति ही बने हुए हैं।

५३३–विराट्प्रजापति के स्वरूप में यज्ञप्रजापतिस्वरूप के त्रैलोक्यात्मक विस्तार का अन्तर्भाव—

इस त्रिपृथिव्यात्मिका पृथिवी से कृतरूप विराट् के केन्द्र में शाश्वतधर्म्मलक्षण-परात्परगर्भित-अव्यययुक्त षोडशीरूप अक्षरानुगृहीत आत्मक्षरमूर्त्ति इन्द्रविष्णुगर्भित अग्निमूर्त्ति भौम ब्रह्मा (यज्ञप्रजापति) तो प्रतिष्ठित हैं हीं, इस के अतिरिक्त इस में संयती–क्रन्दसी–रोदसी तीनों त्रैलोक्यों का भी उपभोग होरहा है ।

५३४–गीताप्रतिपादित विराट्प्रजापति के विशेष-भावों का निर्विरोध समन्वय, एवं श्रुति-स्मृत्यु-पवर्णित विराट्प्रजापति के रहस्यात्मक स्वरूप का समष्ट्यात्मक-सकलन—

संयती का प्रवर्ग्यभाग इस के ऐन्द्री पृथिवी में, क्रन्दसी का प्रवर्ग्यभाग इस की वैष्णवी पृथिवी में, एवं रोदसी का प्रवर्ग्यभाग इसकी ब्राह्मी पृथिवी में प्रतिष्ठित है । स्तोमविभागानुसार ४८वें स्तोम में स्वयम्भू का प्रवर्ग्यभाग प्रतिष्ठित है । ३३ वें स्तोम में परमेष्ठी का आपः भाग प्रतिष्ठित है । २७ में चन्द्रमा का प्रवर्ग्यभाग प्रतिष्ठित है । २१ में सूर्य्य का प्रवर्ग्यभाग प्रतिष्ठित है । विप्रतिपत्ति तो यही न उठाई गई थी कि–जब सूर्य्य–चन्द्र–परमेष्ठी–स्वयम्भू चारों यज्ञेश्वर के पर्व हैं, एवं विराट् का जब केवल पार्थिव विवर्त्त से सम्बन्ध है, तो गीता ने सूर्य्य–चन्द्रादि का विराट्स्वरूप में किस आधार पर अन्तर्भाव मान लिया, साथ ही किस आधार पर गीता ने विराट् को अव्यय–अक्षर–एवं शाश्वतधर्म्म (परात्पर) कह डाला । यज्ञेश्वर, किंवा यज्ञेश्वर के चारों पर्व भौमविराट् स्वरूप से सर्वथा पृथक् हैं । अवश्य ही परात्पराव्ययाक्षर चारों की भी स्वतन्त्र संस्थाएँ हैं । अतएव अवश्य ही विराट् को केवल पार्थिव ही माना जासकता है, और मानना चाहिए ।

५३५–विराट्प्रजापति के लोकविभक्त अष्टविध महिमामय स्तोमपृष्ठों के द्वारा यज्ञ-प्रजापति के महिमामय आठों विवर्त्तों का प्रवर्ग्यरूपेण संग्रह, एवं तद्द्वारा विराट्की सर्वरूप में परिणति—

परन्तु अपने हृत्पृष्ठ, त्रिवत्पृष्ठ, पञ्चदश पृष्ठ, एकविंश पृष्ठ, त्रिणवपृष्ठ, त्रयस्त्रिंश पृष्ठ, अष्टाचत्वारिंशत् पृष्ठ, इन पृष्ठों में क्रमशः परात्पराव्ययगर्भित षोडशी अक्षर के, रोदसी के भस्थानीय त्रिवृदग्नि के, रोदसी के पञ्चदश स्थानीय अन्तरिक्ष्य के, रोदसी के एकविंश स्थानीय सूर्य्य के, क्रन्द्रसी के सप्तविंश (त्रिणव) स्थानीय चन्द्रमा के, क्रन्दसी के त्रयस्त्रिंश स्थानीय आपोमय परमेष्ठी के, एवं संयती के अष्टाचत्वारिंश स्थानीय द्युरस के प्रवर्ग्यभागों को लेता हुआ यह अपने केवल इस पार्थिवरूप से ही परात्पर–अव्यय–अक्षर–**अग्नि**[1]**-अन्तरिक्ष**[2]**–सूर्य्य**[3]**–चन्द्रमा**[4]**-परमेष्ठी**[1] (आपः)**-द्यौ**[1]—इन सब का अधिष्ठाता बन रहा है । और इसी प्रवर्ग्यसम्पत्ति से युक्त रहने के कारण ब्रह्मौदनरूप परात्परादि से पृथ रहने पर भी इसे गीता ने परात्परादिरूप कह दिया है, जिस में कोई विप्रतिपत्ति नहीं उठाई जा–सकती । विराट् का हृद्यपृष्ठ परात्पराव्ययाक्षररूप है । त्रिवृत्पृष्ठ (९) **अग्निरूप**[1] है, पञ्चदशपृष्ठ (१५) **अन्तरिक्षरूप**[2] है । एकविंश (२१) पृष्ठ **सूर्य्यरूप**[3] है । त्रिणव पृष्ठ (२७) **चन्द्ररूप** है, त्रयस्त्रिंश पृष्ठ (३३) **परमेष्ठी**[3] (आपः) रूप है, एवं **अष्टाचत्वारिंशत्पृष्ठ स्वयम्भूरूप** (द्यौरूप] है । सभी

कुछ तो इस में है। विराट्प्रजापति की इसी षट्-लक्षणा सर्वविभूति का स्पष्टीकरण करती हुई अथर्व-श्रुति कहती है—

१-अग्निः सूर्य्य, श्चन्द्रमा, भूमि, रापो, द्यौ, रन्तरिक्षं, प्रदिशो दिशश्च।
आर्त्त्वा ऋतुभिः संविदाना अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु ॥

—अथर्वसं० ५।२८।२।

५३६-पुराणपरिभाषानुगत चन्द्रमा का सूर्य्य से ऊर्ध्व-स्थिति-समन्वय, एवं तन्निबन्धना पौराणिकी रहस्यात्मिका परिभाषा—

पुराण ने इसी विराट्-प्रजापति के लक्ष्य से चन्द्रमा को सूर्य्य से ऊपर बतलाया है। प्रत्यक्ष दृष्ट सूर्य्य, एवं विराट् के २१ स्तोम पर सूर्य्य का ही प्रवर्ग्यरूप आदित्य नामक सूर्य्य भिन्न हैं। प्रत्यक्षदृष्ट [रोदसी के] सूर्य्यधरातल से यद्यपि चन्द्रमा नीचे है, परन्तु सूर्य्यप्रवर्ग्यरूप पार्थिव एकविंशस्थ आदित्यप्राणरूप सूर्य्य की अपेक्षा-पृथिवी के त्रिणव स्तोम में प्रतिष्ठित प्रत्यक्षदृष्ट चन्द्रमा का (जो कि चन्द्रमा भास्वरसोममूर्त्ति है) प्रवर्ग्यभाग, अतएव चन्द्रमा नाम से ही प्रसिद्ध चन्द्रमा अवश्य ही [एकविंशस्थ आदित्यरूप पार्थिव-वैराज सूर्य्य की अपेक्षा] ऊपर [२७ में] प्रतिष्ठित है। पुराण के इस रहस्यार्थ को न जानने के कारण जिन पश्चिमी विद्वानों नें पुराण के वैराजानुबन्धी--"**चन्द्रमा सूर्य्य से ऊपर है**" इस सिद्धान्त का उपहास किया है, वे अवश्य ही अज्ञता के कारण भारतीय वैज्ञानिकों की दृष्टि में क्षम्य हैं।

६—द्यौः	[अष्टाचत्वा० संयती स्व० प्र०]	[४८] स्वयम्भूः		-संयती विराट्
५—आपः	[त्रयस्त्रिंशतोमः-क्र० परमेष्ठिनः प्र०]	[३३] परमेष्ठी		
४—चन्द्रमाः	[त्रिणवस्तोमः क्रन्दस्या चन्द्रमसः प्रवृक्तभागः]	[२७] चन्द्रमाः		क्रन्दसी विराट्
३—सूर्य्यः	[एकविंशस्तोमः-रोदस्याः सूर्य्यस्य प्रवृक्तभागः	[२१]-सूर्य्यः		
२—अन्तरिक्षम्	[पञ्चदशस्तोमः-रोदस्या वायोः प्रवृक्तभागः	[१५]-अन्तरिक्षम्		रोदसी विराट्
१—अग्निः	[त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नः-रोदस्या अग्नेः प्रवृक्त भागः]	[९]--भूः		

——— * ———

५३७-विराट्प्रजापति का 'कविपुत्रत्व', एवं तन्निबन्धन 'पितुष्पितासत्' भाव—

पिता यज्ञप्रजापति का महत्त्व संयती-क्रन्दसी-रोदसी इन तीन त्रैलोक्य-त्रिलोकियों ही पर ही विश्रान्त था, परन्तु पुत्र विराट् प्रजापति का महत्त्व तो इस से भी आगे बढ़ा हुआ है। यज्ञप्रजापति की संयती-त्रिलोकी

*—भूमिः [पिण्डः-चित्यपृथिवी]

इस विराट् की ऐन्द्री पृथिवी है। यज्ञ० की क्रन्दसी त्रिलोकी इस विराट् की वैष्णवी पृथिवी है। यज्ञ० की रोदसी [भूमि०--अन्तरिक्ष--सूर्य्यरूपा] विराट् की ब्राह्मी पृथिवी [त्रिवृत्--पञ्चदश--एकविंशरूपा] है । यहाँ तक तो पिता पुत्र समान रहे। परन्तु विराट् का अधिकार तीनो त्रिलोकियों से अतिरिक्त भूपिण्ड पर और रहा। वहाँ तीनों में ही भूपिण्ड का अन्तर्भाव था, यहाँ भूपिण्ड तीनों से पृथक् है। कवि पुत्र के इसी महत्त्व का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

१–स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः।
कविर्यः पुत्रः स इमाचिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत्"

—ऋक्सं० १।१६४।१६।

५३८–यज्ञेश्वरप्रजापति की भूः–भुवः–स्वः–रूपा तीनों महाव्याहृतियों का पुत्र विराट्–प्रजापति के महिमामय स्वरूप के साथ समन्वयात्मक–समतुलन—

अब यह और देख लीजिए कि, विराट् त्रिलोकी में यज्ञेश्वर की संयती क्रन्दसी रोदसी का भोग किस रूप से हुआ। विराट् प्रतिष्ठारूप भूमि, किंवा भूपिण्ड को एक ओर रखते हुए महिमारूप तीनों पृथिवियों का विचार कीजिए। परिभाषानुसार गायत्री पृथिवी का, त्रिष्टुप् अन्तरिक्ष का, एवं जगती द्युलोक का छन्द माना जाता है। किंवा गायत्री पृथिवी, त्रिष्टुप् अन्तरिक्ष, एवं जगती द्युलोक माना जाता है, जैसाकि **'गायत्रोऽयं [भू--] लोकः'** [कौ० ८।६]--**'गायत्री वा इयं पृथिवी'** [शत० ४।३।४।६।]–**त्रैष्टुभोऽन्तरिक्षलोकः'** [कौ० ८।६।]--**'अन्तरिक्षं त्रिष्टुप्'** [जै ब्रा० उप० १।५।५।३।],--'जागतोऽसौ द्युलोकः-[कौ० ८।६।]— **'असौ जगती'** [जै० ब्रा० उप० १।५।५।३।] इत्यादि श्रौत निगमवचनों में स्पष्ट है ।

५३९–यज्ञेश्वरप्रजापति की महाव्याहृतित्रयी की प्रतिकृतिभावापन्ना विराट्प्रजापति की तीन महाव्याहृतियों का स्वरूप–समन्वय—

क्योंकि ब्राह्मी पृथिवी गायत्री छन्दः-प्रधाना है, इसलिए इसे पृथिवी कहा जासकता है। वैष्णवी पृथिवी त्रिष्टुप् छन्दः- प्रधाना है। अतः इसे अन्तरिक्ष कहा जासकता है। एवं ऐन्द्री पृथिवी जगतीछन्दः-प्रधाना है, अतएव इसे द्युलोक माना जासकता है। यही तीनों पृथिवियों को क्रमशः भूरूप रोदसी, भुवःरूप क्रन्दसी, एवं स्वः रूप संयती, इन तीन [यज्ञप्रजापति की] महाव्याहृतियों की प्रतिकृति [प्रवर्य्यरूप प्रतिकृति] समझिए।

५४०–यज्ञेश्वरप्रजापति के त्रैलोक्यात्मक–भूरूप-रोदसी-त्रैलोक्य का विराट्प्रजापति के लोकत्रयात्मक–भूलोक के साथ समतुलन–समन्वय—

यहाँ भूलोकोपलक्षिता महाव्याहृतिलक्षणा रोदसी में गायत्रीछन्दोयुक्त गायत्र अग्निमय भूलोक [भूपिण्ड] पृथिवी है, त्रिष्टुपछन्दोयुक्त गायत्र वायुमय भुवर्लोक अन्तरिक्ष है, एवं जगती छन्दोयुक्त गायत्र सूर्य्यमय [प्रत्यक्षदृष्ट] स्वर्लोक द्युलोक है। यहाँ की भूलोकोपलक्षिता ब्राह्मी पृथिवी में त्रिवृत् स्तोमावच्छिन्न गायत्रीछन्दोयुक्त गायत्र अग्निमय भूलोक पृथिवीलोक है, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न, त्रिष्टुप् छन्दोमय गायत्रवायुमय भुवर्लोक अन्तरिक्षलोक है, एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न, जगतीछन्दोमय गायत्र आदित्यमय स्वर्लोक द्युलोक है। रोदसी की समानता गतार्थ है।

५४१–यज्ञेश्वरप्रजापति के त्रैलोक्यात्मक–भुवः–रूप–क्रन्दसी–त्रैलोक्य का विराट्–प्रजापति के लोकत्रयात्मक–भुवर्लोक के साथ समतुलन–समन्वय—

यज्ञेश्वर की महाव्याहृतियों का स्वरूप बतलाते हुए यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, रोदसी त्रिलोकी ही क्रन्दसी का भूलोक बन जाती है। इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखते हुए विचार करना है। यहाँ की भुवर्लोकोपलक्षिता महाव्याहृतिलक्षणा क्रन्दसी में गायत्रीछन्दोयुक्त राथन्तर त्रैष्टुभ अग्निमय रोदसी त्रैलोक्य, किंवा रोदसी का स्वः स्थानीय, भूः-भुव को गर्भ में रखने वाला स्वर्लोकात्मक सूर्य्य ही पृथिवी है, भास्वर-सोममय, त्रिष्टुपछन्दोयुक्त त्रैष्टुभ शिववायु महर्लोक अन्तरिक्ष है। दिक्सोममय जगतीछन्दोयुक्त जनर्लोक (परमेष्ठी) द्युलोक है। यहाँ की भुवर्लोकोप लक्षिता वैष्णवी पृथिवी में त्रिवृत्–पञ्चदशगर्भित एकविंशस्तोमावच्छिन्न, गायत्रीछन्दोयुक्त त्रैष्टुभ वेनमय [स्वर्लोकस्थानीय] प्रदेश पृथिवीलोक है, त्रिणव स्तोमावच्छिन्न, त्रिष्टुप् छन्दोयुक्त, त्रैष्टुभ भास्वर सोममय [महर्लोक स्थानीय, किंवा चन्द्रस्थानीय] प्रदेश अन्तरिक्ष है। एवं त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न, जगतीछन्दोयुक्त त्रैष्टुभ दिक्सोम [आपो] मय [जनर्लोकस्थानीय, किंवा परमेष्ठि–स्थानीय] प्रदेश द्युलोक है। क्रन्दसी की समानता गतार्थ है।

५४२–यज्ञेश्वरप्रजापति त्रैलोक्यात्मक स्वः रूप संयती–त्रैलोक्य का विराट्प्रजापति के लोकत्रयात्मक स्वर्लोक के साथ समतुलन–समन्वय—

उसी महाव्याहृति-प्रकरण में यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, क्रन्दसी त्रिलोकी ही, [किंवा क्रन्दसी त्रिलोकी का जनर्लोकात्मक परमेष्ठीरूप द्युलोक ही] संयती का भूलोक बनता है। इस भाव को लक्ष्य में रखते हुए इस तीसरे विवर्त्त की मीमांसा कीजिए। वहाँ का स्वर्लोकोपलक्षित महाव्याहृतिलक्षण संयती गायत्रीछन्दोयुक्त जो जागत आपोमय क्रन्दसीत्रैलोक्य [किंवा क्रन्दसी का स्वःस्थानीय भूः–भुवः को गर्भ में रखने वाला परमेष्ठी किंवा जनर्लोक] पृथिवीलोक है। त्रिष्टुप् छन्दोयुक्त, जागत सूत्रवायुमय तपोलोक अन्तरिक्ष है। वाङ्मय जगतीछन्दोयुक्त जागत प्राणमय सत्यलोक [स्वयम्भू] द्युलोक है। यहाँ की स्वर्लोकोपलक्षिता ऐन्द्री पृथिवी चतुर्विंशस्तोमावच्छिन्न गायत्रीछन्दोयुक्त जागत व्यञ्जनमय (जनर्लोक स्थानीय) प्रदेश पृथिवीलोक है। चतुश्चत्वारिंश स्तोमावच्छिन्न, त्रिष्टुप् छन्दोयुक्त, जागत वर्णमय [तपोलोक–स्थानीय] प्रदेश अन्तरिक्ष है। एवं अष्टाचत्वारिंशस्तोमवच्छिन्न, जगतीछन्दोयुक्त, जागत स्वरमय (सत्य–स्वयम्भू स्थानीय] प्रदेश द्युलोक है। संयती की सनानता गतार्थ है।

५४३–भूपिण्डरूपेण पिता–यज्ञप्रजापत्यपेक्षयापि विशेष भावापन्न विराट्प्रजापति के विराट्स्वरूप का समन्वय—

इसप्रकार पिता यज्ञेश्वरप्रजापति की तीनों त्रिलोकियों का पुत्र विराट् प्रजापति की तीनों पृथिवियों में भोग सिद्ध होजाता है। एवं भूपिण्डरूप से विशेष बनता हुआ यह पुत्र पिता की अपेक्षा भी विराट बनता हुआ गीता के विराट् स्वरूप का सर्वात्मना समर्थक बन रहा है, साथ ही श्रौत पार्थिव विराट् स्वरूप का भी।

१–ब्रह्मा गायत्रः—स्वः—मर्त्याग्निः विराट्
२–विष्णुः–त्रैष्टुभः–भुवः—मर्त्यापः–विराट् } –भूमिर्विराट् [चित्यः]
३–इन्द्रः—जागतः—भूः—मर्त्यवाक्–विराट्

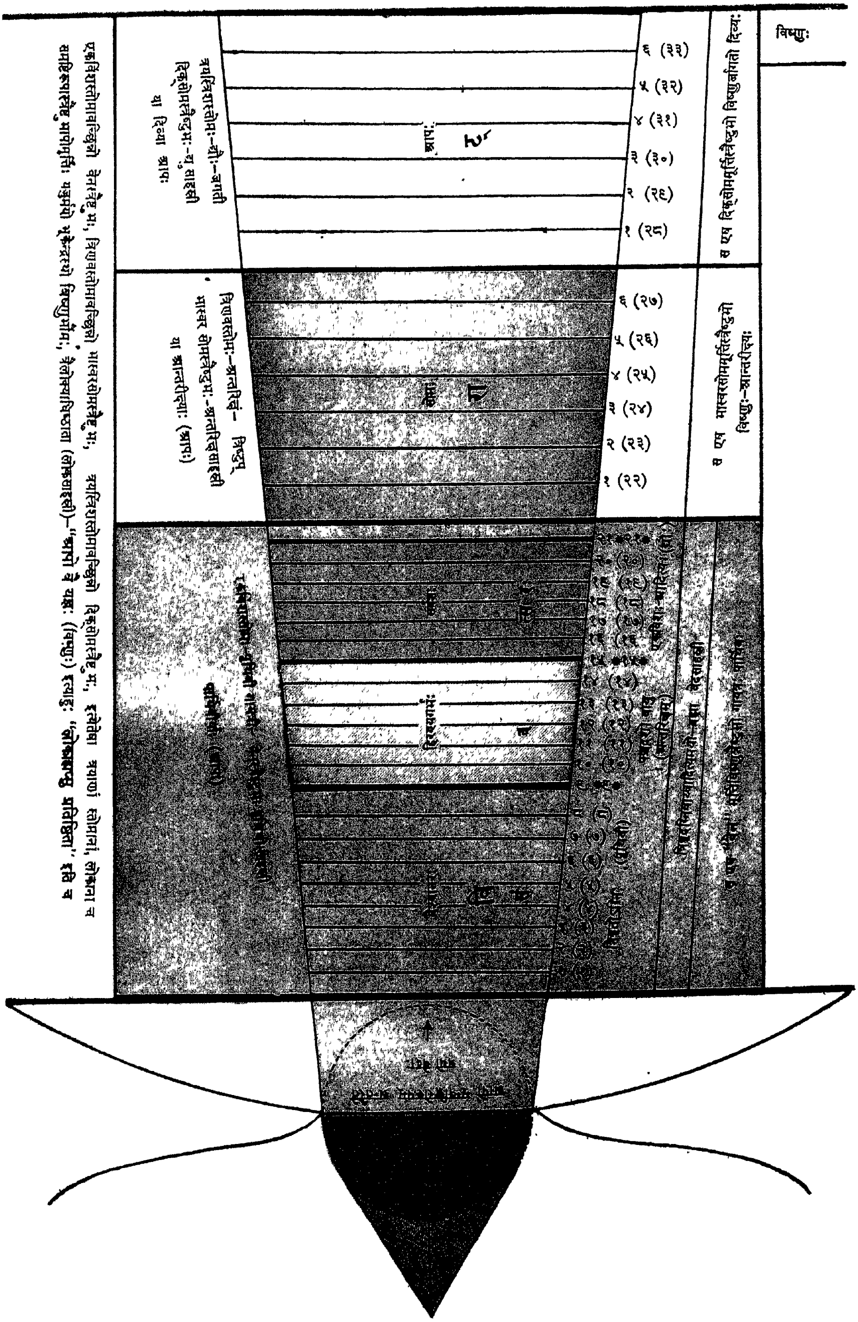
विष्णुः
स एष दिक्सोममूर्तिस्त्रैष्टुभो विष्णुर्भगवान् दिव्यः
६ (३३)
५ (३२)
४ (३१)
३ (३०)
२ (२९)
१ (२८)
आपः
त्रयस्त्रिंशस्तोमः-द्यौः-जगती
दिक्सोमस्त्रैष्टुभः-द्यु साहस्री
या दिव्या आपः
स एष भास्वरसोममूर्तिस्त्रैष्टुभो
विष्णुः-आन्तरिक्ष्यः
६ (२७)
५ (२६)
४ (२५)
३ (२४)
२ (२३)
१ (२२)
त्रिणवस्तोमः-अन्तरिक्षं- त्रिष्टुप्
भास्वर सोमस्त्रैष्टुभः-अन्तरिक्षसाहस्री
या आन्तरीक्ष्याः (आपः)
एकविंशस्तोमावच्छिन्नो वेनस्त्रैष्टुभः, त्रिणवस्तोमावच्छिन्नो भास्वरसोमस्त्रैष्टुभः, त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्नो दिक्सोमस्त्रैष्टुभः, इत्येतेषां त्रयाणां स्तोमानां, लोकानां च
समष्टिरूपास्त्रैष्टुभापोमूर्त्तिः यजुर्मयो भूकेन्द्रस्थो विष्णुर्भौमः, त्रैलोक्याधिष्ठाता (लोकसाहस्री)–"आपो वै यज्ञः (विष्णुः) इत्याहुः "लोकाश्चाप्सु प्रतिष्ठिता" इति च

इन्द्रः विष्णुः ब्रह्मा
वाक् आपः अग्निः
वषट्कारः लोकाः वेदाः
जगती त्रिष्टुप् गायत्री
द्यौः अन्तरिक्षं पृथिवी
स्वः भुवः भूः
तदिदं सर्वम्– स एष विराट्प्रजापतिः
चतुर्धारितोमः–पृथिवी गायत्री–व्यञ्जनं वागसम् व्यञ्जनाक्षरी
अष्टाक्षरशिरतोमः द्यौः–बृहती–स्वर: वागतः– स्वरसाक्षरी
इन्द्रः
अन्तरिक्ष–विष्टुप्–वाणी–वागतः वर्णसाक्षरी
चतुर्धारितोमवच्छिन्नं व्यञ्जनं वागसं, चतुरक्षरशिरातोमावच्छिन्नो वर्णो जगतः अष्टाक्षरशिरातोमावच्छिन्नः स्वरः जगत्, इत्येतेषां त्रयाणां संहितानां, वाङ्मयानाञ्च
ममहिरुग्वो जगतस्थुषस्पतिं सोमम्:– भूकेन्द्रस्थः– इन्द्रः–सोमः– त्रिलोक्याधिष्ठाता (वाक्पतिः)। 'वाग् वा-इन्द्रः'–'इन्द्रो वाक्' इत्याद्युपनिषदः

ब्रह्मा
१२ (३३)
११ (३२)
१० (३१)
९ (३०)
८ (२९)
७ (२८)
६ (२७)
५ (२६)
४ (२५)
३ (२४)
२ (२३)
१ (२२)
१ (२१)
११ (२०)
१० [१९]
९ [१८]
८ [१७]
७ [१६]
६ [१५]
५ [१४]
४ [१३]
३ [१२]
२ [११]
१ [१०]
१ [९]
८ [८]
७ [७]
६ [६]
५ [५]
४ [४]
३ [३]
२ [२]
१ [१]
द्वादश-आदित्याः
दिव्याः
वसवः
सा०
एकादश-रुद्राः
आन्तरीक्षाः
नासत्यौ
सौ०
अष्टौ-वसवः
पार्थिवाः
अग्निरग्नयः-देवताग्निषु च वैश्वानरेषु च अग्निं पवित्रयं नेतारं कृण्वद् मीमांसन्ति ॥—[ऋग्वेद मं० १९।१७।१०]
अग्निहोत्रं सर्वे देवा:—सोमाः—"मनोर्दक्षा वसिष्ठास:" इत्याहुः ।
स्मरन्ति च—"आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ च परन्तप । [भा० अ०]
असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

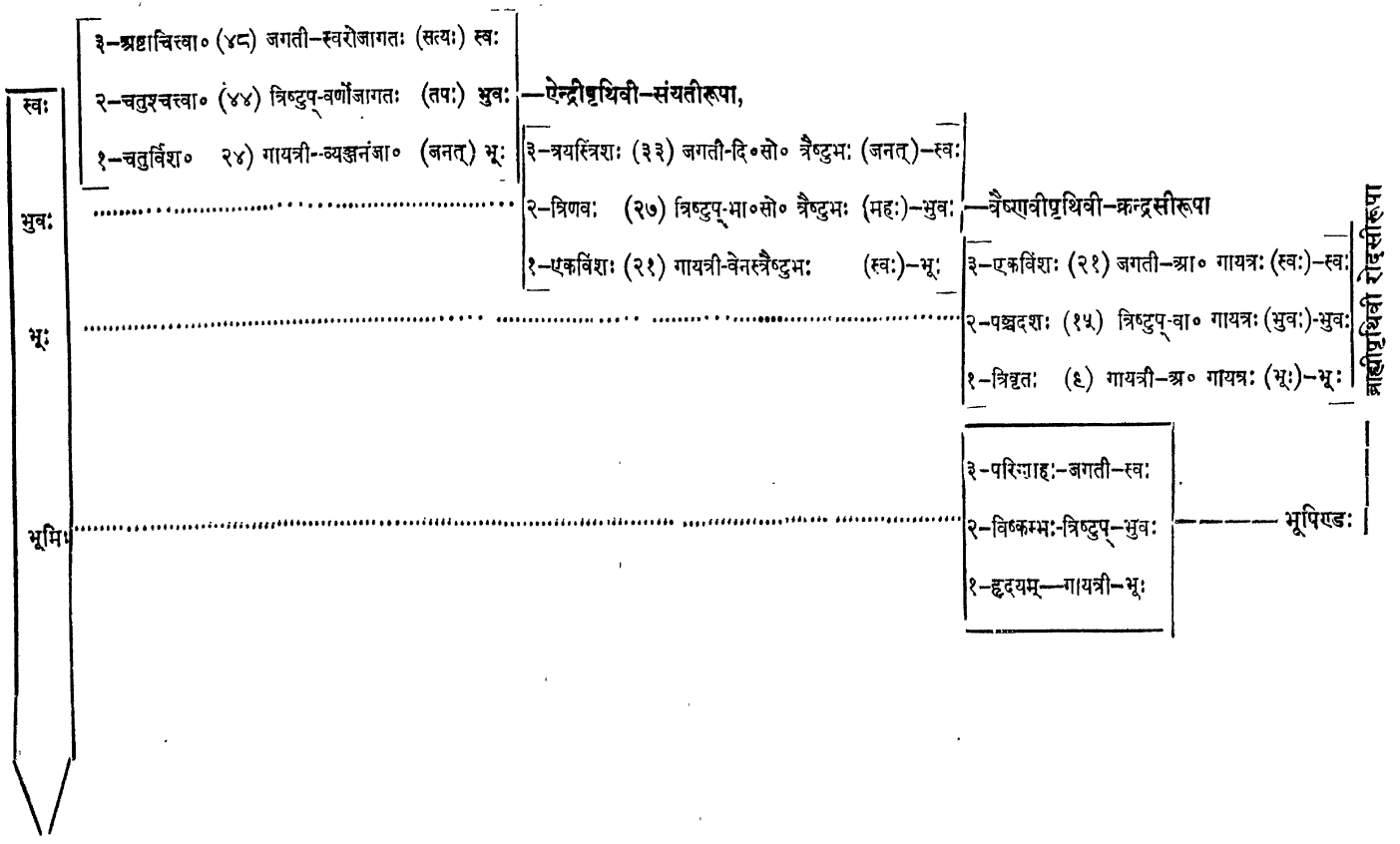
स्वः
भुवः
भूः
भूमिः
३–अष्टाचित्त्वा० (४८) जगती–स्वरोजागतः (सत्यः) स्वः
२–चतुश्चत्त्वा० (४४) त्रिष्टुप्-वर्णोजागतः (तपः) भुवः
१–चतुर्विंश० २४) गायत्री–व्यञ्जनंजा० (जनत्) भूः
—ऐन्द्रीपृथिवी–संयतीरूपा,
३–त्रयस्त्रिंशः (३३) जगती-दि०सो० त्रैष्टुभः (जनत्)–स्वः
२–त्रिणवः (२७) त्रिष्टुप्-भा०सो० त्रैष्टुभः (महः)–भुवः
१–एकविंशः (२१) गायत्री–वेनस्त्रैष्टुभः (स्वः)–भूः
—वैष्णवीपृथिवी–क्रन्द्रसीरूपा
३–एकविंशः (२१) जगती–आ० गायत्रः (स्वः)–स्वः
२–पञ्चदशः (१५) त्रिष्टुप्-वा० गायत्रः (भुवः)-भुवः
१–त्रिवृतः (६) गायत्री–अ० गायत्रः (भूः)–भूः
आद्यापृथिवी रोदसीरूपा
३–परिग्राहः–जगती–स्वः
२–विष्कम्भः-त्रिष्टुप्–भुवः
१–हृदयम्—गायत्री–भूः
भूपिण्डः
"विराट्–पार्थिवः"

५४४-यज्ञेश्वरप्रजापति के अमृत-मर्त्य-शुक्रषट् से समुद्भूत पार्थिव-विराट्प्रजापति के महिमाभावात्मक शुक्रों की विशकलनात्मिका सर्वव्याप्ति का तात्त्विक समन्वय --

सम्भवतः पाठक यह न भूले होंगे कि, यज्ञेश्वरप्रजापति की स्वरूपसत्ता जहाँ हमने **वाक्-आपः अग्निः**, इन तीन अमृतशुक्रों से बतलाई थी, वहाँ इस विकारमूर्ति विराट् प्रजापति का स्वरूप-निर्म्माण अग्निः-आपः—वाक् इन तीन मर्त्यशुक्रों से बतलाया गया था। सचमुच ऐसा ही है। परन्तु मृत्यु-अमृत का घनिष्ट सम्बन्ध है। जिसप्रकार अमृतशुक्रप्रधाना यज्ञ-संस्था में स्वयम्भू-परमेष्ठी-अमृतसूर्य्य, इन तीनों में क्रमशः अमृत-वाक्-आपः-अग्नि-शुक्रों का, एवं मर्त्यसूर्य्य, चन्द्रमा-भूमि इन तीनों में क्रमशः मर्त्य-अग्नि-आपः--वाक् तीन शुक्रों का, इसप्रकार अमृत-मर्त्य दोनों शुक्रों का भोग सिद्ध होजाता है, एवमेव मर्त्यशुक्रप्रधान इस विराट् प्रजापति में भी—"**अन्तरं मृत्योरमृतं, मर्त्यावमृतमाहितम्**--(शतपथब्रा०) "**प्रत्यौहन् मर्त्युममृतेन साकम्**" (अथर्व० ५।२८।८) इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों के अनुसार भूपिण्ड, एवं त्रिपृथिवीगर्भिता महा पृथिवी भेद से मर्त्यशुक्रत्रयी, अमृतशुक्रत्रयी दोनों का भोग सिद्ध होजाता है। हृद्य--प्रजापति (ब्रह्मेन्द्रविष्णुमूर्ति) स्वयं—"**अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनोमर्त्यमासीदर्द्धममृतम्**" इस सिद्धान्त के अनुसार उभयमूर्त्ति हैं। केन्द्र में अमृतप्रधान बने हुए इसी हृद्यप्रजापति के आधार पर पहिले मर्त्य-अग्नि आपः-वाक्-इन तीन मर्त्य शुक्रस्तरों की चिति होती है। इसी मर्त्यशुक्रचिति से पूर्व लक्ष्ण भूपिण्ड का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। आगे जाकर उन हृद्यदेवताओं के अमृतवितान के आधार पर अग्नि--आपः--वाक् इन तीन अमृतशुक्रों का वितान होता है। ये ही तीनों अमृतशुक्र क्रमशः ब्राह्मी--वैष्णवी--ऐन्द्री पृथिवी रूपों में परिणत हुए हैं। इसप्रकार विराट् भी यज्ञप्रजापतिवत् षट्-शुक्र-मूर्ति बन जाता है। यदि और भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाता है, तो पूर्व अथर्व श्रुति से प्रदर्शित तीनों पृथिवी अग्निशुक्रमयी हैं, तीनों अन्तरिक्ष आपः--शुक्रमय हैं, तीनों द्युलोक वाक्शुक्रमय हैं। और भी अधिक गहराई में जाने पर तो यह शुक्रव्याप्ति अणु--अणु में प्रतिष्ठित प्रतीत होती है, जो कि यत्रतत्र विशकलन--प्रक्रिया के द्वारा भी सुसमन्विता है।

१ (४८)---जगती---स्वरः--इन्द्रः---वाक्
(४४)–त्रिष्टुप्–वर्णः–विष्णुः–आपः
(२४)–गायत्री–व्यञ्जनं–ब्रह्मा–अग्निः
—द्यौः जगती–इन्द्रः–वाक् (६)

२ (३३)–जगती–दिक्सो–इन्द्रः—वाक्
(२७)–त्रिष्टु -भा०सो-विष्णुः-आपः
(२१)—गायत्री—वेन—ब्रह्मा–अग्निः
— अन्तरिक्षम् त्रिष्टुप्–विष्णुः--आपः (५)

३ (२१)–जगती–आदित्यः–इन्द्रः–वाक्
(१५)–त्रिष्टुप्–वायुः–विष्णुः–आपः
(६)–गायत्री–अग्निः–ब्रह्मा–अग्निः
—पृथिवी–गायत्री–ब्रह्म –अग्निः (४)

४ स्वर्लोकः–जगती–इन्द्रः–वाक् (३)
भुवर्लोकः-त्रिष्टुप्-विष्णु-आपः (२)
भूलोकः—गायत्री—ब्रह्मा—अग्निः (१)
—भूमिः--सर्वप्रजापतिः

—※※—

५४५–विराट्स्वरूप–विश्लेषक, समर्थक आर्ष–वचनों का संस्मरण—

अब यह सर्वात्मना सिद्ध होचुका है कि, विराट् पृथिवीपुत्र है, महिमापृथिवी ही इसका शरीर है, सूर्य्यचन्द्रादि सभी प्रवर्ग्य भागों का इसमें अन्तर्भाव है। भूपृष्ठ को अपने गर्भ में रखने वाला आपोमय अर्णव

समुद्र ही इसका गर्भाशय हैं। विराट् के इसी सर्वरूपका स्पष्टीकरण करते हुए कुछ एक वचन हमारे सम्मुख समुपस्थित हैं—

१—विराड्वाग् विराट्पृथिवी, विराडन्तरिक्षं, विराट् प्रजापतिः।
विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव, तस्य भूतं भव्यं वशे स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु॥
—अथर्वसं० ६।१०।२४।

२—कुतस्तौ जातौ, कतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात् कतमस्याः पृथिव्याः।
वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वा पृच्छामि कतरेण दुग्धा॥

३—यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः।
वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः॥

४—यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम्।
ब्रह्मैतद् विद्यात् तपसा विपश्चिद् यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकम्॥
—अथर्वसं० ८।६।१,२,३,।

—**—

१—"वाग्वै विराट्" (शत० ३।५।१।३४।)-("भूमिः")।
२—विराट्-हीयम्" (शत० २।२ १।२०)-(गायत्री पृथिवी)।
३- "विराड्वै गौः" (शत० ७।५।२।१६)-त्रिष्टुप्पृथिवी)।
४—"दशाक्षरा वै विराट्" (तां० ब्रा० ३।१३।३।)।
५—"सहस्राक्षरा वै परमा विराट्" (तां० ब्रा० २५।६।४।)।
६—"सर्वदेवत्यं वा एतच्छन्दो यद्विराट्" (शत० १३।४।१।)।
७—स पुरुषमेधेनेष्ट्वा विराडिति नामाद्यत्त (गो० ब्रा० पू० ५।८।)।

५४६—आरम्भ के एकविंशस्तोमात्मक विराट्प्रजापति का अन्ततोगत्त्वा अष्टाचत्वारिंशत्स्तोमानुगता महती व्याप्ति का महिमामय-स्वरूप-समन्वय—

पूर्व में त्रिवृत्—तानूनप्त्र-वैश्वानर अग्नि, पञ्चदश तानूनप्त्र हिरण्यगर्भ वायु, एवं एकविंश तानूनप्त्र सर्वज्ञ आदित्य की समष्टि को एककल, त्रिकल, दशफल विराट् बतलाते हुए स्तौम्यत्रिलोकीरूप ब्राह्मी पृथिवी में ही विराट् स्वरूप का अन्तर्भाव बतलाया गया था। परन्तु अब इसी विराट् का स्वरूप दूसरा होगया है। अब विराट् २१ पर्य्यन्त ही व्याप्त न रहकर ४८ पर्य्यन्त चला गया है। पहिले ब्रह्मा हीं विराट् थे, परन्तु अब ब्रह्मविष्णुगर्भित इन्द्र विराट् बनगए हैं। ब्रह्माग्निरूपा ब्राह्मी पृथिवी सहस्रपात् लक्षण वैश्वानर विराट्

है, विष्णु–आपोरूपा वैष्णवी पृथिवी सहस्राक्षलक्षण हिरण्यगर्भ विराट् है, एवं इन्द्र–वाग्रूपा ऐन्द्री पृथिवी सहस्रशीर्षा सर्वज्ञविराट् है। वेदसाहस्री विराट् के सहस्रपात् हैं, लोकसाहस्री इस के सहस्राक्ष हैं, एवं वाक्साहस्री इस के सहस्रशीर्ष हैं। त्रिसाहस्री से कृतरूप विराट् उसी भूमिपिण्ड पर प्रतिष्ठित है। और विराट् पुरुष का यही श्रुतिसिद्ध वैज्ञानिक स्वरूप है, जोकि विकारक्षर के आधार पर प्रतिष्ठित है, एवं जिसका कि स्वरूप परिलेख से स्पष्ट होजाता है।

पौराणिक विराट् पुरुष—

५४७–पुराणशास्त्र के प्रति भावुक वेदभक्तों की भ्रान्ता दृष्टि, तन्निराकरण-प्रयास, एवं पौराणिक–विराट्स्वरूपोपक्रम—

वैदिक विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले विराट् प्रजापति का वैज्ञानिक स्वरूप पाठकों के सम्मुख रक्खा गया। उचित था कि विराट्स्वरूप-प्रकरण को यहीं समाप्त कर तदुपासना की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता। परन्तु जैसा कि वर्त्तमान मनोवृत्ति से स्पष्ट है, आज कुछ एक मूढधी पुराणों को निरा गपोड़ा बतलाने की धृष्टता कर रहे हैं। कहना न होगाकि वेदज्ञानकणिका से भी वञ्चित, किन्तु वेदाभिमानी इन मूढों की यह धृष्टता सर्वथा अक्षम्य है। हम अपने पाठकों को यह विश्वास दिलाते हैं कि, पुराणशास्त्र वेद की ही प्रतिच्छाया है। वेद में जिन वैज्ञानिक तत्त्वों का सूत्ररूप से निरूपण हुआ है, कारुणिक व्यासदेव के महान् अनुग्रह से उन्हीं तत्त्वों का आख्यानोपाख्यानरूप से पुराण में बड़े विस्तार से उपबृंहण हुआ है। इसी सादृश्य को स्पष्ट करने के लिए दो शब्दों में पौराणिक विराट् प्रजापति का स्वरूप बतलाना भी आवश्यक समझा गया है।

५४८–दर्शनयुगानुगत चतुर्विंशतितत्त्ववाद का पुराणशास्त्र के द्वारा त्रयोविंशतितत्त्वों पर पर्य्यवसान, एवं पुरुष–प्रकृति–विकृति-मूल–षोडशीप्रजापति–यज्ञप्रजापति–विराट् प्रजापति का समतुलनात्मक समन्वय—

"दर्शनयुगानुगता–उपासना" प्रकरण चल रहा है। इस युग का तत्त्ववाद से सम्बन्ध है। महदादि तत्त्वों की समष्टि ही दार्शनिक तत्त्ववाद है। यद्यपि प्राधानिक तन्त्र के अनुसार महदादि तत्त्व २४ हैं, २५ वाँ तत्त्वातीत पुरुष है। परन्तु विराट् प्रजापति की दृष्टि से २३ तत्त्व ही शेष रहजाते हैं। २५ वाँ पुरुष है, २४ वाँ तत्त्व प्रकृति है, शेष २३ तत्त्वों की समष्टि विकृति है। पुरुषतत्त्व षोडशी प्रजापति है, प्रकृतितत्त्व यज्ञप्रजापति है, विकृतितत्त्व विराट् प्रजापति है। इसी आधार पर हमने पूर्व के वैज्ञानिक प्रकरण में विराट् को विकार रूप बतलाया है। शुक्ररूप कहा है। दार्शनिक [प्राधानिक] पुरुष–प्रकृति–विकृति इन तीनों के लिए विज्ञानभाषा में अमृत–ब्रह्म–शुक्र शब्द प्रयुक्त हुए हैं। षोडशी पुरुष अमृत है, आत्मक्षरमूर्त्ति यज्ञप्रजापति ब्रह्म है, प्रकृति है, एवं विकारक्षरमूर्त्ति विराट् प्रजापति शुक्र है, विकृति है। इसी आधार पर पुराणने २३ तत्त्वों की समष्टिरूप विकारसंघ को विराट् का स्वरूप–समर्पक माना है।

५४९–भूतग्रामप्रधान विराट्प्रजापति का श्रीमद्भागवत के द्वारा यशोवर्णन—

पूर्वकथनानुसार विराट्प्रजापति देवसत्यात्मक है, एवं एकधा, त्रिधा, दशधा विभक्त है। इसी विराट् को विश्वसृष्टि-प्रवर्त्तक परमात्मा कहा है। वह अंशी है, चतुर्दशविध सर्ग उसी के अंश हैं। भूतग्रामप्रधान

विराट् ही उस यज्ञप्रजापति का प्रथमवतार है। विराट् प्रजापति के इसी वैज्ञानिक स्वरूप का स्पष्टीकरण करता हुआ पुराण कहता है—

ऋषिरुवाच १—इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः।
प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशम्य गतिरीश्वरः॥

२—कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः।
त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत्॥

३—सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम्।
भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म्म प्रबोधयन्॥

४—प्रबुद्धकर्म्मा दैवेन त्रयोविंशतिको गणः।
प्रेरितोऽजनयत् स्वाभिर्मात्राभिरधिपूरुषम्॥

५—परेणविशता स्वस्मिन् मात्रया विश्वसृग्गणः।
चुक्षोभान्योऽन्यमासाद्य यस्मिँल्लोकाश्चराचराः॥

६—हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान्।
आण्डकोश उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः॥

७—स वै विश्वसृजां गर्भो देवकर्म्मात्मशक्तिमान्।
विबभाजात्मनात्मानमेकधा-दशधा-त्रिधा॥

८—एष ह्यशेषसत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः।
आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते॥

९—साध्यात्मः साधिदैवश्च साधिभूत इति त्रिधा।
विराट् प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च॥

१०-स्मरन् विश्वसृजामीशो विज्ञापितमधोक्षजः।
विराजमतपत्स्वेन तेजसैषां विवृत्तये॥

११-अथ तस्याभितप्तस्य कति चायतनानि ह।
निरभिद्यन्त देवानां तानि मे गदतः शृणु॥

(श्रीमद्भागवतपुराण--३ स्कन्ध, ६ अ० १ से ११ पर्य्यन्त)

५५०–आधिकारिक-अचेतन-जीवोपासनात्मिका विराडुपासना का आधारभूत पार्थिव विराट्–प्रजापति—

पाठकों का स्मरण होगा कि हमनें विराट् उपासना को "**आधिकारिक अचेतन जीवोपासना**" कहा है, यही तत्त्वोपासना है। यही दर्शनभक्ति है। विराट् प्रजापति में विकार भाव की प्रधानता है, तत्त्वप्राधान्य है। अवएव इसका चिद्भाव आवृत होरहा है, हमारी दृष्टि से नहीं, अपितु चिदात्मलक्षण षोडशी, एवं तदंशलक्षण यज्ञप्रजापति की दृष्टि से।

५५१–चिदात्मलक्षण षोडशीप्रजापति, प्रत्यगात्मलक्षण यज्ञप्रजापति, एवं शारीरका–त्मलक्षण विराटप्रजापति का समन्वय, तथा प्रत्यगात्मसंस्मरण—

उस एक ही आत्मतत्त्व के आत्म–देवता–भूत, किंवा पुरुष–प्रकृति–विकृति, किंवा प्रज्ञा–प्राण–भूत, किंवा अमृत-ब्रह्म-शुक्र भेद से तीन विवर्त्त होजाते है। इन तीनों आधिदैविक आत्मपर्वों को [ईश्वरीय पर्वों को] हम क्रमशः चिदात्मा-प्रत्यगात्मा-शारीरक आत्मा इन नामों से व्यवहृत करसकते हैं। विश्वव्यापक सहस्र-बल्शेश्वर षोडशीप्रजापति चिदात्मा कहा जासकता है। पञ्चपर्वेश्वर, किंवा एकबल्शेश्वर यज्ञप्रजापति को प्रत्यगात्मा माना जासकता है। एवं पार्थिवेश्वर विराट् प्रजापति को शारीरक आत्मा कहा जासकता है। आध्यात्मिक आत्म–विवर्त्तों से परिचित पाठकों को यह विदित ही है कि, वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-लक्षण भूतात्मा ही आध्यात्मिक शारीर–क-आत्मा है, इसे ही चिदाभास कहा जाता है। इस का अधिष्ठाता अध्यात्मकेन्द्र में प्रतिष्ठित वही विराडंश प्रत्यगात्मा बनता है, एवं व्यापक तत्व चिदात्मा कहलाता है।

५५२–ईश्वरशरीरानुगत सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्–मूर्त्ति विराडात्मा, एवं यज्ञप्रजापत्य–पेक्षया इत्थंभूत विराडात्मा का जीवात्मत्व–समन्वय–

ईश्वरशरीर में वैश्वानर–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञमूर्त्ति विराट् भूतप्रधान भूतात्मा है। यज्ञप्रजापतिरूप देव–प्रधान आत्मा परमात्मा है। भूतप्रधान इसी परात्मा का एक अंशवतार है, पञ्चपुरुडरीश्वर का अंशरूप भूपर्व ही इस विराड़वतार की प्रतिष्ठा है। अतएव यज्ञेश्वर को प्रत्यागात्मलक्षण परमात्मा माना जासकता है, एवं विराट् को उसी संस्था का जीवात्मा।

५५३–समानशीलव्यसनिष्ठ आधिदैविक–जीवविराट्प्रजापति के साथ–आध्यात्मिक–जीवविराट्प्रजापति का रहस्यपूर्ण-मैत्रीसम्बन्ध, एवं पुरुष की प्रजापतिनिबन्धना नेदिष्ठता का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय —

यह एक रहस्य की बात है कि—"**समानशीलव्यसनेषु मैत्री**" के अनुसार मित्रता का सम्बन्ध समानता पर ही निर्भर है। परमात्मा और जीवात्मा (हमारे) में बड़ा अन्तर है। अतएव महेश्वरलक्षण पर-मात्मा के साथ जीवात्मा (हमारा) का सख्यभाव नहीं होसकता। जीव की समानशील--व्यसन जीव के साथ ही मित्रता सम्भव है। वह जीव यही "**विराट् प्रजापति**" है। यज्ञप्रजापतिलक्षण परमात्मा के भूत–

ग्रामप्रधान अंशावतार इस त्रिमूर्ति विराट् को अवश्य ही **'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता) इस सामान्य परिभाषा के अनुसार ईश्वरीय विवर्त्त का **"जीव"** (शारीरक आत्मा] कहा जासकता है । यही विराट्प्रजापति सुपर्ण है। भोक्ता जीवसुपर्ण की मित्रता इस साक्षी विराट्सुपर्ण के साथ ही सम्भव है । दोनों समानशील-व्यसन हैं। अन्तर यही है कि, वह असङ्ग है, यह ससङ्ग है । **"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया"** इत्यादि मन्त्र श्रुति ने भी विराट्सुपर्ण की ही जीवसुपर्ण के साथ मित्रता बतलाई है । वह हिरण्यगर्भ जीव है, यह कार्म्मिक इरागर्भजीव है । उसके यदि वि० हि० स० तीन पर्व हैं, तो इसके भी वै० प्रा० तै० तीन हीं पर्व हैं । यह इरागर्भात्मक सत्त्वरूप जीवों का तो आत्मा है, परन्तु उस परमात्मालक्षण यज्ञेश्वर का अंशावतार है, जैसाकि-**"एष ह्येष सत्त्वानामात्मा, अंशः परमात्मनः, आद्योवतारो, यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते"** इत्यादि पूर्वोक्त भागवतसिद्धान्त से स्पष्ट है । वह आपोमय अर्णव समुद्र के गर्भ में [**अप्सुप्रविष्टः-उवासाप्सु**] प्रतिष्ठित है, तो यह भी **"इति नु पञ्चम्याहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति"** इत्यादि पञ्चाग्नि-विद्या--सिद्धान्त के अनुसार आपोमय, किंवा अन्नप्रधान [**त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्**] पाञ्चभौतिक शरीर के गर्भ में प्रतिष्ठित है । वह यदि पार्थिव त्रिलोकी के अशेष सत्त्वों का एक आत्मा है, तो यह भी शरीरस्थ अशेष सत्त्वों [कीटाणुओं] का एक आत्मा है । उसमें यदि त्रैलोक्यसंस्था है, तो इसमें भी मूलग्रन्थि से आरम्भ कर नाभि पर्य्यन्त ब्राह्म-पृथिवीलोक, नाभि से हृदय पर्य्यन्त वैष्णव-अन्तरिक्षलोक, हृदय से कण्ठ पर्य्यन्त ऐन्द्रलोक, कण्ठ से ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त चौथा आपोलोक [**अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः**], इसप्रकार लोक-संस्था ज्यों की त्यों प्रतिष्ठित है । यह जीवपुरुष, और वह जीवपुरुष दोनों नाम-रूप-गुण-कर्म्म संस्थान आदि सभी दृष्टियों से अवश्य ही समानशीलव्यसन बने हुए है । इसीलिए इसे उसके नेदिष्ठ [समीपतम] माना गया है-**"पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्"** ।

हाँ, तो वक्तव्य यही था कि जिसप्रकार अध्यात्मदृष्टि से आत्मा के चिदात्मा-प्रत्यगात्मा-शारीरक आत्मा, ये तीन विभाग होते हैं, एवमेव आधिदैविकदृष्टि से भी आत्मा के ये तीन विभाग होजाते हैं। षोडशीपुरुष चिदात्मा है, यज्ञप्रजापति परमात्मलक्षण प्रत्यगात्मा है, एवं विराट्प्रजापति जीवत्मलक्षण शारीरक आत्मा है ।

१-अधिदैवतम्

१-षोडशीप्रजापतिः-पुरुषः [अक्षरः]-अमृतम्--चिदात्मा [ज्ञानात्मा]

२-यज्ञप्रजापतिः-प्रकृतिः [आत्मक्षरः]-ब्रह्म-प्रत्यगात्मा [कर्म्मात्मा] } ईश्वरः

३-विराट्प्रजापतिः-विकृतिः [विकारक्षरः]-शुक्रम्-शारीरकात्मा [भूतात्मा]

—*—

२–अध्यात्मम्–

१–हृद्यषोडशी—चिदात्मा–अलिप्तः–सर्वलिप्तः
२–हृद्ययज्ञः—प्रत्यगात्मा–निर्लिप्तः } –जीवः
३–जीवः—शारीरकात्मा–देही

———*———

५५४–विराट्प्रजापति की 'आधिकारिक–चेतन–जीव' रूपता का समन्वय—

उक्त दृष्टि के अनुसार हमें मानना पड़ेगा कि भूतप्रधान, किंवा विकारप्रधान, किंवा शुक्रात्मक पार्थिव भौतिक विश्वप्रधान विराट्प्रजापति का चिद्भाग यज्ञ–षोडशी की अपेक्षा अचित् ही कहलाएगा, एवं जहाँ हम हमारी दृष्टि से (आध्यात्मिक जीवदृष्टि से) विराट् को चित्, किंवा चेतन कहेंगे, वहाँ आधिदैविक यज्ञ–षोडशी की दृष्टि से विराट् को अचित्, किंवा अचेतन ही माना जायगा। इसी अभिप्राय से हमनें विराट् को **'आधिकारिक अचेतन जीव'** कहना शास्त्रसम्मत माना है।

५५५–'सर्वत्र विराजते' रूप विराट्प्रजापति की अपतत्त्व से आवरणप्रवृत्ति, एवं आवरणमूलक–'अचेतन' भावानुबन्ध से विराट् प्रजापति का 'अचेतनजीवत्व'–समन्वय—

अचित् तत्त्वों की समष्टिरूप पार्थिव अचेतन ब्रह्माण्ड से वितान के द्वारा ४८ स्तोम पर्य्यन्त उठ खड़ा होने वाला, त्रिकल, दशकल, किंवा एककल विराट् भी अवश्य ही अचेतन कहा जासकता है। अचेतन, परन्तु चेतन यज्ञप्रजापति की अपेक्षा है विशेष। जिस विशेषता से कि प्रजापति का सुत होता हुआ भी [**सुतं कर्म्म प्रबोधयन्**] विराट् बना हुआ है, एवं जिस विशेषताका कि पूर्व के वैज्ञानिक प्रकरण में स्पष्टीकरण किया जाचुका है। विकृति–लक्षण २३ तत्त्वों की समष्टिरूप यह विराट् लोकवितान करता हुआ, यज्ञमूर्त्ति विष्णु की साक्षात् प्रतिमा बनता हुआ [**आत्मा वै जायते पुत्रः**]। बाहिर की ओर से **'प्रधान'** नाम से प्रसिद्ध चौवीसवीं प्रकृति, एवं महद्रूप पारमेष्ठ्य आपः से आवृत होता हुआ **"सर्वत्र विराजते, सर्वत्र विराजते"**। विराट् के इसी तात्त्विक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए व्यासदेव कहते हैं—

१—परस्य दृश्यते धर्म्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयात्।
अतो * विशेषो भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते ॥

२—एतान् संहृत्य यदा महदादीनि सप्त वै।
कालकर्म्मगुणोपेतो जगदादिरुपाविशत् ॥

* भूमिगता इस विशेषता से ही तो विराट्पुत्र पितुष्पितासत् बना है।

३—ततस्तेनानु विद्धेभ्यो युक्तेभ्योऽण्डमचेतनम् ।
उत्थितं पुरुषो यस्मादुदतिष्ठदसौ विराट् ॥
४—एतदण्डं विशेषाख्यं क्रमवृद्धैर्दशोत्तरैः ।
तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनावृतैर्बहिः ॥
यत्र लोकवितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः (यज्ञविष्णोः) ॥
५—हिरण्मयादण्डकोशादुत्थाय सलिलेशयात् ।
तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्विभेद खम् ॥
(श्री० भा० पु० ३ स्कं० २६ अ० ४६ से ५३ पर्यन्त)

—*—

५५६-विराट्-स्वरूपानुगत पार्थिव-विभक्त नामों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

विराट्स्वरूप–निबन्धन पार्थिव विवर्त्त के उपक्रम में यह बतलाया गया था कि–अमरकार ने पृथिवी के भू:-भूमि:-आदि जो पर्य्यायशब्द बतलाए हैं, वे पार्थिव विवर्त्त की दृष्टि से समानार्थक बनते हुए भी अपने प्रातिस्विकरूपों से भिन्न भिन्न अर्थों के ही वाचक हैं–(देखिए पृ० सं० ३६२) । विराट् निरूपण के साथ साथ पार्थिव विवर्त्तों का स्वरूप भी गतार्थ है । उन विवर्त्तों को लक्ष्य में रखते हुए ही पार्थिव–नामों का समन्वय कीजिए, पार्थक्य स्पष्ट होजायगा ।

५५७–भू:-भूमि:-अचला-अनन्ता नाम की शब्दचतुष्टयी का रहस्यात्मक–समन्वय—

पिण्डपृथिवी के भू:–भुव:–स्व:–ये तीन विवर्त्त बतलाए गए हैं । भू केन्द्र बहिस्तर (परिणाह) है, भुव: वैष्णव मध्यस्तर (विष्कम्भ) है, एव स्व: मूलस्तर (हृदय) है । हृदयात्मक स्वर्भावापन्न ब्रह्मधाम अनन्त है, विष्कम्भात्मक भुवर्भावापन्न विष्णुधाम 'मध्ये वामनमासीनम्' के अनुसार अचल है, एवं परिणाहात्मक भूभावापन्न इन्द्रधाम "यदभूत्" निर्वचन के अनुसार "भू:" है । भूरूप बहिस्तर, भुव: रूप मध्यस्तर, एवं स्व: रूप मूलस्तर ही क्रमश: भू:–अचल–अनन्त हैं । भूकेन्द्र को **अनन्ता** पृथिवी कहा जायगा, भूविष्कम्भको **अचला** पृथिवी, एव भूपरिणाहको "भू" पृथिवी कहा जायगा । इन तीनों की समष्टि (अनन्त–अचल–भू की–समष्टि) "भूमि" कहलाएगी । इसप्रकार अमरकारके आरम्भ के ये चारों शब्द भूपिण्ड के चारों भावों के वाचक बनेंगे ।

५५८–रसा-विश्वम्भरा-स्थिरा-नाम-विवर्त्तों का रहस्यात्मक समन्वय—

भूमिपिण्ड के अनन्तर क्रमश: अग्निरसमयी (तेजोरसो निरवर्त्तताग्नि:) ब्राह्मी पृथिवी, आपोमयी वैष्णवी पृथिवी, एवं वाङ्मयी ऐन्द्री पृथिवी प्रतिष्ठित है । वाङ्मयी पृथिवी स्थिरवषट्कार है, अतएव इसे हम **'स्थिरा'** कह सकते हैं । लोकदृष्टि का, किंवा विश्व का आप: से सम्बन्ध है । [लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिता:]

अतएव आपोमयी वैष्णवी पृथिवी को "**विश्वम्भरा**" कहा जासकता है। यही विश्वम्भरा पृथिवी विष्णु की पत्नी भी मानी गई है। एवं तेजोरसमयी पृथिवी को "**रसा**" कहा जासकता है। २१ विंशस्तोमावच्छिन्ना ब्राह्मी अग्निमयी पहिली पृथिवी रसा है, त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्ना वैष्णवी आपोमयी दूसरी पृथिवी विश्वम्भरा है, एवं अष्टाचत्वारिंशस्तोमावच्छिन्ना ऐन्द्री वाङ्मयी [वषट्काररूपा] तीसरी पृथिवी स्थिरा है। इसप्रकार अमरकार के पृथिवी नामनिरूपक दो श्लोकों में से प्रथम श्लोक का "**भूर्भूमिरचलानन्ता रसा विश्वम्भरा स्थिरा**" यह पूर्वार्द्ध वैज्ञानिक चारों पार्थिव विवर्त्तों का संग्राहक बना हुआ है।

१ पार्थिवाः
- १–१–१–भूकेन्द्रः [हृदयरूपा ब्राह्मी पृथिवी-स्वर्लोकः]—अनन्तापृथिवी—"**अनन्ता**"
- २–२–२–भूमध्यः [विष्कम्भरूपा वैष्णवी पृ० भुवर्लोकः]—अचलापृथिवी—"**अचला**"
- ३–३–३–भूस्तरः [परिणाहरूपा ऐन्द्री पृ० भूलोकः]——भूः–पृथिवी——"**भूः**"
- ४–१–४–समष्टिः [त्रयाणां समष्टिः]——————भूमिः– पृथिवी—"**भूमिः**"

——*——

२ त्रैलोक्याः
- ५–१–ब्राह्मी त्रिलोकी [अग्निमण्डलम्–२१]–भूः——भूः पृथिवी ब्राह्मी——"**रसा**"
- ६–२–वैष्णवी त्रिलोकी [अब्मण्डलम्–३३]–भुवः——भुवः पृथिवी वैष्णवी—"**विश्वम्भरा**"
- ७–३–ऐन्द्री त्रिलोकी [वाङ्मण्डलम्–४८]–स्वः——स्वः पृथिवी ऐन्द्री——"**स्थिरा**"

——*——

५५९–धरा-धरित्री-धरणी-नामविवर्त्तों का ध्रुव-धर्त्र-धरुणानुबन्धी तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय–

उक्त स्थिति के अनन्तर पुनः पहिला ब्राह्मत्रैलोक्यरूप पृथिवीलोक हमारे सम्मुख आता है, जिसके कि त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश नामक तीन स्तर बतलाए गए हैं, एवं वहीं यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, त्रिवृत् में घन अग्नि, पञ्चदश में तरलवायु, एवं एकविंश में विरल आदित्य प्रतिष्ठित है। त्रिवृत्पार्थिव स्तर अग्निमयी पृथिवी है, पञ्चदश पार्थिवस्तर वायुमयी, एवं एकविंश पार्थिवस्तर आदित्यमयी पृथिवी है। घन–तरल–विरल,–इन तीनों अवस्थाओं के लिए संहिता में क्रमशः **ध्रुव धर्त्र–धरुण** शब्द प्रयुक्त हुए है। अग्निमयी पृथिवी ध्रुवा है, वायुमयी धर्त्री है, आदित्यमयी धरुणा है। ब्राह्मी पृथिवी के इन्हीं तीनों स्तरों के लिए क्रमशः **धरा–धरित्री–धरणी**–ये तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

५६०–ब्राह्मी पृथिवी के विशेष–भावों से अनुप्राणित विभिन्न शब्द, एवं तदनुबन्धी–'द्यौणी' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

अब इसी ब्राह्मी पृथिवी के विशेष भावों का विचार कीजिए। धरा–धरित्री–धरणी की समष्टिरूप सम्वत्सरात्मिका पृथिवी भूपिण्ड को अपने केन्द्र में प्रतिष्ठित रखती हुई सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है। यही वैश्वानर–मण्डल की परिक्रमा है। विश्व में जो एक '**साँय साँय**' शब्दध्वनि सुनाई पड़ती है,

यह इसी वैश्वानर सम्वत्सररूपिणी पृथिवी के परिभ्रमण का अनाहत नाद है। इसी ध्वनिः शब्दरूप नादभाव की अपेक्षा से इस ब्राह्मी पृथिवी को हम 'द्योणी' ('टुक्षु' शब्दे) कह सकते हैं।

५६१- अन्नादानात्मक-वयोहानिप्रवर्त्तक-प्राजापत्यधर्म्म, एवं तन्निबन्धन 'ज्या' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

सम्वत्सर--प्रजापति जहाँ हमारी आयु का स्वरूप–समर्पक बनता है, वहाँ यही अन्त में हमारी आयु के नाश का कारण भी बनता है—'**यो मा ददाति स इदेवमावत्**'। सम्वत्सर के नियत अहोरात्र पर्वोंतक उसी सम्वत्सर से हमें आयु और आयुः स्वरूप–रक्षक पार्थिव भोग्यपदार्थ उपलब्ध होते हैं, एवं अन्त में वही हमारी वयोहानि का कारण बनता है। सम्वत्सररूपा ब्राह्मी पृथिवी को इस नाशभाव की अपेक्षा से "**ज्या**" ('ज्या' वयोहानौ) कहा जायगा।

५६२–पार्थिव-अग्निरसात्मक-कूर्म्मप्रजापति--नामक कश्यपप्रजापति का संस्मरण, एवं तन्निबन्धन-'काश्यपी' नाम का स्वरूप-समन्वय—

सौर सावित्र मण्डल ही सौर सम्वत्सर है, इसी सौर सम्वत्सर को कूर्म्म, किंवा कश्यप कहा जाता है। उक्त गायत्राग्निमण्डलरूप पार्थिव सम्वत्सर इस कश्यपात्मक सौर सम्वत्सर से अतिमान करता रहता है। दोनों सामों का परस्पर मिल जाना ही अतिमान है। पार्थिव सम्वत्सर रस '**श्यैत**' नाम से, एवं सौर काश्यप सम्वत्सर रस '**नौधस**' नामसे प्रसिद्ध है। श्यैत नौधस मण्डलों से नौधस श्यैत मण्डल में प्रविष्ट रहता है। इसी संगमनरूप अतिमान से पार्थिव सम्वत्सर उस कश्यपरस से (**रसो वै कूर्म्मः**) युक्त होता हुआ अदितिरूप में परिणत होजाता है। कश्यप के सम्बन्ध से ही यह सम्वत्सररूपा ब्राह्मी पृथिवी (वेद में) अदिति कहलाई है, सौरकश्यपप्राणावच्छिन्न उसी पार्थिव सम्वत्सर--पृथिवी को '**काश्यपी**' कहा जायगा।

५६३–'क्षिति' शब्द का तात्त्विक--स्वरूप-समन्वय—

ब्राह्मी पृथिवी का त्रिवृत् अग्निमय भाग भूपृष्ठ से संलग्न रहता है। भूस्तर का मृण्मय प्रदेश इसी से आक्रान्त रहता है। अन्तरिक्षविभूति से युक्त (त्रिवृद्भाग से युक्त) यह मृण्मय भूप्रदेश ही पार्थिव प्रजा के निवास, एवं गमन का साधन बनता है। इस दृष्टि से भूस्तर (मृण्मय भूस्तर) युक्ता ब्राह्मी पृथिवी के अन्तरिक्षरूप त्रिवृत् भागात्मक पार्थिव भाग को '**क्षिति**' (क्षि–निवासगत्योः) कहा जायगा।

५६४– सर्वंसहा' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

नद–नदी–पर्वत–ओषधि–वनस्पति–धातुवर्ग–मनुष्य–पशु–पक्षी-कृमि–कीट आदि आदि का भार सहने वाला मृण्मय भूस्तरावच्छिन्न ब्राह्मीपृथिवीयुक्त पार्थिव पृथिवीरूप त्रिवृद्भाग, यक्ष–राक्षस–गन्धर्व–पिशाच इन चारों देवयोनियों का भार सहने वाला ब्राह्मीपृथिवी का अन्तरिक्षरूप पञ्चदश भाग, पितर-ऐन्द्र–प्राजापत्य-ब्राह्म इन चार देवयोनियों का भार सहने वाला ब्राह्मी पृथिवी का द्यु रूप एकविंशभाग, इन तीनों की समष्टि-रूपा मृण्मयी भूस्तरावच्छिन्ना ब्राह्मी पृथिवी ही '**सर्वंसहा**' कहलाएगी।

५६५–पार्थिव-विराट् प्रजापति की-'वसु' रूपता का वैज्ञानिक-स्वरूप-दिग्दर्शन—

भूमिपिण्ड पाशुकाग्नि रूप है—(देखिए शत० ६।२।१।····)। पाशुकाग्नि, किंवा पशुरूप भूमिपिण्ड को ही याज्ञिक--भाषा में पुराणगार्हपत्य कहा जाता है। यही उस सम्वत्सरयज्ञरूप सोमयज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है। सम्वत्सरयज्ञ का त्रिवृदग्नि (९) नूतन गार्हपत्य है, पञ्चदश वायुरूप अग्नि धिष्ण्याग्नि है, एवं एकविंश आदित्य आहवनीय है। इन तीन प्राणाग्नियों से अग्निमूर्त्ति सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होरहा है। भूपिण्ड रूप पाशुकाग्नि, त्रिवृदग्नि, पञ्चदश वायु, एकविंश सूर्य्य, तीनों की समष्टिरूप यज्ञ चारों ही ब्राह्मी त्रिलोकी में रहने वाले आग्नेय ३३ यज्ञिय देवताओं का अन्नसम्पत्तिरूप मौलिक धन है, यही दैववित्त, किंवा दैववसु है—'**यज्ञो वोऽन्नम्**'। इसी यज्ञसम्पत्ति के आधार पर देवताओं का जीवन प्रतिष्ठित है। अतएव इन चारों को ही हम '**वसु**' कह सकते हैं, जैसाकि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

१—'**पशवो वै वसु**' (श० ब्रा० ७।१०।१७।)।

२—'**स एषो (अग्निः)ऽत्र वसुः**' (शत० ९।३।२।१।)।

३—'**वायुर्वै वसुरन्तरिक्षसत्**' (शत० ६।७।३।११।)।

४—'**एष वै (सूर्य्यः) वसुरन्तरिक्षसत्**' (ऐ० ब्रा० ४।२०।)।

५—'**यज्ञो (सम्वत्सरः) वै वसुः**' (शत० १।७।१।)।

५६६-वसुतत्त्वानुबन्धी 'वसुमती', एवं 'वसुधा' शब्दों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

भूमिपिण्ड–सहकृत त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-स्तोममूर्त्तिरूप यज्ञात्मिका ब्राह्मी पृथिवी ही वसुदृष्टि से "**वसुमती**" कहताएगी। भूमिपिण्ड ही त्रिवृत् पृथिवी में रहने वाले अष्टविध वसुअग्नि की प्रतिष्ठा है। वसु अग्नि, किंवा वस्वाग्निमण्डल को भूपिण्डने ही धारण कर रक्खा है, अतएव '**वसुं दधाति**' इस निर्वचन से वस्वग्निप्रतिष्ठा की अपेक्षा भूमिपिण्ड को "**वसुधा**" कहा जायगा।

५६७–एकतः आधारभूत 'आधार', एवं सर्वतः आधारभूत-'आवपन' शब्दों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

धारणात्मक सम्बन्ध आधार–आवपन भेदसे दो भागों में विभक्त माना गया है। एकतः आधार को आधार कहा जाता है, एवं सर्वाधार को आवपन कहा जता है। मेज के ऊपरि धरातल पर रक्खी हुई पुस्तक का मेज आधार है, मेज की दराज में रक्खी हुई पुस्तक का मेज आवपन है। दूसरी दृष्टि से देखिए। भूधरातल हमारा आधार है। परन्तु हम धरातल पर खड़े मात्र हैं, हमारे चारों ओर धरातल का वेष्टन नहीं हैं। अतएव यह एकत. आधार आधार कहा जायगा। आकाश भी हमारा आधार बना हुआ है—(कोह्येवान्यात्, कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्)। परन्तु हम आकाश के गर्भ में हैं, चारों और आकाश व्याप्त है। सर्वाधारात्मक इस आकाशाधार को "**आवपन**" कहा जायगा।

५६८ 'दधाति' मूलक 'आधारतत्त्व', एवं 'धारयति' मूलक-आवपनतत्त्व, एवं तन्निबन्धन-'वसुन्धरा' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

आधार के लिए "दधाति" कहा जायगा, आवपन के लिए 'धारयति' कहा जायगा। जिसप्रकार भूमिपिण्ड "अस्मान् दधाति" है, वैसे ही उसने त्रिवृद् गर्भित वस्वग्नि को धारण कर रक्खा है। त्रिवृदग्नि का आधार (एकतः) भूमिपिण्ड ही तो है। इस आधाररूपा प्रतिष्ठा की अपेक्षा से भूमिपिण्ड को "वसुधा" कहा जायगा। उधर त्रिवृन्मण्डलरूपा त्रिवृत् पृथिवी के गर्भ में अष्टविध वस्वग्नि प्रतिष्ठित है। इस सर्वतः आधार-रूप त्रिवृत्पृथिवी को आवपन कहा जायगा, एवं "वसुं धारयति" इस निर्वचन से इस त्रिवृता पृथिवी को "वसुंधरा" कहा जायगा।

५६९—अर्णवसमुद्र में ऋतरूप से व्याप्ता आप्यापृथिवी के वितानभाव से अनुप्राणित-'उर्वी' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

किसी समय पृथिवी सर्वथा **काल्वालीकृता** थी। न उस समय पृथिवी का त्रिवृद्रूप पृथिवी विभाग था, न पञ्चदशरूप अन्तरिक्ष विभाग था, एवं न एकविंशरूप द्यु विभाग था। आपोमय अर्णव-समुद्र में यह अपांसाररूप से इतस्ततः द्रुत बनी हुई व्यवस्थित सत्यलोकप्रतिष्ठा से वञ्चित थी (देखिए शत० २।२।४।३)। हुआ क्या?, वराहवायुने जगत् की प्रतिष्ठा के लिए अपने व्याप्तिगर्भित संवरण-धर्म्म से उन ऋत पार्थिव रजों को एक स्थान पर संहित कर इसे इतना बड़ारूप देडाला, जोकि पृथिवीरूप प्रथनभाव से आज ब्राह्मी त्रिलोकीरूप में परिणत होरहा है। वराहानुबन्धी यही सम्वत्सर पृथिवी "**उर्वीमपश्यज्जगतः प्रतिष्ठाम्**" इत्यादि मन्त्र वर्णन के अनुसार वराहसम्बन्ध से "उर्वी" कहलाएगी। ('**यथेयं पृथिव्युर्वी, एवमुरुर्भूयासम्**'—शत० २।१।४।२८।)।

५७०—पार्थिवस्वरूप-संरक्षक 'महीधरों' का स्वरूपेतिवृत्त-समन्वय, एवं तन्निबन्धन-'गोत्र' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

पर्वतमाला भूपिण्डका एक प्रधान अङ्ग माना गया है। यह पर्वतमाला अन्तर्वेदि, बहिर्वेदि भेद से दो भागों में विभक्ता है। भूकेन्द्र में अग्नि प्रज्वलित होरहा है—"**यथाग्निगर्भा पृथिवी**"। अग्नि स्वभावतः विशकलनधर्म्मा (तेजोलक्षण) है। आपोमय मध्यस्थ विष्णुदेवता आपोमय अश्मासोम से अश्माव्याहृति (पाषाण) का निर्म्माण कर इस अग्नि का द्वार यदि अवरुद्ध न करदेते, तो वह केन्द्रस्थ ब्रह्माग्नि भूपिण्ड को अपने इस सहजसिद्ध विशकलनधर्म्म से विदीर्ण ही करडालता। भूपृष्ठ से नीचे (गर्भ में) बड़े बड़े पाषाणस्तर फैले हुए हैं। इन अभेद्य चट्टानों से ही केन्द्राग्नि का वेग सीमित बना हुआ है। जहाँ पाषाणस्तर शिथिल हैं, वहाँ अग्नि उन का भेदन कर बाहिर निकलकर तदवच्छिन्न भूप्रदेश को, एवं तदवच्छिन्न पाषाणस्तर को खण्ड-खण्डरूपमें परिणत कर ही तो डालता है, जैसाकि विधिसौभाग्यवञ्चित ज्वालामुखीप्रदेशों की दुर्दशा से स्पष्ट है। इन भूगर्भस्थ पाषाणस्तरोंनें हीं भूपिण्ड को स्वस्वरूप से सुरक्षित रख रक्खा है, अतएव इन्हें "**महीधर**" कहा जाता है। वस्तुतः मही नाम महापृथिवी का है, पिण्ड पृथिवी तो "भू" किंवा भूमि ही कहलावेगी, और इसी दृष्टि से पर्वतों को भूधर कहना ही अधिक समीचीन होगा। तथापि मही की प्रतिष्ठा भू है, भू

की प्रतिष्ठा भूधर हैं, इस पारम्परिक सम्बन्ध से पर्वतमाला मही की भी प्रतिष्ठा बनी हुई है। और इसी दृष्टिसे इन्हें "महीधर" भी कहा जासकता है। भूगर्भ में रहने वाली पर्वतमाला ही **"अन्तर्वेदिपाषाणस्तर"** कहजाएँगे। वे ही पाषाण शिखारूप से यत्र-तत्र भूपृष्ठ से बाहिर भी निकल आए हैं, यही बहिर्वेदि (प्रत्यसदृष्ट) पाषाणमय उत्तुङ्गशिख पर्वतमाला है। पृथिवी गोरूपधरा है, उसका अग्नि से त्राण इन्ही पर्वतमालाओं से होरहा है, अतएव पर्वतमालाको गोत्र कहा जाता है। गोत्रावच्छिन्ना पृथिवी ही गोत्र अपेक्षा मे **"गोत्रा"** कहलाएगी। उक्त **–धरा– धरित्री–धरणी–क्षोणी–ज्या–काश्यपी–क्षिति–सर्वसहा–वसुमती–वसुधा–उर्वी–वसुन्धरा–गोत्रा** ये सभी शब्द भूमिपिण्ड और ब्राह्मी पृथिवी के समष्टि-व्यष्टि भावों के हीं वाचक बन रहे हैं, जैसाकि तालिका से स्पष्ट है—

भूपिण्ड–एवं रसा पृथिवी के अवान्तर विवर्त्त—

१—त्रिवृत्पृथिवी अग्निमयी—भूः धरापृथिवी (ध्रुवा वा)—**"धरा"** (८)

२—पञ्चदशपृथिवी वायुमयी—भुवः धरित्रीपृ० (धर्त्री वा)—**"धरित्री"** (९)

३—एकविंशपृथि० आदि०—स्व० धरणीपृ० (धरुणावा)—**"धरणी"** (१०)

४—परिभ्रमणेन शब्दं कुर्वती नादभावोपेता संवत्सरपृथिवी (ब्रा० त्रि० रूपा)—**"क्षोणी"** (११)

५—अहोरात्रवती संत्सररूपिणी अवसानप्र० पृथिवी (ब्रा० त्रि० रूपा)—**"ज्या"** (१२)

६—सौरसंवत्सराग्निरसोपेता देवमाता अदितिः (ब्रा० त्रि० रूपा)—**"काश्यपी"** (१३)

७—भूपिण्डगर्भिता, निवासगतिसाधिका, त्रिवृत् पृथिवी (ब्रा० पृ० लो० रूपा)—**"क्षितिः"** (१४)

८—पिण्ड–त्रिवृत्–पञ्च० एकविं० समष्टिरूपा सर्वप्रजाधिष्ठात्री पृथिवी—**"सर्वसहा"** (१५)

९—भूपिण्ड–अग्नि–वायु–सूर्य्य-वसु-युक्ता देवगोत्री पृथिवी—**"वसुमती"** (१६)

१०—वस्वग्नेराधारभूता पिण्डपृथवी—**"वसुधा"** (१७)

११—वस्वग्नेरावपनभूता त्रिवृता पृथिवी **"वसुंधरा"** (१८)

१२—वराहवायुनिबन्धना ब्रा० त्रि० रूपा—त्रैलोक्यपृथिवी—**"उर्वी"** (१९)

१३—अन्तर्वेदि–बहिर्वेदि--पर्वतमालाधिष्ठाता भूपिण्डः—**"गोत्रा"** (२०)

——*——

५७१–स्तोमलक्षण षड्विध अवान्तर पार्थिव विवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अब पूर्व प्रदर्शित भूमि–रसा–विश्वम्भरा–स्थिरा इन चार विवर्त्तों में विश्वम्भरा–वैष्णवी आपोमयी पृथिवी, एवं स्थिरा ऐन्द्री वाङ्मयी पृथिवी, इन दोनो पृथिवियों के २१–२७–३३–२४–४४–४८, स्तोम–लक्षण ६ विवर्त्त शेष रहे। क्रमप्राप्त इनकी भी मीमांसा कर डालिए।

तेरह ससंज्ञ जीवों में से मनुष्य नाम का तिर्य्यक्सर्ग ही उपासक है। इस मनुष्य में आत्मा, शरीर, ये दो संस्थाएँ है। शरीर पाञ्चभौतिक है, पञ्चपर्वा है, आत्मा त्रिपर्वा है, इसी तीन-पाँच की विभूति से युक्त ईश्वरप्रजापति का नेदिष्ट बनता हुआ यह भी तीन पाँच करने लगता है।

५७७-उपासक-विराट् के आत्मानुबन्धी-अत्यन्त रहस्यपूर्ण अष्टादशविध-आत्ममहिमाभाव-

पञ्चपर्वा शरीर का स्वरूप प्रत्यक्ष है। आत्मा के तीन पर्व **परमात्मा-अन्तरात्मा-भूतात्मा** भेद से इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इनमें परमात्मा त्रिपर्वा है। अन्तरात्मा पञ्चपर्वा है, भूतात्मा द्विपर्वा है। सम्भूय १० पर्व होजाते हैं। यही आध्यात्मिक विराट् प्रजापति है। यदि अन्तरात्मा के अवान्तर पर्वों का विचार किया जाता है, तो यह संख्या १८ पर विश्राम करती है। निर्गुण-अव्यय-गर्भित पञ्चकल अव्ययात्मा, पञ्चकल अक्षरात्मा, पञ्चकल क्षरात्मा तीन की समष्टि परमात्मा है। यही आध्यात्मिक **षोडशीप्रजापति** है। शान्तात्मा, यज्ञात्मा, विज्ञानात्मा, महानात्मा, प्राणात्मा, इन पाँच पर्वों की समष्टि अन्तरात्मा है, यही आध्यात्मिक **यज्ञप्रजापति** है। इस आध्यात्मिक यज्ञप्रजापति का शान्तात्मा नामक प्रथम आत्मपर्व अन्तर्य्यामी, सूत्रात्मा, वेदात्मा, चिदात्मा, भेद से चार भागों में विभक्त है। तीसरा विज्ञानात्मा विज्ञानात्मा, देवात्मा, भेद से दो भागो में विभक्त है। चौथा महानात्मा आकृतिमहान्, प्रकृतिमहान्, अहंकृति महान् भेद से तीन भागों में विभक्त है। इसप्रकार पञ्चपर्वा अन्तरात्मा (यज्ञप्रजापति) इन अवान्तर पर्वो से ५ के के स्थान में दशपर्वा बन जाता है। तीसरे भूतात्मा के **बाह्यात्मा-अन्तरात्मा**, ये दो प्रधानपर्व है। बाह्यात्मा एकविध है। अन्तरात्मा के **हंसात्मा-कर्म्मात्मा**, ये दो विवर्त्त हैं। हंसात्मा एकविध है, कर्म्मात्मा के वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ ये तीन विवर्त्त हैं। सम्भूय भूतात्मा के पाँच पर्व होजाते हैं। यही आध्यात्मिक विराट् प्रजापति है।

५७८-त्र्यक्षरा-गायत्री से आत्मपर्वनिष्पत्ति, एवं पञ्चपर्वा-गायत्री से शरीरपर्वों की स्वरूप-निष्पत्ति—

परमात्मा, अन्तरात्मा, भूतात्मा, ये तीन आत्मपर्व, पञ्चपर्वा पाञ्चभौतिक शरीर, यह पहिली दृष्टि है। इस दृष्टि में अष्टाक्षर गायत्रीछन्द की प्रधानता है। यही आध्यात्मिक-गायत्री है। गायत्री ही पञ्चाक्षरों से शरीर बनी हुई है, एवं गायत्री ही त्र्यक्षरों से आत्मा बनी हुई है।

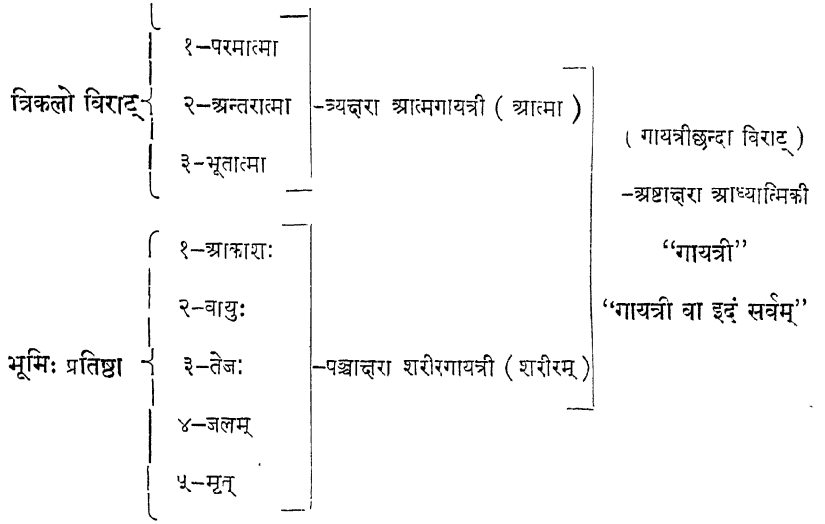

५७६–दशधा-त्रिधा-एकधा-विभक्त-विराट् प्रजापति का विभिन्न-दृष्टि से तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

त्रिपर्वा परमात्मा, पञ्चपर्वा अन्तरात्मा, द्विपर्वा भूतात्मा, यह दूसरी आत्मदृष्टि है। इस दृष्टि में केवल आत्मसम्बन्ध से दशाक्षर विराट् छन्द का भोग होरहा है। दशपर्वस्थानीय दशाक्षर के सम्बन्ध से ही इस पर्वात्मा को "**विराट्**" कहा जासकता है। तीनों विवर्त्त उस एक ही भूतात्मा के विकास हैं, इस दृष्टि से यह विराट् एककल है। त्रिपर्वदृष्टि से वही विराट् त्रिकल भी कहा जासकता है, एवं दशपर्वदृष्टि से उसे दशकल भी माना जासकता है—"**दशधा–एकधा–त्रिधा**"। एककल, त्रिकल, किंवा दशकल आत्मपर्वों की समष्टिरूप इस विराट् प्रजापति की प्रतिष्ठाभूमि वही पञ्चपर्वा पाञ्चभौतिक शरीर है। "**पद्भ्यांभूमिः प्रतिष्ठितः**" के अनुसार वह आत्मलक्षण विराट् भूमिरूप इस शरीरपिण्ड में हीं प्रतिष्ठित है। यही विराट्छन्दा विराट् प्रजापति की दूसरी दृष्टि है, जैसाकि परिलेख स्पष्ट है—

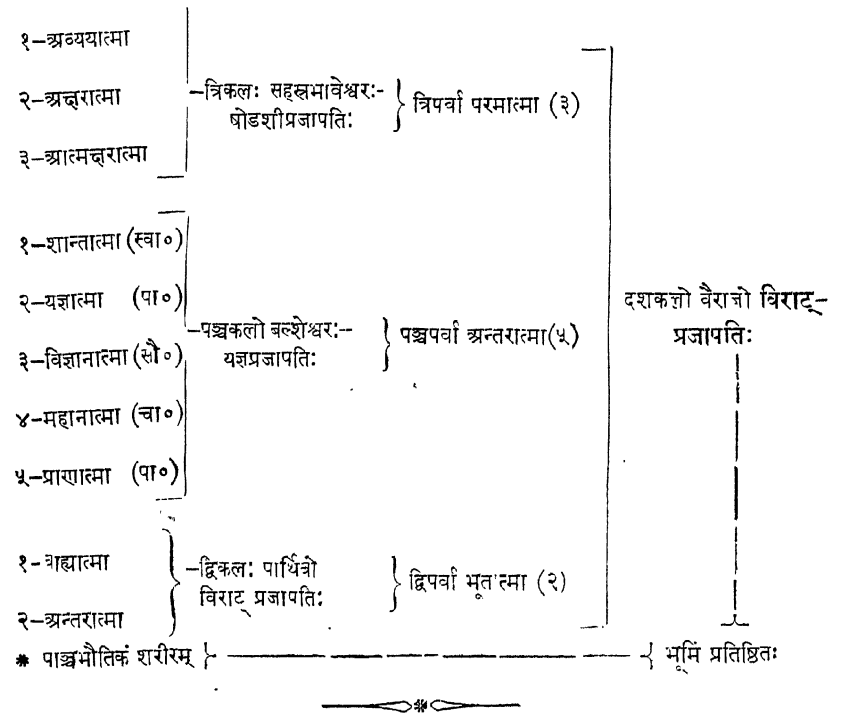

५८०–त्रयोविंशतिपर्वात्मक विराट् प्रजापति का अन्य दृष्टि से स्वरूप-समन्वय-प्रयास––

अन्तरात्मा के अन्तिम पर्वरूप प्राणात्मपर्व का भूतात्मा के अन्तरात्मावयवभूत कर्म्मात्मपर्व में अन्तर्भाव होजाता है। इस दृष्टि से पञ्चपर्वा के स्थान में अन्तरात्मा के चार ही पर्व शेष रहजाते हैं। इन चारों के अवान्तर पर्वों के संग्रह से यही आगे जाकर दशपर्वा बन जाता है। इसप्रकार त्रिपर्वा परमात्मा, दशपर्वा अन्तरात्मा, पञ्चपर्वा भूतात्मा की समष्टि अष्टादशपर्वात्मिका तीसरी आत्मदृष्टि होजाती है—"**अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म**"। पाँचकला शरीर की, सम्भूय-आत्मा–शरीर की २३ कलाएँ होजातीं हैं। यही कलासमष्टि ऊन गायत्री (२३ अक्षर की निचृद्गायत्री *) है। किंवा गायत्र विराट् है। यही निचृद्गायत्रीछन्दा विराट्प्रजापति की तीसरी दृष्टि है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

* न वै एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति, न द्वाभ्याम्।

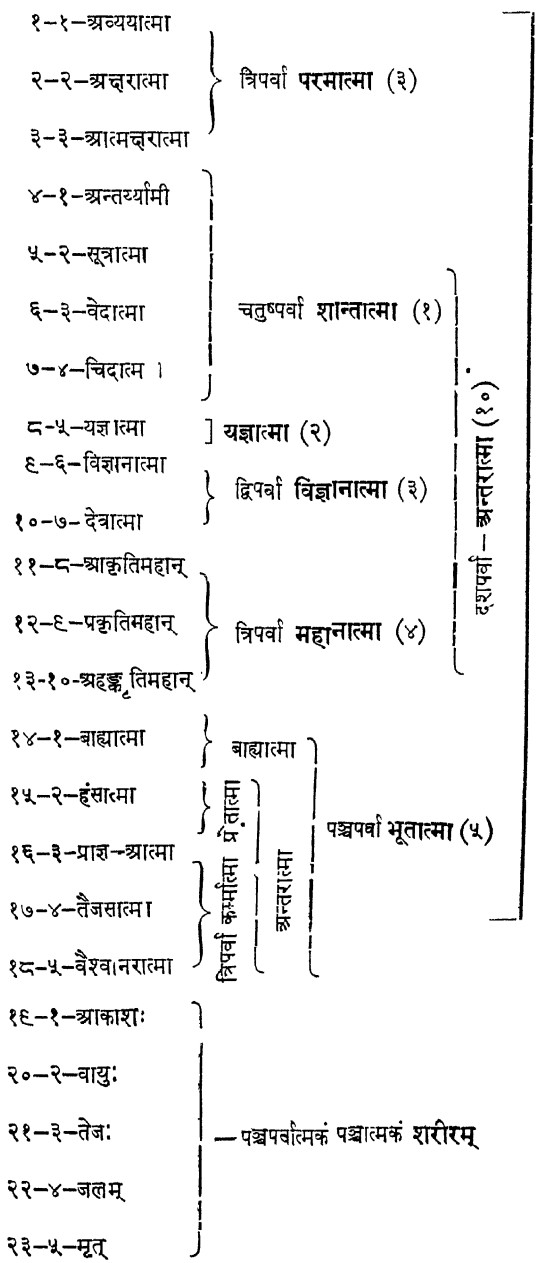
१–१–अव्ययात्मा
२–२–अक्षरात्मा
३–३–आत्मक्षरात्मा
त्रिपर्वा परमात्मा (३)
४–१–अन्तर्य्यामी
५–२–सूत्रात्मा
६–३–वेदात्मा
७–४–चिदात्मा
चतुष्पर्वा शान्तात्मा (१)
८–५–यज्ञात्मा
यज्ञात्मा (२)
९–६–विज्ञानात्मा
१०–७–देवात्मा
द्विपर्वा विज्ञानात्मा (३)
११–८–आकृतिमहान्
१२–९–प्रकृतिमहान्
१३–१०–अहङ्कृतिमहान्
त्रिपर्वा महानात्मा (४)
दशपर्वा–अन्तरात्मा (१०)
१४–१–बाह्यात्मा
१५–२–हंसात्मा
१६–३–प्राज्ञ–आत्मा
१७–४–तैजसात्मा
१८–५–वैश्वानरात्मा
बाह्यात्मा
प्रेतात्मा
त्रिपर्वा कर्म्मात्मा
अन्तरात्मा
पञ्चपर्वा भूतात्मा (५)
१९–१–आकाशः
२०–२–वायुः
२१–३–तेजः
२२–४–जलम्
२३–५–मृत्
—पञ्चपर्वात्मकं पञ्चात्मकं शरीरम्
आलोपेकक्षादश——आत्मविभूतिः——अष्टादशात्मानो वा
२३ कलोपेता निचृद्गायत्री–न्यूनगायत्री। "न्यूनाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते" इत्याहुः। स एव निचृद्गायत्रीछन्दाविराट्—
प्रजापतिः—२३ समष्टिरूपः——"त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत्" (श्रीमद्भा.वत)

५८१–विराडुपासना के द्वारा उपासक की उपास्यरूप में, एवं उपास्य की उपासक के रूप में परिणति का रहस्यात्मक दिग्दर्शन—

विराट् के उक्त आध्यमिक विस्तार–क्रम को थोड़ी देर के लिए छोड़कर त्र्यक्षरमूर्ति त्रिवर्वा आत्म--विवर्त्त की मीमांसा कीजिए। कहा जाचुका है कि आध्यात्मिक परमात्मा-अन्तरात्मा ही क्रमशः षोडशीप्र० यज्ञप्र० एवं विराट् प्रजापति है। यह आध्यात्मिक भूतात्मलक्षण विराट् प्रजापति ही उस आधिदैविक पार्थिव--लक्षण विराट् प्रजापति का उपासक बनता है। इस उपासना से उपासक उपास्य बन जाता है, एवं उपास्य को उपासक बनना पड़ता है।

५८२–क्षुद्रविराट्-मूर्त्ति मानवीय कर्म्मात्मा की मोहनिद्रात्मिका आवरणमूला सुषुप्ति, एवं तन्निबन्धन मृत्युभाव का समन्वय—

पूर्व में पार्थिव आधिदैविक जिस विराट् प्रजापति का जीवात्मा के साथ सख्यभाव बतलाया गया है, वह जीवात्मा उक्त तीन आध्यात्मिक आत्माओं में से पञ्चपर्वा भूतात्मा का त्रिपर्वा **कर्म्मात्मा** ही है, जिसके कि पूर्व के अष्टादशात्म–परिलेख में वैश्वानर–तैजस-प्राज्ञ ये तीन पर्व बतलाए हैं। आधिदैविक विराट् के सर्वज्ञ–पर्व का अंश प्राज्ञभाग है, हिरण्यगर्भ का अंश तैजस है, विराट् का अंश वैश्वानर है। भूपिण्ड का अंश पाञ्च-भौतिक शरीरपिण्ड है। आधिदैविक अंशीविराट् प्रजापति को यद्यपि यज्ञ-षोडशी की अपेक्षा हमनें अचेतन कहा है, परन्तु इस अंशात्मक आध्यात्मिक विराट् प्रजापति की अपेक्षा उसे चेतन कहेंगे, एवं इसे अचेतन कहेंगे। वही विराट् इस आपोमय शरीरपिण्ड में आकर मनोयुक्त इन्द्रियवर्ग–द्वारा अचेतन भौतिक विषय संस्कारों से आवृत होकर अपने उस व्यापक स्वरूप को खो बैठता है, यही उस जीव का यह मर्त्यभाव है। वह यहाँ आकर जीवरूप में परिणत होता हुआ, अपने स्वाभाविक विकास से वञ्चित होता हुआ, मर्त्य संस्कारों से परिच्छिन्न, एवं आवृत बनता हुआ मृत्युभाव का, किंवा जन्म मृत्यु, सुख–दुखः, पुण्य–पापादि द्वन्द्वभावों का अनुगामी बन जाता है। यही इस की सुषुप्ति है, निद्रावस्था है।

५८३–हृदयस्थ महाविराट् के द्वारा कर्म्मात्मविराट् को समये समये उद्बोधनप्रदाना-नुग्रह, एवं कर्म्मात्मविराट् की तत्प्रत्युपेक्षा—

आध्यात्मिक सभी प्राणदेवता हृत्स्थ क्षेत्रज्ञलक्षण अन्तरात्मा (यज्ञप्रजापति), एवं प्रत्यगात्मलक्षण (षोडशीप्रजापति) इन दोनों के सहयोग से आपोमय शरीरपिण्ड में विषयसंस्कारपुञ्ज में प्रसुप्त भूता–त्मालक्षण वै० तै० प्राज्ञमूर्त्ति इस विराट् को जगाने का यद्यपि यथाशक्ति प्रयास करते रहते हैं, समय समय पर अन्तरात्मा की यह प्रतिध्वनि निकला करती है कि–"देखो तुम अनुचित कर रहे हो, सोचो तुम किधर जारहे हो, जिन भौतिक विषयों में आसक्तिपूर्वक तुम (विराट्--जीव) प्रवृत होरहे हो, वे तुह्मारे स्वा--भाविक विकास के अवरोधक हैं, इन से बचने में ही तुह्मारा **अभ्युदय** है"। परन्तु विषयलिप्त प्रसुप्त विराट् को प्रबोध नहीं होता। वह विषयात्यन्तिक आकर्षण के प्रभाव से समय समय पर मिलने वाली इस चेतावनी का कोई आदर न कर अधिकाधिक मृत्युपाश का ही अनुगमन करता रहता है। दूसरे शब्दों में इसे चेत नहीं होता, नहीं होता।

अभिप्लवपृष्ठ्य-समष्टिः–

तदिदं सर्वम्

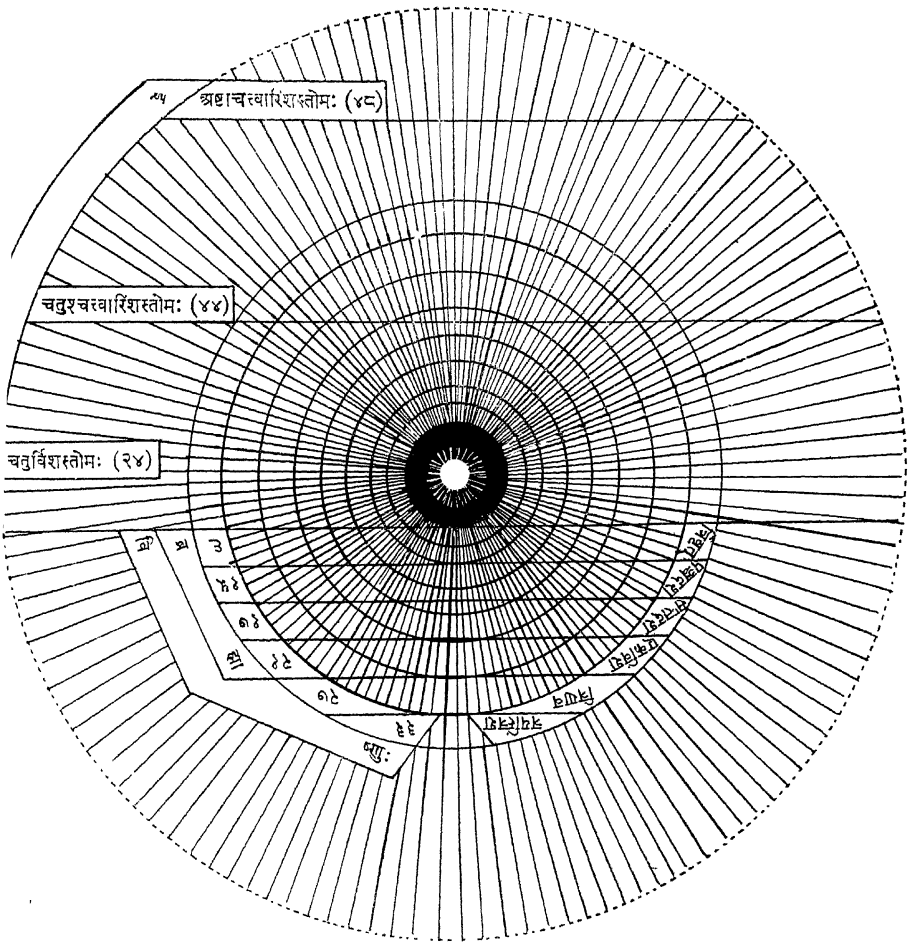

पृष्ठ्यस्तोमाः--

भूत प्रतिष्ठारूपाः

(ब्राह्माः-वैष्णवाश्च)

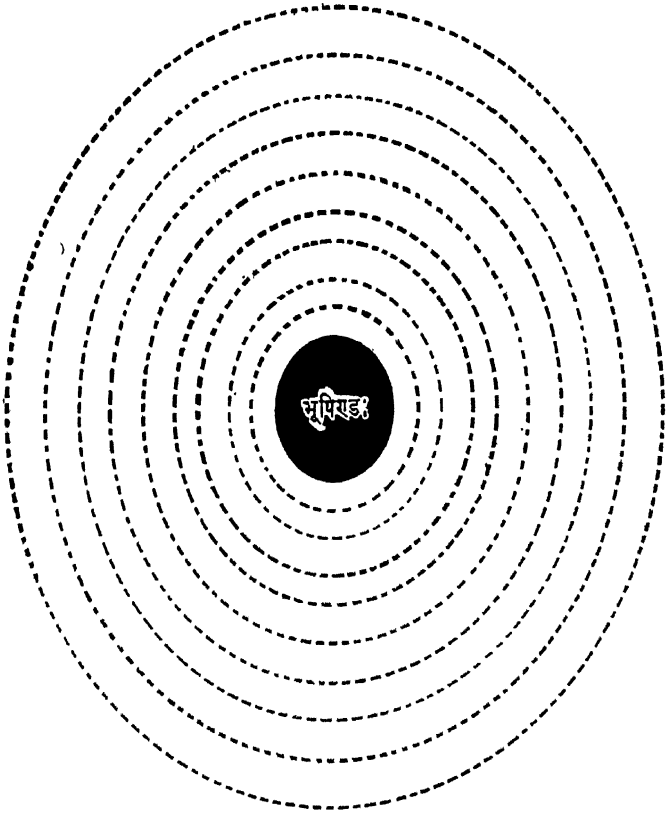

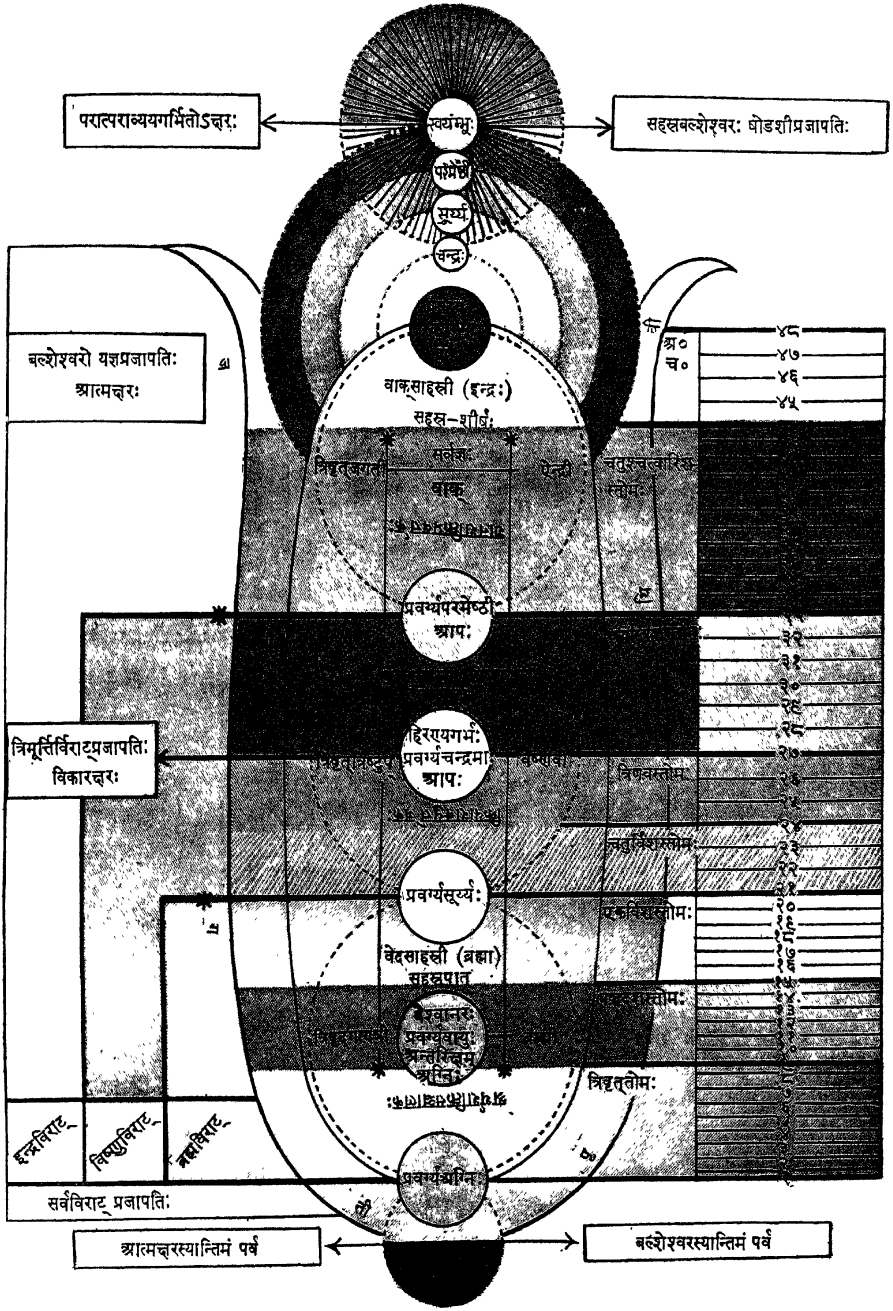
परात्पराव्ययगर्भितोऽक्षरः
स्वयंभूः
सहस्रबल्शेश्वरः षोडशीप्रजापतिः
परमेष्ठी
सूर्य्यः
चन्द्रः
बल्शेश्वरो यज्ञप्रजापतिः
आत्मक्षरः
वाक्साहस्री (इन्द्रः)
सहस्र-शीर्षः
सलेलः
त्रिवृत्जगती
वाक्
ऐन्द्री
चतुश्चत्वारिंश-स्तोमः
प्रवर्ग्यपरमेष्ठी
आपः
त्रिमूर्त्तिर्विराट्प्रजापतिः
विकारक्षरः
हिरण्यगर्भः
प्रवर्ग्यचन्द्रमाः
आपः
त्रिणवस्तोमः
त्रयस्त्रिंशस्तोमः
प्रवर्ग्यसूर्य्यः
वेदसाहस्री (ब्रह्मा)
सहस्रपात्
वैश्वानरः
प्रकम्पवायुः
अन्तरिक्षम्
अग्निः
त्रिवृत्तोमः
इन्द्रविराट्
विष्णुविराट्
ब्रह्मविराट्
प्रवर्ग्याग्निः
सर्वविराट् प्रजापतिः
आत्मक्षरस्यान्तिमं पर्व
बल्शेश्वरस्यान्तिमं पर्व

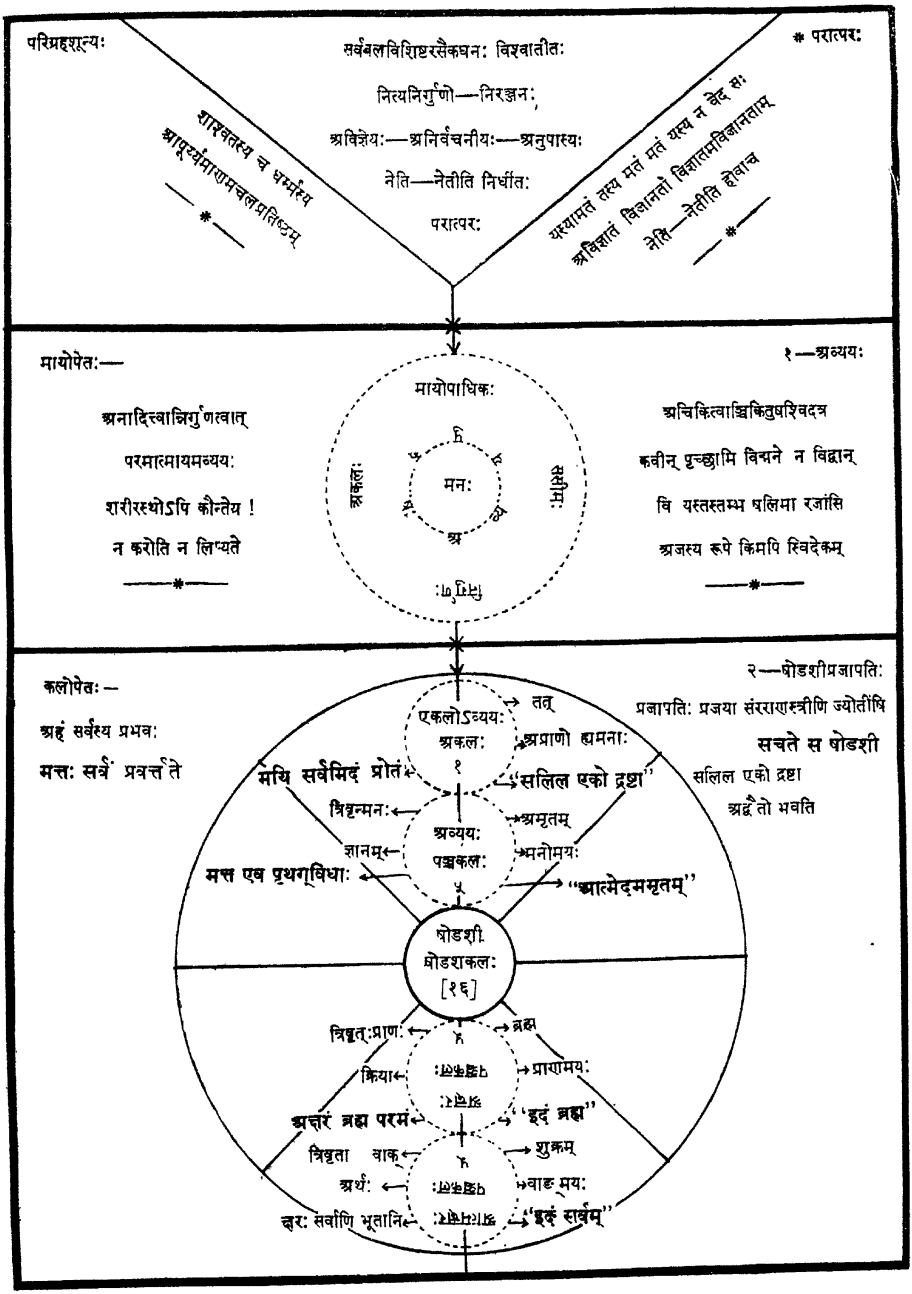
परिग्रहशून्यः
सर्वबलविशिष्टरसैकघनः विश्वातीतः
नित्यनिर्गुणो—निरञ्जनः
अविज्ञेयः—अनिर्वचनीयः—अनुपास्यः
नेति—नेतीति निर्धीतः
परात्परः
* परात्परः
शाश्वतस्य च धर्मस्य आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम्
यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः
अविज्ञातं विजानतो विज्ञातमविजानताम्
नेति—नेतीति हीवाच
मायोपेतः—
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्
परमात्मायमव्ययः
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय !
न करोति न लिप्यते
मायोपाधिकः
मनः
१—अव्ययः
अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र
कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांसि
अजस्य रूपे किमपि श्रितम्
कलोपेतः—
अहं सर्वस्य प्रभवः
मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते
२—षोडशीप्रजापतिः
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि
सचते स षोडशी
सलिल एको द्रष्टा
अद्वैतो भवति
एकलोऽव्ययः
अकलः
१
तत्
अप्राणो ह्यमनाः
"सलिल एको द्रष्टा"
मयि सर्वमिदं प्रोतं
त्रिवृन्मनः
ज्ञानम्
अव्ययः
पञ्चकलः
५
अमृतम्
मनोमयः
मत्त एव पृथग्विधाः
"आत्मेदममृतम्"
षोडशी
षोडशकलः
[१६]
त्रिवृत्प्राणः
क्रिया
अक्षरं ब्रह्म परमं
त्रिवृता वाक्
अर्थः
चरः सर्वाणि भूतानि
ब्रह्म
प्राणमयः
"इदं ब्रह्म"
शुक्रम्
वाङ्मयः
"इदं सर्वम्"

५८४–'क्षेत्रज्ञयोग' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, तन्निबन्धन गीताशास्त्र का रहस्यपूर्ण 'बुद्धियोग', एवं तद्रूप 'क्षेत्रज्ञविराट्' की उपासना से ही क्षुद्रविराट् का सम्भावित उद्बोधन---

यह अपनी निद्रा छोड़ता कब है, अथवा उस मोहनिद्रा से इसका पीछा कब, कैसे छूट सकता है ?, इसका उत्तर वही गीताप्रतिपादित बुद्धियोग है, जिसे कि पुराणने 'क्षेत्रज्ञोपासना' कहा है। कहा गया है कि, भूतात्मलक्षण विराट्प्रजापति का पिता पञ्चपर्वा अन्तरात्मलक्षण हृदयस्थ यज्ञप्रजापति है। यज्ञ-प्रजापति के शान्त-यज्ञ--विज्ञानादि पाँचों पर्वों में विज्ञानात्मा मध्यस्थ बनता हुआ पाँचों का संग्राहक बना हुआ है। जैसे पञ्चपर्वा आधिदैविक यज्ञप्रजापतिमण्डल में मध्यस्थ सूर्य्य अपने केन्द्रभाव के कारण सर्व--संग्राहक बना हुआ है, एवमेव सूर्य्यांशरूप मध्यस्थ विज्ञानात्मा (बुद्धि) ही यहाँ भी सर्वेसर्वा बनरहा है। अतएव इसके ग्रहण से अन्तरात्मा का ग्रहण चरितार्थ होजाता है। यही विज्ञानात्मा (अक्षरमूर्ति) "क्षेत्रज्ञ" नाम से प्रसिद्ध है। विराट् जबतक मन के चङ्गुल में फँसकर इन्द्रियों का दास बना रहता है, तबतक इस का उत्थान (निद्रा परित्याग) सम्भव नहीं। जब यह अपने मन को अन्तर्मुख बनाकर उसका क्षेत्रज्ञ (बुद्धि) लक्षण अन्तरात्मा के साथ योग करता है, तभी क्षेत्रज्ञयुक्त परमात्मज्योति का (अव्ययज्योति का) इस पर अनुग्रह होता है। इसी अनुग्रह से इस का उत्थान होता है। निष्कर्ष यही हुआ कि, महाविराट् का अंशरूप आपोमय शरीरपिण्ड में प्रसुप्त जीव नामक यह क्षुद्रविराट् अपनी प्रसुप्ति को दूर करने के लिए यदि क्षेत्रज्ञ का आश्रय लेलेता है, तो इसका उत्थान अवश्यभावी है। "यदा पश्यः पश्यते रुक्म वर्णम्"। रुक्मवर्ण (सूर्य्यांशरूप) क्षेत्रज्ञयोग [बुद्धियोग] ही इसकी जागृति का अनन्य साधन है। यही बुद्धियोगलक्षणा वास्तविकी विराडुपासना है। उपासक विराट् के प्रसुप्त-प्रबुद्ध इन्हीं दोनों भावों का स्पष्टी-करण करता हुआ पुराणशास्त्र कहता है–

१–हिरण्मयादण्डकोशादुत्थाय सलिलेशयात्।
तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्विभेद खम्॥

२–एते ह्यभ्युत्थिता देवा नैवास्योत्थापनेऽशकन्।
पुनराविविशुः खानि तमुत्थापयितुं क्रमात्॥

३–वह्निर्वाचा मुखं भेजे नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
घ्राणेन नासिके वायुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥

४–अक्षिणी चक्षुषादित्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
श्रोत्रेण कर्णौ च दिशो नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥

५–त्वचं रोमभिरोषध्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
रेतसा शिश्नमापस्तु नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥

६–गुदं मृत्युरपानेन नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
हस्ताविन्द्रो बलेनैव नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥
७–विष्णुर्गत्यैव चरणौ नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
नाड़ीर्नद्यो लोहितेन नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥
८–क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
हृदयं मनसा चन्द्रो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥
९–बुद्ध्या ब्रह्मापि हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
रुद्रोऽभिमत्या हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥
१०–चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा ।
विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत ॥
११–यथा प्रसुप्तं पुरुषं प्राणेन्द्रियमनोधियः ।
प्रभवन्ति विना येन नोत्थापयितुमोजसा ॥
१२–तमस्मिन् प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया ।
भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्यात्मनि चिन्तयेत् ॥

—श्रीमद्भागवते ३ स्कन्धे, २६ अध्याये

——*——

५८५–क्षेत्रज्ञयोगात्मिका विराडुपासना, एवं विकारक्षरोपासना का समतुलनात्मक-समन्वय—

क्षेत्रज्ञयोग ही विराडुपासना है। क्षेत्रज्ञयोगरूपा यह उपासना भी विराट् है, उपासना के साधनभूत मनः संयमादिलक्षण इन्द्रियधारणात्मक योग भी विराट है, उपास्य पार्थिव प्रजापति भी विराट् हैं, एवं उपासक शारीरिक आत्मा की विराट् है। यह उपासक, यह उपास्य, यह उपासना, एवं यह उपासना-साधन, इन चारो की समाष्टि का प्रकृत प्रकरण की विराडुपासना से कोई सम्बन्ध नहीं है। योगात्मिका उपासना का तो कर्म्मयोग-लक्षण यज्ञप्रजापति की उपासनाओं में हीं अन्तर्भाव मानना पड़ेगा, जैसाकि पूर्व के **पुराणयुगानुगत–उपासनामार्ग**–प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है। अब प्रश्न हमारे सामने यह बच जाता है कि, "प्रकृत प्रकरण की विराडुपासना का क्या स्वरूप है, एवं इस उपासना का क्या फल है?"। प्रश्न का समाधान प्रकरण के आरम्भ में हीं किया जाचुका है। वहाँ कहा गया कि–"जो स्वरूप आत्मक्षरात्मक सविकार यज्ञप्रजापति की उपासना है, प्रायः वही स्वरूप इस विकारक्षरोपासना, किंवा विराडुपासना का है। केवल कामभाव में अन्तर है"।

५८६–'अधिकार' भाव-निबन्धना उपासना के तारतम्य का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

पाठकों को स्मरण होगा कि विराडुपासना को हमने आधिकारिक अचेतन जीवोपासना कहा है, एवं यज्ञप्रजापत्युपासना को आधिकारिक चेतनजीवोपासना (अवतारोपासना) कहा है । साथ ही पूर्व प्रकरण का उपसंहार करते हुए यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि द्विजबन्धु–लक्षण द्विजातिवर्ग, एवं स्त्री-शूद्रवर्ग के अभ्युदय के लिए ही अवतारोपासना का विधान हुआ है । आगमशास्त्रोक्त उपासनामार्ग का अधिकार द्विजाति को है । एवं स्त्री-शूद्रवर्ग को उभयविध अवतारोपासना का अधिकार है ।

५८७–यज्ञोपासनात्मिका विराडुपासना का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवंतत्प्रतिकृतिमूलक यज्ञवितानरहस्य—

यदि सकामभाव है, तो वही उपासना विराडुपासना बन जाती है । सकामभाव में अचेतन विराट् की तत्तत्–पर्वविभूतियाँ प्राप्त होतीं हैं । इस सकामभूना विराडुपासना को हम **यज्ञोपासना, तिद्धयुपासना, देवोपासना** भेद से तीन भागों में विभक्त मान सकते हैं । तीनों क्रमशः पारस्परिक अपेक्षा से उत्तम–मध्यम–प्रथम मार्ग माने जायँगे । पहिले यज्ञोपासना को ही लीजिए । इसका अधिकारी–द्विजातिवर्ग रहेगा । जो ब्राह्मण, जो क्षत्रिय, किंवा जो वैश्य यथावत् शास्त्राध्ययन कर ब्राह्मणपद्धति का आश्रय लेना हुआ व्यक्ति–पुष्टि के लिए पार्थिव वैभव, एवं स्वर्ग–सुख की कामना के लिए (कामात्मनः स्वर्गपराः) काम्ययज्ञ पर्व में प्रवृत्त होगा, उसकी यह कामनामयी यज्ञोपासना उत्तमश्रेणि की विराडुपासना कहलाएगी । उत्तम इसे इसलिए कहा जायगा कि, इसमें विराट् का पूर्णरूप से समावेश रहेगा । इस वैधयज्ञमण्डल में गार्हपत्य–दक्षिणाग्नि–आहवनीय, ये तीन अग्नि रहेंगे । ये तीनों अग्नि विराट् के वैश्वानर–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ–इन तीन पर्वों की ही प्रतिकृति हैं ।

५८८–गार्हपत्य-धिष्ण्य-आहवनीय-रूप-त्रेताग्नि-वितान-स्वरूप-दिग्दर्शन—

यज्ञरहस्यवेत्ताओं को यह विदित है कि, वैधयज्ञवेदि के **हविर्वेदि, सोमवेदि** भेद से दो विभाग माने गए हैं । हविर्वेदि का मण्डप स्वतन्त्र होता है, एवं सोमवेदि का मण्डप स्वतन्त्र होता है । हविर्वेदि के पश्चिम भाग में वर्त्तुल गार्हपत्यकुण्ड बनाया जाता है, पूर्वभाग में चतुष्कोण आहवनीय, एवं दक्षिणभाग में अर्द्धचन्द्राकार दक्षिणकुण्ड बनाया जाता है । इसे याज्ञिकपरिभाषा में **"नूतन गार्हपत्य"** कहा जाता है, एवं हविर्वेदि का पश्चिमभागस्थ गार्हपत्य **"पुराण गार्हपत्य"** कहा जाता है ।

५८९–हविर्वेदि एवं सोमवेदि, से समन्विता यज्ञवेदि, तथा तत्स्वरूपवितान-समन्वय—

हविर्वेदि के आहनीयरूप, किन्तु सोमवेदि के नूतनगार्हपत्यरूप अग्निकुण्ड के आगे (पूर्व भाग में) **सदोमण्डप** रहता है । इस सदोमण्डप के मध्य में ६ अग्नि कुण्ड, एवं उत्तरदक्षिण में मार्जालीय, एवं आग्नीध्रीय ये दो अग्निकुण्ड, सम्भूय आठ (८) अग्निकुण्ड रहते हैं । इन आठों की समष्टि ही **"धिष्ण्य-अग्नि"** है । इसके आगे हविर्द्धानमण्डप है । इसमें शकटों पर सोमवल्ली रक्खी रहती है । इसके आगे उत्तरावेदि है । उत्तरावेदि के मध्य में चतुष्कोण आहवनीय है । यहीं सोमाहुति होती है । उत्तरावेदि के अन्त में यूप है । और हविर्वेदिगर्भित सोमवेदि का यही संक्षिप्त स्वरूप है ।

५६०—स्वर्गप्राप्त्युपायनिबन्धना यज्ञविराडुपासना का कामनामय फलसमन्वय—

हविर्वेदि भूपिण्ड की प्रकृतिकृति है, सोमवेदि २१ स्तोमावच्छिन्ना विराट् ब्राह्मी पृथिवी की प्रतिकृति है। सोमवेदि का गार्हपत्य (सत्याग्नियुक्त) मण्डल त्रिवृत् स्थानीय पृथिवीलोक है, यही वैश्वानर-मण्डल है। एवं आहवनीयमण्डल एकविंश स्थानीय द्युलोक है, यही सर्वज्ञ-मण्डल है। इसप्रकार यह वैध सोमयज्ञवितान उस विराट् प्रजापति की प्रतिकृति बना हुआ है। इसका यजन [सोमयज्ञ] ही विराट् का यजन है। यही यजन यज्ञात्मिका विराडुपासना है। स्वर्ग-कामना से की गई यह विराडुपासना स्वर्ग-प्राप्तिरूप अशाश्वत पुण्यफल की प्राप्ति का ही कारण बनती है।

५६१—आदित्यात्मक स्वर्गमण्डल, तन्निबन्धन कामभाव, तत्पूरक-यज्ञकाण्ड, एवं तदनुप्राणिता विराडुपासना, तथा विराडुपासना का प्रथम सोपान—

आदित्यमण्डल को ही स्वर्गलोक कहा जाता है, एवं यह आदित्य-मण्डल "एकविंशो वा इत आदित्यः" के अनुसार भूपिण्ड से २१ वे अहर्गण पर है। इसे ही याज्ञिक परिभाषा में नाचिकेत स्वर्ग, कहा जाता है। कठ ने इसी को "स्वर्ग्याग्नि" कहा है। यज्ञ के द्वारा मानुष भूतात्मलक्षण विराट् में उस दिव्य विराट् प्राण का आधान किया जाता है। इस आधान संस्कार से संस्कृत यह विराट् आयुर्भोगानन्तर आकर्षण वश वहाँ (स्वर्ग में) प्रतिष्ठित होजाता है। जबतक इस जीव विराट् में उस यज्ञविराट् का पुण्यरूप संस्कार प्रतिष्ठित रहता है, तबतक यह स्वर्ग सुख भोगता है। संस्कारविनष्टि पर पुनः इसे इसी मर्त्य भौम-धरातल पर जन्म लेना पड़ता है-"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके वसन्ति"। यही विराडुपासना का कामनामय यज्ञरूप पहिला प्रकार है।

५६२—आगमिक-ज्ञानानुगता, सिद्धिकामान्विता पर्वविराडुपासना का स्वरूप-समन्वय, एवं विराडुपासना का द्वितीय-सोपान—

जो द्विजाति वेदाध्ययनविरह से यज्ञ करने में असमर्थ हैं, केवल जिन्हें साधारण आगमिक-ज्ञान है, वे द्विजबन्धु कहलाते हैं। आगभोक्ता देवोपासना का कामभाव से अनुष्ठान कर इसके बल कर तत्तत् सिद्धियाँ प्राप्त करना ही इनका परम पुरुषार्थ रह जाता है। यज्ञोपासना में विराट् का सर्वात्मना ग्रहण था, परन्तु इस आगमिक-उपासना में सूर्य-गणपति-शिव-आदि विराट् के एक-एक अवयव की उपासना है। अतएव इसे हम उस की उपेक्षा नीची श्रेणि में मान सकते हैं। साथ ही यज्ञात्मिका विराडुपासना से विराट् मस्तकरूप २१ विंश स्थान मिलता है, परन्तु सिद्धिरूपा इस विराट् पर्वोपासना से विराट् गर्भ में प्रतिष्ठित तत्तद्देवतालोक ही प्राप्त होते हैं। जबतक सिद्धिसंस्कार है, तबतक तत्तल्लोक-स्थिति है। संस्कारा-भाव में पुनः वही जन्म-मृत्यु-प्रवाह।

५६३—अवैधोपासनात्मिका विराडुपासना से अनुप्राणिता अवतारोपासना, तदधिकारी-वर्ग, एवं विराडुपासना का तृतीय सोपान—

तीसरा स्त्री-शूद्रवर्ग है। यज्ञात्मिका उपासना का इन्हें अधिकार नहीं, आगमात्मिका उपासना की जटिल पद्धति का यथावत् अनुष्ठान करने की योग्यता नहीं। फलतः ये अविधिपूर्वक सूर्य को अर्घ्यप्रदान

करते हैं। अवतारपुरुषों की लीला का सकामभाव से अनुगमन करना, इत्यादि मार्ग ही इनके लिए शेष बच जाते हैं। एवं इस अवैध विराट् पर्वोपासना से भी आंशिक रूप से पर्वसंस्कार इन में प्रतिष्ठित होजाता है। क्योंकि इस में विधि का अभाव है, अतएव हमने इसे अन्तिम स्थान दिया है। अवश्य ही कामभाव के कारण तीनों हीं मार्ग अवर हैं, परन्तु पुण्यजनक होने से इन्हें भी शास्त्र में संगृहीत कर लिया गया है।

५६४–विराडुपासना-सोपानत्रयी के आपेक्षिक तारतम्य का स्वरूप-समन्वय—

उक्त तीनों हीं विराडुपासना मार्ग (समष्टिरूप नैगमिक विराडुपासनामार्ग, पर्वरूप आगमिक वैध विराट्पर्वोपासनामार्ग, एवं पर्वरूप अवैध विराडुपासनामार्ग) तीनों हीं यदि निष्कामभावमूलक हैं, तब तो इस उपासनत्रयी को यज्ञप्रजापत्युपासना कहा जायगा, यदि काममूलक हैं, तो इसे विराट्प्रजापत्युपासना कहा जायगा। दोनों उपासनाओं में यही अन्तर है। साथ ही यह भी विवेक कर लेना चाहिए कि–वहाँ की स्त्री–शूद्रवर्ग–सम्बन्धिनी उपासना का विशेष झुकाव आधिकारिक चेतनजीवों (नरावतारों) की ओर है, एवं यहाँ की उपासना का विशेष झुकाव आधिकारिक अचेतनजीवों की ओर है। चन्द्रदर्शन करके भोजन करना, सूर्य्यदर्शन करना, कार्त्तिक स्नान करना, इत्यादि अचेतनजीवोपासना में हीं अन्तर्भूत माने गए हैं। क्योंकि दोनों में पौराणिक भाव का समावेश है, अतएव यज्ञप्रजापत्युपासनावत् इस विराट् प्रजापत्युपासना को भी प्रकारान्तर से पौराणिक [नैगमिक--आगमिक--पौराणिक] उपासना मार्ग ही कह सकते हैं, परन्तु इसी विराट् के आधार पर आगे जाकर तत्त्वद्रष्टा दार्शनिकों की तत्त्वभक्ति का विकास हुआ है, अतएव हमने इसे **"दर्शनयुगकालीन उपासना"** मार्ग कहना अधिक समीचन समझा है, जैसाकि प्रकरणारम्भ में हीं स्पष्ट कर दिया है।

५६५–दार्शनिक-विद्वानों की स्वतन्त्रा दर्शनतत्त्वभक्ति, तन्निबन्धना तत्त्वोपासना, एवं तद्द्वारा ही निःश्रेयसाधिगम-संस्थापन-प्रयास—

दार्शनिकों का तत्त्ववाद, किंवा तत्त्वभक्ति एक स्वतन्त्र ही मार्ग है। यद्यपि ये लोकाशास्त्रसिद्ध यज्ञादि कर्म्मों का भी अनुष्ठान करते थे, परन्तु इन की प्रधान उपासना तत्त्वान्वेषण ही थी। और फिर यह भी एक माना हुआ सिद्धान्त है कि, जो व्यक्ति तत्त्वान्वेषण की ओर अपना मस्तिष्क झुका देता है, वह शास्त्रीय विधि-निषेधों के यथावत् अनुगमन करने में असमर्थ होजाता है। तत्त्वान्वेषण ही उसके जीवन की प्रधान उपासना बन जाती है। वह तत्त्वान्वेषण को ही, तत्त्वपरिज्ञान को ही उसके प्रचार द्वारा लोकाभ्युदयरूप परमार्थ में ही निःश्रेयस्भाव के दर्शन करने लगता है।

५६६–गोतम-कपिल-कणादादि दार्शनिकों की तत्त्वोपासना का संस्मरण—

गोतम, कपिल, कणाद, पतञ्जलि आदि का तत्त्वान्वेषण, उसके आधार पर सुसम्पन्न, न्याय, सांख्य, वैशेषिक, व्याकरण आदि ग्रन्थ ही इस तत्त्वभक्ति के ज्वलन्त उदाहरण हैं। वैय्याकरण शब्दतत्त्व परिज्ञान को ही मुक्ति का साधक मानते हैं-"**इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः**"। यही क्यों, महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने तो एक शब्द के सम्यक् प्रयोग से ही स्वर्गफलावाप्ति मानी है (देखिए महाभाष्य)।

५६७-दार्शनिकों की तत्त्वोपासनाभिनिवेशवृत्ति से अनुप्राणित-'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः'-सूत्र—

इसीप्रकार कणाद ने भी--"धर्म्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्म्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्" [वै० दर्शन १।१।४।] इत्यादिरूप से स्पष्टशब्दों में तत्त्वज्ञान को ही निःश्रेयसभाव प्राप्ति का कारण माना है। इसीप्रकार कपिल ने भी-'अथातस्तत्त्वे समासः" [१।१।....] कहते हुए तत्त्व को ही मुख्य माना है। तत्त्वसमास-सांख्य के अतिरिक्त सांख्यप्रवचनदर्शन का चतुर्विंशतितत्त्वगण भी प्रसिद्ध ही है। यहाँ भी प्रकृतितत्त्व, एवं पुरुषतत्त्व-विवेक को ही आत्मनिःश्रेयस् का चरम साधक माना गया है। "तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" कहते हुए महामुनि गोतम ने भी तत्त्वभक्ति ही प्रकट की है।

५६८-तत्त्वोपासनामूलक तात्त्विक-विराट् के विभिन्न तत्त्वों का संस्मरण, एवं भगवान् व्यास के द्वारा तत्समर्थन—

इन तत्त्वदर्शकों के रूप -रस-गुण--शब्द--स्पर्श--गन्ध--पृथिवी--जल--तेज--वायु--आकाश--काल-- दिक्--संख्या--गुरुत्व--द्रवत्व--परिमाण--पृथक्त्व आदि आदि जितने भी तत्त्व हैं, उन सब का अन्तर्भाव विराट्-प्रजापति में होजाता है। विज्ञानदृष्टि से भी तत्त्ववाद आत्मा के विकारज्वरप्रपञ्च पर ही परिसमाप्त है, एवं यही विकारसंघ विराटप्रजापति का स्वरूप-समर्पक बना हुआ है। दूसरे शब्दों में-सांख्योक्त २३ तत्त्वों की समष्टि ही विराट् प्रजापति है, जैसाकि पूर्व के पौराणिक विराट् प्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है। विराट् पुरुष की इसी विभूति का उल्लेख करते हुए व्यासदेव कहते हैं--

१—स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद्दृश्यमेकराट्।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक् ॥

२—सोऽप्यंशगुणकालात्मा भगवद्दृष्टिगोचरः।
आत्मानं व्याकरोदात्मा विश्वस्यास्य सिसृक्षया ॥

३—महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणाद्हंतत्त्वव्यजायत।
कार्य्यकारणकर्त्रात्मा भूतेन्द्रियमनोमयः ॥

४—वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा।
अहंतत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत् ॥
वैकारिकाश्च ये देवो अथ भिव्यञ्जनं यतः।

५—तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्म्ममयानि च।
तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः ॥

६—कालमायांशयोगेन भगद्वीक्षितं नभः।
नभसोऽनुसृतं स्पर्शं विकुर्वन्निर्म्ममेऽनिलम् ॥

७—अनिलोऽभि विकुर्वाणे नभसोरुबलान्वितः ।
ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम् ॥
८—अनिलेनान्वितं ज्योतिर्विकुर्वत् परवीक्षितम् ।
आधत्ताम्भो रसमयं कालमायांशयोगतः ॥
९—ज्योतिषाम्भोऽनुसंसृष्टं विकुर्वद्ब्रह्मवीक्षितम् ।
महीं गन्धगुणामाधात् कालमायांशयोगतः ॥
१०—भूतानां नभ आदीनां यद्यद्द्रव्यावरावरम् ।
तेषां परानुसंसर्गं यथासंख्यं गुणान्विदुः ॥
११—इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः ।
प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वरः ॥
१२—कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिरुरुक्रमः ।
त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत् ॥
१३—हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान् ।
आण्डकोश उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः ॥
१४—एष ह्यशेष सत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः ।
आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते ॥
१५—साध्यात्मः साधिदैव च साधिभूत इति त्रिधा ।
विराट्प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च ॥
१६—स्मरन् विश्वसृजामीशो विज्ञापितमधोक्षजः ।
विराजमतपत् स्वेन तेजसैषां विवृत्तये ॥

—श्री० भा० ३।५-६।

५९९-भारतवर्षीय तत्त्वोपासकवर्ग, एवं उस की 'तत्त्वोपासना' त्मिका विराडुपासना का स्वरूप-समन्वय—

अवश्य ही भारतवर्ष में एक ऐसा भी उपासक वर्ग था, जिसका एकमात्र कर्त्तव्य था तत्त्वान्वेषण, तत्त्वप्रचार, एवं उसके द्वारा लोकाभ्युदय । क्योंकि यच्चयावत् विकारतत्त्वों का पार्थिवविराट् प्रजापति के शरीर में ही अन्तर्भाव है, अतएव इन तत्त्वोपासक दार्शनिकों को, एवं तदनुयायिनी दर्शनसम्प्रदाय को भी हम अवश्य ही "विराडुपासक" कह सकते है । इसप्रकार पूर्व के तीन मार्गों के समन्वय से प्रकृत विराड्-पासनामार्ग के अवान्तर चार मार्ग होजाते हैं । इन चारों की श्रेष्ठता का विचार करने पर हम इस निष्कर्ष

पर पहुँचते हैं कि, तत्त्वात्मिका विराड्डपासना मे यद्यपि पर्वविराट ही उपास्य बनता है, परन्तु इस उपासना में लोकसंग्रहात्मक लोकाभ्युदय प्रतिष्ठित है। अतः इसे हम चारों में सर्वश्रेष्ठ कहसकते हैं। दूसरी में वैय्यक्तिक अभ्युदय है, अतएव समष्टिविराट से सम्बन्ध रखती हुई भी यह यज्ञात्मिका काममयी विराड्डपासना तत्त्वोपासना की अपेक्षा नीची श्रेणि मे प्रतिष्ठित है। तीसरी सिद्धिमूला काममयी आगमसम्मता विराट्पर्वोपासना में व्यक्तितुष्टि समान है, विराट् का अंश गृहीत है। अतः यह तीसरा मार्ग दूसरे मार्ग से भी नीची श्रेणि में प्रतिष्ठित है। चौथी शान्तिमूला काममयी अवैध उपासना में, और आगमोपासना में पर्व-काम-व्यक्ति-तुष्टि की दृष्टि से तो समानता है, परन्तु अवैधभाव के कारण यह तीसरे मार्ग से भी नीचे के धरातल में हीं प्रतिष्ठित मानी जायगी।

६००-विराड्डपासनानुगत-चतुर्विध-उपासनामार्ग, एवं 'दार्शनिक-युगानुगता-उपासना' का स्वरूप-विराम—

इन चारों मार्गों को [1]तत्त्वोपासना-यज्ञोपासना, [2]आगमोपासना-अवैधोपासना भेद से दो श्रेणियों में भी विभक्त किया जासकता है। प्रथमविभाग परकर्म्ममार्ग कहलाएगा, एवं दूसरा विभाग अवर-ज्ञानमार्ग कहलाए। इसप्रकार इतर उपासना मार्गों की भाँति इस विराड्डपासनामार्ग में भी कर्म्म-ज्ञान का भोग सुसंगत बन जाता है, जैसाकि निम्नलिखित परिलेख से स्पष्ट है—

१-तत्त्वात्मिका—उपासना—तत्त्वद्रष्टारः-अधिकारिणो दार्शनिकाः
२-यज्ञकर्म्मात्मिका-उपासना---पुण्यपापविवेकिनो द्विजातयः शास्त्रज्ञाः कामपरायणाः--याज्ञिकाः
३-सिद्धिरूपा----उपासना—आगमशास्त्रानुगता द्विजबन्धवो अधिकारिणः
४-अवैधा———उसापना—स्त्रीशूद्रवर्गः

———**———

१-तत्त्वोपासना—लोकसंग्रहमूला-दार्शनिकी
२-यज्ञोपासना——व्यक्तितुष्टिमूला नैगमिका (वैदिकी) } —कर्म्मयोगः--परः

३-सिद्ध्युपासना--- ,, आगमिका (आगममयी)
४-अवैधोपासना--- ,, स्वतन्त्रा (पुराणमयी) } —ज्ञानयोगः--अवरः

} —विराड्डपासना—चतुष्टयी

———**———

इति-"युगधर्म्मानुगता-विराड्डपासना"-नामके चतुर्थ-प्रकरणे

"दर्शनयुगानुगता-वैकारिकोपासना"

नामक

चतुर्थ-अवान्तर-प्रकरण-उपरत

४

श्रीः

इति-"युगधर्म्मानुगता-विविधोपासना" नामके चतुर्थ-प्रकरणे

"दर्शनयुगानुगता-वैकारिकोपासना"

नामक

चतुर्थ-अवान्तर-प्रकरण-उपरत

४

५) वर्त्तमानयुगानुगता-भूत-भौतिकी-उपासना से अनुप्राणित-पारिभाषिक-परिलेख—

"आवरणोपासना"-(भूतोपासना--भूतभौतिकी)

भूतानुगतं-सेवनात्मकं-भौतिकं-स्थूलकर्म्म-एव-उपासना
भूतात्मिका-आवरणशुक्रमयी
भौतिकी-भूतदेवोपासना-प्रतिमानोपासना-आत्मपचनात्मिका

—**—

१—भूतवाक्
२—भूतापः
३—भूताग्निः

—'भूतक्षरः'-तदिदं-भूतभौतिकविवर्त्तम्-मर्त्यभूतविवर्त्तमेव

(सैषा-आवरणोपासना-भूतोपासना वा-भूतात्मिका)

स एष उपास्यः-सेवनात्मकेन स्थूलकर्म्मणा-अनुकरणीयः

—**—

अनुकरणं--नाम--सेवाभावेन तत्पथानुगमनम्
तदनुसरणं वा
सैषा--आत्मपचनात्मिका--उपासना--कर्मैव
पञ्चमी
५

—**—

(सोऽयं-वर्त्तमानयुगः-पञ्चमः-कलियुगात्मकः)

१-भूतशुक्रात्मिका वाक्
२-भूतक्षरः
३-भूतार्थः
४-भूतवाक्

—तदेतत्सर्वं-वागेव-भूताक्षर-एव-"क्षरः सर्वाणि भूतानि"

—**—

श्रीः

"वर्त्तमानयुगानुगत-भौतिकोपासनामार्ग"

चतुर्थ-प्रकरणान्तर्गत--पञ्चम--अवान्तर--प्रकरण

५

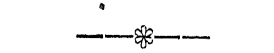

६०१-वर्त्तमानयुगानुगता उपासना-प्रसङ्ग से अनुप्राणित पञ्चविधयुगानुगत पञ्चविध-उपासनापथों का समष्ट्यात्मक स्वरूप-संस्मरण—

ज्ञानी भक्त से सम्बन्ध रखने वाली निर्गुण अव्ययोपासना, जिज्ञासा-लक्षण जिज्ञासु भक्त से सम्बन्ध रखने वाली सगुण-षोडशी-प्रजापत्युपासना [अक्षरोपासना, सहस्राक्षरेश्वरलक्षणा सर्वोङ्कारोपासना, पिपासा-लक्षण जिज्ञासु भक्त से सम्बन्ध रखने वाली सविकार-यज्ञप्रजापत्युपासना [आत्मक्षरोपासना, एकाक्षरेश्वर-लक्षणा उद्गीथोङ्कारोपासना, किंवा प्रणवोङ्कारोपासना, किंवा पर्वोङ्कारोपासना,] अर्थार्थीभक्त से सम्बन्ध रखने वाली साञ्जन-विराट् प्रजापत्युपासना, इन चारो उपासनाओं का क्रमशः देवयुगानुगत-उपासनामार्ग, वेदयुगा० उपा०, पुराणयुगा० उपा०, दर्शनयुगा० उपा०, इन चार प्रकरणों में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है।

६०२-दुःखार्त्त मानव से अनुप्राणिता वर्त्तमानयुगानुगता उपासना का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं आर्त्तमानवानुबन्धी कतिपय-प्रश्न, तथा तत्समाधानोपक्रम—

अब एक उपासकवर्ग बच रहता है, और वह है "आर्त्त", "दुःखी" सांसारिक कलहों से संत्रस्त। "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" के अनुसार अज्ञानजनित मोह से इन का स्वाभाविक ज्ञान-प्रकाश अभिभूत रहता है। जब ज्ञान का उदय नहीं, तो ज्ञानजिज्ञासा, ज्ञानपिपासा को कहाँ अवसर। अवश्य ही ऐसे मुग्धजन आंशिकरूप से अर्थार्थी बने रहते हैं। परन्तु मोहवश ये अभिलषित अर्थसिद्धि-साधक विराडुपासनामार्ग में भी प्रवृत्त नहीं होसकते। परमार्थ को गर्भ में रखता हुआ स्वार्थसाधक तत्त्वभक्तिरूप कर्म्ममार्ग, स्वार्थसाधक, किन्तु समष्टि-विराडुपासनात्मक काममय यज्ञकर्म्म, स्वार्थसाधक किन्तु पर्वविराडुपासनात्मक वैध-सिद्धिमार्ग, एवं स्वार्थसाधक पर्वविराडुपासनात्मक किन्तु अवैध शान्तिमार्ग, विराडुपासना से सम्बन्ध रखने वाले ये चारों हीं मार्ग इस आर्त्त-मुग्ध-अज्ञानी-जन्तु नामधारी व्यक्ति के लिए एकप्रकार से असम्भव से ही बने हुए हैं। इस के अभ्युदय का क्या उपाय ?, आर्त्त मनुष्य में किन उपायोंसे भक्तिबीज का वपन होसकता है ?, किन उपायों से उसे इस ओर आकर्षित किया जासकता है ?, प्रकृत प्रकरण इन्हीं कुछ एक प्रश्नों के समाधान के लिए प्रवृत्त हुआ है।

६०३–समष्टि-व्यष्ट्यात्मिका-विराडुपासना से अनुप्राणित उपासना के चार प्रमुख विवर्त्त–

विराडुपासना के उक्त चारों ही पर्वों में आधिकारिक अचेतन जीवलक्षण विराट् की ही समष्टि, किंवा व्यष्टिरूप से उपासना होती है। परन्तु आर्त्तभक्त से सम्बन्ध रखनेवाली यह सावरणा विश्वोपासना आधिकारिक अर्द्धचेतनजीव, आश्वत्थिक अचेतनजीव, आश्वत्थिक अर्द्धचेतन जीव, आश्वत्थिक अचेतन जीव–इन चार विश्वपर्वों से सम्बन्ध रखती है। गीताशास्त्र ने इन चारों का ही समर्थन किया है, जैसाकि पूर्व प्रकरणों में स्पष्ट किया जाचुका है।

६०४–विश्वविवर्त्तानुगता उपासना का 'जीववर्ग' से प्रमुख सम्बन्ध, एवं तदनुबन्धी आध्यात्मिक–आधिभौतिक–पर्व—

वेदयुगानुगत उपासनामार्ग का उपबृंहण करते हुए यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, भाया-सम्बन्धी अव्यय, कलागुणसम्बन्धी षोडशी, विकारसम्बन्धी यज्ञ, अञ्जन–सम्बधी विराट्, आवरणसम्बन्धी विश्व, इन पाँच आत्मविवर्त्तों में से आरम्भ के चार विवर्त्तों का तो आधिदैविक प्रपञ्च से सम्बन्ध है, एवं पाँचवें विश्वविवर्त्त का आध्यात्मिक, आधिभौतिक इन दो विवर्त्तों से सम्बन्ध है।

६०५–उपासनानुगत 'विश्व' शब्द का 'जीवात्मक' पारिभाषिक समन्वय—

पूर्व के विराट् स्वरूप से पाठकों को यह विदित हुआ होगा कि, विराट् में ईश्वरीय प्रपञ्च के शेष सभी पर्वों का समावेश है। स्वयम्भू आदि भूपिण्डान्त बल्शेश्वर का तो यज्ञप्रजापति में अन्तर्भाव था। शेष रहा था ब्राह्मी पृथिवी, वैष्णवी पृथिवी, ऐन्द्री पृथिवीरूप पार्थिवमहिमा-विवर्त्त। इस का विराट् में अन्तर्भाव होचुका। अब "विश्व" नामक कोई स्वतन्त्र उपास्य नहीं बचा, जिसकी उपासना शेष रही हो। इसी आधार पर हमने आत्मदेवता के इस विश्वपर्वको "जीवपर्व" कहते हुए जीवोपासना को ही "विश्वोपासना" कहा है।

६०६–विराडनुगता देवोपासना, एवं निगम, अनुगम–भेद–भिन्न उपास्य–तत्त्वों का नाम–संस्मरण—

विराडुपासना में भी देवोपासना बतलाई है। परन्तु वह देवोपासना नैगमिक-आगमिक–आधिकारिक अचेतन जीवों से सम्बन्ध रखती है, जोकि जीव स्वतन्त्र जीव न होते हुए विराट्-लक्षण महाजीव के अवयवरूप हैं। रुद्रादित्यवस्वग्नि-इन्द्रवरुणादि सभी प्राणदेवता विराट् के अवयव हैं। यज्ञकर्म्मलक्षणा यज्ञोपासना से विराट् के द्वारा ये सौर यज्ञिय अचेतन प्राणदेवता ही उपासित होते हैं, एवं ये ही नैगमिक [वैदिक] देवता हैं। गणपति–उच्छिष्टगणपति–दुर्गा–भैरव–पक्षिराज आदि प्राणदेवता आगमिक अचेतन देवता हैं। ये भी उसी विराट् के अवयव हैं। तन्त्रकर्म्मलक्षणा सिद्ध्युपासना से विराट् के द्वारा ये पार्थिव अचेतन प्राणदेवता ही उपासित होते हैं।

६०७–निगम, और आगम-शब्दों का पारिभाषिक-तत्त्वार्थ-समन्वय, सूर्य्यमूला निगमोपासना, तथा पृथिवी–मूला आगमोपासना के अवान्तर महिमाविवर्त्तों का स्वरूप–दिग्दर्शन—

निगम–आगम शब्दों की उपनिषत् क्रमशः सूर्य्य, एवं पृथिवी ही हैं। सौरीविद्या निगमविद्या है, पार्थिवीविद्या आगमविद्या है। सौर देवता ही प्रवर्ग्यरूप से पृथिवी में आकर पार्थिव देवता बनते हैं।

सौरतत्त्व स्वयं निर्गत होने से निगम है, पार्थिवतत्त्व निगमात्मक सूर्य्य से आगत होने के कारण आगम है। निगम ही आगम की मूलप्रतिष्ठा है। वह यज्ञविद्या है, यह तन्त्रविद्या है। इष्टि, पशु, सोम, महायज्ञ, अतियज्ञ, शिरोयज्ञ, यज्ञविद्याके ये ६ पर्व हैं। एवं पूर्वाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय, दक्षिणाम्नाय, उर्ध्वाम्नाय, अधराम्नाय ये, ६ तन्त्रविद्या के पर्व है। याज्ञिकदेवता सौरयज्ञिय देवता हैं, तान्त्रिकदेवता पार्थिव अयज्ञियदेवता है। यज्ञिय देवताओं को आत्मसात् करने का अधिकार केवल भारतवर्षीय वेदशास्त्रनिष्ठ जन्मसिद्ध द्विजाति-पुरुषवर्ग को ही है। परन्तु अयज्ञिय-तान्त्रिकदेवताओं की उपासना पृथिवी पर का कोई भी मनुष्य [दीक्षा-ग्रहणानन्तर] कर सकता है। प्रत्येक भाषा मे शाबर मन्त्र हैं। वे सभी पार्थिव देवताओं के संग्राहक है। इस तान्त्रिकमार्ग के आगेजाकर यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र-त्राटक-जारण-मारण-मोहन-उच्चाटन-वशीकरण आदि अवान्तर अनेक भेद होजाते हैं। जिन पार्थिव द्रव्यों में ऐसी शक्तियाँ हैं, उन सब का इन में निःसकोच परिग्रह कर लिया गया है। क्योंकि हमारा शरीर पार्थिव है, अतएव पार्थिव देवता से सम्बन्ध रखने वाली तान्त्रिक उपासना सिद्ध भी शीघ्र ही होजाती है, एवं इसका फल भी हमें यही उपलब्ध होजाता है। उधर सौर एकविंश स्तोम से सम्बन्ध रखनें वाली याज्ञिक उपासना में क्लेश भी अधिक है-[क्रियाविशेषबहुलां], एवं फल भी इस का अदृष्ट है। अतएव सामान्यजन इस में प्रवृत्त नहीं होते। जिन के वीर्य्य में जन्म से सौर द्विजातिवर्णप्रतिष्ठित होगा, साथ ही शास्त्रीय वर्णधर्म्मानुसार जिनका वर्णोचित संस्कार हुआ होगा, वे ही इस अदृष्टफल मूलिका यज्ञोपासना में प्रवृत्त होंगे, एवं वे ही इस मार्ग के अधिकारी माने जायँगे। साथ ही यह तो प्रत्येक दशा में सिद्ध ही है कि, जो द्विजातिवर्ग इस याज्ञिक सौर देवोपासना में, एवं तान्त्रिक पार्थिव देवोपासना में प्रवृत्त होगा, वह कामभाव के कारण स्वर्गभोग, एवं सिद्धिप्राप्ति का अभिलाषी बनता हुआ अर्थार्थीभक्त ही कहाजायगा।

६०८-निगमागमीय-प्राणदेवताओं के-'अचेतन-जीवत्व' के सम्बन्ध में शास्त्रानुगता महती विप्रतिपत्ति का उत्थान—

इस सम्बन्ध में पाठक यह प्रश्न कर सकते हैं कि, जिन रुद्र-वस्वादि सौर-प्राणदेवताओं को, एवं गणपति-पद्मिराज-दुर्गा आदि पार्थिव प्राणदेवताओं को **'आधिकारिक अचेतनजीव'** बतलाया गया है, स्वयं निगम, एवं आगमशास्त्रने बड़े विस्तार के साथ उन्हें चेतन मानते हुए सर्वशक्तिशाली सिद्ध किया है। और फिर आज का कोई भी सनातनधर्म्मी यह कब सहन रक सकता है कि, उसके उपास्य गणपति-दुर्गा आदि वे देवता, जिनके वाहन माने जाते हैं, जिनके शरीरों का ध्यान किया जाता है, जो समय समय पर अपने अनन्य भक्तों को प्रत्यक्षरूप से दर्शन देते रहते हैं, अचेतन हैं?। फिर लोकशास्त्र-विरुद्ध किस आधार पर इन्हें अचेतन कहने का साहस किया गया।

६०९-चेतन-अचेतन-शब्दों की शास्त्रीया-परिभाषा के माध्यम से विप्रतिपत्ति-निराकरण-प्रयास—

बात ठीक है। परन्तु साहस साहस है। वह शास्त्रका विरोध तो न कर सकेगा, परन्तु लोकनिष्ठा को सुरक्षित रखतेगा हुए अपने साहस को भी सुरक्षित अवश्य ही रक्खेगा। आप तो विराट् के अवयवरूप इन सौर-

पार्थिव देवताओं की कहते हैं। हमनें तो पूर्व-प्रकरण में स्वयं विराट् को भी आधिकारिक अचेतन जीव ही कहा है। चेतन-अचेतन की एक शास्त्रीय-निश्चित-परिभाषा है। एवं निश्चित-परिभाषा के आधार पर ही अचेतन-चेतन का वर्गीकरण होता है। अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। आयुःशास्त्र का 'सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्' वाक्य ही इस वर्गीकरण के लिए पर्य्याप्त है।

६१०-'सर्वाणीन्द्रियाणि अतीन्द्रियाणि' परिभाषामूलक चेतन-अचेतन-व्यवहार का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

अव्यक्त-महान्-विज्ञान-प्रज्ञान-इन्द्रिययुक्त-भाव ही चेतन कहलाएगा। केवल एक एक पर्व 'सर्वाणीन्द्रियाणि-अतीन्द्रियाणि' इस सिद्धान्त के अनुसार अनिन्द्रियकोटि में आता हुआ अचेतन ही माना जायगा। यज्ञेश्वरप्रजापति में स्वयम्भू अव्यक्त है, परमेष्ठी महान् है, सूर्य्य विज्ञान (बुद्धि) है, चन्द्रमा प्रज्ञान (मन) है, त्रिमूर्त्ति-विराट् प्राणदेवतात्मक इन्द्रियवर्ग है। अतएव इसे चेतन कहा जायगा। परन्तु स्वयं स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य आदि पर्व पृथक्त्वेन अनिन्द्रिय बनते हुए अचेतन ही माने जायँगे। यज्ञावच्छिन्न विराट् सेन्द्रिय बनता हुआ जहाँ चेतन कहलाएगा, वहाँ केवल विराट् अनिन्द्रियकोटि में आता हुआ अचेतन कहलाएगा। फिर विराट् के अवयवरूप सौर-पार्थिव देवताओं की अचेतनता का तो कहना ही क्या है।

६११-चेतनभावनिबन्धना अङ्गीदृष्टि, एवं अचेतन-भावनिबन्धना अङ्गदृष्टि, एवं तद्भेद-निबन्धन-चेतन-अचेतन-व्यवस्था-समन्वय—

यह ठीक है कि, पर्व पर्वी से अभिन्न हैं। यह भी सिद्ध विषय है कि-अचेतन अङ्ग की उपासना उसी प्रकार चेतन अङ्गी की उपासना (परम्परया) बन जाती है, जैसे कि आध्यात्मिक पर्वरूप गुरुचरणोपासना गुरूपासना बन जाती है। यह भी ठीक ही है कि, अचेतन अङ्ग तादात्म्यभावापन्न चेतन अङ्गी की शक्तियों के द्वारा अचेतनवत् यथेच्छ विग्रह धारण कर उपासक को वर प्रदान करता है। यह सब कुछ ठीक ठीक मानते हुए भी विशुद्ध अङ्गदृष्टि को जब हम लक्ष्य बनावेंगे, तो उसे हम अचेतन ही कहेंगे।

६१२-अङ्गोपासनात्मिका देवोपासना का अङ्गत्वेन अचेतनत्व-समन्वय—

आँख-कान-नाक-मुख-हाथ-पैर आदि हमारे पर्व प्रातिस्विकरूप से सर्वथा अचेतन हैं। अङ्गी आत्मा को लेकर ही ये चेतन माने जाते हैं। इन अचेतनों की उपासना से चेतन उपासित तो होगया, परन्तु यह पर्वोपासना कहलाएगी अचेतनोपासना ही। जितनी भी देवोपासनाएँ हैं, वे अङ्गोपासनाएँ हैं। अतएव वे सब विज्ञानदृष्टि से अचेतनोपासना हैं।

६१३- कर्म्म से असंस्पृष्टा ध्यानात्मिका अङ्गी-उपासना का चेतनत्व-समन्वय—

यह एक और भी रहस्य का विषय है कि, अचेतनोपासना में ही ऐन्द्रियकर्म्म का सम्बन्ध रहता है। दूसरे शब्दों में-कर्म्मात्मिका उपासना अचेतन की ही होसकती है। इस दृष्टि से यज्ञप्रजापति की यज्ञकर्म्मात्मिका उपासना भी अचेतनोपासना ही आठहरती है। कारण स्पष्ट है। इस अवयव-सम्बन्ध से ही तो यहाँ कर्म्म

का प्रयोग सम्भव बन जाता है। एकतः पाणिपाद उपास्य अचेतन उपास्य है, यहीं कर्म्म का सम्बन्ध है। एवं सर्वतः पाणिपाद उपास्य (षोडशी) ही एकमात्र चेतन उपास्य है। यहाँ की उपासना में कर्म्म का समावेश नहीं है। यह उपासना समानप्रत्ययप्रवाहरूपा बनती हुई केवल ध्यानात्मिका है। अङ्गी में कर्म्मप्रवेश सम्भव ही नहीं है।

६१४–लौकिक-उदाहरणधिया गुरूपासना के माध्यम से अङ्गीगुरु, और अङ्गगुरु-की उपासनाद्वयी का चेतन-अचेतनत्त्व-समन्वय—

उदाहरण के लिए गुरु को ही लीजिए। गुरु की उपासना अचेतन-चेतन-भेद से दो भागों में विभक्त मानी जासकती है। समष्टिरूप गुरु का शरीर (आत्मयुक्त अङ्गी शरीर) चेतनगुरु है, एवं गुरु के हाथ–पैर–मस्तक आदि अवयव अचेतनगुरु है। यदि कोई उपासक शिष्य चेतनगुरु की एकसाथ कर्म्मात्मिका उपासना करना चाहेगा, तो यह सम्भव न होगा। चेतनोपासना का तो भौतिक बहिरंग कर्म्मशून्य आभ्यन्तर ध्यान–कर्म्म से ही सम्बन्ध रहेगा। एककालावच्छेदेन शिष्य चेतनगुरु का (सम्पूर्ण शरीर का) ध्यान अवश्य करसकेगा, परन्तु कर्म्मप्रयोग में वह असफल ही रहेगा। कर्म्मात्मिका उपासना के लिए इसे चेतनगुरु के (शरीर के) अवयवरूप हस्तपादादि अचेतन अवयवों का ही आश्रय लेना पड़ेगा। अस्तु, इन सब विषयों का विशद वैज्ञानिक विवेचन **भक्तिपरीक्षा--उत्तरखण्ड** में विस्तार से होने वाला है। अभी केवल यही जान–लेना पर्य्याप्त होगाकि, ध्यानात्मिका उपासना हीं चेतनोपासना कहलाएगी, एवं कर्म्मात्मिका उपासना के यत्त्वयावत् विवर्त्त अचेतन उपास्यों से ही सम्बन्ध रक्खेंगे।

६१५–ध्यानात्मिका उपासना की द्वैतभावनिबन्धनता, एवं अद्वैतोपास्य, द्वैतोपास्य, द्वैतभूयस्त्वोपास्य-भेदेन उपास्य' तत्त्व के तीन महिमामय विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय—

एक बात ओर। ध्यानात्मिका उपासना में ध्याता–ध्येय ये दो पर्व हैं। अतएव इसे हम द्वैतोपासना कहेंगे। अभी एक उपासनामार्ग और बच जाता है। वह है ज्ञानात्मक मार्ग। यहाँ सेन्द्रिय चेतन–अनिन्द्रिय अचेतन, दोनों हीं भाव नहीं हैं, दूसरे शब्दों में दोनों हीं–**'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' हैं।** द्वैतभावशून्य यही मूलात्मा निर्गुण अव्यय है। इस की उपासना अद्वैतरूपा ज्ञानोपासना है। ध्यानरूपा द्वैतोपासना से भी इस का स्थान ऊँचा है। इस दृष्टि से इस उपासनामार्ग के ज्ञानात्मिका अद्वैतलक्षणा निर्गुणाव्ययोपासना, ध्यानात्मिका द्वैतलक्षणा षोडशीप्रजापत्युपासना, कर्म्मात्मिका द्वैतरूपा यज्ञप्रजापत्युपासना के भेद से तीन विवर्त्त होजाते हैं। इन तीनों उपास्यों के स्वरूप निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

न चित्-नाचित्, उभयं वा	१–अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः, अक्षरात् परतः परः सर्वेन्द्रियगुणाभासः सर्वेन्द्रियविवर्जितः	—निर्गुण अव्ययः (अद्वयः)
(अङ्गी) चेतनः	२–सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥	—षोडशीसहस्रबलशेश्वरः (द्वैतप्रवर्त्तकः)
(अङ्गानि) अचेतनानि	३–अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ— दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा	यज्ञप्रजापतिः एकबलशेश्वर (द्वैतरूपः)

६१६–चेतनाचेतनातीता-आत्मोपासना, चेतनोपासना, अचेतनोपासना–रूपेण उपासना के तीन विभिन्न पथों का योगत्रय-माध्यम से समन्वय—

निर्गुण अव्यय से सम्बन्ध रखने वाली ज्ञानात्मिका मनोमयी उपासना **'उप–आसना'** भाव के कारण उपासनालक्षणा **'उपासना'** कही जायगी (देखिए–उपासना और भक्तिका तारतम्य)। षोडशी चेतनप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली ध्यानात्मिका प्राणमयी उपासना **'भाग'** भाव के कारण भक्तिलक्षणा **'उपासना'** मानी जायगी। एवं अचेतन यज्ञप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली कर्म्मात्मिका वाङ्मयी उपासना **'अर्थ'** भाव के कारण कर्म्मलक्षणा उपासना कहलाएगी। एवं गीतापरिभाषा के अनुसार ये ही तीनों उपासना–मार्ग **ज्ञानयोग (उपासना), भक्तियोग (भक्ति), कर्म्मयोग (कर्म्म)** कहलाएँगे।

आत्मोपासना	१–अव्ययोपासना (मनोमयी)–**ज्ञानात्मिका**	**उपासना**	(ज्ञानयोगः)	—योगत्रयी
चेतनोपासना	२–षो०प्र०उपासना (प्राणमयी)–**ध्यानात्मिका**	**भक्तिः**	(भक्तियोगः)	
अचेतनोपासना	३–यज्ञप्र० उपासना (वाङ्मयी)–**कर्म्मात्मिका**	**कर्म्म**	(कर्म्मयोगः)	

———:*:———

६१७-सर्वसत्त्वप्रवर्त्तक-विराट्प्रजापति से अनुप्राणित-वाङ्मय-अचेतन-तृतीय-उपासना-पथ का स्वरूप-दिग्दर्शन—

उक्त तीनों उपासनामार्गों में जो तीसरा वाङ्मय, अतएव कर्म्ममय कर्म्मात्मक उपासनामार्ग है, परिग्रह के सम्बन्ध से आगे जाकर उसके तीन विवर्त्त होजाते हैं। विकारपरिग्रहयुक्त बल्शेश्वरप्रजापति को ही **'यज्ञ-प्रजापति'** कहा है। इस यज्ञप्रजापति का अन्तिम पर्वरूप भूपिण्ड अज्ञनपरिग्रह से युक्त होकर विकारभाव में परिणत होता हुआ विकारमूर्त्ति, किंवा २३ तत्त्वमूर्त्ति **विराट्प्रजापति**-रूपेण प्रादुर्भूत होता है। कर्म्ममूर्त्ति उस यज्ञप्रजापति का यही भूतग्राममय प्रथम अवतार है—(**आद्योऽवतारो यत्रासौ**)। विकारस्वरमूर्त्ति यही विराट्प्रजापति आवरण-परिग्रह से युक्त होकर वैकारिकभाव में परिणत होता हुआ वैकारिक **विश्वप्रजापति** (चतुर्द्दशविध-भूतसर्ग)-रूप में परिणत होता है। यही अचेन यज्ञप्रजापति का तीसरा विवर्त्त है। **"सर्वसत्त्व-प्रवर्त्तकः** (विराट्)-।

६१८-वाङ्मयी-भूतोपासना से अनुप्राणित पथ के अवान्तर तीन महिमा-विवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यज्ञप्रजापति को वाङ्मय बतलाया गया है। यह वाक् तत्त्व ही अमृत वाङ्मय वाक्-आपः-अग्निशुक्र, मर्त्यवाङ्मय वाक्-आपः अग्निशुक्र भेद से ६, किंवा दो भागों में विभक्त है। तीसरा रूप 'भूतवाक्' है। इस-प्रकार अमृतवाक् शुक्रत्रयी मर्त्यवाक्शुक्रत्रयी भूतवाक्पञ्चकभेद से उस वाङ्मय एक ही यज्ञप्रजापति के विकारपरिग्रहोपेत अमृतवाक्शुक्रमूर्त्ति यज्ञप्रजापति, अज्ञनपरिग्रहोपेत मर्त्यशुक्रमूर्त्ति विराट्प्रजापति, एवं आवरणपरिग्रहोपेत भूतवाङ्मूर्त्ति विश्वप्रजापति-भेद से तीन विवर्त्त होजाते हैं। वाक् का कर्म्म से सम्बन्ध है, अर्थ से सम्बन्ध है। इसीलिए इन तीनों उपास्यों को हमने वाङ्मय कहा है, एवं तीनों की उपासना को 'कर्म्मात्मिका' उपासना कहा है, जैसाकि तीनों प्रकरणों के शीर्षक-पृष्ठों से स्पष्ट है।

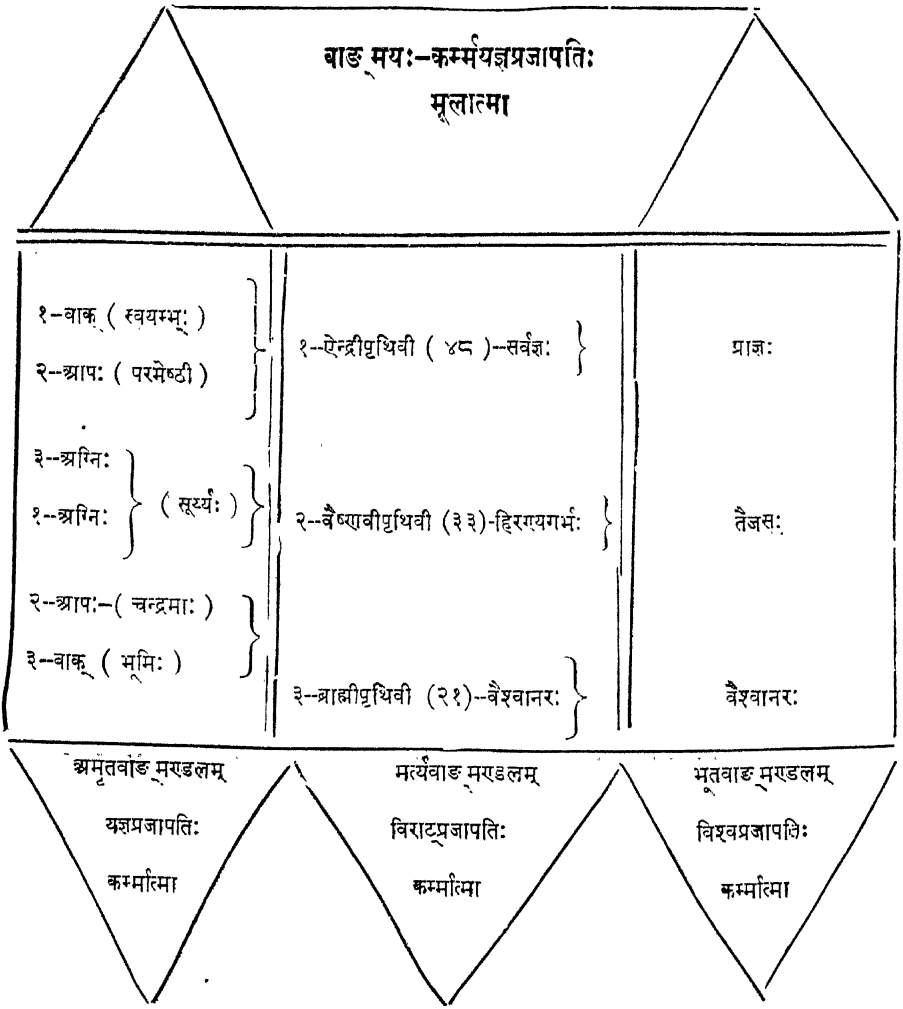
वाङ्मयः-कर्म्मयज्ञप्रजापतिः
मूलात्मा
१-वाक् (स्वयम्भूः)
२-आपः (परमेष्ठी)
३-अग्निः
१-अग्निः (सूर्य्यः)
२-आपः-(चन्द्रमाः)
३-वाक् (भूमिः)
१-ऐन्द्रीपृथिवी (४८)-सर्वज्ञः
२-वैष्णवीपृथिवी (३३)-हिरण्यगर्भः
३-ब्राह्मीपृथिवी (२१)-वैश्वानरः
प्राज्ञः
तैजसः
वैश्वानरः
अमृतवाङ्मण्डलम्
यज्ञप्रजापतिः
कर्म्मात्मा
मर्त्यवाङ्मण्डलम्
विराट्प्रजापतिः
कर्म्मात्मा
भूतवाङ्मण्डलम्
विश्वप्रजापतिः
कर्म्मात्मा

६१९–यज्ञोपासना, देवोपासना, भूतोपासना-भेद से यज्ञप्रजापति-निबन्धना विराडुपासना के तीन विभिन्न पथ, एवं तीनों के त्रिविध उपास्य-तत्त्व—

इसप्रकार वाग्भेदोपहित-परिग्रह-भेद से अचेतन यज्ञप्रजापति के तीन विवर्त्त होजाते हैं। सम्भूय उपासनामार्ग भी तीन के स्थान में पाँच भागों में विभक्त होजाता है। ये ही **देव-वेद-पुराण-दर्शन-वर्त्तमान-युगानुगत** पाँच उपासनमार्ग हैं। पाँच से अतिरिक्त और कोई छठा मार्ग नहीं होसकता। इन पाँचों मार्गो को हम क्रमशः **१-आत्मोपासना, २--ईश्वरोपासना, ३--यज्ञोपासना, ४--देवोपासना, ५--भूतोपासना,** इन नामों से भी व्यवहृत कर सकते हैं। आगे जाकर इनके जो अवान्तर अनेक भेद होजाते हैं, उन का तत्तत् प्रकरणों में स्पष्टीकरण किया ही जाचुका है। विवाद इस समय यज्ञोपासना-देवोपासना-भूतोपासना--इन तीन विवर्त्तों के सम्बन्ध में है। निष्कामयज्ञ–कर्म्मोपासना के अतिरिक्त यज्ञेश्वरप्रजापति के तीन विवर्त्तों से सम्बन्ध रखने वाली आधिकारिक चेतन–जीवोपासना (अवतारोपासना), आधिकारिक अचेतन जीवोपासना (प्राणदेवोपासना), आधिकारिक अर्द्ध चेतन जीवोपासना, आश्वत्थिक चेतन जीवोपासना, आश्वत्थिक अर्द्धचेतन जीवोपासना, आश्वत्थिक अचेतन जीवोपासना, इन विवर्त्तों में सांकर्य्य प्रतीत होता है, जिसे अपनी व्यवच्छेदबुद्धि से निकाल लेना हीं उचित है।

६२०–'आधिकारिक अचेतन जीव' नामक उपास्य तत्त्व का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय–

अवतारपुरुषों का एकमात्र यज्ञप्रजापतिलक्षण विष्णु से ही सम्बन्ध है। विष्णुयज्ञ के अंशावतार, किंवा पूर्णावतार मानवतनुधारी योगमायावच्छिन्न पार्थिव जीव—"**आधिकारिक चेतनजीव**" कहलाते है। क्योंकि ये यज्ञेश्वररूप हैं, अतएव इनकी उपासना का हम यज्ञप्रजापत्युपासना में हीं अन्तर्भाव मानेंगे। यद्यपि यज्ञप्रजापति स्वयं अचेतन है, परन्तु इस के नरावतार इन्द्रियभाव के कारण चेतन बन जाते हैं। अतएव इन यज्ञावतारों को-"आधिकारिक चेतन जीव" कहना सुसंगत बन जाता है।

६२१–उपासनानुबन्धी सूक्ष्मतम-पारिभाषिक-तथ्यों के माध्यम से साङ्कर्य्य का निराकरण-प्रयास, एवं व्यवच्छेदमूला व्यवस्थिता-पारिभाषिकी दृष्टि—

विराट्प्रजापति, विराट्प्रजापति के अवयवरूप सौरदिव्य नैगमिक रुद्रवस्वग्न्यादि प्राणदेवता, वि० प्र० के ही अवयवरूप पार्थिव आगमिक गणपति, पद्मिराज आदि प्राणदेवता, ये तीनों वर्ग विराट्प्रजापति से सम्बन्ध रखते हैं। क्योंकि विराट्प्रजापति स्वयं अचेतन है, इस के इतर दोनों विवर्त्त भी अचेतन ही माने जायँगे। अवतारवत् इन का नरशरीर नहीं है। अपितु अङ्गरूपसे ये तीनों हीं उस अचेतन यज्ञप्रजापतिधरातलपर प्रतिष्ठित हैं। अतएव इन्हें हम आधिकारिक अचेतन जीव ही कहेंगे। इन तीन पर्वों के आधार पर-विराडुपासना के प्रधान तीन पर्व होजाते हैं। काम्ययज्ञकर्म्मरूप यज्ञात्मक उपासनामार्ग की प्रतिष्ठा समष्टिरूप स्वय विराट्पुरुष है। इस विराडुपासनारूप यज्ञोपासना से ही तदन्तर्गभिता प्राणदेवोपासना भी गतार्थ बन जाती है। तत्त्वभक्तिरूप तत्त्वान्वेषणात्मक उपासनामार्ग की प्रतिष्ठा सौर पार्थिव प्राणदेवता हैं। एवं शिव–सूर्य्य-गणपति-दुर्गा-प्राणाराधनलक्षण सिद्ध्युपायभूता तान्त्रिकोपासना की प्रतिष्ठा पार्थिव अचेतन प्राणदेवता हैं। इसीलिए इस त्रिविध आधिकारिक-अचेतन जीवोपासना का हम अचेतन विराट्प्रापति में अन्तर्भाव

मान सकते हैं। स्त्री-शूद्रों के सम्बन्ध में लीलासंस्मरणरूपादि जिन अवतारोपासनादि का पूर्व के दोनों उपासनामार्गों में यत्रतत्र साङ्कर्य्य हुआ है, यज्ञप्रजापति के त्वित्व से ही सम्बद्ध मान कर वह साङ्कर्य्य हटा लेना चाहिए।

६२२–क्रमप्राप्त-उपासनापथानुबन्धी चार विवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अब हमारे सामने आधिकारिक अद्वैतचेतनोपासना, आश्वत्थिक चेतन जीवोपासना, आश्वत्थिक अद्वैतचेतनजीवोपासना, आश्वत्थिक अचेतनजीवोपासना, ये चार उपासनामार्ग शेष रहजाते है। इन चारों का किस उपास्यदेवता में अन्तर्भाव ?, इस का उत्तर यज्ञप्रजापति के आवरणात्मक कर्म्मरूप भूतवाङ्मय विश्वप्रजापति–विवर्त्त पर ही निर्भर है। इसी के स्पष्टीकरण के लिए इस प्रकारण का उपक्रम हुआ है।

६२३–लोकदृष्ट्या उपासना का स्वरूप-लक्षण समन्वय, एवं तल्लक्षण की सनातनता—

सबसे पहिले तो उपास्य के स्वरूप का ही विचार कीजिए। "जिस वस्तु से हम कुछ बल प्राप्त कर सकें, जिस पदार्थ के संसर्ग से हमारे आत्मा में कोई अतिशय उत्पन्न होजाय, वह वस्तु जड़ हो, अथवा चेतन, हमारा उपास्य है" यह है उपास्यदेवता का व्यापक लक्षण। सम्भव है एक अदूरदर्शी अवैज्ञानिक यथाजात बालिश उपास्य के उक्त लक्षण का मर्म्म न समझ सके। परन्तु भारतीय महर्षियों की दृष्टि में तो उपास्य का उक्त लक्षण ही सर्वेसर्वा बन रहा है। सिद्धान्तरूप से ही नहीं, अपितु व्यवहाररूप से भी। देवयुग-सत्ययुगादि श्रेष्ठ युगो में ही प्रचलित नहीं, अपितु आज के इस महाभयावह युग में भी भारतवर्ष की उस ग्रामीण-सभ्यता में उपास्यदेवता का उक्त लक्षण ही व्यवहार में प्रचलित रहा है, जो सभ्यता देव की विशेष अनुकम्पा से आजतक पश्चिमी सभ्यता के संसर्ग से बची हुई है।

६२४–उपयोगानुगत यच्चयावत् भूत-भौतिक-जड़-चेतन-पदार्थों की 'उपास्यरूपता' के सम्बन्ध में भारतीय महर्षियों की अद्वैतमूला ब्रह्मदृष्टि, और तन्निबन्धन सत्ता-ब्रह्म-प्रवाह-संरक्षण—

प्रतिदिन व्यवहार में आने वाला अन्न भी हम दकियानूसी भारतीयों की दृष्टि में "भगवान्" माना जाता है। हम भोजन के अवसर पर उसे **'अन्नभगवान्'** मानते हुए ही अपना अहरहर्यज्ञ सम्पन्न करते हैं [**अन्नं ब्रह्मेत्युपासीत**]। मार्ग में चलते हुए यदि कहीं चतुष्पथ [चौराहा] आजाता है, तो उसे रुद्रदेवता-मय मानते हुए आदरपूर्वक उस की सीमा से बाहिर होकर निकलना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं–[**एतद्वै-जान्धितमं प्रज्ञातं स्थानं, यच्चतुष्पथम्**" '–शत०२।६।२।७।]। तात्पर्य–इस भौतिक विश्व में चर-अचर-चेतन-अचेतन, ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं, जहाँ हम ब्रह्म की व्यापकसता का अनुभव न करते हों। अपनी योग्यता-नुसार यत्रतत्र सर्वत्र भगवद्भावना को व्यावहारिकरूप देते रहना ही हम ग्रामीणों का शाश्वत सम्प्रदाय है। साथ ही यह भी निश्चित बात है कि, संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं, जिस से हमारा उपकार न होता हो। दूसरे शब्दों में एक विशेष प्रकार से हम उन को उपकारक न बनालेते हों। प्रकारवैशिष्ट्य से जीवन नाशक विष [सँखिया] भी अमृत बनता देखा गया है, अमृत बन जाता है। फिर यों तो बुद्धिदोष से तो जीवनीय अन्न भी विष बन जाता है। जब योग्यतानुबन्धी प्रकारविशेषों से तत्तदवस्थाविशेषों में सभी पदार्थ हमारे

उपकारक बन जाते हैं, सभी से हम अपने आत्मामें अतिशय उत्पन्न कर सकते हैं, तो अवश्य ही पूर्वलक्षणानुसार पदार्थमात्र को हम "उपास्य" कह सकते हैं।

६२५–सुप्रसिद्ध–'कलम-दवात-पूजन' नामक लौकिक उदाहरण के माध्यम से भारतीय-उपासना-तत्त्व का स्वरूप-समन्वय-प्रयास–

इतनी दूर जाने की क्या आवश्यकता है। सर्वव्यापक इस उपास्यदेव के दर्शन के लिए भारतीय कुछ एक त्यौंहार ही पर्य्याप्त सिद्ध होंगे। वर्ष में एक बार 'दावातपूजनोत्सव' मनाया जाता है। जयपुरप्रान्त में तो यह उत्सव राजा-प्रजा सर्वत्र बड़े आवेश के साथ मनाया जाता था। राज्य में छुट्टी रहती थी। कलम-दावात् एवं कलमदान आदि की भगवत्प्रतिमा की भाँति धूप–दीप–नैवेद्यादि से पूजन होता था, जो आज के धर्म्मनिरपेक्षयुग में अब परिसमाप्तप्राय है। कारण स्पष्ट है। कलम दावात जड़ पदार्थ हैं, यह सार्वजनीन–प्रत्यय है। परन्तु इसके साथ ही यह भी सर्वसम्मत है कि, मनुष्य के राजनैतिक, सामाजिक, एवं आध्यात्मिक विकास का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इन जड साधनों की चिरकालिक उपासना [व्यवहार] से मनुष्य योग्यता के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित होता देखा गया है। प्रश्न यह शेष रह जाता है कि, यदि हम एक दिन इस का पूजन न करेंगे, तो क्या यह काम न देंगी ?। देंगी, और अवश्य देंगी। क्या दावातपूजन के नाम से भी अपरिचित पश्चिमी देश, अथवा सभ्यताभिमानी आजकल के शिक्षक भारतीय लेखनकला में पारङ्गत नहीं होते ?। हुए हैं, होते रहेंगे। फिर इस जड़पूजन के आडम्बर का क्या महत्त्व ?।

६२६–दिग्भ्रान्तों के आपातरमणीय 'सुन्दर' प्रश्नों के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन निवेदन—

प्रश्न वास्तव में सुन्दर है। और ऐसे ऐसे असंख्य प्रश्नों की इसी बाह्यसुन्दरताने हमारी भौलिकता का सर्वनाश भी किया है। पद पद पर देवभावना का अनुभव करने वाले दिव्यभावमय भारतीय इसी सुन्दरता के प्रलोभन में पड़ कर आज अपने उन शाश्वत दिव्यसंस्कारों को जलाञ्जलि समर्पित कर चुके हैं, जिन संस्कारों की विद्यमानता में सुविधाजनक असंख्य भौतिक आविष्कारों के न रहने पर भी वे पूर्ण शान्त थे, पूर्ण सुखी थे।

६२७–भारतीय बालबन्धु के जन्मानुगत 'उपास्य' तत्त्वानुबन्धी दिव्यसंस्कारों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

जन्म से ही हमें यह शिक्षा मिलती थी कि–देखो ! भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं। विश्व का प्रत्येक पदार्थ भगवान् की विभूति है, उसकी प्रतिमा है। तुम्हारा सम्पूर्ण व्यावहारिक जीवन इसी भावना को मूलमें रखते हुए आगे बढ़ना चाहिए। यही मानस संकल्प तुम्हें बलप्रदान करेगा, और इसी उपासनात्मक बल से तुम्हारा अभ्युदय होगा। कहना न होगा कि, पद पद पर 'मनोविज्ञान' की घोषणा करने वाले, किन्तु व्यवहारतः इससे सर्वथा पराङ्मुख उन प्रश्नकर्त्ताओं की अपेक्षा भारतीय आस्तिक वर्गने इस मनोविज्ञान को विशेष महत्त्व दिया। चटशाला में जाकर देखिए। काष्ठपट्ट पर लिखने वाला एक अबोध शिशु भी अक्षर लिखने के पीछे उन्हें मिटाकर अपने मस्तक पर लगा लेता है। उससे यदि आप यह पूछें कि, तुमने ऐसा

क्यों किया, ? ईश्वर-आत्मा आदि के रहस्यात्मक स्वरूपों से सर्वथा वञ्चित रहता हुआ वह अबोध शिशु भी "यह गणेश जी का प्रसाद है, विद्यामाता है" यह उत्तर देता हुआ आपकी आस्तिकता के गर्व को चूर्णित करदेगा।

६२८-परमार्थदृष्ट्या भगवत्सत्ता की सर्वव्यापकता, एवं तन्निबन्धना पदार्थमात्रानुबन्धिनी--उपास्यरूपता का स्वरूप--समन्वय—

परमार्थ में तो इस व्यापक-भगवद्भावना का विरोध हो ही नहीं सकता। कौनसा ऐसा पदार्थ है, चाहे फिर दावात हो, कलम हो, पत्थर हो, और कुछ हो, जिसमें ज्ञानघन श्वोवसीयस् अव्ययदेवता प्रतिष्ठित न हो। और इस परमार्थचैतन्यवाद की दृष्टि से तो सर्वत्र वही वह है। परन्तु अस्मत्-सदृश सामान्य अधिकारियों को भी क्रमशः इस व्यापक चैतन्यवाद का बोध होता जाय, इसी लोकानुशिक्षण-भावना से प्रेरित होकर उक्त जड़पूजनात्मक तत्तदुत्सवों का आविष्कार हुआ है। पूजन-न करने पर भी दावात से लाभ उठाया जासकेगा, परन्तु पूजन करने से जो दिव्यभाव आत्मा में प्रतिष्ठित होते हैं, उस लाभ के सामने एक दो प्रश्न तो क्या, सम्मिलिता प्रश्नसाहस्री की सुन्दरता भी कोई महत्त्व नहीं रखती। अस्तु, जाने दीजिए इस विषयान्तर को। प्रकृत विषय पर आइए। दुनिया क्या समझती है, क्या कर रही है, किधर जारही है?, यदि आप इसी उधेड़बुन में लगे रहेंगे, तो आप भी लक्ष्यच्युत होजायेंगे। आपको, और हमें तो क्यों, क्या, कैसे, के नारकीय पथ की उपेक्षा कर ऋषियों के द्वारा अनन्तकाल की सत्यपरीक्षाओं से परीक्षित आदेशानुगमन को ही प्रधान लक्ष्य बनाए रखना चाहिए।

६२९-आधिकारिक--अचेतन--उपास्य--जीवों के तात्त्विक--स्वरूप का दिग्दर्शन, एवं तत्र व्याससूत्र का संस्मरण—

आधिकारिक जीव, आश्वत्थिक जीव, भेद से जीव-विवर्त्त दो भागों में विभक्त माना गया है। आधिकारिक जीव का सामान्य नाम "अवतारजीव" है, एवं आश्वत्थिक जीव का सामान्य नाम "कर्म्मजीव" है। अवतारजीव कर्म्म करते हैं, कर्म्मजीवों से कहीं अधिक कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहते हैं। परन्तु वे कर्म्म पर आरूढ रहते हैं। वे कर्म्म के नहीं हैं, कर्म्म उनका है। कर्म्म उन पर कोई प्रभाव स्थापित नहीं करसकता। फलतः वे कर्म्मजनित संस्कारानुबन्धी द्वन्द्वभावों के [द्वन्द्वभावों में रहते हुए भी] पाशबन्धन से विमुक्त रहते हैं। अधिकृतकर्म्म पर आरूढ वे आधिकारिक जीव विश्वतन्त्र की अव्यवस्थाओं को दूर करते रहते हैं। तन्त्रायी विश्वेश्वर की इच्छा से अधिकार प्राप्त कर के आते हैं, और अधिकृतकर्म्म की समाप्ति पर तत्रैव विलीन होजाते हैं—"यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम" (व्यासमूत्र)।

६३०-'नित्य', तथा-'सामयिक' भेद से 'आधिकारिक-चेतन-जीवोपास्य' के दो विभिन्न विवर्त्त, एवं 'नित्य-आधिकारिक-चेतनोपास्यजीव' वर्ग का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय-

ये आधिकारिक जीव (जिन्हें कि अब हम अवतार शब्द से सम्बोधित करेंगे) नित्य, सामयिक भेद से दो प्रकार के हैं। सृष्टि के आरम्भ से अन्ततक (प्रलयतक) स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहने वाले अवतारजीव नित्य कहलाएँगे, एवं सृष्टिकाल में विशेष आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए विशेष समयों में

आविर्भूत होने वाले अवतारजीव "**सामयिक**" कहलावेंगे। आगे जाकर प्रत्येक के चेतन--अर्द्धचेतन--अचेतन--भेद से तीन तीन अवान्तर भेद होजाते हैं। पहिले क्रमप्राप्त नित्य त्रिविध अवतारजीवों की ही मीमांसा कीजिए। अष्टविध देवताओं में एक "**अभिमानी * देवता**" नाम का स्वतन्त्र देववर्ग है। यही अभिमानी देवता उपासना का मूल धरातल बनता है। आप देवताओं के जितनें भी नाम सुनते हैं, उन सब के अभिमानी, भौतिक, दो दो रूप हैं। भौतिकरूप अचेतन हैं, अभिमानीरूप चेतन हैं। अपने इन्हीं अभिमानी रूपों से तत्तद्देवता उपासकों पर अनुग्रह किया करते हैं। सूर्य्य--चन्द्रमा--विराट्--यज्ञ--इन्द्र--ब्रह्मा-वरुण--अग्नि-रुद्र--इन सब भौतिक तत्त्वों के अपने अपने स्वतन्त्र अभिमानी देवता हैं। इन्हीं के लिए--"**अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्**" यह कहा जाता है। ये चेतनदेवता नित्य हैं, सृष्ट्यारम्भ में अधिकृत कर्म्म को लेकर इनका आविर्भाव हुआ है, एवं प्रलयोपक्रम में इन का तिरोभाव होगा। अतएव इन्हें--"**नित्य आधिकारिक चेतन जीव**" कहा जासकता है।

६३१--'आधिकारिक-नित्य-अचेतन-उपास्यजीव' वर्ग का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं चेतन-अचेतन-अवतारोपास्यों का स्वरूप-संस्मरण—

यज्ञप्रजापति, विराट्प्रजापति, तत्पर्वरूप ३३ यज्ञियदेवता, आदि आदि भौतिक प्राणदेवतावर्ग अचेतन जीव माने जायँगे। ये अचेतन जीव अपने अभिमानी-लक्षण चेतन जीवों से नित्य युक्त रहते हैं। परन्तु उपासना, कर्म्म भेद से इन की दो स्थिति होजाती है। उपासना में चेतन जीव साध्य रहते हैं, अचेतन जीव साधन रहते हैं। सूर्य्यादि प्राणदेवताओं को लक्ष्य बना कर ही अभिमानी देवताओं से शक्तिलाभ किया जाता है। यज्ञकर्म्म में अचेतन जीव प्रधान बने रहते हैं। प्रत्यक्षदृष्ट अग्नि आदि द्रव्य ही प्रधान माने जाते हैं, परन्तु गौणदृष्टि से चेतनजीवों पर भी लक्ष्य अवश्य है। इधर विशुद्ध भौतिक विज्ञानकाण्ड में चेतन अभिमानी जीवों की सर्वथा उपेक्षा है। केवल अचेतन अग्नि--वायु--इन्द्र (विद्युत्) आदि पदार्थों का ही वर्त्तमान भौतिक वैज्ञानिक कर्म्म में समावेश है। चिदंश से वञ्चित, अतएव आत्यन्तिक जड़ भौतिक विज्ञान जहाँ विश्व को अधिकाधिक जड़ बनाता जारहा है, वहाँ चिदंशानुगृहीत यज्ञविज्ञानात्मक यज्ञकर्म्म किसी समय शान्तिसंवाहक बना हुआ था, यह तो सर्वविदित है ही। तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि--चेतन अभिमानी यज्ञावयवरूप कूर्म्म--वामन--वराहादि, विराट्--विराडवयवरूप--तत्त्वात्मक रुद्रवस्वादि पदार्थात्मक देववर्ग ही "**आधिकारिक अचेतन नित्य जीव**" कहलाएँगे। पूर्व के नित्य चेतन जीवों को (अभिमानी देवताओं को) यहाँ **चेतन अवतार** जहा जायगा, वहाँ इन तत्त्वलक्षण अचेतन जीवों को **अचेतन अवतार** माना जायगा।

---

* इन आठों देवताओं का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथ-भाष्य प्रथमखण्ड में निकल चुका है। विशेष जिज्ञासा रखने वालों को वही प्रकरण देखना चाहिए। यहाँ विस्तारभय से इस प्रकरण को छोड़ दिया जाता है।

६३२–'आधिकारिक-अर्द्धचेतन-उपास्य-जीव' वर्ग का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

तीसरा विभाग आधिकारिक नित्य अर्द्धचेतन जीवों का है। कौषीतकि उपनिषत्–की **पर्य्यङ्कविद्या** में जिन वृक्षादि का निरूपण हुआ है, वे नित्य अर्द्धचेतन आधिकारिक जीव माने जायँगे। ब्रह्मलोक * में रहने वाली अप्सराओं की अधिदेवता, द्वारपाल आदि का चेतन जीवों में अन्तर्भाव माना जायगा। स्वर्गीय मालाएँ, विरजानदी, आसन्दी, पर्य्यङ्क, इन सब उपकरणों का अचेतन जीवों में अन्तर्भाव माना जायगा, एवं वैदिक तिल्यवृक्ष, पौराणिक मन्दार--पारिजात--आदि स्वर्गीय वृक्ष नित्य अर्द्धचेतन जीव माने जायँगे। ब्रह्मादि-लोक शाश्वत हैं। उन की सृष्टि की अथ से इति पर्य्यन्त सत्ता रहेगी। अतएव इन स्वर्गीय वृक्षात्मक अर्द्ध-चेतन जीवों को हम अवश्य ही "**आधिकारिक अर्द्धचेतन नित्य**" जीव कहेंगे।

६३३–आधिदैविक-अर्द्धचेतन-उपास्य जीवों के विभिन्न पारिभाषिक-वर्गों का स्वरूप-समन्वय—

ओषधि वनस्पति–वर्ग को ही अर्द्धचेतन जीव माना गया है। मनुष्यकृत वैधयज्ञ में **सोमवल्ली, उदुम्बरवृक्ष, पलाश, श्रीपर्णी, काश्मर्य्य, अश्वत्थ** आदि जो ओषधि वनस्पतियाँ काम में लीं जाती है, इन सब का मूल आधिदैविक तत्तत् ईश्वरीय अङ्गों में मूलरूप से प्रतिष्ठित है। सोमवल्ली का मूलरूप तृतीय द्युलक्षण परमेष्ठी में हैं। (**तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्**)। पार्थिव गायत्री के द्वारा ही वह **'पर्ण'** भूपृष्ठ पर पार्थिव सोमवल्ली रूप में परिणत होता है। वहीं उदुम्बर का मूल है। वहीं अश्वत्थ है— "**अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता। गोभाज इत्किलासथ यत् सनवथ पूरुषम्**" इत्यादि अथर्वमन्त्रने इसी स्वर्गीय नित्यवृक्ष की महिमा का बखान किया है। पलाशवृक्ष का मूल स्वायम्भुव ब्रह्म-लोक माना गया है–"**पालाशो वै ब्रह्म**"। इन सब मूलरूपों को, जो कि ईश्वरीय–विभूतिमण्डल में सदा प्रतिष्ठित रहते हैं, नित्य अर्द्धचेतन जीव माना जायगा। नित्य शब्द से प्रकृत में ईश्वरीय आधिदैविक मण्डल ही अभिप्रेत है। एवं सामयिक शब्द उन पदार्थतत्त्वों का वाचक है, जो समय समय पर भूपृष्ठ पर आते, एवं जाते रहते हैं।

६३४-नित्य-चेतन-उपास्य-जीवों के विविध स्वरूपों का स्वरूप-संस्मरण—

अभिमानी यज्ञप्रजापति, यज्ञप्रजापति के अवयवरूप कूर्म्म--वामन, वराहादि नित्यावतार, विराट्प्रजापति, विराट्प्रजापति के अवयवरूप दिव्य [सौर] अग्नीन्द्ररुद्रवस्वादि देवता, पार्थिव (महिमायुक्त पार्थिव) शिव--शक्ति--गणपति--पक्षीराज आदि देवता, इन सब का ईश्वरीय आधिदैविक मण्डल से सम्बन्ध है, अतएव इन्हें हम अवश्य ही नित्य चेतन जीव कह सकते हैं।

६३५-चेतन-अर्द्धचेतन-अचेतन-भेद-निबन्धन त्रिविध उपास्यों का पारिभाषिक-समन्वय–

मौतिक पिण्डात्मक पञ्चपर्वा (आंशिकरूप से प्रत्यक्षदृष्ट) यज्ञप्रजापति, यज्ञप्रजापति के अवयवरूप, (आंशिक रूप से प्रत्यक्षदृष्ट) वामन--वराह--कूर्म्मादि, आंशिक रूप से प्रत्यक्षदृष्ट, दृश्यजगत् का आलम्बन-

---

* इस विषय का संक्षिप्त विवेचन श्राद्धविज्ञानान्तर्गत आत्मगत्युपनिषत् में, एवं विशद विवेचन कौषीतकि–ब्राह्मणोपनिषद्विज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

रूप पार्थिव विराट्प्रजापति, विराट्प्रजापति के अवयवरूप, आंशिकरूप से प्रत्यक्षदृष्ट भौतिक पदार्थ लक्षण इन्द्राग्नि–वाय्वादित्य दिव्यदेवता, अग्नि–उषा–गायत्री आदि पार्थिव देवता (पदार्थ), इन सब का भी ईश्वरीय आधिदैविक मण्डल से ही सम्बन्ध है। अतएव इन्हें भी हम अवश्य ही **नित्य अचेतन जीव** कह सकते हैं। एवमेव इसी दिव्यमण्डल से सम्बन्ध रखने वाले उक्तलक्षण मूलात्मक तत्तल्लोकावस्थित दिव्य ओषधि–वनस्पतिवर्ग को भी नित्य आधिकारिक अर्द्धचेतन जीव ही माना जायगा।

६३६–नित्य–आधिकारिक–अवताररूप–चेतनजीववर्गः (नित्यावतारपरिलेखाः)—

नित्यावतारः—

१–अभिमानीदेवता [यज्ञप्रजापतिः, विराट् प्र० तदवयवाश्च]—नित्यचेतनजीववर्गः

२–तत्त्वदेवता [यज्ञः, विराट्, अवयवाश्च]——————नित्य अचेतन-जीववर्गः

३–मूलदेवता [दिव्यलोकस्थौषधिवनस्पतयः]——————नित्य अर्द्धचेतन-जीववर्गः

——*——

६३७–[१]–यज्ञप्रजापतिः–(चेतनो नित्यः)। (एकबल्शेश्वरः)।

——*——

यज्ञप्रजापतिः—पञ्चपर्वा—

१–स्वायम्भुवः—ब्रह्मा–ऋषिप्राणप्रवर्त्तकः प्राणमयः [वाङ्मूर्त्तिः] अभिमानी चेतनः

२–पारमेष्ठ्यः—विष्णुः–पितृप्राणप्रवर्त्तकः–आपोमयः [अब्मूर्त्तिः] अभिमानी चेतनः

३–सौरः———इन्द्रः—देवप्राणप्रवर्त्तकः–वाङ्मयः [अग्निमूर्त्तिः] अभिमानी चेतनः

४–चान्द्रः———सोमः—गन्धर्वप्राणप्रवर्त्तकः–अन्नमयः [अब्मूर्त्तिः] अभिमानी चेतनः

५–भौमः———अग्निः–असुरप्राणप्रवर्त्तकः अन्नादमयः [वाङ्मूर्त्तिः] अभिमानी चेतनः

विष्णु–इन्द्र–सोम–अग्निगर्भितः, ब्रह्मणः संयती, विष्णोः क्रन्दसी, इन्द्रस्य रुद्रस्य वा इन्द्राग्निसोममयी रोदसी, इत्येतेषां भूर्भुवः स्वरात्मकानां महाव्याहृतिरूपाणां त्रयाणां लोकानां समष्टया सप्तवितस्तिकायात्मकः सर्वहुतयज्ञमूर्त्तिः, वाक्–आपः–अग्निः, अग्निः–आपः–वाक् इत्येतेषां षट्–शुक्राणामावासभूमिः, एकबल्शेश्वरः, सहस्रबल्शेश्वरस्य षोडशीप्रजापतेरवयवरूपः, नित्यावतारः सर्वावतारप्रवर्त्तकः समहिमः स्वाययम्भुवो ब्रह्मा वेदमूर्त्तिः–"**यज्ञप्रजापतिः**"। (संयती–प्रधानो द्युस्थानीयो ब्रह्मा)।

६३८ (२)–विराट् प्रजापतिः (चेतनो नित्यः)—(पार्थिवेश्वरः)।

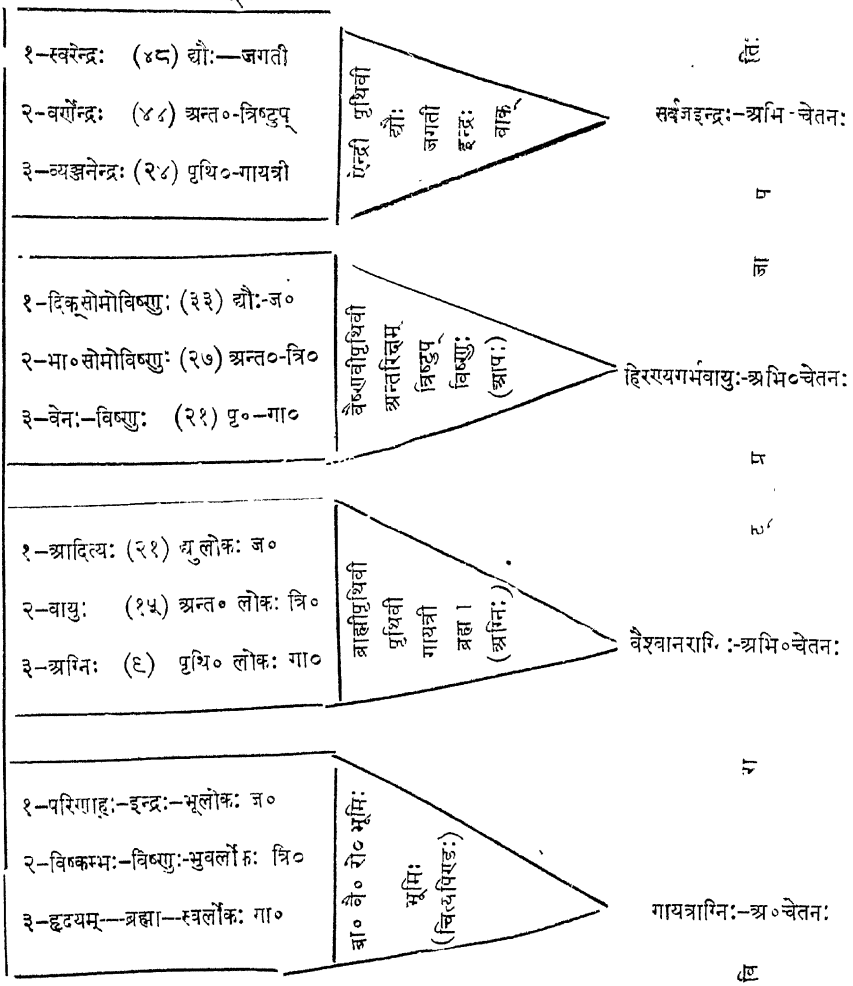

त्रैलोक्यत्रिलोकीरूपायां (रोदसीत्रिलोकीरूपायां वा) पृथिव्यन्तरिक्षद्यु रात्मिकायां महापृथिव्यां सहस्रशीर्ष-सहस्राक्ष-सहस्रपाद्रूपेण प्रतिष्ठितः, पद्भ्यां च भूमौ प्रतिष्ठितः, वाक्साहस्री-(वषट्कार) प्रवर्त्तक-सर्वज्ञेन्द्र,-लोकसाहस्री-प्रवर्त्तक-हिरण्यगर्भविष्णु,-वेदसाहस्री-प्रवर्त्तक-वैश्वानरब्रह्ममूर्त्तिः, वागापोऽग्निमयः, इन्द्र-वायु-अग्नि-प्रधानः, पार्थिवेश्वरः, यज्ञप्रजापत्यवयवरूप-भूपिण्डविवर्त्तभावात्मकः, यज्ञप्रजापतेः प्रथमावतारः, सर्वसत्त्वप्रवर्त्तकः, सर्वभूतान्तरात्मेति निगदितः, पारमेष्ठ्यो विष्णुः, लोकमूर्त्तैः—"**विराट्प्रजापतिः**" (क्रन्दसीप्रधानः–अन्तरिक्ष-स्थानीयो विष्णुः)।

——*——

६३६-(३)-कूर्म्मप्रजापतिः-(चेतनो नित्यः)-(अवयवावतारी-दिव्यः)।

१-स्वरेन्द्रो मघवा-(४८-स्तोमात्मकेद्यु लोके प्रतिष्ठितः-वाङ्मयः)-अभिमानी चेतनः २-वर्णेन्द्रो मरुत्वान्-(४४-स्तोमात्मकेऽन्तरिक्षेप्रति०--आपोमय.)-अभिमानी चेतनः ३-व्यञ्जनेन्द्रो वासवः-(२४-स्तोमात्के पृथि० प्रतिष्ठितः-अग्निमयः)-अभिमानी चेतनः	कूर्म्मप्रजापतिः

कूर्म्मत्रिलोकिप्रवर्त्तकः, वेदे--"**कश्यप-पश्यक कूर्म्म-आदित्ये**" ति प्रसिद्धः, पुराण-समये "**कश्यपप्रजापतिः-दक्षजामाते**"---ति प्रथितः, पार्थिवदध्ना (घनरसेन)-आन्तरीक्ष्य-घृतेन [तरलरसेन]-दिव्यमधुना (विरलरसेन) अभ्यक्तः (अभिषिक्तः), द्वादश-त्रयोदश-चा-दक्षकन्याभिः कृतमिथुनः, द्वादशधा विभक्तः कश्यपीसृष्टिप्रवर्त्तकः, रसत्रयमूर्त्तिः, त्रिदिव्येन्द्रकृतरूपः, विराट्प्रजापतेः शिरःस्थानीये ४८-४४-२४ स्तोमात्मके-द्यु--अन्तरिक्ष-पृथिवीरूपे, स्वर-वर्ण-व्यञ्जनमये त्रैलोक्यात्मके--ऐन्द्रपार्थिवलोके वाङ्मये द्युस्थानीये प्रतिष्ठितः, यज्ञप्रजापत्यवयव-भूतायां रोदसीत्रिलोक्या द्युलोके (सूर्य्ये) अन्तर्गर्भितायां--ऐन्द्री--त्रिलोक्यां प्रतिष्ठितत्त्वात्--यज्ञ-प्रजापतेरवयवः, विराट्प्रजापत्यवयवभूते--ऐन्द्र--लोके प्रतिष्ठितत्त्वात् विराट्प्रजापतेश्चावयवः-"**कूर्म्मप्रजापतिः**" (अवयवावतारो--"दिव्यः")।

६४०(४)वराहप्रजापति.-(चेतनो नित्यः)-(अवयवावतारः-आन्तरीक्ष्यः)।

१–दिक्सोमः----आदिवराहः (२-स्तोमात्मकेद्यु लोके प्रतिष्ठितः-वाङ्मयः) अभिमानीचेतनः २--भास्वरसोमः-ब्रह्मवराहः (२७-स्तोमात्मकेऽन्तरिक्षेप्रति०—--आपोमयः) अभिमानीचेतनः ३---वेनः———यज्ञवराहः (२१-स्तोमात्मके पृथि० प्रति०——--अग्निमयः) अभिमानीचेतनः	वराहप्रजापतिः

"एमूष[१]-ब्रह्म[२]--श्वेत[३]---यज्ञ[४]--आदिवराह[५]" इत्येतैः पञ्चरूपैः--**भूमिः[१]-चन्द्रमाः[२]--सूर्य्यः[३]-परमेष्ठी[४]-स्वयम्भूः[५]**" इत्येतेषां पिण्डभावानां (संवरण--व्याप्ति--भावाभ्यां) स्वरूपसम्पादको रक्षकः, वेदे---"**वराह–वायु–पशूनां मन्यु–मातरिश्वा**" इत्येवं प्रथितः, पुराणसमये च--"**वराहप्रजापतिः–पृथिवीपतिः–भूम्युद्धारकः**" इत्युपवर्णितः, अनेजदेजल्लक्षणे द्विब्रह्मणि (यजुःपुरुषे) तेजः–स्नेहलक्षणस्य भृग्वङ्गिरोमयस्य रेतोरूपस्य षड्ब्रह्मणः (अपां) आधाता, व्यन्तरिक्षविष्णुकृतरूपः, विराट्प्रजापतेर्हृदयस्थानीये ३३--२७--२१ स्तोमात्मके, द्यु--अन्तरिक्ष--पृथिवीरूपे--दिक्सोम--भास्वरसोम--वेन (तेजोमय्य आपः) मये त्रैलोक्यात्मके, वैष्णवपार्थिवलोके आपोमये अन्तरिक्षस्थानीये प्रतिष्ठितः, यज्ञप्रजापत्यवयवभूतायां रोदसीत्रिलोक्या-अन्तरिक्षलोके अन्तर्गर्भितायां वैष्णवीत्रिलोक्यां प्रतिष्ठितत्त्वात्–यज्ञप्रजापतेरवयवः, विराट्प्रजापत्यवयवभूते--वैष्णवलोके प्रतिष्ठितत्त्वात्--विराट्प्रजापतेश्चावयवः----"**वराहप्रजापतिः**" (अवयवावतारः--आन्तरीक्ष्यः)।

६४१ [५]-वामनप्रजापतिः [चेतनो नित्यः]-[अवयावतारः-पार्थिवः]-

१–आदित्यः–दिव्यवामनः [२१–स्तोमात्मकेद्यु लोके प्रतिष्ठितः-वाङ्मयः]-अभिमानी-चेतनः २–वायुः—-आन्त०वामनः[१५-स्तोमात्मकेऽन्तरिक्षे प्रतिष्ठितः–आपोमयः]-अभिमानी-चेतनः ३–अग्निः-—पा० वामनः [९–स्तोमात्मके पृथि० लो०प्रति–अग्नियमः]-अभिमानी-चेतनः	-वामनप्रजापतिः

गायत्री–छन्दसा त्रिवृत्स्यानीयं पृथिवीलोकमेकेनपदा, त्रैष्टुभेन छन्दसा पञ्चदशस्थानीयमन्तरिक्षलोकं द्वितीयेन पदा, एवं जागतेन छन्दसा एकविंशस्थानीयं द्युलोकं तृतीयेन पदा-आक्रम्य त्रिभिर्विक्रमैस्त्रैलोक्ये (उरुव्यत्रैलोक्ये)व्याप्तः-भूगर्भे च प्रादेशमिते स्थाने व्याप्तः सन् वामनो विष्णुः, वेदे–**उरुक्रमः–वामनः–म्लानविष्णुः–त्रिविक्रमः**"इत्येवंरूपेण स्तुतः, पुराणसमये च "**वामनावतारः-यज्ञपतिः-बलिवञ्चकः-"त्रिविक्रमावतारः**" इत्येवंरूपेणोपवर्णितः, **गङ्गा-तुलसी–लक्ष्मी–सरस्वती–पृथिवी**–इत्येताभिर्मिथुनीकृतरूपः पञ्चपत्नीकः, नाचिकेतस्वर्गाधिपतिः यज्ञसाक्षी, यज्ञविरक्षत्सन्वाता, वैकुण्ठनाथः, द्विभुजः, श्याममूर्तिः, मेघवर्णः, उपासकसमये च "**शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशम्**" इत्येवंरूपेण नुतः, संवत्सरे ८-४ इति क्रमेण शयानः प्रबुद्धश्च, त्रिपृथिव्यग्निकृतरूपः, विराट्प्रजापतेश्चरणस्थानीये–२१–१५–९ स्तोमात्मके द्यु–अन्त०–पृथिविरूपे, आदित्य–वायु–अग्निमये त्रैलोक्यात्मके ब्राह्मपार्थिवलोकेऽग्निमये पृथिवी-स्थानीये प्रतिष्ठितः, यज्ञप्रजापत्यवयवभूतायां रोदसी त्रिलोक्याः-पृथिविलोकेऽन्तर्गभितायां ब्राह्मी-त्रैलोक्यां प्रतिष्ठितत्त्वात् यज्ञप्रजापतेरवयवः, विराट्प्रजापत्यवयवभूते ब्राह्मलोके प्रतिष्ठितत्त्वात् विराट्प्रजापतेश्चावयवः—"**वामनप्रजापतिः**" (अवयवतारः–पार्थिवः)।

६४२-हरेः-पञ्चावताराः—

१-यज्ञप्रजापतिः---एकचत्वारिंशेश्वरः---पूर्णावतारः
२-विराट्प्रजापतिः—पार्थिवेश्वरः——अंशावतारः
३-कूर्म्मप्रजापतिः—महीश्वरः ———-अवयवावतारो दिव्यः
४-वराहप्रजापतिः—सागराम्बरेश्वरः—— ,, आन्तरीक्ष्यः
५-वामनप्रजापतिः—उर्व्वीश्वरः— ,, पार्थिवः

} हरेः पञ्चावतारः

६४३-यज्ञप्रजापतिरूप-ब्रह्मावतार-समर्थकानि वचनानि [१]—

१—ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् ।
श्येनो गृधाणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥
—ऋक्सं० ९।९६।६।

२—ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।१।

३—ब्रह्म वै स्वयम्भूः तपोऽतप्यत । तदैक्षत-न वै तपस्यानन्त्यमस्ति । हन्त ? भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि-इति । तत्सर्वेषु भूतेषु-आत्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि (हुत्वा)-सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं-स्वाराज्यं--आधिपत्यं--पर्य्येत् ।
—शतपथब्राह्मण १३।७।१।१।

———*——

६४४-विराट्प्रजापति-[अवतार]-समर्थकानि-वचनानि [२]—

१-- तस्मात्-विराट्-अजायत, विराजो अधिपूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥
—ऋक्सं० १०।९०।५।

२—आदित्य उकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औ–हौ–इकारः-प्रजापतिर्हिङ्कारः-प्राणः–स्वरः–अन्नं,–या वाक्–(सा) 'विराट्' ।

—छान्दोग्योपनिषत् १।१३।२।

३–पुरुषो ह नारायणोऽकामयत–अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि, अहमेवेदं सर्वं स्याम्–इति । स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं–यज्ञक्रतुमपश्यत् । तेन सर्वमभवत् । चत्वारिंशदक्षरा विराट् । तद्विराजमभिसम्पद्यते । ततो विराडजायत । विराजो अधिपूरुषः ।

—शतपथब्राह्मण १३।६।१।१,२,।

—— ※※ ——

६४५–कूर्म्मप्रजापति–[अवतार]–समर्थकानि–वचनानि [३]—

१—कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ।
स्वयम्भूः–कश्यपः कालात् , तपः कालादजायत ॥

—अथर्वसं० १९।५३।१०।

२—स यत्–कूर्म्मो नाम–एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत । यदसृजत–अकरोत्–तत् । यदकरोत्–तस्मात् कूर्म्मः । कश्यपो वै कूर्म्मः । तस्मादाहुः–सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः–इति ।

—शत० ७।५।१।५।

३—तां–पृथिवीं–संक्लिश्याप्सु–प्राविध्यत् तस्यै यः पराङ्रसोऽत्यक्षरत्–स कूर्म्मोऽभवत् ।

—शत० ६।१।१।१२।

४—स यः स कूर्म्मः, असौ स आदित्यः ।

—शत० ६।५।१।६।

——※※——

६४६-वराहप्रजापति [अवतार]–समर्थकानि–वचनानि [४]—

१—प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति ।
महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा "वराहो" अभ्येति रेभन् ॥

—ऋक्सं० ९।९७।७।

२—अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो 'मातरिश्वा' दधाति॥
—ईशोपनिषत् ४

३—तां—प्रादेशमात्रीं पृथिवीं—एमूष इति वराह उज्जघान। सोऽस्याः—पृथिव्याः—पतिः प्रजापतिः।
—शत० १४।१।२।११।

४—स—प्रजापतिः—वै वराहो रूपं कृत्वा उपन्यमज्जत्।
—तै० ब्रा० १।१।३।६।

——**——

६४७—वामनप्रजापति—[अवतार]—समर्थकानि—वचनानि [५]—

१—इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूलमस्य पांसुरे॥
त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्म्माणि धारयन्॥
—ऋक्सं० १।२२।१७,१८,।

२—ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति, अपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते
—कठोपनिषत् ५।३।

३—वामनो ह विष्णुरास। ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य छन्दोभिरभितः पर्य्यगृह्णन्।
—शत० १।२।५।५,६,।

——**——

६४८—'अवतार' शब्द का विष्णुदेवतानुगतत्त्व, एवं विष्णु के पारिभाषिक-अवतारधर्म्म का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

सम्भवतः पाठकों को यह स्मरण होगा कि, हमने अवतार का सम्बन्ध विष्णु से बतलाया था। ब्रह्मा, एवं इन्द्रात्मक शिव को तटस्थ माना था। बात वास्तव में ऐसी ही है, जैसा कि पाठक मूलभाष्य के "यदा यदा हि धर्म्मस्य०" इत्यादि प्रकरण में देखेंगे। अभी इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि—अवतार का मुख्य हेतु "धर्म्मग्लानि" का उपशम ही है। एवं धर्म्मतत्त्व के प्रधान अध्यक्ष विष्णुदेवता ही माने गए हैं। धर्म्म एक सत्य नियति है, (शत०१४।४।२।२६।)। सत्यनियति की प्रथम विकासभूमि "अपूतत्त्व" है (शत०७।४।१।६।)। अपूतत्त्व ही सोमतत्त्व है, यही विष्णु है। सोमसम्बन्ध से जहाँ आपोमय परमेष्ठीमण्डल वैष्णव कहलाता है, वहाँ सोम ही की घनावस्थारूप अपूतत्त्व के सम्बन्ध से इसे वारुण कहा जाता है। अपरिपक्व

पारमेष्ठ्य तत्त्व वरुण है, अतप्ततनु में इसी की प्रधानता रहती है। परिपक्व वही पारमेष्ठ्य तत्त्व विष्णु है। तप्ततनु में इसी का साम्राज्य रहता है। अतप्त आपोमय वरुण का तप्त–परिपक्व–सोम भाग ही भर्ग है, यही भर्ग यज्ञरूप विष्णु है। यही वारुण मण्डल से प्रवृक्त होकर दशधर्म्मरूप में परिणत हुआ है। दूसरे शब्दों में-आपोमय-भर्गात्मक वारुण धर्म्म ही सोममय विष्णुरूप से प्रवृक्त–होकर १० रूपों में परिणत होता है। **"दशकं धर्म्मलक्षणम्"** इस दशविध स्मार्त्त धर्म्म का मौलिक रहस्य भर्ग के ये ही १० रूप हैं। **"ददौ च दश धर्म्माय"** के पौराणिक आख्यान का भी यही मौलिक रहस्य है। क्योंकि धर्म्म की प्रतिष्ठा विष्णु है, अतः तद्ग्लानि के उपशम में इसी को पूर्णरूप से, अथवा अंशरूप से, अथवा अवयवरूप से आवश्यकतानुसार अवतार लेना पड़ता है। पूर्वोक्त पाँचों अवतार इसी विष्णु के नित्यावतार हैं।

६४९–दशावतारों से विभिन्न भगवान् वासुदेव-कृष्ण के पूर्णावतारतत्त्व का रहस्यात्मक-समन्वय—

(१) स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी इन पाँचों पर्वों की समष्टि में पूर्णभाव का समावेश है। सहस्रवल्शेश्वर षोडशी–प्रजापति की पूर्णता का, किंवा सर्वेश्वरता का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं पाँचों पर्वों को है। क्योंकि यज्ञप्रजापति में पाँचों का संग्रह है, अतः इसे अवश्य ही **"नित्य आधिकारिक–चेतन पूर्णावतार"** कहा जाता है। एकवल्शात्मक एक ब्रह्माण्ड ही इस का व्याप्तिस्थान है। ये ही पूर्णावतार गोलोकवासी व्रजविहारी, गोसवयज्ञधिष्ठाता अर्जुनमित्र [इन्द्रमित्र], औपनिषद ज्ञानप्रवर्त्तक गोविन्द भगवान् हैं, जैसाकि कृष्णतत्त्वनिरूपणकाण्ड में विस्तार से निरूपित है। इसी यज्ञेश्वर पूर्णावतार विष्णु की स्तुति करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

विष्णोः कर्म्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा॥

—ऋक्सं० १।२२।१९।

६५०–'पार्थिवेश्वर-अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

(२) इस यज्ञेश्वर प्रजापति के अन्तिम पर्वात्मक भूपर्व से विराट्-कूर्म्म-वराह-वामन, इन चार अवतारों का विकास हुआ है। भूपिण्ड, ब्राह्मी पृथिवी, वैष्णवी पृथिवी–ऐन्द्री पृथिवी, इन चारों की समष्टिरूप पार्थिव विवर्त्त ही विराट् की आवासभूमि है। अतएव इसे हम **"पार्थिवेश्वर"** कह सकते हैं। यही **"नित्य आधिकारिक चेतन अंशावतार"** कहा जाता है।

६५१–'महीश्वर-अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

(३) विराट्प्रजापति का शिरःस्थानीय ४८ स्तोमात्मक पार्थिव विवर्त्त **"मही"** नाम से प्रसिद्ध है। विराडवयभूत कूर्म्मप्रजापति का व्याप्तिस्थान यह मही नामक पार्थिव विवर्त्त ही है। अतएव इसे **'महीश्वर'**

कहा जासकता है। क्योंकि मही नामक पार्थिव विवर्त्त [ऐन्द्री पृथिवी] द्यु लोक स्थानीय है। अतएव इसे **"नित्यआधिकारिक चेतन दिव्य अवयवावतार"** कहा जायगा।

६५२–'सागराम्बरेश्वर-अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

[४] विराट्प्रजापति का हृदयस्थानीय ३३ स्तोमात्मक पार्थिव विवर्त्त **"सागराम्बरा"** नाम से प्रसिद्ध है। विराडवयवभूत वराहप्रजापति का व्याप्ति स्थान-सागराम्बरा नामक यही पार्थिव विवर्त्त है। अतएव इसे **सागराम्बरेश्वर** कहा जायगा। क्योंकि सागराम्बरा नामक पार्थिव विवर्त्त (वैष्णवी पृथिवी) अन्तरिक्ष–स्थानीय है। अतएव तत्सम्बन्धी वराहावतार को–**"नित्य आधिकारिक चेतन आन्तरिक्ष्य अवयवावतार"** कहा जायगा।

६५३–'उर्व्वीश्वर-अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

[५] विराट्प्रजापति का हृदय--स्थानीय २१ स्तोमात्मक पार्थिव विवर्त्त **"उर्व्वी"** नाम से प्रसिद्ध है। विराडवयभूत वामनप्रजापति का व्याप्तिस्थान उर्व्वी नामक पार्थिव विवर्त्त ही है। अतएव इसे **उर्व्वीश्वर** कहा जायगा। क्योंकि उर्व्वी नामक पार्थिव विवर्त्त [ब्राह्मीपृथिवी] पृथिवी--स्थानीय है। अतएव तत्र व्याप्त वामनावतार **"नित्य आधिकारिक चेतन पार्थिव अवयवावतार"** कहा जायगा।

६५४–विराट्प्रजापति के अवयवावतारों का स्वरूप-संस्मरण—

अवयव और अंश में कुछ अन्तर है, यह भी जान लेना चाहिए। अंश का प्रवर्ग्य से सम्बन्ध है, एवं अवयव का ब्रह्मौदन से सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए यों समझिए कि, पुत्र पिता का अंश है, एवं पिता के हस्त-शिरः-पादादि पिता के अवयव हैं। विराट्प्रजापति प्रवर्ग्यरूप से एक स्वतन्त्र संस्था बन जाती है। अतएव इसे यज्ञप्रजापतिसुत कहा जाता है। अतएव इसे हम **"अंशावतार"** कहते हैं। उधर कूर्म–वराह–वामन–प्रजापति विराट्संस्था के गर्भ में ब्रह्मौदनरूप से प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव इन्हें अवयवावतार कहा जाता है। अंशावतार यज्ञ का अवतार है। तीनों अवयवावतार विराट् के अवतार हैं।

६५५–चेतन-अचेतन-भेदनिबन्धन-अवतारों का स्वरूप-समन्वय—

अभिमानी–दृष्टि से ये ही पाँचों चेतन अवतार हैं, भूतदृष्टि से शरीररूप पाँचों की भौतिक संख्याएँ अचेतनावतार हैं। एवं ओषधि–वनस्पति के मौलिक नित्यरूप ही अर्द्धचेतनावतार हैं। इसप्रकार इन नित्य–आधिकारिक जीवों के तीन विवर्त्त होजाते हैं। इसके अनन्तर सामयिक आधिकारिक जीववर्ग हमारे सामने आता है। इसके भी ये ही तीन विवर्त्त हैं। दो शब्दों में इनके स्वरूप की भी मीमांसा कर लीजिए।

६५६–सामयिक-अवतारों का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय—

सामयिक आधिकारिक जीव वे जीव माने जायँगे, जो समय समय पर विशेष परिस्थितियों में विशेषरूप धारण कर अवतीर्ण हुआ करते हैं, एवं अधिकृत कर्म्म की समाप्ति पर लीलासंवरण कर लिया करते हैं। इन साम-

यिक आधिकारिक जीवों के भी चेतन, अचेतन, अर्द्धचेतन भेद से तीन विवर्त्त है। तीनों में से क्रमप्राप्त पहिले चेतनवर्ग को ही लीजिए।

६५७–गोसवयज्ञाधिष्ठाता पारमेष्ठ्य-विष्णु के अवतारों का नाम-संस्मरण—

[१] जिन नित्यचेतन अवतारो का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उन पाँचो हीं नित्यावतारों के सामयिक अवतार भी हुए हैं। समुद्रमन्थन के अवसर पर कूर्म्मावतार [कूर्म्माकृतिरूप] हुआ है। जलप्रलयावसर पर भूपिण्ड की रक्षा के लिए शूकरावतार हुआ है। बलिगर्वहरण के लिए वामन अवतार हुआ है। आगे–जाकर पूर्वोक्त नित्यावतारों के १० अवान्तर विवर्त्त होजाते हैं, जोकि "**दशावतार**" नाम से प्रसिद्ध हैं। ये १० सों हीं अवतार उस पूर्णावतार--लक्षण यज्ञप्रजापति--नामक गोसवयज्ञाधिष्ठाता विष्णु [कृष्ण] के ही अवतार हैं।

६५८–सामयिक-दशविध अवतारों का नामस्मरण, एवं-'सामयिक-आधिकारिक-अचेतनोपास्य-अवतार-जीवों का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय—

सामयिक अवतारों में मीन, कूर्म्म, वराह, वामन, बलराम, परशुराम, राम, बुद्ध, कल्की, नृसिंह, ये १० अवतार प्रसिद्ध हैं। यह एक रहस्य का विषय है कि, इन १० सों अवतारों में सुप्रसिद्ध कृष्णावतार का नाम नहीं है। कारण इस का यही है कि, दसों अवतार उस कृष्णमूर्त्ति यज्ञप्रजापति पूर्णावतार के ही अंशावतार हैं। एवं वासुदेव कृष्ण इस पूर्णावतार की ही प्रतिकृति हैं। नित्यावतारों में जो महत्त्व उस यज्ञप्रजापति का है, सामयिक अवतारों में वासुदेव कृष्ण का वही स्थान है। दोनों अभिन्न हैं। पूर्णावतारलक्षण यज्ञप्रजापति के स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी, ये पाँच पर्व हैं। इधर वासुदेव कृष्ण नामक सामयिक अवतार–पुरुष में भी ये पाँचों धर्म्म प्रतिष्ठित हैं, जिन की कि विस्तृत मीमांसा **मानुषोत्तमकृष्णरहस्य** में की जाचुकी है। यही कारण है कि–अन्य अवतार जहाँ अंशावतार कहलाए हैं, वहाँ कृष्णावतार "**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**" के अनुसार पूर्णावतार कहलाए हैं। अतएव परमभागवत श्रीजयदेव ने दसों अवतारों को कृष्णाकृति-रूप ही रूप ही बतलाया है। '**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः**' कहते हुए स्वयं गीताचार्य्यने भी वासुदेवकृष्ण की सर्वलक्षणा पूर्णावतारता ही सिद्ध की है। वक्तव्यांश यही है कि-'**बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि**' के अनुसार समय समय पर विशेषरूप धारण कर धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए जन्म धारण करने वाले राम-कृष्णादि-मानुषावतार, मीन-कूर्म्मादि जलीय अवतार, नृसिंह-पक्षीराज आदि अर्द्धमानुषावतार हुआ करते हैं। ये ही "**सामयिक चेतन आधिकारिक जीव**" कहलाए हैं।

६५९–भागीरथी, शालग्रामशिला, आदि के सामयिक-अवतारों का का स्वरूप-संस्मरण–

(२) दूसरा विभाग सामयिक अचेतन आधिकारिक जीवों का है। गङ्गा, यमुना, सरस्वती, सरयू, आदि दिव्यनदियाँ, शालग्रामशिला आदि अचेतन आधिकारिक जीव माने जायँगे। गङ्गावतार भगीरथ के प्रयास से सगरपुत्रों के उद्धार के लिए हुआ था। पुराण के मतानुसार कलि के ५ सहर्ष वर्ष पर्य्यन्त गङ्गातत्त्व भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित रहा। सम्वत् १९५६ में यह तत्त्व लीलासंवरण कर गया। यही इस की सामयिकता है। शालग्रामशिला का माहात्म्य कलिके १० सहस्रवर्षों पर्य्यन्त रहेगा। अतएव यह अचेतनावतार भी सामयिक अवतार ही माना जायगा।

६६०–दिव्योषधि-दिव्यवनस्पति-आदि के सामयिक-अवतारों का स्वरूप-संस्मरण —

(३) तीसरा विभाग सामयिक अर्द्धचेतन आधिकारिक जीवों का है। तुलसी, सोमवल्ली, आदि कतिपय दिव्य ओषधि--वनस्पतिवर्ग सामयिक अर्द्धचेतन अवतार माने जायँगे। "त्रेतायां बहुधा सन्ततानि" के अनुसार त्रेतायुग में प्रचलित, परीक्षित से परीक्षित पर्य्यन्त (शत० ब्रा०) संचरित यज्ञ की सिद्धि के लिए ही उस नित्य अर्द्धचेतनरूप सोम का अवतार हुआ था। यज्ञविद्याविलुप्ति के साथ साथ इस सामयिक सोमवल्ली का भी लीलासंवरण होगया। इसी आधार पर इसे हमने सामयिक अर्द्धचेतन अवतार कहा है।

६६१–आधिकारिक उपास्य-तत्त्व के विभिन्न ६ वर्गों का तात्त्विक स्वरूप-निदर्शन—

इसप्रकार आधिकारिक, आश्वत्थिक, इन दो जीववर्गों में से पहिले आधिकारिक जीववर्ग के नित्य–सामयिक भेद से दो भेद होते हैं, प्रत्येक के आगे जाकर तीन तीन विभाग होजाते हैं। सम्भूय आधिकारिक वर्ग के ६ विभाग होजाते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

नित्यावताराः
१–१–नित्याः, आधिकारिकाः, चेतनजीवाः [यज्ञः, विराट्, कूर्म्मः, वराहः, वामनः, अभिमानिनः]
२–२–नित्याः, आधिकारिकाः, अचेतनजीवाः [यज्ञः, विराट्, कूर्म्मः, वराहः, वामनः, भौतिकाः]
३–३–नित्याः, आधिकारिकाः, अर्द्धचेतनजीवाः [अश्वत्थः, सोमः--इत्यादयो भौतिकाः]।

—*—

सामयिकाः
४–१–सामयिकाः, आधि०, चेतनजीवाः [मीनः, कूर्म्मः, वराहः, वामनः, रामः,–इत्यादयः]।
५–२–सामयिकाः, आधि० अचेतनजीवाः [गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शालग्रामः]।
६–३–सामयिकाः, आधि० अर्द्धचेतनजीवाः [सोमवल्ली, अन्ये च दिव्यवृक्षाः]।

—*—

६६२–नित्य-आश्वत्थिक-जीवों का पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन—

दूसरा विभाग आश्वत्थिक जीववर्ग का है। कर्म्माश्वत्थजीव ही आश्वत्थिक जीव कहलाता है। इस आश्वत्थिक जीव के भी नित्य–सामयिक भेद से दो विवर्त्त हैं। प्रत्येक के पूर्ववत् तीन तीन विवर्त्त हैं। पहिले नित्यवर्ग को ही लीजिए। चान्द्रमण्डल में रहने वाले सौम्य शरीरधारी, [ईश्वरीय आधिदैविक मण्डल से सम्बन्ध रखने वाले] ब्रह्म–प्रजापति–इन्द्र–पितर–गन्धर्व यक्ष–राक्षस–पिशाच, ये आठ देवयोनियाँ, जन्म–मृत्युचक्र में सदा के लिए प्रवाहित मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि, कीट, आदि पार्थिव जीव, ये सब **"नित्य आश्वत्थिक चेतन जीव"** कहलाएँगे। प्रतिसंचरक्रम में हीं ये मुक्त होंगे।

६६३–विभिन्न–सामयिक- आश्वत्थिक-जीवो का पारिभाषिक–स्वरूप–दिग्दर्शन—

तमोमय कर्म्मवश जौ--गेहूँ--निम्ब–नारिकेल,-खर्जूर-तालादि रूपों में परिणत ओषधि-वनस्पतिवर्ग **'नित्य आश्वत्थिक अर्द्धचेतन जीव'** कहलावेंगे। एवं पार्थिव सामान्य लोष्ठ–लौहादि वर्ग **"नित्य आश्वत्थिक अचेतन जीव"** माने जायँगे। इन तत्तत्–नित्य देवयोनियों की उपासना से तत्तद्देवयोनिरूपों में परिणत ब्रह्मादि देववर्ग, योगभ्रष्ट होने से ज्ञानीयकुल, किंवा सम्भ्रान्तकुल में उत्पन्न दिव्य मनुष्य, उच्चैःश्रवा आदि दिव्य पशु, पक्षी, दिव्यसर्पादि ये सब सामयिक आश्वत्थिक चेतनजीव कहलावेंगे। मेरुण्डपक्षी नामक दिव्य पक्षी आज कहाँ है। ऐरावत का आज नाम भी नहीं सुना जाता। उच्चैःश्रवा आज केवल लिपि की वस्तु रह गया है। मेमाथ नामक दिव्य गज की कीर्त्ति ही शेष रह गई है। इन्हीं सब कारणों से इन आश्वत्थिक चेतनजीवों को हमनें सामयिक कहा है। अथर्ववेद में उपपर्णित कतिपय 'दिव्य ओषधि–वनस्पतियाँ (जो आज विलुप्त होचुकीं हैं) सामयिक आश्वत्थिक अर्द्धचेतन जीव मानी जायँगी। दिव्यधातु (सुवर्ण–रजत–स्फटिकादि माणिक्यवर्ग) सामयिक आश्वत्थिक अचेतन जीव माने जायँगे।

६६४–नित्य, तथा सामयिक जीवों के सम्बन्ध में उपास्य–अनुपास्य की व्यवस्था—

इन ६ ओं में नित्य चेतन जीवों में से देवयोनिवर्ग ही उपास्य है, नित्य मनुष्यादि चेतनवर्ग, एवं अचेतन अर्द्धचेतनवर्ग अनुपास्य है। सामयिकों में सामयिक के तीनों वर्ग उपास्य हैं। इसप्रकार आधिकारिक जीववर्ग की भाँति इस अश्वत्थिक जीववर्ग के भी ६ ही विभाग होजाते है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

१–१–नित्याः–आश्वत्थिकाः चेतनाः (नित्यदेवयोनयः, प्राग्वाहिकजीवाश्च)।

२–२–नित्याः– " अचेतनाः (सामान्यलोष्ठलौहादिधातवः)

३–३–नित्याः– " अर्द्धचेतनाः (यव–गोधूमादिवर्गाः)

*—

४–१–सामयिकाः– " चेतनाः (कर्म्मदेवयोनयः, तत्त्वज्ञानिनो मनुष्याः, दिव्यजीवाश्च)।

५–२–सामयिकाः– " अचेतनाः (स्फटिक–सुवर्ण–रजतादि–दिव्यधातवः)

६–३–सामयिकाः– " अर्द्धचेतनाः (अथर्ववेदोक्ताः–दिव्यौषधयः–वनस्पतयः)।

——*——

६६५- उपासनाभेदों का स्पष्टीकरण–प्रयास—

पाठकों को स्मरण होगा कि–उपासनामार्गों का उपास्यभेदों से पृथक्करण करते हुए हमने वर्गीकरण किया था। वहाँ का वर्गीकरण अस्पष्ट था। यहाँ उसका स्पष्टीकरण कर लीजिए।

६६६–उपासनानुगता अधिकारमर्य्यादा की व्यवस्था—

नित्यचेतन आधिकारिक यज्ञप्रजापति, नित्यअचेतन यज्ञात्मक विश्व, नित्य अर्द्धचेतन सोमादि के भौतिकरूप अर्द्धचेतन सोमादि कतिपय परिगणिते ओ० वनस्पतियाँ, इन की उपासना का **यज्ञप्रजापति-त्युपासना** से सम्बन्ध है। एवं इसका अधिकार एकमात्र शास्त्रज्ञ द्विजातिवर्ग को ही है।

६६७–उपासनानुबन्धी तथ्यों का वर्गीकरणात्मक समन्वय, एवं पञ्चम–अवान्तर–प्रकरण का उपराम—

नित्य चेतन आधिकारिक विराट्, कूर्म्म, वराह, वामनप्रजापति, नित्यचेतन विराट्–कूर्म्म–वराह–वामनरूप पार्थिव विश्व, नित्यअर्द्धचेतन सोमादि के भौतिकरूप, सामयिक अर्द्धचेतन सोमादि कतिपय परिगणित ओषधि वनस्पतियाँ, इनकी उपासना का विराट्प्रजापत्युपासना से सम्बन्ध है। इसका अधिकार भी शास्त्रज्ञ द्विजातिवर्ग को ही है। सामयिक चेतन दशविध अवतार, सामयिक गङ्गा–शालग्रामादि अचेतन अवतार, सामयिक तुलसी–अश्वत्थादि अर्द्धचेतनावतार, नित्यचेतन आश्वत्थिक अष्टविध देवयोनियाँ, सामयिक चेतन आश्वत्थिक देवयोनियाँ, सामयिक चेतन दिव्य मनुष्य पशु पक्षी–कृमि–कीट, सामयिक अर्द्धचेतन दिव्य–ओषधि वनस्पतियाँ, सामयिक अचेतन दिव्यधातुमय भगवान् की प्रतिमाएँ, इन सबका **विश्वप्रजापत्युपासना** से सम्बन्ध है। एवं यही प्रकृत प्रकरण की **वर्त्तमानयुगसम्बन्धिनी उपासना है**। इसमें देवयोनियों की उपासना का अधिकार तो द्विजबन्धुओं को है। एवं शेष उपासनाएँ स्त्री–शूद्रवर्ग से सम्बन्ध रखती हैं, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। नामस्मरण, संकीर्त्तन, अवतारकथाश्रवण, तीर्थगमन, उपवास, आदि मार्गों का भी इसी विश्वप्रजापत्युपासना में अन्तर्भाव है। **यही कलियुग का सर्वोच्च भक्ति-मार्ग है**। इससे भी हम अपना अभ्युदय कर सकते हैं। और यही वर्त्तमानयुगानुगत उपासनामार्ग का संक्षिप्त इतिवृत्त है।

इति–"युगधर्म्मानुगता–विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे

"वर्त्तमानयुगानुगता–भूतोपासना"

नामक

पञ्चम–अवान्तर–प्रकरण–उपरत

५

——*——

श्रीः

इति--"युगधर्म्मानुगता--विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे

"वर्त्तमानयुगानुगता-भूतोपासना"

नामक

पञ्चम--अवान्तर-प्रकरण--उपरत

५

श्रीः

इति--भक्तियोगपरीक्षायां--पूर्वखण्डे

"युगधर्मानुगता-विविध-उपासनाएँ"

नामक

पञ्च-अवान्तर-प्रकरणात्मक

चतुर्थ-प्रकरण-उपरत

४

श्रीः

अथ-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे

"प्रतिमापूजन, और उपासना"

नामक

* "परिशिष्ट-प्रकरण"

श्रीः

प्रतिमा, जन, और उपासना

परिशिष्ट-प्रकरण

—*—

१–निर्गुण–सगुण–विकार–अञ्जन–आवरण–परिग्रह–निबन्धना पञ्चविध–उपासनाओं का संकलनात्मक स्वरूप–समन्वय—

युगधर्म्मों की अपेक्षा से, शास्त्रभेद की अपेक्षा से, उपास्य–देवता के भेद की अपेक्षा से, एवं उपासक की योग्यता की अपेक्षा से उपासना के सम्बन्ध में जितने भेद सम्भव हैं, उनका पूर्व के पाँच अवान्तर-प्रकरणों में क्रमशः निरूपण किया जाचुका है। पूर्वप्रतिपादित उन अवान्तर सभी उपासनामार्गों का निर्गुणोपासना, सगुणोपासना, विकारोपासना, अञ्जनोपासना, आवरणोपासना, इन पाँचों उपासनाओं में से किसी एक में हीं अन्तर्भाव है।

२–ज्ञान-ध्यान-कर्म्मफलत्याग-अभ्यास, कर्म्मफलपरिग्रहण-मूला अव्यय-षोडशी-पञ्च-विराट्-विश्व-भावनिबन्धना उपासना के तात्त्विक पाँच विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय—

पाँचों हीं मार्ग शास्त्रसम्मत हैं, इस में तो कोई सन्देह नहीं, जैसाकि तत्तत्–प्रकरणों में सप्रमाण बतला दिया गया है। साथ ही वहीं यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, प्रत्येक युग में सभी प्रकार के अधिकारी हुए हैं, एवं सभी युगों में उपास्य के शाश्वत पाँचो रूप नित्यसिद्ध हैं। अतएव सभी युगों में पाँचों हीं मार्ग प्रचलित थे। परन्तु प्रधानता एक एक मार्ग की ही मानी गई। देवयुगमें ज्ञानलक्षणा निर्गुणोपासना प्रधान रही, सत्ययुग में ध्यानलक्षणा सगुणोपासना का प्राधान्य रहा, त्रेतायुग में कर्म्मफलत्यागलक्षणा विकारोपासना का प्रभुत्व रहा, द्वापरयुग में अभ्यासलक्षणा अञ्जनोपासना मुख्य रही, एवं कलियुगमें कर्म्म–फल-परिग्रहलक्षणा आवरणोपासना का साम्राज्य रहा। [1] ज्ञान–[2] ध्यान–[3] कर्म्मफलत्याग–[4] अभ्यास–[5] कर्म्मफलपरिग्रह, ये पाँच भाव ही क्रमशः अव्यय, षोडशीप्रजापति (अक्षर), यज्ञप्रजापति (आत्मक्षर), विराट्प्रजापति (विकारक्षर), विश्वप्रजापति (वैकारिक प्रपञ्च), इन पाँच उपास्यों के मूलाधार बनें।

३–ज्ञानी-जिज्ञासु-अर्थार्थी, आर्त्त–मानवानुबन्धिनी उपासना के अधिकारी-भेद-भिन्न विवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

उक्त पाँचों मार्गों में से विश्वप्रजापति की उपासना का अनुयायी कर्म्मफलेच्छु उपासक "आर्त्तभक्त" कहलाया। विराट्प्रजापति की उपासना का अनुयायी अभ्यासमार्गारूढ उपासक "अर्थार्थीभक्त" कहलाया। यज्ञप्रजापति की उपासना का अनुयायी कर्म्मफलत्यागानुगत उपासक, एवं षोडशीप्रजापति की

उपासना का अनुयायी ध्यानानुगत उपासक, ये दोनों "**जिज्ञासुभक्त**" कहलाए, एवं निर्गुण अव्ययात्मा की उपासना के अनुयायी ज्ञानानुगत उपासक "**ज्ञानीभक्त**" नाम से प्रसिद्ध हुए, जैसाकि, पूर्वप्रकरणों में स्पष्ट किया जाचुका है।

४–आत्मकामभूता अव्ययोपासना, निष्कामभूता षोडशीप्रजापत्युपासना, इष्टकामभूता यज्ञ-विराडुपासना, एवं कामभूता विश्वोपासना का पारिभाषिक-समन्वय—

ज्ञानीभक्त की अव्ययोपासना **आत्मकामभूता** है, जिज्ञासुभक्त की षोडशी, एवं यज्ञोपासना **निष्काम-भूता** है, अर्थार्थीभक्त की विराडुपासना अभ्युदयमूलक **इष्टकामभूता** है, एवं आर्त्तभक्त की विश्वोपासना **कामभूता** है। आत्मकाम, निष्काम, इष्टकाम, काम, ये चार भाव ही चारों भक्तिमार्गों की मूल उपनिषदें बनीं हुईं हैं। इन काम–निष्कामादि–भावों के जो अवान्तर भेद होजाते हैं, उनका तत्तत् प्रकरणों में स्पष्टी-करण किया ही जाचुका है।

५–वैराग्यबुद्धियोगात्मिका अव्ययोपासना, ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मिका षोडशीप्रजापत्यु-पासना, धर्म्मबुद्धियोगात्मिका विराट्प्रजापत्युपासना, एवं ज्ञानबुद्धियोगात्मिका अव्यक्तोपासना का पारिभाषिक-समन्वय, तथा गीता के माध्यम से उपासना-चतुष्टयी में श्रेणिविभाग-व्यवस्थापन —

गीता की दृष्टि से इन उपासनामार्गों का वर्गीकरण कीजिए। अव्ययानुगत ज्ञानात्मक उपासनामार्ग को राजर्षिविद्यानुगत **वैराग्यबुद्धियोग** (बुद्धियोग) कहा जायगा। षोडशी–अनुगत उपासनामार्ग को राज-विद्यानुगत **ऐश्वर्य्यबुद्धियोग** (**भक्तियोग**) कहा जायगा। यज्ञप्रजापत्यनुगत उपासनामार्ग को यज्ञात्मक प्रवृत्तिमूलक कर्म्ममार्ग (योगनिष्ठा, किंवा कर्म्मात्मिका उपासना) को आर्षविद्यानुगत **धर्म्मबुद्धियोग** (**कर्म्म-योग**) माना जायगा, एवं इसी यज्ञोपासना का योगात्मक नैष्कर्म्यकर्म्मलक्षण ज्ञानमार्ग (सांख्यनिष्ठा, किंवा अव्यक्तज्ञानात्मिका उपासना) को सिद्धविद्यानुगत **ज्ञानबुद्धियोग** (**ज्ञानयोग**) कहा जायगा। इसी वर्गीकरण से यह भी सिद्ध होगया कि, गीताप्रतिपादित चतुर्विध बुद्धियोगों का, दूसरे शब्दों में **बुद्धियोग-भक्तियोग–कर्म्मयोग–ज्ञानयोग** इन चार योगों का पूर्वप्रतिपादित ५ मार्गों में से १–२–३–इन तीन मार्गों में ही अन्तर्भाव होजाता है। इसी आधार पर यह भी कहा जासकता है कि, पाँचों में तीन मार्ग ही विशेषरूप से प्रशस्त हैं। शेष दोनों उपासनामार्ग अवरकोटि में ही प्रतिष्ठित रह जाते हैं। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, जिसप्रकार बुद्धियोगी भगवान् ने लोकसंग्रह-दृष्टि से लोकप्रचलित ईश्वरभक्ति, कर्म्म, ज्ञान, तीनों का (संशोधनपूर्वक) गीताशास्त्र में संग्रह किया है, उसी लोकदृष्टि के कारण शेष दोनों मार्गों को भी गीता में स्थान दे दिया गया है।

६–निगमागमप्रकारानुमोदिता–'प्रतिमोपासना' के समन्वय से उपासना के षड्विध-विवर्त्त, एवं उनका व्यवस्थाक्रमानुगत–स्वरूप-समन्वय—

देवताओं के द्वारा विविध सिद्धियाँ प्राप्त करना, भूत-प्रेतादि का यजन करना, प्रतिमापूजन करना, इन सब आगमप्रकारों का, एवं अवतारलीलासंस्मरण, अभिनय, तीर्थ, उपवास, कथाश्रवण, देवदर्शन, नाम–

संकीर्त्तन, आदि लौकिक (पौराणिक) प्रकारों का अनुगमन करना ४–५–वें वर्ग के उपासनामार्ग हैं। इन दोनों मार्गों में कर्म्मफल पर विशेष दृष्टि है। इन दोनों मार्गों से उत्कृष्टा कर्म्मनिष्ठा है, कर्म्म से उत्कृष्टा भक्तिनिष्ठा है, सर्वोत्कृष्टा बुद्धियोगनिष्ठा है। इसप्रकार बुद्धियोग, कर्म्मयोग, ज्ञानयोग, सिद्धयुपासना, अवतार–प्रतिमा–तीर्थोपासना-भेद से उपसना के ६ विवर्त्त होजाते हैं। इन ६ औं विवर्त्तों का पूर्वप्रतिपादित ५ मार्गों में हीं अन्तर्भाव है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

१–निर्गुण–अव्ययः (१)–बुद्धियोगः–वैराग्यबुद्धियोगः
२–षोडशी (२)–––भक्तियोगः–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः
३–यज्ञेश्वरः (३) –––कर्म्मयोगः–धर्म्मबुद्धियोगः
४–यज्ञेश्वरः (४)– –ज्ञानयोगः–ज्ञानबुद्धियोगः
५–विराट् (५)–––इष्टयोगः–मनोयोगः
६–विश्वम् (६)–––कामयोगः–सेन्द्रियमनोयोगः

७–गीताशास्त्र की वैराग्यबुद्धियोगात्मिका आत्मकामोपासना का सर्वाधिकारानुगतित्व–निबन्धन सार्वभौमत्व, एवं तदपेक्षया गीताशास्त्र के इत्थंभूत 'आत्मभक्ति' तत्त्व की सर्वोपकारकता का रहस्यपूर्ण-समन्वय—

(१)—"काम–निष्काम–इष्टकाम–आदि कामभावों से एकान्ततः पृथक् रहते हुए, अतः, एवं इदं में कोई भेद न समझते हुए भारतवर्ष में रहने वाली वर्णाश्रम–धर्म्मानुयायिनी भारतीय प्रजा (ब्रा० क्ष० वै० शू०) अपने अपने अधिकृत कर्म्मों में यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहे, भारतवर्ष में रहने वाले अन्त्यज, अन्त्यावसायी, दुराचारी दस्यू, उत्पथपथाचारी म्लेच्छ, ईसाई, पारसी, मुसलमान, ब्रह्मसमाजी, भारतवर्षेतर देशों में रहने वाले चीनी, जापानी, बर्म्मी युरोपियन, जर्म्मन, अमेरिकन, फ्रान्सीसी, इटालियन, तुर्की, रूसी आदि आदि समस्त भूमण्डल के मनुष्य अपने अपने सामाजिक, दैशिक, राष्ट्रीय, व्यक्तिगत नियमोपनियमों पर दृढ रहते हुए आत्मकामभाव से यावज्जीवन स्व स्व कर्म्मों में प्रतिष्ठित रहें", यही पहिला वैराग्य-बुद्धियोग मार्ग है। इस प्रणाली से गीता का यह बुद्धियोगधर्म्म **सार्वभौमधर्म्म** बना हुआ है। इसी दृष्टि से गीता भारतीय-वर्णाश्रमानुगता प्रजा के साथ साथ समस्त मानववर्ग का भी अभ्युदय कर रही है। यही गीताज्ञान (बुद्धियोग) की सर्वोपादेयता, एवं सर्वव्यापकता है। इस योग का सब को समानाधिकार है। आत्मभावना–पूर्वक स्वकर्त्तव्य में यावज्जीवन लगे रहना (फिर चाहे वह कर्त्तव्य दोषयुक्त ही क्यों न हो) ही बुद्धियोग का निष्कर्ष है। हाँ, प्रत्येक दशा में यह तो लक्ष्य में रखना ही होगा कि, वर्णप्रजा का स्वकर्त्तव्य शास्त्रसिद्ध अधिकृत कर्म्म ही होगा। उसे तो इस बुद्धियोगमार्ग में भी शास्त्रनिर्दिष्टमार्ग का ही अनुगमन करना पड़ेगा। इतर व्यक्ति शास्त्रीय मार्ग में अनधिकृत होते हुए अपने अपने देशधर्म्म–कुलधर्म्म-जातिधर्म्म का अनुगमन करते हुए सर्वभूतात्मभावानात्मिका समानात्मभावना से ही मुक्त होसकेंगे।

८–सार्वभौमसिद्धान्तव्यवस्थापक भी गीताशास्त्र के द्वारा भारतदेशनिबन्धना द्विजाति–प्रजानुबन्धिनी प्रातिस्विकी शास्त्रमूला–'षोडशीप्रजापति' की भक्ति का रहस्यपूर्ण समन्वय—

यही कारण है कि, जहाँ भगवान् इस अनन्ययोग के सम्बन्ध में–'येऽपि स्युः पापयोनयः''—"अपि चेत् सुदुराचारः" कहते हुए उनके शास्त्रविरुद्ध कर्म्मों को भी अनन्यभक्तियोगलक्षण बुद्धियोग–के समावेश से उत्तम मान रहे हैं, वहाँ वर्णप्रजा के सम्बन्ध में–"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते" यही नियन्त्रण लगा रहे हैं। इसी रहस्य के आधार पर बुद्धियोग के सम्बन्ध में वह कहा जासकता है कि, यह मार्ग शास्त्र-निर्णय के द्वारा वर्णप्रजा का अभ्युदय करता हुआ आत्मानन्यता के उपदेश के द्वारा इतर मानव समाज के अभ्युदय का भी उपदेश दे रहा है।

—१—

९–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मिका उपासना से अनुप्राणित सर्वोङ्कारप्रजापति, एवं सप्रणव–अप्र व–भेद–निबन्धना–स्त्री–शूद्रानुगता उपासना का द्वैविध्य—

(२)—ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षणा भक्ति का स्वरूप उत्तरखण्ड में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। यहाँ प्रकरणसङ्गति के लिए यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, सर्वव्यापक (मायामय सहस्रवल्शात्मक अश्वत्थवृक्ष व्यापक) ईश्वर का सर्वोङ्काररूप से ध्यान करते हुए, ही अपने अधिकृत कर्म्मों का एकमात्र प्रवर्तक समझते हुए अधिकारसिद्ध वर्णानुसार स्व–स्व कर्म्मों में यावज्जीवन प्रवृत्त रहना ही गीता का 'भक्तियोग' है। इस भक्ति का अधिकार एकमात्र वर्णाश्रमधर्म्मानुयायिनी भारतीय–प्रजा को ही है। कारण-ओंकारमन्त्र से वही ईश्वर का साक्षात् करने में समर्थ हुई है। इस सम्बन्ध में भी शूद्रवर्ग के लिए ओंकार का विधान कितनों ही की दृष्टि में अनुचित है, कितने ही साम्प्रदायिक "ओं नमो भगवते वासुदेवाय" "ओं नमो नारायणाय" इत्यादि रूप से शूद्र को भी सप्रणव स्मार्त्त मन्त्र की दीक्षा का विधान करते है।

—१—

१०–निष्काम–सकाम–भावापन्न यज्ञप्रजापतिमूला यज्ञ–विराडुपासना का अन्यतम अधिकारी सावित्री–संस्कार–युक्त भारतीय द्विजाति-मानव, एवं तत्र स्त्री-शूद्र–वर्ग का अनधिकार—

(३)—यावज्जीवन निष्कामभाव से वैदिक यज्ञकर्म्म में लोकाभ्युदयकामना की दृष्टि से) प्रवृत्त रहना ही गीता का कर्म्मयोग है। इसका अधिकार एकमात्र विद्यायुक्त द्विजातिवर्ग को ही है। स्त्री–शूद्र–द्विज–बन्धुओं को इस का सर्वथा अनधिकार है। क्योंकि इन के आत्मा में दिव्यप्राणसंस्कार के ग्राहक धर्म्म का जन्म से ही अभाव है। इसीलिए "स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा" यह कहा गया है। भूमोदर्क-लक्षण इस कर्म्मयोगात्मक यज्ञकर्म्म से यज्ञप्रजापति ही उपासित होता है। इन्हीं उपायों से यज्ञरहस्यवेत्ता

कर्म्मठ द्विजाति अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी, दुष्काल, अकाल, राष्ट्रविप्लव आदि का शमन करने में समर्थ होता है ।

—३—

११-ज्ञानबुद्धियोगानुगता-सिद्धयुपासना के सम्बन्ध में अधिकारी-भेद-व्यवस्था का दिग्दर्शन—

(४)—पुत्र वित्त-लोकैषणाओं का परित्याग कर, सन्यासमार्ग का ग्रहण कर आत्मचिन्तन-पूर्वक योगाभ्यास में प्रवृत्त रहते हुए नैष्कर्म्य-कर्म्मलक्षणा ज्ञान क्रिया में निमग्न रहना ही गीता का "ज्ञानयोग" है। इस का अधिकार भी द्विजातिवर्ग को ही है । इस ज्ञानयोगात्मक योग से भी यज्ञप्रजापति ही उपासित होता है। यही मार्ग केवल आत्मनिःश्रेयस् का कारण बनता हुआ क्षीणोदर्कभाव से सम्बन्ध रखता है ।

—४—

१२-पुण्ययोगात्मिका पारिभाषिकी उपासना, तथा इष्टयोगात्मिका पारिभाषिकी उपासना के सम्बन्ध में द्विविध-विभिन्न-अधिकारियों की व्यवस्था का दिग्दर्शन—

(५)—कामनापूर्वक (स्वर्गादि फलों की कामना से) त्रयीकर्म्म को त्रिगुणभावमय बनाकर काम्य-यज्ञ कर्म्मों में प्रवृत्त रहना, एवं आगमोक्ता देवोपासना का अनुगमन करते हुए सिद्धिकामना के पीछे अनुधावन करते रहना ही गीता का पुण्ययोग, किंवा इष्टयोग है । इस योग से विराट् प्रजापति ही उपासित होता है । इसमें काम्य यज्ञकर्म्म का अधिकार तो वेदज्ञ द्विजातिवर्ग को ही है । दूसरे सिद्धिमार्ग का अधिकार द्विजबन्धुओं को भी है ।

—५—

१३-कामनानुगता अवताराद्युपासना के सम्बन्ध में अधिकारीभेद-निबन्धना व्यवस्था का स्वरूप समन्वय—

(६) कामनापूर्वक काम्य अवतारोपासनासाधक प्रतिमापूजन, व्रत, तीर्थगमन आदि में प्रवृत्त रहना ही कामयोग है । स्त्री-शूद्रों को (वैय्यक्तिक प्रतिमापूजन के द्वारा) इस मार्ग का पूर्ण अधिकार है । शास्त्रीय षोडशोपचारलक्षण प्रतिमोपासना में तो स्त्री-शूद्रवर्ग अनधिकृत माने जायँगे । एवं इस प्रतिमोपासना का विराडुपासना में ही अन्तर्भाव माना जायगा ।

—६—

१४-तथाकथित षड्विध उपासनापथों का गीताशास्त्र के द्वारा सङ्केतविधि से समर्थनात्मक समन्वय —

उक्त ६ ओ मार्गों का गीता ने सङ्केतरूप से बड़े ही मार्म्मिक शब्दों में स्पष्टीकरण कर दिया है । पाठकों को विदित है कि, गीता के ६ अध्याय से आरम्भ कर १२ अध्याय की समाप्ति पर्यन्त राजविद्यानुगत ऐश्वर्य्य-

बुद्धियोगलक्षण भक्तियोग का निरूपण हुआ है। (देखिए भा० भू० प्र० ख० विषयविभागप्रकरण पृष्ठ-संख्या १७०)। इन चार अध्यायों में से ६-१०-११ तीन अध्यायों में तो भक्ति के स्वरूप का तात्त्विक विवेचन हुआ है, एवं १२ वें अध्याय में भक्तिमार्गानुबन्धी ६ मार्गों का सङ्केतविधि से दिग्दर्शन कराया गया है।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ? ॥

—गीता १२।१।

१५-अर्जुन का महत्त्वपूर्ण प्रश्न, एवं भगवान् के द्वारा 'युक्ततमविधि' से समाधानोपक्रम-

अर्जुन का प्रश्न बुद्धियोगलक्षण ज्ञानयोग, एवं सांख्ययोगलक्षण ज्ञानयोग से सम्बन्ध रखता है। बुद्धिलक्षण ज्ञानयोग का "त्वां" से लक्षित अव्यय से सम्बन्ध है। बुद्धियोगी भी योगी हैं, ज्ञानयोगी भी योगी है। दोनों हीं एकप्रकार से ज्ञानयोगी हैं। ज्ञानी हैं। इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है ?, दोनों में कौन योग का वास्तविक मर्म्म समझने वाला है ?, यही प्रश्न है। श्रीभगवान् उत्तर देते हैं—अर्जुन!

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परमोपेतास्ते ते युक्ततमा मताः ॥

—गीता १२।२।

१६-ज्ञानी-तपस्वी-भक्त-नामक तीन वर्गों के सम्बन्ध में भगवान् के द्वारा श्रेणि-विभाग-संस्थापन—

जो व्यक्ति मुझ (अव्यय) में अपने मन को प्रविष्ट कर नित्ययुक्त (अभेदरूप) बन कर मेरी उपासना में रत हैं, साथ ही जो परलक्षण (अव्ययलक्षण) श्रद्धा से युक्त हैं, मेरी दृष्टि में (दोनों में वे ही) युक्ततम हैं। उन्होंनें हीं योग का वास्तविक स्वरूप समझा है। दोनों ज्ञानयोगियों में अव्ययमुक्त योगी ही योगवित्तम हैं। पाठकों को स्मरण होगा कि, पूर्व में हमने ज्ञानी, तपस्वी, भक्त, इन तीनों की अपेक्षा योगी (बुद्धियोगी) को श्रेष्ठ बतलाया था, एवं योगी की अपेक्षा भी युक्ततम योगी को श्रेष्ठ कहा था।

१७-अत्यन्त रहस्यपूर्ण-श्रेणिविभाग के सम्बन्ध में गीता की मननीया श्लोकद्वयी—

राजर्षिविद्यात्मक वैराग्यबुद्धियोग-प्रकरण के उपसंहार में भी भगवान् ने लोकप्रचलित ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-तीनों योगों की अपेक्षा वैराग्यबुद्धियोग को ही श्रेष्ठ बतलाया है। एवं इस योग के उदासीनवदासीन अव्यय, श्रद्धायुक्त अव्यय के भेद में दो विवर्त्त मानते हुए दोनों में श्रद्धायुक्त अव्ययोगानुयायी योगी को ही योगवित्तम कहा है। और वही निर्णय यहाँ भी दोहराया गया है। देखिए !

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कार्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ॥
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

—गीता ६।४६,४४

—:***:—

१८—क्लेशसाध्या इन्द्रियसंयमादि-लक्षणा अव्यक्तोपासना के सम्बन्ध में भगवान् के द्वारा महत्त्वपूर्णा श्लोकत्रयी के रूप से हृदयोद्गार, एवं अव्यक्तोपासनात्मिका ज्ञाननिष्ठा का नीरक्षीर-विवेक—

इसप्रकार यद्यपि राजर्षिविद्यात्मक बुद्धियोग-प्रकरण के उपसंहार में हीं भगवान् ने बुद्धियोग का युक्ततमत्व सिद्ध कर दिया था। परन्तु आगे बतलाई गई भी, ज्ञानविद्या, एवं भक्तिविद्या के सम्बन्ध में पुनः अर्जुन को सन्देह हुआ, एवं उसके निराकरण के लिए पुनः भगवान् को वही निर्णय "ते मे युक्ततमा मताः" इत्यादिरूप से दोहराना पड़ा। इसप्रकार बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग की, दूसरे शब्दों में निर्गुण-अव्यय-मूला ज्ञानोपासना की सर्वश्रेष्ठता बतलाकर दूसरे अव्यक्तज्ञानमूलक ज्ञानयोग के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए भगवान् आगे जाकर कहते हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं क्लेशवद्भिरवाप्यते ॥

—गीता १२।३,४,५

१९—सांख्यनिष्ठात्मिका-अव्ययोपासना के सम्बन्ध में भगवान् की अरुचि—

श्लोकार्थ स्पष्ट है। सर्वव्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, अव्यक्त, ध्रुव, अग्निर्देश्य अक्षर से सम्बन्ध रखने वाला सांख्यसम्मत ज्ञानयोग सर्वभूतहितरति-लक्षण लोकसंग्रह को लक्ष्य बनाता हुआ संशोधित बनकर अवश्य ही उपादेय है। परम्परया यह योग भी (अक्षर के द्वारा) मां प्राप्ति (अव्ययप्राप्ति) का कारण तो बन ही जाता है। परन्तु क्लेशसाध्य इन्द्रियसंयमादि लक्षण ज्ञानयोग में सफलता मिलना थोड़ा कठिन ही है। यही इस योग के सम्बन्ध में भगवान् की अरुचि है।

२०—राजविद्यानुगता 'भक्ति' का राजमार्गत्व, एवं तत्सम्बन्ध में गीता की महत्त्वपूर्णा श्लोकत्रयी—

ज्ञानसजातीयत्वेन पहिले भगवान् ने बुद्धियोगलक्षण ज्ञानयोग, एवं सांख्यलक्षण ज्ञानयोग की तुलना की। भक्ति का षोडशीपुरुष से सम्बन्ध बतलाया गया है। एवं इसी भक्ति

को ध्यानात्मिका भक्ति कहा गया है। अपने सम्पूर्ण कर्म्मों को ईश्वरार्पित करते हुए ईश्वर का (षोडशी का) ध्यान करते हुए कर्त्तव्यकर्म्म में प्रवृत्त रहना ही भक्तियोग है। यह भक्तियोग ज्ञानयोग की अपेक्षा तो श्रेष्ठ है ही, साथ ही यज्ञकर्म्मात्मक कर्म्मयोग की अपेक्षा भी मृत्युसंसारतारण के लिए यह राजमार्ग है। इसी राजमार्ग का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात् पार्थ! मय्यावेशित-चेतसाम् ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

—गीता १२।६,७,८

२१—अभ्यासमार्गरूप-विराडुपासनात्मक-चतुर्थ-कर्म्ममय भक्तिमार्ग का स्वरूप-संस्मरण, एवं तत्सम्बन्ध में भगवत्सिद्धान्त-व्यवस्था—

अब चौथा अभ्यासमार्गरूप विराडुपासनात्मक कर्म्ममय भक्तिमार्ग हमारे सामने आया। जो व्यक्ति समष्टिरूप से व्यापक ईश्वर का ध्यान करने में असमर्थ हैं, उन्हें चाहिए कि—वे ईश्वरविभूतिरूप शिव, सूर्य्य, गणपति आदि ईश्वरावयवों में से किसी एक की निष्कामभाव से आराधना करते हुए क्रमशः अवयवी ईश्वर की ओर जाने का अभ्यास करें। इस चिरकालिक अभ्यास से वह उपासक कालान्तर में विराट् के द्वारा अवश्य ही उस व्यापक के ध्यान में समर्थ होता हुआ अव्यय को प्राप्त कर लेगा। आगमसम्मत विराडुपासनालक्षण कर्म्मप्रधान इसी मार्ग का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय! ॥

—गीता १२।९।

२२—आयासरूपा आगमोपासना में भी असमर्थ मानवों के अभ्युदय के लिए गीताशास्त्र के द्वारा रहस्यपूर्ण सुगमतमपथों का संस्थापन, एवं तद्रूपा विश्वोपासना का स्वरूप-दिग्दर्शन—

मान लीजिए—जो द्विजबन्धु इस अभ्यासरूपा आगमोपासना में भी कठिनता का अनुभव करते हैं, एवं स्त्री—शूद्रादि वर्ग अनधिकारवश इसमें प्रवृत्त नहीं होसकते। उन के अभ्युदय का क्या उपाय?। उत्तर वही विश्वोपासना। अभ्यास में असमर्थ द्विजबन्धु—शूद्र—स्त्रीवर्ग को भगवान् के निमित्त ही कर्म्म करना चाहिए। मध्यस्थ के लिए अवतारपुरुष, तीर्थ, उपवास, कथाश्रवण, हरिनाम-संकीर्त्तन, आदि ही मुख्य साधन है। इसी विश्वोपासना का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्म्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्म्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥

—गीता १२।१० ।

२३—यज्ञेश्वरोपासनात्मक उपासनामार्ग का पारिभाषिक-समन्वय—

अब एक मार्ग बाकी बच गया । वह है यज्ञात्मक कर्म्ममार्ग । कर्म्मफल की वासना छोड़ते हुए लोकसंग्रहबुद्धि से शास्त्रीय यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त रहना हीं यज्ञेश्वरोपासनारूप कर्म्ममार्ग है । कर्म्मफलत्यागात्मक कर्म्मयोग के भगवान् ने शास्त्रीय कर्म्ममार्ग [यज्ञमार्ग], एवं लौकिक कर्म्ममार्ग भेद से दो भेद कर दिए । शास्त्रीय कर्म्ममार्ग त्रयीसम्मत यज्ञमार्ग है । इसका अन्तर्भाव तो भगवान् ने षोडशी ईश्वर में होने वाले सर्वकर्म्मसंन्यासलक्षण भक्तियोग में हीं मान लिया । परन्तु इस लौकिक फलत्यागलक्षण कर्म्ममार्ग को स्वतन्त्र कर दिया ।

२४—ईश्वरसत्ताविमुख-यथाजात-प्राकृत-मानवों के समुद्धार के लिए गीताशास्त्र के द्वारा ऋजुतम-कर्म्मफलत्यागात्मक-रहस्पूर्ण-पथ का संस्थापन—

मान लीजिए—हम भगवान् को नहीं मानते । ईश्वरसत्ता में हमारा कोई विश्वास नहीं । अथवा जो ईश्वरसत्ता में तो विश्वास करते हैं, परन्तु प्रतिमापूजन, अवतारोपासना, तीर्थगमन, उपवास, नामस्मरण, आदि माध्यमिकों को अपनाने के लिए न जिनके पास समय है, न योग्यता है, अपितु जो सामयिक प्रवाह में पड़ कर परवश सेवावृत्ति में हीं निमग्न हैं । उन के उद्धार का क्या उपाय ?, इसी प्रश्न का समाधान करते हुए आगे जाकर भगवान् कहते हैं—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्त्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्म्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥

—गीता १२।११

२५—सर्वास्था-मान्यता- शून्य भी मानवों के समुद्धार से अनुप्राणिता भगवद्भावना—

यदि तुम ईश्वरसत्ता पर विश्वास करते हुए भी तन्निमित्त कर्म्म नहीं कर सकते, तुम कर्म्म को ही अपने लाभ का कारण समझते हो, दूसरे शब्दों में तुम स्वार्थसिद्धि के लिए ही सेवाधर्म्म, व्यापार, वकालत, डाक्टरी, इञ्जिनीयरी, एवं अन्यान्य लौकिक कर्म्मों में अहोरात्र व्यस्त रहते हो, उपवास-तीर्थ-प्रतिमापूजन आदि माध्यमिकों में श्रद्धा-विश्वास रखते हुए भी तुम इनके अनुष्ठान में अपने आप को असमर्थ पाते हो, तब भी कोई क्षति नहीं ।

२६—कर्म्मफलत्यागात्मक अपूर्व पथ का पारिभाषिक-समन्वय—

यदि तुम ईश्वर को नहीं मानते, प्रतिमार्चन, तीर्थादि पर तुम्हारा कोई विश्वास नहीं, शास्त्र, गुरु आदि का उपदेश तुम्हारी दृष्टि में सर्वथा निरर्थक है, तब भी कोई हानि नहीं । हम एक उपाय तुम्हें ऐसा बतलाते हैं, जिसके अनुगमन से तुम शास्त्रसिद्ध आदेशों में से किसी एक पर भी न चलते हुए, आत्मा—परमात्मा—

धर्म्म–कर्म्म–देवता–ब्राह्मण–गुरु आदि किसी को न मानते हुए भी तुम आत्माभ्युदय कर सकते हो। आत्माभ्युदय भी कैसा ?, अभ्यास, ज्ञान, ध्यानादि सब मार्गों से कहीं उत्कृष्ट। वह उपाय है—कर्म्मफलत्याग"।

२७–आस्तिक भारतीय मानव का दम्भपूर्ण आज का जीवनेतिवृत्त, एवं नास्तिक मानवों का दम्भशून्य, अतएव लोकवृत्तसकलतानुबन्धी भौतिक जीवन, और उभय-समतुलन-माध्यम से एक विशेष तथ्य का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

"हम नास्तिक से आस्तिक बन जाएँ, ईश्वर को मानने लगें, वर्णाश्रमधर्म्म का अनुगमन करते हुए बड़े धर्म्मात्मा बन जाएँ, नामसंकीर्त्तन करते करते हमारे नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगे, भगवत्-प्रतिमार्चन में घन्टों व्यतीत करते हुए हम परम भागवत बन जाएँ, तीर्थाटन करते करते हम शरीर को स्वच्छ कर डालें, उपवास करते करते शरीर को काँटा बना डालें, यज्ञकर्म्म में अपना जीवन समाप्त करदें" इन में से कोई भी शास्त्र का मुख्य उद्देश्य नहीं है। शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है· आत्ममुक्ति, आत्माभ्युदय, कर्म्मसंस्कारपाश में बद्ध आत्मा का कर्म्मपाश से निकल कर स्वस्वरूप में विकास। यदि हमने उक्त शास्त्रीय प्रकारों का अनुगमन करते हुए आत्ममुक्ति कर ली, कर्म्मलेपबन्धन से छुटकारा पा लिया, तो साधनरूप उक्त सभी प्रकार सफल हैं। यदि अहोरात्र शास्त्रीय प्रकारों का अनुगमन करते हुए भी फलासक्तिवश हम कर्म्मलेपबन्धन से न छूट सके, तो सब प्रकार व्यर्थ हैं। यही नहीं, ऐसे शास्त्रभक्त, ईश्वरभक्त, आस्तिक, पूजक, अर्चक, उपासक, नामस्मरणकर्त्ता, परमभागवत, तीर्थसेवी, व्रती की अपेक्षा तो घोरघोरतम उस शास्त्रविरोधी, अनीश्वरवादी, नास्तिक, पूजानिन्दक, ईश्वर नाम से घृणा करने वाले, तीर्थों के विरोधी, उपवास के कट्टरशत्रु लौकिक मनुष्य का आसन कहीं ऊँचा है, जो इन साधनों को तो बदनाम नहीं करता। वे इन साधनों के नाम पर शास्त्र–ईश्वर–आदि सब को कलङ्कित तो करते ही हैं, साथ ही इस मिथ्या-डम्बर में पड़ कर लोकवैभव से भी वञ्चित रहते हैं। इधर एक नास्तिक इन सब साधनों को धोका देने के कलङ्क से तो बचा ही रहता है, साथ ही भौतिक–सम्मुन्नति का पात्र भी बन जाता है, चाहे फिर परिणाम में यह भौतिक वैभव उस के समूल विनाश का ही कारण क्यों न बन जाय।

२८–वर्त्तमान-आस्तिक-शास्त्रभक्त-भारतीय-मानवों के आत्यन्तिक पतन का स्वरूपेतिवृत्त–

वर्त्तमानयुग के साथ परिस्थिति की तुलना कीजिए। हम भारतवासी बड़े अभिमान के साथ ईश्वर–सत्ता का दम भरते हैं। शास्त्रभक्ति से जमीन आसमान एक कर देते हैं। आए दिन उपवास करते हैं। भगवान् का पूजन करते हैं। देवदर्शन में प्रीति रखते हैं। अहोरात्र शास्त्रचिन्तन करते रहते हैं। श्राद्ध करते हैं, तर्पण करते हैं। यज्ञ करते हैं। भक्तिभाव से गङ्गा–यमुना में गोता लगाते हैं। स्थान स्थान पर दलबन्दी कर हरे राम हरे राम के तुमलनाद से आकाश विदीर्ण करते हैं। हरिकथा श्रवण करते हैं। आचार्य–सन्त महन्तों के चरण पूजते हैं। लाखों रु० दान करते हैं। इसप्रकार आयुका अधिक भाग शास्त्रादेशों में हीं व्यतीत करदेते हैं। परन्तु.....। स्पष्ट है। पेटभर अन्न भी नहीं मिलता। अभ्युदय–निःश्रेयस् की कथा तो दूर रही, दिन–दिन आत्मप्रकाश खोते जारहे हैं। परतन्त्रता अधिकाधिक निकट आती जारही है। आत्मा के अमरत्व की डींग हाँकने वाले हम थोड़े से भय से ही पर्दे में जा छुपते हैं। क्या शास्त्रानुगमन का यही लाभ है ?।

२९–शास्त्रतटस्थ प्रतीच्य मानवों की भूतोन्नतिमूला भूतजीवनपद्धति के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन—

उधर उन पश्चिमी देशों को देखिए, जो शास्त्रादि के नाम से भी अपरिचित रहते हुए, केवल मानवीय विज्ञान के आधार पर किस प्रगति से लोकवैभव में आगे बढ़ते जारहे हे । भारतीय धार्म्मिक समाज कहा करता है, पश्चिमी देशों का बढ़ता हुआ वैभव एकदिन उन का संहार कर डालेगा । ठीक है । हम भी सहमत हैं । परन्तु आप की क्या दशा होरही है ?, पहिले यह तो सोचिए । आप कर्म्म धर्म्म चिल्लाते हुए कौनसा पुरुषार्थ कर रहे हैं ? । आप तो न इधर के रहे, न उधर के । फिर आपको समालोचना करने का क्या अधिकार है ? ।

३०–शास्त्रीय मार्ग के 'मुख्य' उद्देश्य का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

बिना किसी नच नुच के आप को यह मान हीं लेना चाहिए कि, शास्त्रीय–मार्ग का मुख्य उद्देश्य पूर्वोक्त आचरणों में से एक भी नही है । शास्त्र चाहता केवल यही है कि, आप अहोरात्र कर्म्म करते हुए भी कर्म्मलेप के बंधन में न आवें । इस मुख्य सत्य उद्देश्य की सिद्धि के लिए साधनरूप से शास्त्र ने भक्ति–उपासना–पूजन-तीर्थादि का विधान किया है । उस ओर मन बट जाने से आप का मन फलाशा से मुक्त रहेगा, परिणामतः कर्म्मलेप न होगा, कर्म्म करते हुए भी आप मुक्त होजायँगे, और यही शास्त्र का मुख्य उद्देश्य माना जायगा ।

३१-कर्म्मफलासक्ति-अनासक्ति के माध्यम से शास्त्रीय-उद्देश्य का नीरक्षीर-विवेक-समन्वय–

यदि शास्त्रीय सभी आदेशों का अनुगमन करते हुए भी आपने फलाशा न छोड़ी, तो शास्त्रादेशानुगमन न केवल व्यर्थ, अपितु हानिकर । ठीक इस के विपरीत यदि शास्त्र के महाजाल में न पड़कर आपने केवल थोड़े समय से (यतात्मवान्) काम लेते हुए फलाशा का परित्याग कर दिया, तो आप मुक्त होगए, शास्त्रोद्देश्य सिद्ध होगया ।

३२–गीताशास्त्र के एक रहस्यपूर्ण श्लोक का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धना कर्म्मफलानासक्ति से अनुप्राणिता पारिभाषिकी सङ्गति, तथा-'मा कर्म्मफलहेतुर्भूः' का फलितार्थ–समन्वय—

धर्म्म-कर्म्म-शास्त्र-ईश्वर-परलोक–आदि को न मानने से कोई हानि नहीं होती, न किसी कर्म्म से ही कोई क्षति । कर्म्म स्वस्वरूप से कर्म्म है, भगवान् की विभूति है, फिर वह शास्त्रीय हो, अथवा लौकिक । हानि का एकमात्र कारण है–कर्म्मलेप, कर्म्मलेप की एकमात्र जननी है–फलाशा । इसे छोडना कोई कठिन नहीं है । एक घोर नास्तिक भी यह तो बिना किसी आपत्ति के मान ही लेगा कि, फल को हम उत्पन्न नहीं करते, अपितु हमारा कर्म्म ही फल को उत्पन्न करता है । एक इंजिनीयर का आत्मा–बुद्धि–मन–किंवा शरीर किसी प्रासाद के फलरूप नक्शे का निर्म्माण नही करता । अपितु उसके इन अवयवों से संचालित क्रिया ही नक्शा तय्यार करती है । कर्म्म करना हमारा काम, कर्म्मफल उत्पन्न करना कर्म्म का काम । कर्म्मफल कर्म्म है, न कि कर्म्मफल हमारा फल है । हमारा फल कर्म्म है, कर्म्मफल कर्म्म का फल है । हम कर्म्ममात्र के

अधिकारी हैं, कर्म्ममात्र के हेतु हैं, न कि कर्म्मफल के। –"मा कर्म्मफलहेतु र्भूः"। हम मानते हैं कि-बिना फल के कर्म्मप्रवृत्ति सम्भव नहीं। परन्तु यह कौन कहता है कि, आप निरुद्देश्य कर्म्म कीजिए। अवश्य ही किसी उद्देश्यसिद्धि के लिए कर्म्म कीजिए। भगवान् केवल यही कहना चाहते हैं कि, कर्म्मकाल में कर्म्मफल की चर्वणा न कीजिए। मानवीय मन में शक्ति परिमित है। कर्म्मप्रवृत्तिकाल मे फलचर्वणा करने से मानसशक्ति बँट जायगी, कर्म्मसिद्धि में जितना बल लगना चाहिए, न लगेगा, फलांश अपूर्ण रह जायगा, एक हानि। जब आप यह जानते है कि, फल पैदा करना कर्म्म का काम है, तो फिर इस अनधिकृता फलचर्वणा से क्यालाभ ?। आप को तो अनन्यभाव से केवल कर्म्म में हीं जुट जाना चाहिए। फल तो धरा ही है। साथ ही आप आसक्ति से भी बच जायँगे, पुरुषार्थ सिद्ध होजायगा। यही वह उपाय है, जिस से हम जैसे संसारी मायावी जीव भी कालान्तर में आत्माभ्युदय कर सकते हैं, और पूर्वश्लोकने इसी उपाय का स्पष्टीकरण किया भी है। कर्म्मफलत्याग ही ज्ञान–ध्यान-अभ्यासादि इतर मार्गों का चरम उद्देश्य है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, दीखने में सबसे नीचे के अधिकारियों का कर्म्मफलत्यागलक्षण यह अन्तिम मार्ग परमार्थतः सबसे श्रेष्ठ है। यही सूचित करते हुए भक्तिप्रकारों का उपसंहार करते हुए भगवान् सर्वान्त में कहते हैं—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासान्, ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्म्मफलत्यागः, त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

(१२।१२)।

—*—

३३–विश्वयज्ञस्थिति का उपोद्बलक कर्म्ममार्ग, एवं तन्निबन्धना समर्पणमूला यज्ञप्रजापत्युपासना—

जैसाकि पूर्व में बतलाया गया है, कर्म्मफलत्यागलक्षण शास्त्रीय यज्ञकर्म्मात्मक कर्म्मयोग, एवं कर्म्मफलत्यागलक्षण लौकिक कर्म्ममार्ग, दोनों को भगवान ने समान आसन पर प्रतिष्ठित रक्खा है। पहिला यज्ञ प्रजापति से सम्बन्ध रखता है, दूसरा विश्वप्रजापति से सम्बन्ध रखता है। फलांश में दोनों समान हैं, अतएव रूपान्तर से इसे फलत्यागलक्षण लौकिक कर्म्म में हीं अन्तर्भूत मान लिया है। और शास्त्रीय-दृष्टि से भी यह मान्यता सुसङ्गत बन जाती है। चाहे लौकिक कर्म्म हो, अथवा शास्त्रीय, यदि फलवासना नहीं है, तो स्वार्थबुद्धि का अपने आप उच्छेद होजाता है। फलतः ऐसा कर्म्ममार्ग विश्वयज्ञस्थिति का उपोद्बलक बनता हुआ यज्ञप्रजापति में अर्पित होजाता है।

३४–भक्तिमार्गापेक्षया भी तथाविध कर्म्ममार्ग की श्रेष्ठता का स्वरूप–समन्वय—

यद्यपि पूर्व में हमने कर्म्मयोग की अपेक्षा ध्यानात्मक भक्तिमार्ग को श्रेष्ठ बतलाया था, परन्तु यह श्रेष्ठता उपास्य की श्रेष्ठता पर ही निर्भर है। यदि लोकसंग्रहदृष्टि से विचार किया जाता है, तो कर्म्ममार्ग (भक्तिमार्ग की अपेक्षा कहीं अधिक) लोकसंग्राहक बनता हुआ भक्तिमार्ग से भी श्रेष्ठ बन जाता है।

३५–आत्मस्वार्थमूलक–उपसनातत्त्व का पारिभाषिक–समन्वय–प्रयास—

निष्कर्ष यह निकला कि, वैराग्यलक्षण श्रद्धायुक्त बुद्धियोग तो एक स्वतन्त्र, एवं श्रेष्ठतम मार्ग है। इसे किसी अन्य योग की तुलना में नहीं रक्खा जासकता। अवशेष बचते हैं-भक्तियोग, कर्म्मयोग, इष्टयोग, कामयोग।

कामयोग भगवदर्पणभावना से अभ्युदय बन जाता है। इष्टयोग अभ्यासात्मक देवोपासना से फलप्रद बन जाता है। ज्ञानयोग अक्षर के द्वारा इष्टसाधक बनजाता है। कर्म्मयोग यज्ञेश्वर के द्वारा सिद्धि का जनक बन-जाता है। एवं भक्तियोग सर्वकर्म्मगृहीत अव्ययज्ञान के द्वारा सिद्धि का प्रवर्त्तक बन जाता है। इन पाँचों में कामयोग कामभाव के समावेश से निम्न है। इष्टयोगात्मक अभ्यासयोग इससे श्रेष्ठ है। अभ्यासयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग श्रेष्ठ है। ज्ञानयोग की अपेक्षा ध्यानयोगात्मक भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है। एवं इस की अपेक्षा कर्म्मफलत्यागलक्षण शास्त्रीय लौकिक कर्म्मयोग श्रेष्ठ है। त्यागसे शान्ति मिलती है। आत्मा का बोझा उतर जाता है, आत्मा स्वस्थदशा में आजाता है।

* बुद्धियोगः-अव्ययोपासना (उपासना) सर्वोपकारकमार्गः

१-भक्तियोगः-षो० प्र० उपासना (भक्तिः)	द्विजातीनामेव
२-कर्म्मयोगः-यज्ञप्र० उपासना (कर्म्म)	
३-ज्ञानयोगः-यज्ञप्र० उपासना (ज्ञानम्)	
४-इष्टयोगः-विराट्प्र० उपासना (कर्म्म)	--द्विजबन्धूनां, द्विजातीनाञ्च
५--कामयोगः--विश्वप्र० उपासना (कर्म्म)	--स्त्री-शूद्रद्विजबन्धूनाम्
*--फलत्यागयोगः--वैभवोपासना (कर्म्म)	सर्वोपकारकमार्गः

* बुद्धियोगः—सर्वथा स्वतन्त्रः-त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् (परमार्गः)

१-कर्म्मयोगः (२)-शास्त्रीयः
२-फलत्यागयोगः (*) लौकिकः
} —कर्म्मफलत्यागयोगः

३-भक्तियोगः (१)शास्त्रीयः—ध्यानयोगः

४-ज्ञानयोगः (३) शास्त्रीयः—ज्ञानयोगः

५-इष्टयोगः (४) शास्त्रीयः—अभ्यासयोगः

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्
ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते
ध्यानात् कर्म्मफलत्यागः
(मध्यममार्गः)

* कामयोगः-(शास्त्रीयः)—साधारणमार्गः (अवममार्गः)

३६–भक्तियोगानुबन्धी--'साकारब्रह्म' का संस्मरण, एवं साकारब्रह्म के माया-कला-गुण-विकार--अञ्जन--आवरण-नामक षड्विध परिग्रहों का संस्मरण—

उक्त उपासना–भेदों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में तो अब कोई विशेष वक्तव्य नहीं रहा। अवश्य ही पूर्व के पाँच प्रकरणों में प्रतिपादित पाँचों हीं उपासनामार्ग प्रामाणिक हैं। इस प्रामाणिकता के साथ साथ यह भी हमें निर्विवाद मान हीं लेना चाहिए कि, अधिकारीभेद से सभी मार्ग उपासना के माध्यमिक बनते हुए अपने अपने स्थान में सर्वथा उपादेय हैं। और सर्वान्त में यह भी सिद्ध हो ही जाता है कि, उपासना, किंवा भक्तियोग का एकमात्र सम्बन्ध **"साकारब्रह्म"** से ही है, फिर चाहे वह आकार-भाव माया--कला–गुण–विकार–अञ्जन–आवरण–इन ६ परिग्रहों में से किसी भी परिग्रह से सम्बन्ध रखता हो।

३७–उपासनापथ के महान् पारिभाषिक सूत्र–'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' का स्वरूप--समन्वय—

इन उपासना–विवर्त्तों को हमनें युगभेद से विभक्त माना है। एवं इसी युगभेद के आधार पर इनमें श्रेणि–विभाग किया गया है। शास्त्र ने [वेद–पुराणादि ने] अधिकारी के भेद की मर्य्यादा को सुरक्षित रखते हुए जहाँ सभी उपासना–भेदों को पूर्ण आदर दिया है, वहाँ युगधर्म्म-भेद–सम्बन्धी श्रेणि–विभाग की दृष्टि से इन में उत्तम–मध्यमादि व्यवस्था भी की है। **"असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते"** सिद्धान्त को मुख्य मानने वाला शास्त्र यह कभी नहीं चाहता कि, आवरणपरिग्रह से युक्त आत्मा के विश्व--लक्षण मूर्त्तभाव [प्रतिमा] को माध्यमिक बनाने वाला प्रतिमोपासक यावज्जीवन उसी माध्यमिक पर प्रतिष्ठित रहै। अपितु वह चाहता है कि–इस माध्यमिक के द्वारा क्रमशः विराट्, यज्ञ, षोडशी पर पहुँचता हुआ निर्गुण अव्यय से सम्बन्ध रखने वाली ज्ञान--वैराग्यलक्षणा बुद्धियोगरूपा आत्मभक्ति का अनुगामी बनता हुआ वह समवलयलक्षण विदेहभाव को प्राप्त होजाय।

३८–अवतार--तीर्थ--व्रत--प्रतिमा--आदि--भेदभिन्ना विश्वोपासना के सम्बन्ध में क्रमिकाभ्युदयमूलक--रहस्य--पूर्ण--पारिभाषिक--उद्बोधन—

यही कारण है कि, लोकसंग्रहदृष्टि से सिद्धि, अवतार, प्रतिमा आदि की उपासनाओं का पूर्ण आदर करने के साथ साथ ही [उपासक यहीं न रह जाय, इस दृष्टि से] इनकी अपेक्षा वैराग्यज्ञानलक्षणा बुद्धियोगात्मिका भक्ति का ही यशोगान किया है। वेदशास्त्र को तो छोड़िए। पुराणशास्त्र को ही लीजिए, जिसके सम्बन्ध में अज्ञजनों की यह भ्रान्ति है कि, पुराण वैदिक नहीं हैं। अपितु वेदविरुद्ध अवतार--प्रतिमा--तीर्थ आदि की कल्पित उपासना बतलाने वाला एक कल्पित शास्त्र है। अवतारादि का निरूपण करने के कारण, सामान्यज्ञान की सीमा से बहिर्भूत, ऐसे सामान्यज्ञानियों की दृष्टियों में केवल कल्पनारूप आख्यानोपाख्यानों के निरूपण के कारण हीं यदि पुराणशास्त्र एक कल्पित शास्त्र है, तब तो उन वेदभक्तों की वेदभक्ति भी सुरक्षित नहीं रह सकती। कारण–स्वयं वेद में भी अवतार--प्रतिमा–तीर्थादि की उपासना का, एवं पौराणिक आख्यानोपाख्यानों का विस्तार से निरूपण हुआ है, जिनके कि स्पष्टीकरण का प्रकृत में अवसर नहीं है।

३९–पुराणशास्त्र से अनुप्राणिता उपासना के सम्बन्ध में तत्त्वविमर्श, एवं भ्रान्तों की भ्रान्ति का निराकरण--प्रयास—

हाँ, यदि पुराणशास्त्र केवल अवतार-प्रतिमा-सिद्धि आदि--उपासनाओं के निरूपण पर ही अपना वक्तव्य समाप्त कर देता, वेद की भाँति परात्पर–पुरुषादि सम्बन्धिनी निर्गुण, वैराग्य, ज्ञानादि भक्तियों का निरूपण न करता, इनकी श्रेष्ठता सिद्ध न करता, तो अवश्य ही यह शास्त्र एक अपूर्ण शास्त्र रह जाता। परन्तु हम देखते हैं कि, उपासनामार्ग के सम्बन्ध में वेदशास्त्रने, विशेषतः वेदशास्त्र के अन्तिम पर्वरूप उपनिषत् ने, एवं तदनुगामिनी स्मार्त्ती गीतोपनिषत् ने जिन श्रेणियों का स्पष्टीकरण किया है, पुराण में उन सब का ज्यों का त्यों स्पष्टीकरण मिलता है। उदाहरण के लिए लोक में विशेषरूप से प्रचलित श्रीमद्भागवत पुराण को ही लीजिए।

४०-भक्तिपथक्षेत्र में षट्त्रिंशद्विध (३६) पुराणोपपुराणों के समतुलन में श्रीमद्भागवत का ही प्राधान्य—

और किसी पुराण का नामोल्लेख न कर **भागवत पुराण** को ही इस प्रकरण में मुख्य स्थान क्यों दिया ?, इसमें भी कुछ रहस्य है। यों तो सभी पुराणों में इतर विषयों के साथ साथ भक्ति, एवं उपास्य ईश्वरविवर्त्त का निरूपण हुआ है। परन्तु भक्तिवाद के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत सब पुराणों से आगे निकल गया है। यही कारण है कि, १८ पुराण, १८ उपपुराण, इन ३६ पुराणों से भागवत पुराण स्वतन्त्र है। कहा जाता है कि–व्यासदेवनें सहिता, व्याससूत्र, ३६ पुराणोपपुराणादि का संकलन करके भी आत्मतुष्टि का अनुभव नहीं किया। सर्वान्त में जब उन्होंनें श्रीमद्भागवत का, उसकी भी रासपञ्चाध्यायी का निर्म्माण किया, तब कहीं व्यास के भागवत हृदय को पूर्ण शान्ति मिली।

४१-श्रीभागवत के पारिभाषिक–'भागवत' नाम का पारिभाषिक--स्वरूप--समन्वय—

पुराणमर्य्यादा के अनुसार भागवत में पौराणिक १८ विषयों का तो निरूपण हुआ ही है, परन्तु प्रधानतया **ईश्वरस्वरूप, भगवन्माया, भगवद्भक्ति** इन तीन विषयों का ही उपबृंहण हुआ है। ईश्वर भी भगवान् हैं, ईश्वरमाया भी भगवान् की चिच्छक्ति बनती हुई भगद्रूपा है, एवं भगवद्भक्ति (ज्ञानवैराग्ययुक्ता) भी भगवद्रूपा ही है। इस भगवत्ता के सम्बन्ध से ही यह ही ग्रन्थ **'भागवत'** कहलाया है। भक्ति मायामय भगवान् की ही सम्भव है, एवं भागवत इस विषय का स्पष्टीकरण करने वाला मुख्य ग्रन्थ है, अतएव भक्तिप्रकरण के सम्बन्ध में और किसी पुराण को आगे न करते हुए हमने भागवत को ही मुख्य मान लिया है।

४२–भक्तिपुत्र वैराग्य, एवं ज्ञान का कलौ युगे वार्द्धक्य, एवं भक्ति का करुणविलाप—

भागवत ज्ञानवैराग्ययुक्त भक्तिमार्ग का ही ग्रन्थ है, इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा प्रमाण-**भागवतमाहात्म्य** ही है। आरम्भ में हीं नारद यह बतलाते हैं कि, मैंने घूमते घूमते यमुनातट पर एक बड़ा आश्चर्य्य देखा। देखा कि एक--तरुणी स्त्री खिन्नमना बन कर रुदन कर रही है। और दो वृद्धपुरुष ऊर्ध्वश्वास लेते हुए अचेतनावस्था में उसके समीप पड़े हुए हैं। वह उन वृद्धों की परिचर्य्या कर रही है, साथ ही चारों ओर

आँख फाड़-फाड़ कर किसी ऐसे व्यक्ति की प्रतीक्षा कर रही है, जो इसके शरीर को सुरक्षित रख सके। मेरे प्रश्न करने पर उस बाला स्त्री ने उत्तर दिया कि—मैं भक्ति हूँ, ये दोनों वृद्ध पुरुष **ज्ञान-वैराग्य** नाम के मेरे पुत्र हैं। कालयोग से दोनों वृद्ध होगए हैं। घोरकलिकाल के योग से, एवं पाखण्डियों के पाखण्ड से मेरा शरीर पुत्रों सहित खण्डित होगया है" इत्यादि (भा० मा० १ अध्याय २७ से ५४ पर्य्यन्त)

४३-श्रीमद्भागवत की भक्ति-प्रधानता के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन—

सर्वप्रथम भागवत का उपदेश महामुनि वीतराग श्रीश्रीशुकदेव के द्वारा परीक्षित के प्रति हुआ था, यह सर्वविदित है। परीक्षित का यह उपदेशश्रवणकाल कलिसीमा के गर्भ में प्रविष्ट था, यह भी निर्विवाद है। इस युगधर्म्म के प्रभाव से ही शास्त्रीय योगों का स्वरूप लुप्तप्राय होचुका था। * बुद्धियोगलक्षण योग (योगात्मिका उपासना), ज्ञानयोग, कर्म्मयोग, विराड्उपासनात्मक सिद्धिमार्ग इत्यादि का स्वरूप विकृत होचुका था। ज्ञानवैराग्ययुक्त भक्ति का मौलिक स्वरूप अस्तप्राय होचुका था। उसी भक्तिमार्ग के प्रसार के लिए भागवत ग्रन्थ अवतीर्ण हुआ। इस दृष्टि से भी भागवत को भक्तिप्रधान ग्रन्थ--मानना हीं न्यायसंगत प्रतीत होता है।

४४-श्री मद्भागवत के द्वारा भक्ति के ज्ञान-वैराग्य नामक वृद्धपुत्रों को जीवनप्रदान--

हमें तो यह कहने में भी कोई संकोच नहीं होरहा कि, उपनिषत् ने जिस निर्गुणभक्ति को जन्म दिया, विवस्वान् के प्रति गीतोपदेश के द्वारा जो भक्ति विकसित हुई, व्याससूत्रों के द्वारा जिस भक्ति का उपबृंहण हुआ, श्रीमद्भागवत् ने (लोकसंग्रह की दृष्टि से लीलाचरित्र, नामस्मरण, प्रतिमार्च्चन आदि अवरभक्तिमार्ग का प्रतिपादन करते हुए) मुख्यरूप से भक्ति के विलुप्तप्राय ज्ञान-वैराग्य-पुत्रों को हीं पुनरुज्जीवित किया। इसी दृष्टि से हम भागवत को भगवद्गीता-समकक्ष मानने के लिए तय्यार हैं।

४५-श्रीमद्भागवत की समाधिभाषा, एवं तत्प्रमाणाधारेण प्रतिष्ठित वेदसिद्ध शुद्धाद्वैतसम्प्रदायात्मक-पुष्टिमार्ग का संस्मरण—

यही कारण है कि, परम वैदिक शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक आचार्य्यश्री ने वेद-गीता-व्याससूत्रों के साथ साथ भागवत की समाधिभाषा को भी प्रमाण माना है। भागवत में-**लौकिकभाषा, परमतभाषा, समाधिभाषा** मेद से तीन दृष्टियाँ हैं। व्यास का (ज्ञानवैराग्ययुत निर्गुणाव्यय-भक्तिरूप अपना) प्रातिस्विक मत ही समाधिभाषा है। समाधिभाषा के आधार पर ही पुष्टिमार्ग का विकास हुआ है, जैसाकि निम्न लिखित पद्यों से स्पष्ट है—

---

* **न योगी, नैव सिद्धा वा न ज्ञानी, सत्क्रियो नरः।**
कलिदावानलेनाद्य साधनं भस्मतां गतम् ॥

सात्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः ॥
भवान्तसम्भवा दैवात् तेषामर्थे निरूप्यते ॥१॥
वेदाः, श्रीकृष्णवाक्यानि, व्याससूत्राणि चैव हि ।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं सच्चतुष्टयम् ॥२॥
लौकिकी, चान्यभाषा च. समाधेः पोषिकेतु नु ॥३॥'

४६–पौराणिक–दृष्टिकोण के अभिव्यञ्जक कतिपय सन्दर्भ—

हाँ, तो कहना यह था कि, पुराणने युगधर्म्मानुसार भक्तिमार्गों का श्रेणि-विभाग करते हुए ज्ञानवैराग्य-युत भक्तिमार्ग की ही श्रेष्ठता सिद्ध की है । दूसरे शब्दों में–उसने बुद्धियोगपक्ष का ही समर्थन किया है । यही नहीं, एक स्थान पर तो स्पष्ट शब्दों में उसने प्रतिमापूजन को सामान्य अधिकारियों की ही वस्तु मान लिया है । विशेष विस्तार का अवसर नहीं हैं । केवल कुछ एक वचन ही उद्धृत कर दिए जाते हैं, जिन के आधार पर पाठक स्वयं हीं यह निर्णय करलेंगे कि, पुराण का वास्तविक दृष्टिकोण क्या है—

४७ [१]–निर्गुणाव्ययोपासनात्मक (वैराग्यमय अद्वैतलक्षण-सर्व-श्रेष्ठ) भक्तिमार्ग (बुद्धियोग)—

१–तमस्मिन् प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया ।
भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्यात्मनि चिन्तयेत् ॥ (३।२६।७२।)

२–प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः ।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत् ॥ (३।२७।१।) ÷ ।

३–यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना ।
सर्वत्र जातवैराग्य आ ब्रह्मभुवनान्मुनिः ॥ (३।२७।२७।) ।

४–मद्भक्तः प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा ।
निःश्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम् ॥ (३।२७।२८।)

५–प्राप्नोतीहाञ्जसा धीरः स्वदृशाच्छिन्नसंशयः ।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते योगी लिङ्गाद्विनिर्गमे ॥ (३।२७।२९।) ।

६–यदा न योगोपचितासु चेतो–
मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग ।
अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्यात्–
आत्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः ॥ (३।२७।३०) ।

÷–अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति, न लिप्यते ॥ (गीता)

७–लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥ (३।२९।१२) ।
८–स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्यत्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥ (३।२९।१४।) ।

१

—*—

४८–निर्गुणाव्ययोपासनात्मकस्य बुद्धियोगमार्गस्य सर्वोत्कर्षसूचनार्थं प्रतिमोपासनायाः–अवरत्वनिरूपणम्–

१—अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥
२—यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् * ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः ॥
३—द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥
४—अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे ।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥
५—अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत् ।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥
६—आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ॥

—३।२९।२१ से २५ पर्य्यन्त ।

—*—

* यह सुना गया है कि, अज्ञानतावश शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होने वाले सनातनियों, एवं आर्य्यसमाजियों में ऐसे श्लोकों के द्वारा ही स्वार्थसिद्धि की वृथा चेष्ट की जाती है । अवश्य ही यह देश का दुर्भाग्य है कि–आज हमारा बौद्धिक-जगत् सर्वथा ही निर्बल बन चुका है । विचार किस पद्धति से करना चाहिए ?, पूर्वापर की संगति से शास्त्रीय वचनों का क्या मर्म्म निकलता है ?, यह वृत्ति आज सर्वथा उच्छिन्न होचुकी है । यदि कोई "त्र्यम्बकं यजामहे" से प्रतिमापूजन के मण्डन का अभिमान करता है, तो कोई उक्त पुराणवचन का मर्म्म न समझ कर प्रतिमापूजन का खण्डन करता है । विधि की यह कैसी विडम्बना है ? ।

४६-(२)-सगुण-षोडशोपजापत्युपासनात्मक-(भक्तिमय-द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग-(भक्तियोग)

१-मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ॥ (११।१२।१५।) ।

२-यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः ।
स एष संसारतरुः पुराणः कर्म्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते ॥ (११।१२।२१।) ।

३-द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः ।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीडस्त्रिवत्कलो द्विफलोऽर्कप्रविष्टः ॥ (११।१२।२२।) ।

४-अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः ।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम् ॥ (११।१२।२३।) ।

५-एवं गुरूपासनयैकभक्त्या विद्याकुठारेण शितेन धीरः ।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम् ॥ (११।१२।२४)।

६-मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ॥ (११।१३।२४।) ।

७-एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्यवस्था—
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः ।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्णा—
ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम् ॥ (११।१३।३३।) ।

८-न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म्म उद्धव ! ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथाभक्तिर्ममोर्जिता ॥ (११।१४।२०।) ।

९-वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥(११।१४।२४।)॥

१०-विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥ (११।१४।२७।) ।

११-तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम् ।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनोमद्भावभावितम् ॥ (११।१४।२८।) ।

२

५०–[३]–सविकार-यज्ञप्रजापत्युपासनात्मक-(कर्म्ममय–द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग–(कर्म्मयोग)।

१–यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन् विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः।
तावत्स्थवीयः पुरुषस्य रूपं क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत ॥ (२।२।१४)।

२–एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः।
भगवत्यचलो भावो मद्भागवतसंगतः ॥ (२।३।११)।

३–अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाकम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥ (२।३।१०)।

४–कर्म्म प्रवृत्तं च निवृत्तमप्यृतं वेदे विवच्योभयलिङ्गमाश्रितम्।
विरोधि तद्यौगपदैककर्त्तरि द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म्म नर्च्छति ॥ (४।४।२०)।

५–राज्यकामो मनून् देवान् निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत्।
कामकामो यजेत् सोममकामः पुरुषं परम् ॥ (२।३।६)।

३

५१–(४)–सविकार-यज्ञप्रजापत्युपासनात्मक-(ज्ञानमय-द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग (ज्ञानयोग)

१–आकर्त्तुः कर्म्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाश्रयः।
गुणेषु सत्सु प्रकृतिः कैवल्यं तेष्वतः कथम् ? (३।२७।१९)

२–ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना ॥ (३।२७।२२)।

३–प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना क्षणैर्निशम्।
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः ॥ (३।२७।२३)।

४–अतएष शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि।
भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम् ॥ (३।२७।५)।

५–यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना ।
सर्वत्र जातवैराग्य आ ब्रह्मभुवनान्मुनिः ॥ (३।२७।२७) ।
६–प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरमचञ्चलम् ॥ (३।२८।६) ।
७–मनोऽचिरात् स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः ।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ॥ (३।२८।१०)॥
८–यदा मनः स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम् ।
काष्ठां भगवतो ध्यायेत् स्वनासाग्रावलोकनः ॥ (३।२८।१२) ।

४

—*—

५२-(५)–साञ्जन-विराट्प्रजापत्युपासनात्मक-(काम्यकर्म्ममय–द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग (इष्टयोग)—

१–ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम् ।
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन् ॥
२–देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम् ।
वसुकामो वसून् रुद्रान् वीर्य्यकामोऽथ वीर्य्यवान् ॥
३–अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान् ।
विश्वान् देवान् राज्यकामः साध्यान् संसाधको विशान् ॥
४–आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां यजेत् ।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ ॥
५–रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्रीकामोऽप्सरउर्वशीम् ।
आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम् ॥
६–यज्ञं यजेद्यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम् ।
विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थं उमां सतीम् ॥
७–धर्म्मार्थमुत्तमश्लोकं तन्तुं तन्वन् पितॄन् यजेत् ।
रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान् ॥

८–राज्यकामो मनून् देवान्निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत् ।
कामकामो यजेत् सोमम्·····॥
—श्रीमद्भागवते २।३।२। से ६ पर्य्यन्त

—**—

६ (१)–जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः ।
स्थूले भगवतो रूपे मनः संचारयेद्धिया ॥
१० (२)–विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम् ।
यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत् ॥
११ (३)–आण्डकोशे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरणसंयुते ।
विराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः ।
—२।१।२३,२४,२५,।
१२ (४)–इयानसावीश्वरविग्रहस्य यः संनिवेशः कथितो मया ते ।
संधार्यतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे मनः स्ववुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित् ॥
१३ (५)–स सर्वधीवृत्यनुभूतसर्व आत्मा तथा स्वप्नजनेक्षितैकः ।
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः ॥
—२।१।३८,३६,।

५

—**—

५३–(६)–सावरण-विश्वप्रजापत्युपासनात्मक-(काममय-द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग–[कामयोग]—

क–१–देवयोनिनिवन्धना सिद्ध्युपासना–विश्वोपासना—

१–जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः ॥ (११।१५।१।)
२–सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणायोगपारगैः ।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः ॥ (११।१५।३) ।
३–सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः ।
अहं योगस्य सांख्यस्य धर्म्मस्य ब्रह्मवादिनाम् ॥ (११।१५।३५) ।

—१—

ख–२–मनुष्य-पशु-पक्षी-कीटादि-निबन्धना-उपासना [विश्वोपासना]

१–यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥ (११।११।४१।)

२–सूर्य्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम् ।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे ॥ (११।११।४२।)

३–सूर्य्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम् ।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोष्वङ्ग यवसादिना (१।११।४३।) ।

४–वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया ।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः ॥ (११।११।४४।)

५–स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि ।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ॥ (११।११।४५) ।

६–विष्णवेष्वेष्विति मद्रूपं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत् समाहितः ॥ (११।११।४६)

७–मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम् ।
परिचर्य्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्म्मानुकीर्त्तनम् ॥(११।११।३४।)

८–मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव ! ।
सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम् ॥ (११।११।३५)

९–गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ।
मज्जन्मकर्म्मकथनं मम पर्वानुमोदनम् ॥ (११॥११।३६) ।

१०–यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु ।
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ॥ (११।११।३७) ॥

११–ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः ।
उद्यानोपवनक्रीडापुरमन्दिरकर्म्मणि ॥ (११।११।३८) ।

१२–संमार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्त्तनैः ।
ग्रहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया ॥ (११।११।३९।) ।

१३--अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्तनम् ।
अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ॥ (११।११।४०) ।
१४--नामसंकीर्त्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥ (१२।१३।२३।) ।

——*——

५४- युगधर्म्मभेद–निबन्धन–भक्तिमार्ग–स्वरूप—

कृतयुगे—

१–आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः ।
कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात् कृतयुगं विदुः ॥ (११।१७।१०।)
२–वेदः प्रणव एवाग्रे धर्म्मोऽहं वृषरूपधृक् ।
उपासते तपोनिष्ठां हंसं मां मुक्तिकिल्बिषाः ॥ (११।१७।११।)

——*——

त्रेतायुगे च—

द्वापरयुगे—

३--त्रेतायुगे महाभाग ! प्राणान्मे हृदयात्त्रयी ।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मुखः ॥ (११।१७।१२।)
४–विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः ।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ।

——*——

कलियुगे—

५–एकाकारं कलिं दृष्ट्वा सारवत् सारनीरसम् ।
विष्णुरातः स्थापितवान् कलिजानां सुखाय च ॥
६–कुकर्म्माचरणात् सारः सर्वतो निर्गतोऽधुना ।
पदार्थाः संस्थिता भूमौ बीजहीनास्तुषा यथा ॥
७–विप्रैर्भागवती वार्त्ता गेहे गेहे जने जने ।
कारिता कणलोभेन कथासारस्ततो गतः ॥

८–कामक्रोधमहालोभतृष्णाव्याकुलचेतसः ।
तेऽपि तिष्ठन्ति तपसि तपः सारस्ततो गतः ॥
९–मनसश्चाजयाल्लोभदम्भात्पाखण्डसंश्रयात् ।
शास्त्रानभ्यसनाच्चैव ध्यानयोगफलं गतम् ॥
१०–अत्युग्रभूरिकर्म्माणो नास्तिका रौरवा जनाः ।
तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु तीर्थसारस्ततो गतः ॥
११–पण्डितास्तु कलत्रेण रमन्ते महिषा इव ।
पुत्रस्योत्पादने दक्षा अदक्षा मुक्तिसाधने ॥
१२–न हि वैष्णवता कुत्र सम्प्रदायपुरःसरा ।
एवं प्रलयतां प्राप्तो वस्तुसारः स्थले स्थले ॥
१३–अयं तु युगधर्म्मो हि वर्त्तते कस्य दूषणम् ।
अतस्तु पुण्डरीकाक्षः सहते निकटे स्थितः ॥

——※※——

५५–पौराणिक-उद्धरणों से अनुप्राणित भक्तिमार्ग का स्वरूप-समन्वय, एवं वर्त्तमानयुगे तदुपासना की भी स्वरूप-विच्युति का दुःखपूर्ण इतिवृत्त—

उक्त पौराणिक उद्धरणों से यह तो सर्वथा स्पष्ट हो है कि, कलहमूलक कलियुग में प्रचलित भक्तिमार्ग अपनी ज्ञान-वैराग्य-तपः-प्रणिधान आदि मौलिक सम्पत्तियों से वञ्चित हो ही गया है, साथ ही प्रतिमा-पूजन, नामस्मरण, गुरूपासन आदि भक्ति के जो रूप [विश्वप्रजापत्युपासनारूप] विशेषरूप से कलियुग के लिए ही विहित हुए हैं, उन का स्वरूप भी एकप्रकार से लुप्तप्राय ही बन चुका है। प्रतिमापूजन ने **स्वार्थ-सिद्धि** का, नामस्मरण ने **लोकख्याति** का, गुरूपासना ने साम्प्रदायिक रूढिवादमूलक **व्यक्तिपूजन** का आसन ग्रहण कर लिया है। साधन ने साध्य का बाना पहिन लिया है। यदि इन्हीं सब अनाचारों से देश में प्रतिमापूजन के विरोधी उत्पन्न होजायँ, तो इसमें इन विरोधियों का कोई दोष नहीं माना जासकता। और यह भी निःसंदिग्ध है कि, यदि प्रतिमापूजन का यही अर्थ है, तो ऐसे प्रतिमापूजन का शास्त्र में तो विधान भी नहीं है।

५६–उपासनामार्ग के सम्बन्ध में अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित-'मध्यस्थ' का स्वरूप-समन्वय–

शास्त्र किस लक्ष्य से प्रतिमापूजन का विधान करता है ?, इस प्रश्न की आलोचना तो पाठक आगे के उपासनाभेदों में देखेंगे। यहाँ इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना अलं होगा कि, निर्गुण–निर्धर्म्मक–निराकार, अतएव व्यापक आत्मतत्त्व के साथ समवलयभाव प्राप्त करने के लिए किसी सगुण, सर्वधर्म्मोपपन्न, साकार, अतएव परिच्छिन्न विश्वविभूति का माध्यमिकदृष्टि से (मनःसंयम के लिए) आश्रय लेना ही प्रतिमापूजन है। बिना इस माध्यमिक के उपासना में कभी सफलता नहीं मिल सकती।

५७–ज्ञान-कर्म्म-उपासना-नामक तीनों हीं पथों में अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित मध्यस्थ 'भूतभावों' का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तत्सम्बन्ध में सर्वथा अपेक्षित शब्दप्रमाण का संस्मरण—

न केवल उपासना ही, अपितु ज्ञानकाण्ड, एवं कर्म्मकाण्ड में भी हमें लक्ष्यसिद्धि के लिए आरम्भ में भौतिक द्रव्यों को ही मध्यस्थ बनाना पड़ता है। ज्ञान का उदय मूर्त्त द्रव्यों के समाश्रय पर ही निर्भर है। एवमेव कर्म्मसिद्धि भी भौतिक पदार्थों के आश्रय की ही अपेक्षा रखती है। निर्विकल्पक ज्ञान, भूतविरहित कर्म्म, प्रतिमावज्जिता उपासना, तीनों हीं साधनाकोटि में सर्वथा निरर्थक हैं। इसप्रकार बिना प्रतिमा-माध्यम के भारतीय महर्षियों की शास्त्रीया योगत्रयी, एवं लौकिकी योगत्रयी कभी समन्वित नहीं होसकती। प्रश्न है—प्रमाणवाद का। और प्रश्न आवश्यक भी है, जबकि निम्न लिखित आदेश हमें अपने ज्ञातव्य-कर्त्तव्य भागों के निर्णय के सम्बन्ध में शास्त्रप्रमाण की आवश्यकता की ओर ही आकर्षित कर रहे हैं। देखिए !

१–"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि" ॥
२–"शब्दप्रमाणका वयं. यच्छब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्"।
३–"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म्म इत्याह जैमिनिः।
न भवेच्चोदना यत्र सोऽधर्म्म इति निश्चितः" ॥
४–"प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्"।

५८–आर्य्यसमाज की मान्यता से अनुप्राणित चतुःसंहितात्मक वेदशास्त्र, और तत्सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन—

प्रमाण अपेक्षित है प्रतिमापूजन के विधान के सम्बन्ध में। और वह प्रमाण होना चाहिए शास्त्रीय। शास्त्र एक नहीं, अनेक हैं। किस शास्त्र के प्रमाण से प्रमाणभक्त तुष्ट होसकेंगे ?, यह भी एक आवश्यक प्रश्न है। यदि प्रश्नकर्त्ता का यह आग्रह हो कि, हमें इस सम्बन्ध में केवल उस वेदशास्त्र का ही प्रमाण चाहिए, जिसकी ऋक्, यजुः, साम, अथर्व नाम की चार संहिताएँ प्रसिद्ध, एवं आर्य्यजगत् में प्रचलित हैं। ऐसे प्रमाण की अपेक्षा रखने वाले का अभिप्राय यही है कि, अपौरुषेयवेद की केवल चार ही संहिताएँ हैं, जिन्हें कि आर्य्यसमाज के प्रवर्त्तक आचार्य, एवं तदनुगामी सामाजिक विद्वान् वेद नाम से व्यवहृत करते हैं। एवं जिनकी कि दृष्टि में इतर ११२७ वेदशाखाएँ, ११३१ ब्राह्मणग्रन्थ, ११३१ आरण्यकग्रन्थ ११३१ उपनिषद्ग्रन्थ साक्षात् वेद न होकर वेद के व्याख्याग्रन्थमात्र ही हैं।

५९–प्रतिमापूजन की अवैदिकता से अनुप्राणिता अविचारितरणमीया विचा

इसप्रकार अनन्तवेद के एकदेश को ही वेद मानने का अभिमान करने वाले महाशय ही हमारे सामने यह प्रश्न रखते हैं कि, "जबतक इन चार संहिताओं के मन्त्रों के द्वारा पाषाणादि की प्रतिमाओं का

अर्चन पूजन सिद्ध नहीं कर दिया जाता, किंवा जबतक इन संहिताओं में मूर्त्ति शब्द नहीं दिखला दिया जाता, तबतक प्रतिमापूजन कभी वेदशास्त्रसम्मत नहीं माना जासकता। और ऐसी दशा में यह प्रतिमापूजन-सिद्धान्त विशुद्ध पौराणिक बनता हुआ, अतएव वेदशास्त्रविरुद्ध बनता हुआ सर्वथा त्याज्यकोटि में हीं आ-जाता है।"

६०-वर्त्तमान-प्रतिमापूजन-प्रकारों की तथाकथित वेदशास्त्र में अनुपलब्धि, एवं तन्नि-बन्धना महती जिज्ञासा—

जहाँतक हमें स्मरण होता है, इन चार संहिताओं में सचमुच प्रतिमापूजन का विधान नहीं है। एवं न कहीं मूर्त्ति शब्द ही उपलब्ध होता है। ऐसी दशा में तो परप्रश्न का अनुगमन करते हुए हमें भी थोड़ी देर के लिए तो यही मान लेना पड़ता है कि "प्रतिमापूजन का वर्त्तमानरूप सर्वथा वेदविरुद्ध बनता हुआ अप्रामाणिक, अतएव सर्वथा त्याज्य ही है"। "परन्तु....."।

६१-आक्षेपकर्त्ता की मान्यताओं के सम्बन्ध में समुपस्थिता महती-विप्रतिपत्ति—

इस 'परन्तु' ने आजतक कितने भावुकों की आशाएँ निर्म्मूल कर दीं?, इस सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। आज वही पुरातन **'परन्तु'** उक्त सिद्धान्त को भी निराश करने के लिए सन्नद्ध प्रतीत होरहा है। **"संहिता में प्रतिमापूजन का विधान नहीं, संहिता में मूर्त्ति शब्द नहीं, इसलिए मूर्त्तिपूजन अवैदिक, एवं त्याज्य है"** यदि इस हेतु को प्रामाणिक मान लिया जायगा, तो आक्षेप-कर्त्ता का कर्त्तव्यात्मक कोई भी विधान सुरक्षित न रह सकेगा।

६२-'संस्कारविधि' से अनुप्राणित संस्कारों की इतिकर्त्तव्यताओं से एकान्ततः असंस्पृष्ट वेदशास्त्र, और महाशयवर्ग से प्रतिप्रश्नात्मिका जिज्ञासा—

उदाहरण के लिए संस्कारविधि में प्रयुक्त गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म्म, नामकरण, अन्नप्राशन, यज्ञोपवीत, विवाह, आदि जितने भी संस्कार हैं, जिन संस्कारों को आर्य्यजगत् वेदसिद्ध मानने का अभिमान कर रहा है, उक्त हेतुवाद के आगे इन में से किसी की भी प्रामाणिकता सुरक्षित न रह सकेगी। कारण स्पष्ट है। जिसप्रकार संहिता में प्रतिमापूजन की पद्धति नहीं है, एवमेव उक्त संस्कारों की पद्धति (इतिकर्त्तव्यता) का भी वहाँ आत्यन्तिक अभाव है। आश्चर्य्य तो यह है कि, अभिनिविष्ट लोग साहसपूर्वक जिस यज्ञसूत्र को स्त्री-शूद्रादि के गले में डालना एक वेदसिद्ध कर्म्म समझते हैं, चारों संहिताओं का अथ से इति पर्य्यन्त पारायण करने पर भी वह **"यज्ञोपवीत"** शब्द न मिलेगा, जबकि मूर्त्तिशब्द का ही रूपान्तर प्रतिमाशब्द, एवं पूजनशब्द का ही रूपान्तर **अर्च्चा**, किंवा **अर्चन** शब्द सैंकड़ों स्थानों में स्वयं मूलसंहिताओं में हीं प्रयुक्त मिलेगा।

६३-ज्ञातव्यभाव-निबन्धन वेदशास्त्र का 'विद्याशास्त्रत्व'-समन्वय—

इसी आधार पर क्या हम उन आग्रहकर्त्ताओं से यह निवेदन नहीं कर सकते कि, पद्धति के न मिलने से, मूर्त्ति शब्द के न मिलने से ही यदि प्रतिमापूजन आप की दृष्टि में अवैदिक है तो, आज ही से आप को धर्म्मसम्बन्धी सम्पूर्ण क्रियाकलाप छोड़ देने चाहिएँ। क्योंकि आचरणीय किसी भी धर्म्म की पद्धति संहिता में निरूपित नहीं है। और निरूपण होना भी नहीं चाहिए, जबकि वेद का संहिता भाग केवल ज्ञातव्यभाग में प्रतिष्ठित होता हुआ केवल विद्यापुस्तक है, विद्याशास्त्र है।

६४–सर्वथा विभक्त 'विद्याशास्त्र,' एवं 'धर्म्मशास्त्र,' तथा तन्निबन्धन 'ज्ञातव्य,' और 'कर्त्तव्य' वेद का संस्मरण—

भारतीयशास्त्र को विद्याशास्त्र, एवं धर्म्मशास्त्र भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है । धर्म्म का मौलिक रहस्य बतलाने वाला शास्त्र विद्याशास्त्र है, एवं मौलिक रहस्यों के आधार पर प्रतिष्ठित कर्त्तव्य-इतिकर्त्तव्यता–निरूपक शास्त्र धर्म्मशास्त्र है । हमें क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, इस कर्त्तव्या-कर्त्तव्य–कर्म्मजाल की (आदेशनावाक्यों के द्वारा) व्यवस्था करने वाला शास्त्र धर्म्मशास्त्र है, एवं "क्यों करना चाहिए, क्यों नहीं करना चाहिए ?, इस क्यों का (रहस्यशिक्षण के द्वारा) समाधान करने वाला शास्त्र विद्याशास्त्र कहलाता है ।

६५–विद्या-उपनिषत्-एवं श्रद्धा से समन्वित कर्म्म की वीर्य्यवत्ता का स्वरूप-समन्वय, तथा-'विद्या धर्म्मेण शोभते' का संस्मरण—

विद्या का केवल सम्यग्दर्शन, एवं सम्यग्ज्ञान से सम्बन्ध है, एवं धर्म्म का सम्यक् आचरण से सम्बन्ध है । जानना विद्या है, करना धर्म्म है । सिद्धान्त विद्या है, सिद्धान्तानुगमन धर्म्म है । यदि धर्म्म विद्याशून्य है, तो "**अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे**" के अनुसार वह पतन का कारण बन जाता है । "**यदेव विद्ययोपनिषदा श्रद्धया करोति, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति**" इत्यादि श्रुति विद्यायुक्त धर्म्माचरण (कर्त्तव्यानुष्ठान) को ही वीर्य्यवत्तर बतला रही है । एवमेव यदि विद्या धर्म्मशून्य है, तो वह निरर्थक है । "**ततो भूय ते तमो य उ विद्यायां रताः**" इत्यादि श्रुति केवल विद्या को भी बुरा बतला रही है । विद्या (ज्ञान) की शोभा धर्म्म (आचरण) है–"**विद्या धर्म्मेण शोभते ।**"

६६–विज्ञान-स्तुति-इतिहासात्मक ज्ञातव्य-वेदशास्त्र, एवं कर्म्म-उपासना-ज्ञानात्मक-कर्त्तव्य-वेदशास्त्र का तात्त्विक-स्वरूप-संस्मरण—

इस कर्त्तव्यात्मक धर्म्मशास्त्र के आगे जाकर श्रुति स्मृति ये दो भेद हो जाते हैं। वैदिक ज्ञातव्य, एवं वैदिक कर्त्तव्य भेद से एक ही वेदशास्त्र दो भागों में विभक्त होजाता है । **विज्ञान, स्तुति, इतिहास**, ये तीन ज्ञातव्य विषय हैं । एवं संहितारूप मन्त्रवेद में इन्हीं तीनों ज्ञातव्य विषयों का निरूपण हुआ है । **कर्म्म**[1], **उपासना**[2], **ज्ञान**[3] (भौतिककर्म्म, माध्यमिककर्म्म, आध्यात्मिककर्म्म) ये तीन कर्त्तव्य विषय हैं । ब्राह्मणात्मक वेद के **विधि, आरण्यक, उपनिषत्** तीन भागों में क्रमशः इन तीन कर्त्तव्यभागों का निरूपण हुआ है । वैदिक कर्त्तव्य, एवं स्मार्त्तकर्त्तव्य में कर्त्तव्य दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है । कर्त्तव्यात्मक वेदभाग में जिन कर्त्तव्यों का निरूपण हुआ है, मन्वादि स्मृतियों ने उन्हीं का स्पष्टीकरण किया है । विशेषता है-निरूपणीया पद्धति–मात्र में ।

६७–धर्म्मरहस्य–प्रतिपादक श्रुतिशास्त्र, एवं धर्म्माचरण–प्रतिपादक-स्मृतिशास्त्र, तथा तत्सम्बन्ध में राजर्षि मनु—

स्मृतिशास्त्र केवल कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सम्बन्ध में विधि--निषेध कर के तटस्थ बैठ जाता है । वह इन कर्त्तव्यों का मौलिक रहस्य (विद्या) नहीं बतलाता । यही नहीं, यदि उससे कोई उसकी आज्ञा के

सम्बन्ध में-"-ऐसा ही क्यों करें ?" यह हेतु सामने रखने की धृष्टता कर बैठता है, तो पहिले तो सीधे शब्दों में वह—"धर्म्म जिज्ञाससमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" (यदि तुम्हें धर्म्म का मौलिक रहस्य जानना है, तो वेद का आश्रय लो) यह उत्तर देता है। यदि हेतुवादी दुराग्रह करने लगता है, तो उसके मुख से निम्न लिखित उत्तर मिलता है कि —

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्य्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

—मनु.

६८ 'विद्याशास्त्र,' तथा 'धर्म्मशास्त्र'-अभिधाओं का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय—

उधर कर्त्तव्यात्मक (ब्राह्मण–आरण्यक–उपनिषद्रूप) वेदशास्त्र कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सम्बन्ध में विधि–निषेध करता हुआ साथ साथ इनका मौलिक रहस्य (विद्या) भी बतलाता जाता है। प्रत्येक कर्म्म–उपासना--ज्ञानरूप कर्त्तव्य के साथ ही उसकी उपपत्ति प्रतिपादित है। अपनी इस विद्यात्मिका विशेषता से ही आगे जाकर कर्त्तव्यात्मक सोपपत्तिक वेदरूप यह 'धर्म्मशास्त्र' 'विद्याशास्त्र' नाम से प्रसिद्ध होगया है, एवं केवल स्मृतिशास्त्र ही 'धर्म्मशास्त्र' नाम का अधिकारी बच रहा है।

६९–विशुद्ध-विद्याशास्त्र, विद्यागर्भित-धर्म्मशास्त्र, एवं विशुद्ध-धर्म्मशास्त्र-भेदनिबन्धना शास्त्रत्रयी का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय—

निष्कर्ष यह निकला कि, विद्याशास्त्र वेदशास्त्र है। इसके ज्ञातव्य--कर्त्तव्य–भेद से दो विभाग हैं। ज्ञातव्या विषयत्रयी (विज्ञान--स्तुति–इतिहासत्रयी) का निरूपक संहितारूप मन्त्रभाग है। इसमें किसी भी कर्त्तव्यकर्म्म का निरूपण नहीं है। एवं कर्त्तव्यविषयत्रयी (कर्म्म--उपासना–ज्ञानत्रयी) का निरूपक, विधि--आरण्यक-उपनिषदात्मक ब्राह्मणभाग है। इसप्रकार "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस आर्षोक्ति से प्रमाणीकृत मन्त्रात्मक वेद विद्यात्मक बना हुआ है, ब्राह्मणत्मक वेद विद्यागर्भित धर्म्मात्मक बना हुआ है। धर्म्मात्मक वेदभाग के आधार पर प्रतिष्ठित, दूसरे शब्दों में श्रौतकर्त्तव्यों का प्रतिपद अनुसरण करने वाला विशुद्ध विधि-निषेधात्मक स्मृतिशास्त्र विशुद्ध धर्म्मशास्त्र बना हुआ है। इस दृष्टि से प्रमाणरूप शास्त्र के –१– विशुद्ध विद्याशास्त्र, --२--विद्यागर्भित--धर्म्मशास्त्र, –३–विशुद्ध धर्म्मशास्त्र, ये तीन भेद होजाते है। इन तीनों में से विशुद्ध धर्म्मशास्त्र (स्मृतिग्रन्थ) वह प्रामाणिक माना जाता है, जिस का मूल विद्यागर्भित धर्म्मशास्त्र के किसी पर्व में (विधि, आरण्यक, एवं उपनिषत् में], एवं विशुद्ध विद्याशास्त्र में [संहिता में] प्रतिष्ठित रहता है। वेदशास्त्र से विरुद्ध धर्म्मशास्त्र सर्वथा उपेक्षणीय है, जैसाकि निम्न लिखित आदेश से ही स्पष्ट है–

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥

१—विज्ञानम्—खण्डखण्डात्मकावन्तरविज्ञानगर्भितम्

१ { २—स्तुतिः—प्राणदेवतास्वरूपपरिचयरूपा } ज्ञातव्यत्रयी [विद्यात्मिका]

३—इतिहासः—सृष्टीतिवृत्तयुक्तो वेदयुगानुगतः

——*——

१—कर्म्म—आधिभौतिकं विशुद्धं कर्म्म

२ { २—उपासना—अधिभूताधिदैवयुक्तं कर्म्म } कर्त्तव्यत्रयी [विद्यागर्भिता]

३—ज्ञानम्—आधिदैविकं विशुद्धं—कर्म्म

——*——

१—गृह्यधर्म्माः—आधिभौतिकाः

३ { २—वानप्रस्थधर्म्माः—आधिभौ०आधिदैविकाः } धर्म्मत्रयी [धर्म्मात्मिका]

३—संन्यासधर्म्माः— आधिदैविकाः

——*——

विद्याशास्त्रम् वेदशास्त्रम् { १—ज्ञातव्यत्रयी—विशुद्धविद्यात्मिका—विद्याशास्त्रम्—वेदः (संहिताः-मन्त्राः)
२—कर्त्तव्यत्रयी—विद्यागर्भितधर्म्मात्मिका— विद्यायुक्तधर्म्मशास्त्रम्-श्रुतिः(वि०आ०उ०-ब्राह्मणम्)

धर्म्मशास्त्रम् स्मृतिशास्त्रम् { ३—धर्म्मत्रयी—विशुद्धधर्म्मात्मिका —धर्म्मशास्त्रम्—स्मृतिः (स्मृतयः)

——*——

७०—शास्त्रभारवृद्धि से अनुप्राणिता एक प्रासङ्गिकी जिज्ञासा, एवं तत्समन्वय-प्रयास—

इस सम्बन्ध में पाठकों के हृदय में एक नवीना जिज्ञासा उत्पन्न होसकती है। ज्ञातव्य—कर्त्तव्य के अतिरिक्त जब पुरुषार्थ के सम्बन्ध में और कुछ नहीं बच रहता, एवं ज्ञातव्यत्रयी का जब मन्त्रभागने, कर्त्तव्यत्रयी का विधि-आरण्यक--उपनिषद्रूप ब्राह्मणभागने निरूपण कर दिया, तो फिर तीसरे धर्म्मशास्त्र, किंवा स्मृतिशास्त्र की आवश्यकता ही क्या रह गई ?। क्यों स्मृतिशास्त्र का निर्म्माण कर शास्त्रभार बढाया गया ?।

७१—भारतीय-शास्त्रतालिका की गुरुभारान्विता परम्परा के सम्बन्ध में जिज्ञासु की विप्रतिपत्ति का दिग्दर्शन—

प्रश्नमर्य्यादा यहीं समाप्त नहीं होजाती। मन्वादि स्मृतियों के अतिरिक्त १८ पुराण, १८ उपपुराण—भेदभिन्न षट्त्रिंशद्विध **पुराणशास्त्र**, षड्विध (६) **कल्पग्रन्थ**, चतुर्दशविध (१४) [ऊर्ध्वाधराद्याम्ना-

यादि-लक्षण] **सिद्धान्तग्रन्थ**, अष्टविध (६) **डामरग्रन्थ**, दशविध (१०) **यामलग्रन्थ**, चतुःषष्टिविध (६४) तन्त्रग्रन्थ, सम्भूय विंशोत्तरशत् (१२०) अवान्तर भागों में विभक्त षड्विध **आगमशास्त्र**, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, सामयाचारिकसूत्र भेदभिन्न त्रिविध **कल्पग्रन्थ**, अवान्तर अनेकों विभागों को अपने गर्भ में रखने वाले शिक्षा, कल्प, छन्द व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष, नामक **अङ्गग्रन्थ**, **महाभारत**, ३६ अवान्तर भागों में विभक्त **षड्दर्शनग्रन्थ**, शुक्रादिनीतिग्रन्थ, आदि **आदि** उन असंख्य ग्रन्थों के निर्म्माण की ही क्या आवश्यकता थी, जबकि, सब काम शाखा-विभक्त वेदशास्त्र से ही सिद्ध था ?।

७२-वेदशाखाग्रन्थों के सम्बन्ध में महती-विप्रतिपत्ति का समुत्थान—

और फिर उन ११२७ संहिताओं की, ११३० ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों की ही क्या आवश्यकता थी, जबकि ४ संहिताग्रन्थों से, एवं एक एक ब्राह्मण आरण्यक--उपनिषत् से ही सब कुछ गतार्थ था ?।

७३-प्रतिमापूजन की अवैदिकता के उद्घोषक-वर्ग से प्रतिप्रश्नात्मिका जिज्ञासा—

प्रतिमापूजन को वेदविरुद्ध बतलाने वाले उन बुद्धिमानोंनें क्या कभी उक्त प्रश्नों की मीमांसा करने का कष्ट उठाया है ?। और फिर हम उन्हीं से यह प्रश्न क्यों न करें कि, भगवन् ! कर्त्तव्यकर्म्म के लिए जब अनादिकाल से कल्पद्धतियाँ प्रचालित हैं, तो फिर आपने इन स्वतन्त्र **संस्कारविधि** आदि महाग्रन्थों ? को जन्म देने का कष्ट क्यों उठाया ?। जब आगम-पुराणादि सब कल्पित हैं, वेदविरुद्ध हैं, केवल वेद ही अभ्युदय-कर है, तो, उन मन्त्रसंहिताओं से ही आपने क्यों नहीं अपने मतवाद को सुरक्षित रखने का कष्ट उठाया ?।

७४-वास्तविक शास्त्र, तथा शास्त्राभासों का समतुलन, एवं शास्त्राभासों की उपेक्षणीयता—

ग्रन्थकले र की वृद्धि से सम्बन्ध रखने वाली भीति अर्गला लगा रही है। नहीं तो उक्त शास्त्रों के सभी अवान्तर विभागों का मौलिक रहस्य सेवा में उपस्थित किया जाता, और उसके आधार पर श्रीमानों को यह विश्वास कराया जाता कि, सभी शास्त्र किसी आवश्यकतम प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर ही अवतीर्ण हुए हैं। हाँ, उन शास्त्राभासों की बात तो जाने दीजिए, जो वेदपद्धतियों से सर्वथा विरुद्ध बनते हुए एकान्ततः उपेक्षणीय ही हैं।

७५-मूलात्मक-यज्ञपुरुष, तूलात्मक कालपुरुष, एवं तन्निबन्धन पुरुष, तथा प्रकृत्ति-विवर्त्तों का तात्त्विक-पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय, और पुरुष की समष्टि-व्यष्टि-रूपा पूर्णता का स्वरूप-संस्मरण—

प्रकरण-सङ्गति के लिए अभी उक्त शास्त्रभेद के सम्बन्ध में केवल यही जान लेना आवश्यक होगा कि, पुरुषव्याप्ति ही शास्त्रतत्त्व की प्रतिष्ठा है। गीता के शब्दों में--प्रकृतियुक्त अव्ययपुरुष, एवं मन्त्रसंहिता के शब्दों में अजब्रह्म (अव्ययब्रह्म) सर्वत्र-व्याप्त होरहा है। इस पुरुषतत्त्व के अक्षरलक्षणा महामाया, एवं क्षरलक्षणा योगमाया के सम्बन्ध-तारतम्य से **यज्ञ**, **काल**, भेद से दो रूप होजाते हैं। यज्ञपुरुष मूलब्रह्म है, कालपुरुष तूलब्रह्म है। यज्ञपुरुष पुरुषप्रधान है, कालपुरुष प्रकृतिप्रधान है। कारण स्पष्ट है। अक्षरयुक्त

महामायावच्छिन्न यज्ञपुरुष (षोडशीप्रजापति) अपरिवर्त्तनीया गुणतीता महामाया के सम्बन्ध से निर्गुण रहता हुआ, स्वस्वरूप से विकसित रहता हुआ प्रधान बना रहता है। उधर क्षरयुक्त योगमायावच्छिन्न काल-पुरुष (विराट्प्रजापति) परिवर्त्तनीय त्रिगुणभावमयी योगमाया के सम्बन्ध से सगुण–सविकार–साञ्जन–सावरण–बनता हुआ स्व-स्वरूप से आवृत होकर प्रकृति से तिरोहित बना रहता है–**"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः"**। इसप्रकार अक्षर-क्षर-प्रकृति के भेद से उस एक ही पुरुष के **पुरुषप्रधान यज्ञपुरुष, प्रकृति-प्रधान कालपुरुष** ये दो विवर्त्त होजाते हैं। दोनों हीं विश्वव्यापक हैं, परन्तु एक (यज्ञपुरुष) समष्टिरूप रूप से—**"तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्"**। एवं एक (कालपुरुष) व्यष्टिरूप से–**"पुरश्चक्रे द्विपदः"**-**"पुरुष एवेदं सर्वम"**।

७६–विश्वहृदयमूर्त्ति यज्ञपुरुष की त्रयीविद्यात्मकता का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

"यज्ञो विश्वस्य हृदयम्" के अनुसार अपने सहस्रार्कों से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त रहता हुआ यज्ञपुरुष उक्थरूप से विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित होता है। पाठक यह जानते ही हैं कि, विश्वकेन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठित है—**"आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम"**। केन्द्रप्रतिष्ठित इसी सूर्य्य में, किंवा सौरमण्डल में गायत्री-मात्रिक वेदतत्त्व के आधार पर यज्ञ–पुरुष की यज्ञविभूति का विकास होता है, जैसा कि—**"सैषा त्रयीविद्या–तपति"**—**"सैषा त्रयीविद्या यद्यज्ञः"** इत्यादि निगमवचनों मे स्पष्ट है।

७७–पुरुषानुगत-यज्ञात्मक-सौरपुरुष से अनुप्राणिता नित्या-अपौरुषेया निगमविद्या, तथा प्रकृत्यनुगता-कालात्मिका-पार्थिवी प्रकृति से अनुप्राणिता नित्या आगमविद्या का रहस्यपूर्ण समन्वय, और तन्निबन्धना निगमागमशास्त्रद्वयी का संस्मरण—

दूसरे व्यष्ट्यात्मक प्रकृतिप्रधान कालपुरुष से कालात्मक पार्थिवसम्वत्सरचक्र का आविर्भाव होता है। यही पार्थिव सम्वत्सर कलनात्मिका पार्थिवी सृष्टि का भाग्यविधाता बनता है। यही उस वेदात्मक यज्ञपुरुष का दूसरा रूप है, जिसे पूर्व प्रकरणों में हमने त्रैलोक्य–त्रिलोकात्मक पार्थिव विराट् कहा है। वह यज्ञतत्त्व स्वयं निर्गत होने से **निगम** है, यह कालतत्त्व निगम से आगत होने से **आगम** है। बस नित्य शास्त्रों के ये ही दो प्रधान रूप हैं। सूर्य्यविद्या यज्ञविद्या है, पुरुषविद्या है। पार्थिवविद्या कालविद्या है, प्रकृतिविद्या है। पुरुषविद्या नित्या निगमविद्या है, पार्थिवविद्या नित्यनिगमांशभूता शाश्वत–आगमविद्या है। निगमविद्या नित्य निगमशास्त्र है, आगमविद्या नित्य आगमशास्त्र है।

७८–निगमागममूलक मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र, एवं तन्मूलक पुराण-स्मृति-इतिहासात्मक शास्त्र का स्वरूप-संस्मरण—

इन्हीं दोनों नित्यविद्याओं के आधार पर प्राकृत-शास्त्रों के आधार पर महामहर्षियों के द्वारा शब्दात्मक निगम–आगम-शास्त्रों का निर्म्माण हुआ है। निगमशास्त्र के उद्गोनें (प्रकृतिभेद के अनुसार ही) मन्त्र–ब्राह्मण दो भाग कर डाले हैं, एवं आगमशास्त्र के पुराण–इतिहास–स्मृति आदि विभाग कर डाले हैं। आगम के अवान्तर अनेक भेद ही स्मृतिशास्त्र है। इसीलिए इतिहासग्रन्थान्तर्गत (महाभारतान्तर्गत) गीता

आदि के लिए भी भगवत्पाद श्रीशंकर आदिने—"यथाह स्मृतिः" इत्यादि रूप से स्मृति शब्द का ही व्यवहार किया है। जब निगम के मन्त्र–ब्राह्मण भागों से ही ज्ञातव्य–कर्त्तव्य की सिद्धि गतार्थ थी, तो तीसरे स्मृतिशास्त्र का जन्म क्यों हुआ ?, इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

७९–ज्ञातव्यत्रयी का निरूपक वेदशास्त्र, एवं तदाधारेण आर्य्यजगत् के सम्मुख महती विप्रतिपत्ति का संस्थापन—

संहितात्मक वेदभाग जब केवल ज्ञातव्यत्रयी का निरूपण करता है, तो उसमें कर्त्तव्य-विधि का अन्वेषण करना, दूसरे शब्दों में आचार, व्यवहार, वर्णाश्रम, संस्कार, अवतारपूजन, मूर्त्तिपूजन, श्राद्ध, आदि धर्म्म-कर्म्मों की पद्धति ढूँढना पागलपन नहीं, तो और क्या है ?। यदि इसी उन्मत्तता का नाम ही वेदभक्ति है, तो छोड़िए आज से ही सन्ध्या, तर्पण, जीवितपितर श्राद्ध, यज्ञोपवीतादि संस्कार, हवन, भजन। क्योंकि इनमें से किसी एक की भी इतिकर्त्तव्यता संहिता में विहित नहीं है। एवं जिस इतर शास्त्रीय आदेश की पद्धति मूलसंहिता में न हो, वह आदेश आपकी दृष्टि में अवैदिक, किंवा वेद–विरुद्ध बनता हुआ सर्वथा त्याज्य है।

८०–प्रिय महाशयवर्ग से प्रणतभावेन किञ्चिदिव सामयिक-आवेदन—

प्रिय महाशय ! आपको स्मरण रखना चाहिए कि, आर्य्यजाति के जितने भी धर्म्मादेश हैं, जितने भी कर्त्तव्यानुष्ठान हैं, उन सब का संहिताओं में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्षरूप से आपको मूलमात्र मिल सकता है, पद्धति नहीं। हाँ यदि किसी कर्त्तव्यानुष्ठान का मूल संहिता में न मिले, तो वह स्मार्त्तादेश अवश्य ही अप्रामाणिक माना जायगा, एवं वेदबाह्य उन्हीं स्मृतियों को तमोनिष्ठा कहा जायगा।

८१–प्रतिमापूजनोपलब्धि के सम्बन्ध में किञ्चिदिव प्रासङ्गिक-नम्र निवेदन—

पूर्व में कहा जाचुका है कि, वेदशास्त्र के विशुद्ध विद्यात्मक, एवं विधागर्भित धर्म्मात्मक, दो विभाग हैं। संहिताभागरूप मन्त्रभाग तो विशुद्ध विद्यात्मक हैं। इनमें तो केवल कर्त्तव्यानुष्ठानों के केवल मूल ही उपलब्ध होंगे। दूसरा विधि -आरण्यक–उपनिषद्रूप ब्राह्मणभाग विद्यागर्भित धर्म्मशास्त्र है। इसमें अवश्य ही प्रतिमापूजन की इतिकर्त्तव्यता भी विहित हुई है। और बड़े विस्तार से विहित हुई है। जहाँतक हमारा विश्वास है, आक्षेपकर्त्ता ब्राह्मणभाग को साक्षात् वेद न मानता हुआ भी इनकी प्रामाणिकता अवश्य ही स्वीकार करता है। ऐसी दशा में तो स्वयं उसके मतानुसार भी प्रतिमापूजन सर्वथा प्रामाणिक बन जाता है। हाँ, तो पहिले उस संहितारूप मूलवेद का ही, आक्षेपकर्त्ता के मताभिमत चार संहिताओं का ही अन्वेषण कीजिए। देखें-उनमें प्रतिमा पूजन का मूल उपलब्ध होता है, अथवा नहीं ?।

८२–यज्ञात्मक विष्णु के पूर्ण, तथा अंशावतारों का पावन संस्मरण—

मूलान्वेषण से पहिले इस सम्बन्ध में एक रहस्यभाव को लक्ष्य बनाना आवश्यक होगा। सम्भवतः पाठक यह न भूले होंगे कि, पूर्व के उपासनामार्गों में यत्र यत्र यह स्पष्टीकरण किया गया है कि, अवतार–मर्य्यादा का विशेषरूप से वैदिक विष्णुदेवता के ही साथ सम्बन्ध है। यज्ञप्रजापति ही विष्णु है, एवं सम्पूर्ण अवतार इसी के पूर्णावतार, किंवा अंशावतार हैं।

८३–त्र्यक्षरमूर्त्ति-प्रजापति का स्वरूप-संस्मरण, एवं तन्निबन्धना संयती-क्रन्दसी-रोदसी-त्रिलोकी, और सर्वव्यापक-अश्वत्थवृक्ष का स्वरूप-समन्वय—

नियन्ता प्रजापति के प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्मा, आगतिलक्षण विष्णु, गतिलक्षण-इन्द्र ये, तीन पर्व हैं। ब्रह्मा स्वतन्त्र हैं, एकाकी हैं, एवं ये सयतीत्रैलोक्य के अधिष्ठाता हैं। विष्णुदेवता इन्द्र के युज्य–सखा हैं—"इन्द्रस्य युज्यः सखा"। पारमेष्ठ्य–सोम (अक्षरगणना के अनुसार चौथा अक्षर) इनकी प्रतिष्ठा है। अत–एव विष्णु को सोमवशी, किंवा सोममूर्त्ति माना गया है—"यो वै विष्णुः सोमः सः" (शतपथ)। इस–प्रकार विष्णु, सोम, इन्द्र, इन तीनों की समष्टि ही विष्णुतत्त्व है, एवं यों विष्णुदेवता क्रन्दसी-त्रैलोक्य के अधिष्ठाता हैं। तीसरे इन्द्रदेवता अग्निप्रधान, सोमगर्भित बनते हुए त्रिमूर्त्ति हैं। इन्द्र का सूर्य्यसंस्था में, सोम का चन्द्रसंस्था में, एवं अग्नि का पृथिवीसंस्था में विकास है। सूर्य्य–चन्द्र–पृथिवी की समष्टि ही इन्द्र–सोम–अग्निमूर्त्ति इन्द्र देवता हैं, यही त्रिनेत्रशिव, किंवा महादेव हैं। "महो देवो मर्त्याँ आविवेश" वाले यही वृषभवाहन देवादिदेव महादेव हैं। सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी की समष्टि ही रोदसी त्रिलोकी है। इसके अधि-ष्ठाता ये ही इन्द्र-प्रधान महादेव हैं।

८४–अश्वत्थवृक्ष के अधोभाग में अवस्थित भगवान् भूतनाथ के आगमिक ध्यान का पावन संस्मरण—

अश्वत्थवृक्ष के मूल में ब्रह्मा प्रतिष्ठित है, मध्य मे विष्णु प्रतिष्ठित है, एवं अन्तिम पर्वरूप रोदसी में ये त्रिनेत्र महादेव प्रतिष्ठित हैं। पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाली वर्णलिपि ही लिपिमय कमल है। यही "पद्भां भूमि प्रतिष्ठितः" के अनुसार इनका आसन (प्रतिष्ठाभूमि) है। द्रुद्रुम (अश्वत्थवृक्ष) के अधस्तलोपलक्षित-रोदसी-त्रिलोकी में प्रतिष्ठित इसी गुह्यतत्त्व का स्वरूप बतलाता हुआ आगमशास्त्र कहता है—

व्याख्या मुद्राक्षमालाकलशसुलसिते बाहुभिर्बाममादं।
बिभ्राणो जानुमूर्ध्ना पदतलनिहितापस्मृतिद्रुर्दुमाधः॥
सौवर्णे योगपीठे लिपिमयकमले सूपविष्टस्त्रिनेत्रः।
क्षीराभश्चन्द्रमौलिर्वितरतु विबुधां शुद्धबुद्धिं शिवो नः॥१॥

८५–अमृत-मृत्यु-संस्थान-विवेक, एवं मृत्युविजेता भगवान् मृत्युञ्जय महादेव का माङ्गलिक संस्मरण, तथा तदनुगता लिङ्गोपासना का दिग्दर्शन—

सूर्य्य से उपर का भाग अमृत–प्रधान बनता हुआ अव्यक्त है। एवं नीचे का भाग मृत्यु–प्रधान बनता हुआ व्यक्त है। सूर्य्य ही व्यक्तीभाव का उपक्रम–स्थान है। प्रत्यक्ष में इसी सौरत्रिलोकी की अभि–व्यक्ति होरही है। मृत्युपाश से त्राण पाने के लिए इसी मृत्युञ्जय का यजन आवश्यक है। यही तत्त्व अव्यक्त विष्णु–ब्रह्मा का लिङ्ग (परिचायक) है, व्यक्त ही अव्यक्त का लिङ्ग बनाता है, अतएव इस व्यक्त महोदेव (महादेव) की "लिङ्ग" रूप से ही उपासना की जाती है, जैसाकि आगे के प्रकरणों में स्पष्ट होने वाला है।

८६–क्षत्ररुद्रात्मक सौर महादेव, एवं विड्रुद्रात्मिका रुद्रप्रजा का स्वरूप–समन्वय, तथा व्यक्त-मूर्त्त-मूर्त्ति-भावानुबन्धी इन्द्रात्मक-शिव के औपासनिक स्वरूप का दिग्दर्शन–

प्रकृत में इस देवत्रयी के स्वरूप–दिग्दर्शन से यही बतलाना है कि, तीनों में ब्रह्मा एक तटस्थदेवता हैं, विष्णु और इन्द्रात्मक शिव देवता ही आगति–गति धर्म्म से सहस्रत्रयीरूप विश्व के सर्वेसर्वा बन रहे हैं। जैसाकि-'इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इन में यज्ञमूर्त्ति विष्णु अव्यक्त बनते हुए अनिरुक्त हैं, एवं भूतमूर्त्ति शिव व्यक्त बनते हुए निरुक्त हैं। अनिरुक्त विष्णु अमूर्त्तजगत् के संचालक हैं, एवं व्यक्त शिव मूर्त्तजगत् के सञ्चालक हैं। मूर्त्ति (भौतिक दृश्य पदार्थ) भाव दृश्य जगत् है, एवं यह मृत्युप्रधान है। सूर्य्य से आरम्भ कर नीचे नीचे इसी मूर्त्तिलक्षण दृश्यमर्त्य विश्व का प्राधान्य है, जैसाकि—'तद्यत् किञ्चावाँचीनमादित्यात्–सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है। इस का 'जय' करने वाले वही मृत्युञ्जय महादेव है। मृत्युञ्जयरुद्र के क्षत्र–विट्–भेद से दो रूप माने गए हैं। प्रत्यक्षदृश्य ताम्र सूर्य्य क्षत्ररुद्र है, एवं सूर्य्य की अनन्तरश्मियाँ विड्रुद्र (रुद्रप्रजा) हैं, जैसाकि–निम्नलिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः।
ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशो वैषां हेड ईमहे॥
असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः।
उतैनं गोपा अदृश्यन्नदृश्यन्नुदहार्य्यः–स दृष्टो मृडयातु नः'॥

—यजुःसंहितायाम्

८७-ताम्र-सुमङ्गल–नीलग्रीवादि–लक्षण त्र्यम्बक शिवतत्त्व, एवं उन के शिवशरीर, तथा घोरशरीर का पावन-संस्मरण—

'असौ, ताम्रः,सुमङ्गलः, नीलग्रीवः, विलोहितः, दृष्टः, इत्यादि शब्द इस के व्यक्तीभाव का ही समर्थन कर रहे हैं। इस व्यक्त रुद्रतत्त्व का मौलिक स्वरूप है 'सावित्राग्नि'। इस अग्नितत्त्व के ही शिवशरीर, घोरशरीर, भेद से दो स्वरूप बन जाते हैं। जबतक अग्नि के साथ सोमाहुति का सम्बन्ध है, तबतक तो इन्द्र देवता यज्ञरक्षक बनते हुए शिव बने रहते हैं। सोमाहुति के अवरुद्ध होजाने पर ये ही रुद्ररूप धारण करयज्ञ विध्वंसक बन जाते हैं। जैसाकि पौराणिक दक्ष–यज्ञध्वंसाख्यान से स्पष्ट है।

८८–यज्ञियरुद्राग्निदेवता की शान्ततनु, एवं आहुतिनिरोधानुगता घोरतनु का संस्मरण–

शारीराग्नि को रुद्र समझिए। जबतक सायं प्रातः इस में सोमरूप अन्न की आहुति होती रहती है, तबतक तो यज्ञिय रुद्राग्नि शान्त बना हुआ शरीरसंस्था की, दूसरे शब्दों में शरीरयज्ञ की रक्षा करते रहते हैं। अन्नाहुति बन्द होजाने पर यही विशुद्ध घोररूप धारण करता हुआ विनाश का कारण बन जाता है। रुद्र के इन्हीं दोनो स्वरूपों को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्त! अभिचाकशीहि॥

—यजुःसंहितायाम्

८९–श्रावणमासे उपास्य शान्तशरीरी साम्बसदाशिव, एवं फाल्गुनमासे उपास्य घोर-शरीरी रुद्रदेव का संस्मरण—

'अग्निर्वा रुद्रः, तस्यैते द्वे तन्वे घोराऽन्या च, शिवान्या च'। घोरशरीर विशुद्ध अग्निमय बनकर संसार को रुलाता हुआ 'रुद्र' है। शिव–शरीर आपोमय बनता हुआ संसार को स्वस्थ रखता हुआ "साम्ब सदाशिव" है। पारमेष्ठ्य आपः (सोम) के सम्बन्ध से वही साम्बसदाशिव है, विशुद्धरूप से वही रुद्र है। श्रावणमास साम्बसदाशिव की उपासना का समय है, एवं फाल्गुनमास रुद्रोपासनाकाल है। अस्तु, इस विस्तार क्रम को छोड़ कर प्रकृत का अनुसरण कीजिए।

९०–अवतारभावनिबन्धन अव्यक्त विष्णु, एवं उपास्यभावानुबन्धी व्यक्त शिव का स्वरूप-संस्मरण, तथा शिवोपासना की शाश्वतता का स्वरूप–समन्वय, और साम्प्रदायिक जगत् की अर्वाचीना वैष्णवी–उपासना का दिग्दर्शन—

अवतार का सम्बन्ध जहाँ अव्यक्त, अनिरुक्त, अमूर्त्त विष्णु से है, वहाँ मूर्त्ति का सम्बन्ध व्यक्त, निरुक्त, मूर्त्त इन्द्रप्रधान शिवतत्त्व से है। इसी आधार पर भारतवर्ष में अवतार के सम्बन्ध में जहाँ विष्णु का यशोगान किया जाता है, वहाँ प्रतिमापूजन के सम्बन्ध में शिवतत्त्व को ही प्रधानता दी जाती है। यद्यपि यह ठीक है कि, आज शिवप्रतिमा के स्थान में विष्णुप्रतिमा प्रधान बन गई है। परन्तु इस सम्बन्ध में हमें कहना पड़ेगा कि, वैष्णवसम्प्रदायों के प्रचार बाहुल्य ने ही शिवप्रतिमोपासनामार्ग को शिथिल बनाया है। विगत शताब्दियों में प्रादुर्भूत श्रीरामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, माध्व आदि साम्प्रदायिक आचार्यों के प्रचार–विशेष से ही विष्णुपूजन को आज वर्त्तमानरूप मिल गया है। वस्तुतः देखा जाय, तो आदिकाल से (देवयुग से) आरम्भ कर सम्प्रदाययुग से पहिले पहिले पर्य्यन्त शिवपूजन ही प्रधान रहा है। और ऐसा होना न्याय सङ्गत भी है। जबकि मूलसंहिता में प्रतिमा, अर्च्चन, भजन, पूजन आदि के सम्बन्ध में इन्द्रात्मक शिवतत्त्व का ही निरूपण उपलब्ध होता है। यही कारण है कि, सम्प्रदायाचार्य्यों को छोड़कर भारतवर्ष में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उस सबने प्रतिमोपासना के सम्बन्ध में शिवप्रतिमा को ही विशेष महत्त्व दिया है। स्वयं अवतारपुरुषोंने भी (भगवान् राम परशुरामादिने भी) शिवपूजन का ही अनुगमन किया है। स्वयं ऋग्वेद-काल भी इस पक्ष का समर्थक बन रहा है, जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होगा।

निष्कर्ष यह हुआ कि, अवतार का प्रधान सम्बन्ध जहाँ विष्णु से है, वहाँ प्रतिमापूजन का प्रधान सम्बन्ध (अग्निसोमगर्भित, अतएव शिव नाम से प्रसिद्ध) इन्द्र तत्त्व के साथ ही है। इस का सब से प्रबल प्रमाण यही है कि, संहिताग्रन्थों में जहाँ जहाँ प्रतिमा शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहाँ वहाँ सर्वत्र वह एकमात्र इन्द्रतत्त्व से ही सम्बन्ध रखता है, जैसाकि निम्न लिखित मन्त्रों से सर्वथा स्पष्ट है—

६२–(१)–संहिताभाग में प्रतिमापूजन के मौलिक-सूत्रात्मक-संस्मरण—

१–ऋक्संहिता—

१-कासीत् प्रमा, प्रतिमा, किं निदानमाज्यं, किमासीत्, परिधिः क आसीत ।
छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यदेवा देवमयजन्त विश्वम् ॥

—ऋक्सं० १०।१३०।३। ।

(१)–जिस समय देवतालोगोंनें उस विराट्प्रजापति का यज्ञ के द्वारा यजन किया था, उससमय यजन-साधनभूत यज्ञ की प्रमा (इयत्ता) क्या थी, वह प्रतिमा कौनसी थी, जिसे निमित्त बनाकर हविःप्रदान किया गया ? । उसका निदान (मूलकारण) कौनथा ?, परिधियाँ क्या थीं ?, आज्य क्या था ?, छन्द क्या था ?, प्रउग, शस्त्र क्या थे" । यज्ञपति इन्द्र की प्रतिमा ही यहाँ प्रतिमा शब्द से अभिप्रेत है । उस त्रैलोक्य-व्यापक इन्द्र-प्रतिमा को लक्ष्य बना कर ही भौमदेवताओंने यज्ञकर्म्म के द्वारा विराट्प्रजापति की उपासना की थी । मन्त्रोपात्त 'प्रतिमा' शब्द इन्द्र का वाचक है, यह आगे के १०–१३०–४, १०–१३०-५, दोंनो मन्त्रों से स्पष्ट है ।

२—प्रपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान ।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन् पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्तः ॥

—ऋक्० १।३२।७।

(२)–जिसप्रकार छिन्न अण्डकोशवाला एक हीनवीर्य्यपुरुष रेतःसेक में समर्थ (अण्डयुक्त) अन्य पुरुष के सादृश्य का वृथा अभिमान किया करता है, एवमेव इन्द्र के वज्र से क्षतविक्षताङ्ग बने हुए, हस्तपादशून्य उस वृत्र नाम के असुरने एक ऐसे पुरुष के सादृश्य का वृथा अभिमान करते हुए, जो कि पुरुष हाथ पैर से प्रहार करने में समर्थ है, इन्द्र से पुनः युद्ध करने की इच्छा प्रकट की" ।

मन्त्र का यही अभिप्राय है कि, मूढ वृत्र ने उस इन्द्र के साथ स्पर्द्धा करने की धृष्टता की, जिस इन्द्र का कि प्रतिमान (समकक्ष) दूसरा नहीं है । जिस इन्द्र ने कि अपने वज्रप्रहारसे जिसे सर्वथा निर्वीर्य्य बना डाला है । यहाँ के "**प्रतिमान**" शब्द से हमें प्रतिमापूजन सिद्ध नहीं करना है, अपितु यही बतलाना है कि "प्रतिमान" शब्द यहाँ तुलनार्थ में प्रयुक्त हुआ है । जो अर्थ "**न तस्य प्रतिमास्ति**" के प्रतिमा शब्द का है, वही अर्थ उक्त मन्त्र के प्रतिमान शब्द का है । साथ ही मन्त्र से यह भी ध्वनि निकल रही है कि, इन्द्र का प्रतिमान अन्य नहीं है ।

३–*त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः ।
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽप स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥ (१।५२।२) ।

---

* इन सब मन्त्रों के उल्लेख से प्रकृत में केवल यही कहना है कि, संहिताभाग में प्रतिमा, प्रतिमान, प्रतिमानानि शब्द इन्द्र के सम्बन्ध में हीं प्रयुक्त हुए हैं । कारण–संहिताकाल में शिवात्मिका-इन्द्रप्रतिमाएँ हीं उपासनासिद्धि का कारण बनतीं थीं । आरम्भ में ये प्रतिमा नित्येन्द्रावतार मानुष–इन्द्राकार की बनतीं थीं, आगे जाकर त्रेतायुग में इसीने लिङ्गरूप धारण कर लिया ।

४—गोजिता बाहू अमितक्रतुः सिमः कर्म्मन् कर्म्मञ्छतमूतिः खजङ्कर ।
अकल्प इन्द्रः **प्रतिमानमो**जसाथा जनावि ह्वयन्ते सिषासवः ॥ (१।१०२।६।) ।

५—त्रिविष्टि धातु **प्रतिमानमो**जसस्तिस्त्रो भूमीर्नृपते त्रीणि रोचना ।
अतीदं विश्वं भुवनं ववक्षिथा शत्रुरिन्द्र जनुषा सनादसि ॥ (१।१०२।८।)

६—यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते ।
यो विश्वस्य **प्रतिमानं** बभूव यो अच्युतच्युत्सजनास इन्द्रः ॥ (२।१२।९।) ।

७ सतः सतः **प्रतिमानं** पुरोऽभूर्विश्वा वेद जनिमा हन्ति शुष्णम् ।
प्रणो दिवः पदवीर्गव्यू-**"रर्चन्"** त्सखा सखीरमुञ्चन्निरवद्यात् ॥ (३।३१।८।) ।

८—किं स ऋधक्कृणवद्यं सहस्रं माको जभार शरदश्च पूर्वीः ।
नहीं न्वस्य प्रतिमानमस्त्यन्तर्जातेषूत ये जनित्वाः ॥ (४।१८।५।) ।

९—प्र तु द्युम्नस्य स्थाविरस्य धृष्वेर्दिवो ररप्शे महिमा पृथिव्याः ।
नास्य शत्रुर्न **प्रतिमान**मस्ति न प्रतिष्ठिः पुरमायस्य सह्योः ॥ (६।१८।१२) ।

१०—इन्द्रो दिवः प्रतिमानं पृथिव्या विश्वा वेद सवना हन्ति शुष्णम् ।
महीं चिद्यामातनोत सूर्येण चास्कम्भ चित्स्कम्भनेन ॥ (१०'११'।५।) ।

११—वि सूर्य्यो मध्ये अमुचद्रथं दिवो विदद्दासाय **प्रतिमान**मार्यः ।
दृढानि पिप्रोरसुरस्य मायिन इन्द्रो व्यास्यच्चक्रुवाँ ऋजिश्विना ॥ (१०।१३८।३)।

१२—स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वमिनतममाप्त्यमाप्त्यानाम् ।
आ दर्षते शवसा सप्त दानून् प्रसाक्षते प्रतिमानानि भूरि ॥ (१०।१२०।६।) ।

—* —

२-यजुःसंहिता—

१—आदित्यं पयसा समङ्धि सहस्रस्य **प्रतिमां** विश्वरूपम् ।
परिवृङ्धि हरसा माभि मँस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः ॥ (यजुः १३।४१।) ।

२—सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य **प्रतिमासि** सहस्रस्योन्मासि ।
साहस्रोऽसि सहस्राय त्वा (१५।६५।) ।

—*—

३-अथर्वसंहिता—

१—वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विबबाधे अग्निः।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमहः ॥ (८।४।६।)।

२—अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी।
पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानां सहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु ॥ (९।४।२।)।

३—यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव या अच्युतच्युत् सजनास इन्द्रः ॥ (२०।४।३५।१०)।

—*—

६३-मूलसंहितानुगत प्रतिमा-प्रतिमान-अर्च्चन-भजन-सेवा-आदि औपासनिक शब्दों का संस्मरण, एवं प्रतिमोपासना की प्रामाणिकता का स्वरूप-समन्वय—

निरुक्तभाव के लिए ही संहिता में प्रतिमा-प्रतिमान-शब्द प्रयुक्त हुए हैं, एवं उन प्रतिमा, और प्रतिमान-भावों का एकमात्र इन्द्र, किंवा शिव के साथ ही सम्बन्ध है, यह तो निर्विवाद है। रही बात प्रतिमापूजन की। अर्च्चन-भजन-सेवा-ये-सभी शब्द पूजन के ही समर्थक हैं। एवं इन सभी शब्दों का स्वयं मूलसंहिता में हीं प्रयोग हुआ है, जैसाकि ऋक्संहिता के—१।३८।१, ६।२१।६।, ९।९७।४, इत्यादि स्थलों से, यजुः-संहिता के—३४।१६, ४।२५।, ३३।२३, २०।५४, इत्यादि स्थलों से, सामसंहिता के पू. ३।२।५।, ८।१६।३, इत्यादि स्थलों से स्पष्ट है। इन सब स्थलों के आधार पर इस सिद्धान्त को स्वीकार करलेने में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि, "मूर्त्त स्थूल भौतिक प्रपञ्च का अर्च्चन, पूजन, सेवन, भजन अवश्य ही विद्यात्मक वेदशास्त्र से सर्वात्मना सम्मत, अतएव सर्वथा प्रामाणिक, अतएव च सर्वथा ही उपादेय है"।

६४-स्थूल साकार-मूर्त्त-मध्यस्थ-भावों से अनुप्राणिता उपासना का स्वरूप-समन्वय—

विज्ञानदृष्टि से भी प्रत्येक विचारशील को यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि, द्वैतमूलक उपासना काण्ड में उपास्यदेव की प्राप्ति के लिए प्रत्येक दशा में स्थूल-साकार-मूर्त्तद्रव्य को ही उपासना का साधक बनाना पड़ेगा, फिर वह साधन शब्दब्रह्मरूप हो, अर्थब्रह्मावयवरूप वैकारिक धातु, मृत्-पाषाणादि की प्रतिमाएँ हों, अथवा ततद्दे वताओं के तत्तद्भावनामय चित्र हों।

६५-भौतिकी आकारमर्य्यादा से अतीत भी उपास्य-ब्रह्म की उपासनासिद्धि के अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित भौतिक-माध्यमों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

इस में कोई सन्देह नहीं कि, उपास्यतत्त्व आत्मदेवता है, ब्रह्मतत्त्व है। यह भी निर्विवाद है कि-विशुद्ध ब्रह्म का भौतिक आकार से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु इसके साथ ही यह भी ध्रुव सत्य है कि, वहाँ पहुँचने के लिए उसी के सोपाधिक निरुक्त भूतरूप को मध्यस्थ बनाना भी आवश्यकतम है। माध्यमिक

आकारों के अधिकारी-भेद से अनेकरूप होसकते हैं। एवं अधिकारी के भेद से वे सभी रूप उपादेय हैं, यह भी निःसंदिग्ध विषय है।

९६–प्रतिमात्मिका 'मूर्त्ति' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कतिपय ब्राह्मणग्रन्थ–वचनों का स्वरूप–संस्मरण—

यह तो हुआ मूलवाद का विचार। अब कर्त्तव्यात्मक ब्राह्मणभाग की मीमांसा कीजिए। इस सम्बन्ध में तो विशेष वक्तव्य है ही नहीं। कारण–वेद के कर्त्तव्यात्मक विधि–आरण्यक–उपनिषदों में बड़े ही विस्तार के साथ प्रतिमा–निर्म्माण–प्रतिमापूजन–भूताश्रय आदि का उपबृंहण हुआ है। यज्ञकाण्ड में वल्मीकवपा से महावीर की प्रतिमा बनाई जाती है, उस में प्राणप्रतिष्ठा कराई जाती है। विज्ञ पाठकों के परितोष के लिए तो निम्न लिखित कुछ एक श्रौतवचन हीं पर्य्याप्त होगे। रही बात अभिनिविष्टों की। उन के लिए तो "न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्" इससे अधिक और दूसरा श्रेष्ट उत्तर हो नहीं सकता—

१—"मूर्त्तिर्निर्म्माणाय तां वल्मीकवपां परिगृह्णाति। मूर्त्तिर्निर्म्माणाय वराहविहितां मृदं परिगृह्णाति" (काण्व० शत० ११।१।२।१०।११)।

२—एता वाऽएतद्रूपं कुर्वत, यथा यथैतद्यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत। तस्माच्छिर्म्माणाय तां वल्मीकवपां परिगृह्णाति। ताभिरेवैनमेतद् रसेन समर्द्धयति, कृत्स्नं करोति" (माध्यं० शत० १४।१।२।१०)।

३—* स पर दिवमन्वावर्त्तते। अथ यदास्यायुक्तानि यानानि भवन्ति, **देवतायतनानि (मन्दिराणि) कम्पन्ते, दैवतप्रतिमा हसन्ति, रुदन्ति, नृत्यन्ति, स्फुटन्ति, उन्मीलन्ति, निमीलन्ति,** प्रतिप्रयान्ति नद्यः, कबन्धमादित्ये दृश्यते, विजले च परिविष्यते, केतुपताका छत्रवज्र-विषाणानि प्रज्वलन्ति, अश्वानां च बालधीष्वङ्गाराः क्षरन्ति, अहतानि मर्म्माणि कनिक्रदन्त, इत्येवमादीनि, तान्येतानि सर्वाणि विष्णुदेवतादभूतानि * प्रायाश्चित्तानि भवन्ति—**"इदं विष्णुर्विचक्रमे"** इति। स्थालीपाकं हुत्वा पञ्चभिराहुतिभिरभिजुहोति, विष्णवे स्वाहा, सर्वाधिपतये स्वाहा, चक्रपाणये-स्वाहा, सर्वपायशमनाय स्वाहा, **सर्वभूताधिपतये** स्वाहा, इति व्याहृतिर्भिहुत्वा अथ साम गायेत्" इति शाम्यति, हातः शान्त्यर्थः, शान्त्यर्थः षड्विंशब्राह्मण ५।१०।)।

---

* इन्द्र, यम, वरुण, वैश्रवण, अग्नि, वायु सोम, विष्णु इन प्राकृतिक देवताओं के स्वरूप में (मानव–समाज के अनाचार से) जब क्षोभ उत्पन्न होता है, तो बड़े बड़े (प्रवृत्तिविपर्य्ययमूलक) अनिष्ट होने लगते हैं। ये ही अनिष्ट "अद्भुतकर्म्म" नाम से व्यवहृत हुए हैं। इन की शान्ति के लिए ही तत्तद्देवता का तत्तदाहुतिविशेषों से शमन किया जाता है।

४— अग्निर्वायुरादित्यः कालः प्राणोऽन्नं ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरिति । एकेऽन्यमभिध्यायन्ति, एके ऽन्यम् । श्रेयः कतमो, यः सोऽस्माकं ब्रूहीति । तान् होवाच-ब्रह्मणो वावैता अग्र्यास्तनवः परस्य, अमृतस्य, अशरीरस्य । तस्येव लोके प्रतिमा उदैति, इह यो यस्यानुषक्त इति । एवं ह्याह । ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम् । य अस्या अग्र्यास्तनवस्ता अभिध्यायेत्, अर्च्चयेत्" (प्रजापतिबालखिल्यसंवाद, यजुर्वेदीयोपनिषत्-४ प्रपाठक, ४ कण्डिका) ।

९७—सम्प्रदायविशेष के द्वारा भारतीय सनातन आचारधर्म्म पर कुठाराघात, तद्दुष्परिणाम, एवं सनातनी, तथा आर्य्यसमाजियों का निरर्थकतम वाक्कलह—

सचमुच भारतवर्ष का यह आत्यन्तिक अधःपतन ही माना जायगा कि, आज उसी के देश में एक ऐसा सम्प्रदाय खड़ा होगया है, जिस ने वेद का अणुमात्र भी स्पर्श न कर क्रियात्मक धर्म्मानुष्ठान के प्रति साधारण मनुष्यों में बुद्धिभेद उत्पन्न कर दिया है । श्रद्धालु समझते होंगे कि, विवाद केवल मूर्त्तिपूजन, श्राद्ध, अवतार आदि परिगणित विषयों में हीं है । परन्तु मीमांसा करने पर उन्हें विदित होगा कि, वहाँ का सम्पूर्ण कार्य्यकलाप अथ से इति पर्य्यन्त एकान्ततः वेदविरुद्ध विषयों की सिद्धि के लिए ही बड़े अभिमान से शास्त्रार्थ के लिए आह्वान करता रहता है । और दुर्भाग्य से वेदतत्त्वानभिज्ञ ऐसे सनातनी विद्वानों की भी कमी नहीं है, जो आवेश में पड़ कर तत्काल कमर कस के सन्नद्ध होजाते हैं । परिणाम में दोनों ओर से "हमारा विजयह मारा विजय" के उद्घोष पत्र निकलते हैं । शास्त्रार्थ में होता क्या है ?, यह भी नमूना देख लीजिए । आर्य्यसमाजी यदि "न तस्य प्रतिमा अस्ति" केवल इस वाक्य को आगे कर प्रतिमापूजन को अवैदिक बतलाने का वानरनृत्य करता है, तो सनातनी "एहि अश्मानमातिष्ठ" इस मन्त्र को आगे कर पाषाणप्रतिमा की सिद्धि में अपना पसीना बहाता है । वस्तुतः देखा जाय, तो दोनों हीं महानुभाव भ्रान्त हैं । पहिले प्रतिमामण्डनाभिनिविष्ट को ही लीजिए । पूरे मन्त्र का स्वरूप निम्न लिखित है—

एहि-अश्मानमातिष्ठ अश्मा भवति ते तनुः ।
कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥

—अथर्वसं० २।१३।४।

९८—प्रतिमापूजक सनातनी की वेदार्थ के सम्बन्ध में महती भ्रान्ति—

प्रतिमापूजन-समर्थक सनातनी इसका अर्थ यह समझता है कि, "पाषाण की भगवत्प्रतिमा बनाई जाती है, एवं इस में ईश्वरतत्त्व का आह्वान किया जाता है, जो कि आह्वानकर्म्म प्राणप्रतिष्ठा नाम से प्रसिद्ध है" ।

९९—ऋग्वेदीय-अश्माभावानुगत मन्त्र के वास्तविक-मन्त्रार्थ का समन्वय-प्रयास, एवं तद्द्वारा सम्भावित उद्बोधन—

वस्तुस्थिति कुछ और ही है । जिस का पिता शान्त होजाता है, वह माणवक अमङ्गल--भावना से (कुछ काल के लिए) युक्त होजाता है । जब वह सबान्धव श्मशानयात्रा से घर लौटता है, तो कुलपुरोहित

द्वार के बाहिर एक पाषाण पर उसे खड़ा करता है, एवं उस पर उक्त मन्त्र बोलता हुआ जल डालता है । "हे माणवक आओ ! इस पाषाण पर खड़े हो जाओ। तुम्हारा शरीर पाषाणरूप बन जाय, विश्वेदेव तुम्हें सौ वर्ष की आयु प्रदान करें" यही वास्तविक मन्त्रार्थ है । स्वयं सायणाचार्य्य ने भी यही अर्थ किया है । अन्य श्मशानयात्री भी घर आने से पहिले स्नानादि से निवृत्त होकर (उसी अमङ्गलभावना को दूर करने के लिए) मृत्युञ्जय महादेव के दर्शन किया करते हैं ।

१००–'न तस्य प्रतिमा अस्ति' के सम्बन्ध में लीलाधरों की लीला का नग्नचित्रण, एवं तदनुगता भ्रान्ति का स्वरूप-विश्लेषण–

अब उन लीलाधरों की लीला का दर्शन कीजिए, जो स्वार्थसिद्धि के बिगड़ने के भय से पूरा मन्त्र न लिखकर प्रतिमापूजन के खण्ड के सम्बन्ध में केवल–"**न तस्य प्रतिमास्ति**" यह एक चरण उद्धृत करते हुए भोली जनता को कहा करते हैं कि, "देखो वेदों में साफ साफ लिखा है कि, उस की मूर्त्ति नहीं होती, नहीं होसकती" । परन्तु जब सम्पूर्ण मन्त्र पर दृष्टि डाली जाती है, तो सम्पूर्ण रहस्य प्रकट होजाता है । मन्त्र का स्वरूप निम्न लिखित है—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
हिरण्यगर्भ इत्येष मामा हिंसीदित्येषा, यस्मान्नजात इत्येषः ॥

१०१–'न तस्य प्रतिमा अस्ति' के वास्तविक तात्पर्य्य का समन्वय प्रयास, एवं लीलाधरों का सम्भावित उद्बोधन—

मन्त्र के पूर्वार्द्ध पर दृष्टि डालिए । सीधा सा अर्थ यही है कि–"जिस ईश्वर का यश महान् है, व्यापक है, उस ईश्वर के समकक्ष और दूसरा नही है" । प्रतिमाशब्द प्रतिकृति (मूर्त्ति) का भी वाचक माना गया है, एवं उपमान (सादृश्य) का भी । विषयभेद से, दूसरे शब्दों में प्रसङ्ग, उपोद्घात, हेतुता, अवसर, निर्वाहैक्य, कार्य्यैक्यमीमांसा-सम्मत घोटासंगति के अनुसार विषयभेद से प्रकरणानुसार दोनों अर्थ नियत हैं । यदि "**न तस्य प्रतिमा अस्ति**" का प्रतिमा शब्द प्रतिकृति का वाचक होता, तब तो अवश्य ही इस मन्त्र को मूर्त्तिखण्डन-परक माना जासकता था । परन्तु देखते हैं कि, यहाँ के प्रतिमा शब्द को मूर्त्तिपरक मान लेने से मन्त्र का कोई अर्थ ही नहीं होता । लोक में, किंवा वेद में (लौकिक वाक्यव्यवहारों में, एवं शास्त्रीय वाक्यव्यवहारों में) शब्दों का वही अर्थ युक्तिसंगत बनता हुआ प्रामाणिक माना जाता है, जो कि शब्द स्वरूपतः भावतः उभयथा वाक्यार्थ के साथ सर्वात्मना अन्वित रहते हैं । जैसा प्रसङ्ग होता है, तदनुसार ही प्रसङ्गोपात्त शब्दों का अर्थ मानना पड़ता है । यदि प्रसङ्ग की, किंवा वाक्यार्थसङ्गति की उपेक्षा कर उन शब्दों का (वाक्यार्थ, प्रसङ्गसङ्गति से सर्वथा विरूद्ध अप्रासङ्गिक, वाक्यार्थ में अनन्वित) अर्थ किया जाता है तो, वह शब्दार्थ अर्थ के स्थान में अनर्थ का ही कारण बन-जाता है ।

१०२–मीमांसा–सम्मता प्रकरणसङ्गति से अनुप्राणित-समन्वय का स्वरूप–दिग्दर्शन—

पाकशाला में बैठा हुआ देवदत्त भोजन कर रहा है । सेवक को "**सैन्धवमानय**" आदेश देता है । मूर्ख सेवक यदि भोजनप्रसङ्ग की उपेक्षा कर उस समय घोड़ा ला खड़ा करदेता है, तो क्या यहाँ का सैन्धव–

शब्द अर्थसिद्धि का प्रयोजक माना जायगा ?। एवमेव भ्रमणार्थ सजीभूत देवदत्त का "सैन्धवमानव" वाक्य सुनकर नमक की डली लाने वाला सेवक क्या अर्थ के स्थान में अनर्थ नहीं कर रहा ?। तात्पर्य्य यही हुआ कि, प्रसङ्गवश ही शब्दार्थ--सङ्गति लगाने का प्रयास करना चाहिए।

१०३ 'प्रतिमान' शब्द का प्रकरणसङ्गति--निबन्धन--वास्तविक--स्वरूप--समन्वय-प्रयास—

प्रकृत स्थल का विचार कीजिए। "जिसका यश महान् है, उसकी कोई मूर्त्ति नहीं" क्या यह अर्थ ठीक होगा। क्या मूर्त्ति का न होना महद्यश के चार चाँद लगाने वाला है ?। हम तो देखते हैं कि, लोक में जो यशस्वी महापुरुष होते हैं. उनके स्मारक खड़े किए जाते हैं, चित्र छापे जाते हैं। जो यथाजात हैं, उन की न मूर्त्ति बनती, न स्मारक खड़े किए जाते। इसप्रकार महायश तो मूर्त्ति का कारण हीं, बन रहा है। ऐसी दशा में यहाँ के प्रतिभा शब्द का अर्थ 'मूर्त्ति' लगाना सर्वथा अनर्थक बन जाता है। क्या विश्व के चराचर प्राणी उसकी मूर्त्तियाँ नहीं है ?। क्या गीता का "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" यह सिद्धान्त मिथ्या है ?। फलतः आप को बाध्य होकर प्रकृत 'प्रतिमान' शब्द का उपमान (सादृश्य) अर्थ ही करना पड़ेगा। उपमान अर्थ मान लेने पर "जिस का यश महान् है, जो यशोरूप से सर्वव्यापक बन रहा है, उस के सदृश विश्व में दूसरा नही है" यह अर्थसङ्गति ठीक बैठ जाती है। अन्यत्र भी ऐसे स्थानों में प्रतिमान का अर्थ सादृश्य ही हुआ है। देखिए !

स तन्नियोगात् खलु सत्यवादी सत्यां प्रतिज्ञां नृपपालयँस्ते।
इतो महात्मा वनमेव रामो गतः सुखान्यप्रतिमानि हित्वा॥

—वा० रामायणे

"रूपेणाप्रतिमो भुवि" (नलचरित्र--महाभारत)

१०४–'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते' के माध्यम से वास्तविक--स्थिति का स्वरूप–समन्वय-प्रयास—

उक्त समाधान से ही "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते" इत्यादि आक्षेपों का भी समाधान होजाता है। "जिसकी तुम उपासना कर रहे हो, वह ब्रह्म नहीं, अपितु ब्रह्म की प्रतिकृति है, सोपाधिक मूर्त्तरूप है, मूर्त्ति है" इस अर्थ से सब कुछ सुसङ्गत बन जाता है।

१०५–प्रतिमापूजन के सम्बन्ध में बुद्धानुगत ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभिनिवेश—

यह तो हुई प्रामाणिक-शास्त्रीयदृष्टि। अब संक्षेप से प्रामाणिक-ऐतिहासिक-दृष्टि से भी विचार कर लीजिए। कुछ समय से इतिहासधुरीणों की सम्प्रदाय की ओर से यह भी कलकल–चीत्कार सुनाई पड़ने लगा है कि "प्रतिमापूजन बौद्धधर्म्म के संसर्ग का ही फल है"। इन सत्यनिष्ठों का कहना है कि, जब बुद्ध निर्वाण कर गए, तो कुछ समम तक तो उनकी प्रतिमाओं का द्वार अवरुद्ध रहा। सौगतों का विश्वास था कि, बुद्ध का यथार्थ में निर्वाण होगया है। * जब देह का निर्वाण होगया, तो उसकी प्रतिकृति (मूर्त्ति) बनाना अनुचित है।

---

* बुद्ध के मतानुसार देह ही आत्मा है। देहातिरिक्त नित्यात्मसत्ता वहाँ अस्वीकृत है।

१०६–बुद्धनिर्वाणानन्तर बुद्ध की प्रतिमाओं का उपासना–प्रचार–दिग्दर्शन—

कुछ समय पीछे ही एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हुआ जिसने बुद्ध की प्रतिमाओं का पूजन आरम्भ कर दिया। बुद्ध देवताओं के समान पूजे जाने लगे। तत्कालीन समर्थ राजाओं की ओर से स्थान स्थान पर स्तूप, ध्वजा, तोरण, शिलालेख, बुद्धप्रतियाँ, उनके लीलाचरित्र, भिक्षुसंघ आदि की प्रतिकृतियाँ बनने लगीं। आगे जाकर तो इस कला का ऐसा विकास हुआ कि, आज भी पुरातत्त्वान्वेषण में येही स्मारक प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

१०७–हीनयान, तथा महायान–भेदनिबन्धन बुद्धमत के दो विभिन्न पथ, एवं तत्-सम्बन्धिनी प्रतिमोपासना—

यही दूसरा (प्रतिमापूजक) सम्प्रदाय "**महायान**" नाम से प्रसिद्ध हुआ, एवं वास्तविक निर्वाण के अनुयायी प्रतिमाविरोधी बौद्धगण "**हीनयान**" कहलाए। बुद्धकालीन प्रतिमा-प्रचार केवल भारतवर्ष में हीं नही पनपा। अपितु सम्राट् अशोक, एवं तत्पुत्र, तत्कन्या के द्वारा तथा ओर ओर उपदेशकों के द्वारा जावा, सुमात्रा, सिंहल, आदि द्वीपों में भी बुद्धप्रतिमाएँ व्याप्त होगईं। स्तूपनिर्म्माण, मूर्त्तिनिर्म्माण, एवं शिलालेखादि के लिए बौद्धकाल अर्वाचीन इतिहास में बहुत प्रसिद्ध माना जाता है।

१०८–बुद्धमत के प्रभाव से आक्रान्त ब्राह्मणधर्म्म का भी प्रतिमापथानुगतत्त्व, एवं ऐतिहासिकों का भ्रान्त दृष्टिकोण—

प्रबलवेग से बढ़ते हुए इस बौद्धकाल के आक्रमण से ब्राह्मणधर्म्म भी अपना मौलिक स्वरूप को सुरक्षित न रख सका। बौद्धों के संसर्ग से इस में भी मूर्त्तिपूजन-पद्धति का नवीनरूप से समावेश होने लगा। चतुर्भुज विष्णु, शिव, गणपति, सरस्वती, दुर्गा, काली, भैरव, नटराज, आदि की प्रतिमाएँ बनने लगीं। इसप्रकार बौद्धकाल के संसर्ग से ब्राह्मणधर्म्म का मौलिक उपासनाकाण्ड अशास्त्रीय प्रतिमापूजन का अनुगामी बनगया।

१०९–प्रतीच्य–भक्ति के अन्धानुकरण से अनुप्राणिता, तथा साम्प्रदायिक आचार्य्यों के अभिनिवेश से समन्विता भारतीयों की परप्रत्ययेनयता के भीषण परिणामों का किञ्चिदिव–निदर्शन—

कहना न होगा कि, केवल पश्चिमी विद्वानों के बुद्धिवाद के आधार पर ही जीवित रहने वाले इन ऐतिहासिकों की उक्त कल्पना में कोई भी सार नहीं है। पश्चिमी विद्वानों के नीतिपूर्ण ऐतिह्यग्रन्थों ने भारतीय प्राचीन संस्कृति की ओर से लोगो का मुख मोड़ दिया। इधर भारतीय इतिहास के संस्कृतभाषा में लिपिबद्ध होने से साधारण जनसमाज इस अपने घर की मौलिक निधि के वास्तविक स्वरूपज्ञान से वञ्चित होगया। परिणाम इस का यह हुआ कि, विदेशियों ने हमें जो कुछ लिखाया पढ़ाया, समझाया, उसी को हम वेद–वाक्य मानने लग पड़े। दुर्भाग्यवश ब्राह्मणवर्ग ने, एवं दम्भी उपदेशक आचार्य्यवर्ग ने भी अपनी वैय्य–

क्तिक-स्वार्थसिद्धि के लिए वेद-शास्त्रों की ओट में मिथ्योपदेश के द्वारा हमारे पतन का मार्ग और भी अधिक सुगम बना दिया। अगत्या हमें अपनी सभ्यता, संस्कृति, धर्म्मादेश आदि के सम्बन्ध में परमुखापेक्षी बन कर सबकुछ अपमान सहना पड़ा, और सहते जारहे हैं। इन्हीं उच्छिष्ट प्रसादों से हमारा आत्म निर्बल बन गया, आत्मनिर्भरता, स्वावलम्बित्व, सत्यनिष्ठा आदि हम से किनारा कर गए। जिसने हमें जैसे बहका दिया, "**अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः**" को चरितार्थ करते हुए हम उसी प्रवाह में बहने लगे। वैष्णवाचार्य्यों की शिवसम्बन्धिनी निन्दा से हम कभी शिवनिन्दक बनने लगे, कभी शैवों के आडम्बर से विष्णु की निन्दा करने लग पड़े। कभी बुद्ध का यशोगान करने लगे, तो कभी स्वामी दयानन्द को ही एकमात्र वेदज्ञ मानने का दम भरने लगे। और धारावाहिकरूप से प्रवाहित होने वाली उसी अविद्या के कारण आज तो हम विशुद्ध राष्ट्रवादी बनने में हीं अपना अभ्युदय समझ रहे हैं।

११०-युक्ति-तर्क-प्रमाणादि के आवेशों से आविष्ट भी वर्त्तमान गतानुगतिक भारतीय-मानवों का आश्चर्य्यप्रद--प्रतीच्य--अन्धानुकरण—

एक सबसे बड़ा आश्चर्य्य, आश्चर्य्य ही नहीं-महान् आश्चर्य। भारतीय कर्त्तव्यानुष्ठानों के प्रति उदासीनता दिखलाने वाले ये भले मानुष कहा करते हैं कि, जबतक किसी कर्त्तव्यादेश, किंवा धर्म्मादेश को तर्क, युक्ति अनुभव आदि की कसौटी पर न कस लिया जाय, तबतक अन्धभक्त बन कर, केवल शास्त्रादेश पर ही विश्वास कर कभी उसे प्रामाणिक नहीं मानना चाहिए। अपने इसी महातर्क को एक अभेद्य दुर्ग समझने का अभिमान करते हुए ये सत्याभिमानी भारतीय धर्म्मादेशों का उपहास करने में अणुमात्र भी तो लज्जा का अनुभव नहीं करते। उधर जिन उपदेशकों को इन्होंने महाप्रभु मान रक्खा है, उनके आदेशों के सम्बन्ध में उक्त तर्कवाद की एकान्ततः उपेक्षा कर-"अजी! हम क्या जाने, उनके रहस्य को। हमें तो (न समझते हुए भी) उन के आदेश पर चलना हीं चाहिए" इस वाक्य का प्रयोग करते हुए पूरे पूरे अन्धभक्त बने हुए हैं। विधि का कैसा विचित्र विधान है, तर्कवाद का कैसा सदुपयोग होरहा है। इसी सदुपयोग के आधार पर यदि हम भारतीय शास्त्रसिद्ध, शाश्वतसिद्ध प्रतिमापूजन को भी बुद्धसंसर्ग का प्रतिफल बतलाने की भूल कर बैठें, तो कोई आश्चर्य नहीं है।

१११-ब्राह्मणधर्म्म, तथा बुद्धमत के समतुलन-माध्यम से प्रतिमापूजन की अनादिता-सादिता का नीरक्षीरविवेक--प्रयास—

उन ऐतिहासकों को यह न सूझा कि, जब बुद्ध ने ब्राह्मणधर्म्म के स्थान में अपने नवीन धर्म्म को प्रतिष्ठित किया था, तो ब्राह्मणधर्म्म की प्रतिच्छाया से वह अधिक समय पर्य्यन्त कैसे बच सकता था?। अवश्य ही बुद्ध ने प्रतिमापूजन, सगुणेश्वरवाद, पशुहिंसायुक्त यज्ञकर्म्म आदि ब्राह्मणधर्म्मों का किसी कारणविशेष से

---

* वस्तुतस्तु हमारे विचार से बुद्ध में आर्यसत्यचतुष्टयात्मक जिस **मज्झिमनिकाय** (मध्यमपथ) का आविष्कार किया है, वह कोई अपूर्व नहीं है। बुद्ध के सभी सिद्धान्तों का मूल ब्राह्मणधर्म्म में ज्यों का त्यों उपलब्ध होता है। विशेषतः भारतवर्षीय उपवेदशास्त्र (आयुर्वेदशास्त्र), एवं पातञ्जलयोगशास्त्र के सिद्धान्त तो ज्यों के त्यों समतुलित हैं।

विरोध करते हुए अहिंसाधर्म्म को रूपान्तर प्रदान किया । प्रतिमापूजन का विरोध, निर्वाणकाल के समय में प्रधानशिष्यों के प्रति होने वाला-"मेरे निर्वाण के अन्तर मेरी प्रतिमाएँ न बनाना" यह उपदेशवाक्य ही यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, बुद्धकाल से पहिले ही भारतवर्ष में प्रतिमापूजन प्रचलित था ।

११२-पुरातत्त्वान्वेषणानुबन्धी कारणाभास की भातिसिद्धता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यही कारण था कि, बुद्धनिर्वाण के अनन्तर कुछ ही समय पर्य्यन्त निर्वाणवादियों का निर्वाणवाद सुरक्षित रहा । ब्राह्मणधर्म्म के शाश्वत प्रतिमापूजन से बौद्धधर्म्म अधिक समय पर्य्यन्त अपने आपको सुरक्षित नहीं रख सका । फलतः महायान-सम्प्रदायने जन्म ले ही तो लिया । क्या इन सब विस्पष्ट परिस्थितियों को देखते हुए भी ऐतिहासिक यह भ्रान्ति करेंगे कि, बुद्धधर्म्म से सहयोग से ब्राह्मणधर्म्म में प्रतिमापूजन का समावेश हुआ" । एक और उपहासास्पद तर्क सुनिए । प्रमाणवादी कहते हैं कि, 'पुरातत्त्वान्वेषकोंनें अबतक जिन प्रतिमाओं की खोज की है, वे सब बुद्धावतार से अर्वाचीन ही हैं । बुद्धकाल से पहिले की प्रतिमाएँ अबतक उपलब्ध नहीं हुई हैं, जिन के आधार पर यह प्रमाणित किया जासके कि, प्रतिमापूजन बुद्ध से पहिले भी विद्यमान था ।

११३-बौद्धमत से पूर्वयुग के प्रतिमा-चिह्नों के सम्बन्ध में किञ्चिदिव सामयिक-आवेदन—

पाठक स्वयं विचार करें, इस युक्ति में कहाँतक तथ्य है ? । बौद्धधर्म्म का प्रसार भारतवर्ष में कई शताब्दियों पर्य्यन्त रहा । स्वयं ऐतिहासिक इस सत्य को स्वीकार करते हैं कि, बौद्धधर्म्म के अनुयायी समर्थ राजाओं ओर से ब्राह्मणधर्म्मानुयायियों पर घोर अत्याचार हुआ । उस समय की भीषण परिस्थिति को देखते हुए एक बार तो ऐसा प्रतीत होने लगा था कि, अब भविष्य में ब्राह्मणधर्म्म कभी जीवित न होसकेगा । इस भीषणता के आवेश में आकर यदि ब्राह्मणधर्म्म के पुरातन चिह्नों को नष्ट करने का कोई बृहदायोजन हुआ हो, तो यह अधिकांश में सम्भव है । और सम्भव है, इसीलिए बुद्धधर्म्म से पहिले के प्रतिमाचिह्न अभीतक पुरातत्त्वविदों को उपलब्ध न हुए हों ।

११४-सप्तद्वीपा वसुमती-पृथिवी से अनुप्राणित अन्वेषणकर्म्म की अनन्तकालानुगता-व्याप्ति का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तत्सम्बन्ध में भगवान् पतञ्जलि के उद्गार—

परन्तु कौन कहता है कि, अन्वेषण का कार्य्य चरम सीमा पर पहुँच चुका ? । जो कुछ मिलना था, मिल चुका ? । वसुन्धरा बहुत बड़ी है, कालपुरुष भी अनन्त है । अवश्य ही हम प्रतिमापूजकों के सौभाग्य से, एवं अन्वेषकों के अजस्र अव्यर्थ परिश्रम से इसी धरित्री के किसी सौभाग्यशाली गह्वर में हमारे पूर्वस्मृति-चिह्न उपलब्ध होंगे, और अवश्य उपलब्ध होंगे । इस सम्बन्ध में हमें भगवान् पतञ्जलि, एवं कात्यापन का वह प्रियसंवाद याद आजाता है, जिस में वररुचि के कात्यापन के-'**न चैवोपलभ्यन्ते**' कहने पर भाष्यकार ने—'**उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्** । **सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः, बहुधाभिन्न एकशतमध्वर्यु शाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधास्याथर्वणो वेदाः, वाकोवाक्यं, इतिहासः, पुराणं, वैद्यकमिति । एतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः । एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमनुशिशम्य-'सन्त्यप्रयुक्ता' इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव**' (पा० म० १।१।१।) । यह उत्तर दिया था ।

११५–सर्वशास्त्रसमर्थिता प्रतिमोपासना के अनादित्व के सम्बन्ध में धृष्टतापूर्ण आपात-रमणीय–आक्षेप–प्रत्याक्षेप–विडम्बना—

हम भी आर्षपद्धति का अनुसरण करते हुए आज उस ऐतिहासिकों से यह कहने का साहस करते हैं कि, जिस प्रतिमापूजन का मूल स्वयं नित्य वेदग्रन्थों में उपलब्ध होता है, त्रेतायुगचरित्रात्मक वाल्मीकि–ग्रन्थ जिस का पूर्ण समर्थन कर रहा है, दर्शन, पुराण, स्मृति, आगम आदि सब शास्त्र जिस की एकस्वर से प्रामाणिकता घोषित कर रहे हैं, उस सत्य तत्त्व को केवल कल्पना के आधार पर, उन पुरातत्त्व की अधूरी खोजों के आधार पर अप्रामाणिक बतलाना केवल साहस है, अपराध है, अपराध ही नहीं अक्षम्य अप–राध है ।

११६–अलक्षेन्द्र (सिकन्दर)–युगानुगत उदाहरण, और मेगस्थनीज—

एक दूसरे प्रसङ्ग में विचार । भगवान् पाणिनि के समय में तो प्रतिमापूजन का प्रचार था ही, जैसाकि अनुपद में हीं बतलाया जानेवाला है । परन्तु पाणिनि से पहिले भी प्रतिमापूजन का प्रचार तो वर्त्तमान इतिहास लेखक युनानी भी स्वीकार करते हैं । सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक कर्टिस लिखता है कि, जब अलक्षेन्द्र सिकन्दर) का सामना करने के लिए महाराज पोरुस युद्ध के मैदान में उपस्थित हुए, तो इन के साथ वह सूर्य्य की प्रतिमा होगी, जिस के कि साक्षी सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक **मेगस्थानीज** हैं । पाठकों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि, सिकन्दरने भारतवर्ष पर कब आक्रमण किया था, एवं मेगस्थनीज कब अत्र आए थे ? ।

११७–बुद्धसंसर्ग से असंस्पृष्ट भारतीय–प्रतिमापूजन-प्रवाह का पावन–संस्मरण—

अनुमानतः यह सिद्ध होचुका है कि, ईसा से ३२५-२६, अथवा ३०० वर्ष पूर्व, एवं देवानांप्रियदर्शी भारत के अन्तिम सम्राट् अशोक से १०० वर्ष पहिले भी भारतवर्ष में प्रतिमापूजन का प्रचार था । इस में तो कोई सन्देह नहीं कि, उक्त समय भी बुद्ध एवं जिन से तो अर्वाचीन ही है । तथापि हमें यह मान लेनें में कोई संकोच नहीं करना चाहिए कि, उस समय न तो बुद्धधर्म्म का विशेष प्रचार ही था, एवं न महायान सम्प्रदाय का ही प्राबल्य था । यदि प्रचार होगा भी, तो हीनयान का ही प्राबल्य होगा, जोकि प्रतिमा-पूजन का विरोधी था । इस युग के १०० वर्ष पीछे उत्पन्न होने वाले स्वयं सम्राट् अशोक भी आरम्भ में ब्राह्मणधर्म्म के ही कट्टर पक्षपाती थे, यह भी सुविदित है हीं । कलिङ्गविजय में होने वाली हिंसा से क्लान्त होकर तदनन्तर ही अशोक ने बुद्ध का अनुगमन किया था । फलतः यह स्पष्ट सत्य है कि, भारतीय प्रतिमा–पूजन बुद्धसंसर्ग से कोई सम्बन्ध न रखता हुआ हजारों वर्षों से प्रचलित था ।

११८–सम्भावित–चिह्नों की प्रतीक्षा, एवं भारतीय–प्रतिमापूजन का अनादित्व—

'जब कि आजतक की खुदाई में एक भी चिह्न बुद्धयुग से पहिले का नहीं मिला, तो किस आधार पर प्रतिमापूजन को बुद्ध से पहिले का माना जाय' इस प्रत्यक्ष तर्क का यद्यपि शब्द प्रमाणभक्त आर्य्यपुत्र की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है । तथापि प्रत्यक्ष को ही सर्वेसर्वा मानने वालों के लिए अवश्य ही उक्त तर्क का कुछ मूल्य है । सम्भव है, भविष्य में ऐसे भी चिह्न मिलें, जिन से इस सम्बन्ध में सन्तोष किया जासके ।

११६–पुरातनयुगानुगता मृण्मयीं प्रतिमाएँ, एवं तदनुपलब्धि के कालिक–सहज–कारण–का स्वरूप–दिग्दर्शन—

चिह्न न मिलने का कारण यह भी हो सकता है कि, आरम्भ में मिट्टी की ही प्रतिमाएँ बनाई जाती थीं। ब्राह्मणग्रन्थोक्त महावीर की प्रतिमा वल्मीकवपा से बनती थी। सुरथ नामक राजा, एवं समाधि नामक वैश्य ने मृण्मयी प्रतिमा से ही जगन्माता को प्रसन्न किया था। गुरुभक्त एकलव्य ने मिट्टी की प्रतिमा को उपास्य–देवता मान कर ही धनुर्विद्या में निपुणता प्राप्त की थी। ये कुछ एक निदर्शन ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि, आरम्भ में प्रतिमाएँ मिट्टी की हीं बनतीं थीं। मृण्मयी प्रतिमाएँ चिरकाल पर्य्यन्त नहीं ठहर सकतीं। और बहुत सम्भव है, इसीलिए पुरातन–प्रतिमाओं के चिह्न पुरातत्त्वविदों को उपलब्ध नहीं होंरहे हों।

१२०–मृण्मयीं प्रतिमाओं के अनन्तर काष्ठमयीं प्रतिमाओ का स्वरूपाविर्भाव, एवं तत्सम्बन्ध में वेदव्याख्याता सर्वश्री यास्काचार्य्य—

आगे जाकर मिट्टी के स्थान में काष्ठ की प्रतिमाएँ बननें लगीं होगीं, यह भी अनुमान सत्य प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में सर्वथा प्रामाणिक यास्कनिरुक्तं की सम्मिति देखिए!

"कनीनकेव विद्रधे नवे दुपदे अर्भके। बभ्रू यामेषु शोभेते। (ऋक्स४।३२।२३)। कनीनके-कन्यके। कन्या कमनीया भवति। क्लेयं नेतव्येति वा। कमनेनानीयत इति वा। कनतेर्वा स्यात् कान्तिकर्म्मणः। कन्ययोरधिष्ठानप्रवचनानि, सप्तम्या एकवचनानीति शाकपूणिः। विद्रधेदारुपाद्वोः। दारु दृणातेर्वा दूणातेर्वा। तस्मादेव द्रु। नवे नवजाते अर्भके अवृद्धे ते यथा तदधिष्ठानेषु शोभेते, एवं बभ्रूयामेषु शोभेते। बभ्रोरश्वयोः संस्तवः"

(या० निरुक्त अ० ४। खं० १५।)।

१२१-इन्द्रप्रतिमा का स्वरूप–समर्थक ऋग्वेदीय मन्त्र—

इसे यास्क की सम्मति न मान कर स्वयं ऋग्वेद की सम्मति मानना ही उचित होगा। स्वयं सायणाचार्य्य ने 'विद्रधे' का 'शालभञ्जिके' अर्थ करते हुए यह संकेत किया है कि, पहिले दारुमयी प्रतिमाएँ भी बनतीं थीं। आरम्भ में ही संहिता–सम्बन्धी कुछ एक मूल उद्धृत किए जाचुके हैं। अब इस सम्बन्ध में प्राचीनतमा (वर्तमान मतानुसार) ऋक्संहिता का एक ऐसा मन्त्र उद्धृत किया जा रहा है, जिसके आधार पर इस सिद्धान्त की प्रामाणिकता में कोई संदेह नहीं रह जाता कि, प्रतिमा–निर्म्माण–पद्धति ने आर्य्यसभ्यता के जन्मकाल में हीं अन्तर्य्याम–सम्बन्ध उपब्ध कर लिया था। देखिए!

क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।
यदा वृत्राणि जंघनदथैनं मे पुनर्ददुः॥

—ऋक्० ४।२४।१०।।

१२२–महर्षि वामदेव के द्वारा भौमेन्द्र की प्रतिमा के माध्यम से देवेन्द्रोपासना, और प्रतिमाभाव का संस्मरण—

महर्षि वामदेव के उपास्य इन्द्र थे । तत्कालीन भौम–मानषेन्द्र उसी इन्द्रतत्त्व के अवतार थे । अतएव इन पर भी वामदेव की वैसी ही भक्तिनिष्ठा थी । इस निष्ठाकर्षण से वामदेव नराकार इन्द्र की प्रतिमा को मध्यस्थ बना कर इन्द्रतत्त्व की उपासना किया करते थे । एक समय इन्द्र (मानवेन्द्र) का वृत्रासुर के साथ युद्ध छिड़ गया । वामदेव भी वहाँ जाने के लिए सन्नद्ध हुए । कारण-ऐसे अवसरों पर स्वयं इन्द्र की ओर से वामदेव निमन्त्रित किए जाते थे, जैसाकि ऋग्वेद के कई स्थलों से स्पष्ट है ।

१२३–ऋग्वेदीय-मन्त्रार्थ--समन्वय—

जाने से पहिले वामदेव ने इन्द्रप्रतिमा के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की थी, उक्त मन्त्र उसी का स्मरण करा रहा है । तत्रोपस्थिता मण्डली से सम्बोन्ध करते हुए वामदेव कहते हैं कि—

"आप लोगों में से कौन १० धेनुओं * से इस मेरे (उपास्य) इन्द्र का (इन्द्रप्रतिमा का) क्रय–करेगा ? । परन्तु इसके साथ यह संधा (शर्त्त) है कि, युद्ध में जब इन्द्र वृत्रासुरवर्ग को मार डालें, अनन्तर जब मैं वापस लौटूँ, तो पुनः मेरा इन्द्र वापस लौटा दिया जाय" । इसप्रकार स्पष्ट ही प्रतिमाक्रय-व्यवहार प्रतिमाव्यवहार का अनादित्त्व, किंवा प्राचीनत्त्व सिद्ध कर रहा है ।

१२४–प्रतिमापूजन के सम्बन्ध में श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण—

वाल्मीकिरामायण एक प्रामाणिक साहित्य है । उसने भी स्पष्टरूप से त्रेतायुग में प्रतिमापूजन का समर्थन किया है । महाभारत और वाल्मीकिरामायण, दोनों हीं हम भारतीयों के प्रामाणिक इतिहासग्रन्थ हैं । अन्तर दोनों में केवल यही है कि, महाभारत जहाँ चन्द्रवंश का प्रधानरूप से निरूपण करता हुआ द्वापरयुगकालीज इतिहास का विशेषरूप से विश्लेषण करता है, वहाँ वाल्मीकिरामायण सूर्य्यवंश को प्रधानता देता हुआ त्रेतायुगकालीन इतिहास को विशेषता देता है । दोनों में से पहिले वाल्मीकि को ही लिजिए ।

१२५–राक्षसेश्वर रावण के द्वारा जाम्बुनद-सुपर्णात्मक शिवलिङ्ग की उपासना, और प्रतिमापूजन—

महाभारतकाल में सूर्य्यवंशियों के सुमित्र राजा अयोध्या में राज्य करते थे । ये विवस्वान् की १२८ वीं पीढी में थे, एवं भगवान् राम ६३ वीं पीढी में थे । रामयुग में भी मूर्तिपूजा प्रचलित थी, जैसाकि निम्न लिखित--वचनों से स्पष्ट है—

यत्र यत्र यातिस्म रावणो राक्षसेश्वरः ।
जाम्बुनदमयं लिङ्गं तत्र तत्र स्म नीयते ॥१॥
बालुका–वेदिमध्ये तु तल्लिङ्गं स्थाप्य रावणः ।
अर्च्चयामास गन्धाढ्यैः पुष्पैश्चागुरुगंधिभिः ॥२॥
(वा० रा० उ० का० ३१।४१।४१।११)

*–वैदिककाल में गौ के आकार के ही सुवर्ण के भी सिक्के बनाए जाते थे ।

'राक्षसेश्वर रावण की शङ्करभक्ति प्रसिद्ध है। वे जहाँ जहाँ जाते थे, जाम्बुनसुवर्णमय अपने उपास्य शिवलिङ्ग को साथ रखते थे। बालुका की वेदि बनाकर उस पर लिङ्ग प्रतिष्ठित कर पुष्प-दीप-गन्धादि से रावण ने (अपने इष्टदेव शिवका) पूजन किया।'

१२६-सेतुबन्ध रामेश्वर के माध्यम से प्रतिमापूजन की आर्षता का पावन संस्मरण—

स्वयं भगवान् राम ने युद्ध से पहिले अपने इष्टदेव शङ्कर की प्रतिमा बनाकर उसका पूजन किया था, जो कि पावन तीर्थ आज भी 'सेतुबन्धरामेश्वर" नाम से प्रसिद्ध है। विभीषण को राज्य-तिलक प्रदान कर भगवान् राम सीता सहित जब लङ्का से वापस लौटते हैं, तो मार्ग में आने वाले दर्शनीय स्थानों की ओर संकेत कर जगन्माता को उनका परिचय कराते जाते है। समुद्रोल्लघंन के अनन्तर जब रामेश्वर का स्थान आता है, तो भगवान् कहते हैं—

एतत् दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः ॥
'सेतुबन्ध' इति ख्यातं त्रैलोक्येन च पूजितम् ॥१॥
एतत् पवित्रं परमं महापातकनाशनम्।
अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः ॥२॥

—वा० रा० यु० १२३।२०-२१।

"हे सीते! महात्मा सागर का जो यह सेतुबन्ध तीर्थ दिखलाई पड़ता है, (आज) वह त्रैलोक्य में पूजित होगया है। इसी तीर्थ पर (रावण पर चढ़ाई करने से) पहिले विभु महादेव ने मुझ पर कृपा की थी। यह तीर्थ परम पवित्र है, एवं बड़े बड़े पापों का नाश करने वाला है।"।

१२७-शास्त्रीय वचनों के सम्बन्ध में दोषदृष्टि, एवं तन्निबन्धना महती भ्रान्ति—

क्या मूर्त्तिपूजन को अवैदिक मानने वाले, साथ ही वाल्मीकिरामायण को भी एक प्रामाणिक आर्षग्रन्थ मानने वालों की दृष्टि उक्त वचनों पर नहीं गई थी ?। गई थी, और अवश्य गई थी। परन्तु उन्होंनें इस सम्बन्ध में भी उसी दोषदृष्टि का अनुगमन किया है, जिस के कि आधार पर स्वार्थसिद्धि के लिए पूरे वचन उद्धृत न कर अंश ही उद्धृत किए हैं, जैसा कि "न तस्य प्रतिमा अस्ति" में बतलाया जाचुका है।

१२८-नियोगविध्यात्मक प्रासङ्गिक-उदाहरण के माध्यम से वास्तविक-स्थिति का स्वरूप-विस्फोटन—

एक दूसरा उदाहरण नियोगविधि का लीजिए। नियोगविधि शास्त्रीया है, मानवधर्म्मशास्त्र से सम्मता है, इस में तो कोई सन्देह नहीं। परन्तु कौन, किस अवस्था में, किससे नियोग कर सकता है ?, यह निर्णीत विषय है। प्रकरण यह है—

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥

—मनुः ९।६९।

"जिस कन्या का वागुदत्त पति मर जाय, उसे निम्न लिखित विधान से उस वागुदत्त पति के अनुज के साथ नियोग करलेना चाहिए"। तात्पर्य्य, यदि केवल वागुदान हुआ हो, विवाह न हुआ हो, और उसी अवस्था में भावी पति मर जाय, तो अभी उस का कन्यात्व सुरक्षित है। इस दशा में उस मृतक के छोटे भ्राता के साथ इस का नियोग (विवाह नहीं) किया जासकता है।

१२९-'अत्र पूर्वं महादेवः'-इत्यादि श्रीरामायणीय-आर्षवचन के साथ परमतानुगामियों का वञ्चनापूर्ण-समन्वय-प्रकार—

उधर उक्त पूरे वचन का उल्लेख न कर केवल "निजो विन्देत देवरः" इस वाक्यांश को उद्धृत कर सत्याभिमानियोंनें मुग्धजनता को यह उलटा पाठ पढ़ाने का जघन्य कर्म्म किया है कि, "जिस स्त्री का पति मर जाय, उसे देवर के साथ पुनर्विवाह कर लेना चाहिए"। यही लीला प्रकृत स्थल में घटित हुई है। पूर्वोक्त वाल्मीकि-वचनों का पूरा उल्लेख न कर केवल निम्नलिखित अंश ही उन के सत्यग्रन्थ ? में उद्धृत हुआ है-अर्थ क्या किया गया है ? यह भी नमूना देख लीजिए—

"अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः।
.....सेतुबन्ध इति ख्यातम्" ॥

"हे सीते ! तेरे वियोग से हम व्यकुल होकर घूमते थे, और इसी स्थान में चातुर्मास्य किया था, और परमेश्वर की उपासना-ध्यान भी करते थे। वही जो सर्वत्र विभु देवों का देव महादेव परमात्मा है। उस की कृपासे हम को सब सामग्री प्राप्त हुई। ओर देख ! यह सेतु हमनें बाँधकर लङ्का में आके रावण को मार के तुझ को ले आए"

—सत्यार्थप्रकाश

१३०-श्रीरामायणमान्यतानुबन्ध के प्रति कृतज्ञतार्पण, एवं तन्निबन्धना वस्तुस्थिति का वास्तविक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

बड़ा अनुग्रह हुआ, जो उक्त ऐतिहासिक घटना को तो प्रामाणिक मान लिया गया। हम तो डर रहे थे कि, कहीं वेदों में उक्त चरित्र के न होने से इसे भी गप्प ही न मान लिया जाय। प्रतीत होता है-"त्रैलोक्येन-च पूजितम्" यह अंश उस युग की पुस्तकों में नहीं होगा, पीछे से जोड़ दिया गया होगा। नहीं तो "व्यापक ईश्वर को केवल इसी स्थान पर आके त्रैलोक्य के मनुष्य पूजते" यह कैसे संभव है। अस्तु, स्वयं निर्णय कीजिए कि, वस्तुस्थिति क्या है ?। दूसरा निदर्शन महाभारतोक्त एकलव्य की उपासना का है। गुरुद्रोण कौरव-पाण्डवों को धनुर्विद्या का शिक्षण करते थे।

१३१-वर्णाश्रमव्यवस्थानिष्ठ आचार्य्य द्रोण, एवं एकलव्य—

एक दिन प्रसन्न होकर द्रोणने अर्जुन को यह वर प्रदान किया कि, "अर्जुन ! धनुर्विद्या में हम तुझें संसार का सर्वश्रेष्ठ योद्धा बना देंगे"। इन्हीं दिनों भीलजाति में उत्पन्न एकलव्य द्रोणाचार्य्य की ख्याति सुन कर हस्तिनापुर आया। परन्तु-वर्णामर्य्यादा को लक्ष्य में रखते हुए गुरुद्रोणने-"श्रेष्ठराजवंश के साथ एक शूद्र शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता"-यह कहते हुए एकलव्य को निराश लौटा दिया।

१३२–एकलव्य की द्रोणप्रतिमोपासना का स्वरूप--समन्वय, एवं अर्जुन का आक्रोश—

सच्छिष्य एकलव्य गुरु को मन ही मन प्रणाम कर स्व-स्थान पर लौट आया। गुरु की मृण्मयी प्रतिमा बनाई। उसे सामने रखकर धनुर्विद्या का अभ्यास आरम्भ कर दिया। इस उपासना का फल यह हुआ कि, एकलव्य इस विद्या में महापारङ्गत होगया।

१३३–एकलव्य के द्वारा गुरुद्रोण के प्रति वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण—

कितनें एक दिनों बाद द्रोणाचार्य्य शिष्यमण्डली के साथ घूमते घूमते एक दिन एकलव्य के आश्रम की ओर जा निकले। दैववश राजपुत्रों का एक शिकारी कुत्ता आश्रम में पहुँच कर भों भों करता हुआ एकलव्य की साधना में बाधा डालने लगा। विद्याभ्यास में विघ्न होता देख कर एकलव्य ने बड़े चातुर्य्य से कुत्ते को जराभी पीड़ा न पहुँचाते हुए बाणों के आच्छादन से उस का मुख बँद कर दिया। कुत्ता दौड़ता हुआ मण्डली में पहुँचा। शिष्यमण्डली–सहित द्रोण यह दृश्य देख कर आश्चर्य्य में पड़ गए। अर्जुन उत्तेजित होकर कहने लगा कि, भगवन्! आपने मेरे को जो 'वर' दिया था, देखता हूँ, आज वह निष्फल सिद्ध होगया है। गुरुद्रोण स्वयं आश्चर्य्य मे डूब रहे थे, क्या उत्तर देते। सब को साथ लिए चुप चाप एकलव्य के आश्रम मे पहुँचे। द्रोण को आया देख कर एकलव्य ने भक्तिभाव से प्रणाम किया, एवं द्रोण के –"एकलव्य! तुम्हारे गुरु कौन है?" यह प्रश्न करने पर पूर्व की घटना का स्मरण कराते हुए द्रोण का संशय दूर किया।

१३४–एकलव्य के द्वारा गुरुदक्षिणा में अङ्गुष्ठ प्रदान, और आचार्य्य के द्वारा वरप्रदान—

अर्जुन के साथ की गई प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए द्रोणाचार्य्य ने गुरुदक्षिणा में (एकलव्य का धनुर्विद्या चातुर्य्य नष्ट करने के लिए) (एकलव्य से दहिने हाथ का अँगूठा माँग लिया। स्वनामधन्य गुरुभक्त एकलव्य ने "गुरुदेव! अँगूठा ही क्या, समस्त शरीर भी यदि सेवा में काम आए, तो मुझे आनन्द मिलेगा। मैं हीं नहीं, अपितु आज से सम्पूर्ण भीलजाति आपको गुरुदक्षिणा में अपना अँगूठा समर्पित कर रही है" कहते हुए अँगूठा काट कर गुरु के चरणों में रख दिया। शिष्य के अपूर्व त्याग से द्रोण पुलकित हो उठे। उनके मुख से ही यह आशीर्वचन निकला कि 'वत्स! मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि, जिस घोर कलियुग में धनुर्विद्या भारतवर्ष से लुप्त हो जायगी, उस समय भी तेरी जाती में इस विद्या का प्रचार रहेगा।'

१३५–राजस्थानी–भील की आश्चर्य्ययुक्ता धनु-र्बाण–कुशलता—

पाठकों को यह जान कर आश्चर्य्य होगा कि, राजपूतानान्तर्गत परमधन्य मेवाड़प्रान्त की भीलजाति आज भी धनुर्विद्या में निपुण है। एवं आज भी उस गुरुदक्षिणा का स्मरण कर भील तीर चलाते समय अपने दहिने हाथ के अँगुठे को सिकोड़ कर केवल अंगुलियों से ही काम लेते हैं। क्या उक्त आख्यान प्रतिमापूजन की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं कर रहा?।

१३६–भगवान् पाणिनि के कतिपय सूत्र, एवं प्रतिमापूजन—

और आगे बढिए। सिद्धान्तकौमुदी को त्याज्य ग्रन्थ समझने की मूर्खता करने वाले, केवल अष्टाध्यायी, एवं पातञ्जल महाभाष्य पर ही अपनी निष्ठा प्रकट करने वाले महानुभावों के आत्मबोध के लिए सम्भव है, निम्न लिखित वचन भी सहायक बने। देखिए!

१–इवे प्रतिकृतौ

२–संज्ञायाञ्च

३–लुम्मनुष्ये

४–जीविकार्थे चापण्ये

५–देवपथादिभ्यश्च

"यास्त्वेताः सम्प्रति पूजार्थास्तास्तु भविष्यन्ति" पाणिनीय के समय मूर्त्तियाँ (आज की ही भाँति) बेचीं जातीं थीं। क्या यह निदर्शन मूर्त्तिपूजन की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं करते ?। क्या आज हम इतने बुद्धिशून्य होगए, जिस से कि पाणिनि, पतञ्जलि आदि की उक्ति के सामने हमनें एक अशास्त्रीय कल्पित असत्य मार्ग को वेदसम्मत मान लिया ?।

१३७–अध्यस्तरूपोपासनानुगता प्रतिमा की अनिवार्य्यता, और सांख्यदर्शन—

जिसप्रकार यज्ञ से स्वर्गफल मिलता है, एवमेव उपासना से ईश्वरानुग्रह होता है। स्वर्ग मिलता है यज्ञ से। परन्तु उसकी सिद्धि के लिए इवि–दर्भ–आदि भौतिक द्रव्यों को मध्यस्थ बनाना आवश्यक होता है। इसीप्रकार मूर्त्ति में तत्तद्देवताविशेषों का आरोप करके इस अध्यस्तरूपोपासना से परम्परया ही ज्ञाननिष्पत्ति होती है। जिसप्रकार शुक्ति में रजत का आरोप अध्यास कहलाया है, एवमेव पाषाणमपी प्रतिमा में देवारोप भी अध्यास ही है, जैसाकि उत्तरखण्ड में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। यही उपासना **'अध्यस्तरूपोपासना"** कहलाई है। इसी का सर्वात्मना समर्थन करते हुए महामुनि कपिल कहते हैं—

"अध्यस्तरूपोपासनात् पारम्पर्य्येण-यज्ञोपासकानामिव"

(सांख्यद० ४।२।)।

१३८–दृष्टियोग, तथा मनोयोग के विभिन्न क्षेत्रों से अनुप्राणिता उपासना, और प्रतिमानुगता जड़ता का समन्वय—

अब इस सम्बन्ध में केवल एक आक्षेप बच जाता है। "यदि उपासनाकाण्ड में हम जड़प्रतिमाओं को माध्यमिक बनावेंगे, तो उन के संसर्गसे आत्मा में अवश्य ही जड़ता उत्पन्न होगी। फलतः इस का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। इस प्रश्न का विस्तृत समाधान तो आगे के प्रकरणों में होगा। अभी इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, उपासना का मूलसूत्र है-**"दृष्टिसंसर्ग प्रतिमा के साथ, एवं मानस-संसर्ग अध्यात्मदेवता के साथ"**। चक्षुर्योग परिच्छिन्न-प्रतिमाके साथ, एवं मनोयोग विभु आत्मा के साथ। क्या जड़ा लिपि पर दृष्टि रखते हुए एक स्वाध्यायनिष्ठ ज्ञान की उच्चभूमिका पर नहीं पहुँचता ?। वही समाधान यहाँ समझिए।

१३९–भूतमाध्यमानुगता उपासना, और तत्र उपनिषच्छ्रुति का संस्मरण—

विश्वास रखिए, वह यहीं, इहीं भूतों में, इसी अविद्या के गर्भ में मिलेगा। असत्यपथ को माध्यमिक बना कर ही आप वहाँ पहुँच सकेंगे। प्रतिमोपासना ही उस की उपासना का मूलद्वार बनेगा। देखिए श्रुति क्या कहती है–

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।
—कठोपनिषत् १।३।१२।

इह चेदवीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥
—केनोपनिषत् २।५।

१४०–श्रद्धाविश्वासात्मक–उपास्यदेव, और महात्मा तुलसी—

श्रद्धा–विश्वास है, तो सब में भगवान् हैं, सब भगवान् हैं । यदि श्रद्धा (विश्वास) नहीं, तो सबकुछ रहते हुए भी कुछ नहीं ÷—

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धा-विश्वास-रूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम् ॥

१४१–परमत की दृष्टि में प्रतिमापूजन—

जो मुसलमानबन्धु बुतपरस्ती (मूर्त्तिपूजन) को कुफ्र (अविद्या) बतलाते हैं, उन में भी कुछ एक मनीषी उदारचेता महानुभावोंनें निम्न लिखित शब्दों में प्रतिमापूजन की उपयोगिता स्पष्ट शब्दों मे स्वीकार की है—

१–कूचए वहम * है तारीक, भटकने का है डर ।
चाहिए रोदनी शम यँकी थोड़ी सी ॥"
—अमीरमीनाई, लखनऊ

"संसार में पद पद पर संशयों का घना जंगल खड़ा हुआ है । अवश्य ही राहगीर के गुम होजाने का डर है । इस बदगुमानी से बचने के लिए यकीन (विश्वासरूप) रोदनी (प्रकाश) अवश्य चाहिए" ।

२–मुसलमाँ गर्बदानिस्ते कि बुत चीस्त ।
बिदानिस्ते कि दीदर बुत परस्तीत ॥
—मौलाना महमूद शबस्तरी, किताब गुलशनेराज

÷—"माने तो देव, नहीं माटा का लेव" राजस्थान प्रान्त की सुप्रसिद्धा लोकोक्ति, जिस का अर्थ यही है कि, "श्रद्धा–विश्वासानुगता आस्थागर्भिता मान्यता से ही पाषाण-मयी भी प्रतिमा देवभावस्थानीया बन जाती है । श्रद्धा–विश्वास नहीं है, तो फिर प्रतिमा पाषाणमात्र ही है" ।

* "संशयात्मा विनश्यति" (गीता) ।

"मुसलमान यदि यह जान लेता कि, प्रतिमा क्या वस्तु है, तो उसे मालूम होजाता कि-सारा दीनोई-ान बुतपरस्ती में ही भरा पड़ा है"।

३-दरूनें हर बुतें जानेस्त पिनहा।
बजेरे कुफ्र ईमानेस्त पिनहा॥

"प्रत्येक प्रतिमा में गुप्तरूप से प्राण प्रतिष्ठित रहता है। और कुफ्रमें ईमान छुपा हुआ है"। अविद्या कुफ्र है। भौतिक पदार्थ अविद्या (तमः) प्रधान बनते हुए कुफ्र है। फलतः प्रतिमा भी कुफ्र है। ईमान वेद्यातत्त्व है। विद्या की प्राप्ति का साधन अविद्या है*, असम्भूति से ही सम्भूति मिलती है, मृत्यु ही अमृत ाप्ति का कारण है-"असत्ये वर्त्मनि स्थित्त्वा ततः सत्यं समीहते"।

१४२-प्रतिमापूजन का समर्थन, तथा "* परिशिष्ट-प्रकरणोपराम"—

इसप्रकार युक्ति, तर्क, अनुभव, विज्ञान, इतिहास, पुराण, वेद, स्मृति, दर्शन, षडङ्ग, परमत, इत्यादि, सभी प्रमाणों के द्वारा मूर्त्तिपूजन का प्राचीनत्त्व, प्रमाणत्त्व, एवं उपादेयत्त्व भलीभाँति सिद्ध होजाता है। जो महानुभाव मूर्त्तिपूजन के विरोधी हैं, वे सर्वशास्त्र-विरोधी बनते हुए दूर से ही प्रणम्य हैं-"काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः"।

इति—भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—

"प्रतिमापूजन, और उपासना"

नामक

"*-परिशिष्ट-प्रकरण"

उपरत

समाप्तश्चायं-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डः

Q2;4

* अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।
—ईशोपनिषत्

VERIFIED 1989

श्रीः

इति–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकायाः—

सर्वान्तरतमपरीक्षायाः–'क'कार विभागात्मकः

"भक्तियोगपरीक्षात्मकः-पूर्वखण्डः"

उपरतः